

**जिनभद्रगणिकामाश्रमण विरचित
विशेषावश्यकभाष्य का
मलधारी हेमचन्द्रसूरि रचित बृहद्वृत्ति के
आलोक में ज्ञानमीमांसीय अध्ययन**

जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर
की पी-एच्. डी. उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध-प्रबन्ध



निर्देशक
डॉ. धर्मचन्द जैन
आचार्य

अनुसन्धाता
पवन कुमार जैन

एम. ए. संस्कृत (प्राकृत एवं जैन दर्शन वर्ग)

संस्कृत विभाग
जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर (राज.)

2014



संस्कृत विभाग
जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय,
जोधपुर (राज.)

प्रमाण-पत्र

प्रमाणित किया जाता है कि अनुसन्धाता पवन कुमार जैन ने “जिनभद्रगणिकक्षमाश्रमण विरचित विशेषावश्यकभाष्य का मलधारी हेमचन्द्रसूरि रचित बृहद्वृत्ति के आलोक में ज्ञानमीमांसीय अध्ययन” विषय पर मेरे निर्देशन में नियमानुसार जोधपुर नगरपरिषद् क्षेत्र में दो वर्षों से अधिक समय तक रहकर शोध कार्य सम्पन्न किया है। शोधच्छात्र का यह कार्य पूर्णतः मौलिक, गवेषणात्मक एवं विश्लेषणात्मक है। जहाँ तक मुझे ज्ञात है, प्रस्तुत विषय पर इस प्रकार का शोध कार्य देश-विदेश के किसी भी विश्वविद्यालय में सम्पन्न नहीं हुआ है। मैं इसे जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर की पी-एच्. डी. उपाधि हेतु प्रस्तुत करने की अनुमति प्रदान करता हूँ।

डॉ. धर्मचन्द जैन

आचार्य, संस्कृत विभाग
जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय,
जोधपुर

शोध-प्रबन्ध



पुरोवाक्

बाल्यावस्था से ही मेरी जैनदर्शन के प्रति विशेष रुचि थी। अतः मेरी प्रबल इच्छा थी कि जैनदर्शन का विशेष अध्ययन कर मैं इसकी प्रस्तुति में सहयोगी बनूँ। सर्वप्रथम मुझे अपनी इच्छा को सफल बनाने का संयोग सन् 1999 में श्री अखिल भारतीय सुधर्म जैन संस्कृति रक्षक संघ, जोधपुर द्वारा संचालित श्री सुधर्म विद्यापीठ, जोधपुर के माध्यम से प्राप्त हुआ, इस विद्यापीठ से जैनदर्शन सम्बद्ध तीन वर्षीय पाठ्यक्रम संचालित किया जाता है। यहाँ आकर मैंने जैनदर्शन का शास्त्रीय अध्ययन किया। जैसे जैसे मैं इस दर्शन को समझता गया वैसे-वैसे मेरी अभिरुचि जैनदर्शन के प्रति दृढतर होती गई। यही पर गुरुजी श्री लक्ष्मीलालजी दक ने मुझे जैनदर्शन में पी-एच्. डी. करने के लिए प्रेरित किया है। अतः बी.ए. परीक्षा उत्तीर्ण कर के मैंने एम. ए. संस्कृत (प्राकृत एवं जैनदर्शन वर्ग) में प्रवेश लिया। मेरा एम. ए. वर्ष 2004 में ही हो गया था एवं पी-एच्. डी. करने की प्रबल इच्छा होते हुए भी किन्हीं अपरिहार्य कारणों से मेरी इच्छा साकार रूप नहीं ले सकी। इस तरह छह वर्ष व्यतीत हो गये। वर्ष 2010 में अपनी इच्छा को साकार रूप प्रदान करने के लिए मैंने दृढ संकल्प किया और अपने संकल्प को पूर्ण करने के लिए पूरे मनोयोग से प्रयास प्रारंभ कर दिये। अतः सर्वप्रथम मैंने श्रद्धेय गुरुवर्य **डॉ. धर्मचन्द जैन** से निवेदन किया और आपने सहर्ष मुझे अपने निर्देशन में पी-एच्. डी. कराने की अनुमति प्रदान करके मेरे संकल्प को और दृढ किया। जैन दर्शन के प्रति मेरी रुचि को देखकर मेरे निर्देशक **डॉ. धर्मचन्द जैन** ने मुझे **“जिनभद्रगणिकमाश्रमण विरचित विशेषावश्यकभाष्य का मलधारी हेमचन्द्रसूरि रचित बृहद्वृत्ति के आलोक में ज्ञानमीमांसीय अध्ययन”** विषय पर शोध करने के लिए प्रेरित किया। विषय चयन के अनन्तर मैं शोधकार्य में पूर्ण मनोयोग से जुट गया। निर्देशक महोदय ने प्रारंभ से लेकर अन्त तक मेरा अत्यन्त सहयोग एवं अच्छा मार्गदर्शन किया।

सांसारिक जीवन में मनुष्य के लिए रोटी, कपड़ा और मकान को मूलभूत आवश्यकता माना जाता है। आध्यात्मिक जीवन में इसका कोई सरोकार नहीं है, आध्यात्मिक जीवन की शुरुआत के लिए ज्ञान आवश्यक है। ज्ञान के बिना चारित्र (क्रिया) अंधा होता है। बिना चारित्र के ज्ञान लंगड़ा होता है, जो मोक्ष तक नहीं ले जा सकता है। इसलिए जैन आगमों का मुख्य वाक्य है कि **‘पढमं पाणं तओ दया’** पहले ज्ञान उसके बाद क्रिया। अतः ज्ञान युक्त क्रियारूपी आध्यात्मिक जीवन ही चरम लक्ष्य तक पहुँचा सकता है। अतः ज्ञान की महत्ता, उपयोगिता एवं प्रासंगिकता को ध्यान में रखकर मैंने विशेषावश्यकभाष्य के आधार पर ज्ञान की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए अन्य जैन ग्रंथों से उसकी तुलना की है। जैनधर्म की दो मुख्य परम्पराएं हैं – श्वेताम्बर और दिगम्बर। दोनों परम्पराओं में ज्ञान के स्वरूप के सम्बन्ध में क्या भेदाभेद है, उसको प्रकाशित करने का प्रयास किया है। इसके लिए इस शोध-प्रबन्ध को सात अध्यायों में विभक्त किया गया है –

प्रथम अध्याय (विशेषावश्यकभाष्य एवं बृहद्वृत्ति : एक परिचय) में विशेषावश्यकभाष्य के मूल स्रोत ग्रंथ आवश्यक सूत्र का परिचय देते हुए कहा है कि संयम-साधना के अंगभूत जो अनुष्ठान आवश्यक रूप से करणीय होते हैं, वे ‘आवश्यक’ कहलाते हैं। प्रस्तुत अध्याय में आवश्यक सूत्र एवं उसके व्याख्या साहित्य का वर्णन करते हुए मुख्य रूप से आवश्यक कर्ता की समीक्षा की गई है। आवश्यक के मुख्य रूप से सामायिक आदि छह अध्ययन होते हैं। जैन वाङ्मय में

आवश्यकसूत्र पर विपुल व्याख्या साहित्य प्राप्त होता है, जो मुख्य रूप से पांच भागों में है - 1. निर्युक्ति (आवश्यकनिर्युक्ति), 2. भाष्य (विशेषावश्यकभाष्य), 3. चूर्णि (आवश्यकचूर्णि), 4. वृत्ति (आवश्यकवृत्ति), 5. स्तबक (टब्बा) तथा वर्तमान समय में हिन्दी, गुजराती, अंग्रेजी आदि भाषाओं में भी आवश्यक पर विवेचन प्राप्त है। इन पांच विभागों में आवश्यकसूत्र पर जो भी व्याख्या साहित्य प्राप्त होता है, उसकी समीक्षा की गई है।

द्वितीय अध्याय (ज्ञानमीमांसा : सामान्य परिचय) में ज्ञान के सम्बन्ध में सामान्य परिचय दिया गया है। ज्ञान और आत्मा का एक दूसरे की अपेक्षा से अस्तित्व सिद्ध है। यदि आत्मा से ज्ञान नष्ट हो जाए तो वह अजीववत् हो जाएगी एवं ज्ञान भी बिना आत्मा के नहीं रह सकता है। अतः ज्ञान आत्मा से कभी अलग नहीं होता है। बल्कि ज्ञान आत्मा का स्वरूप है। किसी भी वस्तु को जानना ज्ञान कहलाता है। ज्ञान स्व-पर का प्रकाशक होता है। ज्ञान से जिसे जाना जाता है, वह ज्ञान का ज्ञेय कहलाता है। ज्ञान के पांच प्रकार हैं, यथा 1. आभिनिबोधिकज्ञान, 2. श्रुतज्ञान, 3. अवधिज्ञान, 4. मनःपर्यवज्ञान, 5. केवलज्ञान। तीन अज्ञान हैं -1. मति अज्ञान, 2. श्रुत अज्ञान और विभंग ज्ञान। दर्शन के चक्षु, अचक्षु, अवधि और केवल दर्शन ये चार भेद होते हैं। दार्शनिक परम्परा के आचार्यों ने मति आदि पांच ज्ञानों को प्रत्यक्ष और परोक्ष के रूप में विभाजित किया है, जिसमें प्रथम दो ज्ञानों का परोक्ष और शेष तीन ज्ञानों का प्रत्यक्ष में ग्रहण किया है। स्वामी, काल, विषय आदि के आधार से है, मति आदि पांच ज्ञानों का क्रम रखा गया है। ज्ञान के मुख्य रूप से तीन साधन होते हैं - 1. इन्द्रिय, 2. मन और 3. आत्मा। इसमें से प्रथम दो परोक्ष ज्ञान के तथा आत्मा प्रत्यक्ष ज्ञान का मुख्य रूप से साधन होती है। इनका विस्तार से उल्लेख किया गया है। इसके बाद श्रुतज्ञान कैसे ग्रहण करना चाहिए, इसके ग्रहण की विधि क्या है, श्रुतज्ञान को ग्रहण करने वाली की योग्यता क्या है? इत्यादि का विस्तार से उल्लेख किया गया है।

तृतीय अध्याय (विशेषावश्यकभाष्य में मतिज्ञान) में मतिज्ञान का विस्तार से वर्णन किया गया है। इन्द्रिय और मन की सहायता से होने वाला ज्ञान मतिज्ञान है। मति और श्रुतज्ञान में भिन्नता को जिनभद्रगणि ने सात प्रकार से सिद्ध करते हुए इनका विस्तार से उल्लेख किया है। सामान्य रूप से मतिज्ञान के 28 भेद हैं, लेकिन इस सम्बन्ध में प्राप्त मतान्तर का उल्लेख करते हुए उसका निराकरण किया गया है। साथ ही अन्य ग्रंथों के आधार से मतिज्ञान के 2 से 384 तक के भेदों का उल्लेख किया गया है। श्रुतनिश्चित (अवग्रहादि चार) एवं अश्रुतनिश्चित (औत्पत्तिकी आदि चार बुद्धियाँ) मतिज्ञान का वर्णन करते हुए जिनभद्रगणि ने स्पष्ट किया है कि श्रुत निश्चित में श्रुतस्पर्श की बहुलता होती है, जबकि अश्रुतनिश्चित में श्रुत का स्पर्श अल्प होता है। श्रुत का अल्प और बहुत्व स्पर्श ही दोनों में भेद का व्यावर्तक लक्षण है। प्रस्तुत अध्याय में अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा के स्वरूप का विस्तार से वर्णन करते हुए इनके सम्बन्ध में प्राप्त मतान्तरों का उल्लेख किया गया है। बहु आदि भेदों का उल्लेख करते हुए इनके लिए आचार्यों द्वारा प्रयुक्त अन्य शब्दों का भी उल्लेख किया गया है। बहु-अल्प, बहुविध आदि 12 भेदों को अवग्रह, ईहा आदि पर घटित किया गया है। द्रव्यादि की अपेक्षा मतिज्ञान के विषय के स्वरूप का वर्णन किया गया है। सत्पदप्ररूपणा, द्रव्यप्रमाण, क्षेत्र, स्पर्शना, काल, अन्तर, भाग, भाव और अल्पबहुत्व इन नौ द्वारों के माध्यम से मतिज्ञान का वर्णन किया गया है।

चतुर्थ अध्याय (विशेषावश्यकभाष्य में श्रुतज्ञान) में श्रुतज्ञान का विशिष्ट निरूपण है। श्रोत्रेन्द्रिय से जो ज्ञान सम्बन्धित हो, उसे सामान्यतः श्रुतज्ञान कहा गया है। श्रुतज्ञान के निमित्त भूत शब्द में

श्रुत का उपचार किया जाता है, लेकिन परमार्थ से जीव (आत्मा) ही श्रुत है। श्रुतज्ञान का अन्य ज्ञानों से वैशिष्ट्य है। चार ज्ञान अपने स्वरूप को स्वयं व्यक्त नहीं कर सकते हैं, अपने स्वरूप को प्रकट करने के लिए उन्हें श्रुतज्ञान का सहारा लेना पड़ता है, इसलिए श्रुतज्ञान अन्य ज्ञानों से विशिष्ट है। श्रुतज्ञान के कितने भेद हैं, इसके सम्बन्ध में आचार्य एक मत नहीं हैं, सभी आचार्यों के मतों का अध्ययन करने पर इस सम्बन्ध में मुख्य रूप से श्रुतज्ञान के भेदों की चार परम्पराएं प्राप्त होती हैं - 1. अनुयोगद्वार सूत्र के अनुसार नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव ये चार भेद के आधार पर श्रुतज्ञान का विवेचन किया गया है। 2. आवश्यकनिर्युक्ति के अनुसार अक्षर-अनक्षर, संज्ञी-असंज्ञी आदि चौदह भेद का उल्लेख है। 3. षट्खण्डागम के अनुसार पर्याय, पर्यायसमास, अक्षर, अक्षर समास आदि बीस भेद प्राप्त होते हैं तथा 4. तत्त्वार्थसूत्र में अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य भेद निरूपित हैं। शोध-प्रबन्ध में इन सबका संक्षिप्त वर्णन करने के साथ मुख्य रूप अक्षर-अनक्षर आदि श्रुत ज्ञान के चौदह भेदों का विस्तार से वर्णन किया गया है। आचारांग आदि बारह अंगों की विषय वस्तु की दोनों परम्पराओं के अनुसार समीक्षा की गई है। श्रुतज्ञान के विषय का निरूपण द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के आधार पर किया गया है। श्रुतज्ञान के विषय में जानने (जाणइ) और देखने (पासइ) रूप दो क्रियाओं का प्रयोग किया गया है। पासइ क्रिया के सम्बन्ध में जिनभद्रगणि का कहना है कि नंदीसूत्र में 'जाणइ न पासइ' होना चाहिए, क्योंकि श्रुतज्ञानी जानता है, लेकिन देखता नहीं है। आगम के अनुसार श्रुतज्ञान के विषय में प्रयुक्त 'पासइ' क्रिया की सिद्धि पश्यत्ता के आधार पर की गई है।

पंचम अध्याय (विशेषावश्यकभाष्य में अवधिज्ञान) में अवधि शब्द का सामान्य अर्थ है, मर्यादा। जो ज्ञान आत्मा से मर्यादा युक्त जाने वह अवधि है। अवधिज्ञान के प्रकारों का क्षेत्र विस्तृत है। इसके प्रकारों को विभिन्न आधारों से स्पष्ट किया गया है। सभी भेदों को मिलाने पर कुल तेरह भेद अवधिज्ञान के प्राप्त होते हैं। विशेषावश्यकभाष्य में चौदह निक्षेपों की अपेक्षा अवधिज्ञान का विस्तार से वर्णन किया गया है, यथा 1. अवधि, 2. क्षेत्रपरिमाण, 3. संस्थान, 4. आनुगामिक, 5. अवस्थित, 6. चल, 7. तीव्रमंद, 8. प्रतिपाति-उत्पाद, 9. ज्ञान, 10. दर्शन, 11. विभंग, 12. देश, 13. क्षेत्र और 14. गति। इन चौदह द्वारों के बाद पंद्रहवें द्वार के रूप में ऋद्धि का उल्लेख जिनभद्रगणि ने किया है। इन्हीं के आधार पर अन्य ग्रंथों की समीक्षा करते हुए विस्तार से अवधिज्ञान का वर्णन किया गया है।

षष्ठ अध्याय (विशेषावश्यकभाष्य में मनःपर्यवज्ञान) में मन की पर्याय को जानना अर्थात् ज्ञान करना मनःपर्यवज्ञान है। मनःपर्यवज्ञान के लिए मनःपर्यव, मनःपर्याय और मनःपर्यय इन तीन शब्दों का प्रयोग होता है। मनःपर्यवज्ञान मतिज्ञान, अनुमान और श्रुतज्ञान के समान नहीं होता है। अवधि के बिना मनःपर्यवज्ञान होना संभव है। अवधिज्ञान और मनःपर्यवज्ञान में स्वामी, विशुद्धि, द्रव्य, विषय, भाव आदि के आधार पर विभिन्न प्रमाण देकर दोनों में भेद सिद्ध किया गया है। मनःपर्यवज्ञान प्राप्त करने की योग्यताओं का वर्णन नंदीसूत्र और उसकी टीकाओं में प्राप्त होता है अतः जो जीव क्रमशः मनुष्य आदि नौ योग्यताओं को पूर्ण करता है, वही मनःपर्यवज्ञान का अधिकारी होता है। मनःपर्यवज्ञान के मुख्य रूप से दो भेद होते हैं - ऋजुमति और विपुलमति। इनके स्वरूप का वर्णन करते हुए इनमें द्रव्यादि की अपेक्षा से भेद को स्पष्ट किया गया है। मनःपर्यवज्ञानी के ज्ञेय के सम्बन्ध में प्राप्त दो मतों की समीक्षा करते हुए आगमिक मत को पुष्ट किया गया है। मनःपर्यवज्ञानी के विषय के वर्णन में 'जाणइ' और 'पासइ' इन दो क्रियाओं का

प्रयोग हुआ है। यहाँ 'जाणइ' का अर्थ जानना (ज्ञान) और 'पासइ' का अर्थ देखना (दर्शन) किया गया है। मनःपर्यवज्ञान से जानना तो संभव है, लेकिन देखना कैसे संभव है? क्योंकि चक्षु आदि चार दर्शन में मनःपर्यवदर्शन का उल्लेख नहीं है। इसलिए विद्वानों में 'पासइ' क्रिया के सम्बन्ध में मतभेद है। इस सम्बन्ध में जिनभद्रगणि ने पांच मतान्तरों का खण्डन करते हुए आगमिक मत को पुष्ट किया है।

सप्तम अध्याय (विशेषावश्यकभाष्य में केवलज्ञान) में सर्वोत्कृष्ट ज्ञान को केवलज्ञान कहा गया है। सकल आवरणों से रहित होकर सभी वस्तुओं के स्वरूप को प्रतिभासित करने वाला ज्ञान केवलज्ञान है। केवलज्ञान को परिभाषित करते हुए पूर्वाचार्यों ने जिन विशेषणों का प्रयोग किया है, उनके स्वरूप को स्पष्ट किया गया है। केवलज्ञान क्षायिक ज्ञान होने से इसके अन्य क्षायोपशमिक ज्ञानों के समान भेद नहीं होते हैं। लेकिन स्वामी की अपेक्षा से इसके दो भेद होते हैं - 1. भवस्थ केवलज्ञान, 2. सिद्ध केवलज्ञान। इनके भी प्रभेदों के स्वरूप को स्पष्ट किया गया है। सिद्ध केवलज्ञान के प्रभेद अनन्तर सिद्ध केवलज्ञान के भी तीर्थसिद्ध आदि पन्द्रह भेद होते हैं जिनका विस्तार से निरूपण किया गया है। केवलज्ञान की प्राप्ति में मुख्य हेतु कषाय (मोह) का क्षय है। इसकी उत्पत्ति में शुक्लध्यान की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। प्रसंगवश केवली समुद्घात, केवली द्वारा योग निरोध आदि की प्रक्रिया का श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्परा के अनुसार स्पष्टीकरण किया गया है। केवली के विषय में दिगम्बर परम्परा ने एक मत से युगपद्वाद का समर्थन किया है, जबकि श्वेताम्बर परम्परा में तीन मत प्राप्त होते हैं - 1. क्रमवाद, 2. युगपद्वाद, 3. अभेदवाद। इन मतों की समीक्षा करते हुए आगमिक मत क्रमवाद को पुष्ट किया गया है। केवली केवलज्ञान से सम्पूर्ण द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से रूपी-अरूपी सभी पदार्थों को जानते हैं। इस अध्याय में गति आदि 20 द्वारों के माध्यम से केवलज्ञान के स्वरूप का वर्णन किया गया है।

उपसंहार के रूप में प्रत्येक अध्याय के अन्त में विशेषकर पांच ज्ञानों के विषय में विशिष्ट मन्तव्यों का उल्लेख करते हुए दोनों परम्पराओं में जो भेदाभेद प्राप्त होते हैं, उसका उल्लेख किया गया है।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध को लिखने में मुझे जिन गुरुजनों एवं विद्वानों का सहयोग मिला है, उनका मैं हृदय से कृतज्ञ हूँ। इस अवसर पर मैं सर्वप्रथम पितृतुल्य अपने निर्देशक श्रद्धेय गुरुवर्य **डॉ. धर्मचन्द जैन** के प्रति नतमस्तक होते हुए कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ, जिनके कुशल निर्देशन में यह शोध-प्रबन्ध पूर्ण हो सका है। इस विस्तृत शोध-विषय को बहुत सरल, सारगर्भित एवं प्रामाणिक बनाने में जो मेरा मार्गदर्शन किया है वह मेरे लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं अविस्मरणीय है। आपके निजी पुस्तकालय का भी मुझे सम्बल रहा है। आपने ही नहीं, अपितु आपकी धर्मपत्नी **मधु जी** ने भी मेरा पूरा सहयोग किया है, अतः इनसे भी मैं अनुगृहीत हूँ।

इसी सन्दर्भ में मैं **डॉ. सत्यप्रकाशजी दुबे**, अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर (राज.) का अत्यन्त आभारी हूँ, जिनका स्नेह एवं आशीर्वाद सतत प्राप्त होता रहा है, साथ ही उन सभी विभागीय गुरुजनों का भी हृदय से अत्यन्त आभारी हूँ, जिनका आशीर्वाद और प्रोत्साहन प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के पूर्ण होने में सहायक रहा है।

शोध-प्रबन्ध को पूर्ण करते समय मेरे सामने जटिल समस्याएं आईं, जिनका समाधान करना मेरी क्षमता से बाहर था, मैंने इन शंकाओं को **ज्ञानगच्छाधिपति पूज्य पण्डितरत्न श्रुतधर श्री प्रकाशचन्द्रजी म. सा.** की सेवा में निवेदन किया, जिनका मुझे युक्तियुक्त समाधान प्राप्त हुआ।

जिससे मेरा शोध कार्य अनवरत गतिमान रहा, अतः पूज्यश्री को भाव पूर्वक वंदन करते हुए श्रद्धापूर्वक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ।

परमादरणीय गुरुजी **श्री लक्ष्मीलाल दक**-नई दिल्ली, जिन्होंने मुझे शोध-कार्य के लिए प्रेरित किया, उनकी प्रबल प्रेरणा से मैं इस कार्य को सम्पन्न कर सका हूँ।

इस शोधकार्य की सम्पन्नता में मुझे देश के विभिन्न प्रतिष्ठित विद्वानों एवं प्राज्ञ पुरुषों का भी मार्गदर्शन प्राप्त हुआ। उस क्रम में **डॉ. सागरमलजी जैन**-शाजापुर (म. प्र.) **पं. कन्हैयालालजी लोढ़ा**-जयपुर, **श्री पारसमलजी संचेती**-जोधपुर, **श्री नेमीचन्दजी बांठिया**-ब्यावर, **श्री पारसमलजी चण्डालिया**- ब्यावर, **श्री रमेशजी पटवारी**-चौमहला, **श्री टीकमजी जैन**-शिंदखेडा, **डॉ. राजकुमारीजी जैन**-अजमेर, **डॉ. श्वेताजी जैन**-जोधपुर, **डॉ. हेमलताजी जैन**-जोधपुर आदि के प्रति मैं विनम्र आभारी हूँ जिनका समय-समय पर परामर्श और सहयोग निरन्तर मिलता रहा है।

श्री सुधर्म विद्यापीठ-जोधपुर के संचालक **श्री मदनजी बालड**-जोधपुर, **श्री सुशीलजी बालड**-जोधपुर एवं प्रभारी **श्री जबरमलजी हरणफाल**-मुम्बई का सहयोग भी अविस्मरणीय है।

श्री अखिल भारतीय शोध ग्रन्थालय-जोधपुर, **सेवा मन्दिर धार्मिक शोध पुस्तकालय**-जोधपुर एवं **जैन ई-लाईब्रेरी** आदि से गृहीत पुस्तकों से मेरे शोध-प्रबन्ध का कार्य सम्पन्न हो सका है, एतदर्थ इनके व्यवस्थापकों के सहयोग से मैं अनुगृहीत हूँ एवं इनका आभार स्वीकार करता हूँ।

शोध कार्य को पूर्ण करने में आर्थिक दृष्टि से **श्री विनयकुमारजी सा. जैन**-जोधपुर का विशेष सहयोग रहा है, जिनका मैं हृदय से आभार व्यक्त करता हूँ।

इस अवसर पर मैं अपने पूज्य माता-पिता **श्रीमती मनोरमा-श्री पुखराजमलजी कचोलिया** की हृदय से चरण वन्दना करता हूँ, जिनके आशीर्वाद से यह कार्य सम्पन्न हो रहा है। साथ ही मेरे अग्रज **श्री देवेन्द्रकुमारजी** एवं **श्री राजेन्द्रकुमारजी** के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ, जिनके कारण मैं अध्ययनेतर बाधाओं से मुक्त रहा हूँ।

मेरे इस दीर्घकालिक शोधकार्य को पूर्ण करने के लिए मैं अपनी धर्मपत्नी **ऋतु जैन** के अनवरत और अथक सहयोग के लिए धन्यवाद देकर उसके महत्व को कम नहीं करना चाहता हूँ। ऋतु ने पारिवारिक जटिलताओं और साधनाभावजन्य संकटों का धैर्यपूर्वक सामना करते हुए शोध प्रबन्ध के टंकण तथा प्रूफ रीडिंग में पूरा सहयोग किया, जिससे मेरा शोध कार्य अनवरत गतिमान रहा, जो अत्यन्त प्रशंसनीय और सराहनीय है। सुपुत्र **काव्य कचोलिया** का यही सहयोग रहा कि उस बालमन ने शोध-प्रबन्ध से सम्बन्धित पुस्तक एवं कागज को बिना पूछे इधर-उधर नहीं किया। अतः उसको मेरा बहुत-बहुत आशीर्वाद है।

मेरे सुहृत् **श्री पंकजजी चोरड़िया**-जोधपुर के वांछित एवं प्रशंसनीय सहयोग के लिए हृदय से आभारी हूँ।

अन्त में मैं उन सभी गुरुजनों, विद्वानों एवं मित्रों के प्रति भी हार्दिक आभार व्यक्त करता हूँ, जिनका उल्लेख यहाँ नहीं हो पाया, किन्तु उनका प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के लेखन कार्य में सहयोग प्राप्त रहा है।

- पवन कुमार जैन

विषयानुक्रमणिका

◆ पुरोवाक्	iV
प्रथम अध्याय :- विशेषावश्यकभाष्य एवं बृहद्वृत्ति : एक परिचय 1-50	
◆ आवश्यकसूत्र	1
◆ आवश्यक का अर्थ	1
◆ आवश्यक सूत्र के कर्ता	2
◆ आवश्यकसूत्र के छह अंग	5
◆ आवश्यकों के क्रम का औचित्य	8
◆ आवश्यक सूत्र का व्याख्या साहित्य	9
◆ आवश्यक निर्युक्ति एवं निर्युक्तिकार भद्रबाहु	10
◆ आवश्यकनिर्युक्ति की विषयवस्तु	12
◆ आवश्यकनिर्युक्ति के कर्ता : भद्रबाहु	16
◆ भाष्यपरम्परा एवं जिनभद्रगणि कृत विशेषावश्यक भाष्य	19
◆ आवश्यकचूर्णि एवं चूर्णिकार	20
◆ चूर्णिकार	21
◆ आवश्यकचूर्णि	22
◆ आवश्यकसूत्र की टीकाएं	24
◆ आवश्यकवृत्ति	24
◆ आवश्यकविवरण	26
◆ आवश्यकवृत्तिप्रदेशव्याख्या	26
◆ आवश्यकनिर्युक्ति—दीपिका	27
◆ टल्ले	27
◆ अनुवाद युग	27
◆ जिनभद्रगणि एवं उनका विशेषावश्यकभाष्य	28
◆ जिनभद्रगणिकक्षमाश्रमण का जीवन और व्यक्तित्व	28
◆ जिनभद्रगणि का काल	30
◆ विशेषावश्यकभाष्य का प्रतिपाद्य विषय	31
◆ विशेषावश्यकभाष्य का महत्त्व	40
◆ विशेषावश्यकभाष्य का व्याख्या साहित्य	42
◆ विशेषावश्यकभाष्य स्वोपज्ञवृत्ति	42
◆ विशेषावश्यकभाष्यविवरण	42
◆ मलधारी हेमचन्द्र एवं उनके द्वारा रचित शिष्यहिता नामक बृहद्वृत्ति का वैशिष्ट्य	43
◆ मलधारी हेमचन्द्र का जीवन परिचय	43
◆ मलधारी हेमचन्द्र का काल	44
◆ बृहद्वृत्ति की रचना में निमित्त	46
◆ समीक्षण	47

द्वितीय अध्याय :- ज्ञानमीमांसा : सामान्य परिचय**51-120**

◆ ज्ञान की परिभाषा	52
◆ ज्ञानी के लक्षण	52
◆ ज्ञान और आत्मा का सम्बन्ध	52
◆ ज्ञान आत्म-शक्ति रूप	52
◆ ज्ञान दर्शन किसको होते हैं?	53
◆ ज्ञान ही चारित्र का आधार	53
◆ ज्ञान की उपयोगिता	54
◆ मोक्ष के लिए ज्ञान की प्राथमिकता	54
◆ ज्ञान का ज्ञेय विषय	55
◆ ज्ञान का कारण	57
◆ जीवों में ज्ञान की न्यूनाधिकता का कारण	57
◆ ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग	58
◆ ज्ञान और दर्शन की परिभाषा की समालोचना	58
◆ ज्ञान और दर्शन में अन्तर	59
◆ ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग के भेद	60
◆ दर्शन और ज्ञान में पहले कौन?	61
◆ ज्ञानोपयोग मिथ्या क्यों?	61
◆ सम्यग्दृष्टि के ज्ञान और मिथ्यादृष्टि के अज्ञान कैसे?	62
◆ अध्यात्म और दर्शन में ज्ञान का स्वरूप	62
◆ ज्ञान और सम्यक्त्व में भेद	62
◆ ज्ञान में स्व-पर प्रकाशकता	62
◆ मति आदि ज्ञानों के क्रम का हेतु	64
◆ मति-श्रुत में भी मति पहले क्यों?	65
◆ मतिज्ञान और श्रुतज्ञान में अन्तर	66
◆ मतिज्ञान एवं मति अज्ञान में अन्तर	66
◆ उपलक्षण से अवधिज्ञान, अवधि अज्ञान आदि में भी अन्तर	67
◆ ज्ञानी और अज्ञानी में अन्तर	68
◆ प्रत्यक्ष-परोक्ष ज्ञान	68
◆ प्रत्यक्ष-परोक्ष का लक्षण	69
◆ परोक्ष ज्ञान	71
◆ मति और श्रुतज्ञान की परोक्षरूपता	71
◆ ज्ञान के प्रत्यक्ष और परोक्ष भेद करने का कारण	72
◆ इन्द्रिय ज्ञान को प्रत्यक्ष मानने में दोष	73
◆ ज्ञान के साधन	73
◆ इन्द्रिय	73
◆ इन्द्रिय के प्रकार	74
◆ इन्द्रिय की उत्पत्ति	74

◆	इन्द्रिय के पांच प्रकारों का स्वरूप	74
♠	पांच इन्द्रियों के भेद	75
✱	द्रव्य और भाव-इन्द्रिय के प्रभेद	75
✱	निर्वृत्ति द्रव्येन्द्रिय का स्वरूप और भेद	75
✱	उपकरण द्रव्येन्द्रिय का स्वरूप	76
✱	निर्वृत्ति और उपकरण द्रव्येन्द्रिय में अन्तर	76
✱	लब्धि और उपयोग भावेन्द्रिय का स्वरूप	77
✱	इन्द्रियों के प्रभेदों की प्राप्ति का क्रम	77
♠	इन्द्रियों का क्षयोपशम	78
♠	भावेन्द्रिय एवं द्रव्येन्द्रिय में कार्य-कारण भाव	78
♠	इन्द्रियों से ज्ञानोत्पत्ति	78
♠	जीव की अनिन्द्रियता	79
◆	श्रोत्रादि इन्द्रियों की प्राप्यकारिता-अप्राप्यकारिता	79
◆	श्रोत्रेन्द्रिय की प्राप्यकारिता	79
◆	चक्षु इन्द्रिय की अप्राप्यकारिता	80
◆	पांच इन्द्रियों का विषय और उनका विषय क्षेत्र	81
◆	श्रोत्रेन्द्रिय की पटुता	81
◆	अंगुल प्रमाण का स्वरूप	82
◆	इन्द्रियाँ कब और कैसे विषय को ग्रहण करती हैं	84
◆	भाषा पुद्गल का ग्रहण और विसर्जन	85
◆	कालमान	86
◆	भाषा के पुद्गलों द्वारा व्याप्य क्षेत्र	86
◆	मन का स्वरूप	89
◆	मन का अस्तित्व	89
◆	मन का स्वरूप	89
◆	मन के प्रकार	90
◆	मन के अन्य प्रकार	92
◆	मन का स्थान	92
◆	मन का अधिकारी कौन?	94
♠	एकेन्द्रियादि में मन	95
◆	अर्थोपलब्धि में मन का महत्त्व	96
◆	मन का उपयोग	96
◆	क्या मन और मस्तिष्क एक हैं?	96
◆	मन इन्द्रिय या अनिन्द्रिय?	97
◆	मन और इन्द्रियों की सापेक्षता	97
◆	विशेषावश्यकभाष्य के अनुसार मन की अप्राप्यकारिता	98
◆	मन के कार्य	101
◆	आत्मा	101
◆	ज्ञानी के प्रकार	105

◆	ज्ञान के अष्ट आचार है	105
◆	ज्ञान के चौदह अनाचार	106
◆	श्रुत (ज्ञान) ग्रहण की प्रक्रियादि	107
◆	श्रुत-अध्ययन का प्रयोजन	107
◆	शिक्षा प्राप्त करने की योग्यता	107
◆	अयोग्य को शिक्षा देने से हानि	108
◆	शिक्षाशील के गुण	108
◆	शिक्षा प्राप्ति में बाधक तत्त्व	108
◆	श्रुतज्ञान देने की विधि	108
◆	श्रुत कैसे सीखें?	108
◆	श्रुतग्रहण की विधि	109
◆	श्रुत को सुनने की विधि	109
◆	बुद्धि के आठ गुण	109
◆	ज्ञान वृद्धि के नक्षत्र	110
◆	ज्ञान और दर्शन की अन्य दर्शनों में मान्य अवधारणाओं से तुलना	110
◆	चार्वाक दर्शन	110
◆	न्याय-वैशेषिक दर्शन	111
◆	योगदर्शन	112
◆	बौद्धदर्शन	112
◆	सांख्यदर्शन	113
◆	मीमांसा दर्शन	113
◆	वेदान्त दर्शन	114
◆	समीक्षण	115

तृतीय अध्याय :- विशेषावश्यकभाष्य में मतिज्ञान

121-214

◆	मतिज्ञान का स्वरूप	121
◆	श्वेताम्बराचार्यों के अनुसार मतिज्ञान की परिभाषा	121
◆	दिगम्बराचार्यों के अनुसार मतिज्ञान की परिभाषा	122
◆	मतिज्ञान के पर्यायवाची	123
◆	अवग्रहादि शब्दों से सम्पूर्ण मतिज्ञान का ग्रहण	124
◆	पर्यायवाची शब्दों का स्वरूप	125
◆	मति एवं आभिनिबोधिक शब्द पर विचार	127
◆	मति एवं श्रुत ज्ञान में भेद	128
◆	मतिज्ञान और श्रुतज्ञान की युगपत्ता	128
◆	मति और श्रुत की भिन्नता के कारण	128
◆	विशेषावश्यकभाष्य के अनुसार मति-श्रुत ज्ञान में अन्तर	129
♠	लक्षणभेद से मति-श्रुत में अन्तर	129
♠	हेतु एवं फल से मति-श्रुत में अन्तर	130

✱	द्रव्यश्रुतपूर्वक मति	131
✱	भावश्रुत से उत्पन्न द्रव्यश्रुत मतिपूर्वक नहीं	131
♠	भेद (विभाग) की अपेक्षा से मति-श्रुत में अन्तर	132
♠	इन्द्रिय की अपेक्षा से मति-श्रुत में अन्तर	133
✱	द्रव्यश्रुत और भावश्रुत का स्वरूप	134
✱	द्रव्यश्रुत-भावश्रुत और मतिज्ञान का संबंध	135
✱	श्रुतज्ञान शब्द रूप तथा मतिज्ञान उभय रूप	136
✱	क्या मतिज्ञान श्रुत परिणत होता है?	136
♠	कारण-कार्य से मति-श्रुत में अन्तर	136
♠	अनक्षर-अक्षर से मति-श्रुत में अन्तर	137
♠	मूक-अमूक से मति-श्रुत में अन्तर	138
♠	विषय ग्रहण काल की अपेक्षा दोनों में भेद	138
♠	इन्द्रिय एवं मन की निमित्तता के आधार पर दोनों में भेद	139
◆	श्रुतज्ञान में इन्द्रिय और मन कारण नहीं	139
◆	क्या मतिज्ञान द्रव्यश्रुत रूप है?	139
◆	अभिलाष्य और अनभिलाष्य का विचार	140
◆	मति और श्रुत में अभेद	140
◆	मतिज्ञान के भेद	142
◆	नंदीसूत्र और विशेषावश्यकभाष्य के अनुसार मतिज्ञान के भेद	142
◆	षट्खण्डागम के अनुसार मतिज्ञान के भेद	143
◆	तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार मतिज्ञान के भेद	144
◆	श्रुतनिश्चित एवं अश्रुतनिश्चित मतिज्ञान	144
◆	अश्रुतनिश्चित मतिज्ञान के भेद	146
♠	औत्पातिकी	146
♠	वैनयिकी	147
♠	कार्मिकी	148
♠	पारिणामिकी	149
◆	बुद्धि का क्रम	149
◆	श्रुतनिश्चित मतिज्ञान के भेद	150
◆	अवग्रह का स्वरूप	151
◆	अवग्रह के भेद और उनका स्वरूप	153
◆	व्यंजनावग्रह का स्वरूप	153
♠	दृष्टांत द्वारा व्यंजनावग्रह का स्वरूप	154
♠	विशेषावश्यकभाष्य के अनुसार व्यंजन के अर्थ	154
♠	व्यंजन के तीन अर्थों का अन्य आचार्यों के द्वारा समर्थन	155
♠	व्यंजनावग्रह के सम्बन्ध में दो मान्यताएं	155
♠	व्यंजनावग्रह का विषय एवं भेद	157
◆	अर्थावग्रह का स्वरूप	157
◆	अर्थावग्रह के भेद	158

♠	सांख्यवहारिक अवग्रह की भिन्नता का कारण	159
♠	अर्थावग्रह के छह प्रकार	160
❖	विशेषावश्यकभाष्य में अर्थावग्रह के स्वरूप के सम्बन्ध में प्राप्त मतान्तर और उनका निराकरण	160
◆	व्यंजनावग्रह और अर्थावग्रह के स्वरूप में मतभेद	163
❖	अर्थावग्रह व व्यंजनावग्रह में प्रमुख अन्तर	164
◆	अवग्रह ज्ञान प्रमाण है या नहीं?	165
❖	आगमिक परम्परा	165
❖	प्रमाणमीमांसीय परम्परा	166
◆	व्यंजनावग्रह प्रमाण नहीं है	167
◆	अर्थावग्रह प्रमाण कैसे?	169
◆	दर्शन और अवग्रह में भेदाभेद	170
◆	अवग्रह और संशय में अन्तर	171
◆	अवग्रह के पर्यायवाची नाम	172
◆	ईहा का स्वरूप	174
❖	ईहा अज्ञान रूप नहीं है	175
❖	ईहा और संशय में अन्तर	175
❖	अनुमान और ईहा	176
❖	ईहा और ऊह	176
❖	ईहा का प्रामाण्य	177
❖	ईहा के भेद	177
❖	ईहा के पर्यायवाची नाम	177
◆	अवाय का स्वरूप	179
❖	अवाय के लिए प्रयुक्त शब्द	180
❖	अवाय औपचारिक अर्थावग्रह	180
❖	अवग्रह व अवाय में अन्तर	180
❖	अवाय के सम्बन्ध में मतान्तर	180
❖	अवाय का प्रामाण्य	181
❖	अवाय के भेद	181
❖	अवाय के पर्यायवाची नाम	181
◆	धारणा का स्वरूप	183
❖	धारणा की प्राचीनता	184
❖	धारणा के प्रकार	184
❖	स्मृति का प्रामाण्य	185
❖	धारणा के सम्बन्ध में मतान्तर	185
❖	धारणा के सम्बन्ध में प्राप्त मतान्तर का जिनभद्रगणि द्वारा समाधान	186
❖	धारणा के भेद	187
❖	धारणा के पर्यायवाची नाम	187
❖	जातिस्मरणज्ञान भी मतिज्ञान का ही एक रूप	189

◆ अवग्रह आदि का काल	189
◆ अवग्रह आदि का निश्चित क्रम और परस्पर भिन्नता	192
◆ अवग्रहादि के बहु-बहुविध आदि भेद	193
◆ मतिज्ञान के द्वारा द्रव्यादि चतुष्क का ज्ञान	198
◆ सत्पदप्ररूपणादि नौ अनुयोग द्वारा मतिज्ञान की प्ररूपणा	200
◆ सत्पदप्ररूपणा	200
◆ द्रव्य प्रमाण द्वार	204
◆ क्षेत्र द्वार	205
◆ स्पर्शन द्वार	205
◆ काल द्वार	206
◆ अन्तर द्वार	206
◆ भाग द्वार	206
◆ भाव द्वार	207
◆ अल्पबहुत्व द्वार	207
◆ समीक्षण	207

चतुर्थ अध्याय:- विशेषावश्यकभाष्य में श्रुतज्ञान

215-298

◆ श्रुतज्ञान का लक्षण	215
◆ श्वेताम्बर आचार्यों की दृष्टि में श्रुतज्ञान का लक्षण	215
◆ दिगम्बर आचार्यों की दृष्टि में श्रुतज्ञान का लक्षण	216
◆ श्रुतज्ञान का अन्य ज्ञानों से वैशिष्ट्य	218
◆ श्रुतज्ञान एवं केवलज्ञान की तुलना	218
◆ आत्मा के लिए श्रुतज्ञान का महत्त्व	218
◆ श्रुतज्ञान मात्र शब्द रूप नहीं	219
◆ श्रुत ज्ञान के भेद	220
◆ अनुयोगद्वार के अनुसार	220
◆ आवश्यकनिर्युक्ति के अनुसार	220
◆ षट्खण्डागम के अनुसार	221
◆ तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार	222
◆ अक्षर श्रुत	222
◆ श्रुतज्ञान के अक्षर-अनक्षर भेद क्यों?	223
◆ वर्ण का स्वरूप	224
◆ वर्ण के भेद	224
♠ स्वर	224
♠ व्यंजन	224
◆ अक्षरश्रुत के प्रकार	225
♠ संज्ञा अक्षरश्रुत	225
✱ लिपि के अठारह प्रकार	225
♠ व्यञ्जन अक्षरश्रुत	226
♠ लब्धि अक्षरश्रुत	226

◆	धवला में अक्षरश्रुत के प्रकार	227
◆	द्रव्यश्रुत-भावश्रुत	227
◆	प्रमाता को लब्ध्यक्षर की प्राप्ति	227
◆	इन्द्रिय ज्ञान अनुमान है	228
◆	अक्षरश्रुत के अधिकारी	228
◆	एकेन्द्रिय में श्रुत	229
♠	सभी जीव एकेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय	230
✱	आगमिक मत	230
◆	एक अकार आदि की पर्याय	231
♠	अक्षर की स्व-पर पर्याय	232
♠	एक का ज्ञान सर्व का ज्ञान	233
◆	श्रुतज्ञान और केवलज्ञान की पर्याय	234
◆	अक्षर का पर्यवपरिमाण	235
◆	कौनसे ज्ञान का अनन्तवां भाग अनावृत्त रहता है ?	235
✱	अक्षर ज्ञान में कौन सा अक्षर इष्ट है	236
◆	श्रुत की अनादिता	236
◆	लब्ध्यक्षर के भेद	236
◆	अनक्षर श्रुत	237
◆	अनक्षर श्रुत के भेद	239
◆	संज्ञी श्रुत-असंज्ञी श्रुत	239
◆	संज्ञा का स्वरूप	239
◆	संज्ञा के प्रकार	240
◆	संज्ञी का स्वरूप	240
◆	संज्ञी-असंज्ञी श्रुत का स्वरूप	241
♠	दीर्घकालिकोपदेशिकी संज्ञा	241
✱	दीर्घकालिकोपदेशिकी संज्ञा के कार्य	242
✱	दीर्घकालिक संज्ञा की अपेक्षा संज्ञी असंज्ञी जीव	243
✱	दीर्घकालिकोपदेशिकी संज्ञा की अपेक्षा संज्ञी असंज्ञी श्रुत	243
♠	हेतुवादोपदेशिकी संज्ञा	243
✱	हेतुवादोपदेशिक संज्ञा के सम्बन्ध में नंदी के टीकाकारों का मत	243
✱	हेतु की अपेक्षा संज्ञी असंज्ञी जीव	244
✱	हेतु की अपेक्षा संज्ञी असंज्ञी श्रुत	244
✱	दीर्घकालिकी और हेतुवाद संज्ञा में अन्तर	244
♠	दृष्टिवादोपदेशिकी संज्ञा	244
✱	केवली संज्ञी क्यों नहीं ?	245
✱	मिथ्यादृष्टि असंज्ञी क्यों ?	245
✱	दृष्टिवाद की अपेक्षा संज्ञीश्रुत-असंज्ञीश्रुत	245

◆	संज्ञाओं के स्वामी	246
◆	संज्ञाओं का क्रम	246
◆	तत्त्वार्थसूत्र की परंपरा	246
◆	सम्यक् श्रुत-मिथ्या श्रुत	248
◆	सम्यक् श्रुत के प्रकार	248
◆	मिथ्याश्रुत के प्रकार	248
◆	सम्यक् श्रुत के रचयिता	248
◆	मिथ्याश्रुत सम्यक्दृष्टि के किस रूप में होते हैं	249
◆	सम्यक्त्व के भेदों का स्वरूप	250
♠	औपशमिक समकित	250
♠	सास्वादन समकित	251
♠	क्षयोपशम समकित	251
♠	वेदक समकित	251
♠	क्षायिक समकित	252
◆	मत्यादि पांच ज्ञानों में कितने ज्ञान मिथ्यारूप होते हैं	252
◆	सम्यक्त्व और श्रुतज्ञान में अन्तर	252
◆	सादि श्रुत, अनादि श्रुत, सादि सपर्यवसित श्रुत और अनादि अपर्यवसित श्रुत	253
◆	नय की अपेक्षा से	253
◆	द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से	253
◆	भवी-अभवी जीव की अपेक्षा से	256
◆	गमिक श्रुत-अगमिक श्रुत	257
◆	अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य	257
◆	अंग शब्द की व्युत्पत्ति	257
◆	अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य का स्वरूप	258
◆	उत्तरकालीन आगम विभाजन	260
◆	अंगबाह्य की रचना का उद्देश्य	260
◆	अंगप्रविष्ट की रचना का उद्देश्य	260
◆	अंगबाह्य के दो भेद	261
◆	आवश्यक का स्वरूप और भेद	261
◆	आवश्यक व्यतिरिक्त के भेद	261
♠	कालिक सूत्र के भेद	262
♠	उत्कालिक सूत्र के भेद	262
◆	दिगम्बर परम्परा में अंगबाह्य के भेद	263
◆	प्रकीर्णक ग्रन्थ	263
◆	नंदीसूत्र में प्रकीर्णक की संख्या के विषय में दो मत	263
◆	आगमकालीन मत	264
◆	वर्तमान में प्रकीर्णकों की संख्या	264
◆	अंगप्रविष्ट के भेद	265

◆ श्वेताम्बर एवं दिगम्बर परम्परा में मान्य द्वादशांगों के स्वरूप का संक्षिप्त परिचय	265
♠ आचारांग	266
♠ सूत्रकृतांग	267
♠ स्थानांग	267
♠ समवायांग	268
♠ व्याख्या प्रज्ञप्ति (भगवती)	269
♠ ज्ञाताधर्मकथा	270
♠ उपासकदशा	271
♠ अन्तकृद्दशा	271
♠ अनुत्तरौपपातिक	273
♠ प्रश्नव्याकरण	273
♠ विपाक श्रुत	274
◆ श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्परा में मान्य पदों की संख्या का चार्ट	275
◆ दृष्टिवाद	276
◆ दृष्टिवाद के भेद	276
♠ परिकर्म	277
♠ सूत्र	277
♠ पूर्वगत	278
✱ पूर्वगत के प्रकार	278
✱ चौदह पूर्वों की विषयवस्तु	279
✱ चौदह पूर्वों की पद संख्या एवं वस्तुएँ	281
♠ अनुयोग	281
✱ मूल प्रथम अनुयोग	281
✱ गण्डिकानुयोग	282
♠ चूलिक	282
◆ द्वादशांगी की पौरुषेयता	283
◆ द्वादशांग के विषय	283
◆ द्वादशांगी ही श्रुतज्ञान	283
◆ द्वादशांग की शाश्वतता	283
◆ द्वादशांग की विराधना का कुफल—सुफल	284
◆ श्रुतज्ञान के दो विशिष्ट प्रकार	284
◆ षट्खण्डागम में श्रुतज्ञान के भेद	284
◆ श्रुतज्ञान का विषय	289
◆ विशेषावश्यकभाष्य का मत	290
◆ आगम का मत	290
◆ सत्पदपरुपणादि नौ अनुयोग द्वारा श्रुतज्ञान की प्ररुपणा	292
◆ श्रुत का प्रामाण्य	293
◆ श्रुतज्ञान में अनुमानादि प्रमाणों का समावेश	292
◆ समीक्षण	293

पंचम अध्याय :- विशेषावश्यकभाष्य में अवधिज्ञान**299-396**

◆ अवधिज्ञान की परिभाषा	301
◆ श्वेताम्बर आचार्यों की दृष्टि में	301
◆ दिगम्बर आचार्यों की दृष्टि में	301
◆ अवधिज्ञान के प्रकार	303
◆ भवप्रत्यय अवधिज्ञान का स्वरूप	303
◆ गुणप्रत्यय (क्षायोपशमिकप्रत्यय) अवधिज्ञान का स्वरूप	305
◆ अवधिज्ञान के अन्य प्रकार / गुणप्रत्यय के प्रकार	307
♠ आगमों में प्राप्त प्रकार	307
♠ आवश्यक निर्युक्ति के अनुसार	308
♠ षट्खण्डागम के अनुसार	309
♠ तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार	309
◆ चौदह निक्षेपों के अनुसार अवधिज्ञान का वर्णन	311
◆ अवधि निक्षेप	312
◆ क्षेत्र परिमाण निक्षेप	314
◆ अवधि का जघन्य क्षेत्र परिमाण	314
◆ स्पष्टीकरण	314
◆ समीक्षा	315
◆ मतान्तर	315
◆ जिनभद्रगणि का मत	316
◆ आगमानुसार	316
◆ अवधिज्ञान का उत्कृष्ट क्षेत्र परिमाण	317
◆ अवधिज्ञान के क्षेत्र का नाप	320
◆ द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की वृद्धि	321
◆ काल की वृद्धि	322
◆ क्षेत्र की वृद्धि	322
◆ द्रव्य की वृद्धि	323
◆ पर्याय की वृद्धि	323
♠ मतान्तर	323
◆ सूक्ष्म का अर्थ	323
◆ अवधिज्ञानी के जानने योग्य पुद्गल	323
◆ वर्गणा का स्वरूप	325
♠ द्रव्यवर्गणा	326
✱ द्रव्य वर्गणा के प्रकार	326
✱ द्रव्य वर्गणा का परिणाम	327
✱ विशेषावश्यकभाष्य के अनुसार ध्रुवादि वर्गणाओं का स्वरूप	329
✱ पंचसंग्रह के अनुसार वर्गणाओं का विवेचन	331
✱ द्रव्य वर्गणा के बयालीस प्रकार	332

♠	क्षेत्र वर्गणा	332
♠	काल वर्गणा	333
♠	भाव वर्गणा	333
◆	व्यवहार और निश्चय नय से गुरुलघु-अगुरुलघु द्रव्य	333
◆	देशावधि, परमावधि और सर्वावधि का स्वरूप	334
◆	देशावधि	334
♠	देशावधि के भेद	334
◆	परमावधि	335
♠	परमावधि के भेद	335
♠	उत्कृष्ट देशावधि और परमावधि में अन्तर	336
◆	सर्वावधि	336
♠	परमावधि और सर्वावधि की तुलना	337
◆	अवधिज्ञान का द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा विषय	337
◆	परमावधि का द्रव्य की अपेक्षा विषय	337
♠	द्रव्य के साथ क्षेत्र और काल का सम्बन्ध	338
◆	परमावधि का क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा विषय	339
♠	तिर्य्यच	339
♠	नारकी	340
♠	देवता के अवधिज्ञान का क्षेत्र	341
✱	भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिषी देवों के अवधिज्ञान का क्षेत्र	341
✱	वैमानिक देव के अवधिज्ञान का क्षेत्र	342
✱	वैमानिक देवों में अवधिज्ञान का उत्कृष्ट प्रमाण	343
◆	परमावधि का कालादि की अपेक्षा ज्ञेय प्रमाण	345
◆	भाव की अपेक्षा	345
◆	जघन्य-उत्कृष्ट अवधिज्ञान के स्वामी	345
◆	संस्थान द्वार	346
◆	अवधिज्ञान की दिशा में वृद्धि	348
◆	आनुगामिक-अननुगामिक अवधिज्ञान	350
◆	आनुगामिक अवधिज्ञान	350
♠	अंतगत आनुगामिक अवधिज्ञान	351
✱	अंतगत के भेद	353
✱	धवलाटीका में अन्तगत अवधिज्ञान के प्रकार	353
♠	मध्यगत आनुगामिक अवधिज्ञान	354
✱	मध्यगत के प्रभेद	355
♠	अंतगत और मध्यगत में अंतर	355
◆	अनानुगामिक अवधिज्ञान	355
♠	सम्बद्ध-असम्बद्ध अवधिज्ञान	356
♠	अनानुगामिक के भेद	357
◆	मिश्र अवधिज्ञान	357
◆	अनुगामिक-अननुगामिक अवधिज्ञान के स्वामी	357

◆ अवस्थित अवधिज्ञान (क्षेत्र-उपयोग-लब्धि से विचारणा)	358
◆ अवस्थित के सम्बन्ध में अन्य ग्रंथों में प्राप्त चर्चा	358
◆ आवश्यकनिर्युक्ति के आधार पर अवस्थित का स्वरूप	359
♠ क्षेत्र की अपेक्षा	359
♠ उपयोग की अपेक्षा	359
✱ मतान्तर	359
♠ लब्धि की अपेक्षा	360
♠ जघन्य अवस्थान किसके होता है?	360
◆ तत्त्वार्थसूत्र के आधार पर अवस्थित का स्वरूप	360
◆ चल द्वार एवं अवधिज्ञान	361
◆ मूल में वृद्धि दो प्रकार की होती है	361
◆ द्रव्यादि में वृद्धि / हानि	362
♠ मतान्तर	362
◆ द्रव्यादि का परस्पर संबंध	362
◆ वर्धमान-हीयमान	363
◆ वृद्धि और हानि के कारण	365
◆ तीव्र-मंद द्वार एवं अवधिज्ञान	365
◆ तीव्र-मंद-मिश्र का स्वरूप	365
◆ स्पर्धक अविधिज्ञान	365
♠ स्पर्धक का स्वरूप	365
♠ स्पर्धकों का स्थान	366
♠ स्पर्धकों की संख्या	366
♠ स्पर्धकों में उपयोग	366
♠ स्पर्धक के प्रकार	366
♠ अनुगामी और अप्रतिपाती स्पर्धकों में अंतर	367
♠ अननुगामी और प्रतिपाती स्पर्धकों में अंतर	367
◆ प्रतिपाती-अप्रतिपाती अवधिज्ञान	367
◆ प्रतिपाती और अननुगामिक में अंतर	369
◆ प्रतिपात-उत्पाद द्वार के अन्तर्गत अवधिज्ञान	369
◆ बाह्य अवधिज्ञान का स्वरूप	370
◆ आभ्यन्तर अवधि का स्वरूप	371
♠ उत्पाद और प्रतिपाद के सम्बन्ध में मन्तव्य	371
◆ ज्ञान-दर्शन तथा विभंग द्वार	372
◆ ज्ञान का स्वरूप	372
◆ दर्शन का स्वरूप	372
◆ ज्ञान और दर्शन का भेद क्यों?	372
◆ विभंगज्ञानी के प्रकार	373
◆ देश द्वार और अवधिज्ञान	374
◆ एक क्षेत्र, अनेक क्षेत्र अवधिज्ञान	375

◆ क्षेत्र द्वार और अवधिज्ञान	376
◆ संबद्ध और असंबद्ध का क्षेत्र	376
◆ असंबद्ध और स्पर्धक अवधि में अन्तर है	377
◆ गति आदि द्वारा के अन्तर्गत अवधिज्ञान	377
◆ ऋद्धि (लब्धि) द्वारा एवं अवधिज्ञान	378
◆ लब्धि का अर्थ	378
◆ लब्धि का अधिकारी	378
◆ विशेषावश्यकभाष्य में वर्णित लब्धियाँ	378
◆ लब्धि और औदयिक आदि भाव	383
◆ विशेषावश्यकभाष्य में वर्णित लब्धियों के अतिरिक्त लब्धियाँ	383
◆ दिगम्बर परम्परा में लब्धियाँ	385
◆ लब्धियों के सम्बन्ध में प्राप्त मतान्तर	386
◆ चक्रवर्ती लब्धि भवी के ही क्यों होती है	386
◆ 28 लब्धियों में से भव्य-अभव्य जीव में पाई जाने वाली लब्धियाँ	386
◆ समीक्षण	387

षष्ठ अध्याय :- विशेषावश्यकभाष्य में मनःपर्यवज्ञान

391-444

◆ मनःपर्यवज्ञान के वाचक शब्द	397
◆ मनःपर्यवज्ञान का लक्षण	398
◆ श्वेताम्बर आचार्यों की दृष्टि में मनःपर्यवज्ञान का लक्षण	398
◆ दिगम्बर आचार्यों की दृष्टि में मनःपर्यवज्ञान का लक्षण	399
◆ मनःपर्यवज्ञान के वाचक शब्दों से निष्पन्न लक्षण	399
◆ मनःपर्यवज्ञान और मतिज्ञान	401
◆ मनःपर्यवज्ञान और अनुमान	402
◆ मनःपर्यवज्ञान और श्रुत	402
◆ मनःपर्यवज्ञान की प्राप्ति से पूर्व अवधिज्ञान की आवश्यकता है या नहीं	402
◆ मनःपर्यवज्ञान और अवधिज्ञान की अभिन्नता एवं भिन्नता	403
◆ अवधिज्ञान और मनःपर्यवज्ञान की अभिन्नता	404
◆ अवधिज्ञान और मनःपर्यवज्ञान में भिन्नता की सिद्धि	405
◆ मनःपर्यवज्ञान की अर्हता अर्थात् अधिकारी या स्वामी	407
◆ मनुष्य	407
◆ गर्भजमनुष्य	407
◆ कर्मभूमिजमनुष्य	408
◆ संख्यातवर्षायुष्यकमनुष्य	408
◆ पर्याप्त	409
◆ सम्यग्दृष्टि	409

◆	संयत	410
◆	अप्रमत्तसंयत	410
◆	ऋद्धिप्राप्त संयत	411
◆	स्त्री को मनःपर्यवज्ञान	412
◆	मनःपर्यायज्ञान के भेद	413
◆	श्वेताम्बर मान्यता में ऋजुमति-विपुलमति मनःपर्यवज्ञान का स्वरूप	413
◆	दिगम्बर मान्यता में ऋजुमति-विपुलमति मनःपर्यवज्ञान का स्वरूप	414
◆	ऋजुमति-विपुलमति ज्ञान के प्रभेद	415
◆	ऋजुमति मनःपर्यवज्ञान के प्रभेद	415
◆	विपुलमति मनःपर्यवज्ञान के प्रभेद	417
◆	श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्परा में मान्यता भेद	417
◆	ऋजुमति-विपुलमति की तुलना	419
◆	मनःपर्यवज्ञान के ज्ञेय संबन्धी विचार	421
◆	प्रथम मत	421
◆	दूसरा मत	422
◆	विशेष्याशयकभाष्य में मनःपर्यवज्ञान का ज्ञेय	423
◆	मनःपर्यवज्ञान से जानने की प्रक्रिया	425
◆	किसका मन मनःपर्यवज्ञान का विषय होता है?	425
◆	मनःपर्यवज्ञान का द्रव्यादि की अपेक्षा वर्णन	426
◆	मनःपर्यवज्ञान का द्रव्य	426
◆	मनःपर्यवज्ञान का क्षेत्र	427
◆	♣ क्षुल्लक (क्षुद्र) प्रतर का स्वरूप	428
◆	मनःपर्यवज्ञान का काल	432
◆	मनःपर्यवज्ञान का भाव	433
◆	जाणइ पासइ की उत्पत्ति के संबंध में विविध मत	435
◆	मनःपर्यवज्ञानी अचक्षुदर्शन से देखता है	436
◆	मनःपर्यवज्ञानी अवधिदर्शन से देखता है	437
◆	विभंग दर्शन की तरह मनःपर्यव दर्शन भी अवधि दर्शन है	438
◆	अवधिसहित मनःपर्यवज्ञान वाला जानता और देखता है, जबकि अवधिरहित मनःपर्यवज्ञान वाला सिर्फ जानता है	438
◆	मनःपर्यवज्ञान साकार उपयोग होने से उसमें दर्शन नहीं होता है	439
◆	आगमानुसार मत	439
◆	मनःपर्यवज्ञान के संस्थान	440
◆	समीक्षण	440

सप्तम अध्याय:- विशेषावश्यकभाष्य में केवलज्ञान**445-504**

◆	केवल ज्ञान को अन्त में कहने का कारण	445
◆	केवलज्ञान का लक्षण	446
◆	◆ श्वेताम्बर आचार्यों की दृष्टि में केवलज्ञान का लक्षण	446
◆	◆ दिगम्बर आचार्यों की दृष्टि में केवलज्ञान का लक्षण	446
◆	केवलज्ञान को परिभाषित करने में प्रयुक्त विशेषणों का अर्थ	448
◆	केवलज्ञान के स्वामी अथवा प्रकार	451
◆	◆ केवली का लक्षण	452
◆	भवस्थ केवलज्ञान	452
◆	◆ भवस्थ केवलज्ञान के भेद	452
	♠ सयोगी भवस्थ केवलज्ञान	453
	✱ सयोगी भवस्थ केवलज्ञान के भेद	453
	♠ अयोगी भवस्थ केवलज्ञान	453
	✱ सयोगी भवस्थ केवलज्ञान के भेद	454
◆	सिद्ध केवलज्ञान	454
◆	◆ सिद्ध का स्वरूप	455
◆	◆ सिद्ध केवलज्ञान के प्रकार	455
	♠ अनन्तरसिद्ध केवलज्ञान	455
	♠ अनन्तरसिद्ध के भेद	455
	♠ परम्पर सिद्ध केवलज्ञान	463
	♠ परम्पर सिद्ध केवलज्ञान के भेद	464
◆	केवलज्ञान प्राप्ति की प्रक्रिया	466
◆	◆ केवलज्ञान की प्राप्ति के हेतु	466
◆	◆ विशेषावश्यकभाष्य के अनुसार निश्चयनय और व्यवहारनय की अपेक्षा कर्मों का क्षय	467
◆	केवली समुद्घात	468
◆	◆ केवली समुद्घात कौन करता है?	468
◆	◆ केवली समुद्घात का प्रयोजन	469
◆	◆ केवली समुद्घात के पूर्व की अवस्था	470
◆	◆ केवली समुद्घात की प्रक्रिया	471
◆	◆ केवली समुद्घात में कर्म प्रकृतियों की क्षपणा की प्रक्रिया	471
◆	◆ केवली समुद्घात में योगों की प्रवृत्ति	472
◆	◆ केवली समुद्घात के बाद की प्रवृत्ति	473
◆	केवली के योग-निरोध की प्रक्रिया	473
◆	मन के अभाव में केवली के ध्यान कैसे?	474
◆	सिद्ध अवस्था की प्राप्ति	475

◆ सिद्ध जीव के सम्बन्ध में जिज्ञासा-समाधान	475
◆ सिद्धों के रहने का स्थान	477
◆ जीव के सिद्ध होने के बाद की अवगाहना	478
◆ सिद्धों का सुख	478
◆ सिद्धावस्था में जीव की स्थिति	478
◆ केवली के उपयोग की चर्चा	479
◆ अभेदवाद	480
◆ युगपद्वाद	480
◆ केवलज्ञान सर्वांग से जानता है	480
◆ क्रमवाद	481
◆ केवली में केवलज्ञान के साथ श्रुतज्ञान भी होता है?	486
◆ केवलज्ञान और श्रुतज्ञान में अन्तर	488
◆ केवलज्ञान का विषय	488
◆ श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार केवलज्ञान का विषय	489
◆ दिगम्बर परम्परा में केवलज्ञान का विषय	490
◆ केवलज्ञान की स्व-पर प्रकाशकता	491
◆ केवलज्ञान और केवली के सम्बन्ध में विशिष्ट वर्णन	491
◆ केवलज्ञान-केवलदर्शन उत्पन्न होने एवं नहीं होने के कारण	491
◆ केवलदर्शन उत्पन्न होता हुआ भी प्रथम समय में नहीं रुकने के कारण	492
◆ छद्मस्थ और केवलज्ञानी में अन्तर	492
◆ छद्मस्थ और केवलज्ञानी की पहचान	492
◆ केवली के दस अनुत्तर	493
◆ सर्व को जानता हुआ भी व्याकुल नहीं होता	493
◆ केवलज्ञानी पंचेन्द्रिय अथवा अनीन्द्रिय है	493
◆ केवली के मन होता है अथवा नहीं?	494
◆ भावमन के अभाव में वचन की उत्पत्ति कैसे हो सकती है?	494
◆ केवली नो संज्ञी-नो असंज्ञी	494
◆ केवली के योगों का सद्भाव	495
◆ केवली और मत्यादिज्ञान	495
◆ अर्हतों को ही केवलज्ञान क्यों, अन्य को क्यों नहीं?	495
◆ ईर्यापथ आस्रव सहित भी भगवान् कैसे हो सकते हैं	495
◆ गति आदि द्वारों के माध्यम से केवलज्ञान का वर्णन	496
◆ समीक्षण	499
◆ उपसंहार	505-514
◆ सहायक ग्रन्थ सूची	515-523

प्रथम अध्याय

विशेषावश्यकभाष्य एवं बृहद्वृत्ति : एक परिचय

आवश्यकसूत्र

जैनागम साहित्य में आवश्यकसूत्र का विशेष महत्त्व है। इसकी गणना अंग बाह्य सूत्रों में की जाती है। श्रमण चर्या की दृष्टि से यह आगम अत्यन्त उपादेय है। श्रावक-श्राविका वर्ग भी इसका अध्ययन कर अपने जीवन को उन्नत बना सकता है। आवश्यकसूत्र पर निर्युक्ति, भाष्य एवं चूर्णि के रूप में व्याख्या-साहित्य प्राप्त होता है। भाष्यकारों में जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण का नाम उल्लेखनीय है। जिनभद्रगणि ईसवीय सप्तमशती के महान् जैनाचार्य हुए हैं। इन्होंने विशेषावश्यकभाष्य, बृहत्संग्रहणी, विशेषणवती आदि महत्त्वपूर्ण रचनाएं की हैं, जो आज भी जैन परम्परा में अत्यन्त आदर के साथ पढ़ी जाती हैं। विशेषावश्यकभाष्य एक भाष्यग्रन्थ है जो आवश्यकसूत्र पर लिखा गया है। जिनभद्रगणि के पूर्व आवश्यकसूत्र पर आचार्य भद्रबाहु द्वारा आवश्यकनिर्युक्ति की रचना की गई थी। इन के पश्चात् जिनभद्रगणि विरचित विशेषावश्यकभाष्य एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ के रूप में स्वीकृत है। जिनभद्रगणि के इस भाष्य में आवश्यक सूत्र के छह आवश्यकों में से मात्र प्रथम सामायिक आवश्यक की ही विवेचना 3603 प्राकृत गाथाओं में सम्पन्न हुई है। इन गाथाओं पर स्वयं ने वृत्ति लिखी है, जो स्वोपज्ञवृत्ति के नाम से प्रसिद्ध है एवं इसमें विशेषावश्यकभाष्य का रहस्य भलीभांति स्पष्ट हुआ है। कोट्याचार्य ने इस पर विवरण की रचना की है, जो 13700 श्लोक परिमाण है। मलधारी हेमचन्द्र द्वारा विशेषावश्यकभाष्य पर लगभग 28000 श्लोक परिमाण शिष्यहिता नामक बृहद्वृत्ति का आलेखन किया गया है।

सम्प्रति श्वेताम्बर जैन परम्परा में जिनभद्रगणिकृत विशेषावश्यकभाष्य को ज्ञानमीमांसा की दृष्टि से अत्यन्त उपयोगी माना जाता है, क्योंकि इस भाष्य में मतिज्ञानादि पांचों ज्ञानों का सुन्दर निरूपण हुआ है। यहाँ पर आवश्यकसूत्र, उसके व्याख्या साहित्य का परिचय देने के पश्चात् जिनभद्रगणि एवं विशेषावश्यकभाष्य का परिचय आगे इसी अध्याय में दिया जाएगा।

नंदीसूत्र में आवश्यकसूत्र को अंगबाह्य आगमों में प्रथम स्थान दिया गया है।¹ जिनभद्रगणि के अनुसार गणधरों के द्वारा नहीं पूछने पर तीर्थंकर द्वारा जो अभिव्यक्त होता है, अथवा स्थविर आचार्यों द्वारा रचित होता है, वह अंगबाह्य आगम होता है।²

आवश्यक का अर्थ

आत्म-विशुद्धि के लिए अवश्यकरणीय कार्य को आवश्यक कहा जाता है। जीवित रहने के लिए जिस प्रकार श्वास लेना जरूरी है, उसी प्रकार आध्यात्मिक क्षेत्र में जीवन की पवित्रता के लिए जो क्रिया अथवा साधना अनिवार्य है अर्थात् संयम-साधना के अंगभूत जो अनुष्ठान आवश्यकरूप से करणीय है, उसे ही आगम में आवश्यक की संज्ञा से अभिहित किया जाता है। 'आवश्यक'

1. अंगबाहिरं दुविहं पण्णत्तं, तं जहा आवस्सयं च आवस्सयवइरित्तं च। - नंदीसूत्र पृ. 160

2. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 550

जैन साधना का मूल प्राण है तथा आवश्यक सूत्र के परिज्ञान से साधक अपनी आत्मा को निरखने-परखने का एक महान् उपाय प्राप्त करता है। साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका रूप चतुर्विध संघ द्वारा समाचरणीय नित्य कर्तव्य कर्म का स्वरूप आवश्यक सूत्र में प्रतिपादित है।

जिनभद्रगणि के अनुसार - 'आवश्यक' ज्ञानक्रियामय आचरण है, अतः मोक्षप्राप्ति का कारण है। जिस प्रकार कुशल वैद्य उपयुक्त पथ्य (आहार) के सेवन की आज्ञा देता है, वैसे ही भगवान् ने साधकों के लिए जिन आवश्यक क्रियाओं का विधान किया है, वे आवश्यक हैं।³

अनुयोगद्वारचूर्ण में आवश्यक की परिभाषा इस प्रकार से दी गई है - 'सुण्णमप्पाणं तं पसत्थभावेहिं आवासेतीति आवासं' - जो गुणशून्य आत्मा को प्रशस्त भावों से आवासित करता है, वह आवश्यक है। अनुयोगद्वार की टीका में - 'समग्रस्यापि गुणग्रामस्यावासकमित्यावासकम्' - जो समस्त गुणों का निवास स्थान है, वह आवश्यक है या यों कहें कि जो प्रशस्त गुणों से आत्मा को सम्पन्न करता है, वह आवश्यक है।⁴

मूलाचार के अनुसार जो राग तथा द्वेषादि विभावों के वशीभूत नहीं होता, वह अवश है। उस अवश का आचरण या कार्य आवश्यक कहलाता है।⁵ ऐसे ही भाव नियमसार में भी प्राप्त होते हैं।⁶

अनुयोगद्वार के समान ही विशेषावश्यकभाष्य में आवश्यक के आठ पर्यायवाची नाम दिये हैं- आवश्यक, अवश्यकरणीय, ध्रुवनिग्रह, विशोधि, अध्ययनषट्कवर्ग, न्याय, आराधना और मार्ग, यथा- **आवस्सयं अवस्सकरणिज्जं, ध्रुवनिग्गहो विसोही य।**

अज्झयण-छक्कवग्गो, नाओ आराहणा मग्गो।⁷

उपर्युक्त नाम आवश्यक के स्वरूप, महत्त्व एवं उसके विविध गुणों को प्रकट करते हैं। इस प्रकार इनमें किञ्चित् अर्थभेद होने पर भी नाम समान अर्थ को ही व्यक्त करते हैं। आवश्यक सूत्र का साधान जीवन में महत्त्व पूर्ण स्थान है।

आवश्यक सूत्र के कर्त्ता

डॉ. समणी कुसुमप्रज्ञा के अनुसार आवश्यक के कर्त्ता के बारे में इतिहास मौन है और विद्वानों में भी मतैक्य नहीं है। यह सूत्र किसी एक स्थविर आचार्य की कृति है अथवा अनेक आचार्यों की, इस बारे में स्पष्टतया कुछ भी नहीं कहा जा सकता है। कुछ विद्वान् इसे किसी एक आचार्य की कृति नहीं मानते हैं। आचार्य भद्रबाहु के सामने भी इसके कर्तृत्व के बारे में कोई जानकारी नहीं थी अन्यथा जैसेकि उन्होंने दशवैकालिक निर्युक्ति में दशवैकालिक के कर्त्ता रूप में आचार्य शय्यंभव का उल्लेख किया है वैसे ही आवश्यकनिर्युक्ति में भी आवश्यक के कर्त्ता का नामोल्लेख अवश्य करते। गणधवाद की भूमिका में पंडित मालवणियाजी ने आवश्यक के कर्त्ता के बारे में विचार करते हुए इसे गधणर प्रणीत सिद्ध करने का प्रयत्न किया है।⁸ इस प्रकार प्राचीन और अवाचीन मान्यताओं के आधार पर यहाँ आवश्यक सूत्र के कर्त्ता के बारे में विचार किया जा रहा है।

3. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 3-4

4. उद्धृत-युवाचार्य मधुकरमुनि, आवश्यकसूत्र, प्रस्तावना, पृ. 16-17

5. ण वसो अवसो अवस्स कम्मावस्सयंति बोधव्वा। - मूलाचार गाथा 515

6. नियमसार, गाथा 141

7. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 872

8. आवश्यक निर्युक्ति भाग 1, भूमिका, पृ. 20

जैनागम के मुख्य रूप से अर्थागम और सूत्रागम ये दो भेद किये जाते हैं। अनुयोगद्वार के अनुसार तीर्थंकर अर्थागम के कर्ता हैं। उस अर्थागम के आधार से गणधर सूत्रों की रचना करते हैं इसलिए सूत्रागम या शब्दागम के प्रणेता गणधर कहे जाते हैं।⁹

आवश्यकसूत्र अंगबाह्य आगमों में परिगणित है, अतः इसकी रचना को लेकर दो मान्यताएं उभर कर आयी हैं - प्रथम मान्यता के अनुसार आवश्यकसूत्र तीर्थंकरों की अर्थरूप वाणी के आधार पर स्थविर आचार्य द्वारा रचित है। द्वितीय मान्यता इसे गणधरकृत स्वीकार करती है।

1. प्रथम मान्यता - अनुयोगद्वारसूत्र में तीर्थंकरों को आचारांग से लेकर दृष्टिवाद पर्यन्त बारह अंगों का प्रणेता बताया है। किन्तु यह कथन अर्थरूप आगम की दृष्टि से हुआ है। सूत्र रूप द्वादशांगी की रचना गणधरों ने की है। नंदीसूत्र¹⁰ में भी ऐसा उल्लेख है। षट्खण्डागम की धवला टीका¹¹ और कसायपाहुड की जयधवला टीका¹² में द्वादशांगी और चौदहपूर्व के सूत्रकर्ता के रूप में गणधर गौतमस्वामी को मान्य किया गया है। इस मान्यता के समर्थन में आचार्य उमास्वाति ने तत्त्वार्थसूत्र में कहा है कि जो आगम गणधरकृत हैं, वे अंगसूत्र और जो आगम स्थविर कृत हैं, वे अंगबाह्य कहलाते हैं।¹³ बृहत्कल्पभाष्य¹⁴, विशेषावश्यकभाष्य¹⁵ के अनुसार आगम के रचनाकार तीर्थंकर, गणधर एवं स्थविर आचार्य तीनों हैं। आवश्यक सूत्र अंग बाह्य है, अतः यह स्थविर कृत है। यही प्राचीन परम्परा है।

आचारांगटीका के अनुसार 'आवश्यकान्तर्भूतः चतुर्विंशतिस्तव आरातीयकालभाविना भद्रबाहुस्वामिनाऽकारि'¹⁶ आवश्यक सूत्र के कुछ अध्ययन श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु आदि एवं परवर्ती अनेक स्थविर आचार्यों की ज्ञान निधि के प्रतिफल रूप हैं। अतः निश्चय ही इसका वर्तमान रूप भगवान् महावीर के समय से ही प्रारम्भ होकर वि. सं. 5-6 शताब्दी तक पूर्णता को प्राप्त हो चुका था। इस प्रकार आवश्यक के रचनाकार गणधर गौतम, भद्रबाहु आदि अनेक आचार्य हुए हैं।

पं. सुखलाल संघवी ने इसे ई. पू. चौथी शताब्दी के प्रथम पाद तक रचित माना है।¹⁷ अतः इसकी प्राचीनता स्वतः ही सिद्ध हो जाती है, क्योंकि निर्युक्तिकार भद्रबाहु ने सर्वप्रथम निर्युक्ति की रचना इसी सूत्र पर की है। ऐसी अवस्था में मूल 'आवश्यकसूत्र' अधिक से अधिक उनके कुछ पूर्ववर्ती या समकालीन किसी अन्य श्रुतधर का रचित हो सकता है।

पं. सुखलाल संघवी ने आवश्यक के कर्ता के सम्बन्ध में अपना निष्कर्ष लिखते हुए कहा है कि "जो कुछ हो, पर इतना निश्चित जान पड़ता है कि तीर्थंकर के समकालीन स्थविरों से लेकर भद्रबाहु के पूर्ववर्ती या समकालीन स्थविरों तक में से ही किसी की कृति आवश्यक सूत्र है।"¹⁸

9. अ) अत्थं भासइ अरहा सुत्तं गंथंति गणहरा निउणं। सासणस्स हियट्ठाए तओ सुत्तं पवत्तई। - आवश्यकनिर्युक्ति गाथा 92

ब) सुत्तं गणधरगथिदं तहेव पत्तेयबुद्धकहयिं च। सुदकेवल्लिणा कहियं अभिण्णदसपुव्विगधिदं च। - भगवती आराधना गाथा 33

स) पुणो तेणिंदभूदिणा भावसुदपज्जयपरिणदेण बारहंगाणं चौदपुव्वाणं च गंथाणमेक्केण चेव मुहुत्तेण कमेण रयणा कदा। तदो भाव-सुदस्स अत्थ पदाणं च तित्थयरो कत्ता। तित्थयरादो सुद-पज्जाएण गोदमो परिणदो ति दव्व-सुदस्स गोदमो कत्ता। ततो गंथ-रयणा जादेत्ति। - षट्खण्डागम (धवला) पु. 1. सू. 1.1.1, पृ० 65,

द) तदो तेण गोअमगोत्तेण इंदभूदिणा अंतोमुहुत्तेणावहारियदुवालसंगत्थेण तेणेव कालेण कयदुवालसंगंथरयणेण गुणेहि सगसाणस्स सुहम्माइरियस्स गंथो वक्खाणिदो। - कसायपाहुड (जयधवल) भाग 1, गाथा 1, पृ. 76

10. नंदी सूत्र, सूत्र 76, पृ. 152

11. षट्खण्डागम (धवला) पु. 1. सू. 1.1.1, पृ० 65

12. कसायपाहुड (जयधवल) भाग 1, गाथा 1, पृ. 76

13. तत्त्वार्थ भाष्य 1.20

14. बृहत्कल्पभाष्य गा० 144

15. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 550

16. आचारांगटीका पृ. 56

17. दर्शन और चिन्तन भाग 2, पृ. 194-196

18. दर्शन और चिन्तन भाग 2, पृ. 197

2. द्वितीय मान्यता – यह मान्यता आवश्यकसूत्र को गणधर प्रणीत मानने की है, जो कब से शुरू हुई यह तो ज्ञात नहीं होता है, लेकिन सर्वप्रथम यह परम्परा आवश्यकनिर्युक्ति में दिखाई दी है। निर्युक्तिकार के अनुसार सामायिकादि अध्ययनों की रचना भगवान् के उपदेश के आधार पर गणधरों ने की है। आचार्य भद्रबाहु ने भी इस बात को स्पष्ट करते हुए कहा है कि ‘इसमें मैं जो कुछ कह रहा हूँ, वह परम्परा से प्राप्त हुआ है।’ इसी बात का समर्थन जिनभद्रगणि ने किया है।¹⁹ निर्युक्ति व भाष्य के मत का अनुसरण टीकाकार आचार्य हरिभद्र, मलयगिरि, मलधारी हेमचन्द्र ने भी किया है²⁰ एवं आवश्यकसूत्र की इस प्राचीन परम्परा का वर्णन अनुयोगद्वार में मिलता है। वहाँ भी आवश्यक के अध्ययनों के विषय में आवश्यक निर्युक्ति में आगत ‘उद्देशादि’ प्रदर्शक गाथाएं उसी रूप में हैं। आचार्य हरिभद्र ने आवश्यक टीका में आवश्यक निर्युक्ति के मत का अनुसरण किया है, इसी प्रकार मलधारी हेमचन्द्र ने भी इसी मत का समर्थन किया है।²¹ अतः आवश्यक सूत्र गणधर-प्रणीत है, यह परम्परा टीकाकारों को मान्य है तथा यह परम्परा आवश्यकनिर्युक्ति जितनी ही प्राचीन भी है। नंदीसूत्र के चूर्णिकार जिनदासगणि और टीकाकार हरिभद्र दोनों ने ‘अथवा’ कहकर इस मान्यता से भिन्न जो दूसरी मान्यता थी कि गणधर रचित द्वादशांगी है और स्थविर प्रणीत अंगबाह्य है, का भी कथन किया है, जिसके अनुसार अंगबाह्य आवश्यकसूत्र स्थविर प्रणीत सिद्ध होता है।²²

संक्षेप में कहें तो प्राचीन मान्यता के अनुसार आवश्यक की अंगबाह्य होने से गणधर-प्रणीत नहीं माना जाता था, किन्तु बाद में आचार्य इसे भी गणधर-कृत मानने लगे। साथ ही यह भी मान्यता रही कि सर्वप्रथम आवश्यक सूत्र ही गणधर कृत है, बाद में अन्य अंगबाह्य आगमों को भी गणधर कृत स्वीकार किया जाने लगा। इसका भी कारण यह होगा कि आगम-ग्रंथों में अनेक स्थलों पर जहाँ-जहाँ भगवान् महावीर के शिष्यों के प्रायः श्रुत का वर्णन आता है वहाँ-वहाँ उन्होंने ‘सामायिकादि ग्यारह अंगों का अध्ययन किया’ ऐसा वर्णन मिलता है। सामायिक, यह आवश्यक का प्रथम अध्ययन है अतः अध्ययन क्रम में पहला स्थान होने से ग्यारह अंगों में पहला है, अतः पं. दलसुख मालवणिया आवश्यक को गणधर कृत²³ मानते हैं।

आवश्यकनिर्युक्ति में सामायिक अध्ययन के विषय में उल्लेख है कि यह अध्ययन गुरुजनों के द्वारा उपदिष्ट और आचार्य परम्परा द्वारा आगत है।²⁴ जिनभद्रगणि और मलधारी हेमचन्द्र ने गुरुजन का अर्थ जिन, तीर्थकर और गणधर किया है।²⁵

तीर्थस्थापना के प्रथम दिन भी आवश्यक तो जरूरी ही है। इसलिए तीर्थकर आवश्यकसूत्र का अर्थरूप में निरूपण करते हैं एवं गणधर इसकी रचना सूत्ररूप में करते हैं। गणधर रचित प्रत्येक सूत्र कालिक होता है। किन्तु आवश्यक उभयकाल करने का होने से इसकी अलग व्यवस्था दी गयी है।

19. सामाज्यनिज्जुतिं, वोच्छं उवएसियं गुरुजणेणं।

आयरियपरंपरण, आगयं आणुपुव्वीए। – आवश्यकनिर्युक्ति गाथा 87, विशेषावश्यक भाष्या गाथा 1080

20. (अ) अनंगप्रविष्टमावश्यकदि, ततोऽर्हत्प्रणीतत्वात्। – हरिभद्रीय पृ. 78, मलयगिरि पृ. 193

(ब) इह चरणकरणक्रियाकलापतरूमूलकल्पं सामायिकादिषडध्ययनात्मकं श्रुतस्कंधरूपमावश्यकं तावदर्थतस्तीर्थकरैः सूत्रतस्तु गणधरैर्विरचितम्। – मलधारी हेमचन्द्र, बृहद्वृत्ति पृ. 1

21. गणधरवाद, प्रस्तावना, पृ. 8

22. नंदीचूर्णि पृ. 78, हरिभद्रीय पृ. 78, मलयगिरि पृ. 193, जैन तर्कभाषा पृ. 23

23. गणधरवाद, प्रस्तावना पृ. 9

24. आवश्यकनिर्युक्ति गाथा 87, विशेषावश्यक भाष्या गाथा 1080

25. जिन-गणहर्गुरुदेसियमायरियपरं परागयं ततो। – विशेषावश्यकभाष्य गाथा 1081 एवं वृत्ति

इसके अध्ययन का क्रम सामायिक से माना गया है। अतः आवश्यक को आचारांग की प्रस्तावना, पीठिका, उत्थानिका रूप समझना चाहिए। पहले निशीथ भी आचारांग में ही रहा हुआ था। निशीथ भी प्रायश्चित्त रूप है और प्रतिक्रमण भी प्रायश्चित्त रूप है। अतः ये दोनों आचारांग में रहे होंगे। टीका और व्याख्याओं में उल्लेख है कि मंगलाचरण को सूत्र का भाग ही समझना चाहिए। इसी प्रकार आवश्यक भी प्रस्तावना रूप होते हुए भी सूत्र के अन्दर ही है। अनुयोगद्वार के रचनाकाल तक आवश्यक को उत्कालिक में स्थान मिल चुका था। कल्याणविजय जी का भी मानना है कि आवश्यक पहले गणधरकृत था तथा बाद में स्थविरकृत हो गया। कुछ भाग गणधरकृत जैसा था, वैसा ही रख दिया गया तथा शेष भाग अपने भावानुसार रच दिये गए। जैसे आवश्यकता होने से कल्पसूत्र को दशाश्रुतस्कंध से पृथक् कर दिया गया वैसे ही आवश्यक को भी आचारांग से पृथक् कर दिया गया है। कतिपय आचार्य आवश्यक को नो कालिक नो उत्कालिक मानते हैं। लेकिन ऐसा मानना उचित नहीं है, क्योंकि अंगबाह्य के दो भेद ही हैं - कालिक और उत्कालिक।

आवश्यकसूत्र के छह अंग

आवश्यकसूत्र के छह अंग होते हैं - 1. सामायिक 2. चतुर्विंशतिस्तव 3. वन्दन 4. प्रतिक्रमण 5. कायोत्सर्ग 6. प्रत्याख्यान। दिगम्बर परम्परा में इन छह अंगों में पांचवां प्रत्याख्यान और छठा कायोत्सर्ग है, शेष भेद समान हैं। आन्तरिक दोषों की शुद्धि एवं गुणों की अभिवृद्धि के लिए आवश्यकसूत्र की उक्त छह क्रियाएं कार्यकारी हैं। इनसे आध्यात्मिक विशुद्धि तो होती ही है, साथ ही व्यावहारिक जीवन में समत्व, विनय, क्षमाभाव आदि गुणों की अभिवृद्धि होती है। जिसके फलस्वरूप साधक को आत्मशान्ति का अनुभव होता है।

1. सामायिक आवश्यक -सामायिक जैन आचार का सार है। सामायिक श्रमण और श्रावक दोनों के लिए आवश्यक है। श्रमण के पांच प्रकार के चारित्र हैं। उसमें भी सामायिक चारित्र प्रथम है। इसी प्रकार श्रावक के चार शिक्षा व्रतों में सामायिक व्रत प्रथम है अर्थात् जितने भी श्रावक हैं वे जब साधना का मार्ग स्वीकार करते हैं तो शुरुआत सामायिक से ही करते हैं। जैन आचारदर्शन रूप भव्य प्रासाद का मूल सामायिक है। पापकारी प्रवृत्तियों का त्याग करना ही सावद्ययोग-परित्याग कहलाता है। अहिंसा, समता आदि सद्गुणों का आचरण निरवद्ययोग है। सावद्ययोग का परित्याग कर शुद्ध स्वभाव में रमण करना 'सम' कहलाता है। जिस साधना के द्वारा उस 'सम' की प्राप्ति हो, वह सामायिक है।²⁶ 'सम' शब्द का अर्थ श्रेष्ठ है और 'अयन' का अर्थ आचरण है अर्थात् श्रेष्ठ आचरण का नाम सामायिक है। अहिंसा आदि श्रेष्ठ साधना समय पर की जाती है, वह सामायिक है।²⁷ सामायिक में मन, वचन और काया की दुष्ट वृत्तियों को रोक कर अपने निश्चित लक्ष्य की ओर ध्यान केन्द्रित किया जाता है। आचार्य पूज्यपाद ने सर्वार्थसिद्धि में सामायिक की परिभाषा करते हुए लिखा है- 'सम् एकीभावे वर्तते। तद्यथा, संगतं घृतं संगतं तैलमित्युच्यते एकीभूतमिति गम्यते। एकत्वेन अयनं गमनं समयः, समय एव सामायिकम्। समयः प्रयोजनमस्येति वा विग्रह्य सामायिकम्।'²⁸ अर्थात् सम् उपसर्गपूर्वक गति अर्थ वाली 'इण्' धातु से 'समय' शब्द निष्पन्न होता है। सम् - एकीभाव, अय - गमन अर्थात् एकीभाव के द्वारा बाह्य परिणति से पुनः मुड़कर आत्मा की ओर गमन करना समय है। समय का भाव सामायिक है। जिनभद्रगणि के अनुसार सम अर्थात्

26. अहवा समस्स आओ गुणाण लाभो त्ति जो समाओ सो। - विशेषावश्यकभाष्य गाथा 3480

27. आवश्यकसूत्र, प्रस्तावना पृ. 20

28. सर्वार्थसिद्धि, 7.12

राग-द्वेष विरक्त, अय अर्थात् अयन-गमन, अतः सम की ओर गमन करना समाय है और वही सामायिक है।²⁹ इस प्रकार जिनभद्रगणि ने विशेषावश्यकभाष्य में सामायिक की व्याख्या अनेक निरुक्तों के माध्यम से की है।³⁰ आचार्य मलयगिरि कहते हैं कि 'समो-रागद्वेषयोरपान्तरालवर्ती मध्यस्थः, इण् गतौ अयनं अयो गमनमित्यर्थः, समस्य अयः समयः-समीभूतस्य सतो मोक्षाध्वनि प्रवृत्तिः समाय एव सामायिकम्'³¹ अर्थात् राग-द्वेष के कारणों में मध्यस्थ रहना सम है। मध्यस्थभावयुक्त साधक की मोक्ष के अभिमुख जो प्रवृत्ति है, वह सामायिक है। वट्टेकर के अनुसार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, संयम और तप के साथ जो प्रशस्त समागम है, वह समय है, उसे ही सामायिक कहा गया है।³² इस प्रकार आवश्यक सूत्र की निर्युक्ति, चूर्णि, भाष्य, हारिभद्रीया वृत्ति, मलयगिरिवृत्ति आदि में सामायिक के विविध दृष्टियों से विभिन्न अर्थ किये गए हैं।

सामायिक का फल - सामायिक करने वाला साधक मन, वचन और काय को साध लेता है। वह विषय, कषाय और राग-द्वेष से विमुख हो कर ही समभाव में रमण करता है। विरोधी को देखकर उसके अन्तर्मानस में क्रोध उत्पन्न नहीं होता और हितैषी को देखकर वह राग से प्रसन्न नहीं होता है। वह निन्दा और प्रशंसा से विचलित नहीं होता है अर्थात् अनुकूल परिस्थिति हो, या प्रतिकूल, पर वह सदा समभाव में रहता है। सामायिक का साधक चिंतन करता है कि संयोग और वियोग ये दोनों ही आत्मा के स्वभाव नहीं हैं। ये तो शुभाशुभ कर्मों के उदय का फल है। परकीय पदार्थों के संयोग और वियोग से आत्मा का न हित हो सकता है और न अहित ही। इसलिए वह सतत समभाव में रहता है।

सामायिक की साधना बहुत ही उत्कृष्ट साधना है। अन्य जितनी भी साधनाएं हैं, वे सभी साधनाएं इसमें अन्तर्निहित हो जाती हैं। आचार्य जिनभद्रगणिकक्षमाश्रमण ने 'सामाड्यं संखेवो चोदस पुव्वत्थपिंडोत्ति'³³ अर्थात् सामायिक को संक्षेप में चौदह पूर्व का अर्थपिण्ड कहा है। आचार्य जिनदासगणी महत्तर ने सामायिक को आद्यमंगल माना है।³⁴ उपाध्याय यशोविजय ने तत्त्वार्थवृत्ति में सामायिक को सम्पूर्ण द्वादशांगी का सार रूप बताया है।³⁵

पात्र-भेद से सामायिक के दो भेद होते हैं - 1. गृहस्थ की सामायिक 2. श्रमण की सामायिक।³⁶ गृहस्थ की सामायिक परम्परा से 48 मिनट अर्थात् एक मुहूर्त या दो घड़ी की होती है, किन्तु वह अपनी स्थिति के अनुसार अधिक समय के लिए भी सामायिक-व्रत कर सकता है। श्रमण की सामायिक यावज्जीवन के लिए होती है।

2. चतुर्विंशतिस्तव - षडावश्यक में दूसरा आवश्यक चतुर्विंशतिस्तव है। लोक के चौबीस उत्तम पुरुष तीर्थकरों की स्तुति जिस आवश्यक में की जाती है, उसे चतुर्विंशतिस्तव कहते हैं। सामायिक नामक प्रथम आवश्यक में साधक सावद्य योग से निवृत्त हो कर कोई न कोई आलंबन स्वीकार करता है जिससे वह समभाव में स्थिर रह सके। अतः वह तीर्थकरों की स्तुति करता है।

29. राग-द्वेषविरहिओ समो ति अयणं अयो ति गमणं ति।

समगमणं ति समाओ स एव सामाड्यं नाम। - विशेषावश्यकभाष्य गाथा 3477

30. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 3477-3486

31. आवश्यक मलयगिरिवृत्ति, 854

32. सम्मत्त-णाण-संजम-तवेहि-जं तं पसत्थसमगमणं।

समयं तु तं भणिदं तमेव सामाड्यं जाण। - मूलाचार गाथा 519

33. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 2796

34. आदिमंगलं सामाड्यञ्जयणं - आवश्यक चूर्णि

35. तत्त्वार्थवृत्ति 1.1

36. आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा 796

तीर्थकर त्याग, वैराग्य, संयम-साधना की दृष्टि से महान् हैं। उनके गुणों का उत्कीर्तन करने से साधक के अन्तर्हृदय में आध्यात्मिक बल का संचार होता है। यदि किसी कारणवश श्रद्धा शिथिल हो जाये तो उसका स्थिरीकरण होता है। तीर्थकरों के गुणों का उत्कीर्तन करने से हृदय पवित्र होता है।

3. वन्दन - साधना के क्षेत्र में तीर्थकर (देव) के पश्चात् दूसरा स्थान गुरु का आता है। अतः तीसरे आवश्यक में गुरु को नमस्कार किया गया है। जीवन में गुरु का अद्वितीय स्थान है क्योंकि प्रत्येक समय और प्रत्येक स्थान पर तीर्थकरों का संयोग मिलना संभव नहीं है। ऐसी स्थिति में तीर्थकर उपदिष्ट धर्म को बताने वाले, साधना की राह दिखाने वाले गुरु ही होते हैं। साधना क्षेत्र में आगे बढ़ने के लिए गुरु का मार्गदर्शन अत्यधिक आवश्यक है। अतः गुरु के प्रति कृतज्ञता प्रकट करने के लिए तीसरे आवश्यक में गुरु को वंदन किया गया है। वंदन विनय का सूचक होता है। जैन आगमों में विनय को धर्म का मूल कहा है। वंदन करने से अहंकार नष्ट होता है, विनय की प्राप्ति होती है।

4. प्रतिक्रमण - जैन परम्परा में प्रतिक्रमण एक विशिष्ट शब्द है। प्रतिक्रमण का शाब्दिक अर्थ है पुनः लौटना। हम अपनी मर्यादाओं का अतिक्रमण कर, अपनी स्वभाव-दशा से निकलकर विभाव-दशा में चले जाते हैं, अतः पुनः स्वभाव रूप सीमा में प्रत्यागमन करना प्रतिक्रमण है। जो पाप मन, वचन और काया से स्वयं किये जाते हैं, दूसरों से करवाये जाते हैं और दूसरों के द्वारा किये हुए पापों का अनुमोदन किया जाता है, उन सभी पापों की निवृत्ति हेतु, किये गये पापों की आलोचना करना, निन्दा करना प्रतिक्रमण है। आचार्य हेमचन्द्र ने योगशास्त्र की स्वोपज्ञवृत्ति में 'अस्य प्रतिपूर्वस्य भावान्ऽन्तस्य प्रतीपं क्रमणं प्रतिक्रमणं, अयमर्थः - शुभयोगेभ्योऽशुभयोगान्तरं क्रान्तस्य शुभेष्वेव क्रमणात् प्रतीपं क्रमणम्'³⁷ अर्थात् शुभ योगों से अशुभ योगों में गये हुए स्वयं को पुनः शुभ योगों में लौटा लाना प्रतिक्रमण है।

प्रतिक्रमण में 'प्रति' उपसर्ग है और 'क्रमु' घातु है। प्रति का तात्पर्य है -प्रतिकूल और क्रमु का तात्पर्य है - पदनिक्षेप। जिन प्रवृत्तियों में साधक सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र्य रूप स्वस्थान से हटकर मिथ्यात्व, अज्ञान, असंयम रूप पापस्थान में चला गया है, उसका पुनः अपने-आप में लौट आना प्रतिक्रमण है। प्रायः यह समझा जाता है कि प्रतिक्रमण अतीत काल में लगे दोषों की ही शुद्धि के लिए है, पर आचार्य भद्रबाहु ने आवश्यकनिर्युक्ति में बताया है कि प्रतिक्रमण केवल अतीत काल में लगे दोषों की ही शुद्धि नहीं करता अपितु वह वर्तमान और भविष्य के दोषों की भी शुद्धि करता है। अतीतकाल में लगे दोषों की शुद्धि तो प्रतिक्रमण में की ही जाती है, वर्तमान में भी साधक संवर साधना में लगा रहने से पापों से भी निवृत्त हो जाता है। साथ ही प्रतिक्रमण में वह प्रत्याख्यान ग्रहण करता है, जिसमें भावी दोषों से भी बच जाता है। भूतकाल के अशुभ योग से निवृत्ति, वर्तमान में शुभ योग में प्रवृत्ति और भविष्य में भी शुभ योग में प्रवृत्ति करूंगा, इस प्रकार वह संकल्प करता है।

साधक प्रतिक्रमण में अपने जीवन का गहराई से निरीक्षण करता है। उसके मन में, वचन में, काया में एकरूपता होती है। साधक साधना करते समय कभी क्रोध, मान, माया, लोभ के कारण साधना से च्युत हो जाता है, उससे भूल हो जाती है तो वह प्रतिक्रमण के समय अपने जीवन का गहराई से अवलोकन कर एक-एक दोष का परिष्कार करता है। यदि मन में छिपे हुए दोष को लज्जा के कारण प्रकट नहीं कर सका, तो उन दोषों को भी सद्गुरु के समक्ष या भगवान् की साक्षी से

प्रकट करता है। इस प्रकार प्रतिक्रमण जीवन को सुधारने का श्रेष्ठ साधन है, आत्मदोषों की आलोचना करने से पश्चात्ताप की भावना जागृत होने लगती है और उस पश्चात्ताप की अग्नि में सभी दोष जलकर नष्ट हो जाते हैं। जब साधक प्रतिक्रमण के माध्यम से अपने जीवन का निरीक्षण करता है तो अपने जीवन के हजारों दुर्गुणों से साक्षात्कार होता है। उन दुर्गुणों को वह धीर-धीरे निकालने का प्रयास करता है। जिस प्रकार जैन परम्परा में पापों के अवलोकन के लिए प्रतिक्रमण का विधान है उसी प्रकार बौद्ध धर्म में इसके लिए प्रवारणा है। प्रवारणा में दृष्ट, श्रुत, परिशंकित दोषों का परिमार्जन किया जाता है। इसी प्रकार से वैदिक धर्म में संध्या का विधान है। यह एक धार्मिक अनुष्ठान है। जिसे प्रातः व सायं काल दोनों समय किया जाता है। इसी प्रकार अन्य धर्मों में भी पाप को प्रकट कर दोषों से मुक्त होने का जो उपाय बताया गया है, वह प्रतिक्रमण से ही मिलता-जुलता है। प्रतिक्रमण जीवनशुद्धि का श्रेष्ठतम प्रकार है।

5. कायोत्सर्ग - कायोत्सर्ग का शाब्दिक अर्थ है काया का उत्सर्ग (त्याग) करना। काया के त्याग से तात्पर्य है शारीरिक चंचलता और देहासक्ति का त्याग करना। साधना जीवन में सतत सावधान रहते हुए भी प्रसंगवश दोष लग जाते हैं, उन दोषों की शुद्धि के लिए कायोत्सर्ग एक प्रकार का मरहम है। जो दोष रूपी घावों को ठीक कर देता है। जिन अतिचारों का प्रतिक्रमण के द्वारा शुद्धीकरण नहीं होता है उन्हें कायोत्सर्ग द्वारा निष्फल किया जाता है। इसके लिए साधक कायोत्सर्ग में कुछ समय तक संसार के भौतिक पदार्थों से विमुख हो कर आत्मस्वरूप में लीन होता है अर्थात् साधक बहिर्मुखी से अन्तर्मुखी और अनासक्त बनकर राग-द्वेष से उपरत हो कर शारीरिक ममता का त्याग करता है। साधना में शरीर की आसक्ति ही सबसे बड़ी बाधक है। कायोत्सर्ग में शरीर की ममता कम होने से साधक शरीर को संजाने-संवारे से हटकर आत्मभाव में लीन रहता है। यही कारण है कि साधक के लिए कायोत्सर्ग दुःखों का अन्त करने वाला बताया गया है। श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही परम्पराओं में कायोत्सर्ग का विशेष महत्त्व है। कायोत्सर्ग का मुख्य उद्देश्य है आत्मा का सान्निध्य प्राप्त करना और सहज गुण है मानसिक सन्तुलन बनाये रखना।

6. प्रत्याख्यान - यह अन्तिम आवश्यक है। प्रत्याख्यान का अर्थ है - त्याग करना। प्रत्याख्यान शब्द का निर्माण प्रति-आ-आख्यान इन तीन शब्दों के संयोग से हुआ है। आत्मस्वरूप के प्रति अभिव्यास रूप से, जिससे अनाशंसा गुण समुत्पन्न हो, इस प्रकार का आख्यान अर्थात् कथन करना प्रत्याख्यान है। अथवा भविष्यकाल के प्रति आ-मर्यादा के साथ अशुभ योग से निवृत्ति और शुभ योग में प्रवृत्ति का आख्यान करना प्रत्याख्यान है। मानव की इच्छाएं असीम होती हैं। वह सभी वस्तुओं को पाना चाहता है। इच्छाएं दिन दूनी और रात चौगुनी बढ़ती रहती हैं। इच्छाओं के कारण मानव जीवन में सदा अशांति बनी रहती है। उस अशांति को नष्ट करने का एक उपाय प्रत्याख्यान है। प्रत्याख्यान से अशान्ति के मूल कारण आसक्ति (तृष्णा) का नाश होता है, क्योंकि जब तक आसक्ति है, तब तक शांति प्राप्त नहीं हो सकती। सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वंदन, प्रतिक्रमण और कायोत्सर्ग के द्वारा आत्मशुद्धि की जाती है। किन्तु जीवन में पुनः आसक्ति का प्रवेश न हो, उसके लिए प्रत्याख्यान आवश्यक है।

आवश्यकों के क्रम का औचित्य - संक्षेप में कहें तो आवश्यक में जो साधना का क्रम है, वह कार्य कारण भाव की श्रृंखला पर आधारित है तथा पूर्ण वैज्ञानिक है। साधना के लिए सर्वप्रथम समता को प्राप्त करना आवश्यक है। बिना समता को अपनाये सद्गुणों की प्राप्ति नहीं होती है और अवगुणों का नाश नहीं होता है। जब अन्तर्मन में विषयभाव की आसक्ति हो तब वीतरागी महापुरुषों के गुणों का

उत्कीर्तन करना दुष्कर है। समभाव को जीवन में धारण करने वाला व्यक्ति ही महापुरुषों के गुणों की स्तुति करता है और उनके सद्गुणों को अपने आचरण में लाता है, जीवन में उतारता है। इसीलिए सामायिक आवश्यक के पश्चात् चतुर्विंशतिस्तव आवश्यक रखा गया है। जब गुणों को व्यक्ति हृदय में धारण करता है, तभी उसका सिर महापुरुषों के चरणों में झुकता है। भक्ति भावना से विभोर होकर वह उन्हें वन्दन करता है, इसीलिए तृतीय आवश्यक वन्दन है। वन्दन करने वाले साधक का हृदय सरल होता है, खुली पुस्तक की तरह उसके जीवन पृष्ठों को प्रत्येक व्यक्ति पढ़ सकता है। सरल व्यक्ति ही अपने दोषों की आलोचना करता है, अतः वन्दन के पश्चात् प्रतिक्रमण आवश्यक का निरूपण है। भूलों का स्मरण कर उन भूलों से मुक्ति पाने के लिए तन एवं मन में स्थिरता होना आवश्यक है। कायोत्सर्ग में तन और मन को एकाग्र किया जाता है और स्थिर वृत्ति का अभ्यास किया जाता है। जब तन और मन स्थिर होता है, तभी प्रत्याख्यान किया जा सकता है। मन डाँवाडोल स्थिति में हो, तब प्रत्याख्यान सम्भव नहीं है। इसीलिए प्रत्याख्यान आवश्यक का स्थान छठा रखा गया है। इस प्रकार यह षडावश्यक आत्मनिरीक्षण, आत्मपरीक्षण और आत्मोत्कर्ष का श्रेष्ठतम उपाय है।³⁸

षडावश्यकों का साधक के जीवन में बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान है। आवश्यक से आध्यात्मिक शुद्धि होती है साथ ही लौकिक जीवन में समता, नम्रता, क्षमाभाव आदि सद्गुणों की वृद्धि होने से आनन्द के निर्मल निर्झर बहने लगते हैं। साधक चाहे श्रावक हो अथवा, श्रमण, उसे इन आवश्यकों की साधना करनी होती है। साधु एवं श्रावक की आवश्यक-साधना की गहराई और अनुभूति में तीव्रता, मंदता हो सकती है और होती है। श्रावक की अपेक्षा श्रमण इन क्रियाओं को अधिक तल्लीनता के साथ कर सकता है, क्योंकि वह संसार-त्यागी है, आरंभ-समारम्भ से सर्वथा विरत है। इसी कारण उसकी साधना में श्रावक की अपेक्षा अधिक तेजस्विता होती है।

आवश्यक सूत्र का व्याख्या साहित्य

आगम-साहित्य पर निर्युक्ति, संग्रहणी, भाष्य, चूर्णि, टीका, विवरण, विवृत्ति, वृत्ति, दीपिका, टब्बा आदि विपुल व्याख्यात्मक साहित्य लिखा गया है। क्योंकि मूल ग्रंथ के रहस्योद्घाटन के लिए उसकी विभिन्न व्याख्याओं का अध्ययन अनिवार्य नहीं तो भी आवश्यक तो है ही। मूल ग्रंथ के रहस्य का उद्घाटन करने के लिए व्याख्यात्मक साहित्य का निर्माण करना भारतीय ग्रंथकारों की बहुत ही प्राचीन परम्परा है। इस साहित्य को मुख्य रूप से निर्युक्ति (प्राकृत पद्य), भाष्य (प्राकृत पद्य), चूर्णि (संस्कृत-प्राकृत मिश्रित गद्य), टीका (संस्कृत गद्य) और टब्बा (लोकभाषाओं में रचित व्याख्याएं) - इन पांच विभागों में विभक्त किया जा सकता है। लेकिन सभी आगमों पर निर्युक्ति, भाष्य और चूर्णि नहीं लिखे गये हैं। समस्त आगमों पर टीकाएं उपलब्ध हैं।

आचार्य हस्तीमलजी के अनुसार 28वें पट्टधर आचार्य हरिल सूरि के उत्तरकाल में मूलागमों के स्थान पर निर्युक्ति, भाष्य और चूर्णि के युग का प्रादुर्भाव हुआ जो धीरे-धीरे बढ़ता गया। अन्ततोगत्वा लगभग वीर निर्वाण की 12 वीं शताब्दी के प्रारंभ से आगमों के स्थान पर भाष्यों, वृत्तियों तथा चूर्णियों को जैन संघ का बहुत बड़ा भाग धार्मिक संविधान के रूप में मानने लगा।³⁹

आवश्यक सूत्र जैन श्रुत का एक प्रसिद्ध एवं दैनिक उपयोगी ग्रन्थ है। इसका प्रचार अपने रचना काल से लेकर उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया है। आज भी जितना व्याख्या साहित्य इस सूत्र के

38. आवश्यक सूत्र, प्रस्तावना पृ० 20

39. जैनधर्म का मौलिक इतिहास, भाग 3, पृ. 426

संबंध में प्राप्त होता है, उतना अन्य किसी भी सूत्र के सम्बन्ध में नहीं। इसका कारण है कि इसमें श्रमण और श्रावक की दैनिक आवश्यक क्रिया का वर्णन है। इस ग्रंथ पर प्राचीन प्राकृत और संस्कृत टीकाओं से आरंभ कर आधुनिक गुजराती, हिन्दी आदि भाषाओं में उपलब्ध प्रभूत साहित्य इस बात का प्रमाण है कि प्रत्येक शताब्दी में आवश्यक सूत्र पर कुछ न कुछ लिखा गया है।⁴⁰ आवश्यक सूत्र के मुख्य रूप से लिखे गये व्याख्यात्मक साहित्य के पांच प्रकार हैं -

1. निर्युक्ति - आवश्यकनिर्युक्ति
2. भाष्य - विशेषावश्यकभाष्य
3. चूर्ण - आवश्यकचूर्ण
4. वृत्ति - आवश्यकवृत्ति
5. स्तबक (टब्बा)

वर्तमान समय में हिन्दी, गुजराती, अंग्रेजी आदि भाषाओं में भी आवश्यक का विवेचन उपलब्ध है।

1. आवश्यक निर्युक्ति एवं निर्युक्तिकार भद्रबाहु

जिस प्रकार वेदों के शब्दों की व्याख्या के लिए निरुक्त की रचना हुई वैसे ही जैन आगमों के अर्थ को स्पष्ट करने के लिए या मूल ग्रंथ के प्रत्येक शब्द की विवेचना एवं आलोचनात्मक ज्ञान के लिए उन पर व्याख्यात्मक ग्रंथ लिखने की शुरुआत निर्युक्ति से हुई है। सूत्र में निश्चय किया हुआ अर्थ जिसमें निबद्ध हो उसे निर्युक्ति कहते हैं। निर्युक्ति को परिभाषित करते हुए आचार्य भद्रबाहु ने लिखा है - निज्जुत्ता ते अत्था, जं बद्धा तेण होइ निज्जुत्ती।⁴¹ यदि संक्षेप में निर्युक्ति की परिभाषा करें तो शब्द का सही अर्थ बताना निर्युक्ति है। निर्युक्तियों की व्याख्यान शैली निक्षेप पद्धति के रूप में प्रसिद्ध है अर्थात् निक्षेप-पद्धति के आधार पर किये जाने वाले शब्दार्थ के निर्णय (निश्चय) का नाम निर्युक्ति है। यह व्याख्या-पद्धति बहुत प्राचीन है। इसका अनुयोगद्वार आदि में दर्शन होता है। इस पद्धति में किसी एक पद के संभावित अनेक अर्थ करने के बाद उनमें से अप्रस्तुत अर्थों का निषेध करके प्रस्तुत अर्थ ग्रहण किया जाता है। जैन न्यायशास्त्र में इस पद्धति का बहुत ही महत्त्व है।

निर्युक्ति आगमों पर आर्या छंद में प्राकृत गाथाओं में लिखा हुआ संक्षिप्त विवेचन है। इसमें विषय का प्रतिपादन करने के लिए अनेक कथानक, उदाहरण और दृष्टान्तों का उपयोग हुआ है। ईसवी सन् की पांचवीं-छठी शताब्दी के पूर्व ही, निर्युक्तियाँ लिखी जाने लगी थीं। विक्रम संवत् की पांचवीं शताब्दी में नयचक्र के कर्ता मल्लवादी ने अपने ग्रंथ में निर्युक्ति की गाथा का उद्धरण दिया है⁴² इससे निर्युक्तियों की प्राचीनता सिद्ध होती है।

निर्युक्ति की परिभाषा - जिनभद्रगणि के अनुसार - 1. 'निज्जुत्ती वक्खाणं' (निर्युक्तिः व्याख्यानम्) अर्थात् निर्युक्ति का अर्थ व्याख्या है। किन्तु इस व्याख्या में अनुगम (अनुयोग) पद्धति का अवलम्बन विशेष रूप से लिया जाता है।⁴³

2. सूत्र और अर्थ का योग या अर्थ घटना को युक्ति का जाता है और निश्चयपूर्वक या अधिकता (विस्तार) पूर्वक अर्थ का सम्यक् निरूपण निर्युक्ति है। अथवा निर्युक्त अर्थों की युक्ति (निर्युक्त-युक्ति) ही निर्युक्ति है, अर्थात् सूत्रों में ही परस्पर सम्बद्ध अर्थों से युक्ति करना ही निर्युक्ति है।⁴⁴

40. गणधरवाद, प्रस्तावना पृ० 2

41. आवश्यकनिर्युक्ति गाथा 82

42. बृहत्कल्प सूत्र, (सं. मुनि पुण्यविजय) भाग 6 की प्रस्तावना पृष्ठ 6

43. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 965 और बृहद्वृत्ति

44. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 1085-1086 और बृहद्वृत्ति

कोट्याचार्य के अनुसार - विषय और विषयी के निश्चित अर्थ का संबंध जोड़ना निर्युक्ति है।⁴⁵

जिनदासगणि का कथन है कि सूत्र में निर्युक्ति अर्थ का निर्यूहण करने वाली व्याख्या निर्युक्ति है।⁴⁶

मलधारी हेमचन्द्र ने निर्युक्ति की परिभाषा देते हुए कहा है कि सूत्र और अर्थ का परस्पर सम्बन्ध स्थिर करना निर्युक्ति है।⁴⁷

सूत्र का व्याख्यान करने की अनुयोग पद्धति के तीन अंग होते हैं - 1. सूत्रार्थ निरूपण 2. निर्युक्ति (सूत्र स्पर्शिक) 3. विस्तृत (समग्रता से) विवेचन। इस प्रकार निर्युक्ति एक विशेष व्याख्या पद्धति है जो अनुयोग पद्धति का अंग है।⁴⁸

निर्युक्ति की संख्या - निर्युक्तिकार आचार्य भद्रबाहु ने दस निर्युक्तियाँ लिखी हैं, जो इस प्रकार हैं - 1 आवश्यक निर्युक्ति, 2 दशवैकालिक निर्युक्ति, 3 उत्तराध्ययन निर्युक्ति, 4 आचारांग निर्युक्ति, 5 सूत्रकृतांग निर्युक्ति, 6 दशाश्रुतस्कंध निर्युक्ति, 7 बृहत्कल्प निर्युक्ति, 8 व्यवहार निर्युक्ति, 9 सूर्यप्रज्ञप्ति निर्युक्ति और 10 ऋषिभाषित निर्युक्ति। आचार्य भद्रबाहु ने अपनी सर्व-प्रथम कृति आवश्यक-निर्युक्ति⁴⁹ में निर्युक्ति रचना का संकल्प करते समय उपर्युक्त क्रम से ग्रंथों की नामावली दी है। उपर्युक्त दस निर्युक्तियों में से अंतिम दो को छोड़ कर शेष वर्तमान में उपलब्ध है। आचार्य भद्रबाहुकृत दस निर्युक्तियों का रचना-क्रम वही है जिस क्रम से उपर्युक्त नाम दिये गये हैं। इसकी सिद्धि सप्रमाण डॉ. सागरमल जैन ने शोधालेख 'निर्युक्ति साहित्य : एक पुनर्चिन्तन' में की है।

आवश्यक निर्युक्ति सभी निर्युक्तियों में प्रथम निर्युक्ति है, अतः यह निर्युक्ति सामग्री, शैली आदि सभी दृष्टियों से अधिक उपयोगी व महत्त्वपूर्ण है। आवश्यक निर्युक्ति में अनेक महत्त्वपूर्ण विषयों पर विस्तार से चर्चा की गई है। आवश्यक निर्युक्ति के पश्चात् की निर्युक्तियों में उन विषयों की चर्चाएं न कर आवश्यक निर्युक्ति को देखने का संकेत किया गया है। अतः अन्य निर्युक्तियों को अच्छी तरह से समझने के लिए पहले आवश्यक निर्युक्ति का ज्ञान आवश्यक है। आवश्यक निर्युक्ति पर जिनभद्रगणि, जिनदासगणि, हरिभद्र, कोट्याचार्य, मलयगिरि, मलधारी हेमचन्द्र, माणिक्यशेखर आदि आचार्यों ने विविध व्याख्याएं लिखी हैं।

निर्युक्ति में व्याख्या विधि - निर्युक्ति की व्याख्यान शैली का वर्णन करते हुए स्वयं आचार्य ने कहा है कि "आहरणहेउकारणपदनिवहमिणं समासेणं"⁴⁹ अर्थात् इसमें दृष्टान्त-पद, हेतु-पद तथा कारण-पद का आश्रय लेकर संक्षिप्त निरूपण करना है। अन्यत्र आचार्य ने कहा है -

जिणवयणं सिद्धं चेव भण्णई कथवी उदाहरणं।

आसज्ज उ सोयारं हेऊवि कहंचिय भणेज्जा ॥⁵⁰

अर्थात् भगवान् ने जो उपदेश दिया वह तो सिद्ध ही है। उसे अनुमान द्वारा सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं है, तथापि श्रोता की दृष्टि को लक्ष्य में रखकर कहीं आवश्यक प्रतीत हो तो वहाँ दृष्टान्त का उपयोग करना चाहिए और श्रोता की योग्यता के अनुसार हेतु देकर भी समझाना चाहिए। भद्रबाहु ने इस नियम का पालन सभी निर्युक्तियों में किया।

45. नियोजनं निश्चितं सम्बन्धनं तयो विषयविषयिणोनिर्युक्तिरभिधीयते। - कोट्याचार्य विशेषावश्यकभाष्य वृत्ति, पृ. 276

46. सुतनिज्जुत-अतनिज्जुहणं निज्जुती। आवश्यकचूर्णि भाग 1. पृ. 92

47. तयोः सूत्रार्थयोः परस्परं निर्योजनम्-अस्य सूत्रस्य अयमर्थः इत्येवं सम्बन्धनं निर्युक्तिः।

-विशेषावश्यकभाष्य की बृहद्वृत्ति गाथा 1071

48. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 566

49. आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा 84-85

49. आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा 86

50. दशवैकालिक निर्युक्ति, गाथा 49

निर्युक्तिकार की विशेषता है कि वे पहले व्याख्येय विषय के द्वार निश्चित कर देते हैं और तत्पश्चात् एक-एक द्वार का स्पष्टीकरण करते हैं। द्वारों में विशेषतः अनेक स्थल ऐसे हैं जहाँ नामादि निक्षेपों का आश्रय लिया गया है। व्याख्येय शब्द के पर्यायवाची शब्द अवश्य लिखे जाते हैं और शब्दार्थ के भेदों-प्रकारों का भी उल्लेख किया जाता है। इन सब बातों के परिणामस्वरूप अत्यन्त संक्षेप में वस्तु सम्बन्धी सभी ज्ञातव्य बातें आवश्यक विस्तार के बिना ही बताई जा सकती हैं।

आचार्य भद्रबाहु शब्दों की व्युत्पत्ति अर्थ-प्रधान और शब्द-प्रधान दोनों प्रकार से करते हैं। यहाँ प्राकृत भाषा के शब्द व्याख्येय हैं, उनकी व्युत्पत्ति करते हुए आचार्य संस्कृत-धातुओं से चिपके नहीं रहते, वे प्रयत्न करते हैं कि शब्द को तोड़कर किसी भी प्रकार प्राकृत शब्द के आधार पर ही व्युत्पत्ति की जाए और उससे इष्ट अर्थ की प्राप्ति की जाए। इसके उदाहरण के लिए 'मिच्छा मि दुक्कडं'⁵¹ की निर्युक्ति द्रष्टव्य है, जो इस प्रकार है - 'मिच्छा मि दुक्कडं' इस पद में छह अक्षर हैं। उनमें 'मि' का 'मृदुता', 'छा' का 'दोषाच्छादन', 'मि' का 'मर्यादा में रहते हुए', 'दु' का 'दोषयुक्त आत्मा की जुगुप्सा', 'क' का 'किया गया दोष' और 'ड' का 'अतिक्रमण' अक्षरार्थ करके इस प्रकार से यह अर्थ सूचित किया है- 'नम्रता पूर्वक चारित्र की मर्यादा में रह कर दोष निवारण के निमित्त मैं आत्मा की जुगुप्सा करता हूँ और किये हुए दोष का इस समय प्रतिक्रमण करता हूँ।' इसी प्रकार आचार्य ने 'उत्तम' शब्द की जो व्युत्पत्ति की है वह मनस्वी होने के साथ-साथ आध्यात्मिक अर्थ-युक्त होने के कारण रोचक प्रतीत होती है।⁵² ऐसे अन्य अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं।⁵³

आवश्यकनिर्युक्ति की विषयवस्तु

अंगों में आचारांग का क्रम सर्वप्रथम है, तथापि आचार्य ने गणधर-कृत सम्पूर्ण श्रुत के आदि में सामायिक का तथा अन्त में बिन्दुसार का उल्लेख कर लिखा है कि श्रुत-ज्ञान का सार चारित्र है या चारित्र का सार निर्वाण है।⁵⁴ आचारांग के स्थान पर सामायिक को प्रथम क्रम देने का कारण यह प्रतीत होता है कि, अंग-ग्रंथों में भी जहाँ जहाँ भगवान् महावीर के श्रमणों के श्रुतज्ञान सम्बन्धी अध्ययन का उल्लेख है, उन स्थलों पर प्रायः उल्लेख है कि वे अंगादि आगमों से भी पूर्व सामायिक का अध्ययन करते थे। इसी अपेक्षा से आचार्य भद्रबाहु ने आवश्यक सूत्र को गणधर-कृत माना है। सामायिक आवश्यक सूत्र का प्रथम अध्ययन है। अतः आचार्य भद्रबाहु ने निर्युक्तियों के प्रारंभ में सर्वप्रथम मत्यादि पांच ज्ञानों का विस्तार से वर्णन किया है। टीकाकारों ने ज्ञान की मंगलरूप में सिद्धि की है। पांच ज्ञान में भी सर्वप्रथम आभिनिबोधिक ज्ञान के अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा इन चार भेदों का वर्णन किया गया है। अन्य दार्शनिकों द्वारा मान्य शब्द अमूर्त और चक्षुइन्द्रिय प्राप्यकारी है, इसका खण्डन किया गया है। इसके पश्चात् गति, इन्द्रिय आदि द्वारों से आभिनिबोधिक ज्ञान के स्वरूप की चर्चा की गई है। श्रुतज्ञान का वर्णन करते हुए बताया गया है कि लोक में जितने भी अक्षर हैं और उनके जितने भी संयुक्त रूप बन सकते हैं उतने ही श्रुतज्ञान के भेद हैं। लेकिन इनका वर्णन सम्भव नहीं है, अतः इन सभी का समावेश अक्षर, संज्ञी आदि चौदह भेदों में किया गया है। अवधिज्ञान का वर्णन करते हुए इसके भेदों की चर्चा की है। स्वरूप, क्षेत्र आदि चौदह निक्षेपों एवं नाम, स्थापना आदि सात निक्षेपों से भी अवधिज्ञान की चर्चा हो सकती है, अतः आचार्य ने इन निक्षेपों का विस्तार से वर्णन किया है। मनःपर्यवज्ञान और केवलज्ञान पर प्रकाश डाला है।

51. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 686-687

52. आवश्यक निर्युक्ति, गाथा 1100

53. गणधरवाद, प्रस्तावना पृ० 24-25

54. आवश्यक निर्युक्ति, गाथा 93

पांच ज्ञानों के वर्णन के पश्चात् षडावश्यकों का निरूपण है। उसमें प्रथम आवश्यक सामायिक का विस्तार से वर्णन किया गया है। चारित्र का प्रारंभ सामायिक से ही होता है। ज्ञान और चारित्र का पारस्परिक संबंध बताते हुए आचार्य ने यह निर्देश दिया है कि मुक्ति के लिए ज्ञान और चारित्र दोनों की ही आवश्यकता होती है। इसके लिए अंधे और लूले का उदाहरण दिया गया है। सामायिक का अधिकारी श्रुतज्ञानी होता है। इसी प्रसंग पर उपशम और क्षपकश्रेणी का विस्तृत रूप से निरूपण किया गया है। सामायिक श्रुत का अधिकारी ही तीर्थकर होता है, क्योंकि जो सामायिक श्रुत का अधिकारी है वही क्रमशः विकास करता हुआ किसी समय तीर्थकर रूप में उत्पन्न होता है और तीर्थकर केवलज्ञान की प्राप्ति के बाद ही श्रुत का उपदेश देते हैं, यही जिनप्रवचन है। व्याख्याननिधि का निरूपण करते हुए आचार्य और शिष्य की योग्यता का मापदण्ड बताया गया है। इन बिन्दुओं का विस्तार से वर्णन करने के बाद सामायिक का उद्देश्य, निर्गम, उद्भव आदि 26 द्वारों के माध्यम विवेचन किया गया है।

उद्देश्य और निर्देश का निक्षेप विधि से कथन करके, निर्गम का वर्णन करते हुए निर्युक्तिकार ने महावीर के पूर्वभवों के वर्णन के साथ ही कुलकरोँ की चर्या, भगवान् ऋषभदेव के जीवन-परिचय में जन्म, नाम आदि घटनाओं का भी विस्तृत रूप से उल्लेख किया है। तीर्थकर नामकर्म बंध के 20 कारणों का तथा उस युग के आहार, शिल्प, कर्म आदि 40 विषयों का भी उल्लेख किया है। ऋषभदेव के जीवन-चरित्र के साथ ही साथ अन्य सभी तीर्थकरोँ का संक्षिप्त जीवन परिचय देते हुए सम्बोधन, परित्याग, प्रत्येक, उपधि आदि 21 द्वारों से उनके जीवन चरित्र की तुलना की गई है। भरत चक्रवर्ती आदि के जीवन पर भी प्रकाश डाला है, साथ ही जिन, चक्रवर्ती, वासुदेव, बलदेव आदि विषय का विस्तृत उल्लेख किया है। मरीचि के प्रसंग का रोचक वर्णन करते हुए कहा है कि मरीचि का जीव अनेक भवों में भ्रमण करते हुए अन्त में 24वें तीर्थकर रूप में जन्म लेगा। तीर्थकर महावीर के जीवन का स्वप्न, गर्भापहार, अभिग्रह, जन्म, अभिषेक, वृद्धि, जातिस्मरण, भयोत्पादन, विवाह, अपत्य, दान, सम्बोध और महाभिनिष्क्रमण इन 13 द्वारों के माध्यम से वर्णन किया है। भगवान् को केवलज्ञान होने के बाद मध्यम पावा के महासेन उद्यान में उनका द्वितीय समवसरण में इन्द्रभूति आदि ग्यारह पंडित अपनी-अपनी शंका लेकर भगवान् के पास आए और शंका समाधान होने पर अपने शिष्यों सहित दीक्षित हो गये। इस प्रकार गणधरवाद का वर्णन करते हुए गणधरोँ के जन्म, गोत्र, माता-पिता आदि का भी वर्णन किया गया है। इसके बाद क्षेत्र-कालादि द्वारों का वर्णन किया है। नयद्वार में नयों का विस्तार से वर्णन करते हुए कहा है कि नय विशारद को श्रोता की योग्यता को देखकर ही नय का कथन करना चाहिए। कालिक का अनुयोग आर्यरक्षित ने पृथक् किया है साथ ही आर्यरक्षित का शिष्य मातुल गोष्ठामाहिल नामक सातवाँ निहव हुआ, इसका वर्णन करते हुए निर्युक्तिकार ने इससे पूर्व महावीर के शासन में छह निहव हो चुके थे, उनका भी उल्लेख किया है।

नय की दृष्टि से सामायिक पर चिन्तन करने के पश्चात् सम्यक्त्व, श्रुत और चारित्र ये तीन सामायिक के भेद किये गये हैं। जिसकी आत्मा संयम, नियम और तप में रमण करती है, जिसके अर्न्तमानस में प्राणिमात्र के प्रति समभाव का समुद्र हिलोरेँ मारता है और संयम, नियम तथा तप में जिसकी आत्मा रमण करती है, वही सामायिक का सच्चा अधिकारी है। इसी प्रकार शेष द्वारों का भी संक्षेप में वर्णन किया गया है। इन द्वारों की व्याख्या के साथ उपोद्घातनिर्युक्ति समाप्त हो जाती है। उपोद्घात का यह विस्तार केवल आवश्यकनिर्युक्ति के लिए ही नहीं, बल्कि सभी निर्युक्तियों के लिए उपयोगी है।

सामायिक सूत्र के प्रारंभ में नमस्कार महामंत्र आता है। इसलिये नमस्कार मंत्र की उत्पत्ति, निक्षेप, पद, पदार्थ, प्ररूपणा, वस्तु, आक्षेप, प्रसिद्धि, क्रम, प्रयोजन और फल इन ग्यारह द्वारों के भेद-प्रभेदों के साथ अति विस्तृत रूप से नमस्कार महामंत्र पर चिंतन किया गया है जो साधक के लिए बहुत ही उपयोगी है।

पंचनमस्कार के बाद ही सामायिक ग्रहण की जाती है, क्योंकि पंचनमस्कार भी सामायिक का अंग है। सामायिक किस प्रकार करनी चाहिए, इसका करण, भय, अन्त (मदन्त), सामायिक, सर्व, अवद्य, योग, प्रत्याख्यान, यावज्जीवन और त्रिविध पदों की व्याख्या के साथ विवेचन किया गया है। सामायिक का कर्ता, कर्म और करण बताते हुए आत्मा को ही सामायिक का कर्ता, कर्म और करण स्वीकार किया गया है। संक्षेप में सामायिक का अर्थ है तीन करण और तीन योग से सावद्य क्रिया का त्याग। तीन करण (करना, कराना और अनुमोदन), तीन योग (मन, वचन और काया) से होने वाली सावद्य अर्थात् पापकारिणी क्रिया का जीवनपर्यन्त त्याग ही सामायिक का उद्देश्य है। सर्वविरति सामायिक में तीन करण और तीन योग से सावद्य प्रवृत्ति का त्याग होता है।

द्वितीय अध्ययन **चतुर्विंशतिस्तव** है। इसमें नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव इन छह निक्षेपों की दृष्टि से प्रकाश डाला गया है। चौबीस तीर्थकरों के नामों की निक्षेप पद्धति से व्याख्या की गई है। फिर उनकी विशेषताओं और गुणों पर का प्रकाश डाला गया है।

तृतीय अध्ययन **वंदना** है। चितिकर्म, कृतिकर्म, पूजाकर्म और विनयकर्म, ये वंदना के पर्यायवाची हैं। वंदना किसे करनी चाहिये? किसके द्वारा होनी चाहिए? कब होनी चाहिये? कितनी बार होनी चाहिये? कितनी बार सिर झुकना चाहिये? कितने आवश्यकों से शुद्धि होनी चाहिए? कितने दोषों से मुक्ति होनी चाहिए? वंदना किसलिये करनी चाहिए? आदि नौ बातों पर विचार किया गया है। वही श्रमण वन्दनीय है जिनका आचार उत्कृष्ट है और विचार निर्मल है।

चतुर्थ अध्ययन **प्रतिक्रमण** है। प्रमाद के कारण आत्मभाव से जो आत्मा मिथ्यात्व आदि परस्थान में जाता है, उसका पुनः अपने स्थान में आना प्रतिक्रमण है। इस पर तीन दृष्टियों से विचार किया गया है - 1. प्रतिक्रमण रूप क्रिया 2. प्रतिक्रमण का कर्ता (प्रतिक्रामक) 3. प्रतिक्रान्तव्य अर्थात् प्रतिक्रमितव्य अशुभयोगरूप कर्म। जीव पापकर्मयोग का प्रतिक्रामक है, इसलिए जो ध्यानप्रशस्त योग है उनका साधु को प्रतिक्रमण नहीं करना चाहिए। प्रतिचरणा, परिहरणा, वारणा, निवृत्ति, निन्दा, गर्हा, शुद्धि - ये प्रतिक्रमण के पर्यायवाची हैं। प्रतिक्रमण के देवसिय, राइय (रात्रिक) इत्यादि पांच प्रकार से अनेक प्रकार होते हैं। उच्चार, मूत्र, कफ, नासिका मल, आभोग, अनाभोग, सहसाकार क्रियाओं के बाद प्रतिक्रमण आवश्यक है। प्रतिक्रान्तव्य मिथ्यात्व, असंयम (अव्रत), प्रमाद, कषाय और अप्रशस्तयोग से प्रतिक्रमण पांच प्रकार का होता है। इसके पश्चात् आलोचना, निरपलाप, आपत्ति, दृढधर्मता आदि 32 योगों का संग्रह किया गया है और उन्हें समझाने के लिये महागिरि, स्थूलभद्र, धर्मघोष, सुरेन्द्रदत्त, वारत्तक, वैद्य धन्वन्तरि, करकण्डु, आर्य पुष्पभूति आदि के उदहारण भी दिये गये हैं। साथ ही स्वाध्याय-अस्वाध्याय के सम्बन्ध में विस्तृत प्रकाश डाला गया है।

पंचम अध्ययन **कायोत्सर्ग** है। आलोचना, प्रतिक्रमण, मिश्र, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, मूल, अनवस्थाप्य और पारांचिक ये प्रायश्चित्त के दस भेद बताये गए हैं। कायोत्सर्ग और व्युत्सर्ग ये एकार्थवाची हैं। यहाँ कायोत्सर्ग का अर्थ व्रणचिकित्सा है। कुछ दोष आलोचना से ठीक होते हैं तो कुछ दोष प्रतिक्रमण से और कुछ दोष कायोत्सर्ग से ठीक होते हैं। कायोत्सर्ग से देह और बुद्धि की

जड़ता मिटती है। सुख-दुःख को सहन करने की क्षमता समुत्पन्न होती है। उसमें अनित्य, अशरण आदि द्वादश अनुप्रेक्षाओं का चिन्तन होता है। मन की चंचलता नष्ट होकर शुभ ध्यान का अभ्यास निरन्तर बढ़ता है। निर्युक्तिकार ने शुभ ध्यान पर चिन्तन करते हुए कहा है कि अन्तर्मुहूर्त तक जो चित्त की एकाग्रता है, वही ध्यान है। उस ध्यान के आर्त, रौद्र, धर्म, शुक्ल ये चार प्रकार के भेद बताये गये हैं। प्रथम दो ध्यान संसार-अभिवृद्धि के हेतु होने से उन्हें अपध्यान कहा है और अन्तिम दो ध्यान मोक्ष के कारण होने से प्रशस्त हैं। ध्यान और कायोत्सर्ग के सम्बन्ध में अनेक प्रकार की जानकारी दी गई है जो ज्ञानवर्द्धक है। कायोत्सर्ग के घटक आदि 19 दोष भी बताए हैं। जो देहबुद्धि से परे है, वही व्यक्ति कायोत्सर्ग का सच्चा अधिकारी है।

षष्ठ अध्ययन **प्रत्याख्यान** है। प्रत्याख्यान, प्रत्याख्याता, प्रत्याख्येय, पर्षद, कथनविधि और फल इन छह दृष्टियों से प्रत्याख्यान का विवेचन किया गया है। प्रत्याख्यान के नाम, स्थापना, द्रव्य, अदित्सा, प्रतिषेध और भाव, ये छह प्रकार हैं। प्रत्याख्यान में अशन, पान, खादिम, स्वादिम का त्याग किया जाता है। इनके स्वरूप का वर्णन किया गया है। श्रद्धा, ज्ञान, विनय, अनुभाषणा, अनुपालन और भाव इन छह प्रकार से प्रत्याख्यान की विशुद्धि होती है। प्रत्याख्यान के आस्रव का निरुन्धन होता है। समता की सरिता में अवगाहन किया जाता है। चारित्र की आराधना करने से कर्मों की निर्जरा होती है। अपूर्वकरण कर क्षपकश्रेणी पर आरुढ़ होकर केवलज्ञान प्राप्त होता है और अन्त में मोक्ष का अव्याबाध सुख मिलता है। प्रत्याख्याता का स्वरूप बताते हुए, प्रत्याख्याता गुरु को माना गया है जो विधि सहित प्रत्याख्यान कराता है। प्रत्याख्यातव्य के द्रव्य और भाव दो प्रकार होते हैं। अशनादि का त्याग द्रव्य और अज्ञानादि का त्याग भाव प्रत्याख्यातव्य है। प्रत्याख्यान का अधिकारी वही साधक है जो विक्षिप्त और अविनीत न हो। आवश्यक निर्युक्ति में श्रमण जीवन को तेजस्वी-वर्चस्वी बनाने वाले जितने भी नियम-उपनियम हैं, उन सबकी चर्चा विस्तार से की गई है। प्राचीन ऐतिहासिक तथ्यों का प्रतिपादन भी इस निर्युक्ति में हुआ है।

आवश्यक निर्युक्ति के इस विस्तृत परिचय से सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि जैन निर्युक्तिग्रंथों में आवश्यकनिर्युक्ति का कितना महत्त्व है। श्रमण जीवन की सफल साधना के लिए अनिवार्य सभी प्रकार के विधि-विधानों का संक्षिप्त एवं सुव्यवस्थित निरूपण आवश्यकनिर्युक्ति की एक बहुत बड़ी विशेषता है। जैन परम्परा से सम्बन्ध रखने वाले अनेक प्राचीन ऐतिहासिक तथ्यों का प्रतिपादन भी सर्वप्रथम इसी निर्युक्ति में किया गया है। ये सब बातें आवश्यकनिर्युक्ति के अध्ययन से स्पष्ट मालूम होती हैं।⁵⁵

अन्य निर्युक्तियों में भी आवश्यक के समान आचार्य ने प्रारंभ में उन-उन मूलग्रंथों के प्रादुर्भाव की कथा का वर्णन किया है, किन्तु यह वर्णन उसी ग्रंथ में है जिसकी उत्पत्ति की कथा आवश्यक से भिन्न है। अन्यत्र अध्ययनों के नाम और विषयों का निर्देश कर, उनकी निष्पत्ति का मूल-स्थान या ग्रंथ बताकर और प्रायः प्रत्येक अध्ययन के नाम का निक्षेप कर व्याख्या की गई है। अध्ययन के अन्तर्गत किसी महत्त्वपूर्ण शब्द अथवा उसमें विद्यमान मौलिक भाव को लेकर आचार्य ने उसका अपने ढंग से विवेचन करके ही संतोष माना है। अन्यग्रंथों में आवश्यक के समान सूत्र-स्पर्शी निर्युक्ति अत्यन्त अल्प दिखाई देती है। यही कारण है कि अन्य ग्रंथों की निर्युक्ति का परिमाण मूल-ग्रंथ की अपेक्षा बहुत कम है। आवश्यक की स्थिति इससे विपरीत है।

आवश्यकनिर्युक्ति के कर्ता : भद्रबाहु

भद्रबाहु नामक अनेक आचार्य हुए हैं, यथा चतुर्दशपूर्वधर भद्रबाहु, नैमित्तिक भद्रबाहु, आर्य भद्रगुप्त आदि। जन सामान्य में यही मान्यता प्रचलित है कि सभी निर्युक्तियों के कर्ता चतुर्दश पूर्वधर आचार्य भद्रबाहु हैं। श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराओं में आचार्य भद्रबाहु प्रथम को पांचवां तथा अन्तिम श्रुतकेवली माना गया है, किन्तु दोनों परम्पराओं में उनके जीवन चरित्र के सम्बन्ध में मतभेद हैं, इसका जैन धर्म का मौलिक इतिहास⁵⁶ में विस्तार से वर्णन है। दोनों परम्पराओं में विभिन्न ग्रंथों को देखने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि भद्रबाहु नाम के दो-तीन आचार्य हुए हैं। लेकिन समान नाम होने से उन घटनाओं का सम्बन्ध चतुर्दशपूर्वधर भद्रबाहु के साथ जोड़ दिया गया है। श्वेताम्बर परम्परा की दृष्टि से एक चतुर्दश पूर्वधारी आचार्य भद्रबाहु नेपाल में महाप्राणायाम नामक योग की साधना करने गए थे, जो कि छेदसूत्रकार थे। दिगम्बर परम्परा के अनुसार वे भद्रबाहु नेपाल नहीं जाकर दक्षिण में गए थे। देवेन्द्रमुनि शास्त्री ने आवश्यक सूत्र की प्रस्तावना में लिखा है कि उपर्युक्त दोनों भद्रबाहु एक न होकर पृथक्-पृथक् होने चाहिए।⁵⁷ क्योंकि जो नेपाल गये थे वे दक्षिण में नहीं गये और जो दक्षिण में गये वे नेपाल में नहीं गये थे। लेकिन निर्युक्तिकार भद्रबाहु इन दोनों से भिन्न एक तीसरे ही व्यक्ति थे। वास्तविक तथ्य क्या है यह आज भी शोध का विषय है। आवश्यक निर्युक्ति के कर्ता के सम्बन्ध में सभी विद्वानों का एक मत नहीं है।

चतुर्दशपूर्वधराचार्य भद्रबाहु एवं उनका निर्युक्ति कर्तृत्व - आचार्य भद्रबाहु का जन्म प्रतिष्ठानपुर के ब्राह्मण परिवार में वीर नि. संवत् 94 में हुआ। 45वें वर्ष में अर्थात् वी. नि. 139 में आचार्य यशोभद्रस्वामी के पास संयम अंगीकार करके चौदहपूर्वों का ज्ञान करके वे श्रुतकेवली बन गये। वी. नि. 156 में वे संघ के संचालक बने और वी. नि. 170 में उनका स्वर्गवास हुआ। जबकि दिगम्बर परम्परा के अनुसार वी. नि. 163 में उनका स्वर्गवास हुआ है।

छेदसूत्र तथा निर्युक्तियाँ एक ही भद्रबाहु की कृतियाँ हैं, इस मान्यता के समर्थन के लिए भी एक-दो प्रमाण मिलते हैं जैसे आचार्य शीलांककृत आचारांग-टीका में लिखा है - ‘निर्युक्तिकारस्य भद्रबाहुस्वामिनश्चतुर्दशपूर्वधरस्याचार्योऽतस्तान्।’⁵⁸ इनका समय विक्रम की आठवीं शताब्दी का उत्तरार्ध अथवा नौवीं शताब्दी का प्रारंभ है। आचारांग टीका में यही बताया गया है कि निर्युक्तिकार चतुर्दशपूर्वविद् भद्रबाहुस्वामी हैं तथा विक्रम संवत् 12वीं सदी के विद्वान् मलधारी हेमचन्द्र⁵⁹ ने भी चतुर्दशपूर्वधर भद्रबाहुस्वामी को निर्युक्ति का कर्ता माना है। प्रबन्धकोश के कर्ता राजशेखरसूरि⁶⁰ तथा श्री जम्बूविजयजी का भी यही मत है।⁶¹ लेकिन इसके विपरीत अधिक सबल एवं तर्कपूर्ण प्रमाण दूसरी मान्यता के लिए मिलते हैं, जिसमें सबसे अधिक सटीक प्रमाण यही है कि निर्युक्तिकार ने स्वयं को चतुर्दशपूर्वधर भद्रबाहु से भिन्न बताया है और स्वयं ने दशाश्रुतस्कंधनिर्युक्ति के प्रारंभ में ही छेदसूत्रकार चतुर्दशपूर्वधर भद्रबाहु को नमस्कार किया है। “वंदामि भद्रबाहुं, पाईणं चरिमसयलसुयनाणि। सुत्तस्स कारगमिसिं, दसासु कप्पे य ववहारे।”⁶² अर्थात् दशाश्रुतस्कंध निर्युक्ति की प्रथम गाथा के

56. जैन धर्म का मौलिक इतिहास, भाग 2, पृ. 326-358

57. आवश्यक सूत्र, प्रस्तावना, पृ० 57

58. आचारांगटीका (आचारांगसूत्र सूत्रकृतांग सूत्रं च) पृ. 4

59. चतुर्दशपूर्वधरेण श्रीमद्भद्रबाहुस्वामिना एतद्व्याख्यानरूपा...निर्युक्तिः कृता। -शिष्यहिता-बृहद्वृत्ति, प्रस्तावना, पृ. 1

60. जैन धर्म का मौलिक इतिहास भाग 2, पृ. 334

61. द्वादशारंभयचक्रम् (श्री जम्बूविजयजी) प्रस्तावना पृ. 60

62. निर्युक्तिपंचक खण्ड 3 (दशाश्रुतस्कंध निर्युक्ति) गाथा 1

अनुसार दशाश्रुतस्कंध, कल्प और व्यवहार, इन तीनों सूत्रों की पूर्वी से निर्यूहणपूर्वक रचना करने वाले महर्षि एवं अन्तिम श्रुतकेवली, प्राचीन आचार्य श्री भद्रबाहु को मैं वंदना करता हूँ। इस गाथा से सिद्ध होता कि चतुर्दशपूर्वी भद्रबाहु ने निर्युक्ति की रचना नहीं करके दशाश्रुतस्कंध, कल्प और व्यवहारसूत्र की रचना की है। अतः चतुर्दशपूर्वधर भद्रबाहु होते तो इस प्रकार छेदसूत्रकार को नमस्कार नहीं करते। क्योंकि कोई भी समझदार कभी भी स्वयं को नमस्कार नहीं करेगा। अतः स्पष्ट हो जाता है कि चतुर्दशपूर्वधर भद्रबाहु निर्युक्तिकार न होकर दूसरे भद्रबाहु ही निर्युक्तिकार हैं।

उत्तराध्ययननिर्युक्ति में स्वयं निर्युक्तिकार ने स्पष्ट शब्दों में उल्लेख किया है कि वे चतुर्दशपूर्वधर नहीं हैं, उन्होंने मरण विभक्ति से सम्बन्धित समस्त द्वारों का अनुक्रम से वर्णन किया है। वस्तुतः पदार्थों का सम्पूर्णरूपेण विशद वर्णन, तो केवलज्ञानी और चतुर्दशपूर्वधर ही करने में समर्थ हैं।⁶³

निर्युक्ति में ऐसी घटनाएं व आचार्यों के प्रसंग वर्णित हैं, जो श्रुतकेवली भद्रबाहु के उत्तरवर्ती हैं। जैसे निर्युक्तियों में कालकाचार्य, पादलिप्ताचार्य, स्थविर भद्रगुप्त, वज्रस्वामी, आर्य रक्षित, फल्गुरक्षित आदि ऐसे आचार्यों के प्रसंग वर्णित हैं, जो प्रथम भद्रबाहु से बहुत अर्वाचीन हैं। अतः निश्चित ही निर्युक्तियों की रचना निमित्त ज्ञानी भद्रबाहु (द्वितीय) द्वारा ही की गई है।⁶⁴

दिगम्बर साहित्य में उल्लेख है कि बारह वर्ष के दुष्काल के समय 12000 श्रमणों के साथ आचार्य भद्रबाहु उज्जयिनी होते हुए दक्षिण की ओर गये। इस समय सम्राट् चन्द्रगुप्त को भद्रबाहु ने दीक्षा दी। मूलतः यह घटना द्वितीय भद्रबाहु से सम्बन्धित है। इतिहास के लम्बे अन्तराल में दो भद्रबाहु हुए हैं। उसमें से चतुर्दशपूर्वी तथा छेदसूत्र के रचनाकार भद्रबाहु वी. नि. की दूसरी शताब्दी में और निर्युक्तिकार द्वितीय भद्रबाहु वी. नि. की पांचवीं शताब्दी के बाद हुए हैं। राजा चन्द्रगुप्त का सम्बन्ध प्रथम भद्रबाहु के साथ न होकर द्वितीय भद्रबाहु के साथ है।⁶⁵

उपर्युक्त प्रमाणों से स्पष्ट होता है कि चतुर्दशपूर्वी भद्रबाहु निर्युक्तिकार नहीं होकर नैमित्तिक भद्रबाहु निर्युक्तियों के कर्ता हो सकते हैं, इसके सम्बन्ध में निम्न प्रमाण प्राप्त होते हैं -

गच्छाचार पड़ण्णा, प्रबन्ध चिन्तामणि, प्रबन्धकोश में भद्रबाहु और वराहमिहिर का परिचय प्राप्त होता है, जो निम्न प्रकार से है - आचार्य भद्रबाहु प्रसिद्ध ज्योतिर्विद् वराहमिहिर के संसारी अवस्था के भ्राता थे। जैन परम्परा में वे नैमित्तिक और मन्त्रवेत्ता के रूप में प्रसिद्ध हैं। वराहमिहिर ने पंचसिद्धान्तिका की प्रशस्ति में रचना-काल शक संवत् 427 अर्थात् विक्रम संवत् 562 बताया है। इस आधार पर पण्डित दलसुखभाई मालवणिया का मानना है कि आचार्य भद्रबाहु छठी शताब्दी में विद्यमान थे।

चतुर्दशपूर्वधर आचार्य भद्रबाहु को और वी. नि. 1032 (शक सं. 427) के लगभग विद्यमान वराहमिहिर के सहोदर भद्रबाहु को एक ही व्यक्ति मानने का भ्रम विद्वानों में लम्बे समय से प्रचलित है, जो कि उचित नहीं है। इस कथन की सिद्धि में आचार्य श्री हस्तीमलजी म. ने साधक और बाधक प्रमाणों की समीक्षा करके निष्कर्ष रूप में कहा है कि वी. नि. 1032 के आस-पास होने वाले नैमित्तिक भद्रबाहु ही निर्युक्तियों के रचनाकार हैं।⁶⁶ आचार्य भद्रबाहु (द्वितीय) 28वें युगप्रधानाचार्य हारिलसूरि (वी.नि 1001-1055) के समकालीन थे।⁶⁷ आचार्य देवेन्द्रमुनि आवश्यकनिर्युक्ति को द्वितीय भद्रबाहु की कृति मानते हैं।⁶⁸

63. सब्बे एए दारा, मरणविभत्तीइ वण्णिया कमसो। सगलण्डिणे पयत्थे, जिण चउद्दसपुब्बि भासंति।

- निर्युक्तिपंचक खण्ड 3 (उत्तराध्ययन निर्युक्ति) मरणविभक्ति गाथा 227

64. विशेषावश्यकभाष्य (आचार्य सुभद्रमुनि) प्रस्तावना पृ. 48

65. जैनधर्म के प्रभावक आचार्य, पृ. 74

67. जैनधर्म का मौलिक इतिहास भाग 3, पृ. 398

66. जैन धर्म का मौलिक इतिहास भाग 2, पृ. 358-377

68. जैन आगम साहित्य मनन और मीमांसा, पृ. 329

श्री पुण्यविजयजी⁶⁹ ने पक्ष-विपक्ष के प्रमाण देकर यह सिद्ध किया है कि निर्युक्तिकार श्रुतकेवली भद्रबाहु नहीं हैं, सम्भवतः ये अन्य कोई नहीं, अपितु वराहसंहिता के रचयिता वराहमिहिर के भाई मंत्रविद्या के पारगामी नैमित्तिक भद्रबाहु ही होने चाहिए। उपर्युक्त पक्ष-विपक्ष के सभी प्रमाणों का संकलन डॉ. सागरमल जैन ने 'निर्युक्ति साहित्य : एक पुनर्चिन्तन' शोधालेख में हिन्दी भाषा में रूपान्तरित कर के किया है।⁷⁰ अधिकांश विद्वानों का मत है कि निर्युक्ति के कर्ता नैमित्तिक भद्रबाहु ही हैं।

नैमित्तिक भद्रबाहु का निर्युक्तिकर्तृत्व - पण्डित दलसुखभाई मालवणिया के अनुसार छठी शताब्दी में हुए नैमित्तिक भद्रबाहु द्वारा लिखी हुई निर्युक्तियों में प्राचीन भाग सम्मिलित है अथवा नहीं? क्योंकि आचार्य कुन्दकुन्द आदि के ग्रन्थों में, भगवती आराधना और मूलाचार में बहुत-सी गाथाएं निर्युक्ति की हैं। अतः निश्चय में नहीं कह सकते हैं कि उपलब्ध निर्युक्तियों की समस्त गाथाएं केवल छठी शताब्दी में ही लिखी गई हैं। यदि पुरानी गाथाओं का समावेश कर नई कृति बनाई गई है तो फिर सभी निर्युक्तियों को छठी शताब्दी की ही कैसे माना जाए? अनुयोगद्वारा प्राचीन है, उसकी गाथाएं निर्युक्ति में हैं। अतः छठी शताब्दी के भद्रबाहु ने उपलब्ध रचना लिखी हो, तो भी यह मानना पड़ता है कि प्राचीनता की परम्परा निराधार नहीं। छठी शताब्दी के भद्रबाहु की कृति में से प्राचीन माने जाने वाले दिगम्बर ग्रंथों में गाथाएं ली गई, यह कल्पना कुछ अतिशयोक्ति पूर्ण मालूम होती है।⁷¹

इसके समाधान के लिए ऐसा मान सकते हैं निर्युक्ति एक संग्रह ग्रंथ है। मूल निर्युक्ति तो भद्रबाहु की थी। संक्षिप्त होने से इतना अर्थ समझकर सविस्तार व्याख्या करना कठिन होने से आचार्यों ने आवश्यकतानुसार शिष्यों को समझ में आवे इस प्रकार एक गाथा के पीछे 4-5 गाथा बनाकर जोड़ दी गयी हो, यह सम्भव है। फिर आगे भी यह क्रम चलता रहा। इस प्रकार ग्रंथ बढ़ता गया। उपयोगी होने से नवीन गाथाएं भी मूल निर्युक्ति में निबद्ध हो गईं। यह कृति मात्र चौदहपूर्वी भद्रबाहु की ही होती तो उसे भी आगम तुल्य मान लिया जाता। इसके समर्थन विद्वानों का चिन्तन इस प्रकार है -

1. मुनि श्री पुण्यविजयजी ने उल्लेख किया है कि श्रुतकेवली भद्रबाहु ने निर्युक्तियाँ प्रारंभ की और द्वितीय भद्रबाहु तक उन निर्युक्तियों में विकास होता रहा। इस प्रकार निर्युक्तियों में कुछ गाथाएं बहुत ही अधिक प्राचीन हैं तो कुछ अर्वाचीन हैं। वर्तमान में जो निर्युक्तियाँ हैं, वे चतुर्दश पूर्वधर भद्रबाहु के द्वारा पूर्ण रूप से रचित नहीं हैं। उन्होंने स्पष्ट रूप से सिद्ध किया है कि जो आवश्यक आदि निर्युक्तियाँ वर्तमान में उपलब्ध हैं, वे प्रथम चतुर्दश पूर्वधर भद्रबाहु की नहीं होकर विक्रम की छठी शताब्दी में विद्यमान दूसरे भद्रबाहु की रचना है।⁷²

2. देवेन्द्रमुनि शास्त्री के अभिमतानुसार समवायांग, स्थानांग एवं नन्दी में द्वादशांगी का परिचय दिया गया है, वहाँ पर 'संखेज्जाओ निज्जुत्तीओ' यह पाठ प्राप्त होता है। इससे यह स्पष्ट है कि निर्युक्तियों की परम्परा आगम काल में भी थी। प्रत्येक आचार्य या उपाध्याय अपने शिष्यों को आगम का रहस्य हृदयंगम कराने के लिए अपनी-अपनी दृष्टि से निर्युक्तियों की रचना करते रहे होंगे। जैसे वर्तमान प्रोफेसर विद्यार्थियों को नोट्स लिखवाते हैं, वैसे ही निर्युक्तियाँ रही होंगी। उन्हीं को मूल आधार बनाकर द्वितीय भद्रबाहु ने निर्युक्तियों को अन्तिम रूप दिया होगा।⁷³

69. बृहत्कल्पसूत्रम् भाग 6, भावनगर, श्री आत्मानन्द जैन सभा, प्रस्तावना

70. डॉ. सागरमल जैन 'निर्युक्ति साहित्य : एक पुनर्चिन्तन', डॉ. सागरमल जैन अभिनन्दन ग्रंथ, द्वितीय खण्ड, पृ. 46-60

71. द्रष्टव्य, गणधरवाद प्रस्तावना पृ० 10

72. मुनि श्री पुण्यविजयजी, मुनि श्री हजारीमल स्मृति ग्रंथ, पृ. 718-719 73. आवश्यक सूत्र, प्रस्तावना पृ० 55

3. निर्युक्तियों के रचनाकार श्रुतकेवली भद्रबाहु हैं इस मान्यता का यह कारण भी हो सकता है कि आवश्यकनिर्युक्ति का प्रारंभ श्रुतकेवली भद्रबाहु द्वारा किया गया हो तथा बाद में उसकी गाथाओं में क्रमशः वृद्धि होती रही हो और इसे अन्तिम रूप भद्रबाहु (द्वितीय) ने दिया हो, निर्युक्ति गाथा में वृद्धि होती रहने की पुष्टि कई उदाहरणों से होती है, जैसे आवश्यकनिर्युक्ति के प्रथम अध्ययन की 157 गाथाएं हरिभद्रीयवृत्ति में हैं, किन्तु आवश्यकचूर्ण में मात्र 57 गाथाएं हैं। निश्चय ही चूर्ण व हरिभद्रीय टीका के मध्य 100 गाथाएं और जुड़ गई हैं। इतना ही नहीं भद्रबाहु (द्वितीय) के बाद भी गाथाओं में वृद्धि होते रहने की सम्भावना से इन्कार नहीं किया जा सकता है।⁷⁴

आर्यभद्रगुप्त का कर्तृत्व - डॉ. सागरमल जैन ने निर्युक्तिकार के सम्बन्ध में अपना मन्तव्य प्रकट करते हुए कहा है कि निर्युक्तियों का रचना काल तीसरी-चौथी शती के पूर्व का है, तथा इनके रचनाकार नैमित्तिक भद्रबाहु नहीं होकर या तो काश्यपगोत्रीय आर्यभद्रगुप्त या फिर गौतमगोत्रीय आर्यभद्र है अथवा अन्य कोई भद्रबाहु नामक आचार्य हैं। इस कथन की सिद्धि के लिए प्रमाण देते हुए उन्होंने निष्कर्ष रूप में कहा है कि निर्युक्तियों के कर्ता आर्य नक्षत्र की परम्परा में हुए आर्य विष्णु के प्रशिष्य एवं आर्य संपालित के गुरु-भ्राता गौतमगोत्रीय आर्यभद्र ही हैं। यद्यपि यह निष्कर्ष अन्तिम तो नहीं है, लेकिन आर्यभद्र को निर्युक्ति का कर्ता स्वीकार करने पर हम उन अनेक विप्रतिपत्तियों से बच सकते हैं, जो प्राचीनगोत्रीय पूर्वधर भद्रबाहु काश्यपगोत्रीय आर्यभद्रगुप्त और वराहमिहिर के भ्राता नैमित्तिक भद्रबाहु को निर्युक्तियों का कर्ता मानने पर आती हैं।⁷⁵

इस प्रकार निर्युक्ति साहित्य के कर्ता कौन से भद्रबाहु हैं, यह विवाद का विषय रहा है। प्रथम भद्रबाहु चतुर्दश पूर्वधर थे, सम्भवतः उन्होंने निर्युक्ति साहित्य का प्रारंभ किया होगा तथा निमित्तज्ञ आर्य भद्रबाहु के समय निर्युक्ति साहित्य की रचना पूर्णता को प्राप्त हुई होगी।

आवश्यकनिर्युक्ति (वृत्ति) का मलयगिरि वृत्ति (विवरण) के साथ प्रकाशन आगमोदय समिति, बम्बई द्वारा प्रथम भाग 1928 में, दूसरा भाग 1932 में एवं तीसरा भाग 1936 में देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार संस्था, सूरत द्वारा किया गया एवं समणी डॉ. कुसुमप्रज्ञा कृत हिन्दी अनुवाद सहित ई. 2001 में जैन विश्वभारती लाडनूं से प्रथम भाग प्रकाशित हुआ है।

2. भाष्यपरम्परा एवं जिनभद्रगणि कृत विशेषावश्यक भाष्य

निर्युक्तियों की व्याख्याशैली बहुत ही गूढ़ और संक्षिप्त है। उसमें विषय विस्तार का अभाव है, भाष्य या टीका के बिना इनको समझना मुश्किल होता है। अतः निर्युक्ति या मूल आगमों के गूढार्थ को शिष्यों को समझाने के लिए या निर्युक्तियों के गम्भीर रहस्यों को प्रकट करने के लिए पूर्वाचार्यों ने विस्तार से प्राकृत भाषा में जो पद्यात्मक व्याख्याएं लिखीं उन व्याख्याओं को भाष्य कहते हैं। 'न्यायदर्शनम्' की प्रस्तावना में भाष्य का लक्षण करते हुए कहा गया है "सूत्रार्थो वर्ण्यते यत्र पदैः सूत्रानुसारिभिः। स्वपदानि च वर्ण्यन्ते भाष्यं भाष्यविदो विदुः।" अर्थात् सूत्र के पदों के अनुसार सूत्र के अर्थ का वर्णन किया जाता है तथा स्व पदों का वर्णन किया जाता है, उसे भाष्य कहते हैं।⁷⁶ निर्युक्तियों के शब्दों में छिपे हुए अर्थबाहुल्य को अभिव्यक्त करने का श्रेय भाष्यकारों को ही है। कुछ

74. विशेषावश्यकभाष्य (आचार्य सुभद्रमुनि) प्रस्तावना पृ. 48-49

75. डॉ. सागरमल जैन 'निर्युक्ति साहित्य : एक पुनर्चिन्तन', डॉ. सागरमल जैन अभिनन्दन ग्रंथ, द्वितीय खण्ड, पृ. 46-60

76. संपा. श्री नारायणमिश्र, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, प्रस्तावना पृ. 27

भाष्य निर्युक्तियों पर और कुछ सीधे ही मूल आगमों के सूत्रों पर लिखे गये हैं। निर्युक्तियों के भाष्य भी प्राकृत गाथाओं में संक्षिप्त शैली में लिखे गये हैं। निर्युक्तियों की भाषा के समान भाष्यों की भाषा भी मुख्यरूप से प्राचीन प्राकृत (अर्धमागधी) है, अनेक स्थलों पर मागधी और शौरसेनी के प्रयोग भी देखने में आते हैं, मुख्य छंद आर्या है।

भाष्यों का समय सामान्य तौर पर ईस्वी सन् की लगभग चौथी-पांचवीं शताब्दी माना जा सकता है। भाष्य में अनेक प्राचीन अनुश्रुतियाँ, लौकिक कथाएं और परंपरागत निर्ग्रंथों के प्राचीन आचार-विचार की विधि आदि का प्रतिपादन है। जैन श्रमण संघ के प्राचीन इतिहास को सम्यक् प्रकार से समझने के लिए भाष्यों का अध्ययन भी आवश्यक है। मुख्य रूप से जिनभद्रगणि और संघदासगणि ही भाष्यकार के रूप में प्रसिद्ध हैं।

जिस प्रकार प्रत्येक आगम पर निर्युक्ति की रचना नहीं हुई, उसी प्रकार प्रत्येक आगम पर भाष्य भी नहीं लिखा गया। निम्नलिखित दस आगमों पर भाष्य की रचना हुई है – 1. आवश्यक, 2. दशवैकालिक, 3. उत्तराध्ययन, 4. बृहत्कल्प, 5. पंचकल्प, 6. व्यवहार, 7. निशीथ, 8. जीतकल्प, 9. ओघनिर्युक्ति, 10. पिण्डनिर्युक्ति।

आगम भाष्यकार संघदासगणि आचार्य हरिभद्र के समकालीन थे। 'वसुदेव हिण्डी' के रचयिता संघदासगणि से वे भिन्न थे। उन्होंने निशीथ, बृहत्कल्प, व्यवहार इन तीन सूत्रों पर विस्तृत भाष्य लिखे हैं। आचार्य जिनभद्रगणि के दो भाष्य प्राप्त होते हैं – जीतकल्प भाष्य एवं विशेषावश्यकभाष्य।

डॉ. मोहनलाल मेहता के अनुसार आवश्यक सूत्र पर तीन भाष्य लिखे गए हैं – 1. मूलभाष्य 2. भाष्य एवं 3. विशेषावश्यक भाष्य। प्रथम दो भाष्य तो बहुत संक्षिप्त हैं और उनकी अनेक गाथाओं का समावेश विशेषावश्यकभाष्य में कर लिया गया है। अतः विशेषावश्यकभाष्य तीनों भाष्यों का प्रतिनिधि है।⁷⁷

डॉ. समणी कुसुमप्रज्ञा के अनुसार वर्तमान में भाष्य नाम से अलग न गाथाएं मिलती हैं और न ही कोई स्वतंत्र कृति अतः दो भाष्यों का ही अस्तित्व स्वीकार करना चाहिए। मूलभाष्य की अनेक गाथाएं विशेषावश्यकभाष्य की अंग बन चुकी हैं फिर भी हरिभद्रीय एवं मलयगिरिकृत टीका में मूलभाष्य के उल्लेख से अलग गाथाएं मिलती हैं। मूलभाष्य के कर्त्ता निर्युक्तिकार भद्रबाहु हो सकते हैं।⁷⁸

नोट :- जिनभद्रगणि एवं उनके विशेषावश्यकभाष्य की चर्चा इसी अध्याय में आगे की गई है।

3. आवश्यकचूर्णि एवं चूर्णिकार

निर्युक्ति और भाष्य की रचना के पश्चात् जैन मनीषियों के अन्तर्मानस में आगमों पर गद्यात्मक व्याख्या साहित्य लिखने की भावना उत्पन्न हुई। उन्होंने शुद्ध प्राकृत में और संस्कृत मिश्रित प्राकृत में व्याख्याओं की रचना की, जो आज चूर्णिसाहित्य के नाम से प्रसिद्ध हैं। चूर्णियों में प्राकृत की प्रधानता होने के कारण इनकी भाषा को मिश्रप्राकृत भाषा कहना सर्वथा उचित ही है।

चूर्णियाँ गद्य में लिखने का कारण संभवतः पद्य में लिखे हुए निर्युक्ति और भाष्य में जैनधर्म के सिद्धांतों को विस्तार से प्रतिपादन करने के लिये अधिक गुंजाइश नहीं थी। इसके अलावा, चूर्णियाँ केवल प्राकृत में ही न लिखकर संस्कृत मिश्रित प्राकृत में लिखने से साहित्य का क्षेत्र निर्युक्ति और

77. जैनसाहित्य का बृहद् इतिहास, भाग 3, पृ. 117

78. आवश्यकनिर्युक्ति, भूमिका, पृ. 43

भाष्य की अपेक्षा अधिक विस्तृत है। निशीथ के विशेषचूर्णिकार ने चूर्ण की परिभाषा इस प्रकार दी है - 'पागडो ति प्राकृतः प्रगटो वा पदार्थो वस्तुभावो यत्र सः, तथा परिभाष्यते अर्थोऽनयेति परिभाषा चूर्णिरुच्यते।'।

अभिधान राजेन्द्रकोष में चूर्ण की परिभाषा इस प्रकार है -

अत्थबहुलं महत्त्वं हेउनिवाओवसगगंभीरं।

बहुपायमवोच्छिन्नं गमणयसुद्धं तु चुणपपयं॥

अर्थात् अर्थ की बहुलता हो, महान् अर्थ हो, हेतु, निपात और उपसर्ग से जो युक्त हो, गंभीर हो, अनेक पदों से समन्वित हो, जिससे अनेक गम (जानने के उपाय) हों और जो नयों से शुद्ध हो, उसे चूर्णपद समझना चाहिये।

चूर्णियों में प्राकृत की लौकिक, धार्मिक आदि अनेक कथायें दी गई हैं, प्राकृत भाषा में शब्दों की व्युत्पत्ति मिलती है तथा संस्कृत और प्राकृत के अनेक पद्य उद्धृत हुए हैं। चूर्णियों में निशीथ की विशेषचूर्ण तथा आवश्यकचूर्ण का स्थान बहुत महत्वपूर्ण है। इनमें जैन पुरातत्त्व से संबंध रखने वाली विपुल सामग्री मिलती है। देश-विदेश के रीति-रिवाज, मेले-त्यौहार, दुष्काल, चोर-लुटेरे, सार्थवाह, व्यापार के मार्ग, भोजन, वस्त्र, आभूषण आदि विषयों का चूर्णियों में वर्णन है, जिससे जैन आचार्यों की जनसंपर्क-वृत्ति, व्यवहारकुशलता और उनके व्यापक अध्ययन का पता लगता है। लोककथा और भाषाशास्त्र की दृष्टि से यह साहित्य अत्यन्त उपयोगी है।

चूर्णिकार

वाणिज्यकुलीन कोटिगणीय वज्रशाखीय जिनदासगणि महत्तर अधिकांश चूर्णियों के कर्ता के रूप में प्रसिद्ध हैं। परम्परा से निम्न चूर्णियाँ जिनदासगणि महत्तर की मानी जाती हैं - निशीथचूर्ण, नन्दीचूर्ण, अनुयोगद्वारचूर्ण, आवश्यकचूर्ण, दशवैकालिकचूर्ण, उत्तराध्ययनचूर्ण, आचारांगचूर्ण, सूत्रकृतांगचूर्ण। उपलब्ध जीतकल्पचूर्ण सिद्धसेनसूरि की रचना है। बृहत्कल्पचूर्णिकार का नाम प्रलम्बसूरि है।⁷⁹ जिनदास कृत अनुयोगद्वार चूर्ण से जिनभद्र के द्वारा अंगुल पद पर अक्षरक्षः चूर्ण उद्धृत की गई है।⁸⁰ दशवैकालिक सूत्र पर एक और चूर्ण है। इसके रचयिता अगस्त्यसिंह हैं। अन्य चूर्णिकारों के नाम अज्ञात हैं।⁸¹

निम्नलिखित आगमों पर चूर्णियाँ उपलब्ध हैं - आचारांग, सूत्रकृतांग, व्याख्याप्रज्ञप्ति, कल्प, व्यवहार, निशीथ, पंचकल्प, दशाश्रुतस्कंध, जीतकल्प, जीवाभिगम, प्रज्ञापनाशरीपपद, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, उत्तराध्ययन, आवश्यक, दशवैकालिक सूत्र, नन्दी और अनुयोगद्वार। चूर्णियों का रचना क्रम निश्चय रूप में कुछ भी नहीं कह सकते हैं।

आवश्यक सूत्र का प्रसंग होने से आवश्यक चूर्ण के प्रसिद्ध चूर्णिकार जिनदासगणि महत्तर के धर्मगुरु का नाम उत्तराध्ययनचूर्ण के अनुसार वाणिज्यकुलीन, कोटिकगणीय, वज्रशाखीय गोपालगणि महत्तर है तथा विद्यागुरु का नाम निशीथ-विशेषचूर्ण के अनुसार प्रद्युम्न क्षमाश्रमण है। नन्दीचूर्ण के अन्त में चूर्णिकार ने अपना जो परिचय दिया है वह अस्पष्ट है। जिनदास का समय भाष्यकार आचार्य जिनभद्र और टीकाकार आचार्य हरिभद्र के बीच का होना चाहिए। इसका प्रमाण यह है कि आचार्य जिनभद्रकृत विशेषावश्यकभाष्य की गाथाओं का प्रयोग इनकी चूर्णियों में दृष्टिगोचर होता है

79. जैन ग्रंथावली पृ. 12

80. गणधरवाद, पृ. 211

81. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास भाग 3, पृष्ठ 268

तथा इनकी चूर्णियों का पूरा उपयोग आचार्य हरिभद्र की टीकाओं में हुआ है। अतः जिनदासगणि का समय वि. सं. 650-750 के लगभग माना जा सकता है, क्योंकि इनके पूर्ववर्ती आचार्य जिनभद्रगणि वि. सं. 600-660 के लगभग⁸² और उत्तरवर्ती आचार्य हरिभद्र वि. सं. 757-827 के लगभग विद्यमान थे।⁸³ नन्दीचूर्ण के अन्त में उसका रचना काल शक संवत् 598 (वि. सं. 733) उल्लिखित है।⁸⁴ इस प्रकार जिनदासगणि महत्तर का समय आठवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध माना जा सकता है।

आवश्यकचूर्ण

आवश्यकचूर्ण निर्युक्ति के अनुसार लिखी गई है, भाष्य की गाथाओं का उपयोग भी यत्र-तत्र हुआ है। मुख्य रूप से भाषा प्राकृत है, किन्तु संस्कृत के श्लोक एवं गद्य पंक्तियाँ भी उद्धृत की गई हैं। भाषा प्रवाह युक्त है। शैली में लालित्य व ओज है। इसमें कथाओं की प्रचुरता है। विशेषकर ऐतिहासिक आख्यानो का वर्णन विशाल दृष्टिकोण से संपृक्त है अतः ऐतिहासिक दृष्टि से इस चूर्ण का महत्त्व अन्य चूर्णियों की अपेक्षा अधिक है। विषय का जितना विस्तार इस चूर्ण में किया गया है उतना अन्य चूर्णियों में उपलब्ध नहीं है। ओघनिर्युक्ति चूर्ण, गोविन्दनिर्युक्ति, वसुदेवहिण्डी आदि अनेक ग्रन्थों का उल्लेख इसमें हुआ है।

विषय वस्तु - सर्वप्रथम मंगल की चर्चा की गई है। भावमंगल में ज्ञान का निरूपण है। श्रुतज्ञान की दृष्टि से आवश्यक पर निक्षेप दृष्टि से चिन्तन किया गया है। द्रव्यावश्यक और भावावश्यक पर प्रकाश डाला गया है। श्रुत का प्ररूपण तीर्थकर करते हैं। तीर्थकर कौन होते हैं, इस प्रश्न का समाधान करते हुए भगवान् शब्द की व्युत्पत्ति दी गई है।

सामायिक नामक प्रथम आवश्यक में चूर्णिकार ने द्रव्यपरंपरा और भावपरंपरा के माध्यम से सामायिक का वर्णन किया है। सामायिक का उद्देश्य, निर्देश, निर्गम आदि २६ द्वारों से विचार करने का संकेत करते हुए निर्गम द्वार के माध्यम से भगवान् महावीर के पूर्व भवों का कथन करते हुए उनके जीवन सम्बन्धी सभी घटनाओं का विस्तृत वर्णन इसमें उपलब्ध होता है। आवश्यकनिर्युक्ति के समान ही भगवान् ऋषभदेव आदि तीर्थकरों पर भी प्रकाश डालते हुए निहववाद का वर्णन किया गया है।

इसके बाद द्रव्य, पर्याय, नयदृष्टि से सामायिक के भेद, उसका स्वामी, उसकी प्राप्ति का क्षेत्र, काल, दिशा, सामायिक करने वाला, उसकी प्राप्ति के हेतु और इस विषय से संबंधित आनन्द, कामदेव का दृष्टान्त, अनुकम्पा आदि हेतु और मेंठ, इन्द्रनाग, पुण्यशाल, शिवराजर्षि, गंगदत्त, दशार्णभद्र, इलापुत्र आदि के दृष्टान्त दिये गए हैं। सामायिक की स्थिति, सामायिक वालों की संख्या, सामायिक का अन्तर, सामायिक का आकर्ष, समभाव की महत्ता का प्रतिपादन करने के लिए दमदत्त एवं समता के लिए मेतार्यमुनि का दृष्टान्त दिया गया है। समास के लिए चिलातिपुत्र, संक्षेप और अनवद्य के लिए धर्मरुचि व प्रत्याख्यान के लिये तेतलीपुत्र का दृष्टान्त देकर विषय को स्पष्ट किया गया है। इसके पश्चात् सूत्रस्पर्शिक निर्युक्ति की चूर्ण है। उसमें नमस्कार महामंत्र, निक्षेप दृष्टि से स्नेह, राग व द्वेष के लिए क्रमशः अर्हन्नक, धर्मरुचि तथा जमदुग्नि का उदाहरण दिया गया है। अरिहन्तों व सिद्धों को नमस्कार, औत्पत्तिकी आदि चारों प्रकार की बुद्धि, कर्म, समुद्घात, योगनिरोध, सिद्धों का अपूर्व आनन्द, आचार्यों उपाध्यायों और साधुओं को नमस्कार एवं

82. गणधरवाद, प्रस्तावना पृ. 32-33

83. जैन आगम, पृ. 27

84. नन्दीसूत्रचूर्ण (प्रा. टे. सो.) पृ. 83

उसके प्रयोजन पर प्रकाश डाला गया है। उसके बाद सामायिक पाठ 'करेमि भंते' की व्याख्या करके छह प्रकार के करण का विस्तृत निरूपण किया गया है।

चतुर्विंशतिस्तव अध्ययन के वर्णन में स्तव, लोक, उद्योत, धर्म-तीर्थकर आदि पदों पर निक्षेप दृष्टि से चिन्तन किया गया है तथा तीर्थकरों के स्वरूप का वर्णन किया गया है।

तृतीय वन्दना अध्ययन में वन्दन के योग्य श्रमण के स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है और चितिकर्म, कृतिकर्म, पूजाकर्म और विनयकर्म का दृष्टान्त देकर समझाया गया है। आजीवक, तापस, परिव्राजक, तच्छंणिय और बोटिक इन पांच अवन्द्य को वन्दन करने का निषेध किया गया है।

चतुर्थ अध्ययन में प्रतिक्रमण की परिभाषा प्रतिक्रमक, प्रतिक्रमण और प्रतिक्रान्तव्य इन तीन दृष्टियों से की गई है। प्रतिचरणा, परिहरणा, वारणा, निवृत्ति, निन्दा, गर्हा, शुद्धि और आलोचना पर विवेचना करते हुए उदाहरण भी प्रस्तुत किये गए हैं। कायिक, वाचिक, मानसिक अतिचार, ईर्यापथिकी विराधना, प्रकाम शय्या, भिक्षाचर्या, स्वाध्याय आदि में लगने वाले अतिचार, चार विकथा, चार ध्यान, पांच क्रिया, पांचकाम गुण, पांच महाव्रत, पांच समिति आदि का प्रतिपादन किया गया है।

शिक्षा के ग्रहण और आसेवन ये दो भेद किए गए हैं। अभयकुमार का विस्तार से जीवन-परिचय प्राप्त होता है। साथ ही सम्राट् श्रेणिक, चलना, कोणिक, चेटक, उदायी, महापद्मनन्द, शकडाल, वररुचि, स्थूलभद्र आदि ऐतिहासिक व्यक्तियों के चरित्र भी दिये गये हैं। व्रत की महत्ता का प्रतिपादन करते हुए कहा है - प्रज्वलित अग्नि में प्रवेश करना श्रेयस्कर है, किन्तु व्रत का भंग करना अनुचित है। विशुद्ध कार्य करते हुए मरना श्रेष्ठ है, किन्तु शील से स्वलित होकर जीवित रहना अनुचित है।

पंचम अध्ययन में कायोत्सर्ग का वर्णन है। कायोत्सर्ग एक प्रकार से आध्यात्मिक व्रणचिकित्सा है। कायोत्सर्ग में काय और उत्सर्ग ये दो पद हैं। कायोत्सर्ग के काय शब्द का नाम, स्थापना आदि बारह प्रकार के निक्षेपों से वर्णन किया गया है और उत्सर्ग का छह निक्षेपों से। कायोत्सर्ग के चेष्टाकायोत्सर्ग और अभिभवकायोत्सर्ग ये दो भेद हैं। गमन आदि में जो दोष लगा हो उसके पाप से निवृत्त होने के लिये चेष्टाकायोत्सर्ग किया जाता है। हूणादि से पराजित होकर जो कायोत्सर्ग किया जाता है वह अभिभवकायोत्सर्ग है। कायोत्सर्ग के प्रशस्त एवं अप्रशस्त ये दो भेद हैं और फिर उच्छ्रित आदि नौ भेद हैं। श्रुत एवं सिद्ध की स्तुति पर प्रकाश डाला गया है। अन्त में कायोत्सर्ग के दोष, फल आदि की भी चर्चा की गई है।

छठे अध्ययन में प्रत्याख्यान का विवेचन है। इसमें सम्यक्त्व के अतिचार, श्रावक के बाहर व्रतों के अतिचार, दस प्रत्याख्यान, छह प्रकार की विशुद्धि, प्रत्याख्यान के गुण, आगार आदि पर अनेक दृष्टान्तों के साथ विवेचन किया गया है।

इस प्रकार आवश्यकचूर्णि जिनदासगणि महत्तर की एक महनीय कृति है। आवश्यक निर्युक्ति में आये हुए सभी विषयों का चूर्णि में विस्तार से विवेचन किया गया है। इसमें अनेक पौराणिक, ऐतिहासिक, महापुरुषों के जीवन उद्दत्कित किये गये हैं, जिनका ऐतिहासिक और सांस्कृतिक दृष्टि से अत्यधिक महत्त्व है।⁸⁵

आवश्यकचूर्णि ई. 1928-29 में श्री ऋषभदेव केशरीमल जी श्वेताम्बर संस्था, रतलाम द्वारा दो भागों में प्रकाशित हुई है।

4. आवश्यकसूत्र की टीकाएं

मूल आगम, निर्युक्ति एवं भाष्य, प्राकृत भाषा में लिखे गये और चूर्णिसाहित्य में भी प्रधान रूप से प्राकृत भाषा का प्रयोग हुआ है। उसके पश्चात् संस्कृतटीका का युग आया। जैन साहित्य में टीका का युग स्वर्णिम युग है। निर्युक्ति में आगमों के शब्द की व्युत्पत्ति और व्याख्या है। भाष्य साहित्य में विस्तार से आगमों के गम्भीर भावों का विवेचन है। चूर्णिसाहित्य में निगूढ़ भावों को लोक-कथाओं के आधार से समझाने का प्रयास है तो टीकासाहित्य में आगमों का दार्शनिक दृष्टि से विश्लेषण है। टीकाएं आगम सिद्धांत को समझने के लिए अत्यंत उपयोगी हैं। ये टीकाएं संस्कृत में हैं, यद्यपि कथासंबंधी अंश प्राकृत में भी उद्धृत किया गया है। टीकाकारों ने प्राचीन निर्युक्ति, भाष्य और चूर्ण साहित्य का तो अपनी टीकाओं में प्रयोग किया ही है, साथ ही नये-नये हेतुओं द्वारा विषय को और अधिक पुष्ट बनाया है। टीकाओं के अध्ययन और परिशीलन से उस युग की सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक और भौगोलिक परिस्थितियों का भी सम्यक् परिज्ञान हो जाता है।

आगमों की अंतिम वलभी वाचना से पूर्व ही आगमों पर टीकाएं लिखी जाने लगी थीं। विक्रम की तीसरी शताब्दी के आचार्य अगस्त्यसिंह ने अपनी दशवैकालिकचूर्णि में अनेक स्थानों पर इन प्राचीन टीकाओं का संकेत किया। इसी प्रकार हिमवन्त थेरावली के अनुसार आर्य मधुमित्र के शिष्य तत्त्वार्थभाष्य पर बृहद्वृत्ति के लेखक आर्य गंधहस्ती ने आर्यस्कंदिल के आग्रह पर 12 अंगों पर विवरण लिखा था।⁸⁶ आगम-साहित्य पर सर्वप्रथम संस्कृत के टीकाकारों में जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण का नाम सर्वप्रथम आता है। जिन्होंने विशेषावश्यकभाष्य की स्वोपज्ञवृत्ति की रचना की। अन्य टीकाकारों में हरिभद्रसूरि (ईसवी सन् 700-770) का नाम आता है, जिन्होंने आवश्यक, दशवैकालिक, नन्दी और अनुयोगद्वारा पर टीकाएं लिखीं। इसके बाद वादिवेताल शान्तिसूरि, नेमिचन्द्रसूरि, अभयदेवसूरि (ईसवीं सन् 12 वीं शताब्दी), द्रोणाचार्य, मलधारी हेमचन्द्र, मलयगिरि आदि आचार्यों के नाम उल्लेखनीय हैं।

आवश्यकवृत्ति

संस्कृत टीकाकारों में आचार्य हरिभद्र का नाम गौरव के साथ लिया जा सकता है। वे संस्कृत भाषा के प्रकाण्ड पण्डित थे। उन्होंने आवश्यकनिर्युक्ति पर भी वृत्ति लिखी। प्रस्तुत वृत्ति को देखकर सुज्ञों का यह अनुमान है कि आचार्य हरिभद्र ने आवश्यक सूत्र पर दो वृत्तियाँ लिखी थीं। वर्तमान में जो टीका उपलब्ध नहीं है, वह टीका उपलब्ध टीका से बड़ी थी। क्योंकि आचार्य ने स्वयं लिखा है – ‘व्यासार्थस्तु विशेषविवरणादवगन्तव्य इति।’ अन्वेषण करने पर भी यह टीका अभी तक उपलब्ध नहीं हो सकी है। इस टीका में कहीं-कहीं निर्युक्ति के पाठान्तर भी दिये गए हैं। इसमें भी दृष्टान्तरूप एवं अन्य कथानक प्राकृत में ही हैं। निर्युक्ति और चूर्ण में जिन विषयों का संक्षेप से संकेत किया गया है, उन्हीं का इसमें विस्तार किया गया है। इस वृत्ति का नाम शिष्यहिता है। इसका ग्रन्थमान 22000 श्लोकप्रमाण है। लेखक ने अन्त में संक्षेप में अपना परिचय भी दिया है। कोट्याचार्य ने आचार्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण के अपूर्व स्वोपज्ञ भाष्य को पूर्ण किया और विशेषावश्यकभाष्य पर भी एक नवीन वृत्ति लिखी, लेकिन कोट्याचार्य ने उस वृत्ति में आचार्य हरिभद्र का कहीं पर भी उल्लेख नहीं किया, इससे यह ज्ञात होता है कि वे हरिभद्र के समकालीन या पूर्ववर्ती होंगे।

हरिभद्र का काल सभी प्रमाणों के आधार पर ई० सन् 700 से 770 (वि. सं. 757 से 827) तक निश्चित किया गया है।⁸⁷ प्रभावक चरित्र में वर्णित कथानक के अनुसार आपके दीक्षागुरु आचार्य

जिनभद्र सिद्ध होते हैं किन्तु हरिभद्र के उल्लेखों से ऐसा फलित होता है कि जिनभद्र उनके गच्छपति गुरु थे, जिनदत्त दीक्षाकारी गुरु थे, याकिनी महत्तरा धर्मजननी (धर्ममाता) थी। उनका कुल विद्याधरगच्छ एवं सम्प्रदाय श्वेताम्बर था।⁸⁸ आचार्य हरिभद्र ग्रंथ-सूची में 73 ग्रंथ समाविष्ट हैं।⁸⁹ कहा जाता है कि आचार्य हरिभद्र ने 1444 ग्रंथों की रचना की थी। इसका कारण बताते हुए कहा गया है कि 1444 बौद्धों का संहार करने के संकल्प के प्रायश्चित्त के रूप में उनके गुरु ने उन्हें 1444 ग्रंथ लिखने की आज्ञा दी थी।

आवश्यक वृत्ति आवश्यक निर्युक्ति पर है। इस वृत्ति में टीकाकार ने आवश्यक चूर्ण का अनुसरण नहीं करते हुए स्वतंत्र रीति से निर्युक्ति-गाथाओं का विवेचन किया है। वृत्ति में ज्ञान का स्वरूप प्रतिपादन करते हुए आभिनिबोधक ज्ञान का छह दृष्टियों से विवेचन किया है। श्रुत, अवधि, मनःपर्यव और केवलज्ञान का भी भेद-प्रभेद आदि की दृष्टि से विवेचन किया है। पांच ज्ञानों की व्याख्या में वैविध्य का पूरा उपयोग किया है। यह व्याख्यावैविध्य चूर्ण में दृष्टिगोचर नहीं होता।

सामायिक-निर्युक्ति का व्याख्यान करते हुए प्रवचन की उत्पत्ति के प्रसंग पर वृत्तिकार ने वादिमुख्यकृत दो श्लोक उद्धृत किये हैं, जिनमें यह बताया गया है कि कुछ पुरुष स्वभाव से ही ऐसे होते हैं जिन्हें वीतराग की वाणी अरुचिकर लगती है। इसमें वीतराग के प्रवचनों में कोई दोष नहीं है। दोष सुनने वाले उन पुरुष-उलूकों का है जिनका स्वभाव ही वीतराग-प्रवचनरूपी प्रकाश में अन्धे हो जाना है। सामायिक के उद्देश, निर्गम, क्षेत्र आदि 23 द्वारों का विवेचन किया गया है। निर्गम द्वार का वर्णन करते हुए कुलकरों की उत्पत्ति का वर्णन है। नाभि कुलकर के प्रसंग में भगवान् ऋषभदेव के जीवन चरित्र का वर्णन करते हुए आचार्य ने निर्युक्ति के कुछ पाठान्तर भी दिये हैं। सामायिकार्थ का प्रतिपादन करने वाले चरम तीर्थंकर भगवान् महावीर स्वामी के शासन में उत्पन्न चार अनुयोगों का विभाजन करने वाले आर्यरक्षित के जीवन का भी विस्तृत वर्णन मिलता है।

द्वितीय आवश्यक 'चतुर्विंशतिस्तव' तृतीय आवश्यक 'वन्दना' का निर्युक्ति के अनुसार विवेचन करते हुए चतुर्थ आवश्यक प्रतिक्रमण की व्याख्या के प्रसंग पर आचार्य ने ध्यान के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए ध्यानशतक की सारी गाथाओं का व्याख्यान किया है। परिस्थापना की विधि का वर्णन करते हुए पूरी परिस्थापनानिर्युक्ति उद्धृत कर दी है।

पंचम आवश्यक कायोत्सर्ग के अन्त में 'शिष्यहितायां कायोत्सर्गाध्ययनं समाप्तम्' ऐसा पाठ है। आगे भी ऐसा पाठ है। इससे विदित होता है कि प्रस्तुत वृत्ति का नाम शिष्यहिता है। कायोत्सर्ग का फल बताते हुए आचार्य कहते हैं कि कायोत्सर्ग विवरण से प्राप्त पुण्य के फलस्वरूप सभी प्राणी पंचविध काय (शरीर) का उत्सर्ग करें।

षष्ठ आवश्यक प्रत्याख्यान के विवरण में श्रावकधर्म का भी विस्तार पूर्वक विवेचन करते हुए प्रत्याख्यान विधि, माहात्म्य आदि का वर्णन करते हुए आचार्य ने शिष्यहिता नामक आवश्यक टीका समाप्त की है।⁹⁰

हारिभद्रीय आवश्यक वृत्ति का प्रकाशन ई. 1916-17 में आगमोदय समिति, बम्बई तथा वि. सं. 2038 में श्री भेरूलाल कन्हैयालाल कोठारी धार्मिक ट्रस्ट, मुम्बई से दो भागों में प्रकाशन हुआ है।

88. आवश्यक निर्युक्ति टीका के अन्त में

89. जैन दर्शन (अनुवादक-पं. बेचरदास) प्रस्तावना, पृ. 45-51

90. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग 3, पृ. 344-348

आवश्यकविवरण

आचार्य मलयगिरि ने भी आवश्यक सूत्र पर आवश्यकविवरण नामक वृत्ति लिखी है। यह विवरण मूल सूत्र पर न होकर आवश्यकनिर्युक्ति पर है। यह विवरण अपूर्ण ही प्राप्त हुआ है। वर्तमान में जो विवरण उपलब्ध है वह चतुर्विंशतिस्तव नामक द्वितीय अध्ययन के 'थूण रयणविचित्तं कुंथुं सुमिणम्मि तेण कुंथुजिणो' विवेचन तक प्राप्त होता है। उसके पश्चात् भगवान् अरनाथ के उल्लेख के बाद का विवरण नहीं मिलता है अर्थात् वह अपूर्ण है। जो विवरण उपलब्ध है उसका ग्रंथमान 18000 श्लोक प्रमाण है। निर्युक्ति की गाथाओं पर सरल और सुबोध शैली में विवेचन किया गया है।

इस विवरण के प्रारंभ में भगवान् पार्श्वनाथ, भगवान् महावीर और अपने गुरु को नमस्कार कर टीकाकार मलयगिरि ने बताया है कि यद्यपि आवश्यकनिर्युक्ति पर अनेक विवरण ग्रंथ विद्यमान हैं, किन्तु वे कठिन होने के कारण मंदबुद्धि के लोगों के लिए पुनः उसका विवरण प्रारंभ कर रहे हैं। उन्होंने सर्वप्रथम मंगल का नामादि भेदपूर्वक विस्तृत व्याख्यान किया एवं उसकी उपयोगिता पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। इसमें यत्र-तत्र विशेषावश्यकभाष्य की गाथाएं उद्धृत की गई हैं। इन गाथाओं पर स्वतंत्र विवेचन न कर उनका सार अपनी वृत्ति में उद्धृत कर दिया है। वृत्ति में जितनी गाथाएँ आई हैं, वे वृत्ति के वक्तव्य को पुष्ट करती हैं। निर्युक्ति की गाथाओं के पदों का अर्थ करते हुए तत्प्रतिपादित प्रत्येक विषय का आवश्यक प्रमाणों के साथ वर्णन किया है। यह टीका भाषा एवं शैली दोनों ही दृष्टियों से सरल व उपयोगी है। जगह-जगह प्राकृत में कथानक दिये हैं। इस विवरण में विशेषावश्यक भाष्य की स्वोपज्ञवृत्ति का भी उल्लेख हुआ है। साथ ही प्रज्ञाकरगुप्त, आवश्यकचूर्णिकार, आवश्यक-मूलटीकाकार, आवश्यक-मूलभाष्यकार, लघीयस्त्रयालंकार अकलंक, न्यायावतार-विवृतिकार आदि का उल्लेख है।⁹¹

आचार्य मलयगिरि प्रसिद्ध महान् टीकाकार होते हुए भी आपके जीवन-वृत्त और गुरु परम्परा के सम्बन्ध विशेष उल्लेख नहीं मिलता है। आप आचार्य हेमचन्द्र के समकालीन थे। आपका समय विद्वानों ने बारहवीं शताब्दी के आस-पास का स्वीकार किया है। आपकी उक्त टीका के अलावा नंदी, राजप्रश्नीय, पिंडनिर्युक्ति आदि से सम्बन्धित 25 टीका ग्रंथों का वर्णन प्राप्त होता है।⁹²

आवश्यकवृत्तिप्रदेशव्याख्या

मलधारी हेमचन्द्रसूरि ने हरिभद्रकृत आवश्यक वृत्ति पर 4600 श्लोक प्रमाण आवश्यकवृत्ति-प्रदेशव्याख्या या हरिभद्रीयावश्यकवृत्ति-टिप्पणक नामक वृत्ति लिखी है। इस पर हेमचन्द्र के ही एक शिष्य श्रीचन्द्रसूरि ने एक और टिप्पण लिखा है जिसे प्रदेशव्याख्या-टिप्पण कहते हैं। प्रारम्भ में व्याख्याकार आदिजिनेश्वर भगवान् ऋषभदेव को नमस्कार करते हैं, तदनन्तर वर्धमानपर्यन्त शेष समस्त तीर्थंकरों को नमस्कार करके संक्षेप में टिप्पण लिखने की प्रतिज्ञा करते हैं। इसके बाद व्याख्याकार ने हरिभद्रीय आवश्यकवृत्ति के कुछ कठिन स्थलों का सरल शैली में व्याख्यान करते हुए अन्त में व्याख्यागत दोषों की संशुद्धि के लिए मुनिजनों से प्रार्थना की है।⁹³

आवश्यकवृत्ति-प्रदेशव्याख्या का प्रकाशन ई. 1920 में देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार संस्था, बम्बई द्वारा हुआ है।

91. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग 3, पृ. 406-407

92. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग 3, पृ. 387

93. वही, भाग 3, पृ. 411-412

आवश्यकनिर्युक्ति-दीपिका

माणिक्यशेखरसूरि द्वारा रचित दीपिका आवश्यकनिर्युक्ति का शब्दार्थ एवं भावार्थ समझने के लिए बहुत उपयोगी है। इसमें निर्युक्ति-गाथाओं का अति सरल एवं संक्षिप्त शब्दार्थ तथा भावार्थ दिया गया है। कथानकों का सार भी बहुत ही संक्षेप में समझा दिया गया है। प्रारंभ में दीपिकाकार ने वीर जिनेश्वर और अपने गुरु मेरुतुंगसूरि को नमस्कार किया है एवं आवश्यकनिर्युक्ति की दीपिका लिखने का संकल्प किया है। यह दीपिका दुर्गपदार्थ तक ही सीमित है, इसे दीपिकाकार ने प्रारंभ में ही स्वीकार किया है। मंगलाचरण के रूप में नंदीसूत्र की पचास गाथाएं हैं जो कि दीपिकाकार के कथनानुसार देवर्द्धिगणि द्वारा रचित हैं। दीपिका के अन्त में ग्रंथकार ने अपना परिचय देते हुए अपने को अंचलगच्छीय महेन्द्रप्रभसूरि के शिष्य मेरुतुंगसूरि का शिष्य बताया है। आप विक्रम की 15वीं शती में विद्यमान थे।⁹⁴

अन्य अनेक विज्ञों ने भी आवश्यक सूत्र पर वृत्तियाँ लिखी हैं। संक्षेप में उनका विवरण इस प्रकार है - जिनभट्ट, माणिक्यशेखर, कुलप्रभ, राजवल्लभ आदि ने आवश्यकसूत्र पर वृत्तियों का निर्माण किया है। इनके अतिरिक्त विक्रम संवत् 1122 में नमि साधु ने, संवत् 1222 में श्री चन्द्रसूरि ने, संवत् 1440 में श्री ज्ञानसागर ने, संवत् 1500 में धीरसुन्दर ने, संवत् 1540 में शुभवर्द्धनगिरि ने, संवत् 1697 में हितरुचि ने तथा सन् 1958 में पूज्य श्री घासीलालजी महाराज ने भी आवश्यकसूत्र पर वृत्ति का निर्माण कर अपनी प्रतिभा का परिचय दिया है।

आवश्यकनिर्युक्ति-दीपिका का प्रकाशन ई. 1936-1941 में विजयदान सूरिश्चर जैन ग्रन्थमाला सूरत द्वारा किया गया है।

5. टब्बे

टीका युग समाप्त होने के पश्चात् जनसाधारण के लिए आगमों के शब्दार्थ करने वाली संक्षिप्त व्याख्या बनाई गई, जो स्तबक या टब्बा के नाम से विस्तृत है और वे लोकभाषाओं में सरल और सुबोध शैली में लिखे गए। इन व्याख्याओं का प्रयोजन किसी विषय की गहनता में न उतर कर साधारण पाठकों को केवल मूल सूत्रों के अर्थ का बोध कराना था। इसके लिए आवश्यक था कि इस प्रकार की व्याख्याएं साहित्यिक भाषा अर्थात् संस्कृत में न लिखकर लोकभाषाओं में लिखी जाएं अतः तत्कालीन अपभ्रंश अर्थात् प्राचीन गुजराती भाषा में बालावबोधों की रचना हुई।

धर्मसिंह मुनि ने 18वीं शताब्दी में भगवती, जीवाभिगम, प्रज्ञापना, चन्द्रप्रज्ञप्ति और सूर्यप्रज्ञप्ति को छोड़ कर शेष 27 आगमों पर बालावबोध टब्बे लिखे थे। उनके टब्बे मूलस्पर्शी अर्थ को स्पष्ट करने वाले हैं। उन्होंने आवश्यक पर भी टब्बा लिखा था।

6. अनुवाद युग

टब्बों के पश्चात् अनुवाद युग की शुरुआत हुई। मुख्य रूप से आगम-साहित्य का अनुवाद तीन भाषाओं में उपलब्ध है - अंग्रेजी, गुजराती और हिन्दी। आवश्यक सूत्र का अंग्रेजी में अनुवाद हो रहा है, गुजराती और हिन्दी में उपलब्ध हैं। शोध प्रधान युग में आवश्यक सूत्र पर पंडित सुखलालजी संघवी तथा उपाध्याय अमरमुनिजी आदि विद्वानों ने विषय का विश्लेषण करने के लिये हिन्दी में शोध निबन्ध भी प्रकाशित किये हैं।⁹⁵ आवश्यकसूत्र पर उपाध्याय अमरमुनिकृत आवश्यक-विवेचन (श्रमण-सूत्र) सन्मति ज्ञानपीठ, लोहामण्डी आगरा हिन्दी पाठकों के लिए विशेष उपयोगी है।

94. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग 3, पृ. 422-424

95. आवश्यकसूत्र प्रस्तावना पृ० 63

इसके अलावा आवश्यक सूत्र (गुजराती अनुवाद सहित) भीमसी माणेक, बम्बई द्वारा 1906 ई. में, आचार्य घासीलालजी द्वारा संस्कृत, हिन्दी और गुजराती व्याख्या सहित ई. 1958 में जैन शास्त्रोद्धार समिति, राजकोट से, आचार्य अमोलकऋषि जी कृत हिन्दी अनुवाद सहित आवश्यक सूत्र वी. सं. 2446 में, महासती सुप्रभा 'सुधा जी' कृत हिन्दी अनुवाद सहित ई. 1985 में आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर द्वारा तथा श्री अखिल भारतीय सुधर्म जैन संस्कृति रक्षक संघ, ब्यावर द्वारा आवश्यक सूत्र का हिन्दी अनुवाद प्रकाशित हुआ है।

जिनभद्रगणि एवं उनका विशेषावश्यकभाष्य

आवश्यक सूत्र के छह अध्ययनों में से सामायिक नामक प्रथम अध्ययन का वर्णन करते हुए विस्तृत रूप से श्रीमद् जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने विशेषावश्यकभाष्य लिखा है। इस भाष्य में प्राकृत भाषा की 3603 गाथाएं हैं। यह ग्रंथ शक संवत् 531 में लिखा गया है। विशेषावश्यकभाष्य के प्रणेता आचार्य जिनभद्रगणि अपनी महत्त्वपूर्ण कृतियों के कारण जैन साहित्य के इतिहास में एक विशिष्ट स्थान रखते हैं। आपका उत्तर काल विक्रम संवत् 650 के आसपास का है।

जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण के विशेषावश्यकभाष्य की रचना ऐसी शैली में हुई है कि उसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि दार्शनिक जगत् के अखाड़े में सर्वप्रथम जैन प्रतिमल्ल का स्थान यदि किसी को दिया जाए तो वह आचार्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण को ही दिया जा सकता है। उनकी विशेषता यह है कि उन्होंने दर्शन के सामान्य तत्त्वों के विषय में ही तर्कवाद का अवलम्बन नहीं लिया, किन्तु जैन दर्शन की प्रमाण एवं प्रमेय सम्बंधी छोटी-बड़ी महत्त्वशाली सभी बातों के सम्बन्ध में तर्कवाद का प्रयोग कर दार्शनिक जगत् में जैन दर्शन को एक सर्वतन्त्र स्वतन्त्र रूप से ही नहीं, प्रत्युत सर्वतन्त्र समन्वय रूप में भी उपस्थापित किया है। उनकी युक्तियाँ और तर्क शैली इतनी अधिक व्यवस्थित हैं कि आठवीं शताब्दी में होने वाले महान् दार्शनिक हरिभद्र तथा बारहवीं शताब्दी में होने वाले आगमों के समर्थ टीकाकार मलयगिरि भी ज्ञान-चर्चा में आचार्य जिनभद्र क्षमाश्रमण की ही युक्तियों का आश्रय लेते हैं। इतना ही नहीं, अपितु अठारहवीं शताब्दी में होने वाले नव्यन्याय के असाधारण विद्वान् उपाध्याय यशोविजयजी भी अपने 'जैनतर्क भाषा, अनेकांत व्यवस्था, ज्ञानबिन्दु' आदि ग्रन्थों में उनकी दलीलों को केवल नवीन भाषा में उपस्थित कर सन्तोष मानते हैं, उन ग्रंथों में अपनी ओर से नवीन वृद्धि शायद ही की गई है। इनसे स्पष्ट है कि सातवीं शताब्दी में आचार्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने सम्पूर्ण-रूपेण प्रतिमल्ल का कार्य सम्पन्न किया था।

जिनभद्रगणिक्षमाश्रमण का जीवन और व्यक्तित्व

आचार्य जिनभद्र कब हुए और किनके शिष्य थे, इस संबंध में परस्पर विरोधी उल्लेख मिलते हैं और वे भी 15 वीं या 16 वीं शताब्दी में लिखी गई पट्टावलियों में हैं। अतः हम यह मान सकते हैं कि उन्हें सम्यक् प्रकारेण पट्ट-परम्परा में संभवतः स्थान नहीं मिला, परन्तु उनके साहित्य का महत्त्व समझकर तथा जैन साहित्य में सर्वत्र उनके ग्रन्थों के आधार पर लिखे गए विवरण देखकर उत्तरकालीन आचार्यों ने उन्हें महत्त्व प्रदान किया है।

ईसा की प्रथम शताब्दी के लगभग मथुरा में तथा पाँचवीं शताब्दी के लगभग वल्लभी नगरी में जैन धर्म का प्राबल्य दिखाई देता है। जैन दृष्टि से वल्लभी नगरी का महत्त्व उसके नष्ट होने तक रहा है और उसके नष्ट होने के बाद वल्लभी नगरी के निकटवर्ती पालीताणा आदि नगर जैन धर्म के इतिहास की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण केन्द्र रहे हैं।

आचार्य जिनभद्र-कृत विशेषावश्यक भाष्य की प्रति शक संवत् 531 (सन् 609 ई.) में लिखी गई और वल्लभी के किसी जैन मंदिर को समर्पित की गई। इससे ज्ञात होता है कि वल्लभी नगरी से आचार्य जिनभद्र का कोई संबंध होना चाहिये। इससे हम अनुमान मात्र कर सकते हैं कि वल्लभी और उसके आसपास उनका विचरण हुआ होगा।

डॉ. उमाकांत प्रेमानन्द शाह ने जैन सत्यप्रकाश के अंक 196 में अकोटा (अंकोट्टक) गांव में प्राप्त प्राचीन जैन मूर्ति में से दो मूर्तियों का परिचय देते हुए कहा है कि कला तथा लिपि के आधार पर ये मूर्तियाँ ई० सन् 550 से 600 के काल की होनी चाहिए। मूर्तियों पर जिन आचार्य जिनभद्र का नाम अंकित है, वे जिनभद्र विशेषावश्यक भाष्य के कर्ता जिनभद्रगणिक्षमाश्रमण ही हैं। उन मूर्तियों में से एक मूर्ति के पद्मासन के पृष्ठ भाग में ‘ॐ देवधर्मोयं निवृत्तिकुले जिनभद्रवाचनाचार्यस्य’ और दूसरी मूर्ति के भा-मण्डल में ‘ॐ निवृत्तिकुले जिनभद्रवाचनाचार्यस्स’ अंकित है। इसी बात का समर्थन बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के प्राचीन लिपि विशारद प्रो० अवधकिशोर ने भी किया है, अतः इसमें शंका का अवकाश नहीं है।

उपर्युक्त वर्णन से तीन निष्कर्ष निकलते हैं - 1. आचार्य जिनभद्र ने इन मूर्तियों को प्रतिष्ठित किया होगा, 2. उनके कुल का नाम निवृत्ति कुल था और 3. वे वाचनाचार्य कहलाते थे।

आचार्य निवृत्ति कुल के थे, ऐसा प्रमाण उपर्युक्त लेख के अलावा अन्यत्र उपलब्ध नहीं होता है। भगवान् महावीर के 17 वें पट्ट पर आचार्य वज्रसेन हुए थे। उन्होंने सोपारक नगर के सेठ जिनदत्त और सेठानी ईश्वरी के चार पुत्रों को दीक्षा दी थी। उनके नाम थे - नागेन्द्र, चन्द्र, निवृत्ति और विद्याधर। भविष्य में इन चारों के नाम से भिन्न-भिन्न चार परम्पराएं चलीं और वे नागेन्द्र, चन्द्र, निवृत्ति और विद्याधर कुल के नाम से प्रसिद्ध हुईं।⁹⁶ उक्त मूर्ति-लेख के आधार पर यह सिद्ध होता है कि आचार्य जिनभद्र निवृत्ति कुल में हुए। ‘चउप्पन-महापुरिस-चरियं’ नामक प्राकृत-ग्रंथ के लेखक शीलाचार्य, ‘उपमिति-भवप्रपंचकथा’ के लेखक सिद्धर्षि, नवांगवृत्ति के संशोधक द्रोणाचार्य जैसे प्रसिद्ध आचार्य भी इस निवृत्ति कुल में हुए हैं, अतः इस बात में संदेह नहीं कि यह कुल विद्वानों की खान था।⁹⁷ इस बात को छोड़ कर उनके जीवन से संबंधित कोई वर्णन प्राप्त नहीं होता, मात्र इनके गुणों का वर्णन प्राप्त होता है, इनके गुणों का व्यवस्थित वर्णन उनके द्वारा रचित जीतकल्प-सूत्र के टीकाकार ने किया।⁹⁸

शंका - जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण पूर्वधर नहीं थे तो इन्हें क्षमाश्रमण की उपाधि क्यों दी गई थी? **समाधान** - क्षमाश्रमण की उपाधि पूर्वधरों के ही लगती थी ऐसी बात नहीं है। पूर्वों के ज्ञान के बिना भी गुरुभगवन्तों के लिए ‘क्षमाश्रमण’ शब्द का प्रयोग होता है, जैसे आवश्यकसूत्र के पाठ ‘इच्छामि खमासमणो’ में गुरु भगवन्तों के लिए क्षमाश्रमण शब्द का प्रयोग हुआ है। अतः जिनभद्रगणि के लिए क्षमाश्रमण पद का उस समय की परम्परा के अनुरूप प्रयोग होना अनुचित नहीं है। इस सम्बन्ध में पं० दलसुखभाई मालवणिया का अभिमत है कि “प्रारम्भ में ‘वाचक’ शब्द शास्त्र विशारद के लिए प्रचलित था, परन्तु जब वाचकों में क्षमाश्रमणों की संख्या बढ़ती गई तब ‘क्षमाश्रमण’ शब्द भी वाचक के पर्याय के रूप में विश्रुत हो गया। अथवा ‘क्षमाश्रमण’ शब्द आवश्यक सूत्र में सामान्य गुरु के अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है, अतः संभव है कि शिष्य विद्यागुरु को ‘क्षमाश्रमण’ के नाम से भी सम्बोधित करते रहे हों, अतः क्षमाश्रमण और वाचक ये पर्यायवाची बन

96. खरतर गच्छ की पट्टावली, देखें-जैन गुर्जर कविओं भाग 2, पृष्ठ 669 (उदधृत-गणधरवाद, प्रस्तावना, पृ. 31)

97. गणधरवाद प्रस्तावना पृ. 31-32

98. जीतकल्प सूत्र की प्रस्तावना पृ. 7

गये। जैन समाज में जब वादियों की प्रतिष्ठा स्थापित हुई तब शास्त्र विशारदता के कारण वाचकों को 'वादी' कहा होगा और कालान्तर में वादी वाचक का ही पर्यायवाची बन गया। आचार्य सिद्धसेन को शास्त्र विशारद होने के कारण दिवाकर की पदवी दी गई, अतः वाचक का पर्यायवाची दिवाकर भी है। आचार्य जिनभद्र का युग क्षमाश्रमणों का युग था, अतः उनके पश्चात् के लेखकों के लिए वाचनाचार्य के स्थान पर क्षमाश्रमण शब्द का प्रयोग किया गया है।⁹⁹

आचार्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण आगमिक परम्परा के समर्थक थे। आपकी समग्र रचनाएं तथा रचना की प्रत्येक पंक्ति आगम आम्नाय की परिपोषक है। आपने आगम पर दर्शन को प्रतिष्ठित किया। आपकी चिन्तन विधा मौलिक थी। आपने प्रत्येक प्रमेय के साथ अनेकान्त और नय को घटित किया है। परोक्ष की श्रेणी में आये हुए इन्द्रिय प्रत्यक्ष को संव्यवहार प्रत्यक्ष की संज्ञा सर्वप्रथम आपने ही दी है।

जिनभद्रगणि का काल

आचार्य हरिभद्र आदि के उल्लेखों से ज्ञात होता है कि आवश्यक निर्युक्ति की प्रथम टीका के रूप में किसी भाष्य की रचना हुई थी। अतः सम्भवतः आचार्य जिनभद्रगणि के भाष्य को अलग दर्शाने के लिए उसे मूल-भाष्य नाम दे दिया हो। लेकिन यह निश्चित है कि मूल-भाष्य के बाद जिनभद्रगणि ने आवश्यक निर्युक्ति के सामायिक नामक प्रथम अध्ययन के आधार पर पद्य रूप जो प्राकृत टीका लिखी वह विशेषावश्यकभाष्य के नाम से प्रसिद्ध हुई है। अतः आचार्य जिनभद्र का समय निर्युक्ति कर्ता भद्रबाहु और मूल भाष्य के कर्ता से पहले का नहीं हो सकता है। आचार्य भद्रबाहु वि० सं० 562 के लगभग विद्यमान थे, अतः विशेषावश्यकभाष्य का समय वि० सं० 600 से पहले सम्भव नहीं है।¹⁰⁰

मुनिश्री जिनविजयजी ने जैसलमेर की विशेषावश्यकभाष्य की प्रति के अन्त में लिखित दो गाथाओं के आधार पर जिनभद्रगणि के काल का निर्णय किया है। इनकी रचना वि० सं० 666 (शक संवत् 531) में हुई।¹⁰¹ मुनिश्री जम्बूविजयजी ने भी इसका समर्थन किया है।¹⁰² यदि मुनिश्री जिनविजयजी के अनुसार विशेषावश्यकभाष्य की प्रति शक संवत् 531 (वि. सं. 666) में लिखी गई, तो उसकी रचना का समय वि० 660 के बाद का तो हो ही नहीं सकता। साथ ही यह भी स्पष्ट है कि आचार्य जिनभद्रगणि की यह अन्तिम रचना थी एवं इसकी टीका भी उनके स्वर्गवास के कारण अधूरी रह गई थी, अतः जिनभद्रगणि का समय वि० सं. 650 के पश्चात् का नहीं हो सकता है।

पं. दलसुखभाई मालवणिया मुनि जिनविजयजी के कथन से सहमत नहीं हैं। उनका अभिमत है कि विशेषावश्यकभाष्य की प्रति के अंत में लिखित दो गाथाओं में रचना विषयक किसी भी प्रकार का उल्लेख नहीं हुआ है। खण्डित अक्षरों को यदि हम किसी मन्दिर विशेष का नाम मान लें तो इन गाथाओं में कोई क्रियापद नहीं रहता। ऐसी स्थिति में इसकी रचना शक सं. 531 में हुई, यह निश्चयपूर्वक नहीं कह सकते। अधिक संभव तो यही लगता है कि उस समय यह प्रति लिखकर मन्दिर को समर्पित की गई हो। चूंकि ये गाथाएं केवल जैसलमेर की प्रति में ही हैं, अन्य किसी प्राचीन प्रतियों में नहीं हैं। यदि ये गाथाएं मूलभाष्य की ही होती, तो सभी में होनी चाहिए थी। दूसरी बात यह है कि ये गाथाएं रचनाकाल सूचक हैं ऐसा माना जाये तो यह भी मानना होगा कि गाथाओं की रचना जिनभद्रगणि ने की, तो इन गाथाओं की टीकाएं भी मिलनी चाहिए। कोट्याचार्य और मलधारी हेमचन्द्र की विशेषावश्यक की

99. गणधरवाद, प्रस्तावना, पृ. 31

101. गणधरवाद प्रस्तावना पृ. 33

100. गणधरवाद, प्रस्तावना, पृ. 32

102. द्वादशारं नयचक्रम्, प्रस्तावना पृ. 74

टीकाओं में इन गाथाओं पर टीकाएं नहीं हैं और न उन टीका ग्रन्थों में ये गाथाएं ही हैं। अतः इन गाथाओं में जो समय निर्दिष्ट किया गया है, वह रचना का नहीं किन्तु प्रति के लेखन का है।¹⁰³

दूसरी धारणा के अनुसार आचार्य जिनभद्रगणि वीर निर्वाण 1115 में युगप्रधान बने। इसका उल्लेख धर्मसागरीय पट्टावली में है। इस युगप्रधान काल को 60 या 65 वर्ष का गिनने से उनका स्वर्गवास विक्रम 705-710 में निश्चित होता है, किन्तु इसके साथ उक्त प्रति के उल्लेख का मेल नहीं बैठता, क्योंकि वह वि० 666 में लिखी गई थी। अतः इसका निर्माण उससे पहले ही पूर्ण हो चुका था। अन्तिम कृति होने के कारण उसके निर्माण और आचार्य की मृत्यु के समय 10 या 15 वर्ष से अधिक के अन्तर की कल्पना भी नहीं की जा सकती। यदि कल्पना करें कि, यह उल्लेख ग्रन्थ के निर्माण का सूचक है तो ऐसी दशा में इस ग्रन्थ की रचना के चालीस वर्ष बाद उनकी मृत्यु माननी पड़ेगी, किन्तु कोट्याचार्य का उल्लेख इसमें स्पष्ट रूप से बाधक है।

अतः उपर्युक्त तथ्यों से जिनभद्र का स्वर्गवास अधिक से अधिक वि० सं. 650 में हुआ, यह मानना अधिक ठीक लगता है। जनश्रुति के अनुसार आचार्य जिनभद्र की आयु 104 वर्ष की थी। उसके अनुसार उनका समय वि. सं. 545 से 650 तक माना जा सकता है, जब तक इसके विरुद्ध प्रमाण न मिले, तब तक हम आचार्य जिनभद्र के इस समय को प्रामाणिक मान सकते हैं।¹⁰⁴ मालवगिया जी का यह मत अधिक उचित प्रतीत होता है।

आचार्य जिनभद्रगणि के ग्रंथ - जिनभद्रगणि ने नौ ग्रंथों की रचना की है, यथा

1. विशेषावश्यकभाष्य (प्राकृत पद्य), 2. विशेषावश्यकभाष्य स्वोपज्ञवृत्ति (संस्कृत गद्य), 3. बृहत् संग्रहणी (प्राकृत पद्य) 4. बृहत् क्षेत्रसमास (प्राकृत पद्य) 5. विशेषणवती (प्राकृत पद्य) 6. जीतकल्प सूत्र (प्राकृत पद्य) 7. जीतकल्पसूत्र भाष्य (प्राकृत पद्य) 8. ध्यानशतक और 9. अनुयोगचूर्णि (प्राकृत गद्य)।¹⁰⁵ ध्यान शतक के कर्तृत्व के विषय में विद्वानों को अभी संशय है।

विशेषावश्यकभाष्य का प्रतिपाद्य विषय

विशेषावश्यक भाष्य एक ऐसा ग्रंथ है जिसमें जैन आगमों में प्रतिपादित सभी महत्त्वपूर्ण विषयों का वर्णन किया गया है। इस भाष्य की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि इसमें जैन धर्म की मान्यताओं का वर्णन मात्र जैन दर्शन की दृष्टि से न करते हुए अन्य दर्शनों के साथ तुलना, खण्डन और समर्थन आदि करते हुए किया गया है। अतः दार्शनिक दृष्टि कोण से भी यह ग्रंथ महत्त्वपूर्ण है। इसमें कोई संदेह नहीं है कि जैनागमों का रहस्य जानने के लिए विशेषावश्यकभाष्य एक उपयोगी ग्रंथ है। इसमें अग्र लिखित विषयों का समावेश किया गया है - मंगल का स्वरूप, ज्ञानपंचक, निरुक्त, निक्षेप, अनुगम, नयवाद, सामायिक की प्राप्ति, सामायिक के बाधक कारण, चारित्र लाभ, प्रवचन, सूत्र अनुयोग का पृथक्करण, आचार नीति, कर्म सिद्धांत, स्याद्वाद, ग्रंथि भेद, देश विरति, सर्वविरति सामायिक आदि पांच चारित्र, शिष्य की योग्यता-अयोग्यता, गणधरवाद, निहव अधिकार, सामायिक के विविध द्वार, दिगम्बरवाद, नमस्कार सूत्र की उत्पत्ति, करेमि भंते आदि पदों की व्याख्या। विस्तार से विषय वस्तु इस प्रकार है -

1. सर्वप्रथम आचार्य ने प्रवचन को नमस्कार किया है। आवश्यकानुयोग का फल, योग, मंगल, समुदायार्थ, द्वारोपन्यास, तद्भेद, निरुक्त, क्रमप्रयोजन आदि दृष्टि से विचार किया गया है।

(गाथा 1 से 2 तक)

103. गणधरवाद, प्रस्तावना, पृ. 33

104. गणधरवाद, प्रस्तावना पृ. 34

105. जैन धर्म के प्रभावक आचार्य, पृ. 225

2. **फल द्वार** – ज्ञान और क्रिया से मोक्ष होता है, अतः आवश्यक अनुयोग का अंतिम फल मोक्ष बताया है। (गाथा 3)

3. **योगद्वार** – जिस प्रकार कुशल वैद्य बालक के लिए उचित आहार की सम्मति देता है, उसी प्रकार मोक्ष के इच्छुक भव्य जीव के लिए आवश्यक का आचरण उपयुक्त है। आचार्य शिष्य को सर्वप्रथम सामायिक देता है उसके बाद शेष श्रुत का ज्ञान देता है। गुरु किस प्रकार शिष्य को श्रुत ज्ञान देता है उसका क्रम इस प्रकार दिया है – प्रव्रज्या, शिक्षापद, अर्थ ग्रहण, अनियतवास, निष्पत्ति, विहार सामाचारी स्थिति आदि। (गाथा 4 से 10 तक)

4. **मंगल द्वार** – मंगल का स्वरूप, उसके भेद, मंगल की आवश्यकता आदि का कथन करते हुए उसे निक्षेप आदि के माध्यम से समझाया गया है। मंगल तीन प्रकार का होता है – १ शास्त्र के आदि में शास्त्र की अविघ्नपूर्वक समाप्ति के लिए, २ शास्त्र के मध्य में शास्त्र की स्थिरता के लिए, ३ शास्त्र के अन्त में शिष्य-प्रशिष्यादि वंशपर्यन्त शास्त्र को स्थिर करने के लिए। मंगल का शब्दार्थ इस प्रकार है – ‘मङ्ग्यतेऽधिगम्यते येन हितं तेन मङ्गलं भवति’ अर्थात् जिससे हित की सिद्धि होती है, वह मंगल है, इसी प्रकार मंगल के और भी अर्थ किये हैं। नाम आदि चार निक्षेप से भावमंगल के स्वरूप का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। द्रव्य मंगल का वर्णन करते हुए नयों के स्वरूप आदि का वर्णन किया गया है। भाष्यकार ने नंदी को भी मंगल माना है, उसके भी मंगल की तरह चार प्रकार हैं। उनमें से भावनंदी पंचज्ञानरूप है। (गाथा 11 से 79 तक)

मंगल द्वार के अन्तर्गत ही **ज्ञानपंचक** में पांचों ज्ञानों का स्वरूप, क्षेत्र, स्वामी, विषय, ज्ञान का क्रम, भेद-प्रभेद आदि का विस्तृत विवेचन किया गया है। मति आदि पांच ज्ञानों में से मति और श्रुत परोक्ष एवं शेष तीन प्रत्यक्ष ज्ञान हैं। जो ज्ञान द्रव्येन्द्रिय और द्रव्यमन से उत्पन्न होता है वह परोक्ष ज्ञान कहलाता है। इसकी सिद्धि के लिए अनेक हेतु दिये हैं। जो ज्ञान सीधा जीव (आत्मा) से उत्पन्न होता है वह प्रत्यक्ष ज्ञान कहलाता है। इस प्रसंग पर वैशेषिकादि सम्मत इन्द्रियोत्पन्न प्रत्यक्ष का भी खण्डन किया गया है। (गाथा 80 से 836 तक)

१-२. मतिज्ञान और श्रुतज्ञान के लक्षण, भेद की चर्चा करते हुए आचार्य कहते हैं कि जो विज्ञान इन्द्रिय मनोनिमित्तक तथा श्रुतानुसारी है, वह भाव श्रुत है, शेष मति है। श्रुतज्ञान मतिपूर्वक ही होता है, लेकिन मति श्रुतपूर्वक नहीं होता इसकी विस्तृत चर्चा की गई है। द्रव्यश्रुत और भावश्रुत में संबंध, मति-श्रुत के विषय इत्यादि का वर्णन किया गया है। मति और श्रुत के भेद को और स्पष्ट करने के लिए वल्क और शुम्ब के उदाहरण की युक्तियुक्त परीक्षा करते हुए भाष्यकार ने यह सिद्ध किया है कि मति वल्क के समान है और भावश्रुत शुम्ब के समान है।

मतिज्ञान का विशेष वर्णन करते हुए इसके मुख्य दो भेद किए गये हैं – श्रुतनिश्चित और अश्रुतनिश्चित। इन दोनों में से श्रुतनिश्चित के चार भेदों अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा के स्वरूप एवं प्रभेदों पर मतान्तर सहित प्रकाश डाला गया है। श्रुतनिश्चित के कुल 336 और अश्रुतनिश्चित के औत्पातिकी आदि चार बुद्धियाँ, इस प्रकार विभिन्न प्रकार से मतिज्ञान के भेदों को बताया गया है। संशय ज्ञान है या अज्ञान, इसकी चर्चा करते हुए सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि की विशेषताओं पर प्रकाश डाला गया है। अवग्रहादि की काल मर्यादा बताते हुए भाष्यकार ने इन्द्रियों की प्राप्यकारिता और अप्राप्यकारिता के समीप, दूरी, काल इत्यादि से

सम्बन्ध रखने वाले बिन्दुओं का वर्णन किया है। इस प्रसंग पर भाषा, शरीर, समुद्घात आदि विषयों का विस्तृत परिचय दिया है। मतिज्ञान ज्ञेयभेद से चार प्रकार (द्रव्यादि) का है। निर्युक्तिकार का अनुसरण करते हुए आगे की कुछ गाथाओं में आभिनिबोधक ज्ञान का सत्पदप्ररूपणा, द्रव्यप्रमाण, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाग, भाव और अल्पबहुत्व इन द्वारों से विचार किया गया है। व्यवहारवाद और निश्चयवाद का भी वर्णन हुआ है।

श्रुतज्ञान का विशेष वर्णन करते हुए अक्षर, संज्ञी, सम्यक्, सादिक, सपर्यवसित, गमिक और अंगप्रविष्ट ये सात और इनके प्रतिपक्षी सात इन चौदह भेदों का वर्णन करते हुए औपशमिक आदि पांच समकित का संक्षिप्त परिचय भी दिया गया है। उपयोगयुक्त श्रुतज्ञानी सब द्रव्यों को जानता है, किन्तु उनमें से अपने अचक्षुदर्शन से कुछ को ही देखता है। ऐसा क्यों? इसका भी उत्तर भाष्यकार ने दिया है। ज्ञान ग्रहण के आठ गुण हैं, वे इस प्रकार हैं - शुश्रूषा, प्रतिपृच्छा, श्रवण, ग्रहण, पर्यालोचन, अपोहन (निश्चय), धारण और सम्यक् अनुष्ठान। भाष्यकार ने निर्युक्तिसम्मत इन आठ प्रकार के गुणों का संक्षिप्त विवेचन किया है।

(गाथा 80 से 567 तक)

३. अवधिज्ञान का विस्तृत वर्णन करते हुए भाष्यकार ने निर्युक्ति की गाथाओं का बहुत विस्तार से व्याख्यान किया है। भवप्रत्यय और गुणप्रत्यय भेदों का वर्णन चौदह प्रकार के निक्षेपों के माध्यम से किया गया है।

(गाथा 568 से 808 तक)

४. मनःपर्यवज्ञान से मनुष्य के मानसिक परिचिंतन का प्रत्यक्ष होता है। यह ज्ञान मनुष्य क्षेत्र तक सीमित है, गुणप्रत्ययिक है और चारित्रशील को होता है। इस प्रकार मनःपर्यवज्ञान के भेद, विषय, स्वामी इत्यादि का वर्णन किया गया है, अवधिज्ञान से मनःपर्यवज्ञान की विशेषताएं बताई हैं।

(गाथा 810 से 822 तक)

५. केवलज्ञान सर्वद्रव्य तथा सर्वपर्यायों को ग्रहण करता है। वह अनन्त है, शाश्वत है, अप्रतिपाती है, एक ही प्रकार का है। यह ज्ञान सर्वावरणक्षय से उत्पन्न होने वाला है, अतः सर्वोत्कृष्ट है, सर्वविशुद्ध है, सर्वगत है। केवली किसी भी अर्थ का प्रतिपादन प्रत्यक्ष ज्ञान द्वारा ही करते हैं इत्यादि अनेक प्रकार से केवलज्ञान का वर्णन यहाँ सम्प्राप्त है।

(गाथा 823 से 836 तक)

इस प्रकार ज्ञान पंचक के वर्णन के साथ ही मंगल द्वार की समाप्ति होती है।

5. समुदायार्थ द्वार - पांच ज्ञानों में श्रुत ज्ञान ही मंगलार्थ (अनुयोग) है। क्योंकि यह ज्ञान ही स्व-पर बोधक है। अतः इसीका यहाँ अनुयोग है। अनुयोग का अर्थ है - सूत्र का अपने अभिधेय से अनुयोजन। प्रस्तुत शास्त्र का नाम आवश्यक श्रुतस्कंध है। इसके सामायिकादि जो छह भेद हैं, उन्हें अध्ययन कहते हैं। अतः 'आवश्यक', 'श्रुत', 'स्कंध', 'अध्ययन' आदि पदों का पृथक्-पृथक् अनुयोग करना चाहिए। 'आवश्यक' का नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव रूप चार प्रकार का निक्षेप होता है। द्रव्यावश्यक का आगम और नोआगम रूप से विस्तृत वर्णन किया गया है। अधिकाक्षर, हीनाक्षर इत्यादि को उदाहरण से समझाया है। आवश्यक के प्रभेदों का कथन किया गया है। आवश्यक के पर्याय, इसी प्रकार श्रुत स्कंध आदि का निक्षेप विधि से विस्तार पूर्वक वर्णन किया गया है। आवश्यक श्रुतस्कंध के छह अध्ययनों के अर्थाधिकार का वर्णन भी उपलब्ध है।

(गाथा 837 से 902 तक)

6. द्वारोपन्यास और भेद द्वार — सामायिक का लक्षण समभाव है। जिस प्रकार व्योम सब द्रव्यों का आधार है उसी प्रकार सामायिक सभी गुणों का आधार है। शेष अध्ययन एक तरह से सामायिक के ही भेद हैं। क्योंकि सामायिक दर्शन, ज्ञान और चारित्ररूप तीन प्रकार की है और कोई गुण ऐसा नहीं है जो इन तीन प्रकारों से अधिक हो। सामायिक अनुयोग का उपक्रम, निक्षेप, अनुगम और नय से कथन किया गया है। (गाथा 905 से 910 तक)

7. निरुक्त द्वार — उपक्रमण अर्थात् समीपीकरण (न्यासदेशानयन) उपक्रम है। निक्षेप का अर्थ है निश्चित क्षेप अर्थात् न्यास अथवा नियत व्यवस्थापन। अनुगम का अर्थ है सूत्रानुरूप गमन (व्याख्यान) अथवा अर्थानुरूप गमन। (गाथा 911 से 914 तक)

8. उपक्रम प्रयोजन — उपक्रम, निक्षेप, अनुगम तथा नय के क्रम को सिद्ध किया गया है तथा आनुपूर्वी, नाम, प्रमाण, वक्तव्यता, अर्थाधिकार और समवतार नामक छह भेदों का विस्तृत वर्णन है। (गाथा 915 से 956 तक)

9. निक्षेप — निक्षेप के तीन भेद ओघनिष्पन्न, नामनिष्पन्न तथा सूत्रालापकनिष्पन्न है। श्रुत के अंग, अध्ययन आदि सामान्य नाम ओघ, शुभ अध्यात्म का नाम अध्ययन है। 'करेमि भंते' आदि पदों का न्यास ही सूत्रालापकनिक्षेप है। इन तीनों का वर्णन किया गया है। (गाथा 957 से 970 तक)

10. अनुगम — अनुगम के दो प्रकार हैं - निर्युक्त्यनुगम तथा सूत्रानुगम। इनके प्रभेदों का कथन किया गया है। (गाथा 971 से 1007 तक)

11. नय — किसी भी सूत्र की व्याख्या करते समय सब प्रकार के नयों की परिशुद्धि का विचार करते हुए निरवशेष अर्थ का प्रतिपादन किया जाता है। यही नय है। इस प्रकार चार प्रकार के अनुयोग का कथन पूर्ण हुआ है। (गाथा 1008 से 1011 तक)

12. उपोद्घात-विस्तार — मध्य मंगल - मंगलोपचार करके भाष्यकार कहते हैं कि मैं ग्रंथ का विस्तारपूर्वक उपोद्घात करूंगा। जिससे तिरा जाता है अथवा जो तिरा देता है अथवा जिसमें तिरा जाता है उसे तीर्थ कहते हैं। नाम आदि से वह चार प्रकार का होता है। नदी आदि द्रव्य तीर्थ है। जो श्रुतविहित संघ है वही भावतीर्थ है, उसमें रहने वाला साधु तारक है। ज्ञानादि त्रिक तरण है तथा भवसमुद्र तरणीय है। जो भावतीर्थ की स्थापना करते हैं अर्थात् उसे गुणरूप से प्रकाशित करते हैं उन्हें तीर्थकर हितार्थकर कहते हैं। तीर्थकरों के पराक्रम, ज्ञान, गति आदि विषयों पर भी प्रकाश डाला गया है। भगवान महावीर स्वामी व गणधरों को वंदन कर आवश्यक सूत्र की व्याख्या करते हुए सामायिक नामक प्रथम अध्ययन के विवेचन की प्रतिज्ञा कर निर्युक्ति का अर्थ बताया गया है।

(गाथा 1012 से 1125 तक)

13. ज्ञान-चारित्र — ज्ञान का सार चारित्र और चारित्र का प्रयोजन निर्वाण है। ज्ञान से वस्तु की यथार्थता-अयथार्थता का प्रकाशन होता है और इससे चारित्र की विशुद्धि होती है, अतः ज्ञान चारित्र विशुद्धि के प्रति प्रत्यक्ष कारण है। इस प्रकार ज्ञान और चारित्र दोनों मोक्ष के प्रति कारण हैं।

(गाथा 1126 से 1182 तक)

14. सामायिक लाभ — सामायिक की प्राप्ति, ज्ञानावरण आदि आठों कर्म प्रकृतियों की जघन्य एवं उत्कृष्ट स्थिति आदि का निरूपण इस प्रकरण में हुआ है। इसके बाद देशविरति, सर्वविरति, उपशमश्रेणि और क्षपकश्रेणि की प्राप्ति किस प्रकार होती है, इसका वर्णन किया गया है।

(गाथा 1186 से 1222 तक)

15. सामायिक के बाधक कारण — कषाय आदि के उदय से सम्यक्त्व आदि सामायिक की प्राप्ति नहीं होती। यदि प्राप्त हो गई तो पुनः चली जाती है। कषाय के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहा है कि जिसके कारण प्राणी परस्पर हिंसा करते हैं, उसे कषाय कहते हैं अथवा जिसके कारण प्राणी शारीरिक एवं मानसिक दुःखों से पीड़ित होते रहते हैं, उसे कषाय कहते हैं अथवा जिससे कष अर्थात् कर्म का आय अर्थात् लाभ होता है, उसे कषाय कहते हैं अथवा जिससे प्राणी कष अर्थात् कर्म को प्राप्त होते हैं, उसे कषाय कहते हैं अथवा जो कष का आय अर्थात् उपादान (हेतु) है वह कषाय है। कषाय की मंदता और उत्कृष्टता किस प्रकार चारित्र का घात करती है। इसका वर्णन भी यहाँ हुआ है। (गाथा 1224 से 1256 तक)

16. चारित्र प्राप्ति — अनन्तानुबंधी आदि बारह कषाय के क्षय, क्षयोपशम आदि से चारित्र का लाभ होता है। चारित्र के पांच भेद — सामायिक, छेदोपस्थापनीय, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसंपराय तथा यथाख्यातचारित्र। इनका विस्तृत वर्णन करते हुए उपशम श्रेणी-क्षपक श्रेणी के स्वरूप का वर्णन किया गया है। (गाथा 1254 से 1346 तक)

17. प्रवचन का सूत्र — केवलज्ञान की उत्पत्ति के प्रसंग को दृष्टि में रखते हुए जिन प्रवचन की उत्पत्ति, श्रुतधर्म आदि का वर्णन किया गया है। (गाथा 1347 से 1384 तक)

18. अनुयोग — अनुयोग, नियोग, भाषा, विभाषा, वार्तिक इन पांच एकार्थक शब्दों का स्वरूप कथन किया गया है। अनुयोग का सात प्रकार से निक्षेप होता है। अनुयोग के विपरीत अननुयोग का भी वर्णन किया गया है। व्याख्यान विधि की चर्चा करते हुए भाष्यकार ने विविध दृष्टांत देकर शिष्य-गुरु की योग्यता का मापदंड बताया है। अनेक प्रेरणास्पद दृष्टांत देकर गुरु-शिष्य के गुण-दोषों का सरस, सरल एवं सफल चित्रण किया गया है। (गाथा 1385 से 1482 तक)

19 सामायिक द्वार — उद्देश्य, निर्देश इत्यादि २६ द्वारों के माध्यम से सामायिक का वर्णन किया गया है। (गाथा 1483 से 2787 तक)

1. उद्देश्य — उद्देश्य का अर्थ सामान्य निर्देश अर्थात् सामायिक का सामान्य नाम क्या है? यह नाम, स्थापना आदि से आठ प्रकार का होता है। (गाथा 1483 से 1496 तक)

2. निर्देश — वस्तु का विशेष उल्लेख निर्देश है अर्थात् सामायिक के भेदों का उल्लेख करना। इसमें भी नामादि आठ भेद हैं और नय दृष्टि से सामायिक की त्रिलिंगता का विस्तार से वर्णन किया है। (गाथा 1497 से 1530 तक)

3. निर्गम — निर्गम का अर्थ प्रसूति (उत्पत्ति) है अर्थात् सामायिक की उत्पत्ति का मूलस्रोत क्या है? निर्गम, नाम आदि से यह छह प्रकार का होता है। इन छह भेदों का वर्णन करते हुए कहा है कि जिस द्रव्य सामायिक का निर्गम हुआ है वह द्रव्य यहाँ पर महावीर के रूप में है। क्षेत्र — महासेन वन है। काल — प्रथम पौरुषी प्रमाण और भाव — वक्ष्यमाण लक्षण पुरुष है। ये संक्षेप में सामायिक के निर्गमांग हैं।

सामायिक के निर्गम के साथ स्वयं महावीर के निर्गम की चर्चा करते हुए जिनभद्रगणि ने बीच में ही गणधवाद का कथन किया है। (गाथा 1531 से 1548 तक)

गणधरवाद — इसमें इन्द्रभूति आदि ग्यारह ब्राह्मण पण्डितों और भगवान् महावीर स्वामी के बीच विभिन्न विषयों पर हुई दार्शनिक चर्चा का विस्तार से वर्णन किया गया है, इसे गणधरवाद कहते हैं। इस चर्चा में दार्शनिक जगत् के प्रायः समस्त विषयों का समावेश हो

लिया गया है। दीक्षा से पूर्व सभी गणधर वैदिक विद्या के पंडित थे। इन्होंने दीक्षा से पूर्व भगवान् महावीर स्वामी से अपनी शंकाओं का समाधान प्राप्त कर भगवान् महावीर स्वामी की नेत्राय में संयम अंगीकार किया, इनकी शंकाएं इस प्रकार थीं – (गाथा 1549 से 2024 तक)

i. इन्द्रभूति – आत्मा का स्वतन्त्र अस्तित्व – आत्मा और शरीर में भेद, आत्मा की सिद्धि के हेतु, व्युत्पत्ति मूलक हेतु, जीव की अनेकता, जीव का स्वदेह परिमाण, जीव की नित्यानित्यता, जीव भूतधर्म नहीं इत्यादि प्रकार की अपनी शंकाओं का भगवान् महावीर से समाधान प्राप्त कर इन्द्रभूति अपने 500 शिष्यों के साथ दीक्षित हो गये। (गाथा 1559 से 1604 तक)

ii. अग्निभूति – कर्म की सत्ता – मूर्त कर्म और आत्मा का संबंध, ईश्वरकर्तृत्व का खंडन इत्यादि प्रकार की अपनी शंकाओं का भगवान् महावीर से समाधान प्राप्त कर अग्निभूति अपने 500 शिष्यों के साथ दीक्षित हो गये। (गाथा 1610 से 1644 तक)

iii. वायुभूति – आत्मा और देह का भेद, इन्द्रिय भिन्न आत्म-साधक अनुमान, आत्मा की नित्यता, आत्मा की अदृश्यता इत्यादि प्रकार की अपनी शंकाओं का भगवान् महावीर से समाधान प्राप्त कर वायुभूति अपने 500 शिष्यों के साथ दीक्षित हो गये।

(गाथा 1649 से 1686 तक)

vi. व्यक्तस्वामी – शून्यवाद का निरास, वायु और आकाश का अस्तित्व, भूतों की सजीवता, हिंसा-अहिंसा का विवेक इत्यादि प्रकार की अपनी शंकाओं का भगवान् महावीर से समाधान प्राप्त कर व्यक्त अपने 500 शिष्यों के साथ दीक्षित हो गये। (गाथा 1687 से 1769 तक)

v. सुधर्मा – इहलोक और परलोक की विचित्रता संबंधी अपनी शंका का समाधान होने पर सुधर्मा अपने 500 शिष्यों के साथ दीक्षित हो गये। (गाथा 1770 से 1801 तक)

vi. मंडिक – बंध और मोक्ष के स्वरूप संबंधी अपनी शंका का समाधान होने पर मंडिक अपने 350 शिष्यों के साथ दीक्षित हो गये। (गाथा 1802 से 1863 तक)

vii. मौर्यपुत्र – देवों के अस्तित्व संबंधी अपनी शंका का समाधान प्राप्त होने पर मौर्यपुत्र अपने 350 शिष्यों के साथ दीक्षित हो गये। (गाथा 1864 से 1884 तक)

viii. अकंपित – नारकों के अस्तित्व संबंधी अपनी शंका का समाधान होने पर अकंपित अपने 350 शिष्यों के साथ दीक्षित हो गये। (गाथा 1885 से 1904 तक)

ix. अचलभ्राता – पुण्य और पाप के स्वरूप संबंधी अपनी शंका का समाधान होने पर अचलभ्राता अपने 300 शिष्यों के साथ दीक्षित हो गये। (गाथा 1905 से 1948 तक)

x. मेलार्थ – परलोक के अस्तित्व संबंधी अपनी शंका का समाधान होने पर मेलार्थ अपने 300 शिष्यों के साथ दीक्षित हो गये। (गाथा 1949 से 1971 तक)

xi. प्रभास – निर्वाण की सिद्धि संबंधी अपनी शंका का समाधान प्राप्त होने पर प्रभास अपने 300 शिष्यों के साथ दीक्षित हो गये। (गाथा 1972 से 2024 तक)

गणधरों की उपर्युक्त शंकाओं का समाधान करते हुए भगवान् महावीर स्वामी ने जो हेतु-दृष्टांत दिए वे पठनीय हैं। इन हेतु और दृष्टांतों से अन्य दर्शनों की मान्यताओं का भी निराकरण हो जाता है।

४-५. क्षेत्र और काल – सामायिक की उत्पत्ति किस क्षेत्र और काल में हुई है, इसका उल्लेख है। भगवान् ने सर्वप्रथम महासेन वन में वैशाख सुदी 11 को पूर्वाह्न में सामायिक का निरूपण किया है। (गाथा 2083)

६. पुरुष - सामायिक के पुरुष (कर्त्ता) का कथन करते हुए द्रव्यपुरुष, अभिलापपुरुष, चिह्नपुरुष इत्यादि प्रकार के पुरुषों का कथन किया गया है। (गाथा 2090 से 2097 तक)

७. कारण - सामायिक की प्ररूपणा के क्या कारण हैं, इसका उल्लेख है। कारण का निक्षेप चार प्रकार का है। इनके भेद-प्रभेदों का कथन दार्शनिक दृष्टि से किया गया है। तीर्थंकर सामायिक का उपदेश क्यों करते हैं यह बताया गया है, गणधर आदि उपदेश का श्रवण क्यों करते हैं, इसका भी वर्णन किया गया है। (गाथा 2098 से 2128 तक)

८. प्रत्यय - सामायिक का कथन व श्रवण करने वालों को प्रतीति कैसी होती है, इसका वर्णन है। प्रत्यय अर्थात् बोधनिश्चय, इसका भी चार प्रकार का निक्षेप होता है। केवलज्ञानी साक्षात् सामायिक का अर्थ जानकर ही कथन करते हैं, तब ही श्रोता आदि को उसका बोध होता है। (गाथा 2131 से 2134 तक)

९. लक्षण - सामायिक का लक्षण नामादि के भेद से बारह प्रकार का होता है। सामायिक सम्यक्त्व, श्रुत, देशविरति और सर्वविरति सामायिक के भेद से चार प्रकार की होती है, कौनसी सामायिक किस भाव वाली होती है इसका कथन किया गया है।

(गाथा 2136 से 2178 तक)

१०. नय - विविध नयों से सामायिक का स्वरूप क्या है, इसका वर्णन है। अनेक धर्मात्मक वस्तु का किसी एक धर्म के आधार पर कथन करना नय कहलाता है। नय सात प्रकार का है - नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवंभूत। नय के इन भेदों का कथन करते हुए लक्षण, व्युत्पत्ति, उदाहरण आदि देकर अन्य दर्शन की मान्यताओं का युक्तियुक्त खण्डन किया है। (गाथा 2180 से 2287 तक)

११. समवतार - कालिक श्रुतों (प्रथम और चतुर्थ पौरुषी में पढ़े जाने वाले) में नयों की अवतारणा नहीं होती। चरण, करण इत्यादि चार प्रकार के अनुयोग का अपृथक् भाव से प्ररूपण होते समय नयों का विस्तारपूर्वक समवतार होता था। द्रव्यानुयोग इत्यादि चार अनुयोगों की पृथक् चर्चा एवं आर्यरक्षित द्वारा अनुयोगों का विभाजन, इत्यादि का विस्तृत वर्णन करते हुए निहववाद का भी निरूपण किया गया है। (गाथा 2288 से 2609 तक)

निहववाद - निर्युक्तिकार निर्दिष्ट सात निहवों में शिवभूति बोटिक नामक एक और निहव मिलाकर भाष्यकार ने आठ निहवों की मान्यताओं का वर्णन किया है। अपने अभिनिवेश के कारण आगमिक परंपरा से विरुद्ध प्रतिपादन करने वाला निहव कहलाता है। सामान्य मिथ्यात्वी और निहव में यह भेद है कि सामान्य मिथ्यात्वी जिनप्रवचन को ही नहीं मानता अथवा मिथ्या मानता है। जबकि निहव समस्त जिन प्रवचन को प्रमाणभूत मानता हुआ भी मिथ्यात्व के उदय से जिनप्रवचन के किसी एक अंश का परंपरा के विरुद्ध अर्थ करता हुआ जन सामान्य में प्रचार करता है और जैन परम्परा के भीतर ही एक नया सम्प्रदाय खड़ा कर देता है। आठ निहव की मान्यताएं निहववाद के रूप में प्रसिद्ध हैं।

i. जमालि - इन्होंने बहुरत मत का प्रचार किया। इस मत के अनुसार कोई भी क्रिया एक समय में न होकर अनेक समयों में होती है। इनका जन्म श्रावस्ती नगरी में हुआ था। ये भगवान् महावीर स्वामी को केवलज्ञान होने के 14 वर्ष बाद हुए।

(गाथा 2306 से 2332 तक)

ii. तिष्यगुप्त - इन्होंने जीव प्रादेशिक मत का प्रचार किया। इस मत के अनुसार जीव का वह चरम प्रदेश जिसके बिना वह जीव नहीं कहलाता है और जिसके होने पर ही वह जीव कहलाता है। उस प्रदेश के अभाव में अन्य प्रदेश अजीव रूप हैं, क्योंकि उस प्रदेश से ही वे प्रदेश जीवत्व को प्राप्त करते हैं। इनका जन्म ऋषभपुर में हुआ था। तिष्यगुप्त भगवान् महावीर स्वामी को केवलज्ञान होने के 16 वर्ष बाद हुए। (गाथा 2333 से 2355 तक)

iii. आषाढभूति - इन्होंने अव्यक्त मत का प्रचार किया। इस मत के अनुसार किसी की साधुता-असाधुता आदि का निश्चय नहीं हो सकता है। अतः किसी को वंदना-नमस्कार आदि नहीं करना चाहिए। यह भगवान् महावीर स्वामी के निर्वाण के 214 वर्ष बाद हुए। इनका जन्म श्वेताम्बिका नगरी में हुआ था। (गाथा 2356 से 2388 तक)

iv. अश्वमित्र - इन्होंने सामुच्छेदिक मत का प्रचार किया। समुच्छेद का अर्थ है - जन्म होते ही सर्वथा नाश हो जाना। सामुच्छेदिक मत इसी सिद्धांत को मानता है। यह भगवान् महावीर स्वामी के निर्वाण के 220 वर्ष बाद हुए। इनकी जन्मस्थली मिथिला नगरी थी।

(गाथा 2379 से 2423 तक)

v. गंग - इन्होंने द्वैक्रियवाद का प्रचार किया। इस मत के अनुसार किसी एक समय में दो क्रियाओं के अनुभव की शक्यता का समर्थन करना द्वैक्रियवाद है। इनका जन्म उलूकातीर नगरी में हुआ था। यह भगवान् महावीर स्वामी के निर्वाण के 228 वर्ष बाद हुए।

(गाथा 2424 से 2450 तक)

vi. रोहगुप्त - इन्होंने त्रैराशिक मत का प्रचार किया। इस मत के अनुसार संसार में जीव, अजीव और नोजीव-अजीव इस तरह तीन प्रकार की राशियाँ होती हैं। यह भगवान् महावीर स्वामी के निर्वाण के 544 वर्ष बाद हुए। इनकी जन्म-स्थली अतरंजिका नगरी थी।

(गाथा 2451 से 2508 तक)

vii. गोष्ठामाहिल - इन्होंने अबद्धिक मत का प्रचार किया। इस मत के अनुसार जीव और कर्म का बंध नहीं, अपितु स्पर्शमात्र होता है। इनका जन्म दशपुर में हुआ था। यह भगवान् महावीर स्वामी के निर्वाण के 584 वर्ष बाद हुए। (गाथा 2509 से 2549 तक)

viii. शिवभूति - इन्होंने दिगम्बर मत का प्रचार किया। इस मत के अनुसार वस्त्र कषाय का हेतु होने से परिग्रह रूप है। अतः वस्त्र त्याज्य है। यह भगवान् महावीर स्वामी के निर्वाण के 609 वर्ष बाद हुए। इनकी जन्म स्थली रथवीरपुर थी। (गाथा 2550 से 2609 तक)

निहव किस प्रकार हुए और पुनः गुरु/श्रावक/अन्य व्यक्तियों के द्वारा उदाहरण आदि से समझाने पर कुछ निहव ने तो प्रायश्चित्त आदि लेकर शुद्धि करली (लेकिन उस मत का प्रचलन जन सामान्य में हो गया) और कुछ अंतिम समय तक अपने अभिनिवेश से ग्रसित रहे इत्यादि वर्णन रोचक एवं जानकारी पूर्ण है। ग्यारहवें द्वार समवतार की व्याख्या करते हुए गोष्ठामाहिल का प्रसंग आया और उसी प्रसंग से निहववाद की चर्चा प्रारंभ करते हुए, इस चर्चा की समाप्ति के साथ समवतार द्वार की व्याख्या भी समाप्त होती है।

12. अनुमत - व्यवहार, निश्चय नय से कौनसी सामायिक मोक्षमार्ग का कारण है, इसका विचार करना अनुमत कहलाता है। यहाँ अनुमत का वर्णन किया गया है।

(गाथा 2621 से 2632 तक)

१३. किं द्वार - सामायिक क्या है? सामायिक जीव है या अजीव है? इत्यादि रूप से और द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दृष्टि से सामायिक का विवेचन किया गया है।

(गाथा 2633 से 2658 तक)

१४. कतिविध द्वार - सामायिक तीन प्रकार की है - सम्यक्त्व, श्रुत और चारित्र। इनके भेद-प्रभेदों का कथन किया गया है।

(गाथा 2673 से 2677 तक)

१५. कस्य द्वार - जिसकी आत्मा संयम, नियम तप में रहती है, उसी के सामायिक होती है, इसी प्रकार का विविध वर्णन किया गया है।

(गाथा 2679 से 2691 तक)

१६. कुत्र द्वार - सामायिक की प्राप्ति कहां होती है अर्थात् क्षेत्र, दिक्, काल, गति, भव्य, संज्ञी इत्यादि उपद्वारों के माध्यम से कुत्र द्वार का विचार किया गया है।

(गाथा 2692 से 2750 तक)

१७. केषु द्वार - सामायिक किन द्रव्य और पर्यायों में होती है, इसका वर्णन किया गया है।

(गाथा 2751 से 2760 तक)

१८. कथं द्वार - सामायिक कैसे प्राप्त होती है इसका वर्णन भाष्यकार ने नहीं किया है, लेकिन टीकाकार मलधारी हेमचन्द्र ने इस ओर संकेत किया है।

(गाथा 2797)

१९. कियच्छिवर द्वार - इसमें सम्यक्त्व, श्रुत, देशविरति और सर्वविरति सामायिक की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति का वर्णन किया गया है।

(गाथा 2761 से 2763 तक)

२०. कति द्वार - सम्यक्त्व आदि सामायिक में विवक्षित समय में कितने प्रतिपत्ता, प्रतिपन्न और प्रतिपातित होते हैं, इसका वर्णन किया गया है।

(गाथा 2764 से 2774 तक)

२१. क्षान्तर द्वार - जीव को किसी एक समय सम्यक्त्वादि सामायिक प्राप्त होने पर पुनः उसका परित्याग हो जाने पर जितने समय के बाद उसे पुनः उसकी प्राप्ति होती है, उसे अन्तर काल कहते हैं, इसका वर्णन किया गया है।

(गाथा 2775)

२२. अविरहित द्वार - सम्यक्त्व आदि सामायिक की जघन्य, उत्कृष्ट अविरहित (विरह काल के बिना) काल की विवक्षा की गई है।

(गाथा 2777 से 2778 तक)

२३. भव द्वार - जीव सम्यक्त्व आदि सामायिक को जघन्य और उत्कृष्ट कितने भवों में प्राप्त करता है, इसका वर्णन है।

(गाथा 2779)

२४. आकर्ष द्वार - आकर्ष का अर्थ है आकर्षण अर्थात् प्रथम बार अथवा छोड़े हुए का पुनर्ग्रहण, सम्यक्त्व आदि सामायिक का एक भव, अनेक भव की अपेक्षा जघन्य और उत्कृष्ट आकर्ष का वर्णन किया गया है।

(गाथा 2780 से 2781 तक)

२५. स्पर्श द्वार - सम्यक्त्व आदि सामायिक से युक्त जीव जघन्य और उत्कृष्ट रूप से लोक के कितने क्षेत्र का स्पर्श करते हैं, इसका वर्णन है।

(गाथा 2782)

२६. निरुक्ति द्वार - सम्यक्त्व आदि सामायिक की सम्यग्दृष्टि, अमोह, शुद्धि आदि प्रकार से निर्युक्ति की गई है। निरुक्त शब्द का अर्थ पर्याय है। श्रुत सामायिक के अक्षर आदि से चौदह प्रकार के निरुक्त (पर्याय) हैं। इसी प्रकार देशविरति की विरताविरत, संवृतासंवृत आदि और सर्वविरति की सामायिक, सामयिक, सम्यग्वाद, समास, संक्षेप, अनवद्य, परिज्ञा, प्रत्याख्यान ये आठ निरुक्त किये गये हैं। यहाँ तक सामायिक के उपोद्घात अधिकार का वर्णन पूरा होता है।

(गाथा 2784 से 2787 तक)

20. नमस्कार निर्युक्ति — नमस्कार (अंतिम मंगल) की चर्चा करते हुए उत्पत्ति, निक्षेप, पद, पदार्थ, प्ररूपणा, वस्तु, आक्षेप, प्रसिद्धि, क्रम, प्रयोजन और फल इन ग्यारह द्वारों का निक्षेप सहित विस्तृत रूप से वर्णन करते हुए नमस्कार का विवेचन किया गया है। उसके पश्चात् अर्हत्, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु को नमस्कार करने के कारण का वर्णन है। सिद्ध नमस्कार की व्याख्या करते हुए भाष्यकार ने कर्म स्थिति, समुद्घात, शैलेषी अवस्था, ध्यान आदि का विस्तृत विवेचन किया है। सिद्धों में कौनसा उपयोग है — साकार या अनाकार। इसका वर्णन करते हुए यह क्रमशः होते हैं या युगपद्, इसका समाधान किया है। भाष्यकार की मान्यता है कि केवलज्ञान और केवलदर्शन क्रमशः ही होते हैं, युगपद् नहीं। इसी प्रकार आचार्य, उपाध्याय को किस प्रकार से नमस्कार करना चाहिए इसका वर्णन है। नमस्कार के प्रयोजन, फलादि द्वारों का व्याख्यान करते हुए भाष्यकार ने परिणाम-विशुद्धि का समर्थन किया है। (गाथा 2805 से 3294 तक)

21. पद व्याख्या — ‘करेमि भंते’ इत्यादि सामायिक सूत्र के मूलपदों का व्याख्यान किया गया है। ‘करेमि भंते’ के लिए करण शब्द का विस्तृत कथन करते हुए नाम इत्यादि इसके छह भेदों का वर्णन किया गया है। भंते (भदन्त) पद की व्याख्या की गई है। इसके बाद सामायिक, सर्व, सावद्य, योग, प्रत्याख्यान, यावज्जीव, विविध, करण, प्रतिक्रमण, निन्दा, गर्हा और व्युत्सर्जन इत्यादि पदों की विस्तार से व्याख्या की गई है। छहों नयों का वर्णन भी किया गया है। अन्त में भाष्य सुनने का फल बताया है। (गाथा 3229 से 3603 तक)

विशेषावश्यक भाष्य के इस परिचय से स्पष्ट होता है कि आचार्य जिनभद्र ने इस ग्रंथ से जैन विचारधारा का कितनी विलक्षणता से संग्रह किया है। आचार्य की तर्कशक्ति, अभिव्यक्तिकुशलता, प्रतिपादनप्रवणता एवं व्याख्यानविदग्धता का परिचय प्राप्त करने के लिए यह एक ग्रंथ ही पर्याप्त है। वास्तव में विशेषावश्यकभाष्य जैनज्ञानमहोदधि है। जैन आचार और विचार के मूलभूत समस्त तत्त्व इस ग्रंथ में संगृहीत हैं। दर्शन के गहनतम विषय से लेकर चारित्र की सूक्ष्मतम प्रक्रिया के संबंध में इसमें पर्याप्त प्रकाश डाला गया है।¹⁰⁶

विशेषावश्यकभाष्य का महत्त्व

विशेषावश्यकभाष्य में जैनागमसाहित्य में वर्णित जितने भी महत्त्वपूर्ण विषय हैं, प्रायः उन सभी पर चिन्तन उपलब्ध है। ज्ञानवाद, प्रमाणवाद, आचार, नीति, स्याद्वाद, नयवाद, कर्मवाद पर विशद सामग्री का इसमें संकलन है। इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि जैन दार्शनिक सिद्धांतों की तुलना अन्य दार्शनिक सिद्धान्तों के साथ की गई है। अन्य दार्शनिक मतों का खण्डन करते हुए इस ग्रंथ में स्वमत का समर्थन भी प्राचीन आगमिक परम्परा के आलोक में किया गया है। उक्त तार्किक-दार्शनिक चर्चा में जैन आगमसाहित्य की मान्यताओं का तार्किक दृष्टि से विश्लेषण किया गया है। जैन आचार्यों ने इसे दुषमाकाल में अंधकार में निमग्न जिनप्रवचन को प्रकाशित करने के लिए दीपक के समान माना है। इस ग्रंथ की मुख्य रूप से यह विशेषता है कि तार्किक होते हुए भी श्रीमद् जिनभद्र क्षमाश्रमण ने आगमिक परम्परा को सुरक्षित रखा है। इसलिए इस ग्रंथ को आगमवादी या सिद्धांतवादी ग्रंथ माना जाता है। अतः इस ग्रंथ को जैन ज्ञान महोदधि कहा जाय तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। क्योंकि इसमें दर्शन के गहनतम विषय से लेकर चारित्र की सूक्ष्मतम प्रक्रिया तक के संबंध में पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। आगम के गहन रहस्यों को समझने के लिए यह भाष्य बहुत

ही उपयोगी है और इसी भाष्य का अनुसरण परवर्ती रचनाकारों ने किया है। संक्षिप्त में कहें तो इस भाष्य में जैन आचार-विचार के मूलभूत समस्त तत्त्वों का सुव्यवस्थित संग्रह किया गया है।

भाष्यकार ने मूलनिर्युक्ति के भावों को स्पष्ट करते हुए प्रसंगानुसार अनेक महत्वपूर्ण विषयों का विस्तृत विवेचन भी प्रस्तुत किया है। यह ग्रंथ जैन आगमों को समझने की कुंजी है। इस ग्रंथ में सभी महत्वपूर्ण विषयों की चर्चा की गई है। बौद्ध-त्रिपिटक का सारग्राही ग्रन्थ 'विशुद्धिमार्ग' है, उसी प्रकार विशेषावश्यकभाष्य जैन-आगम का सारग्राही है। साथ ही उसकी यह विशेषता है कि उसमें जैन-तत्त्व का निरूपण केवल जैन-दृष्टि से ही नहीं किया गया, अपितु अन्य दर्शनों की तुलना में जैन-तत्त्वों को रखकर समन्वयगामी मार्ग द्वारा प्रत्येक विषय की चर्चा की गयी है। विषय-विवेचन के प्रसंग में जैनाचार्यों के अनेक मतभेदों का खण्डन करते हुए भी जिनभद्रगणि उन पर आँच नहीं आने देते। कारण यह है कि ऐसे प्रसंग पर वे आगमों के अनेक वाक्यों का आधार देकर अपना मंतव्य उपस्थित करते हैं। किसी भी व्यक्ति की कोई भी व्याख्या यदि आगम के किसी वाक्य से विरुद्ध हो, तो वह उन्हें असह्य प्रतीत होती है और वे प्रयत्न करते हैं कि, उसके तर्क-पुरस्सर समाधान ढूँढने का भी प्रयास किया जाए। जैसेकि केवली को ज्ञान-दर्शन युगपद् होते हैं, या क्रमिकरूप से, इस विषय में श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्परा में मतभेद है। दिगम्बर परम्परा केवल ज्ञान-केवल दर्शन को युगपद् स्वीकार करती है। सिद्धसेनगणि ने भी सन्मतितर्क प्रकरण में इसका समर्थन किया है। भाष्यकार ने आगमिक मत को पुष्ट करते हुए क्रमवाद का समर्थन किया है। आगमिक परम्परा को पुष्ट करने की दृष्टि से ही उन्होंने मल्लवादी आचार्य के मत का भी खण्डन किया है। इसी प्रकार आगम-परम्परा इन्द्रिय-प्रत्यक्ष को परोक्ष की कोटि में मानती है, किन्तु न्याय-वैशेषिक आदि अन्य भारतीयदर्शन इसे प्रत्यक्ष मानते हैं। भाष्यकार ने इन्द्रिय प्रत्यक्ष को संव्यवहार प्रत्यक्ष नाम देकर एक मध्यम मार्ग का अनुसरण किया, जिससे दोनों परम्पराओं का समन्वय हुआ। विशेषावश्यकभाष्य में अन्य विषयों के साथ ज्ञानवाद का विस्तार से वर्णन किया गया है। पांच ज्ञान के सम्बन्ध में विशेषावश्यकभाष्य में जो कुछ कहा गया है, वही अन्यत्र उपलब्ध होता है और जो कुछ नहीं कहा गया, वह अन्यत्र भी प्राप्त नहीं होता है। जिनभद्रगणि के बाद वाले सभी आचार्यों ने स्व-स्व ग्रंथों में ज्ञानवाद के वर्णन में और ज्ञानवाद की व्याख्या करने में विशेषावश्यकभाष्य को ही आधार बनाया है। इसमें ज्ञानवाद का प्रतिपादन इतने विस्तृत और विपुल रूप में हुआ है कि इसे पढ़कर ज्ञानवाद के सम्बन्ध में अन्य किसी ग्रन्थ को पढ़ने की आवश्यकता ही नहीं रहती है। अतः आचार्य जिनभद्र ने विशेषावश्यक भाष्य लिखकर जैनागमों के मंतव्यों को तर्क की कसौटी पर कसा है और इस तरह इस काल के तार्किकों की जिज्ञासा को शांत किया है। जिस प्रकार वेद-वाक्यों के तात्पर्य के अनुसंधान के लिए मीमांसा-दर्शन की रचना हुई, उसी प्रकार जैनागमों के तात्पर्य को प्रकट करने के लिए जैन-मीमांसा के रूप में आचार्य जिनभद्र ने विशेषावश्यक की रचना की है।

जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण की प्रबल तार्किक शक्ति, अभिव्यक्तिकुशलता, प्रतिपादन की पटुता तथा विवेचन की विशिष्टता को निहार कर कौन मेधावी मुग्ध नहीं होगा? भाष्य साहित्य में विशेषावश्यकभाष्य का अनूठा स्थान है।

विशेषावश्यक भाष्य का मलधारी की टीका सहित गुजराती अनुवाद (शाह चुन्नीलाल हुकुमचन्द कृत) आगमोदय समिति, बम्बई द्वारा दो भागों में 1924-1927 ई. में तथा पुनः इसी का प्रकाशन ई. 1996 में भद्रंकर प्रकाशन, 49/1, महालक्ष्मी सोसाइटी, शाही बाग अमदाबाद से किया गया है।

विशेषावश्यकगाथानाम् अकारादिक्रमः तथा विशेषावश्यकविषययाणाम् अनुक्रमः का प्रकाशन ई. 1932 में आगमोदय समिति, बम्बई द्वारा हुआ है।

विशेषावश्यकभाष्य का व्याख्या साहित्य

विशेषावश्यकभाष्य स्वोपज्ञवृत्ति

टीकाकारों में सर्व प्रथम टीकाकार जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण हैं। आचार्य जिनभद्रगणि ने स्वरचित विशेषावश्यकभाष्य पर स्वयं ने स्वोपज्ञवृत्ति लिखी। आचार्य ने अपनी टीका में मंगल-गाथा न लिखते हुए भाष्य की गाथा से ही व्याख्या करना शुरु कर दिया। आपकी व्याख्या शैली बहुत ही सरल, स्पष्ट एवं प्रसादगुण सम्पन्न है। लेकिन आचार्य यह वृत्ति पूर्ण नहीं कर सके और षष्ठ गणधर अर्थात् गाथा 1863 तक की टीका लिखकर ही दिवंगत हो गये। आगे का भाग कोट्याचार्य ने पूर्ण किया। आचार्य जिनभद्र के देहावसान का निर्देश करते हुए षष्ठ गणधरवक्तव्यता के अन्त में कहा है – **निर्माप्य षष्ठगणधरवक्तव्यं किल दिवंगताः पूज्याः अनुयोगमार्गदेशिका-जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणाः।** अर्थात् छठे गणधरवाद की व्याख्या करने के बाद अनुयोगमार्ग का दिग्दर्शन कराने वाले पूज्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण इस लोक से चल बसे। यह वाक्य आचार्य कोट्याचार्य ने जिनभद्रगणि की मृत्यु के बाद लिखा है, ऐसा प्रतीत होता है। इसके बाद कोट्याचार्य उन्हीं दिवंगत आचार्य जिनभद्रगणि को नमस्कार करते हुए आगे की वृत्ति प्रारंभ करते हैं – **‘अथ सप्तमस्य भगवतो गणधरस्य वक्तव्यतानिरूपणसम्बन्धनाय गाथाप्रपञ्चः।’** कोट्याचार्य की निरूपण शैली भी आचार्य जिनभद्रगणि की तरह ही प्रसन्न और सुबोध है। विषय-विस्तार कुछ अधिक है, पर कहीं कहीं। प्रस्तुत विवरण की सामाप्ति करते हुए वृत्तिकार कहते हैं – **“.....चेति परमपूज्यजिनभद्रगणिक्षमाश्रमणकृत-विशेषावश्यकप्रथमाध्ययन-सामायिकभाष्यस्य विवरणमिदं समाप्तम्।”**¹⁰⁷ इसके बाद सूत्रकार ने स्वयं की ओर से निम्न भाव जोड़े – **“सूत्रकारपरमपूज्यश्रीजिनभद्रगणिक्षमाश्रमणप्रारब्धा समर्थिता श्रीकोट्याचार्यवादि-गणिमहत्तरेण श्रीविशेषावश्यक लघुवृत्तिः। संवत् १४९१ वर्षे द्वितीयज्येष्ठवदि ४ भूमे श्रीस्तम्भतीर्थे लिखितमस्ति”**

उपर्युक्त वाक्य से स्पष्ट है कि लेखक ने वृत्तिकार श्री जिनभद्र का नाम ज्यों का त्यों रखा, किन्तु अपना नाम बदलकर कोट्याचार्य से कोट्याचार्य रखते हुए अपने नाम के साथ महत्तर की उपाधि लगा दी। इस प्रकार उनका नाम हो गया – कोट्याचार्यवादिगणिमहत्तर। इसी के साथ विशेषावश्यकभाष्य विवरण का नाम भी अपनी ओर से विशेषावश्यकलघुवृत्ति रख दिया है।¹⁰⁸

विशेषावश्यकभाष्य स्वोपज्ञवृत्ति (कोट्याचार्य कृत विशेषावश्यकभाष्यविवरण सहित) का प्रकाशन ई. 1936-37 में ऋषभदेव जी केसरीमल जी प्रचारक (श्वेताम्बर) संस्था द्वारा तथा स्वोपज्ञवृत्ति का प्रकाशन भारतीय संस्कृति विद्यामन्दिर, अहमदाबाद द्वारा ई. 1966-1968 में तीन भागों में हुआ है। जिसके दो भागों का सम्पादन पंडिल दलसुखभाई मालवणिया तथा तीसरे भाग का सम्पादन पंडित बेचरदास जोशी द्वारा किया गया है।

विशेषावश्यक भाष्यविवरण

कोट्याचार्य द्वारा आवश्यक सूत्र पर 13700 श्लोक प्रमाण विशेषावश्यकभाष्यविवरण नामक टीका लिखी है। प्रस्तुत विवरण में टीकाकार ने आवश्यक की मूलटीका का अनेक बार उल्लेख किया

107. हस्तलिखित पृ. 987 (उद्धृत- जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग 3, पृ. 330)

108. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग 3, पृ. 327-330

है। यह मूल टीका उनके पूर्ववर्ती आचार्य जिनभद्र की है। यह विवरण न तो अति संक्षिप्त है, न अति विस्तृत। इसमें कथानक प्राकृत में है। कहीं-कहीं पद्यात्मक कथानक भी है। यत्र-तत्र पाठान्तर भी दिये गये हैं। विवरणकार ने आचार्य जिनभद्रकृत विशेषावश्यकभाष्य स्वोपज्ञवृत्ति का भी उल्लेख किया है। कोट्याचार्य का काल विक्रम की आठवीं शताब्दी माना जाता है। मलधारी हेमचन्द्रसूरि ने अपनी कृति विशेषावश्यकभाष्य-बृहद्वृत्ति में कोट्याचार्य को एक प्राचीन टीकाकार के रूप में रेखांकित किया है। प्रभावक चरित्रकार ने आचार्य शीलाङ्क को और कोट्याचार्य को एक माना है, इसी प्रकार पंडित सुखलाल संघवी¹⁰⁹ ने भी कहा है कि शीलाङ्क का ही अपर नाम कोट्याचार्य था। परन्तु डॉ. मोहनलाल मेहता के अनुसार शीलाङ्क और कोट्याचार्य दोनों का समय एक नहीं है। कोट्याचार्य का समय विक्रम की आठवीं शती है तो शीलाङ्क का समय विक्रम की नवीं-दसवीं शती है। अतः वे दोनों पृथक्-पृथक् हैं साथ ही शीलाङ्काचार्य और कोट्याचार्य एक ही व्यक्ति है, ऐसा कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं मिलता है। कोट्याचार्य का प्रस्तुत विशेषावश्यक भाष्य पर जो विवरण है व न तो अतिसंक्षिप्त है और न अतिविस्तृत ही है।¹¹⁰

कोट्याचार्य कृत विशेषावश्यकभाष्यविवरण का प्रकाशन प्राकृत, जैनविद्या व अहिंसा शोध संस्थान, वैशाली (बिहार) द्वारा 1972 में हुआ है।

मलधारी हेमचन्द्र एवं उनके द्वारा रचित शिष्यहिता नामक बृहद्वृत्ति का वैशिष्ट्य

आचार्य मलधारी हेमचन्द्र की विशेषावश्यकभाष्य पर शिष्यहिता वृत्ति है। यह बृहत्तम कृति है। आचार्य ने भाष्य में जितने विषय आये हैं, उन सभी विषयों को बहुत ही सरल और सुगम दृष्टि से समझाने का प्रयास किया है। दार्शनिक चर्चाओं का प्राधान्य होने पर भी शैली में क्लिष्टता नहीं आने दी है। यह इस टीका की बहुत बड़ी विशेषता है। शंका-समाधान और प्रश्नोत्तर की पद्धति का प्राधान्य होने के कारण पाठक को अरुचि का सामना नहीं करना पड़ता। यत्र-तत्र संस्कृत कथानकों के उद्धरण से विषय-विवेचन और भी सरल हो गया है। इस टीका के बारे में यदि यह कहा जाय तो अतिशयोक्ति नहीं होगी कि इस टीका के कारण ही विशेषावश्यकभाष्य के पठन-पाठन में सरलता हो गई। इस टीका से भाष्यकार और टीकाकार दोनों के यश में असाधारण वृद्धि हुई है। यह टीका 28000 श्लोक प्रमाण विस्तृत है।¹¹¹

मलधारी हेमचन्द्र का जीवन परिचय

आचार्य मलधारी अभयदेवसूरि की परम्परा में होने वाले पद्मदेवसूरि और राजशेखर ने यह प्रतिपादित किया है¹¹² कि आचार्य अभयदेव को राजा कर्णदेव ने मलधारी की पदवी प्रदान की थी। इससे स्पष्ट होता है कि राजा कर्णदेव पर भी आचार्य अभयदेव का प्रभाव था। किन्तु विविधतीर्थकल्प में लिखा है कि राजा सिद्धराज ने यह सम्मान दिया।¹¹³ यदि सिद्धराज ने ऐसा किया होता तो श्रीचन्द्रसूरि इसका उल्लेख अवश्य करते, अतः अधिक सम्भावना यही है कि यह पदवी राजा कर्णदेव ने दी हो। कर्ण के बाद राजा सिद्धराज पर भी उनका प्रभाव रहा। आचार्य मलधारी अभयदेवसूरि ने राजा सिद्धराज पर अपने तप एवं शील के बल से जो प्रभाव डाला था, उस प्रभाव को उनके पट्टधर शिष्य आचार्य मलधारी हेमचन्द्र ने स्थिर रखा। राजा को उपदेश देकर उन्होंने अनेक प्रकार से

109. आवश्यकनिर्युक्ति, भूमिका, पृ. 45

110. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग 3, पृ. 349-350

111. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग 3, पृ. 413-414

112. गणधरवाद प्रस्तावना, पृ. 48

113. विविधतीर्थकल्प पृ. 77 (द्रष्टव्य - गणधरवाद प्रस्तावना, पृ. 48)

जैनधर्म की प्रभावना में वृद्धि की। सिद्धराज पर मलधारी हेमचन्द्र के प्रभाव का कारण उनका त्याग और तप तो था ही, परन्तु संभव है कि उनके पूर्व-जीवन के प्रभाव का भी इसमें यथेष्ट भाग हो।

मलधारी हेमचन्द्रसूरि की परम्परा में होने वाले मलधारी राजशेखर ने अपनी प्राकृत द्वयाश्रय की वृत्ति की प्रशस्ति में लिखा है कि मलधारी हेमचन्द्र के गृहस्थ जीवन का नाम प्रद्युम्न था। आप राजमंत्री थे और आप अपनी चार स्त्रियों का त्याग कर श्री अभयदेवसूरि के पास दीक्षित हुए।¹¹⁴ इससे ज्ञात होता है कि आचार्य हेमचन्द्र मलधारी राजमंत्री थे और सम्भव है कि इसके कारण अनेक राजाओं पर प्रभाव पड़ा हो।

मलधारी हेमचन्द्र का काल

अपने गुरु अभयदेवसूरि के देवलोकगमन के बाद वि. सं. 1168 में मलधारी हेमचन्द्र ने आचार्य पद प्राप्त किया था। जिस पर वे लगभग वि. सं. 1180 तक रहे। आचार्य विजयसिंह ने धर्मोपदेशमाला की बृहद्वृत्ति लिखी है, उसकी समाप्ति वि० सं० 1191 में हुई थी। उसकी प्रशस्ति में भी आचार्य विजयसिंह ने अपने गुरु आचार्य हेमचन्द्र मलधारी तथा उनके गुरु आचार्य अभयदेव मलधारी का परिचय दिया है। इससे ज्ञात होता है कि वि० सं० 1191 में आचार्य हेमचन्द्र मलधारी का स्वर्गवास हुए बहुत वर्ष हो चुके थे।¹¹⁵ अतः इस बात को स्वीकार करने में कोई बाधा नहीं है कि अपने गुरु अभयदेव का वि० सं. 1168 में स्वर्गवास होने के उपरान्त आप आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हुए और लगभग वि० सं. 1180 तक इस पद को सुशोभित किया।

मलधारी हेमचन्द्र ने अपने हाथ से लिखी हुई जीवसमास-वृत्ति की प्राप्ति के अन्त में अपना जो परिचय दिया है, उसके अनुसार वे यम, नियम, स्वाध्याय, ध्यान के अनुष्ठान में रत तथा परम नैष्ठिक, अद्वितीय पण्डित और श्वेताम्बराचार्य भट्टारक थे। यह प्रशस्ति उन्होंने संवत् 1164 में लिखी थी।¹¹⁶

मलधारी के शिष्य विजयसिंह सूरि ने हेमचन्द्र के ग्रंथ 'धर्मोपदेशमाला' पर बृहद्वृत्ति लिखी थी। उसकी प्रशस्ति से उसका रचना काल वि. सं. 1191 निश्चित होता है। इस समय तक मलधारी हेमचन्द्र को दिवंगत हुए पर्याप्त समय अर्थात् लगभग एक दशक व्यतीत हो चुका था। चूँकि मलधारी हेमचन्द्र के ग्रंथों की प्रशस्तियों में जो रचना समय निर्दिष्ट हुआ है, उसमें वि. सं. 1177 के बाद का कोई उल्लेख नहीं है। अतः विद्वानों ने इनका समय वि. सं. 1140-1180 निर्णीत किया है।¹¹⁷

मलधारी हेमचन्द्र ने अपने गुरु की आज्ञा से दस ग्रंथ लिखे थे। लिखने में उनका मुख्य उद्देश्य अपने शुभाध्यवसाय को स्थिर रखना था, गौण उद्देश्य यह था कि उनके ग्रंथों को पढ़कर दूसरे व्यक्ति भी मोक्षमार्ग की शुद्धि कर शिवनगरी की ओर प्रयाण करें।

मलधारी हेमचन्द्र ने सर्वप्रथम उपदेशमाला मूल और भवभावनामूल की रचना की। तदनन्तर उन दोनों की क्रमशः 14 हजार और 13 हजार श्लोकप्रमाण वृत्तियाँ बनाई। इसके बाद अनुयोगद्वार, जीव समास और शतक (बंधशतक) पर क्रमशः 6, 7 और 4 हजार श्लोकप्रमाण टिप्पण लिखा,

114. जैन साहित्यनो संक्षिप्त इतिहास, पृ. 167

115. श्रीहेमचन्द्र इति सूरिरभूदमुष्य शिष्यः शिरोमणिरशेषमुनीश्वराणाम्।

यस्साधुनापि चरितानि शरच्छांकाच्छायोज्ज्वलानि विलसन्ति दिशां मुखेषु ॥13॥ - गणधरवाद, प्रस्तावना, पृ. 54

116. "ग्रन्थाग्र० ६६२७। सम्वत् ११६४ चैत्र सुदि ४ सोमऽद्येह श्रीमदणहिलपाटके समस्तराजावलिविराजितमहाराजाधिराज-परमेश्वर-श्रीमज्जसिंहदेवकल्याणविजयराजे एवं काले प्रवर्तमाने यमनियमस्वाध्यायानुष्ठानरतपरमनैष्ठिकपण्डित-श्वेताम्बराचार्य-भट्टारक-श्रीहेमचन्द्राचार्येण पुस्तिका लि० श्री" - श्री शांतिनाथजी ज्ञान भण्डार की प्रति-श्रीप्रशस्ति संग्रह अहमदाबाद-पृ. 49

(उद्धृत-जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग 3, पृष्ठ 410)

117. विशेषावश्यकभाष्य (आचार्य सुभद्रमुनि) प्रस्तावना पृ. 59

विशेषावश्यकभाष्य पर 28 हजार श्लोक-प्रमाण विस्तृत वृत्ति¹¹⁸ तथा मूल आवश्यकवृत्ति (हरिभद्रकृत) पर पांच हजार श्लोकप्रमाण टिप्पण लिखा था।

उनके ग्रंथों में जैन सिद्धांत-प्रसिद्ध चारों अनुयोगों का समावेश हो जाता है। उनके ग्रन्थ जैन धर्म के आचार और जैन दर्शन के विचार इन दोनों क्षेत्रों को आच्छादित कर लेते हैं। उन्होंने केवल विद्वद्भोग्य ग्रन्थ ही नहीं लिखे, प्रत्युत ऐसे ग्रन्थ भी लिखे जिन्हें सामान्य व्यक्ति भी अपनी भाषा में समझ सके अर्थात् उनकी ग्रन्थ-रचना संस्कृत और प्राकृत दोनों भाषाओं में है। अनुयोगद्वार वृत्ति और विशेषावश्यक-भाष्य-वृत्ति जैसे गम्भीर ग्रंथों का भी उन्होंने निर्माण किया तथा साथ ही उपदेशमाला और भव-भावना जैसे लोक-भोग्य ग्रंथों का भी स्वोपज्ञ टीका सहित निर्माण किया।

मलधारी हेमचन्द्र ने विशेषावश्यकभाष्य की बृहद्वृत्ति¹¹⁹ के अन्त में स्वयं की ग्रंथ रचना का क्रम व ग्रंथों की संख्या का उल्लेख किया है, जो इस प्रकार है - १. आवश्यक टिप्पण २. शतक विवरण ३. अनुयोगद्वार वृत्ति ४. उपदेशमाला सूत्र ५. उपदेशमालावृत्ति ६. जीवसमास विवरण ७. भवभावनासूत्र ८. भवभावनाविवरण ९. नन्दिटिप्पण १०. विशेषावश्यकभाष्य-बृहद्वृत्ति। इन ग्रंथों का कुल परिमाण 80000 श्लोक प्रमाण है। ये सब ग्रंथ विषय की दृष्टि से प्रायः स्वतंत्र हैं। अतः उनमें पुनरावृत्ति के लिए विशेष गुंजाइश नहीं रही। यह बात माननी पड़ेगी कि उनकी लेखन प्रवृत्ति निरन्तर जारी रही होगी। 1164 में उनका छठा ग्रंथ लिखा गया तथा 1177 में अन्तिम, अतः हम यह अनुमान कर सकते हैं कि उनका रचना जीवन कम से कम 25 वर्ष का अवश्य रहा होगा।

विशेषावश्यकभाष्य-बृहद्वृत्ति को शिष्यहितावृत्ति भी कहते हैं। इस वृत्ति में प्रत्येक विषय को अति सरल एवं सुबोध शैली में समझाया गया है। इसमें भरपूर दार्शनिक चर्चा की प्रधानता होते हुए भी शैली में क्लिष्टता नहीं आने दी गई। यह टीकाकार की एक बहुत बड़ी विशेषता है। प्रश्नोत्तर-प्रधान होने के कारण इसकी शैली में गोंद सा लोच पैदा हो गया है। इसे पढ़ते-पढ़ते पाठक का मन कुछ समय के लिए कृति के साथ गहरा चिपक जाता है। स्थान-स्थान पर संस्कृत कथाओं के प्रस्तुतीकरण ने इसे और भी रुचिप्रद बना दिया है। यह एक ही कृति मलधारी के व्यक्तित्व की पर्याप्त परिचायिका है। संस्कृत टीका साहित्य की श्री वृद्धि भी इससे विस्तृत हुई है।

विशेषावश्यकभाष्य क्या है एवं उसकी प्रस्तुत वृत्ति की क्या आवश्यकता है, इसका समाधान करते हुए टीकाकार ने बताया है कि सामायिक आदि षडध्ययन रूप आवश्यक की अर्थतः तीर्थंकरों एवं सूत्रतः गणधरों ने रचना की। इसकी उपयोगिता को देखते हुए आचार्य भद्रबाहु ने इस सूत्र की व्याख्यात्मक निर्युक्ति लिखी। इस निर्युक्ति में भी सामायिक अध्ययन की निर्युक्ति को महत्त्वपूर्ण समझते हुए श्री जिनभद्रगणिकक्षमाश्रमण ने उस पर भाष्य लिखा और भाष्य पर स्वयं ने स्वोपज्ञवृत्ति लिखी। लेकिन यह वृत्ति अति गंभीर व्याख्यात्मक एवं कुछ संक्षिप्त होने के कारण मंदमति शिष्यों के लिए कठिन है। इस कठिनाई को दूर करने के लिए प्रस्तुत वृत्ति प्रारम्भ की जा रही है। वृत्ति के अन्त

118. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग 3, पृष्ठ 410 में दी गई सूची में नन्दिटिप्पण का उल्लेख नहीं है।

119. 'तयो मया तस्य परमपुरुषस्योपदेशं स्मृत्वा विरचय्य झटिति निवेशितमावश्यकटिप्पणिकाभिधानं सद्भावनामंजूषायां नूतनफलकम्, ततोऽपरमपि शतकविवरणनामकम्, अन्यदप्यनुयोगद्वारवृत्तिसंज्ञितम्, ततोऽपरमप्युपदेशमालासूत्राभिधानम्, अपरं तु तद्वृत्तिनामकम्, अन्यच्च जीवसमासविवरणनामधेयम्, अन्यत्तु भवभावनासूत्रसंज्ञितम्, अपरं तु तद्विवरणनामकम्, अन्यच्च झटिति विरचय्य तस्याः सद्भावनामंजूषाया अंगभूतं निवेशितं नन्दिटिप्पणकनामधेयं नूतनदृढफलम्। एतैश्च नूतनफलकैर्निवेशितैर्वज्रमयीव संजाताऽसौ मंजूषा तेषां पापानामगम्या। ततस्तैरतीवच्छलघातितया संचूर्णयितुमारब्धं तद्वारकपाटसंपुटम्। ततो मया ससंभ्रमेण निपुणं तत्प्रतिविधानोपायं चिन्तयित्वा विरचयितुमारब्धं तद्वारपिधानहेतोर्विशेषावश्यकविवरणाभिधानं वज्रमयमिव नूतनकपाटसंपुटम्।'।

में अपना एवं अपने गुरु का नाम देकर राजा जयसिंह के राज्य में संवत् 1175 की कार्तिक शुक्ला पंचमी के दिन इस वृत्ति की समाप्ति हुई।¹²⁰

बृहद्वृत्ति की रचना में निमित्त

मलधारी हेमचन्द्र इस टीका की रचना के कारण का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि दुःषमा कालचक्र के प्रभाव से शिष्यों की बुद्धि आदि का ह्रास होता जा रहा है, इसलिए वर्तमान में कुछ मंदमति शिष्यों के लिए विशेषावश्यकभाष्य आदि ग्रन्थ गूढार्थ व संक्षिप्त प्रतीत हो रहे हैं अर्थात् सामान्य जन को समझने में कठिनाई आ रही है। इसलिए मंदतम मति वाले शिष्यों को विषय वस्तु का बोध कराने के लिए उन्होंने विशेषावश्यकभाष्य पर बृहद्वृत्ति की रचना की।¹²¹

विशेषावश्यकभाष्य का मलधारी हेमचन्द्र की बृहद्वृत्ति सहित वीर सं. 2427-2441 में शाह हरखचंद भूरा भाई, बनारस द्वारा, दिव्यदर्शन ट्रस्ट, बम्बई द्वारा ई. 1982 में दो भागों में प्रकाशन हुआ है।

समीक्षण

भारतीय संस्कृति में जैनदर्शन का अनूठा स्थान है। सभी भारतीय दर्शनों ने अपनी मान्यताओं को पुष्ट करते हुए अन्य दर्शनों की मान्यताओं का खण्डन किया है। जैनदर्शन ही एक ऐसा दर्शन है, जिसमें स्याद्वाद के आधार से सभी दर्शनों की मान्यताओं को एक अपेक्षा से सही मानते हुए उनके समन्वय का प्रयास किया गया है। जैनदर्शन में जीव-अजीव से सम्बन्धित सभी मान्यताओं का सूक्ष्मदृष्टि से विवेचन किया गया है, जो कि अन्य दर्शनों में उपलब्ध नहीं होता है। प्रायः सभी भारतीय दर्शनों में किसी न किसी रूप में जीव की अंतिम अवस्था निर्वाण, मोक्ष अथवा मुक्ति को स्वीकार किया गया है एवं उसकी प्राप्ति हेतु विभिन्न उपायों का उल्लेख भी किया गया है। जैनदर्शन भी मोक्ष को स्वीकार करता है और उसको प्राप्त करने के लिए तीन मुख्य साधन प्रतिपादित करता है – सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र। मोक्ष-प्राप्ति के कारणों में दर्शन (सम्यग् श्रद्धा) के बाद ज्ञान का महत्त्वपूर्ण स्थान है। ज्ञान के बिना चारित्र (क्रिया) अंधा होता है। बिना चारित्र के ज्ञान लंगड़ा होता है, जो मोक्ष तक नहीं ले जा सकता है। मोक्ष के इन तीन हेतुओं का एक साथ विस्तार से वर्णन विशेषावश्यकभाष्य में प्राप्त होता है।

विशेषावश्यकभाष्य आचार्य जिनभद्रगणि (सातवीं शती) की कृति है। जिनभद्रगणि ने आवश्यक सूत्र पर आचार्य भद्रबाहु रचित आवश्यक निर्युक्ति के विषय को आधार बनाते हुए निर्युक्ति में जो विषय छूट गया उसको स्पष्ट करते हुए विशेषावश्यकभाष्य की रचना की है।

विशेषावश्यकभाष्य का मातृ स्थान आवश्यकसूत्र है। जैन आचार में आवश्यक सूत्र का अग्रणी स्थान है। इसके बिना जैनाचार शून्य है, क्योंकि साधक के दिन की शुरुआत इसी से होती है।

‘आवश्यक’ का अर्थ है – अवश्य करणीय। संयम-साधना के अंगभूत जो अनुष्ठान आवश्यकरूप से करणीय होते हैं, वे ‘आवश्यक’ कहलाते हैं।

जो क्रियानुष्ठान साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका रूप चतुर्विध संघ को, सूर्य उदय से पहले और सूर्य अस्त के पश्चात् लगभग एक मुहूर्त काल में प्रतिदिन और प्रतिरात्रि उभयकाल करना

120. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग 3, पृष्ठ 445-446

121. तस्य च यद्यपि श्रीजिनभद्रगणिक्षमाश्रमणपूज्यैः श्रीकोट्याचार्यैश्च वृत्तिर्विहिता वर्तते, तथाऽप्यगतिगम्भीरवाक्यात्मकत्वात्, किञ्चित्संक्षेपरूपत्वाच्च दुःषमानुभावतः प्रज्ञादिभिरपचीयमानानां किमपिविस्तराभिधानरुचीनां शिष्याणां नाऽसौ तथाविधोपकारं सांप्रतमाधातुं क्षमा, इति विचिन्त्य मुत्कलतरवाक्यप्रबन्धरूपा किमपिविस्तरवती च मन्दमतिनाऽपि मया मन्दतममति-शिष्यावबोधार्थं, श्रुताभ्याससंपादनार्थं च वृत्तिरियमारभ्यते। – विशेषावश्यकभाष्य बृहद्वृत्ति, भाग 1, पृ. 2

आवश्यक है, उसे 'आवश्यक' कहते हैं और उसके प्रतिपादक क्रियानुष्ठान के साथ बोले जाने वाले पाठ-समूह रूप सूत्र को 'आवश्यक सूत्र' कहते हैं अर्थात् श्रमणचर्या में जो मूलतः सहायक होता है, जिनका ज्ञान होना प्रत्येक श्रमण को मूलतः अपेक्षित है, वह आवश्यक है। जिनका इसमें वर्णन है, वह आवश्यक सूत्र है। प्रस्तुत अध्याय में आवश्यक सूत्र एवं उसके व्याख्या साहित्य का वर्णन करते हुए मुख्य रूप से आवश्यक कर्त्ता की समीक्षा की गई है।

आवश्यकसूत्र जैनाचार का प्राण होते हुए भी इसके कर्त्ता के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। कतिपय विद्वानों का मानना है कि सम्पूर्ण आगम को तीर्थंकर भगवान् अर्थ रूप में फरमाते हैं और उसी अर्थ का आश्रय लेकर गणधर (तीर्थंकरों के प्रधान शिष्य) उसको सूत्र रूप में गूँथते हैं। इस अपेक्षा से गणधर ही आवश्यकसूत्र के कर्त्ता हैं। जबकि कतिपय विद्वानों का मानना है कि आगम दो प्रकार के होते हैं - अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य आगम। अंगप्रविष्ट सूत्रों की रचना गणधर करते हैं, तथा अंगबाह्य की रचना आचार्य शिष्यों के उपकार के लिए करते हैं। नंदीसूत्र में वर्णित आगम-विभाजन में आवश्यक सूत्र को अंगबाह्य आगमों के साथ रखा गया है। इसलिए वह स्थविर आचार्यों द्वारा रचित है। इस प्रकार आवश्यक के कर्त्ता के सम्बन्ध में दो मत प्रचलित हैं।

तीर्थंकर भगवान् केवलज्ञान होने के बाद चतुर्विध संघ की स्थापना करते हैं। जिस दिन संघ स्थापना होती है, उस दिन भी साधु-साध्वियों के लिए आवश्यक अवश्यकरणीय होता है एवं उस दिन दीक्षित सभी साधु-साध्वी विशिष्ट मति वाले हों यह आवश्यक नहीं, अतः उनके लिए आवश्यक की आवश्यकता होती ही है। अतः आवश्यक की भी रचना उसी दिन होना संभव है। किन्तु वर्तमान में जो आवश्यक प्राप्त होता है, वह पूर्णतः गणधर कृत नहीं है। उसमें काल क्रम से पूर्वाचार्यों ने परिवर्तन किया है। अतः वर्तमान में प्राप्त आवश्यक का कुछ भाग गणधरकृत और कुछ भाग स्थविरकृत हो सकता है। यही मानना अधिक तर्क संगत प्रतीत होता है। आवश्यक के मुख्य रूप से छह अध्ययन होते हैं, जिन्हें षडावश्यक के रूप में जाना जाता है। -

1. **सामायिक** - समभाव की प्राप्ति; मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और सावद्य-अशुभयोग से विरति रूप क्रिया; ज्ञान, दर्शन, चारित्र में प्रवृत्ति रूप क्रिया।

2. **चतुर्विंशतिस्तव**-चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति, अर्हन्त देव के यथार्थ असाधारण गुणों का कीर्तन।

3. **वन्दना** - विनय, क्षमादि गुणवान् गुरु की प्रतिपत्ति।

4. **प्रतिक्रमण** - पाप से पीछे लौटना प्रतिक्रमण कहलाता है। अकरणीय कार्य के करने पर पश्चात्ताप करना गृहीत व्रतों में दोष लगने पर उनकी आलोचना करना प्रतिक्रमण है।

5. **कायोत्सर्ग** - काया की ममता छोड़ना, व्रतों के अतिचार रूप व्रण की चिकित्सा करना।

6. **प्रत्याख्यान** - तप करना, त्याग में वृद्धि करना, व्रतों के अतिचार रूप घावों को पूरना।

जैन वाङ्मय में आवश्यकसूत्र पर विपुल **व्याख्या साहित्य** प्राप्त होता है, जो मुख्य रूप से पांच भागों में है - 1. निर्युक्ति (आवश्यकनिर्युक्ति), 2. भाष्य (विशेषावश्यकभाष्य), 3. चूर्ण (आवश्यकचूर्ण), 4. वृत्ति (आवश्यकवृत्ति), 5. स्तबक (टब्बा) तथा वर्तमान समय में हिन्दी, गुजराती, अंग्रेजी आदि भाषाओं में भी आवश्यक पर विवेचन प्राप्त है।

(1) **निर्युक्ति** - निर्युक्ति का सामान्य अर्थ व्याख्या है। सूत्र में निश्चय किया हुआ अर्थ जिसमें निबद्ध हो उसे निर्युक्ति कहते हैं। आगमों पर आर्या छंद में प्राकृत गाथाओं में लिखा हुआ संक्षिप्त विवेचन निर्युक्ति है। ईसवी सन् की पांचवीं-छठी शताब्दी के पूर्व ही, निर्युक्तियाँ लिखी जाने लगी थीं।

निर्युक्तिकार आचार्य भद्रबाहु ने दस निर्युक्तियाँ लिखी हैं, जिनमें आवश्यक निर्युक्ति प्रथम है। आवश्यक निर्युक्ति पर जिनभद्रगणि, जिनदासगणि, हरिभद्र, कोट्याचार्य, मलयगिरि, मलधारी हेमचन्द्र, माणिक्यशेखर आदि आचार्यों ने विविध व्याख्याएं लिखी हैं।

आवश्यक निर्युक्ति में सर्वप्रथम मंगल के रूप में पांच ज्ञानों का वर्णन हुआ है। फिर सामायिक के प्रकारों का 26 द्वारों के माध्यम से विस्तार पूर्वक वर्णन किया गया है। इसी प्रसंग पर 24 तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव आदि के जीवन चरित्र पर प्रकाश डाला गया है। सामायिक का विस्तार से वर्णन करने के पश्चात् आवश्यक के शेष चतुर्विंशतिस्तव आदि अध्ययनों का विस्तार पूर्वक निरूपण किया गया है।

आवश्यकनिर्युक्ति जैन साहित्य का महत्त्वपूर्ण अंग होते हुए भी इसके कर्ता के सम्बन्ध में सभी विद्वान् एक मत नहीं हैं। कतिपय विद्वान् चतुर्दशपूर्वधर भद्रबाहु को आवश्यकनिर्युक्ति का कर्ता मानते हैं, तो कुछ विद्वान् नैमित्तिक भद्रबाहु को। सभी प्रमाणों की समीक्षा करने पर यह अधिक उचित प्रतीत होता है कि निर्युक्ति की रचना चतुर्दशपूर्व भद्रबाहु से प्रारंभ हो गई थी और कालक्रम से उसमें प्रसंगानुसार गाथाएं जुड़ती गईं और अन्त में नैमित्तिक भद्रबाहु ने परिष्कृत स्वरूप प्रदान किया है।

(2) भाष्य - निर्युक्तियों में मूल ग्रंथ में जो विषय वर्णित होता है, उसके अलावा अन्य विषय को नहीं समझाया जाता है, साथ ही वर्णित विषय गूढ़ और संक्षिप्त होता है। अतः निर्युक्तियों के गम्भीर रहस्यों को प्रकट करने के लिए पूर्वाचार्यों ने विस्तार से प्राकृत भाषा में जो पद्यात्मक व्याख्याएं लिखीं उन व्याख्याओं को भाष्य कहते हैं। भाष्यों का समय सामान्य तौर पर ईस्वी सन् की लगभग चौथी-पांचवीं शताब्दी माना जा सकता है। मुख्य रूप से जिनभद्रगणि और संघदासगणि भाष्यकार के रूप में प्रसिद्ध हैं।

आवश्यक सूत्र पर तीन भाष्य लिखे गए हैं - 1. मूलभाष्य 2. भाष्य एवं 3. विशेषावश्यक भाष्य। प्रथम दो भाष्य तो बहुत संक्षिप्त हैं और उनकी अनेक गाथाओं का समावेश विशेषावश्यकभाष्य में कर लिया गया है। अतः विशेषावश्यकभाष्य तीनों भाष्यों का प्रतिनिधि है। विशेषावश्यकभाष्य आवश्यक सूत्र के छह अध्ययनों में से सामायिक नामक प्रथम अध्ययन पर रचित है। इस भाष्य में 3603 गाथाएं हैं। यह ग्रंथ शक संवत् 531 में लिखा गया है।

आचार्य जिनभद्र कब हुए और किनके शिष्य थे, इस संबंध में परस्पर विरोधी उल्लेख मिलते हैं अकोटा (अंकोट्टक) गांव में प्राप्त मूर्तियों पर जिनभद्रगणि का नामोल्लेख है। डॉ. उमाकांत प्रेमानन्द शाह ने कला तथा लिपि के आधार पर इन मूर्तियों को ई० सन् 550 से 600 के मध्य की स्वीकार की है। इस आधार तथा अन्य प्रमाणों से जिनभद्रगणि का काल वि. सं. 545 से 650 तक माना जा सकता है। जिनभद्रगणि ने नौ ग्रंथों की रचना की है, यथा 1. विशेषावश्यकभाष्य, 2. विशेषावश्यकभाष्य स्वोपज्ञवृत्ति, 3. बृहत् संग्रहणी, 4. बृहत् क्षेत्रसमास, 5. विशेषणवती, 6. जीतकल्प सूत्र, 7. जीतकल्पसूत्र भाष्य, 8. ध्यानशतक और 9. अनुयोगचूर्णि।

जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने विशेषावश्यकभाष्य की रचना ऐसी शैली में की है कि दर्शन के सामान्य तत्त्वों के विषय में ही तर्कवाद का अवलम्बन नहीं लिया गया, जैनदर्शन की प्रमाण एवं प्रमेय सम्बंधी छोटी-बड़ी महत्त्वशाली सभी बातों के सम्बन्ध में तर्कवाद का प्रयोग करके जिनभद्रगणि ने दार्शनिक जगत् में जैनदर्शन को एक सर्वतन्त्र स्वतन्त्र रूप से ही नहीं, प्रत्युत सर्वतन्त्र समन्वय रूप में भी उपस्थापित किया है।

विशेषावश्यकभाष्य में जैन आगमों में प्रतिपादित सभी महत्त्वपूर्ण विषयों का वर्णन किया गया है। इस भाष्य की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि इसमें जैन धर्म की मान्यताओं का वर्णन मात्र जैन दर्शन की दृष्टि से न करते हुए अन्य दर्शनों के साथ तुलना, खण्डन और समर्थन आदि करते हुए किया गया है। अतः दार्शनिक दृष्टिकोण से भी यह ग्रंथ महत्त्वपूर्ण है। इसमें कोई संदेह नहीं है कि जैनागमों का रहस्य जानने के लिए विशेषावश्यकभाष्य एक उपयोगी ग्रंथ है। इसमें अग्र लिखित विषयों का समावेश किया गया है -मंगल का स्वरूप, ज्ञानपंचक, निरुक्त, निक्षेप, अनुगम, नयवाद, सामायिक की प्राप्ति, सामायिक के बाधक कारण, चारित्र लाभ, प्रवचन, सूत्र अनुयोग का पृथक्करण, आचार नीति, कर्म सिद्धांत, स्याद्वाद, ग्रंथि भेद, देश विरति, सर्वविरति सामायिक आदि पांच चारित्र, शिष्य की योग्यता-अयोग्यता, गणधरवाद, निहव अधिकार, सामायिक के विविध द्वार, दिगम्बरवाद, नमस्कार सूत्र की उत्पत्ति, करेमि भंते आदि पदों की व्याख्या। विशेषावश्यक भाष्य अपने आप में एक अनूठा ग्रन्थ है। यदि कोई स्वाध्यायी सम्पूर्ण जैनागमों का अध्ययन नहीं कर सके तो भी यदि वह विशेषावश्यकभाष्य का स्वाध्याय करले तो उसे जैनागमों में वर्णित सभी विषयों का परिज्ञान हो सकता है।

(3) चूर्णि - निर्युक्ति और भाष्य की रचना के बाद जैनाचार्यों ने आगमों पर गद्यात्मक व्याख्या साहित्य लिखा। यह साहित्य शुद्ध प्राकृत में और संस्कृत मिश्रित प्राकृत में लिखा गया है, जो आज चूर्णिसाहित्य के नाम से प्रसिद्ध है। अर्थ की बहुलता हो, महान् अर्थ हो, हेतु, निपात और उपसर्ग से जो युक्त हो, गंभीर हो, अनेक पदों से समन्वित हो, जिसमें अनेक गम हों और जो नयों से शुद्ध हो, जिसे चूर्णि कहा जाता है। चूर्णियों में प्राकृत की लौकिक, धार्मिक आदि अनेक कथायें दी गई हैं।

वाणिज्यकुलीन कोटिगणीय वज्रशाखीय जिनदासगणि महत्तर अधिकांश चूर्णियों के कर्ता के रूप में प्रसिद्ध हैं। आपका समय वि. सं. 650-750 के लगभग माना जाता है।

आवश्यकचूर्णि निर्युक्ति के अनुसार लिखी गई है, भाष्य की गाथाओं का उपयोग भी यत्र-तत्र हुआ है। मुख्य रूप से भाषा प्राकृत है, किन्तु संस्कृत के श्लोक एवं गद्य पंक्तियाँ भी उद्धृत की गई हैं। इसमें कथाओं की प्रचुरता है। इसकी विषय वस्तु भी प्रायः आवश्यक निर्युक्ति जैसी ही है।

(4) टीका - मूल आगम, निर्युक्ति एवं भाष्य, प्राकृत भाषा में लिखे गये और चूर्णिसाहित्य में भी प्रधान रूप से प्राकृत भाषा का प्रयोग हुआ है। इसके बाद आगमों पर संस्कृत भाषा में व्याख्याएं लिखी गई हैं, जिन्हें टीका कहा जाता है। टीकाएं आगम सिद्धांत को समझने के लिए अत्यंत उपयोगी हैं। आगम-साहित्य पर सर्वप्रथम संस्कृत के टीकाकारों में जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण का नाम सर्वप्रथम आता है, जिन्होंने विशेषावश्यकभाष्य की स्वोपज्ञवृत्ति की रचना की।

(अ) आवश्यकवृत्ति - आचार्य हरिभद्र ने आवश्यकनिर्युक्ति पर भी वृत्ति लिखी। इस वृत्ति का नाम शिष्यहिता है। इसका ग्रन्थमान 22000 श्लोकप्रमाण है। हरिभद्र का काल सभी प्रमाणों के आधार पर ई० सन् 700 से 770 (वि. सं. 757 से 827) तक निश्चित किया गया है। आचार्य हरिभद्र ने 1444 ग्रंथों की रचना की थी। आवश्यकवृत्ति की विषय वस्तु लगभग निर्युक्ति के समान है।

(आ) आवश्यकविवरण - आचार्य मलयगिरि ने भी आवश्यक सूत्र पर आवश्यकविवरण नामक वृत्ति लिखी है। वर्तमान में जो विवरण उपलब्ध है उसका ग्रंथमान 18000 श्लोक प्रमाण है। निर्युक्ति की गाथाओं पर सरल और सुबोध शैली में विवेचन किया गया है। आपका समय विद्वानों ने बारहवीं शताब्दी के आस-पास का स्वीकार किया है। आपकी उक्त टीका के अलावा नंदी, राजप्रश्नीय, पिंडनिर्युक्ति आदि से सम्बन्धित 25 टीका ग्रंथों का वर्णन प्राप्त होता है।

(इ) आवश्यकवृत्तिप्रदेशव्याख्या - मलधारी हेमचन्द्रसूरि ने हरिभद्रकृत आवश्यक वृत्ति पर 4600 श्लोक प्रमाण आवश्यकवृत्ति-प्रदेशव्याख्या या हारिभद्रीयावश्यकवृत्ति-टिप्पणक नामक वृत्ति लिखी है।

(ई) आवश्यकनिर्युक्ति-दीपिका - माणिक्यशेखरसूरि द्वारा रचित दीपिका आवश्यकनिर्युक्ति का शब्दार्थ एवं भावार्थ समझने के लिए बहुत उपयोगी है।

इनके अलावा जिनभट्ट, माणिक्यशेखर, कुलप्रभ, राजवल्लभ आदि ने आवश्यकसूत्र पर वृत्तियों का निर्माण किया है। इनके अतिरिक्त विक्रम संवत् 1122 में नमि साधु ने, संवत् 1222 में श्री चन्द्रसूरि ने, संवत् 1440 में श्री ज्ञानसागर ने, संवत् 1500 में धीरसुन्दर ने, संवत् 1540 में शुभवर्द्धनगिरि ने, संवत् 1697 में हितरुचि ने तथा सन् 1958 में पूज्य श्री घासीलालजी महाराज ने भी आवश्यकसूत्र पर वृत्ति का निर्माण कर अपनी प्रतिभा का परिचय दिया है।

(5) टब्बे - टीका युग के बाद लोकभाषाओं में सरल और सुबोध शैली में लिखे गए टिप्पण टब्बे कहलाते हैं। धर्मसिंह मुनि ने 18वीं शताब्दी में भगवती, जीवाभिगम, प्रज्ञापना, चन्द्रप्रज्ञप्ति और सूर्यप्रज्ञप्ति को छोड़ कर शेष 27 आगमों पर बालावबोध टब्बे लिखे थे।

अनुवाद युग - टब्बों के पश्चात् अनुवाद युग की शुरुआत हुई। मुख्य रूप से आगम-साहित्य का अनुवाद तीन भाषाओं में उपलब्ध है - अंग्रेजी, गुजराती और हिन्दी।

विशेषावश्यकभाष्य का व्याख्या साहित्य

(अ) विशेषावश्यकभाष्य स्वोपज्ञवृत्ति - आचार्य जिनभद्रगणि ने स्वरचित विशेषावश्यकभाष्य पर स्वयं ने स्वोपज्ञवृत्ति लिखी। आचार्य ने यह टीका गणधर अर्थात् गाथा 1863 तक की टीका लिखकर ही दिवंगत हो गये। आगे का भाग कोट्याचार्य ने पूर्ण किया।

(आ) विशेषावश्यकभाष्यविवरण - कोट्याचार्य द्वारा आवश्यक सूत्र पर 13700 श्लोक प्रमाण विशेषावश्यकभाष्यविवरण नामक टीका लिखी गई है। कोट्याचार्य का काल विक्रम की आठवीं शताब्दी माना जाता है।

(इ) शिष्यहिता नामक बृहद्वृत्ति - आचार्य मलधारी हेमचन्द्र ने विशेषावश्यकभाष्य पर शिष्यहिता नामक बृहद्वृत्ति की रचना की है। अपने गुरु अभयदेवसूरि के देवलोकगमन के बाद वि. सं. 1168 में मलधारी हेमचन्द्र ने आचार्य पद प्राप्त किया था। जिस पर वे लगभग वि. सं. 1180 तक रहे। अतः विद्वानों ने इनका समय वि. सं. 1140-1180 निर्णीत किया है।

आचार्य मलधारी हेमचन्द्र ने भाष्य में जितने विषय आये हैं, उन सभी विषयों को बहुत ही सरल और सुगम दृष्टि से समझाने का प्रयास किया है। यह इस टीका की बहुत बड़ी विशेषता है। शंका-समाधान और प्रश्नोत्तर की पद्धति का प्राधान्य होने के कारण पाठक को अरुचि का सामना नहीं करना पड़ता। यत्र-तत्र संस्कृत कथानकों के उद्धरण से विषय-विवेचन और भी सरल हो गया है। यह टीका 28000 श्लोक प्रमाण विस्तृत है।

मलधारी हेमचन्द्र ने दस ग्रंथ लिखे थे, जो इस प्रकार हैं - १. आवश्यक टिप्पण २. शतक विवरण ३. अनुयोगद्वार वृत्ति ४. उपदेशमाला सूत्र ५. उपदेशमालावृत्ति ६. जीवसमास विवरण ७. भवभावनासूत्र ८. भवभावनाविवरण ९. नन्दिटिप्पण १०. विशेषावश्यकभाष्य-बृहद्वृत्ति। इन ग्रंथों का कुल परिमाण 80000 श्लोक प्रमाण है। इस प्रकार प्रस्तुत अध्याय में आवश्यक सूत्र एवं विशेषावश्यकभाष्य से सम्बन्धित सम्पूर्ण विषय का विस्तार से निरूपण हुआ है।



द्वितीय अध्याय

ज्ञानमीमांसा : सामान्य परिचय

प्रत्येक भारतीय परम्परा में जीव का अंतिम लक्ष्य मोक्ष (निर्वाण) को स्वीकार किया गया है और उस अंतिम लक्ष्य की प्राप्ति में ज्ञान को साधन माना गया है। सभी भारतीय दार्शनिक इस बात पर सहमत हैं कि अविद्या का अस्तित्व अनादिकाल से है। अविद्या अनादि है, परंतु अनंत नहीं, वह सान्त है, उसका नाश हो सकता है, चूंकि अविद्या बंधन का कारण है, अतः अविद्या के विपरीत विद्या ही मोक्ष का कारण हो सकती है। अविद्या का नाश विद्या किंवा ज्ञान से होता है इसलिए ज्ञान ही मोक्ष का कारण है। अतः भारतीय दार्शनिक परम्पराओं में ज्ञान का विशेष महत्त्व है। महाभारत में कहा गया है कि वेद ज्ञान से शून्य और शास्त्रज्ञान से रहित ब्राह्मण काष्ठहस्ती अथवा पंखहीन पक्षी के समान है। भगवद्गीता के अनुसार इस पृथ्वी पर ज्ञान से बड़ा कोई पवित्र तत्त्व नहीं है।¹ आगे उल्लेख किया है कि जिस प्रकार से प्रज्वलित अग्नि, ईंधन को भस्म कर देती है, वैसे ही ज्ञानरूप अग्नि सम्पूर्ण कर्मों को भस्म कर देती है।² जो जितेन्द्रिय श्रद्धावान् पुरुष ज्ञान को प्राप्त करता है, वह तत्क्षण भगवत्प्राप्ति रूप परम शांति को प्राप्त हो जाता है।³ शंकराचार्य के अनुसार ज्ञान के समान पवित्र करने वाला, शुद्ध करने वाला इस लोक में दूसरा कोई तत्त्व नहीं है। अतः सभी भारतीय दर्शन एक मत से स्वीकार करते हैं कि ज्ञान ही जीव को सद्मार्ग दिखाता है और जब तक ज्ञान सम्यक् नहीं होगा तब तक जीव में हेय, ज्ञेय और उपादेय की बुद्धि विकसित नहीं होगी।

ज्ञान से ही जीव स्व-स्वरूप और पर-स्वरूप का एवं बंध, मोक्ष के कारणों का ज्ञाता-द्रष्टा होता है। क्योंकि बंधन से मुक्त होने के लिए अपने स्वरूप का, बंध एवं बंध के कारणों तथा बंधन से मुक्त होने की साधना का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है। ऐसे ज्ञान का अध्ययन जिसमें किया जाता है, वह ज्ञानमीमांसीय अध्ययन कहलाता है। ज्ञानमीमांसा जीवन दर्शन का अनादिकाल से आधार रही है। इसके अभाव में जीवन दर्शन का स्वरूप टिक नहीं सकता। अतः ज्ञानमीमांसीय अध्ययन में ज्ञान संबंधी समस्याओं की विवेचना है, जैसे - ज्ञान क्या है? ज्ञान का अर्थ क्या है? ज्ञान का स्वरूप क्या है? इत्यादि समस्याओं का युक्तियुक्त समाधान ज्ञानमीमांसीय अध्ययन में किया गया है।

प्रायः ज्ञान को आत्मा का गुण स्वीकार किया जाता है। इसमें भी मतान्तर प्राप्त होते हैं। प्रथम मान्यतानुसार ज्ञान आत्मा का आगन्तुक गुण है, यह मान्यता न्याय-वैशेषिक दर्शन में स्वीकृत है। ज्ञान को आत्मा का गुण मानने की दूसरी परम्परा जैन दर्शन की है, जिसके अनुसार ज्ञान आत्मा का स्वाभाविक (मौलिक) गुण है। आत्मा में स्वाभाविक ज्ञान सामर्थ्य विद्यमान है तथा वह एक उपयोगमय तत्त्व है। अपनी इन दो स्वाभाविक विशेषताओं के कारण आत्मा सदैव किसी न किसी पदार्थ को विषय बनाकर उसे जानता हुआ ही विद्यमान होता है। जैनदर्शन में ज्ञान के बिना आत्मा एवं आत्मा के बिना ज्ञान का अस्तित्व ही स्वीकार्य नहीं है। प्रस्तुत शोध ग्रन्थ में विशेषावश्यकभाष्य को आधार बनाते हुए मुख्यतः जैनदर्शन की श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्परा में मान्य ज्ञान के स्वरूप की समीक्षा की जाएगी।

1. न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिहं विद्यते। तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति। - श्रीमद्भगवद्गीता, 4.38

2. ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा। - श्रीमद्भगवद्गीता, 4.37

3. ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति। - श्रीमद्भगवद्गीता, 4.39

ज्ञान की परिभाषा

‘भूतार्थप्रकाशकं ज्ञानम्’ अर्थात् सत्यार्थ का प्रकाश करने वाले गुण विशेष को ज्ञान कहते हैं⁴ वाचस्पति मिश्र ने भामती में ज्ञान का लक्षण बताते हुए कहा है कि “योऽयमर्थप्रकाशफलम्” अर्थात् जिससे अर्थ अथवा विषय प्रकाशित हो वह ज्ञान है।

साध्वी डॉ. प्रियलताश्री ने अपने शोधग्रन्थ ‘जैनदर्शन में त्रिविध आत्मा की अवधारणा’⁵ में ज्ञान को कर्त्ता, करण और दोनों में अभेद के रूप में परिभाषित किया है –

1. ‘जानाति इति ज्ञानम्’ अर्थात् जो जानता है या जानने की क्रिया करता है, वह ज्ञान है। यहाँ क्रिया एवं कर्त्ता में अभेदोपचार करके ज्ञान को कर्त्ता अर्थात् आत्मा कहा गया है।

2. ‘ज्ञायते अवबुध्यते वस्तुतत्त्वमिति ज्ञानम्’ अर्थात् आत्मा वस्तुतत्त्व को जिसके द्वारा जानती है, वह ज्ञान है। यहाँ ज्ञान को साधन या करण माना गया है।

3. ‘ज्ञायते अस्मिन्निति ज्ञानमात्मा’ जिसको जाना जाता है, वह ज्ञान है, वही आत्मा है। ज्ञान की यह अधिकरणमूलक व्युत्पत्ति है। यहाँ परिणाम ज्ञान और परिणामी आत्मा में अभेदोपचार किया गया है।

ज्ञानी के लक्षण

अनेक शास्त्रों का अभ्यासी सच्चा ज्ञानी हो यह आवश्यक नहीं, किन्तु जिसमें अग्रांकित दस लक्षण होते हैं, वह सच्चा ज्ञानी है – 1. वह क्रोध रहित होता है, 2. वह वैराग्यवान् होता है, 3. वह जितेन्द्रिय होता है, 4. वह क्षमावंत होता है, 5. वह दयालु होता है, 6. वह सभी को हित, मित और प्रिय वचन बोलने वाला होता है, 7. वह निर्लोभी होता है, 8. वह निर्भय होता है, 9. वह शोक रहित होता है, 10. वह उदार, तटस्थ और त्यागी होता है।

ज्ञान और आत्मा का सम्बन्ध

ज्ञान और आत्मा का सम्बन्ध दण्ड और दण्डी के समान संयोग सम्बन्ध नहीं है। संयोग सम्बन्ध दो पृथक्-पृथक् द्रव्यों में सम्भव है। ज्ञान और आत्मा का अस्तित्व पृथक् सिद्ध नहीं है, अतः ज्ञान आत्मा का स्वाभाविक (मौलिक) गुण है। ज्ञान के अभाव में आत्मा का अस्तित्व नहीं है। व्यवहार नय से ज्ञान और आत्मा में भेद मान सकते हैं, लेकिन निश्चय नय से ज्ञान और आत्मा में किसी भी प्रकार का भेद नहीं है। वस्तुतः आत्मा ही ज्ञान है और ज्ञान ही आत्मा है⁶ दोनों में किसी भी प्रकार का भेद नहीं किया जा सकता है। तैत्तिरीयोपनिषद् में भी कहा है कि ‘सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म।’ अर्थात् सत्य ज्ञान अनन्त है, ब्रह्म रूप है।

ज्ञान आत्म-शक्ति रूप

ज्ञान आत्मा का प्रकाश है, जो सदा एक रस और शाश्वत है, बन्धनों से मुक्त रखने में सक्षम है। इसी तरह ज्ञान जीवन का सर्वोपरि तत्त्व है, वह जीवन का बहुमूल्य धन है। सभी प्रकार की भौतिक सम्पत्तियाँ तो नष्ट हो जाती हैं, किन्तु ज्ञानरूप आध्यात्मिक सम्पत्ति इस भव में, पर भव में और दोनों भवों में प्रत्येक परिस्थिति में साथ रहती है। ज्ञान जीव का वह प्रकाश है, जो सभी द्वन्द्वों, उलझनों और अन्धकार से मनुष्य को निकालकर शाश्वत पथ पर अग्रसर करता है। ज्ञान स्वयं ही

4. षट्खण्डागम, पुस्तक 1, सू. 1.1.4, पृ. 142 और साक्षान्मूर्तशेषपदार्थपरिच्छेदकमवधिज्ञानम्, पृ. 358

5. जैनदर्शन में त्रिविध आत्मा की अवधारणा, पृ. 55

6. जे आया से विण्णाया, जे विण्णाया से आया। – आचारांगसूत्र 5.5 पृ. 182, समयसार, गाथा 7

शाश्वत धन है। इस ज्ञान के अभाव में अज्ञानी मनुष्य जरा-सी विपत्ति एवं प्रतिकूल संयोगों में घबरा जाता है, अपने सिद्धान्तों से विचलित हो जाता है। इसके विपरीत सम्यग्ज्ञानी आत्मा बड़ी से बड़ी विपत्ति आने पर भी नहीं घबराता है, जीवन संकट में पड़ जाने पर भी अपने सिद्धान्तों से विचलित नहीं होता है। वह अपने ज्ञान बल से विपत्तियों को जीत लेता है। इसके लिए जैनागमों में अनेक उदाहरण भरे पड़े हैं - अन्तगड सूत्र में वर्णित गजसुकुमाल मुनि ने ध्यानावस्था में सोमिल ब्राह्मण द्वारा मस्तक पर अंगारे रखने पर भी शरीरादि पर राग और सोमिल पर द्वेष नहीं किया। आत्म-ज्ञान की शक्ति से उपसर्ग को समभाव से सहन करते हुए मोक्ष को प्राप्त कर लिया, इसी प्रकार इसी सूत्र में वर्णित अर्जुनमुनि ने आत्म-ज्ञान से समभाव रखकर मात्र छह महीने में ही अपने पूर्वबद्ध अशुभ कर्मों को नष्ट करके केवलज्ञान और मोक्ष को प्राप्त कर लिया था। आगमों में साधु ही नहीं श्रावकों का भी उल्लेख है, जिन्होंने ज्ञान के आलम्बन से मरणासन कष्टों में अपूर्व समभाव को धारण करते हुए परीषहों को जीत लिया है। जैसेकि सुदर्शन श्रमणोपासक को आत्मा के अविनाशित्व, नित्यत्व का ज्ञान हृदयगम हो चुका था, इसी ज्ञान शक्ति से वह अर्जुन मालाकार के भयंकर प्राणघातक आतंक और साक्षात् मौत को देखकर भी घबराया नहीं, समभावपूर्वक अपने आत्मा ज्ञान में स्थिर रहा है। इसी प्रकार ज्ञाताधर्मकथांग में वर्णित अर्हन्नक श्रावक की परीक्षा लेते हुए देव ने भयंकर उपसर्ग दिये, डराया धमकाया, प्रलोभन दिया फिर भी अर्हन्नक श्रावक अपने नियम पर मजबूत रहे थे। अतः ज्ञान बल का आचरणात्मक पहलू भी है, जिसके द्वारा मानव में ज्ञान की ऐसी शक्ति आ जाती है कि वह अपने आध्यात्मिक तत्त्व या सिद्धान्त पर अन्त तक स्थिर रहता है, वह आत्म-ज्ञान अर्थात् स्वरूप-ज्ञान से विचलित नहीं होता है, न ही उस पर शंका, कांक्षा और विचिकित्सा करके अपने सत्य (सिद्धान्त) से हटता है। अतः वह देव-दानव द्वारा प्रदत्त उपसर्ग यावत् साक्षात् मृत्यु का प्रसंग उपस्थित होने पर भी घबराता नहीं है।

ज्ञान-दर्शन किसको होते हैं?

आध्यात्मिक क्षेत्र में शरीर बल की नहीं आत्मबल की आवश्यकता होती है, इसको स्पष्ट करने के लिए **स्थानांग सूत्र** स्थान 4 उद्देशक 2 में चार भंग प्राप्त होते हैं, यथा - किसी एक कृश शरीर वाले पुरुष को छद्मस्थ सम्बन्धी ज्ञान दर्शन अथवा केवलज्ञान दर्शन उत्पन्न होते हैं किन्तु दृढ़ शरीर वाले पुरुष को नहीं। किसी एक दृढ़ शरीर वाले पुरुष को ज्ञान दर्शन उत्पन्न होते हैं किन्तु कृश शरीर वाले को नहीं, किसी एक कृश शरीर वाले पुरुष को भी ज्ञान दर्शन उत्पन्न होते हैं और दृढ़ शरीर वाले को भी उत्पन्न होते हैं, किसी एक न तो कृश शरीर वाले पुरुष को ज्ञान दर्शन उत्पन्न होते हैं और न दृढ़ शरीर वाले को उत्पन्न होते हैं। इन चारों भंगों में शरीर बल हो या नहीं इससे कोई मतलब नहीं है, लेकिन जिसका आत्मबल मजबूत है उसको ही ज्ञान दर्शन उत्पन्न हो सकते हैं।

ज्ञान ही चारित्र आधार

‘ज्ञानस्य फलं विरतिः’ सम्यक् ज्ञान जब अन्तर में स्थिर हो जाता है, सुदृढ़ हो जाता है, तब व्यक्ति उक्त ज्ञान को एवं आत्मा-अनात्मा के भेद विज्ञान को हृदयगम कर लेता है, तब उसके कारण पर पदार्थों के प्रति, विभावों के प्रति उसकी स्वभावतः विरति हो जाती है। उसकी आत्मा प्रत्येक सजीव-निर्जीव पर पदार्थ को जरूरत पड़ने पर अपनाता है, किन्तु उसके प्रति राग, द्वेष, मोह आसक्ति या घृणा नहीं रखकर ज्ञाता - द्रष्टा बना रहता है। ज्ञान-बल के कारण उसका कषाय भाव अत्यन्त मन्द या क्षीण हो जाता है।

ज्ञान की उपयोगिता

1. ज्ञान आत्मा का भोजन है, ज्ञान से आत्मा ताजा स्वस्थ, हृष्टपुष्ट बनती है। ज्ञान आत्मा का सत्त्व और तत्त्व है।
2. ज्ञान आत्मा का मूल गुण है, वह सहज स्वभाव रूप है।
3. मैं कौन हूँ? कहाँ से आया हूँ? और कहाँ जाने वाला हूँ? मेरा स्वरूप क्या है? मेरे जीवन का सार क्या है? मेरा कर्तव्य क्या है? मैं किसके लिए आया हूँ? आदि सभी प्रश्नों का जवाब ज्ञान द्वारा मिल सकता है।
4. ज्ञान आत्मा को पाप से अर्थात् दुर्गति और दुःख से बचा सकता है।
5. ज्ञान आत्मा को सद्गति अर्थात् मोक्ष (अव्याबाध सुख) दिला सकता है।
6. ज्ञान की आराधना से शुरु की गई साधना आगे के भाग में मोक्ष यात्रा में रूपांतरित होता है।
7. ज्ञान से जीव जगत् के यथार्थ स्वरूप को जानता है। जिससे उसको वैराग्य फल की प्राप्ति होती है, वैराग्य से मोक्ष मिलता है।
8. ज्ञान इस भव और परभव के लिए उपयोगी है, जैसे डोरी सहित सूई गुम नहीं होती और ढूँढने वाले के हाथ में आ जाती है, वैसे ही ज्ञान सहित आत्मा को स्व-स्वरूप का भान करा कर परमात्मा के साथ अनुसंधान करा देता है।
9. अज्ञान जैसे सबसे बड़े दुःख का निवारण ज्ञान से ही सम्भव है। ज्ञान स्वयं सुख का निधान है, ज्ञान आत्मा के स्वरूप का भान करा कर परमात्मा के साथ अनुसंधान करा देता है।
10. ज्ञान जीव को स्थिरता देता है।
11. ज्ञान आत्मा का वैभव, आत्मा की शक्ति, आत्मा का स्वरूप और आत्मा का ध्येय बताता है, मात्र स्वरूप और ध्येय ही नहीं, परंतु उसे प्राप्त करने का मार्ग भी बताता है।
12. प्रथम ज्ञान फिर दया, ज्ञान बिना मनुष्य पशु के समान है।
13. ज्ञान के बिना शुद्ध चरित्र की प्राप्ति नहीं हो सकती है।
14. धर्मज्ञान पाप, अकृत्य, भक्ष्य-अभक्ष्य आदि के सम्बन्ध में विवेक वाला बनता है।
15. ज्ञानी निंदनीय कामों से स्वयं को अलग रख सकता है, बचा सकता है।
16. शास्त्र ज्ञान – सच्चा ज्ञान शंकाओं का छेद करने वाला एवं मोक्षमार्ग का दर्शक है।

मोक्ष के लिए ज्ञान ही प्राथमिकता

सभी भारतीय दर्शनों ने 'ऋते ज्ञानान् मुक्तिः' अर्थात् ज्ञान के बिना मुक्ति प्राप्त नहीं होती है, ऐसा स्वीकार किया गया है। जैनदर्शन का भी यही मत है कि केवलज्ञान प्राप्त किये बिना मुक्ति सम्भव नहीं है। उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया है कि सम्यक् दर्शन (सम्यक् दृष्टि) के बिना ज्ञान सम्यक् नहीं होता और सम्यक् ज्ञान के बिना चरित्र गुण सम्यक् नहीं होता और सम्यक् चरित्र से रहित को मोक्ष (सर्वकर्ममुक्ति) नहीं होता और मोक्ष प्राप्ति से रहित को निर्वाण नहीं होता है।⁷ इससे स्पष्ट होता है कि मोक्षोपाय के सन्दर्भ में सम्यक् ज्ञान को प्राथमिकता दी गई है। ज्ञान की परिपूर्णता ही आत्मा का, विशेषतः साधक आत्मा का चरम लक्ष्य है। ज्ञान के परिपूर्ण हो जाने पर आत्मा यथा शीघ्र कर्म, देह और जन्म-मरणादि के दुःखों से सर्वथा विमुक्त हो जाता है।

ज्ञान का ज्ञेय विषय

जिससे जाना जाता है, वह ज्ञान है तथा जिसे जाना जाता है, वह ज्ञेय है। जैन दर्शन के अनुसार ज्ञान आत्मा का निज गुण अथवा स्वभाव है। निजगुण या स्वभाव उसे कहते हैं जो सदैव अपने गुणी के साथ रहता है, उससे कभी भी अलग नहीं होता है। जैन दर्शन में आत्मा को अनादि अनन्त माना है, इस अपेक्षा से ज्ञान भी आत्मा में अनादि-अनन्त काल से रहा हुआ है। आत्मा के स्वरूप आदि का जितना भी उल्लेख प्राप्त होता है, उसका मूल केन्द्र ज्ञान ही होता है। अतः आत्मा सभी गुणों को तो ज्ञान से जान सकता है, परन्तु स्वयं ज्ञान को कैसे जाना जाए? जैसे अग्नि स्वयं को नहीं जला सकती है, वह पदार्थ को ही जलाती है, वैसे ही ज्ञान, ज्ञान को कैसे जान सकता है? अर्थात् वह मात्र दूसरों को ही जानता है, स्वयं को नहीं। क्या ज्ञान कभी ज्ञेय बनता है कि नहीं? ज्ञेय का अर्थ है ज्ञान का विषय बनने वाला पदार्थ अर्थात् जिसका बोध हाता है, वह ज्ञेय हैं। ज्ञेय होने से ज्ञाता आत्मा और उसके दूसरे गुण भी ज्ञेय हैं। उनकी विभिन्न पर्याय भी ज्ञेय है, क्योंकि ये भी ज्ञान में प्रतिबिम्बित होती हैं। भारतीय दर्शन के सभी दार्शनिकों के सामने यह समस्या थी की ज्ञान मात्र दूसरों को ही जानता है, अथवा अपने आपको भी जान सकता है? सभी दार्शनिकों ने अपनी-अपनी मान्यता के अनुसार इसका समाधान करने का प्रयत्न किया है।

मीमांसा दर्शन की मान्यता है कि जैसे आंख दूसरे पदार्थों देख सकती है, पर स्वयं को नहीं देख सकती है वैसे ही ज्ञान में पर-पदार्थ को जानने की शक्ति तो होती है, लेकिन स्वयं को जानने की शक्ति उसमें नहीं होती है, अतः ज्ञान अज्ञेय है। जैनदार्शनिकों ने इसका खण्डन करते हुए कहा है क्योंकि ज्ञान अपने आपको जानता हुआ ही दूसरे पदार्थों का जानता है। कि यदि ज्ञान में जानने की शक्ति है, तो दूसरों के समान यह स्वयं अपने आपको क्यों नहीं जान सकता है? जैसेकि दीपक स्वयं को भी प्रकाशित करते हुए अपने सामर्थ्य के अनुसार अन्य पदार्थों को भी प्रकाशित करता है। दीपक को प्रकाशित करने के लिए दूसरे दीपक की आवश्यकता नहीं होती है, इसी प्रकार ज्ञान को जानने के लिए भी ज्ञान के अलावा अन्य किसी दूसरे पदार्थ की आवश्यकता नहीं होती है। अतः ज्ञान दीपक के समान स्व और पर प्रकाशक है। यदि दीपक में स्वयं को प्रकाशित करने की शक्ति न हो, तो वह दूसरे पदार्थों को भी प्रकाशित नहीं कर सकेगा। वैसे ही ज्ञान यदि स्वयं को नहीं जान सकता है, तो पर-पदार्थों को भी नहीं जान सकता है।

कणाद और गौतम का मानना है कि ज्ञान स्वयं को तो नहीं जान सकता है, लेकिन उसको जानने के लिए दूसरा ज्ञान साधन बनता है, जिसे अनुव्यवसायात्मक ज्ञान कहते हैं। इस प्रकार ज्ञान ज्ञेय के कोटि में आ सकता है। जैनदार्शनिकों ने इसका भी खण्डन किया है कि पहले ज्ञान को जानने के लिए दूसरा ज्ञान उत्पन्न होता है, इस प्रकार दूसरे के लिए तीसरा ज्ञान उत्पन्न होता है, इस परम्परा में जो अन्तिम ज्ञान होगा, यह तो अज्ञेय ही रह जाएगा तथा इस प्रकार अनवस्था दोष भी प्राप्त होता है। अतः यह मानना अधिक उचित है कि ज्ञान दीपक के समान स्व-पर को प्रकाशित करता है। जैनदर्शन के अनुसार ज्ञान स्व-पराभासी है, जिसका अर्थ है, कि वह अपने आपको जानता हुआ दूसरों को जानता है।

आत्मा का मुख्य लक्षण चेतना है। चेतना का अर्थ है उपयोग। उपयोग का अर्थ है ज्ञान और दर्शन। अतः आत्मा चेतन है, इसका अर्थ है कि वह ज्ञान-दर्शन स्वरूप है। इस प्रकार ज्ञान आत्मा का विशिष्ट गुण है। ज्ञान से ही आत्मा के स्वरूप और आत्मा से भिन्न पुद्गलों का ज्ञान होता है,

ज्ञान से आत्मा पुण्य-पाप, बन्ध-मोक्ष के स्वरूप को जानता है। आत्मा के प्रमेयत्व आदि गुण तो आत्मा से भिन्न जड़ पदार्थों में भी पाये जाते हैं, लेकिन ज्ञान गुण आत्मा का असाधारण गुण है, जो एक मात्र आत्मा में ही होता है। हम यह कहें कि एक ज्ञान गुण में आत्मा के अन्य सभी गुणों का समावेश हो जाता है, तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी।

जैनदर्शन के अनुसार धर्मास्तिकाय आदि छह द्रव्यों के अलावा संसार में कुछ भी नहीं है। इन छह द्रव्यों में जीव द्रव्य ज्ञाता भी है और ज्ञेय भी है, शेष पांच द्रव्य मात्र ज्ञेय हैं। ज्ञाता में ज्ञेय पदार्थ प्रतिक्षण झलकते रहते हैं। छद्मस्थ का ज्ञान मर्यादा से युक्त होता है, जबकि केवली का ज्ञान मर्यादा से रहित होता है। केवली केवलज्ञान में सभी पदार्थों और पदार्थों की अनन्तान्त पर्यायों को जानते हैं। संसार की एक भी ऐसी वस्तु नहीं है, जो केवलज्ञान का ज्ञेय नहीं बनती हो। संसार के चेतन अथवा जड़ रूप प्रत्येक पदार्थ ज्ञान का विषय होने से ज्ञेय होते हैं। ज्ञान का विषय मूर्त और अमूर्त सभी प्रकार के पदार्थ हो सकते हैं। स्थूल और सूक्ष्म सभी प्रकार के पदार्थ ज्ञान के विषय हैं।

वैशेषिक दर्शन के अनुसार जब तक आत्मा में ज्ञान है तब तक आत्मा की मुक्ति भी नहीं हो सकती है। वैशेषिक दर्शन में मुक्तावस्था में आत्मा में ज्ञान स्वीकार नहीं किया गया है। लेकिन यह सही नहीं है क्योंकि ज्ञान से शून्य तो जड़ होता है, मुक्तावस्था में ज्ञान नहीं मानने पर वह अजीववत् हो जाएगा, जो कि किसी भी बुद्धिमान् को स्वीकार नहीं है। जैन दर्शन के अनुसार ज्ञान दुःख का कारण नहीं है, किन्तु राग-द्वेष दुःख के कारण कहे गए हैं। ज्ञान से तो दुःख को दूर किया जाता है, ज्ञान और विवेक के कारण ही आत्मा में से विषमता दूर होकर समता उत्पन्न होती है।

बौद्ध केवल विशेष को, सांख्य केवल सामान्य को और नैयायिक-वैशेषिक सामान्य एवं विशेष दोनों को स्वतंत्र रूप से ज्ञान का ज्ञेय स्वीकार करते हैं। जैनदर्शन के अनुसार ज्ञान का विषय द्रव्य और पर्याय अथवा सामान्य-विशेषात्मक रूप वस्तु है, क्योंकि उसके अलावा अन्य वस्तु ज्ञेय नहीं बन सकती है। संसार में पदार्थ अनन्त हैं, इसलिए उन अनन्त पदार्थों को विषय करने वाला ज्ञान भी अनन्त है। किन्तु आवरण-दशा में ज्ञान सीमित होता है, अतः सीमित पदार्थ ही हमारे ज्ञेय बनते हैं। निरावरण दशा में ज्ञान अनन्त हो जाता है, अतः वह अनन्त पदार्थों को जान सकता है।

इन्द्रिय और मन के माध्यम से ही हमारा ज्ञान ज्ञेय को जानता है। इन्द्रियों की शक्ति सीमित है, वे मन के साथ अपने विषयों को स्थापित कर ही जान सकती हैं। मन का सम्बन्ध एक समय में एक इन्द्रिय से ही होता है। अतः एक समय में एक पदार्थ की एक ही पर्याय जानी जा सकती है। अतः ज्ञान को ज्ञेयाकार मानने की आवश्यकता नहीं। यह सीमा आवृत्त ज्ञान के लिए है, अनावृत्त ज्ञान के लिए नहीं। अनावृत्त ज्ञान में तो एक साथ सभी पदार्थ जाने जा सकते हैं।

ज्ञान और ज्ञेय का सम्बन्ध - ज्ञान के द्वारा संसार में समस्त ज्ञेय पदार्थों को जाना जाता है। सामान्यतः ज्ञान और ज्ञेय दोनों स्वतंत्र हैं, किन्तु आत्मा के ज्ञेय होने पर उसे भी स्वकीय ज्ञान से ही जाना जाता है। ज्ञान आत्मा का गुण है। जब हम पदार्थ को जानते हैं, तब ज्ञान उत्पन्न नहीं होता, किन्तु उस समय उसका प्रयोग होता है, जानने की शक्ति तो आत्मा में रहती है। अतः ज्ञान की प्रवृत्ति होती है, उत्पत्ति नहीं।

ज्ञानी और ज्ञेय का विषय-विषयीभाव सम्बन्ध है। प्रमाता का ज्ञान उसका स्वभाव है इसलिए वह विषयी है। अर्थ ज्ञेय स्वभाव है, इसलिए वह विषय है।⁸ दोनों स्वतंत्र हैं तथापि ज्ञान में अर्थ को

जानने की और अर्थ में ज्ञान के द्वारा जाने जा सकने की क्षमता है। यही दोनों में कथंचित् अभेद का कारण है। संसार के सभी ज्ञेय पदार्थों का उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य रूप परिणमन होता है। ज्ञान की परिणति ज्ञेयाकार होती है। ज्ञेय पदार्थों में उत्पाद-व्यय होने पर वह ज्ञान में प्रतिभासित होता है, ज्ञान आत्मा का गुण है और उसे द्रव्य, गुण और पर्याय से युक्त कहा गया है। ज्ञेय पदार्थों में घटित होने वाला उत्पाद-व्यय ज्ञान-गुण में भी घटित होता है। द्रव्य और गुण में भी कथंचित् अभेद है।

आत्मा ज्ञाता है और संसार के सभी पदार्थ ज्ञेय हैं। ज्ञाता अपनी शक्ति से ज्ञेय को जानता है, वस्तुतः वही ज्ञान है। आत्मा और ज्ञान में गुण (ज्ञान) और गुणी (आत्मा) का भी सम्बन्ध है।

ज्ञान का कारण

प्रत्येक कार्य का कोई न कोई कारण होता है, उसी प्रकार जैनदर्शन के अनुसार ज्ञान का कारण आठ प्रकार के कर्मों में से ज्ञानावरणीय कर्म है। ज्ञान को आवरित करने वाला कर्म ज्ञानावरण कहलाता है। ज्ञानावरण शब्द ज्ञान और आवरण से मिलकर बना है। जिसका अर्थ है ज्ञान पर आवरण आना। जो वस्तु पहले से ही विद्यमान है, उसे ढक देना, प्रकट नहीं होने देना आवरण है। जिस प्रकार सूर्य के आगे बादल आ जाते हैं, तो सूर्य दिखाई नहीं देता है। उसका प्रकाश पूर्ण प्रकट नहीं होता है। बादल सूर्य और उसके प्रकाश पर आवरण है। इसी प्रकार ज्ञान गुण के प्रकाश का प्रकट नहीं होना अर्थात् ज्ञान का आत्मा में पूर्णतः अभिव्यक्त नहीं होना, ज्ञानावरण है। इस कर्म के क्षय-क्षयोपशम से ही जीव को ज्ञान की प्राप्ति होती है।

जीवों में ज्ञान की न्यूनाधिकता का कारण

जैन दार्शनिकों ने ज्ञान को आत्मा का स्वाभाविक गुण माना है। जिस प्रकार सूर्य स्वभावतः स्व-पर प्रकाशक होता है, वह अन्य निरपेक्ष रूप से ही स्वयं को तथा उसके प्रकाशित क्षेत्र में रहे हुए सभी पदार्थों को प्रकाशित करता है। लेकिन बीच में धूल, बादल आदि का व्यवधान आने पर सूर्य व्यवधानों की तीव्रता, सघनता आदि के आधार पर पदार्थों को न्यूनाधिक प्रकाशित करता है। इसी प्रकार संसारी आत्मा में ज्ञानावरणीय कर्म जितना सघन होता है, उसका उदय जितना तीव्र होता है, आत्मा में विषय बोध की क्षमता उतनी ही कम हो जाती है तथा आवरण कर्मों के क्षयोपशम में वृद्धि की मात्रा के साथ यह स्वतः विकसित होती जाती है। अतः संसार के सभी जीवों का ज्ञानोपयोग एक समान नहीं होता है, उसमें भिन्नता दिखाई देती है। इस ज्ञान की न्यूनाधिकता का सम्बन्ध प्रायः विद्वान् उपर्युक्त कथनानुसार ज्ञानावरणीय कर्म के साथ जोड़ते हैं। पं. कन्हैयालाल लोढ़ा ने ज्ञानावरण का सम्बन्ध मोहनीय कर्म के साथ जोड़ा है, उनके अनुसार ज्ञान के आवरण का तथा ज्ञान गुण के घटने-बढ़ने का सम्बन्ध मोह के घटने-बढ़ने से है। ज्ञान गुण की न्यूनाधिकता का सम्बन्ध बाह्य जगत् की वस्तुओं को अधिक या कम जानने से नहीं है, कारण कि गुणस्थान चढ़ते समय कोई साधक बाह्य जगत् के गणित, खगोल, भूगोल आदि को अधिक जानने लगता हो तथा गुणस्थान उतरते समय इनका ज्ञान कम हो जाता हो, ऐसा नहीं होता है अर्थात् बाह्य वस्तुओं, भाषा, साहित्य, विज्ञान आदि को जानने से अथवा नहीं जानने से ज्ञानावरणीय कर्म की न्यूनाधिकता का माप नहीं किया जा सकता है। अतः ज्ञान गुण की उपयोगिता के बढ़ने, घटने व अभाव होने से ज्ञान गुण घटता-बढ़ता नहीं है, जैसेकि कोई व्यक्ति अपने नेत्रों से वस्तुओं को देख रहा है तब वह चक्षुरिन्द्रिय मतिज्ञान का उपयोग कर रहा है। श्रोत्रेन्द्रिय आदि शेष इन्द्रियों के मतिज्ञान का, श्रुतज्ञान का, दर्शन का अंश मात्र भी उपयोग नहीं हो रहा है, अतः इनके उपयोग का अभाव होने से

श्रोत्रेन्द्रिय आदि मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और दर्शन गुण का अभाव हो जाता है, ऐसा नहीं है अथवा इन गुणों का आवरण घट-बढ़ जाता है, ऐसा भी नहीं है। ज्ञान (श्रुतज्ञान) के अनुरूप आचरण कर कषाय को क्षीण करने से, चारित्र मोहनीय कर्म को क्षीण करने से और चारित्र की शुद्धि से ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम और क्षय होता है। ज्ञान आत्मा का गुण है। गुण की वृद्धि कभी अहितकर नहीं हो सकती है। जिस ज्ञान से विषय-कषाय, राग-द्वेष मोह में वृद्धि हो, वह ज्ञान आत्मा का गुण नहीं है, अपितु ज्ञानावरणीय कर्म का उदय है। जिस ज्ञान से विषय भोगों की रुचि जगे, आरंभ-परिग्रह की वृद्धि हो, काम, क्रोध, मद, लोभ अहं का पोषण हो, वह ज्ञान के अनादर का फल है, ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम का फल नहीं है, वह औदयिक भाव है। अतः इन्द्रिय-विषय एवं कषायवर्धक ज्ञान को ज्ञानावरणकर्म का क्षयोपशम मानना युक्तिसंगत नहीं है।⁹

ज्ञानावरणीय कर्म के बंध के कारण - भगवती सूत्र शतक 8 उद्देशक 9 में ज्ञानावरणीय कर्म बन्ध के छह कारणों का उल्लेख है - 1. **णाणपडिणीययाए** - ज्ञान और ज्ञानी की प्रत्यनीकता (विरोध) करने से अथवा उनेक प्रतिकूल आचारण करना या उनका अवर्णवाद बोलना से, 2. **णाणणिण्हवणयाए** - ज्ञान एवं ज्ञानदाता का अपलाप करने (लोप करने-छुपाने) से अथवा जिससे ज्ञान प्राप्त किया है, उसका उपकार नहीं मानना से, 3. **णाणंतराएणं** - ज्ञान प्राप्त करने वाले को अन्तराय डालने (बाधक बनने) से, 4. **णाणप्पओसेणं** - ज्ञान व ज्ञानी से द्वेष करने से, ज्ञान व ज्ञानी के दोष निकालने से, 5. **णाणच्चासायणाए** - ज्ञान व ज्ञानी की आशातना करने से और 6. **णाणविसंवायणाजोगेणं** - ज्ञानी से विसंवाद (वितण्डावाद) करने से अथवा दोष बताने वाली प्रवृत्ति करने से।

ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग

जीव का लक्षण उपयोग है, जो कि जीव का असाधारण लक्षण है। जो उपयोग युक्त है वह जीव और जो उपयोग रहित हो, वह अजीव है। यहाँ उपयोग का अर्थ जीव का बोध रूप व्यापार है। उपयोग के दो भेद हैं - साकार (ज्ञान) और अनाकार (दर्शन)। आत्मा का बोध रूप व्यापार जो वस्तु के सामान्य धर्म को गौण करके मुख्य रूप से वस्तु के विशेष धर्म को जानता है, वह साकार (ज्ञान) उपयोग है अर्थात् स्व और अन्य पदार्थों का विशेष ज्ञान होने रूप कार्य ज्ञानोपयोग है। आत्मा का बोधरूप व्यापार वस्तु के विशेष धर्म को गौण करके वस्तु के सामान्य धर्म को मुख्य रूप से जानता है, वह अनाकार (दर्शन) उपयोग है अर्थात् स्व और अन्य पदार्थों का सामान्य दर्शन होने रूप कार्य दर्शनोपयोग है। ज्ञानोपयोग है जीव द्वारा दीपक के समान स्व और पर पदार्थ को प्रतिभासित करना और दर्शनोपयोग है जीव द्वारा दर्पण के समान स्व और पर पदार्थ को अपने में प्रतिबिम्बित करना। कहने का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार दीपक का स्वभाव स्व और अन्य पदार्थों को प्रतिभासित करने का है, उसी प्रकार जीव का स्वभाव भी स्व और अन्य पदार्थों को प्रतिभासित करने का है तथा जिस प्रकार दर्पण का स्वभाव स्व और अन्य पदार्थों को अपने अन्दर प्रतिबिम्बित करने का है, उसी प्रकार जीव का स्वभाव भी स्व और अन्य पदार्थों को अपने अन्दर प्रतिबिम्बित करने का है।¹⁰

ज्ञान और दर्शन की परिभाषा की समालोचना

पूर्वाचार्यों ने सामान्य को दर्शन और विशेष को ज्ञान कहा है। लेकिन कन्हैयालाल लोढ़ा के मन्तव्यानुसार यह समीचीन प्रतीत नहीं होता है, क्योंकि सामान्य शब्द से अभिप्राय यहाँ ज्ञान से

9. कन्हैयालाल लोढ़ा, बन्ध तत्त्व, पृ. 2-4

10. सरस्वती-वरदपुत्र पं. बशीधर व्याकरणाचार्य अभिनन्दन-ग्रंथ, खंड 4, पृ. 49

लगाया जाय, तो फिर ज्ञान गुण के ही दो भेद हो जायेंगे - 1. सामान्य ज्ञान और 2. विशेष ज्ञान। इससे दर्शन के स्वरूप का अस्तित्व लोप हो जाएगा। अतः यहाँ 'सामण्णग्रहणं दंसणं' से सामान्य शब्द का अभिप्राय सामान्य ज्ञान नहीं हो सकता है। पूर्वाचार्यों ने दर्शनगुण की निम्न विशेषताएं बतलाई हैं - 1. निर्विकल्प 2. अनाकार 3. अनिर्वचनीय 4. अविशेष 5. अभेद 6. स्वसंवेदन 7. अंतर्मुख चैतन्य आदि तथा ज्ञानगुण की विशेषताएं हैं - 1. सविकल्प 2. साकार 3. विशेष 4. बहिर्मुख चित् प्रकाश आदि। यदि हम सामान्य शब्द का अभिप्राय सामान्य ज्ञान से लेंगे, तो ज्ञान की तीनों विशेषताएं सविकल्पता, साकारता, वचनीयता का दर्शन के साथ जुड़ने का प्रसंग उपस्थित हो जायेगा और इनके होने पर वह दर्शन 'दर्शन' गुण ही न रहेगा, ज्ञान गुण हो जायेगा। अतः प्रश्न होता है कि ऐसा है तो पूर्वाचार्यों ने 'सामान्य ग्रहण' को दर्शन क्यों कहा है? इसका समाधान यह है कि दर्शन निर्विकल्प व अनाकार होने से अनिर्वचनीय है। जो अनिर्वचनीय है, उसे वचन से परिभाषित नहीं किया जा सकता। परन्तु दर्शन को समझाने के लिए कोई न कोई आधार प्रस्तुत करना आवश्यक था। अतः पूर्वाचार्यों ने एक निषेधात्मक संकेतपरक मार्ग का अनुगमन किया और वह यह है कि उन्होंने ज्ञान गुण को परिभाषित किया और कहा कि जिसमें विशेष-विशेष जानकारी हो, वह ज्ञान है और ज्ञान गुण से भिन्न जो गुण है, वह दर्शन गुण है। ज्ञानगुण है - विशेष की जानकारी, अतः ज्ञान गुण से भिन्न गुण वह होगा जिसमें विशेष की जानकारी का अभाव हो। संसार में दो ही बातें देखी जाती हैं - सामान्य और विशेष। अतः विशेष के अभाव को दिखाने के लिए आचार्यों ने संकेतात्मक रूप से सामान्य शब्द का प्रयोग किया। सारांश में हम कह सकते हैं कि जहाँ सामान्य ग्रहण दर्शन कहा है वहाँ सामान्य शब्द का प्रयोग अविशेष अनुभूति के लिए हुआ है, जिसका दूसरा नाम संवेदन है। श्री वीरसेनाचार्य ने दर्शन और ज्ञान के स्वरूप का वर्णन करते हुए 'सगसंवेयण' स्व-संवेदन को दर्शन कहा है।¹¹

डॉ. मोहनलाल मेहता के अनुसार दर्शन को सामान्यग्राही मानने का अर्थ केवल इतना ही है कि उस उपयोग में सामान्य धर्म झलकता है। जब कि ज्ञानोपयोग में विशेष धर्म की ओर प्रवृत्ति रहती है। इसका यह अर्थ नहीं कि सामान्य का तिरस्कार करके विशेष का ग्रहण किया जाता है अथवा विशेष को एक ओर फेंककर सामान्य का सम्मान किया जाता है। वस्तु में दोनों धर्मों के रहते हुए भी उपयोग किसी एक धर्म को मुख्य रूप से ग्रहण कर सकता है। यदि ऐसा न होता तो हम सामान्य और विशेष का भेद ही नहीं कर पाते। उपयोग में धर्मों का भेद हो सकता है, वस्तु में नहीं। उपयोग में सामान्य और विशेष का भेद किसी भी तरह व्यभिचारी नहीं है।¹²

ज्ञान और दर्शन में अन्तर

1. ज्ञानोपयोग में स्वपरव्यवसायात्मकता होने पर प्रमाणता है और दर्शनोपयोग में स्वव्यवसायात्मकता और परव्यवसायात्मकता दोनों का अभाव होने से प्रमाणता नहीं है।

2. ज्ञानोपयोग को विशेषग्रहण तथा साकार, सविकल्पक और व्यवसायात्मक स्वीकार किया गया है। जबकि दर्शनोपयोग सामान्य अवलोकन या सामान्यग्रहण रूप तथा निराकार, निर्विकल्पक और अव्यवसायात्मक स्वीकार किया गया है।

3. दर्शनोपयोग ज्ञानोपयोग की उत्पत्ति में कारण होता है।

11. कन्हैयालाल लोढ़ा, बन्धतत्त्व, पृ. 62-63

12. जैन धर्म-दर्शन एक समीक्षात्मक परिचय, बैंगलोर, सेठ-मूथा छगनमल मेरोरियल फाउण्डेशन, पृ. 294

4. ज्ञानोपयोग विद्यमान और अविद्यमान दोनों प्रकार के पदार्थों के विषय में होता है जबकि दर्शनोपयोग केवल विद्यमान पदार्थों के विषय में ही होता है।

5. ज्ञानोपयोग में पदार्थ प्रतिभास रूप होता है जबकि दर्शनोपयोग में पदार्थ प्रतिबिम्ब रूप होता है।

6. जीव के दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग सम्बन्धी आवरणक कर्म भिन्न-भिन्न हैं, तथा इनके क्षय और क्षयोपशम से इनका पृथक्-पृथक् विकास होता है।¹³

7. चक्षु आदि दर्शन दर्शनावरणीय कर्म की प्रकृतियाँ हैं, जबकि श्रद्धान रूप दर्शन दर्शनमोहनीय से सम्बन्ध रखता है, इसलिए दोनों प्रकार के दर्शन अलग-अलग हैं¹⁴ तथा ये दोनों ज्ञान से भिन्न हैं। क्योंकि श्रद्धानरूप दर्शन होने पर ही ज्ञान सम्यग् ज्ञान की श्रेणी में आता है।¹⁵

ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग के भेद

ज्ञानोपयोग के आठ भेद हैं - जिसमें पांच ज्ञान रूप हैं। यथा - मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान और केवलज्ञान तथा तीन अज्ञान रूप हैं - मति अज्ञान, श्रुत अज्ञान और विभंगज्ञान (अवधि अज्ञान)। इनका विस्तार से वर्णन प्रसंगानुसार किया जायेगा।

1. **आभिनिबोधिक ज्ञान** - पांच इन्द्रियाँ और मन की सहायता से योग्य स्थान में रहे हुए पदार्थ को जानने वाला ज्ञान आभिनिबोधिक ज्ञान कहलाता है इसका दूसरा नाम मतिज्ञान है।

2. **श्रुत ज्ञान** - पांच इन्द्रियाँ और मन की सहायता से शब्द से सम्बन्धित अर्थ को जानने वाले ज्ञान को श्रुत ज्ञान कहते हैं।

3. **अवधिज्ञान** - इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना रूपी द्रव्य को मर्यादापूर्वक जानने वाला ज्ञान अवधिज्ञान कहलाता है।

4 **मनः पर्यवज्ञान** - अढ़ाई द्वीप में रहे हुए संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक जीवों के मन द्वारा चिन्तित रूपी पदार्थों को जानने वाला ज्ञान मनः पर्यवज्ञान कहलाता है।

5. **केवल ज्ञान** - केवलज्ञानावरणीय कर्म के समस्त क्षय से उत्पन्न होने वाला ज्ञान केवलज्ञान कहलाता है। यह ज्ञान क्षायिक ज्ञान है।

मिथ्यादृष्टि में मति, श्रुत और अवधि अज्ञान या विभंग ज्ञान होता है।

दर्शनोपयोग के चार प्रकार होते हैं - चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन। जिनका अर्थ पं. बंशीधर व्याकरणाचार्य के अनुसार इस प्रकार से है - **चक्षुदर्शन** - नेत्र इन्द्रिय द्वारा पदार्थ के नियत आकार का नियत आत्मप्रदेशों में पहुँच जाना चक्षुदर्शन है। **अचक्षुदर्शन** - नेत्र इन्द्रिय को छोड़कर शेष स्पर्शन, रसना, नासिका और कर्ण इन चारों इन्द्रियों में से किसी भी इन्द्रिय द्वारा अथवा मन द्वारा अपने-अपने अनुरूप पदार्थ के नियत आकारों का नियत आत्म-प्रदेशों में पहुँच जाना अचक्षुदर्शन है। **अवधिदर्शन** - इन्द्रिय अथवा मन की सहायता के बिना ही रूपवान् (पुद्गल) पदार्थ के आकार का नियत आत्मप्रदेशों में पहुँच जाना अवधिदर्शन है। **केवलदर्शन** - इन्द्रिय अथवा मन की सहायता के बिना ही विश्व के समस्त पदार्थों के आकारों का सर्व आत्मप्रदेशों में पहुँचना केवलदर्शन है।¹⁶

पांच ज्ञानों के नये नामों का उल्लेख डॉ. सागरमल जैन¹⁷ ने किया है, यथा - 1. अनुभवात्मकज्ञान (मतिज्ञान), 2. बौद्धिक या विमर्शमूलक ज्ञान (श्रुतज्ञान), 3. अपरोक्ष ज्ञान या अन्तर्दृष्ट्यात्मकज्ञान

13. सरस्वती वरदपुत्र पं. बंशीधर व्याकरणाचार्य अभिनन्दग्रंथ, खंड 4, पृ. 54

14. तत्त्वार्थसूत्र 8.5, 6.11, 14, 15

15. तश्लोकवार्तिक 1.1.34

16. सरस्वती वरदपुत्र पं. बंशीधर व्याकरणाचार्य अभिनन्दग्रंथ, खंड 4, पृ. 15

17 जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, भाग 1, पृ. 217

(अवधिज्ञान), 4. आत्मचेतनता (मनःपर्यवज्ञान) और 5. आत्मसाक्षात्कार (केवलज्ञान)। इसी प्रकार चक्षु आदि चार दर्शन के नाम इस प्रकार हैं - 1. प्रत्यक्षीकरण (चक्षुदर्शन) 2. संवेदना (अचक्षुदर्शन) 3. अतीन्द्रिय-प्रत्यक्ष (अवधिदर्शन) और 4. आत्मानुभूति (केवलदर्शन)।

दर्शन और ज्ञान में पहले कौन?

छद्मस्थ के ज्ञान और दर्शन के सम्बन्ध में सभी जैन दार्शनिक एकमत हैं कि पहले दर्शन और बाद में ज्ञान होता है। लेकिन केवली के ज्ञान और दर्शन के सम्बन्ध में मुख्य रूप से तीन मतान्तर मिलते हैं - 1. दर्शन और ज्ञान क्रमशः होते हैं, 2. दर्शन और ज्ञान युगपद् होते हैं और 3. दर्शन और ज्ञान अभिन्न हैं। लेकिन अनेकान्त दृष्टि से इन तीनों मतों में भेद नहीं है। विस्तार से इन तीनों मतों की समीक्षा प्रसंगानुसार आगे केवलज्ञान के प्रकरण में की जायेगी।

ज्ञानोपयोग मिथ्या क्यों ?

ज्ञानोपयोग के आठ भेदों में से तीन भेद (मति अज्ञान, श्रुत अज्ञान एवं विभंगज्ञान) मिथ्या रूप बताये हैं, लेकिन दर्शनोपयोग के चार भेदों में से एक भी भेद मिथ्या नहीं है? इसका समाधान यह है कि दर्शन गुण के प्रकट होने में विकल्पो का अभाव होता है अर्थात् उसका विवेक-अविवेक के साथ सीधा सम्बन्ध नहीं होता है। परन्तु ज्ञान के साथ विवेक-अविवेक का सम्बन्ध होता है, विवेक युक्त ज्ञान सम्यक् ज्ञान होता है, विवेक विरोधी ज्ञान मिथ्याज्ञान होता है। इसलिए ज्ञान सम्यक् और मिथ्या होता है।¹⁸ अज्ञान का सम्बन्ध दर्शनमोहनीय से अर्थात् दर्शन व दृष्टि से है। जहाँ सम्यग्दर्शन है, वहाँ ज्ञान है और जहाँ सम्यग्दर्शन का अभाव है, वहाँ अज्ञान है।¹⁹

मिथ्याज्ञान (अज्ञान) के दो अर्थ होते हैं - ज्ञान का अभाव और मिथ्याज्ञान। जब ज्ञान का आवरण होता है, तब ज्ञान का अभाव होता है। लेकिन जब ज्ञानावरण का क्षयोपशम होता है और साथ ही मिथ्यात्व मोहनीय का उदय होता है, तो वह ज्ञान मिथ्याज्ञान कहलाता है। मिथ्याज्ञान दो प्रकार के होते हैं - ज्ञान की अपेक्षा मति आदि तीन अज्ञान और प्रमाण की अपेक्षा से संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय ये तीनों अज्ञान रूप हैं।

मति अज्ञान और श्रुत अज्ञान में संशयादि तीन तथा विभंगज्ञान में संशय को छोड़कर विपर्यय और अनध्यवसाय ये दो भेद हो सकते हैं, क्योंकि विभंगज्ञान में इन्द्रियव्यापार नहीं होता है।

कन्हैयालाल लोढ़ा के अनुसार अज्ञानावरणीय कोई कर्म नहीं है। मोहनीय कर्म में जितनी कमी होगी, उतना ही दर्शन व ज्ञान गुण का विकास होता है। मोहनीय कर्म की कमी से, ज्ञान गुण का आदर होने से ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम होकर ज्ञान गुण का विकास होता है। यही ज्ञानावरणीय कर्म का विकास मिथ्यात्व के कारण विपरीत (विपर्यास) अवस्था को प्राप्त हो जाता है। इसे ही अज्ञान कहा जाता है। अज्ञान का स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। अज्ञान ज्ञान का ही विपरीत रूप है। अतः मिथ्यात्वी का जितना ज्ञान बढ़ता है, उसका यह ज्ञान ही अज्ञान का रूप धारण करता है। इसीलिए मिथ्यात्वी के ज्ञानावरण के क्षयोपशम को ही अज्ञान का क्षयोपशम कहा जाता है। इस अज्ञान में से मिथ्यात्व को निकाल दें तो वही अज्ञान ज्ञान कहलाता है।

श्रुतज्ञान के ज्ञान रूप होने से मतिज्ञान व अवधिज्ञान ज्ञान रूप होते हैं। श्रुत के अज्ञान रूप होने से मतिज्ञान व अवधिज्ञान, अज्ञान रूप होते हैं। इन्द्रिय ज्ञान के प्रभाव से भोगेच्छा जागृत होती है, भोगवती बुद्धि इस प्रभाव को पुष्ट करती है, वही मति अज्ञान है। विवेकवती बुद्धि इस प्रभाव को क्षीण करती है, यह मतिज्ञान है।²⁰

सम्यग्दृष्टि के ज्ञान और मिथ्यादृष्टि के अज्ञान कैसे होता है?

मिथ्यादृष्टि का सद्-असद् समान नहीं होता है, उसका ज्ञान भव का हेतु होता है, क्योंकि ज्ञान का फल विरति है, उसका मिथ्यादृष्टि में अभाव होता है। जबकि सम्यग्दृष्टि का ज्ञान भव हेतु का नाश करने वाला होता है और वह ज्ञान के फल विरति को प्राप्त करता है, इसलिए सम्यग्दृष्टि के ज्ञान ही होता है। साथ ही आगम में स्पष्ट उल्लेख है कि जो एक को जानता है, वह सबको जानता है। जो सबको जानता है, वह एक को भी जानता है। इस प्रमाण वाक्य से सम्यग्दृष्टि सभी वस्तुओं को सर्वमय नहीं जानता है, लेकिन वह आचारांग सूत्र श्रद्धा रूप भाव से तो जानता है, उससे ही वह ज्ञानी कहलाता है। इसलिए वह परमाणु आदि सभी वस्तु को स्व-पर पर्याय से सर्वमय मानता है। उसकी प्रत्येक परिस्थिति में तीर्थंकर प्रणीत यथोक्त वस्तु के स्वरूप की दृढ़ श्रद्धा होती है। इसलिए वह हमेशा ज्ञानी कहलाता है।²¹ इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि का ज्ञान मोक्ष का हेतु और मिथ्यादृष्टि का ज्ञान संसार का हेतु किस प्रकार है इसकी सिद्धि की गई है।²²

अध्यात्म और दर्शन में ज्ञान का स्वरूप

अध्यात्म-शास्त्र में ज्ञान की यथार्थता और अयथार्थता सम्यग्दर्शन पर आधारित है। जिस आत्मा में सम्यग्दर्शन का सद्भाव है, उस आत्मा का ज्ञान सम्यग्ज्ञान और जिस आत्मा में सम्यग्दर्शन का सद्भाव नहीं होता है, उसका ज्ञान मिथ्याज्ञान होता है। सम्यग्दर्शन ही मुक्ति का हेतु होता है, इसके बिना मिथ्यादृष्टि संसार से मुक्त नहीं हो सकता है। इस प्रकार ज्ञान आत्मा का गुण है। सम्यग्ज्ञान उसकी शुद्ध और मिथ्याज्ञान अशुद्ध पर्याय है। सम्यग्दर्शन के सद्भाव और अभाव पर ही उसकी शुद्धता और अशुद्धता आधारित है।

दर्शनशास्त्र के अनुसार ज्ञान का सम्यक्त्व ज्ञेय की यथार्थता पर निर्भर है। जिस ज्ञान में ज्ञेय पदार्थ अपने सही रूप में प्रतिभासित होता है, वही सम्यक् ज्ञान है। ज्ञेय को स्वरूप से भिन्न जानने वाला ज्ञान मिथ्याज्ञान होता है। दर्शन शास्त्र में सम्यग्ज्ञान को ही प्रमाण के रूप में स्वीकार किया गया है।

ज्ञान और सम्यक्त्व में भेद

जिनभद्रगणि के अनुसार जैसे अवग्रह और ईहा सामान्य अवबोध के कारण दर्शन है और अपाय तथा धारणा विशेष अवबोध के कारण ज्ञान है, वैसे ही तत्त्वविषयक रूचि - श्रद्धा सम्यक्त्व है और जिससे जीव आदि तत्त्वों पर श्रद्धा होती है, वह ज्ञान है।²³

ज्ञान में स्व-पर प्रकाशकता

इस प्रकार जैनदर्शन में यथार्थबोध को सम्यग् ज्ञान कहा गया है एवं जीव का स्व-पर को जानने का गुण ही ज्ञान है। जैनदार्शनिकों के अनुसार ज्ञान स्वप्रकाशक होकर ही किसी पदार्थ को ग्रहण करता है। जैन दर्शन में ज्ञान को स्वपरप्रकाशक कहा है, दीपक घटादि पदार्थों को प्रकाशित करने के साथ ही अपने को भी प्रकाशित करता है। उसे अपने को प्रकाशित करने के लिए दूसरे दीपक की आवश्यकता नहीं होती। वह स्वयं प्रकाश रूप होता है। इसी तरह ज्ञान भी प्रकाशरूप है, जो स्व को प्रकाशित करने के साथ ही अर्थ को भी प्रकाशित करता है। स्व का और अर्थ (पदार्थ) का निश्चयात्मक ज्ञान ही जैनदर्शन में प्रमाण माना गया है।²⁴ जो ज्ञान निश्चयात्मक नहीं होता उसका

21. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 318-321

22. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 322-327

23. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 536

24. पूज्यपाद, सर्वार्थसिद्धि, 1.15

प्रमाण होना जैनदार्शनिकों को अभीष्ट नहीं है। जैनदर्शन में स्वपर-प्रकाशकता प्रसिद्ध है। आचार्य कुन्दकुन्द ने नियमसार ग्रंथ में ज्ञान की स्वपर-प्रकाशकता की प्रबल रूप में स्थापना की है।²⁵ अभयदेव, विद्यानन्द, अकलंक, हेमचन्द्र, प्रभाचन्द्र और देवसूरि आदि समस्त दार्शनिक ज्ञानात्मक होने के कारण प्रमाण में स्वपर-प्रकाशकता स्वीकार करते हैं।

ज्ञान प्रकाशक रूप होता है तथा विषय को जानने के साथ ही अपने विषय के ग्रहणरूप स्वभाव को भी जानता है। पर-संवेदन में 'यह पट है' तथा स्व-संवेदन में 'मैं इस पट को जान रहा हूँ' ये दोनों प्रत्येक ज्ञान के आवश्यक पक्ष हैं तथा अस्तित्व की दृष्टि से परस्पर सापेक्ष हैं। इनमें से एक का निषेध करने पर दूसरे का कथन भी संभव नहीं है। ज्ञान को केवल पर-प्रकाशक मानने पर उसका पर-प्रकाशकत्व सिद्ध करना संभव नहीं है। क्योंकि जब तक विषय बोध का ज्ञान नहीं हो, विषय को 'ज्ञात' किस प्रकार कहा जा सकता है। जैसे जब तक यह ज्ञात नहीं हो कि 'पट ज्ञात हुआ है' तब तक पट को ज्ञात किस प्रकार कहा जा सकता है? इसी प्रकार ज्ञान को केवल स्व-प्रकाशक मानने पर प्रकाशकता का निषेध भी नहीं किया जा सकता। ज्ञान सदैव अपने से भिन्न किसी अर्थ को जानता हुआ ही उत्पन्न होता है। वह हमें बाह्य अर्थ का परिचय देता है तथा जिस प्रकार ज्ञान से बाहर जाकर बाह्य अर्थ को सिद्ध नहीं किया जा सकता उसी प्रकार ज्ञान से बाहर जाकर बाह्य अर्थ की सत्ता का निषेध भी नहीं किया जा सकता। ज्ञान की प्रकाशकता के लिए आचार्य भद्रबाहु ने आवश्यकनिर्युक्ति के 'चतुर्विंशतिस्तव' अध्ययन में सिद्ध में अनन्त ज्ञान कहा है, इसलिए परमात्मा की स्तुति करते हुए बताया है कि 'आइच्चेसु अहियं पयासयरा' अर्थात् आप सैंकड़ों सूर्यों से भी अधिक प्रकाश करने वाले हैं। तीर्थंकर आदिनाथ (ऋषभदेव) की स्तुति करते हुए मानतुंगाचार्य ने भी कहा है 'दीपोऽपरत्वमसि नाथ ! जगत्प्रकाशः।' ²⁶ अर्थात् हे भगवन् ! आप सम्पूर्ण संसार के प्रकाशक दीपक हैं, प्रकट करने वाले हैं।

जैन दार्शनिकों ने मति आदि पांच ज्ञानों का विभिन्न प्रकार से विभाजन किया है। जैन प्रमाणमीमांसा का अध्ययन उपर्युक्त पांच ज्ञानों के आधार पर ही किया गया है। अतः उमास्वाति ने तत्त्वार्थसूत्र में उपर्युक्त पांच ज्ञानों का प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाण में समावेश किया है, जिसमें प्रथम दो ज्ञान को परोक्ष और शेष तीन ज्ञानों को प्रत्यक्ष में ग्रहण किया है।²⁷

कालक्रम से जैनदर्शन की प्रमाणमीमांसा का उत्तरोत्तर विकास हुआ, जिसमें जिनभद्रगणि, अकलंक ने प्रत्यक्ष प्रमाण के दो भेद किए हैं - 1. सांख्यवहारिकप्रत्यक्ष और 2. पारमार्थिकप्रत्यक्ष। परोक्ष प्रमाण के पांच भेद किए गए हैं - 1. स्मृति, 2. प्रत्यभिज्ञान, 3. तर्क, 4. अनुमान और 5. आगम। सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष के दो भेद प्रतिपादित किए गये-1. इन्द्रिय प्रत्यक्ष और 2. अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष। ये दोनों भेद अवग्रह, ईहा, अवाय एवं धारणा रूप होते हैं। पारमार्थिक प्रत्यक्ष के पुनः तीन भेद किए गए - 1. अवधिज्ञान, 2. मनःपर्यवज्ञान और 3. केवलज्ञान। इस प्रकार जैनसाहित्य में पांच ज्ञानों का वर्णन मुख्य रूप से तीन, चार और सात शैलियों अथवा भूमिकाओं में प्राप्त होता है, जो निम्न प्रकार से है।

1. आगमिकशैली - वह विशुद्ध ज्ञान-चर्चा, जिसमें ज्ञान को केवल पांच विभागों में विभाजित किया है, यथा मतिज्ञान (आभिनिबोधिक ज्ञान), श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यव ज्ञान और

25. श्री कुन्दकुन्दाचार्य, 'नियमसार' मुम्बई-जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, पृ. 161-171

26. भक्तामर स्तोत्र, श्लोक 16

27. तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय-सूत्र 1.9 व 12

केवलज्ञान। भगवतीसूत्र, स्थानांगसूत्र, राजप्रश्नीय सूत्र, उत्तराध्ययनसूत्र तथा कर्मविषयक ग्रन्थों में ज्ञान की यह चर्चा प्राप्त होती है।²⁸

2. तर्कशैली – प्रमाण के आधार पर ज्ञान का वर्णन करना तर्कशैली है। यह शैली अनुयोगद्वार में प्राप्त होती है। अनुयोगद्वार में प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और आगम इन चार प्रमाणों में पांच ज्ञानों का समावेश किया है।²⁹ उपाध्याय यशोविजयजी ने ज्ञानबिन्दुप्रकरण और जैनतर्कभाषा में नव्यन्याय को आधार बनाकर तर्कशैली में पांच ज्ञानों का वर्णन किया है।

3. दर्शनशैली – नंदीसूत्र में इन्द्रिय से होने वाला ज्ञान का प्रत्यक्ष ज्ञान और परोक्ष ज्ञान दोनों में समावेश करके अन्य दर्शनों में मान्य इन्द्रिय-जन्य प्रत्यक्ष ज्ञान का जैन दर्शनानुसार समन्वय किया गया है। इस प्रकार नंदीसूत्र में पांच ज्ञान का वर्णन दर्शनशैली में किया गया है। विशेषावश्यकभाष्य में भी जिनभद्रगणी ने दार्शनिक शैली में ज्ञान का वर्णन किया है। इसी प्रकार कुन्दकुन्दाचार्य ने प्रवचनसार और निमयसार में भी पांच ज्ञान का वर्णन दार्शनिक शैली के आधार पर किया है, लेकिन वह क्रमबद्ध रूप से नहीं है।

4. ज्ञान को प्रत्यक्ष और परोक्ष के रूप में विभाजित करके इन दो भेदों में मत्यादि पांच ज्ञानों का समावेश किया गया है। स्थानांगसूत्र, आवश्यकनिर्युक्ति और तत्त्वार्थसूत्र में यह चर्चा प्राप्त होती है।³⁰

इन चार भूमिकाओं में से प्रथम, तृतीय और चतुर्थ इन तीन भूमिकाओं (शैलियों) का पं. दलसुखभाई मालवइणिया ने 'आगम युग का जैनदर्शन' में प्रमाण खण्ड (पृ. 129-145), आचार्य महाप्रज्ञ द्वारा सम्पादित नंदी (पृ. 245-250) और डॉ. मोहनलाल मेहता ने 'जैन धर्म-दर्शन एक समीक्षात्मक परिचय' (पृ. 248-252) में चार्ट आदि के माध्यम से विस्तार से उल्लेख किया है। उपर्युक्त चारों भूमिकाओं का वर्णन जितेन्द्र बी. शाह ने 'जैन आगम-साहित्य' में प्रकाशित शोधपत्र 'स्थानांग में ज्ञान चर्चा'³¹ में किया है।

सात भूमिका – पं. सुखलालजी ने ज्ञानबिन्दुप्रकरण परिचय के पृ. 5 पर ज्ञानविकास की सात भूमिकाओं का विस्तार से वर्णन किया है,³² यथा 1. कर्मशास्त्रीय तथा आगमिक, 2. निर्युक्तिगत 3. अनुयोगगत 4. तत्त्वार्थगत, 5. सिद्धसेनीय 6. जिनभद्रीय और 7. अकलंकीय।

इस प्रकार ज्ञान के विकास के विभिन्न प्रकार के क्रम या मत रहे हैं, लेकिन सभी मत और क्रम मुख्यतः ज्ञान के मति आदि पांच भेदों पर ही आधारित हैं।

मति आदि ज्ञानों के क्रम का हेतु

पांच ज्ञानों में मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान और केवलज्ञान का क्रम है। यहाँ शंका होती है कि ज्ञान का यही क्रम क्यों है? प्रस्तुत क्रम तो अल्प से सर्वश्रेष्ठ का है, इससे भिन्न या विपरीत क्रम अर्थात् सर्वश्रेष्ठ से अल्प का भी हो सकता है, क्योंकि केवलज्ञान शेष ज्ञानों से सर्वश्रेष्ठ ज्ञान है। उसको सर्वप्रथम रखना चाहिए था। फिर मनःपर्यवज्ञान, अवधिज्ञान, श्रुतज्ञान और मतिज्ञान इस प्रकार विपरीत क्रम होना चाहिए था। जिनभद्रगणि इस शंका का समाधान देते हुए कहते हैं कि मतिज्ञान और श्रुतज्ञान स्वामी, काल कारण, विषय और परोक्षपने की अपेक्षा से समान हैं, अतः सर्वप्रथम इन दोनों का कथन किया गया है।³³

28. भगवतीसूत्र श. 8 उ. 2. पृ. 251, स्थानांगसूत्र स्थान 2, उद्देशक 1, उत्तराध्ययन सूत्र अ. 28 गा. 4, आगमयुग का जैन दर्शन,

पृ. 128-129

29. अनुयोगद्वारसूत्र, पृ. 360-361, 376

30. स्थानांगसूत्र स्था. 2, उ. 1, आवश्यकनिर्युक्ति गाथा 1 से 79

31. जैन आगम साहित्य, पृ. 18-27

32. ज्ञानबिन्दुप्रकरण, परिचय पृ. 5

33. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 85

1. **स्वामी (अधिकारी)** - मतिज्ञान और श्रुतज्ञान के अधिकारी समान हैं। यह चारों गति के जीवों में पाये जाते हैं। 2. **काल** - एक जीव और अनेक जीवों की अपेक्षा से मतिज्ञान और श्रुतज्ञान की स्थिति समान है। 3. **कारण** - दोनों ज्ञान अपने-अपने आवरण के क्षयोपशम और इन्द्रिय और मन की सहायता से होते हैं। 4. **विषय** - दोनों का विषय सर्वद्रव्य है। 5. **परोक्षत्व** - इन्द्रिय और मन के निमित्त से होने के कारण दोनों परोक्ष हैं। 6. मति और श्रुत होने पर ही अवधि आदि शेष ज्ञान होते हैं। इसलिए इन दोनों को सर्वप्रथम रखा गया है।³⁴

जिनदासगणि के मत से - मति और श्रुत को सर्वप्रथम रखने का यह कारण है कि इन दोनों ज्ञानों के होने पर ही शेष ज्ञान संभव है। दोनों के अधिकारी तुल्य/समान हैं, दोनों की स्थिति समान है, दोनों परोक्ष ज्ञान हैं।³⁵

मति-श्रुत में भी मति पहले क्यों?

मति और श्रुतज्ञान को सर्वप्रथम रखा, लेकिन उसमें भी मति को ही पहले क्यों रखा गया? उत्तर - इसके दो कारण हैं - 1. श्रुत ज्ञान मतिपूर्वक होता है अर्थात् जीव को पहले मतिज्ञान होगा उसके बाद श्रुतज्ञान होगा। इसलिए मतिज्ञान को पहले रखा गया है। 2. इन्द्रिय और मन से होने वाला श्रुतज्ञान परोपदेश व आगम वचन के कारण विशिष्टता को प्राप्त होता हुआ मतिज्ञान का ही एक विशिष्ट भेद है। इसलिए मतिज्ञान को सर्वप्रथम कहा गया है।³⁶

मतिज्ञान और श्रुतज्ञान में अन्तर

जो मन और इन्द्रियों से अनुभव करके जाना जाता है, उस देखे हुए और जाने हुए ज्ञान को मतिज्ञान कहा गया है। देखे हुए, जाने हुए मतिज्ञान से अपने इष्ट और अनिष्ट का, हित-अहित का, हेय-उपादेय का ज्ञान करना श्रुतज्ञान है। अतः श्रुतज्ञान सभी प्राणियों को स्वतः प्राप्त है, यह स्वयंसिद्ध ज्ञान है, इसकी सिद्धि के लिए अन्य प्रमाण की अपेक्षा नहीं होती है।³⁷

मति और श्रुतज्ञान के बाद चार बातों में साधर्म्य होने से अवधिज्ञान को रखा गया है, यथा 1. **काल** - एक जीव की अपेक्षा से जितना काल मति और श्रुत का है, उतना ही काल अवधिज्ञान का है। 2. **विपर्यय** - मिथ्यात्व का उदय होने पर मति और श्रुतज्ञान अज्ञान में बदल जाते हैं, वैसे ही अवधिज्ञान विभंगज्ञान में बदल जाता है। 3. **स्वामित्व** - मति और श्रुत ज्ञान का स्वामी ही अवधि का स्वामी होता है। 4. **लाभ** - किसी को कभी तीनों ज्ञान एक साथ प्राप्त हो जाते हैं।³⁸ जिनदासगणि ने भी ऐसा ही उल्लेख किया है।³⁹

अवधिज्ञान के बाद मनःपर्यवज्ञान रखने का कारण बताते हुए जिनभद्रगणि⁴⁰ कहते हैं कि दोनों ज्ञान छद्मस्थ जीव को होते हैं, दोनों ज्ञानों का विषय रूपी द्रव्य है, दोनों क्षायोपशमिक ज्ञान हैं, अतः छद्मस्थता, विषय और भाव की समानता होते हुए भी अवधिज्ञान के बाद मनःपर्यवज्ञान का उल्लेख करने का कारण यह है कि अवधिज्ञान से मनःपर्यवज्ञान श्रेष्ठ है। इस श्रेष्ठता के दो कारण हैं -

1. अवधिज्ञान का विषय सर्व रूपी पदार्थ हैं। इस दृष्टि से सम्पूर्ण लोक के रूपी-द्रव्य अवधिज्ञान के विषय बनते हैं तथा शक्ति की दृष्टि से तो अलोक भी अवधिज्ञानी का विषय बन

34. मलधारी हेमचन्द्र गाथा 85 की टीका का भावार्थ

35. नंदीचूर्णि, पृ. 22

37. कन्हैयालाल लोढ़ा, बन्ध तत्त्व, पृ. 16

39. नंदीचूर्णि पृ. 22

36. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 86

38. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 87

40. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 87

सकता है।⁴¹ जबकि मनःपर्यवज्ञान का विषय केवल मनोवर्गणा के पुद्गल परमाणु तक सीमित है। लोक में मनोवर्गणा के पुद्गल परमाणुओं का प्रमाण इतना अत्यल्प है कि सर्वाविधिज्ञान के अनन्तवें भाग जितना विषय मनःपर्यवज्ञान का है। इस प्रकार विषय की दृष्टि से अवधिज्ञान बड़ा है, परन्तु स्वरूप की दृष्टि से मनःपर्यवज्ञान श्रेष्ठ और सूक्ष्म है, क्योंकि मनःपर्यवज्ञानी अपने विषय के अनेक गुण पर्यायों को जानता है। इसलिए मनःपर्यवज्ञान का विषय बहुत छोटा होने पर भी अधिक सूक्ष्म है और अधिक शुद्ध है, अतः मनःपर्यवज्ञान श्रेष्ठ है।

2. अवधिज्ञान जन्म से भी हो सकता है जैसे देव, नारकी और तीर्थकर में, लेकिन मनःपर्यवज्ञान जन्म से नहीं होता, विशिष्ट संयम की आराधना से अर्थात् संयम की विशुद्धि से ही वह उत्पन्न होता है। तीर्थकर भगवान् को भी जन्म से मनःपर्यवज्ञान नहीं होता है। वे जब दीक्षित होते हैं तभी उन्हें मनःपर्यवज्ञान होता है। इस अपेक्षा से भी अवधिज्ञान से मनःपर्यवज्ञान श्रेष्ठ है एवं विशुद्धि, क्षेत्र, स्वामी और विषय की दृष्टि से भी अवधिज्ञान और मनःपर्यवज्ञान में भेद है, जिसका वर्णन आगे करेंगे। उपर्युक्त कारणों से ही अवधिज्ञान के बाद मनःपर्यवज्ञान को रखा गया है।

मनःपर्यवज्ञान के बाद केवलज्ञान को रखने का कारण यह है कि मनःपर्यवज्ञान के समान केवलज्ञान का स्वामी अप्रमत्त मुनि होता है एवं केवलज्ञान की प्राप्ति अन्य सभी ज्ञानों से बढ़कर है। इसलिए सबसे बाद में केवलज्ञान का निर्देश किया गया है। जिनदासगणनि ने भी ऐसा ही उल्लेख किया है।⁴²

इसलिए इन पंचविध ज्ञान का यही क्रम आगमकारों और टीकाकारों को इष्ट है। अतः जहां भी ज्ञान सम्बन्धित उल्लेख हुआ है, वहाँ पर ज्ञान का यही क्रम दिया है।

प्रश्न - केवलज्ञान होने के बाद पूर्व के मतिज्ञान, श्रुतज्ञान आदि ज्ञानों का क्या होता है ? छूट जाते हैं, या केवलज्ञान में विलय हो जाते हैं ?

उत्तर - कुछ विद्वानों का मत है कि केवल ज्ञान होने पर शेष चार ज्ञानों का उसमें समावेश हो जाता है। लेकिन ऐसा मानना उचित नहीं है क्योंकि मतिज्ञान आदि चारों ज्ञान क्षायोपशमिक भाव में हैं और केवलज्ञान क्षायिक भाव में हैं। अतः केवलज्ञान होते ही चारों ज्ञान छूट जाते हैं। जंबूद्वीपप्रज्ञप्ति में भगवान् ऋषभदेव के वर्णन में केवलज्ञान की व्याख्या करते हुए टीकाकार कहते हैं कि - “केवलमसहायं-नटुमि उ छाउमत्थिए नाणे।”⁴³ तथा प्रज्ञापना सूत्र के 29 वें पद में केवलज्ञान की व्याख्या करते हुए टीकाकार कहते हैं कि - केवलं-एकं मत्यादिज्ञाननिरपेक्षत्वात्, “नटुमि उ छाउमत्थिए नाणे” (नष्टे तु छादमस्थिके ज्ञाने) इति वचनात् शुद्धं वा केवलं तदावरणमलकलंकविगमात् संकलं वा केवलं प्रथमत एवाशेषतदावरणीय विगतमः⁴⁴ इत्यादि प्रमाणों से चार ज्ञान का छूटना स्पष्ट है।

मतिज्ञान एवं मति अज्ञान में अन्तर

विशेषावश्यकभाष्य में भाष्यकार जिनभद्रगणि ने नंदीसूत्र के आधार से कहा है कि ‘मति’ मतिज्ञान और मति-अज्ञान रूप है। किन्तु वह मतिज्ञान सम्यक्दृष्टि के होने पर मतिज्ञान और मिथ्यादृष्टि के होने पर मति-अज्ञान कहा जाता है। इसी प्रकार श्रुतज्ञान के सम्बन्ध में भी समझ लेना चाहिए।

41. तत्थ दव्वओ णं ओहिणाणी जहण्णेणं अणंताणि रुविदव्वाइं जाणइ पासइ, उक्कोसेणं सव्वाइं रुविदव्वाइं जाणइ पासइ। खेत्तओ णं ओहिणाणी जहण्णेणं अंगुलस्स असंखेज्जाइं अलोए लोयमेताइं खंडाइं जाणइ पासइ। -युवाचार्य मधुकरमुनि, नंदीसूत्र, पृ. 41

42. नंदीचूर्ण पृ. 22

43. जंबूद्वीपप्रज्ञप्तिवृत्ति, वक्षस्कार 2, पृ. 150

44. प्रज्ञापना वृत्ति, पद 29, पृ. 238

शंका - जिस प्रकार सम्यग्दृष्टि मतिज्ञानी और श्रुतज्ञानी घटादि पदार्थ को जानता है और प्रवृत्ति करता है वैसे ही मिथ्यादृष्टि भी पदार्थों को जानता है और व्यवहार करता है। विशेष क्या है? जिससे मिथ्यादृष्टि के ज्ञान को अज्ञान रूप माना गया है। **समाधान** - मिथ्यादृष्टि का ज्ञान सत्-असत् के विवेक से रहित, वह ज्ञान भव-भ्रमण का हेतु, स्वतंत्र प्रवृत्ति वाला और ज्ञान के पारमार्थिक (मोक्ष) फल से रहित है, इसलिए मिथ्यादृष्टि का व्यवहार सम्यग्दृष्टि की तरह होते हुए भी उसके ज्ञान को अज्ञान रूप ही माना गया है।⁴⁵

नंदीटीका में उल्लेख है कि सम्यग्दृष्टि की मति, मतिज्ञान ही होगी, क्योंकि 1. वह सम्यग्दृष्टित्व के स्पर्श से पवित्र हुई है, 2. जिनागम के अभ्यास से असाधारण हुई है, 3. स्वरूप से अधिक यथार्थ हुई है 4. आदि से अन्त तक विरोध रहित-एक समान है। 5. सम्यक् अनेकान्तवाद युक्त हैं, 6. समसंवेगादि में प्रवृत्त करती है, 7. अहिंसादि चारित्र को उत्पन्न करती है, 8. भव विच्छेद में निमित्त बनती है और 9. कर्म क्षय कर मोक्ष प्राप्ति में कारणभूत बनती है।

मिथ्यादृष्टि की मति, मति अज्ञान ही होगी, क्योंकि 1. वह मिथ्यादृष्टित्व के स्पर्श से मलिन है 2. कुशास्त्र के अभ्यास से तुच्छ है, 3. स्वरूप से प्रायः अयथार्थ है, 4. पूर्वापर विरोध युक्त है, 5. एकांतवाद अथवा दूषित अनेकांतवाद युक्त है, 6. संसार रुचि उत्पन्न करती है, 7. हिंसादि में प्रवृत्त करती है, 8. भव वृद्धि का कारण बनती है और 9. संसार परिभ्रमण में निमित्तभूत होती है।⁴⁶

उपर्युक्त कथन का तात्पर्य यह है कि ज्ञान का फल अज्ञान की निवृत्ति और निर्वाण पद की प्राप्ति तथा आध्यात्मिक सुखों का अनुभव कराना है, इसलिए सम्यग्दृष्टि जीव के मतिज्ञान और श्रुतज्ञान दोनों ही मार्ग प्रदर्शक होते हैं। मिथ्यादृष्टि के मतिअज्ञान और श्रुतअज्ञान दोनों जीवन भ्रष्ट करने वाले एवं अपने तथा दूसरों के लिए अहितकर ही होते हैं अर्थात् मिथ्यादृष्टि में ज्ञान के फल रूप विरति का अभाव होता है, इसलिए उसके ज्ञान को अज्ञान कहा गया है।

आचार्य महाप्रज्ञ द्वारा सम्पादित नंदी⁴⁷ में इस विषय पर नंदीचूर्ण का आश्रय लेते हुए तीन प्रश्न उपस्थित किये गए हैं कि -1. ज्ञान और अज्ञान दोनों का कारण समान है, क्योंकि दोनों क्षयोपशम भाव से होते हैं, 2. ज्ञान और अज्ञान दोनों का कार्य भी समान है, क्योंकि दोनों घटादि का ज्ञान करते हैं, 3. शब्द आदि इन्द्रिय विषयों को उपलब्ध करने में दोनों की समानता है। इस स्थिति में ज्ञान और अज्ञान का भेद करने का क्या कारण है? इसका उत्तर देते हुए उमास्वाति कहते हैं कि - मिथ्यादर्शन के कारण जीव एकांत रूप से सत्-असत् का विवेक नहीं कर सकता है। अतः उसका एकांतश्रयी ज्ञान अज्ञान रूप ही होता है।⁴⁸

उपलक्षण से अवधिज्ञान, अवधि अज्ञान आदि में भी अन्तर

अविशेषित अवधि, अवधिज्ञान भी हो सकता है और अवधि अज्ञान (विभंग ज्ञान) भी। पर विशेषित अवधि-सम्यग्दृष्टि की अवधि, अवधिज्ञान ही होगी और मिथ्यादृष्टि की अवधि, अवधि अज्ञान (विभंगज्ञान) ही होगी। पाँच ज्ञानों में मति, श्रुत और अवधि-ये तीनों ही ज्ञान और अज्ञान-यों दोनों रूप में हो सकते हैं, क्योंकि ये तीनों, सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि-दोनों में पाये जाते हैं। पर मनःपर्यवज्ञान और केवलज्ञान, ये दोनों ज्ञान रूप ही होते हैं, क्योंकि ये दोनों सम्यग्दृष्टि में ही पाये जाते हैं, मिथ्यादृष्टि में नहीं।

45. नंदीसूत्र, पृ. 71, विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 114-115 एवं टीका

46. मलयगिरि पृ. 143

47. आचार्य महाप्रज्ञ, नंदीसूत्र, पृ. 92

48. सदसतोरविशेषाद् यदृच्छोपलब्धेरुन्मत्तवत्। -तत्त्वार्थसूत्र 1.33

श्रुत अज्ञान और ज्ञान – मतिज्ञान से जिन विषयों को जाना है, उनका सुनना, दिखना, खाना, पीना आदि विषयों के भोग में ही सुख है, सुख इन्द्रिय और मन से संबंधित भोग भोगने से ही मिलता है, भोगों का सुख ही जीवन है, भोग्य पदार्थ सुन्दर, स्थायी व सुखद है। इस सुख के बिना जीवन व्यर्थ है, अतः भोगों के सुख को सुरक्षित रखना व संवर्धन करना मिथ्यात्व है। इस मिथ्यात्व युक्त श्रुतज्ञान को श्रुतअज्ञान कहा है। अथवा मिथ्यात्व के कारण इन्द्रियों के भोगों की पराधीनता को स्वाधीनता समझना श्रुतअज्ञान है।⁴⁹

श्रुतअज्ञान के कारण अवधिज्ञान में भी जिन रूपी पदार्थों का साक्षात्कार होता है उनके प्रति भी कामना, ममता, राग-द्वेष आदि पैदा होते हैं, इसलिये वह विभंगज्ञान है।⁵⁰

एकेन्द्रिय में अचक्षुदर्शन कैसे – एकेन्द्रियों में भी जीव होते हैं, जीव का लक्षण चेतना (उपयोग) होता है। वह उपयोग साकार और अनाकार दो प्रकार का है। एकेन्द्रिय के एक स्पर्शनेन्द्रिय ही होती है। अतः स्पर्शनेन्द्रिय का सामान्य उपयोग अचक्षुदर्शन और विशेष उपयोग मति-श्रुत अज्ञान होता है। अव्यक्त चेतना होने से इसका यह सामान्य विशेष उपयोग हमारी इन्द्रियाँ ग्रहण नहीं कर पाती है। वनस्पति से शेष चारों इन्द्रियों की चेतना मन्द होने से वैज्ञानिकयंत्र भी उसे नहीं पकड़ पाते हैं। भगवती सूत्र शतक 19 उद्देशक 3 में पृथ्वीकाय को आक्रान्त करने (दबाने) से एवं शेष कायों का संघट्टा (स्पर्श) करने से उनको वृद्धि व्यक्ति के मस्तक पर जवान अपनी पूरी शक्ति लगाकर दोनों मुक्कों से मार करने पर जो वेदना होती उससे भी (उन जीवों को) अधिक वेदना होती है। यह वेदना की अनुभूति अचक्षुदर्शन और मति-श्रुत अज्ञान में अन्तर्भावित होती है। आगम में पृथ्वीकाय की चेतना को स्पष्ट करने वाला यह उदाहरण पाया जाता है।

ज्ञानी और अज्ञानी में अन्तर

ज्ञानी भी जानता है और अज्ञानी भी जानता है, किन्तु दोनों की दृष्टि में एवं आचारण में अन्तर होता है। इस अन्तर को संक्षेप में यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है –

ज्ञानी – 1. ज्ञानी प्रायः वर्तमान में जीने वाला होता है, 2. ज्ञानी को पदार्थ में मोह, ममता, तृष्णादि को उचित नहीं मानता है, 3. ज्ञानी को जो दिखता है उसमें आसक्त नहीं होकर नहीं देखने वाली की आत्मा का विचार करता है, 4. ज्ञानी प्रायः आर्तध्यान, रौद्रध्यान नहीं करता है, 5. ज्ञानी निवृत्ति के लक्ष्य से प्रवृत्ति करता है और विवेक सहित होता है, 6. ज्ञानी संसार के प्रपंचों से छूट कर आत्म-कल्याण कर सकता है।

अज्ञानी – 1. अज्ञानी प्रायः भूत/भविष्य का चिंतन करता रहता है, 2. अज्ञानी पर में मोह ममतादि रखता है, 3. अज्ञानी जो दिखता है, उसमें एकाकार होता है और आत्मा का विचार ही नहीं करता है, 4. अज्ञानी आर्तध्यान और रौद्रध्यान करके नये कर्मों का बन्ध करता है, 5. अज्ञानी आसक्त बनकर प्रवृत्ति करता है और विवेक भी नहीं रखता है, 6. अज्ञानी संसार के प्रपंचों से छूट नहीं सकता है।

प्रत्यक्ष-परोक्ष ज्ञान

प्राचीनकाल में ज्ञान के पांच प्रकार ही निरूपित हैं। राजप्रश्नीय सूत्र में केशीकुमार श्रमण राजा प्रदेशी से कहते हैं कि हम श्रमण निर्ग्रन्थ पांच प्रकार के ज्ञान मानते हैं – आभिनिबोधिकज्ञान,

49. कन्हैयालाल लोढ़ा, बन्ध तत्त्व, पृ. 9, 19

50. बन्ध तत्त्व, पृ. 9

श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान और केवलज्ञान⁵¹ ये केशीश्रमण भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा के श्रमण थे। उन्होंने जिन पांच ज्ञानों का उल्लेख किया है, वैसा ही उल्लेख भगवान् महावीर स्वामी की परम्परा में भी प्राप्त होता है।⁵² उत्तराध्ययनसूत्र के 23वें अध्ययन में केशी और गौतम का संवाद है। इसमें दोनों परम्परा में प्राप्त मतभेदों की चर्चा की गई है। लेकिन इस चर्चा में तत्त्वज्ञान सम्बन्धी कोई उल्लेख नहीं है। इससे स्पष्ट होता है कि दोनों परम्पराओं में पंचज्ञान की अवधारणा में कोई मतभेद नहीं था। लेकिन उत्तरकाल में पंचज्ञान प्रत्यक्ष और परोक्ष के रूप में विभक्त किये गये हैं। प्रमाण के साथ प्रत्यक्ष शब्द का प्रयोग तो प्रायः सभी दर्शनों में उपलब्ध होता है, लेकिन प्रमाण के साथ परोक्ष का प्रयोग जैन दर्शन के अलावा अन्य दर्शनों में उपलब्ध नहीं होता है।⁵³

प्रायः सभी भारतीय दर्शनों ने सामान्य रूप से ज्ञान को दो विभागों में विभक्त किया है - प्रत्यक्ष और परोक्ष। इन्द्रिय और पदार्थ के सन्निकर्ष से होने वाला ज्ञान प्रत्यक्ष कहलाता है तथा किसी अन्य ज्ञान की सहायता से होने वाला पदार्थ का ज्ञान परोक्ष कहा जाता है। जैन दार्शनिक भी ज्ञान के उपर्युक्त भेदों को स्वीकार करते हैं। लेकिन वे इन्द्रिय और पदार्थ के सन्निकर्ष से होने वाले ज्ञान को प्रत्यक्ष नहीं मानकर इन्द्रिय और मन के सहयोग के बिना आत्मा से होने वाले ज्ञान को प्रत्यक्ष की कोटि में स्वीकार करते हैं तथा इन्द्रिय और मन की सहायता से उत्पन्न होने वाले समस्त ज्ञान को परोक्ष मानते हैं।

ज्ञान के इन दो विभागों का उल्लेख उत्तरकाल में तत्त्वार्थसूत्र, नंदीसूत्र आदि में मिलता है।⁵⁴ पं. सुखलालजी ने ज्ञान विकास की सात भूमिकाओं का उल्लेख करते हुए कहा है कि “दूसरी भूमिका वह है जो प्राचीन निर्युक्ति भाग में, लगभग विक्रम की दूसरी शताब्दी तक में सिद्ध हुई जान पड़ती है। इसमें दर्शनान्तर के अभ्यास का थोड़ा सा असर अवश्य जान पड़ता है। क्योंकि प्राचीन निर्युक्ति में मतिज्ञान के लिए मति और आभिनिबोध शब्द के अलावा संज्ञा, प्रज्ञा, स्मृति आदि अनेक पर्यायवाची शब्दों की जो वृद्धि देखी जाती है और पंचविध ज्ञान का जो प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से विभाग देखा जाता है, वह दर्शनान्तरीय अभ्यास का ही सूचक है।”⁵⁵

उमास्वाति के अलावा नंदीसूत्रकार, सिद्धसेन,⁵⁶ कुन्दकुन्दाचार्य⁵⁷ ने ज्ञान के प्रत्यक्ष और परोक्ष ये दो भेद किये, लेकिन उनका सम्बन्ध प्रमाण के साथ नहीं जोड़ा है। वहीं उमास्वाति ने पांच ज्ञानों को दो प्रमाणों में विभक्त करते हुए मति और श्रुतज्ञान को परोक्ष प्रमाण तथा अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान और केवलज्ञान को प्रत्यक्ष प्रमाण बताया है।⁵⁸ जिनभद्रगणि ने भी पांच ज्ञानों को परोक्ष और प्रत्यक्ष में विभक्त किया है।⁵⁹

प्रत्यक्ष-परोक्ष का लक्षण

आचार्य कुन्दकुन्द ने प्रवचनसार में कहा है कि पर की सहायता से जो पदार्थों का ज्ञान होता है, वह परोक्ष है और पर की सहायता के बिना केवल आत्मा के द्वारा जो पदार्थों का ज्ञान होता है, वह प्रत्यक्ष है। यहाँ ‘पर’ का अर्थ इन्द्रिय किया है।⁶⁰

51. राजप्रश्नीयसूत्र, सू. 241 पृ. 160

52. भगवतीसूत्र श. 8. उ. 2

53. आचार्य महाप्रज्ञ, नंदी, पृ. 51

54. आद्ये परोक्षम्। प्रत्यक्षमन्यत्। - तत्त्वार्थ सूत्र 1. 11 एवं 12, ‘तं जहा-पच्चक्खं च परोक्खं च।’ - नंदीसूत्र पृ. 26

55. ज्ञानबिन्दु प्रकरणम्, परिचय, पृ. 5

56. न्यायावतार, कारिका 1

57. प्रवचनसार, 1.58

58. तत्त्वार्थसूत्र, अ. 1 सूत्र 9, 10, 11. 12

59. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 88

60. प्रवचनसार, अध्ययन 1, गाथा 56-58

अमृतचन्द्रसूरि के वचनानुसार - इन्द्रिय और मन की अपेक्षा से मुक्त तथा दोषों से रहित पदार्थ का सविकल्पज्ञान प्रत्यक्ष है। गृहीत अथवा अगृहीत पर की प्रधानता से जो पदार्थों का ज्ञान होता है, वह परोक्ष है।⁶¹

पूज्यपाद के मन्तव्यानुसार - मतिज्ञानावरण और श्रुतज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम की अपेक्षा रखने वाले आत्मा के इन्द्रिय और मन तथा प्रकाश और उपदेशादिक बाह्य निमित्त की अपेक्षा मतिज्ञान और श्रुतज्ञान उत्पन्न होते हैं, अतः ये परोक्ष कहलाते हैं।⁶²

‘प्रत्यक्षमन्यत्’ प्रत्यक्ष शब्द प्रति+अक्ष से बना है। यहाँ अक्ष शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ ‘अक्ष्णोति व्याप्नोति जनातीत्यक्ष आत्मा’ अक्ष, व्याप और ज्ञा ये धातुएं एकार्थक हैं, अतः अक्ष का अर्थ आत्मा होता है। इस प्रकार क्षयोपशम वाले या आवरण रहित केवल आत्मा के प्रति जो नियत है, अर्थात् जो ज्ञान बाह्य इन्द्रियादि की अपेक्षा से नहीं मात्र क्षयोपशम वाली या आवरण रहित आत्मा से होता है, वह प्रत्यक्ष ज्ञान कहलाता है।⁶³

बृहत्कल्पभाष्य के कथनानुसार - अक्ष का अर्थ है - जीव। उसके प्रति प्रवर्तित होने वाला ज्ञान प्रत्यक्ष है। (आत्मा से होने वाला ज्ञान प्रत्यक्ष है।) जो अक्ष से परतः ज्ञान होता है, वह परोक्ष है। (इन्द्रिय और मन से होने वाला ज्ञान परोक्ष है।)⁶⁴

जिनभद्रगणि और जिनदासगणि के अनुसार - जो ज्ञानात्मा से सभी अर्थों, पदार्थों में व्याप्त होता है, वह अक्ष/जीव है। अक्ष द्वारा होने वाला ज्ञान प्रत्यक्ष है। यह अनिन्द्रिय ज्ञान है। आत्मा अमूर्त है, क्योंकि यह अपौद्गलिक है। द्रव्य इन्द्रियां और द्रव्य मन पौद्गलिक होने से मूर्त है। अमूर्त से मूर्त पृथक् (पर) है। अतः द्रव्येन्द्रियों और मन के माध्यम से जो मति-श्रुत ज्ञान होता है, वह धूम से होने वाले अग्निज्ञान के समान परिनिमित्तक होने से परोक्ष है। भावेन्द्रिय के कारण इन्द्रियज्ञान को सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष कहा गया है। परमार्थतः यह परोक्ष है, क्योंकि द्रव्येन्द्रियां पर हैं और भावेन्द्रियां द्रव्येन्द्रियों के अधीन हैं।⁶⁵

आवश्यकचूर्णि में कहा है कि इन्द्रियों की सहायता के बिना आत्मा स्वयं जिससे ज्ञेय को जानती है, वह प्रत्यक्ष ज्ञान है।⁶⁶

मलधारी हेमचन्द्र ने भाष्य की टीका में स्पष्ट करते हुए कहा है कि जो समस्त पदार्थों का पालन/रक्षण और उपयोग करता है, वह अक्ष जीव है। साक्षात् अक्ष से होने वाला ज्ञान प्रत्यक्ष है। जो ज्ञान साक्षात् आत्मा से नहीं, पर से होता है, वह परोक्ष है। यह इन्द्रिय और मन के निमित्त से होने वाला ज्ञान है।⁶⁷

मलयगिरि के अनुसार इन्द्रिय और मन से निरपेक्ष केवल आत्मा से होने वाला ज्ञान प्रत्यक्ष है।⁶⁸

राजवार्तिक में **अकलंक** ने उल्लेख किया है कि - जो ज्ञान अपने होने में इन्द्रिय, मन, प्रकाश और उपदेश आदि की प्रधान रूप से अपेक्षा रखता है, वह परोक्ष ज्ञान कहलाता है।⁶⁹ जैसेकि जिस मनुष्य में गमन करने की शक्ति है, लेकिन वृद्धावस्था में यष्टि आदि के सहारे के बिना गमन नहीं कर सकता है, अतः यहाँ गमन क्रिया में यष्टि आदि प्रधान रूप से सहकारी हैं, वैसे ही

61. तत्त्वार्थसार, प्रथम अधिकार, गाथा 16-17 पृ. 6

63. सर्वार्थसिद्धि 1.12 पृ. 73

65. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 89-90, नंदीचूर्णि पृ. 23

67. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 89-90 की टीका

69. तत्त्वार्थराजवार्तिक 1.11.6

62. सर्वार्थसिद्धि, 1.11 पृ. 72

64. बृहत्कल्पभाष्य, गाथा 24

66. आवश्यकचूर्णि 1. पृ. 7

68. आवश्यक मलयगिरि वृत्ति पृ. 16

मतिज्ञानावरण और श्रुतज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से जिस आत्मा में जानने की शक्ति है, परंतु इंद्रिय आदि उपर्युक्त कारणों की सहायता के बिना वह पदार्थों के ज्ञान में असमर्थ है, अतः उसके ज्ञान में भी इन्द्रियादि प्रधान सहकारी हैं। इस प्रकार अपनी उत्पत्ति में मतिज्ञान और श्रुतज्ञान इंद्रिय और मन आदि की अपेक्षा रखने के कारण पराधीन है, इसीलिये दोनों परोक्ष हैं।

जो ज्ञान चक्षु आदि इंद्रिय और मन की अपेक्षा के बिना हो, व्यभिचार से रहित हो एवं सविकल्पक हो वह ज्ञान प्रत्यक्ष कहलाता है।⁷⁰

हेमचन्द्र ने प्रमाणमीमांसा में प्रत्यक्ष की परिभाषा इस प्रकार दी है - 'विशदः प्रत्यक्षं' - विशद अर्थात् स्पष्ट ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण है अर्थात् जो ज्ञान विशद और सम्यक् अर्थ निर्णय रूप होता है, वह प्रत्यक्ष ज्ञान कहलाता है। 'अविशदः परोक्षम्' अर्थात् पदार्थ का जो सम्यक् निर्णय अविशद हो अर्थात् जिस ज्ञान में 'इदमरूप' का प्रतिभास न हो वह परोक्ष ज्ञान है।⁷¹

इस प्रकार सभी जैनाचार्यों ने मन और इन्द्रिय की सहायता के बिना आत्मा से होने वाले ज्ञान को प्रत्यक्ष ज्ञान के रूप में स्वीकार किया है, तथा इनकी सहायता से होने वाले ज्ञान को परोक्ष माना है।

परोक्ष ज्ञान

मन और इन्द्रिय की सहायता से जो ज्ञान होता है, वह परोक्ष ज्ञान कहलाता है। दूसरे शब्दों में द्रव्य इन्द्रिय, द्रव्य मन, द्रव्य श्रुत-श्रवण या द्रव्य श्रुत पठन आदि की सहायता से रूपी या अरूपी, द्रव्य गुण या पर्याय विशेष को जानना-'परोक्ष ज्ञान' है। परोक्ष ज्ञान के दो भेद इस प्रकार हैं - 1. आभिनिबोधिक ज्ञान और 2. श्रुतज्ञान। इन दोनों ज्ञानों से ज्ञेय को साक्षात् नहीं जाना जाता है, इसलिए इन्हें परोक्ष माना है।⁷²

विशेषावश्यकभाष्य के अनुसार - वैशेषिकदर्शन के अनुसार अक्ष का अर्थ इन्द्रिय होता है और उनसे (इन्द्रियों से) होने वाला ज्ञान ही प्रत्यक्ष है, शेष ज्ञान परोक्ष है। भाष्यकार ने इस मत का खण्डन करते हुए कहा है कि इन्द्रियाँ घट के समान अचेतन होती हैं, जिससे वे पदार्थ को नहीं जानती (ज्ञान) हैं। अतः इन्द्रियज्ञान प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है।

शंका - प्रत्येक प्राणी इन्द्रियों के माध्यम से पदार्थों का साक्षात्कार करता है, जिससे उसे अर्थोपलब्धि होती है, यह अनुभवप्रत्यक्ष होने से प्रसिद्ध ही है, इसलिए इन्द्रियाँ नहीं जानती हैं, आपका इस प्रकार कहना प्रत्यक्ष विरुद्ध है। पुनः भाष्यकार इसका समाधान करते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार घर के गवाक्ष (खिड़की) में से देखे गये पदार्थों की स्मृति उस गवाक्ष के हटने या बन्द होने के बाद भी जिसने उन पदार्थों को देखा है, उसमें होती है। उसी प्रकार इन्द्रियों से उत्पन्न हुए ज्ञान की स्मृति आत्मा में इन्द्रियों के नष्टादि होने पर भी होती है। यदि इन्द्रियाँ ही ज्ञाता होती तो उन (इन्द्रियों) के नष्ट होने पर आत्मा को ज्ञान नहीं होना चाहिए, लेकिन होता है। अतः आत्मा ही जानती है, इन्द्रियाँ नहीं।⁷³

मति और श्रुतज्ञान की परोक्षरूपता

इन्द्रिय और मन के निमित्त से जो आत्मा को ज्ञान होता है, वह परोक्ष है, क्योंकि उसमें संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय आदि हो सकते हैं। जैसे पूर्व उपलब्ध संबंध की स्मृति के कारण उत्पन्न होने वाला अनुमान ज्ञान परोक्ष है, वैसे ही मति और श्रुतज्ञान भी पर अर्थात् इन्द्रिय और मन के निमित्त से उत्पन्न होते हैं, इसलिए वे परोक्ष हैं।

70. इंद्रियानिन्द्रियानपेक्षमतीतव्यभिचारं साकारग्रहणं प्रत्यक्षं। - तत्त्वार्थराजवार्तिक 1.12.1

71. प्रमाणमीमांसा 1.13, 1.2.1

72. पारसमुनि, नंदीसूत्र, पृ. 97

73. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 90-92 और बृहद्वृत्ति

संव्यवहार प्रत्यक्ष - शंका - इन्द्रिय और मन के निमित्त से होने वाले ज्ञान को आपने जो परोक्ष कहा है, वह आगमानुसार नहीं है, क्योंकि आगम में प्रत्यक्ष दो प्रकार का है - इन्द्रिय प्रत्यक्ष और नोइन्द्रिय प्रत्यक्ष। **समाधान** - आपका कहना सही है, लेकिन आगम में जो इन्द्रियज्ञान को प्रत्यक्ष कहा है वह मात्र व्यवहार प्रत्यक्ष की अपेक्षा से है, क्योंकि हेतु (लिंग) के बिना इन्द्रिय और मन के द्वारा वस्तु का जो साक्षात्कार रूप ज्ञान होता है, वह इन्द्रियादि की अपेक्षा से प्रत्यक्ष होने से, मात्र लोक व्यवहार की अपेक्षा से प्रत्यक्ष कहा गया है। लेकिन परमार्थ की अपेक्षा से परोक्ष है, क्योंकि अनुमान ज्ञान अर्थात् हेतु (लिंग) से होने वाला लैंगिक ज्ञान एकान्त रूप से परोक्ष है। अतः बाह्य हेतु, इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना होने वाले अवधि आदि तीन ज्ञान एकान्त रूप से प्रत्यक्ष हैं और इन्द्रिय और मन की सहायता से होने वाला ज्ञान सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष है। इसी सांव्यवहारिक प्रत्यक्षता को दृष्टि में रख कर आगम में भी इसे 'इन्द्रिय-प्रत्यक्ष' कहा गया है।

शंका - नोइन्द्रिय प्रत्यक्ष में नो पद एकदेश का वाचक है और मन चूंकि इन्द्रिय-एकदेश है, इसलिए नो-इन्द्रिय का अर्थ मन है, अतः इस अपेक्षा से नोइन्द्रिय (मनोनिमित्तक) ज्ञान प्रत्यक्ष है तो उसे आपने किस अपेक्षा से परोक्ष कहा है।

समाधान - भाष्यकार समाधान करते हुए कहते हैं कि - 1. ज्ञान के प्रसंग में नो शब्द सर्वनिषेध वाचक है न कि एकदेश वाचक अतः नोइन्द्रिय का अर्थ है सर्वथा प्रकार से इन्द्रिय का अभाव अर्थात् साक्षात् आत्मा से होने वाला प्रत्यक्ष ज्ञान ही नोइन्द्रिय प्रत्यक्ष ज्ञान है। जिसके तीन भेद हैं - अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान और केवलज्ञान। 2. मनोनिमित्तक ज्ञान को ही प्रत्यक्ष माना जाय तो सिद्धों के प्रत्यक्ष ज्ञान का अभाव मानना पड़ेगा, जो कि उचित नहीं है, इस प्रकार के हेतुओं का उल्लेख मलधारी हेमचन्द्र ने अपनी टीका में किया है। जिसके निष्कर्ष रूप में ऐसा कह सकते हैं कि इन्द्रिय और मन से उत्पन्न होने वाला ज्ञान परनिमित्तक होने से परोक्ष है। वह ज्ञान मति व श्रुत में अन्तर्भूत होने से भी परमार्थतः परोक्ष होते हुए भी सांव्यवहारिक दृष्टि से वह प्रत्यक्ष है।⁷⁴ स्वयं जिनभद्रगणि इसका उल्लेख करते हुए कहते हैं कि इन्द्रिय और मन के माध्यम से होने वाला ज्ञान भी अनुमान से भिन्न नहीं है। किन्तु इसमें धूम आदि अन्य लिंग या निमित्त की अपेक्षा नहीं रहती, इसलिए इन्द्रिय मनोज्ञान को उपचार से प्रत्यक्ष ज्ञान कहा है।⁷⁵

इस प्रकार जिनभद्रगणि और मलधारी हेमचन्द्र ने प्रत्यक्ष और परोक्ष के लक्षण करते हुए मति और श्रुतज्ञान को परोक्ष सिद्ध करते हुए अन्य दर्शनों की मान्यता का खण्डन किया है।

ज्ञान के प्रत्यक्ष और परोक्ष भेद करने का कारण

पं. बंशीधर व्याकरणाचार्य का कथन है कि ज्ञान के प्रत्यक्ष और परोक्ष भेद करने का आशय उन-उन ज्ञानों की पराधीनता और स्वाधीनता बताना मात्र है, इसे स्वरूपकथन नहीं समझना चाहिए। इस प्रकार प्रत्यक्ष और परोक्ष के उक्त लक्षण करणानुयोग की विशुद्ध आध्यात्मिक दृष्टि से कहे गये हैं, लेकिन स्वरूप का कथन करने वाला जो द्रव्यानुयोग है, उसकी अपेक्षा से जिस ज्ञान में पदार्थ का साक्षात्कार होता है, वह प्रत्यक्ष और जिस ज्ञान में पदार्थ का साक्षात्कार नहीं होता है, वह परोक्ष ज्ञान है अर्थात् जहाँ पदार्थ दर्शन के सद्भाव में पदार्थ का ज्ञान होता है, पदार्थ का यह साक्षात्कार प्रत्यक्ष ज्ञान है। जहाँ पदार्थ दर्शन के बिना ही पदार्थ का ज्ञान होता है, पदार्थ का यह असाक्षात्कार परोक्ष ज्ञान है। प्रत्यक्ष और परोक्ष के इन लक्षणों के अनुसार पदार्थ दर्शन के सद्भाव में होने के कारण अवग्रह,

74. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 93-95 और मलधारी की बृहद्वृत्ति का भावार्थ

75. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 471

ईहा, अवाय और धारणा ये चारों मतिज्ञान तथा अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान और केवलज्ञान ये प्रत्यक्ष हैं और शेष स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क और अनुमान ये चारों मतिज्ञान तथा श्रुतज्ञान परोक्ष हैं।⁷⁶

अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ये चारों मतिज्ञान कथंचित् प्रत्यक्ष और कथंचित् परोक्ष हैं क्योंकि ये चारों ज्ञान चक्षुदर्शन अथवा अचक्षुदर्शन रूप पदार्थ दर्शन के सद्भाव में ही उत्पन्न होते हैं, इसलिए स्वरूप का कथन करने वाले द्रव्यानुयोग की दृष्टि से तो ये प्रत्यक्ष हैं और ये इन्द्रिय अथवा मन की सहायता से ही उत्पन्न हुआ करते हैं, अतः करणानुयोग की विशुद्ध आध्यात्मिक दृष्टि से परोक्ष भी हैं।⁷⁷ अवग्रहादि ज्ञानों में आत्मा के दर्शन गुण का अर्थाकार रूप व्यापार कारण होता है जिससे उन्हें प्रत्यक्ष माना गया है, वही स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्कादि ज्ञानों में आत्मा के दर्शन गुण के अर्थ का अभाव होता है इसलिए धारणा आदि ज्ञान का व्यापार कारण होने से उन्हें परोक्ष माना गया है।⁷⁸

इन्द्रिय ज्ञान को प्रत्यक्ष मानने में दोष

पूर्वपक्ष - जो ज्ञान इन्द्रियों के व्यापार से उत्पन्न होता है, वह प्रत्यक्ष है और इन्द्रियों के व्यापार से रहित है, वह परोक्ष है। प्रत्यक्ष व परोक्ष का यह अविसंवादी लक्षण मानना चाहिए। **उत्तरपक्ष** - यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि उक्त लक्षण के मानने पर आप्त के प्रत्यक्ष ज्ञान का अभाव प्राप्त होता है। यदि इन्द्रियों के निमित्त से होने वाले ज्ञान को प्रत्यक्ष कहा जाता है, तो ऐसा मानने पर आप्त को प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि आप्त को इन्द्रिय पूर्वक पदार्थ का ज्ञान नहीं होता। कदाचित् उसके भी इन्द्रिय पूर्वक ही ज्ञान पाया जाता है, तो उसके सर्वज्ञता नहीं रहती। **पूर्वपक्ष** - उसके मानस प्रत्यक्ष होता है। **उत्तरपक्ष** - मन के प्रयत्न से ज्ञान की उत्पत्ति मानने पर सर्वज्ञत्व का अभाव ही होता है। **पूर्वपक्ष** - आगम से सर्व पदार्थों का ज्ञान हो जायेगा। **उत्तरपक्ष** - नहीं, क्योंकि सर्वज्ञता प्रत्यक्षज्ञान पूर्वक प्राप्त होती है। **पूर्वपक्ष** - योगी-प्रत्यक्ष नाम का एक अन्य दिव्यज्ञान है। **उत्तरपक्ष** - उसमें आपके मत में प्रत्यक्षता नहीं बनती, क्योंकि वह इन्द्रियों के निमित्त से नहीं होता है। जिसकी उपलब्धि इन्द्रिय से होती है, वह प्रत्यक्ष है, ऐसा आपके मत में स्वीकार भी किया है।⁷⁹

ज्ञान के साधन

मुख्य रूप से ज्ञान के तीन साधन होते हैं, यथा 1. इन्द्रिय 2. मन और 3. आत्मा।

इन्द्रिय

ज्ञान के साधन के मुख्य रूप से तीन होते हैं, यथा 1. इन्द्रिय 2. मन और 3. आत्मा। इन्द्रिय और मन परोक्ष ज्ञान के साधन होते हैं, जबकि आत्म-प्रत्यक्ष ज्ञान का साधन होती है। वैसे तो परोक्ष ज्ञान भी आत्मा में ही होता है, इन्द्रिय और मन तो सहकारी कारण मात्र होते हैं।

इन्द्रिय शब्द की व्युत्पत्ति - संस्कृत में 'इदि परमैश्वर्ये' धातु है। इससे इन्द्रिय शब्द बनता है। 'इन्दति परमैश्वर्यं भुनक्ति इति इन्द्रः' अर्थात् जो परम ऐश्वर्य को भोगता है उसको इन्द्र कहते हैं। मलयगिरि कहते हैं कि आत्मा सभी द्रव्यों की उपलब्धि रूप परम ऐश्वर्य से सम्पन्न है, इसलिए वह इन्द्र है। उसका जो अविनाभावी चिह्न है, वह इन्द्रिय है।⁸⁰ इन्द्रिय संसारी आत्मा को पहचानने

76. सरस्वती वरदपुत्र पं. बशीधर व्याकरणाचार्य अभिनन्दग्रंथ, खंड 4, पृ. 14

77. बशीधर व्याकरणाचार्य अभिनन्दग्रंथ, खंड 4, पृ. 15

79. तत्त्वार्थराजवार्तिक 1.12.6-9

78. बशीधर व्याकरणाचार्य अभिनन्दग्रंथ, खंड 4, पृ. 18

80. मलयगिरि, नंदीवृत्ति पृ. 75

के लिए लिंग है, इसी से संसारी आत्मा की प्रतीति होती है। इसी प्रकार सांख्य और न्याय दर्शन के अनुसार इन्द्र का अर्थ आत्मा है और उसके लिंग को इन्द्रिय कहते हैं। जिससे आत्मा को ज्ञान होता है, वह साधन रूप है, ज्ञाता रूप नहीं।⁸¹

जिनभद्रगणि के अनुसार जीव सब वस्तुओं की उपलब्धि और परिभोग रूप ऐश्वर्य से सम्पन्न होता है, इसलिए वह इन्द्र है। श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसन और स्पर्शन जीव के चिह्न हैं और ये ही इन्द्रियाँ कहलाती हैं।⁸²

पूज्यपाद के अनुसार 1. इन्द्र शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है, 'इन्द्रतीति इन्द्रः' जो आज्ञा और ऐश्वर्यवाला है, वह इन्द्र है। यहाँ इन्द्र शब्द आत्मा अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इन्द्र (आत्मा) ज्ञस्वभाव वाला होते हुए भी मतिज्ञानावरण के क्षयोपशम के रहते हुए स्वयं पदार्थों को जानने में असमर्थ है। अतः उसको जो जानने में लिंग (निमित्त) होता है, वह इन्द्र का लिंग इन्द्रिय कहलाती है। 2. जो लीन अर्थात् गूढ़ पदार्थ का ज्ञान कराता है, उसे लिंग कहते हैं। अतः जो सूक्ष्म आत्मा के अस्तित्व का ज्ञान कराने में लिंग अर्थात् कारण है, उसे इन्द्रिय कहते हैं। जैसे कि धूम अग्नि का ज्ञान कराने में कारण होता है।⁸³ अकलंक ने भी तत्त्वार्थराजवार्तिक में ऐसा ही उल्लेख किया है।⁸⁴

वीरसेनाचार्य के अनुसार जो प्रत्यक्ष में व्यापार करती हैं, उन्हें इन्द्रियाँ कहते हैं। यहाँ अक्ष का अर्थ इन्द्रिय है।⁸⁵

इन्द्रिय के प्रकार

प्रज्ञापना सूत्र में इन्द्रिय के पांच प्रकार बताये गये हैं, यथा 1. श्रोत्रेन्द्रिय 2. चक्षुरिन्द्रिय 3. घ्राणेन्द्रिय 4. जिह्वेन्द्रिय और 5. स्पर्शनेन्द्रिय।⁸⁶ इसी प्रकार अन्यत्र सभी आगमों और ग्रंथों में इन्द्रिय के पांच भेद ही किये गये हैं।

इन्द्रिय की उत्पत्ति

नैयायिकों का अभिमत है कि इन्द्रियों का निर्माण उनके विषय बनने योग्य गुण के आधारभूत द्रव्य से होता है जैसेकि शब्द श्रोत्र का विषय है तथा यह आकाश महाभूत का गुण है, अतः श्रोत्र का निर्माण आकाश महाभूत के परमाणु से होता है, इसी प्रकार शेष इन्द्रियों के विषय में भी समझ लेना चाहिए।⁸⁷ जैन दार्शनिक इसका खण्डन कहते हुए कहते हैं कि पृथ्वी, जल, अग्नि तथा वायु पृथक्-पृथक् द्रव्य न होकर एक ही द्रव्य पुद्गल हैं तथा जड़ इन्द्रियों का निर्माण पुद्गल परमाणुओं से ही होता है।⁸⁸ जैनदर्शन में इन्द्रियाँ पौद्गलिक हैं, इससे सांख्यदर्शन जो इन्द्रिय को अहंकार जन्य मानते हैं, उसका खण्डन हो जाता है।⁸⁹

इन्द्रिय के पांच प्रकारों का स्वरूप

उत्तराध्ययन सूत्र के 32वें अध्ययन की गाथा 35, 22, 49, 61, 75 में क्रम से पांचों इन्द्रियों को परिभाषित किया है, यथा 'सोयस्स सद्दं ग्रहणं वयंति' जो शब्द को ग्रहण करे, वह श्रोत्रेन्द्रिय

81. सांख्यतत्त्वकौमुदी 26, सर्वार्थसिद्धि 1.14, राजवार्तिक 1.14.1

82. इंदो जीव सव्वोवलदिधभोगपरमसरत्तणओ। सोत्ताइभेयभिदियमिह तल्लिंगाइभावाओ। -विशेषावश्यकभाष्य गाथा 2993

83. सर्वार्थसिद्धि, अ. 1, सू. 14

84. तत्त्वार्थराजवार्तिक 1.14, 2.15

85. षट्खण्डागम, पु. 1, सू. 1.1.4, पृ. 135

86. कइ णं भंते! इंदिया पण्णत्ता? गोयमा! पंच इंदिया पण्णत्ता। तंजहा-सोईदिए, चकिंखदिए, घाणिंदिए, जिब्भिदिए, फासिंदिए॥

- प्रज्ञापना सूत्र, पद 15

87. तर्कभाषा

88. तत्त्वार्थराजवार्तिक, अ. 2. सू. 17.4

89. न्यायकुमुदचन्द्र भाग 1, पृ. 157-158

है। 'चक्षुस्स रूवं ग्रहणं वयंति' जो रूप को ग्रहण करे, वह चक्षुरिन्द्रिय है। 'गंधस्स घ्राणं ग्रहणं वयंति' जो गंध को ग्रहण करे, वह घ्राणेन्द्रिय है। 'जीहाए रसं ग्रहणं वयंति' जो रस को ग्रहण करे, वह रसनेन्द्रिय है। 'कायस्स फासं ग्रहणं वयंति' जो स्पर्श का ग्रहण करती है, वह स्पर्शनेन्द्रिय है।

पूज्यपाद के अनुसार वीर्यान्तराय और मतिज्ञानावरणकर्म के क्षयोपशम से तथा अंगोपांग नामकर्म के आलम्बन से आत्मा जिसके द्वारा स्पर्श करता है, वह स्पर्शन इन्द्रिय है, जिसके द्वारा स्वाद लेता है, वह रसनाइन्द्रिय है, जिसके द्वारा सूंघता है वह घ्राण इन्द्रिय है, जिसके द्वारा पदार्थों को देखता है, वह चक्षु इन्द्रिय है तथा जिसके द्वारा सुनता है, वह श्रोत्र इन्द्रिय है।⁹⁰

पांच इन्द्रियों के भेद

जिनभद्रगणि ने पांचों इन्द्रियों को दो विभागों में विभक्त किया है - 'द्विविंदिय-भाविंदियसामण्णाओ कओ भिण्णो।'⁹¹ अर्थात् द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय। इसी प्रकार अन्य आचार्य जैसेकि पूज्यपाद, अकलंक, वीरसेचनाचार्य आदि ने भी इन्द्रिय के दो भेद किये हैं।⁹²

इन्द्रिय की पौद्गलिक आकार (संस्थान) रचना को द्रव्य-इन्द्रिय कहते हैं तथा इन्द्रिय आवारक कर्म के क्षयोपशम से प्राप्त शक्ति और उसके उपयोग को भावेन्द्रिय कहते हैं।⁹³ अकलंक के अनुसार इन्द्रिय भाव से परिणत जीव को ही भावेन्द्रिय शब्द से कहना चाहिए।⁹⁴

द्रव्य और भाव-इन्द्रिय के प्रभेद

जिनभद्रगणि ने द्रव्येन्द्रिय तथा भावेन्द्रिय के दो-दो प्रभेदों का उल्लेख किया है। 'द्विविं निव्वित्ति उवगरणं च..' अर्थात् निर्वृत्ति और उपकरण द्रव्येन्द्रिय।⁹⁵ 'लब्धुवओगा भाविंदियं....' अर्थात् लब्धि और उपयोग भावेन्द्रिय।⁹⁶ यही बात उमास्वाति कृत तत्त्वार्थ सूत्र में भी कही गयी है यथा - 'निर्वृत्युपकरणे द्रव्येन्द्रियम्। लब्धयुपयोगौ भावेन्द्रियम्।'⁹⁷ ऐसा ही उल्लेख पूज्यपाद, अकलंक आदि आचार्यों ने भी किया है।⁹⁸

निर्वृत्ति द्रव्येन्द्रिय का स्वरूप और भेद

इन्द्रिय के विशिष्ट और विभिन्न संस्थान विशेष (रचना विशेष) को निर्वृत्ति कहते हैं।⁹⁹ इन्द्रियों की यह रचना कर्म के कारण होती है। निर्वृत्ति के भी दो प्रकार होते हैं - बाह्य निर्वृत्ति और आभ्यन्तर निर्वृत्ति।

पूज्यपाद ने इन्द्रिय नामवाले प्रतिनियत चक्षु आदि आत्मप्रदेशों में प्रतिनियत आकार रूप और नामकर्म के उदय से विशेष अवस्था को प्राप्त जो पुद्गल प्रचय होता है, उसे बाह्य निर्वृत्ति तथा उत्सेधांगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण और प्रतिनियत चक्षु आदि इन्द्रियों के आकार रूप से अवस्थित शुद्ध आत्म-प्रदेशों की रचना को आभ्यन्तर निर्वृत्ति कहा है।¹⁰⁰

90. सर्वार्थसिद्धि 2.19, पृ. 129

91. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 3003

92. सर्वार्थसिद्धि 2.16, राजवार्तिक 2.16, षट्खण्डागम पु. 1, सू. 1.1.33 पृ. 232, गोम्मटसार जीवकांड, गाथा 165

93. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 3003

94. इन्द्रियभावपरिणतो हि जीवो भावेन्द्रियमिष्यते। - राजवार्तिक 1.15.14

95. विशेषावश्यक भाष्य गाथा 2994

96. विशेषावश्यक भाष्य गाथा 2997

97. तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय 2 सूत्र 17-18

98. सर्वार्थसिद्धि 2.17-18, राजवार्तिक 2.17-18, षट्खण्डागम पु. 1, सू. 1.1.33, पृ. 236

99. सर्वार्थसिद्धि 2.17

100. सर्वार्थसिद्धि 2.17 पृ. 127

अकलंक के अनुसार इन्द्रियों के आकार की रचना मात्र शरीर में नहीं होकर आत्म-प्रदेशों पर भी होती है। अतः विशिष्ट इन्द्रिय से संयुक्त आत्म प्रदेशों में उस इन्द्रिय के विषय को ग्रहण करने की विशेष क्षमता उत्पन्न हो जाती है। ऐसे आत्म-प्रदेशों को आभ्यन्तर निर्वृत्ति कहा जाता है।¹⁰¹

मलयगिरि कहते हैं कि बाह्य निर्वृत्ति पपड़ी आदि रूप से विविध-विचित्र प्रकार की होती है अतः उसको प्रतिनियत रूप से नहीं कहा जा सकता। जैसे कि मनुष्य के कान दोनों नेत्रों के बगल में होते हैं उसकी भौहें कान के ऊपर के भाग की अपेक्षा सम रेखा में होती हैं, किन्तु घोड़े के कान नेत्रों के ऊपर होते हैं और उनके अग्रभाग तीक्ष्ण होते हैं इत्यादि। अतः जाति भेद से बाह्य निर्वृत्ति अनेक प्रकार की होती है।¹⁰²

आभ्यन्तर निर्वृत्ति सभी प्राणियों के समान ही होती है। आभ्यन्तर निर्वृत्ति की अपेक्षा ही संस्थान का उल्लेख करते हुए **जिनभद्रगणि** कहते हैं कि श्रोत्रेन्द्रिय का आभ्यन्तर आकार कदम्ब पुष्प के समान चक्षुरिन्द्रिय का मसूर घान्य के समान, घ्राणेन्द्रिय का अतिमुक्तक पुष्पचन्द्रिका के समान, रसनेन्द्रिय का क्षुरप्र के समान होता है।¹⁰³

केवल स्पर्शनेन्द्रिय निर्वृत्ति के बाह्य और आभ्यन्तर भेद नहीं होते हैं। क्योंकि स्पर्शनेन्द्रिय निर्वृत्ति सब प्राणियों के एक सरीखी नहीं होती है।¹⁰⁴

उपकरण द्रव्येन्द्रिय का स्वरूप

पूज्यपाद के अनुसार जो निर्वृत्ति का उपकार करता है, उसे उपकरण कहते हैं। निर्वृत्ति में विद्यमान दृष्टि आदि क्रिया के सहायक अंग-उपांग उपकरण हैं। निर्वृत्ति के समान उपकरणेन्द्रिय के भी बाह्य और आभ्यन्तर दो भेद होते हैं। जैसेकि चक्षुरिन्द्रिय में कृष्ण शुक्ल मण्डल आभ्यन्तर उपकरण है तथा पलक और दोनों बरोनी आदि बाह्य उपकरण हैं। इसी प्रकार अन्य इन्द्रियों में भी समझना चाहिए।¹⁰⁵

जिनभद्रगणि कहते हैं कि जो विषय ग्रहण करने में समर्थ पौद्गलिक शक्ति है, वह उपकरण इन्द्रिय है। निर्वृत्ति इन्द्रिय के होने पर भी यदि उपकरण इन्द्रिय नष्ट हो जाए तो विषय का ग्रहण नहीं हो सकता है।¹⁰⁶

निर्वृत्ति और उपकरण द्रव्येन्द्रिय में अन्तर

द्रव्येन्द्रिय के निर्वृत्ति और उपकरण रूप भेद का कारण परस्पर आधार-आधेय सम्बन्ध के कारण है। मलयगिरि नंदीवृत्ति में इसका उल्लेख करते हुए कहा है कि बाह्य निर्वृत्ति तलवार के समान तथा आभ्यन्तर निर्वृत्ति तलवार की धार के समान होती है। आभ्यन्तर निर्वृत्ति की शक्ति विशेष ही उपकरण द्रव्येन्द्रिय है। जिस प्रकार शक्ति और शक्तिमान् किसी अपेक्षा से भिन्न होते हैं, वैसे ही आभ्यन्तर निर्वृत्ति और उपकरण भी किसी अपेक्षा से भिन्न होते हैं। अतः आभ्यन्तर निर्वृत्ति होने पर किसी के द्रव्यादि से उपकरण इन्द्रिय नष्ट भी हो सकती है। जैसे कि कदम्ब पुष्प के समान आकार वाली श्रोत्र की आभ्यन्तर निर्वृत्ति विद्यमान है, लेकिन भयंकर मेघ गर्जना आदि से उपकरण इन्द्रिय की शक्ति नष्ट हो जाने से प्राणी को शब्द का ज्ञान नहीं हो सकता है।¹⁰⁷

101. राजवार्तिक, 2.17.3

102. मलयगिरि, नंदीवृत्ति, पृ. 75

103. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 2995

104. मलयगिरि, नंदीवृत्ति, पृ. 75

105. सर्वार्थसिद्धि 2.17, पृ 127, राजवार्तिक 2.17.5, षट्खण्डागम, पु. 1, सूत्र 1.1.33, पृ. 236

106. विसयग्रहणसमर्थ उवगरणं इंदियंतरं तं पि। जं नेह तदुवघाए गिण्हइ निव्वत्तिभावे वि।-विशेषावश्यकभाष्य गाथा 2996

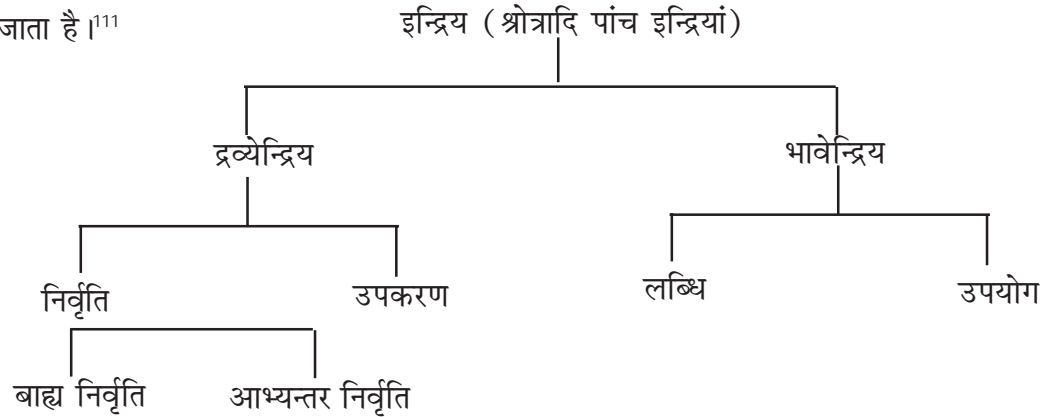
107. मलयगिरि, नंदीवृत्ति, पृ. 75

लब्धि और उपयोग भावेन्द्रिय का स्वरूप

जिनभद्रगणि के अनुसार जीव के सभी आत्मप्रदेशों में इन्द्रियों के आवारक कर्म (इन्द्रिय-ज्ञानावरण) का जो क्षयोपशम है, वह लब्धि-इन्द्रिय है तथा 'जो सविसयवावारो सो उवओगो' अर्थात् श्रोत्र आदि इन्द्रियों को अपने-अपने विषय में जो प्रवृत्ति होती है, वह उपयोग इन्द्रिय है।¹⁰⁸ जिनदासगणि इसको स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि घर के एक कोने में रखा प्रज्वलित दीपक पूरे घर को प्रकाश से आलोकित करता है इसी प्रकार द्रव्येन्द्रिय में अवस्थित आत्मप्रदेशों का क्षयोपशम होने पर भी उपयोग की दृष्टि से सभी आत्मप्रदेशों से विषय का बोध होता है।¹⁰⁹

विद्यानंद¹¹⁰ ने लब्धि और उपयोग का अर्थ निम्न प्रकार से किया है - 'लब्धिस्वभावानि तावद् भावेन्द्रियाणि स्वार्थसंविदो योग्यत्वादात्मनः प्रतिपद्यन्त' जीव के विषय के ग्रहण करने के सामर्थ्य को लब्धि कहते हैं। 'उपयोगस्वभावानि पुनः स्वार्थसंविदो व्यापृतत्वान्निश्चिन्वन्ति।' अर्थात् विषय को ग्रहण करने की प्रवृत्ति उपयोग है।

वीरसेनाचार्य ने धवला में शंका उठाई है कि उपयोग इन्द्रियों का फल है, क्योंकि उसकी उत्पत्ति इन्द्रियों से होती है, इसलिए उपयोग को इन्द्रिय कहना उचित नहीं है। इसका समाधान करते हुए वे कहते हैं कि कारण में रहने वाले धर्म की कार्य में अनुवृत्ति होती है। जैसे कि घट के आकार से परिणत हुए ज्ञान को घट कहा जाता है, उसी प्रकार इन्द्रियों से उत्पन्न हुए उपयोग को भी इन्द्रिय कहा जाता है।¹¹¹



इन्द्रियों के प्रभेदों की प्राप्ति का क्रम

जिनभद्रगणि कहते हैं कि सर्वप्रथम इन्द्रियावरणीयक्षयोपशम रूप लब्धि से इन्द्रिय प्राप्त होती है, उसके बाद बाह्यनिर्वृति इन्द्रिय की प्राप्ति होती है, उसके अनन्तर आभ्यन्तरनिर्वृति की शक्ति रूप उपकरणेन्द्रिय की प्राप्ति होती है, सबसे अन्त में उपयोग इन्द्रिय होती है।¹¹²

जीव में इन्द्रिय के अधिष्ठान, शक्ति तथा व्यापार का मूल लब्धि इन्द्रिय है। उसके अभाव में निर्वृत्ति, उपकरण और उपयोग नहीं होता है। लब्धि के पश्चात् द्वितीय स्थान निर्वृत्ति का है। उसके होने पर उपकरण और उपकरण के होने पर उपयोग होता है।

उपयोग के बिना उपकरण, उपकरण के बिना निर्वृत्ति, निर्वृत्ति के बिना लब्धि हो सकती है, परन्तु लब्धि के बिना निर्वृत्ति और निर्वृत्ति के बिना उपकरण तथा उपकरण के बिना उपयोग नहीं हो सकता है।

108. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 2997-2998

109. नंदीचूर्णि, पृ. 24

110. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, 2.18.1

111. षट्खण्डागम, पु.1, सू. 1.1.33 पृ. 237

112. लाभकमे उ लद्धी निवृत्त-वगरण उवओगो य। दव्विन्दिय-भाविन्दियसामण्णाओ कओ भिण्णो।-विशेषाभाष्य गाथा 3003

इन्द्रियों का क्षयोपशम

जीव के सभी आत्म-प्रदेशों में पांचों इन्द्रियों के ज्ञानावरण का क्षयोपशम होते हुए भी सभी जगह से तद्विद् इन्द्रियों के विषय का ग्रहण नहीं होता है, क्योंकि रूपादि के ग्रहण करने में सहकारी कारण रूप बाह्य निर्वृत्ति जीव के सम्पूर्ण आत्म प्रदेशों में नहीं पायी जाती है, वह आत्मप्रदेशों के एक देश में होती है। इसी लिए सर्वांग क्षयोपशम होते हुए भी तद्विद् इन्द्रिय के विषय का ग्रहण उसकी बाह्य निर्वृत्ति द्रव्येन्द्रिय से होता है।¹¹³ जैसे कि बाह्य निर्वृत्ति में स्थित उपकरण अर्थात् उस इन्द्रिय के विभिन्न अंग-उपांग के द्वारा ही उस इन्द्रिय के विषय का ग्रहण होता है, वैसे ही आभ्यन्तर निर्वृत्ति के भी लब्धि और उपयोग रूप दो उपकरण होते हैं। इनके आधार से जीव जड़ इन्द्रियों का सहयोग लेकर उनके विषय को ग्रहण करता है अर्थात् जानता है।

भावेन्द्रियाँ होने पर ही द्रव्येन्द्रियों से विषय का ग्रहण हो सकता है। सामान्यतया जीव जड़ इन्द्रियों तथा मन के सहयोग से ही पदार्थों को जानता है। लेकिन यह भी तभी सम्भव है, जब उसमें पदार्थ को जानने की क्षमता तथा विषय को जानने में प्रवृत्ति हो। इन दोनों में से एक का भी अभाव हो तो जड़ इन्द्रियाँ अपने विषय का बोध नहीं कर सकती हैं।

भावेन्द्रिय एवं द्रव्येन्द्रिय में कार्य-कारण भाव

वीरसेनाचार्य ने धवला टीका में उल्लेख करते हुए कहा है कि भावेन्द्रियाँ शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श नाम के ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से और द्रव्येन्द्रियों के निमित्त से उत्पन्न होती हैं। क्षयोपशम रूप भावेन्द्रियाँ कारण हैं और द्रव्येन्द्रियाँ कार्य हैं, इसलिए द्रव्येन्द्रियों को इन्द्रिय कहा जाता है। अथवा इसका दूसरा कारण यह हो सकता है कि उपयोग रूप भावेन्द्रियों की उत्पत्ति द्रव्येन्द्रियों के कारण है, अतः भावेन्द्रियाँ कार्य हैं और द्रव्येन्द्रियाँ कारण हैं। इसलिए भी द्रव्येन्द्रियों को इन्द्रिय कहा जाता है।¹¹⁴

इन्द्रियों से ज्ञानोत्पत्ति

ज्ञानोत्पत्ति के सम्बन्ध में प्रायः यह मान्यता है कि जड़ इन्द्रियाँ और मन आदि ज्ञान के बाह्य साधन जब विषय से सम्बद्ध होते हैं, तब उस विषय का ज्ञान आत्मा में स्वतः ही उत्पन्न हो जाता है। इसके लिए उस जीव को विशेष प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं होती है। सांख्यतत्त्वकौमुदी में वाचस्पति मिश्र ने कहा है कि 'पदार्थ का इन्द्रियों द्वारा आलोचन किये जाने पर मन उस पर संकल्प-विकल्प करता है, तदुपरांत बुद्धि उसी विषय के आकार को धारण करती है। उस विषयाकार बुद्धि पर चैतन्य का प्रतिबिम्ब पड़ने पर विषय प्रकाशित होता है, जिसके फलस्वरूप वह ज्ञान होता है।' ऐसा ही उल्लेख कणाद ने वैशेषिक सूत्र (3.1.18) में भी किया है कि 'पदार्थ, इन्द्रिय, मन तथा आत्मा का संयोग होने पर आत्मा में पदार्थ का ज्ञान उत्पन्न होता है।' इस प्रकार ज्ञानोत्पत्ति में आत्मा निष्क्रिय रहती है एवं उसे जो बोध होता, वह इन्द्रिय और मन के निमित्त से होता है। लेकिन यह मान्यता उचित नहीं है, क्योंकि ज्ञानोत्पत्ति में जड़ इन्द्रियाँ और मन साधन होते हैं तथा आत्मा को ही ज्ञान उत्पन्न होता है। जड़ इन्द्रियाँ और मन तब तक ज्ञानोत्पत्ति का कारण नहीं हो सकते जब तक कि आत्मा स्वयं इन्द्रिय रूप से परिणत न हो, उसमें बाह्य इन्द्रियों को उपयोग में लेने की क्षमता न हो या विषय ग्रहण करने में उसकी प्रवृत्ति न हो। सांख्यव्यवहारिक प्रत्यक्ष में जड़ इन्द्रिय तथा मन की सहायता से ही ज्ञान होता है। अतः इन्द्रिय और मन ज्ञान में साधन मात्र हैं।

जीव की अनिन्द्रियता

जीव क्षायिक लब्धि के कारण अनिन्द्रिय होता है। कोई शंका करे कि अनिन्द्रिय होने पर जीव के इन्द्रियों का नाश होने से ज्ञान का भी विनाश हो जाएगा और ज्ञान का विनाश होने पर जीव अजीव तुल्य हो जाएगा। इस प्रकार की शंका का समाधान देते हुए वीरसेनाचार्य कहते हैं कि जीव ज्ञान स्वभावी है, इसलिए इन्द्रियों का विनाश होने पर भी ज्ञान का नाश नहीं होता है। क्योंकि छद्मस्थ अवस्था में कारण रूप से ग्रहण की गई इन्द्रियां जीवों के भिन्न जातीय ज्ञान की उत्पत्ति में सहकारी कारण हो, ऐसा नियम नहीं है। क्योंकि ऐसा स्वीकार करने पर मोक्ष तक के अभाव का प्रसंग उपस्थित हो जाएगा।¹¹⁵

श्रोत्रादि इन्द्रियों की प्राप्यकारिता-अप्राप्यकारिता

जैनदर्शन के अनुसार श्रोत्रादि पांच इन्द्रियों में से श्रोत्रेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, स्पर्शनेन्द्रिय और रसनेन्द्रिय, ये चार इन्द्रियां प्राप्यकारी तथा चक्षु इन्द्रिय अप्राप्यकारी होती है। जो इन्द्रिय अपने विषय को स्पष्ट होने पर जानती है, वह प्राप्यकारी और जो इन्द्रिय अपने विषय को अस्पष्ट होकर जानती है, वह अप्राप्यकारी होती है।

श्रोत्रेन्द्रिय की प्राप्यकारिता

बौद्ध दर्शन में श्रोत्रेन्द्रिय को अप्राप्यकारी माना गया है। जैनाचार्यों ने इसका खंडन किया है। नंदीसूत्र में श्रोत्रेन्द्रिय को व्यंजनावग्रह माना गया है। आवश्यकनिर्युक्ति में उल्लेख है कि शब्द स्पष्ट अवस्था में ही सुना जाता है। समान श्रेणी में आते हुए शब्द मिश्र रूप से सुनने में आते हैं, विश्रेणी से आये हुए वासित शब्द सुने जाते हैं, तथा वक्ता काययोग से शब्द को ग्रहण करता है और वचन योग से निर्गमन करता है।¹¹⁶ बाद के आचार्यों ने अच्छी प्रकार से इसका खंडन किया है। जिनभद्र कहते हैं कि अन्य स्थान से शब्द आकर श्रोत्र को प्राप्त होता है।¹¹⁷

मलयगिरि कहते हैं कि श्रोत्रेन्द्रिय घ्राणेन्द्रिय के समान विषयकृत अनुग्रह-उपघात से प्रभावित होती है। अतः यह इन्द्रिय अप्राप्यकारी नहीं है। इसके लिए टीकाकार ने चाण्डाल और श्रोत्रिय ब्राह्मण का परस्पर शब्द आदि का सम्बन्ध बताते हुए कहा है कि चाण्डाल शब्द का स्पर्श होने से ब्राह्मण अपवित्र नहीं हो जाता है।¹¹⁸

शंका - प्राप्यकारी का जो अर्थ किया है उससे स्पर्शनेन्द्रिय और रसनेन्द्रिय प्राप्यकारी घटित होती है, लेकिन श्रोत्रेन्द्रिय और घ्राणेन्द्रिय प्राप्यकारी घटित नहीं होती है क्योंकि यह दोनों इन्द्रियाँ दूरवर्ती देश में स्थित स्वविषयक पदार्थ को भी ग्रहण कर लेती हैं।

समाधान - श्रोत्रेन्द्रिय और घ्राणेन्द्रिय के विषय शब्द और गन्ध स्वयं ही इन्द्रिय से स्पष्ट होते हैं, ये इन्द्रियाँ जाकर शब्द और गन्ध को ग्रहण नहीं करती हैं, क्योंकि शब्द और गन्ध पौद्गलिक और सक्रिय हैं। जैसेकि वायु से घूँआ गति करता है, वैसे ही शब्द और गन्ध भी वायु द्वारा गति करते हैं। श्रोत्र और घ्राणेन्द्रिय के साथ शब्द और गन्ध सम्बद्ध होकर ही उपघात (बहिरापन, जिसमें नासिका फूल जाती है ऐसा पूति रोग) या अनुग्रह (शब्द और गन्ध से अनुकूल वेदन) आदि कार्य

115. षट्खण्डागम पु. 7, सू. 2.1.16 पृ. 68

116. आवश्यकनिर्युक्ति गाथा 5,6.7 विशेषावश्यकभाष्य गाथा 336, 351, 355

117. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 205-207, राजवार्तिक 1.19.3, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक 1.19.91 से 98, न्यायकुमुदचन्द्र भाग 1, पृ. 83, हारिभद्रीय पृ. 50, मलयगिरि पृ. 170, जैनतर्कभाषा पृ. 8

118. मलयगिरि, पृ. 172

करने में समर्थ होते हैं। इससे सिद्ध होता है कि इन इन्द्रियों से विषय सम्बद्ध होता है तभी ये अर्थ-ग्रहण करती हैं। अतः ये दोनों इन्द्रिया भी प्राप्यकारी हैं।¹¹⁹

चक्षु इन्द्रिय की अप्राप्यकारिता

न्यायादि वैदिक दर्शन चक्षु को प्राप्यकारी ही स्वीकार करते हैं। इसके सम्बन्ध में उनके अनेक तर्क हैं, जो यहाँ जैनदार्शनिकों द्वारा प्रदत्त खण्डन के साथ प्रस्तुत हैं -

1. नैयायिकों का कथन है कि चक्षु इन्द्रिय का अनुग्रह और उपघात होता है। जिनभद्रगणि इसका समाधान करते हुए कहते हैं चक्षु इन्द्रिय में अपने ग्राह्य विषय के कारण उपघात और अनुग्रह नहीं होता है। जैसे कि चक्षु इन्द्रिय प्राप्त वस्तु के साथ सम्बद्ध होकर उसका ज्ञान करती तो अग्नि आदि के दर्शन में, स्पर्शनेन्द्रिय के समान उसके जलने रूप उपघात और कोमल वस्तु को देखने पर अनुग्रह होना चाहिए। लेकिन ये दोनों प्रसंग चक्षुइन्द्रिय में नहीं होते हैं। इसलिए चक्षु इन्द्रिय अप्राप्यकारी है।

शंका - यह कथन अनुचित है, क्योंकि चन्द्रमा आदि को देखने से चक्षु का अनुग्रह और सूर्य आदि को देखने से नेत्र का उपघात प्रत्यक्ष है, इसलिए चक्षु इन्द्रिय भी प्राप्यकारी है।

समाधान - यदि इसको स्वीकार भी करलें तो भी चक्षु इन्द्रिय को अप्राप्यकारी मानने में कोई दोष नहीं है। क्योंकि हमारे अनुसार चक्षु इन्द्रिय स्वयं अन्य स्थान पर जाकर अथवा किसी देशविशेष को प्राप्त करके रूप को नहीं देखती है, अपितु अपने ग्राह्य विषय (रूप) को योग्य देश में दूर स्थित होकर देखती है। यहाँ हमारे कहने का तात्पर्य यह है कि विषय (रूप) के ग्रहण के समय चक्षु इन्द्रिय अनुग्रह और उपघात से रहित होती है, किन्तु बाद में लम्बे समय तक देखते रहने पर ज्ञाता (द्रष्टा) को सूर्य की किरणें अथवा चन्द्रमा की किरणें स्पृष्ट (प्राप्त) करती हैं, तब उन सूर्य की किरणों से अथवा चन्द्रमा की किरणों से स्वभावतः चक्षु का उपघात और अनुग्रह हो सकता है। फिर भी कहें कि चक्षु इन्द्रिय किसी विषय को स्पृष्ट करके ही जानती है, तो फिर उसी चक्षु में लगे हुए अर्थात् चक्षु के साथ ही स्पृष्ट जो अंजन, रज, मल आदि को भी जानना चाहिए, किन्तु वह अंजनादि को नहीं देख पाती है, इसलिए नेत्र अप्राप्यकारी हैं।¹²⁰

2. नैयायिक कहते हैं कि चक्षु बाह्येन्द्रिय है। प्रभाचन्द्र उत्तर में कहते हैं कि चक्षु इन्द्रिय बाह्येन्द्रिय नहीं है, क्योंकि बाह्येन्द्रिय के जो पांच लक्षण हैं वे चक्षु इन्द्रिय में घटित नहीं होते हैं - 1. बाहर के अर्थ ग्रहण के अभिमुख होना, 2. बाह्य प्रदेशों में रहना 3. बाह्य कारण से उत्पन्न होना 4. इन्द्रिय के स्वरूप से अतीत होता और 5. मन से अलग होना। विषय ग्रहण में भावेन्द्रिय का महत्त्व है, द्रव्येन्द्रिय का नहीं। विद्यानंद के अनुसार जो बाहर दिखता है, उस गोलक को चक्षु कहते हैं, तो उसकी अप्राप्यकारिता स्वतः ही सिद्ध है।

3. न्याय-वैशेषिकों का मानना है कि चक्षुइन्द्रिय से किरणें निकलकर अर्थ को प्राप्त करती हैं, इससे यह गतिवाला है। जिनभद्रगणि के अनुसार चक्षु गतिशील भी नहीं है, क्योंकि चक्षु स्वविषय के स्थल पर नहीं जाता है और स्व-विषय भी चक्षु के स्थान पर नहीं आता है। अकलंक कहते हैं कि चक्षु डाली और चन्द्रमा को एक साथ देख सकता है, इसलिए वह गतिशील नहीं है।¹²¹ प्रभाचन्द्र कहते हैं कि जिस प्रकार चन्द्रमा और चन्द्रकांत मणि में उष्णत्व नहीं होने से उनको तेजस नहीं माना है, वैसे ही चक्षु भी तेजस रूप नहीं है। यदि चक्षु तेजस रूप होता तो इसमें सूर्य की तरह उष्णता अवश्य होती तथा चक्षु रश्मि-त्व वाला भी नहीं है, क्योंकि महाज्वाला के समान चक्षु का प्रतिस्खलन प्रतीत नहीं होता है।¹²²

119. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 205-208

121. राजवार्तिक 1.19.3

120. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 209-212

122. न्यायकुमुदचन्द्र पृ. 81

4. नैयायिकों का कहना है कि चक्षु संसार के अतिदूर और व्यवधान वाले अर्थों को नहीं देख सकता है। मलयगिरि उत्तर में कहते हैं कि अप्राप्यकारी मन भी लोक के नियत विषयों को ही ग्रहण कर सकता है, वैसे ही चक्षु भी नियत विषयों को ही ग्रहण करता है, क्योंकि लोहचुम्बक भी योग्य दिशा में रहे हुए लोहकणों को ही आकर्षित करता है।¹²³

5. नैयायिक कहते हैं कि चक्षु इन्द्रिय भौतिक है। मलयगिरि कहते हैं कि लोह चुम्बक भी भौतिक है और अप्राप्यकारी है।¹²⁴

पांच इन्द्रियों का विषय और उनका विषय क्षेत्र

मतिज्ञान का सम्बन्ध इन्द्रिय से है। अतः जिनभद्रगणि ने प्रसंगानुसार ही पांच इन्द्रियों द्वारा प्राप्त-अप्राप्त विषय की चर्चा करते हुए उनके विषय के प्रमाण का उल्लेख किया है। श्रोत्रेन्द्रियादि पांचों इन्द्रियाँ अपने-अपने विषय का ग्रहण करती हैं, लेकिन अपने-अपने विषय को भी भिन्न-भिन्न प्रकार से ग्रहण करती हैं। इन्द्रियां मतिज्ञान में सहायक होती हैं। इनका विषय मतिज्ञान रूप होता है।

पुटुं सुणेइ सहं, रूवं पुण पासइ अपुटुं तु।

गंधं रसं च फासं च, बद्धपुटुं वियागरे॥¹²⁵

अर्थात् श्रोत्रेन्द्रिय, शब्द को मात्र स्पर्श होने पर सुनती है, चक्षुरिन्द्रिय रूप को बिना स्पर्श हुए ही देखती है तथा घ्राणेन्द्रिय गन्ध को, रसनेन्द्रिय रस को और स्पर्शनेन्द्रिय स्पर्श को, स्पृष्ट और बँधने पर ही जानती है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि विषय ग्रहण की अपेक्षा इन्द्रियां तीन प्रकार की होती हैं - 1. स्पृष्ट विषय को ग्रहण करने वाली - श्रोत्रेन्द्रिय। 2. बद्धस्पृष्ट विषय का ग्रहण करने वाली - स्पर्श, रस और घ्राण और 3. अस्पृष्ट विषय करने वाली - चक्षुरिन्द्रिय। यह वर्गीकरण विषय की पटुता के आधार पर किया गया है। स्पर्शनेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय और घ्राणेन्द्रिय ये तीन पटु, श्रोत्रेन्द्रिय पटुतर और चक्षुरिन्द्रिय पटुतम होती है।

जिनभद्रगणिक्षमाश्रमण स्पृष्ट और बद्ध की परिभाषा देते हुए कहते हैं कि शरीर पर रज कण के स्पर्श की भांति शब्द आदि का जो स्पर्शमात्र होता है, वह स्पृष्ट है। आत्मप्रदेशों के साथ गाढतर आश्लेष (सम्बद्ध) होना बद्ध कहलाता है।¹²⁶

स्पृष्ट पुद्गल एकमेक कैसे होते हैं - हरिभद्र के अनुसार शीत उष्णता के पुद्गल निकलकर स्पर्शनेन्द्रिय में एकमेक होने पर ही उनका ज्ञान होता है। बद्ध का उदाहरण देते हुए कहा है कि पहले जल का शरीर से स्पर्श होता है, फिर वह आत्मीकृत होता है।¹²⁷

श्रोत्रेन्द्रिय की पटुता

श्रोत्रेन्द्रिय स्पृष्ट शब्द द्रव्य को ग्रहण करती है, अतः घ्राण आदि इन्द्रियों की अपेक्षा श्रोत्रेन्द्रिय पटुतर है। इसके विषयभूत शब्द द्रव्य अन्य विषयों की अपेक्षा मात्रा में प्रभूत, सूक्ष्म तथा भावुक (वासित करने वाला) हैं। इस प्रकार जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने स्पृष्ट मात्र के ग्रहण के तीन हेतु बताये हैं - बहु, सूक्ष्म और भावुक। शब्द के परमाणु स्कंध बहुत द्रव्य वाले, सूक्ष्म और भावुक होते हैं तथा उत्तरोत्तर शब्द के परमाणु स्कंधों को वासित करने वाले होते हैं। इसलिए इनका ज्ञान स्पर्श मात्र से हो जाता है। जैसे नये शकोरे पर जल-बिन्दु का स्पर्श मात्र होने से, शकोरा उस जल बिंदु

123. मलयगिरि पृ. 170

124. मलयगिरि पृ. 171

125. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 336

126. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 337

127. हरिभद्रीया वृत्ति, पृ. 68-69

को ग्रहण कर लेता है। वैसे ही श्रोत्र (कान) इंद्रिय के साथ शब्द पुद्गलों का मात्र स्पर्श रूप सम्बन्ध होते ही श्रोत्र शब्द को सुन लेती है, क्योंकि श्रोत्र उपकरण द्रव्य-इंद्रिय के पुद्गल बहुत पटु हैं तथा शब्द के पुद्गल सूक्ष्म, बहुत और अधिक भावुक होते हैं। अतः श्रोत्रेन्द्रिय पटुतर होती है।

घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय और स्पर्शेन्द्रिय अनुक्रम से स्वविषय भूत गंध-रस-स्पर्श वाले बद्ध और स्पृष्ट द्रव्यों को विषय रूप में ग्रहण करती हैं। अतः स्वप्रदेश के साथ घ्राणेन्द्रियादि द्रव्य के अत्यंत गाढ़ संबद्ध होने पर ग्रहण कर सकती हैं, अन्यथा नहीं, क्योंकि विषयभूत गंधादि द्रव्य शब्द द्रव्य की अपेक्षा अधिक स्थूल हैं और अभावुक (वासित करने के स्वभाव से रहित) हैं। अतः घ्राणेन्द्रियादि विषय को ग्रहण करने में श्रोत्रेन्द्रिय की अपेक्षा अपटु है।

हरिभद्रसूरि ने इसे विशेष प्रकार से समझाते हुए कहा है कि यहाँ बद्ध का अर्थ है - आत्मप्रदेशों के द्वारा ग्रहण होना। जैसे - लोह अग्नि को उसका स्पर्श होने से ही नहीं पकड़ता, पर जब अग्नि, लोह में प्रविष्ट होती है, तभी लोह अग्नि को पकड़ता है, वैसे ही घ्राण, जिह्वा और स्पर्शन-उपकरण-द्रव्येन्द्रियों के साथ, गंध, रस और स्पर्श पुद्गलों का स्पर्शमात्र होने से घ्राण, जिह्वा और स्पर्शन लब्धि भावेन्द्रियाँ गंध, रस और स्पर्श को नहीं जानती, पर जब घ्राण, जिह्वा और स्पर्श उपकरण द्रव्य इंद्रियों के प्रदेशों से, गन्ध, रस और स्पर्श के पुद्गल परस्पर एकमेक हो जाते हैं (एक दूसरे में प्रभावित हो जाते हैं) तभी घ्राण, जिह्वा और स्पर्शन भावेन्द्रियाँ, गन्ध, रस और स्पर्श को जान सकती हैं।¹²⁸

चक्षुरिन्द्रिय योग्य देश में रहे हुए स्वविषय भूत रूप को अस्पृष्ट, अप्राप्त और असम्बद्ध (स्पर्श के बिना) ही ग्रहण करती है, तथा अयोग्य देश में रहे हुए सौधर्म देवलोकादि अथवा दीवार आदि के व्यवधान युक्त घटादि वस्तु को ग्रहण नहीं कर सकती है। क्योंकि चक्षु और मन अप्राप्यकारी हैं और वे स्पर्श के बिना ही वस्तु को ग्रहण करते हैं। जैसेकि दर्पण किसी पदार्थ को स्पर्श किए बिना ही (केवल सामने आने से ही) पदार्थ के प्रतिबिम्ब को ग्रहण कर लेता है, उसी प्रकार चक्षु उपकरण द्रव्येन्द्रिय से पदार्थ को स्पर्श किये बिना ही (केवल चक्षु के सामने आने से ही) चक्षु रूप को जान लेती है। इसलिए वह सबसे अधिक पटुतम होती है।¹²⁹

शंका - यदि चक्षु अप्राप्त रूप को ग्रहण करती है, तो लोकांत से पहले जो भी वस्तु है द्रष्टा उनको देख सकता है, क्योंकि अप्राप्त का विषय सर्वत्र समान है।

समाधान - आगम में चक्षुइन्द्रिय का विषय परिमाण आत्मांगुल से एक लाख योजन से अधिक बताया है, इसलिए सभी जगह अप्राप्तकारीपना समान होते हुए भी योग्य देश में रहे हुए ही रूप को देखती है, अयोग्य देश में रहे हुए रूप को नहीं देखती है।

अंगुल प्रमाण का स्वरूप

यहाँ चक्षुरिन्द्रिय का विषय आत्मांगुल से बताया है, अतः जिनभद्रगणि प्रसंगानुसार तीन प्रकार के अंगुलों के स्वरूप का उल्लेख करते हैं। अंगुल के तीन भेद हैं -

1. आत्मांगुल - जिस काल में जो मनुष्य होते हैं उनके अपने अंगुल को 'आत्मांगुल' कहते हैं। काल के भेद से मनुष्यों की अवगाहना में न्यूनाधिकता होने से इस अंगुल का परिमाण भी परिवर्तित होता रहता है। जिस समय जो मनुष्य होते हैं उनके नगर, कानन, उद्यान, वन, तडाग (तालाब), कूप (कूआ) मकान आदि उन्हीं के अंगुल से अर्थात् आत्मांगुल से मापे जाते हैं।

2. उत्सेधांगुल - इस अवसर्पिणी काल के पांचवें आरे का आधा भाग अर्थात् साढ़े दस हजार वर्ष बीत जाने पर उस समय के मनुष्य के अंगुल को 'उत्सेधांगुल' कहते हैं। अथवा इसका प्रमाण अनुक्रम से परमाणु, त्रसरेणु, रथरेणु, बालाग्र, लीख (लिखा)-जूं (जूका)-यव (जव), प्रत्येक के आठ-आठ गुणा करने पर होता है। इस उत्सेध अंगुल से दुगुना वीर का आत्म-अंगुल होता है। उत्सेधांगुल से नरक, तिर्यच, मनुष्य और देवों की अवगाहना मापी जाती है।

3. प्रमाणांगुल - यह अंगुल सब से बड़ा होता है। इसलिए इसे प्रमाणांगुल कहते हैं। उत्सेधांगुल से प्रमाणांगुल हजार गुणा बड़ा होता है। इस अंगुल से रत्नप्रभा आदि नरक, भवनपतियों के भवन, कल्प (विमान), वर्षधर पर्वत, द्वीप आदि की लम्बाई, चौड़ाई, ऊँचाई, गहराई और परिधि नापी जाती है। शाश्वत वस्तुओं को नापने के लिये यह प्रमाणांगुल काम में लिया जाता है।¹³⁰

शंका - कुछ आचार्यों का मानना है कि नारकी आदि के शरीरादि का प्रमाण उत्सेधांगुल से जाना जाता है, तो यहाँ शरीरादि में आदि शब्द से इन्द्रिय तथा उसके विषय का प्रमाण भी आ गया है। क्योंकि शरीर में इन्द्रियाँ होती हैं। इन्द्रियों के विषय को ग्रहण करवाने में शरीर सहायक होता है, इसलिए इन्द्रियों के विषय का परिमाण उत्सेधांगुल से ही नापना चाहिए।

जिनभद्रगणि कहते हैं कि अन्यत्र आगम में सभी स्थलों पर उत्सेधांगुल से शरीर की अवगाहना के नापने का ही उल्लेख है, इन्द्रियादि के विषयों का नापने का उल्लेख नहीं है। यदि उत्सेधांगुल से इन्द्रिय के विषय का परिमाण नापेंगे तो पांच सौ धनुष की अवगाहना वाले भरतचक्रवर्ती का आत्मांगुल रूप प्रमाणांगुल है, वह उत्सेधांगुल से हजार गुणा बड़ा है, जबकि भरतचक्रवर्ती की अयोध्या नगरी आदि आत्मांगुल से 12 योजन लम्बी है, यदि सभी को उत्सेधांगुल से नापेंगे तो इससे तो वह अनेक हजार योजन प्रमाण की हो जायेगी। श्रोत्रेन्द्रिय की विषय सीमा रूप 12 योजन को उत्सेधांगुल से गिनेंगे तो हजारों योजन दूर से आये हुए शब्द को तो बहुत से नगर वाले एवं स्कंधावार वाले सुन ही नहीं सकते हैं, लेकिन यह शब्द सारी नगरी और स्कंधावार में सुनाई देते हैं। इसलिए इन्द्रियों का विषय आत्मांगुल से ही ग्रहण करना चाहिए।¹³¹

इसी प्रकार श्रोत्रेन्द्रिय का उत्कृष्ट विषय 12 योजन, चक्षुरिन्द्रिय का उत्कृष्ट विषय एक लाख योजन से अधिक तथा शेष घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय और स्पर्शनेन्द्रिय का उत्कृष्ट विषय नौ योजन का है। ये पांचों इन्द्रियाँ अपने-अपने उत्कृष्ट विषय क्षेत्र से आये हुए शब्द-रूप-गंध-रस और स्पर्श रूप अर्थ को ग्रहण करती हैं। इससे अधिक दूर से आये हुए शब्द और गंधादि विषय मंदपरिणाम वाले होने से इन्द्रियों के विषय नहीं बनते हैं।¹³²

इन्द्रियों का जघन्य विषय - चक्षुरिन्द्रिय का जघन्य विषय अंगुल के संख्यातवें भाग जितना है, क्योंकि अत्यधिक नजदीक में रहे हुए अंजन-सली-मेल आदि को चक्षु इन्द्रिय देख नहीं सकती है, जबकि शेष इन्द्रियों का जघन्य विषय अंगुल के असंख्यातवें भाग है। इतने जघन्य क्षेत्र से आये शब्दादि अर्थ को श्रोत्रेन्द्रियादि ग्रहण करती है।

क्षेत्र से मन के विषय का कोई परिमाण नहीं, क्योंकि वह नियम रहित दूर अथवा नजदीक मूर्त-अमूर्त सभी वस्तु को केवलज्ञान के विषय के समान ग्रहण करता है। जो पुद्गल मात्र में ही नियत रूप से बन्धा हुआ नहीं होता है, उसका विषय-परिमाण नहीं। जैसे केवलज्ञान का विषय परिमाण नहीं है, वैसे ही मन पुद्गल मात्र में ही नियत रूप से बन्धा हुआ नहीं होने से उसका

130. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 340

131. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 341-344

132. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 345-347

विषय परिमाण नहीं है। इन्द्रियजन्य मति-श्रुत का विषय परिमाण नियत है और इन्द्रियाँ तो पुद्गल मात्र को ही ग्रहण करती हैं, लेकिन मनोजन्य मति-श्रुत का विषय मात्र पुद्गल को ग्रहण करने में नियत नहीं है, इसलिए उसका विषय केवलज्ञान के विषय के समान है। अवधि और मनःपर्यव का भी विषय परिमाण पुद्गल मात्र से नियत रूप से बंधा हुआ दिखाई देता है।¹³³ इन्द्रियों के विषय से सम्बन्धित चार्त निम्न प्रकार से है -

इन्द्रिय	जघन्य ज्ञेय क्षेत्र	उत्कृष्ट ज्ञेय क्षेत्र
श्रोत्रेन्द्रिय	अंगुल का असंख्यातवां भाग	बारह योजन
चक्षु इन्द्रिय	अंगुल का संख्यातवां भाग	कुछ अधिक एक लाख योजन
घ्राणेन्द्रिय	अंगुल का असंख्यातवां भाग	नौ योजन
रसनेन्द्रिय	अंगुल का असंख्यातवां भाग	नौ योजन
स्पर्शनेन्द्रिय	अंगुल का असंख्यातवां भाग	नौ योजन

इन्द्रियाँ कब और कैसे विषय को ग्रहण करती हैं

श्रोत्रेन्द्रिय प्राप्त (स्पृष्ट) शब्द को ही सुनती है, तो क्या वह शब्द प्रयोग से उत्पन्न किये हुए शब्द-द्रव्य को सुनती है, दूसरे के द्वारा वासित अथवा मिश्र शब्द सुनती है।

भासासमसेढीओ, सहं जं सुणइ मीसियं सुणइ।

वीसेढी पुण सहं, सुणेइ णियमा पराघाए॥¹³⁴

जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण इसका समाधान करते हुए कहते हैं कि जो बोली जाती है, वह भाषा है, अथवा वक्ता जिसको शब्द रूप में छोड़े वह द्रव्य समूह भाषा है। वक्ता के शरीर की दिशा से ही आकाश प्रदेश की पंक्ति रूप समश्रेणी¹³⁵ भाषा की समश्रेणी कहलाती है, जो व्यक्ति समश्रेणी में रहते हुए शब्द को सुनता है, तो वह मिश्र शब्द सुनता है अर्थात् जो श्रोता छहों दिशाओं में से किसी भी दिशा में, यदि वक्ता की समश्रेणी में रहा हुआ हो, तो वह जो शब्द सुनता है, वह मिश्रित सुनता है। क्योंकि श्रोता कुछ वक्ता के द्वारा भाषा-वर्गणा के पुद्गलों को भाषा रूप में परिणत करके छोड़े गये शब्द पुद्गल सुनता है और कुछ उन भाषा परिणत शब्द पुद्गलों से प्रभावित होकर शब्द रूप में परिणत हुए शब्द पुद्गलों को सुनता है। अतः वक्ता के द्वारा जो भाषा के पुद्गल छोड़े गये हैं, उनके साथ दूसरे भाषा वर्गणा के पुद्गल स्कंध मिल जाते हैं, इसलिए श्रोता मूल शब्द को नहीं सुनता, मिश्र शब्द सुनता है। यहाँ मिश्र का अर्थ है वक्ता के द्वारा छोड़े हुए पुद्गल+वासित पुद्गल। लोक के मध्य में रहे हुए वक्ता के बोलने पर भाषा के पुद्गल पूर्वादि छहों दिशाओं में प्रथम समय में ही लोकान्त तक जाते हैं।

जो श्रोता वक्ता की विषमश्रेणी में, किसी भी दिशा में रहा हुआ हो, तो वह जो शब्द सुनता है, वह नियम से प्रभावित शब्द ही सुनता है। वक्ता के द्वारा शब्द रूप में परिणत शब्द पुद्गल नहीं सुनता, परन्तु उसके शब्द पुद्गलों से प्रभावित होकर शब्द रूप में परिणत हुए पुद्गल ही सुनता है, क्योंकि शब्द पुद्गल समश्रेणी में ही गति करते हैं, विषमश्रेणी में गति नहीं करते, परन्तु वे विषम श्रेणी में रहे हुए शब्द पुद्गलों को प्रभावित कर, शब्द रूप में परिणत करते जाते हैं। यदि ऐसा है तो दिशा और विदिशा में रहे हुए श्रोता का अलग-अलग समय में शब्द सुनाई देना चाहिए, लेकिन सभी को एक साथ सुनाई देता है, इसका क्या कारण है? भाष्यकार कहते हैं कि दिशा और विदिशा में रहे हुए श्रोता

133. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 349-350

134. आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा 6, विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 351

135. आकाश प्रदेशों की पंक्ति को श्रेणी कहते हैं, यह पंक्तियाँ आकाश में सभी जगह होती हैं।

को अलग-अलग समय में ही सुनाई देता है, लेकिन समयादि काल का भेद अतिसूक्ष्म होने से प्रतीत नहीं होता है। जिस प्रकार शब्द पुद्गलों के लिए कथन किया, उसी प्रकार गंध पुद्गल, रस पुद्गल और स्पर्श पुद्गलों के विषय में भी समझना चाहिए। यथा-जो पुरुष गंध वाले, रस वाले और स्पर्श वाले पुद्गल की समश्रेणी में होता है, वह मिश्रित गंध, रस और स्पर्श पुद्गलों को जानता है और जो विषमश्रेणी में होता है, वह नियम से पराघात (वासित) गंध, रस और स्पर्श पुद्गलों को जानता है।¹³⁶

भाषा पुद्गल का ग्रहण और विसर्जन

काययोग से भाषा वर्णना के पुद्गलों को ग्रहण किया जाता है और वचन योग से उन्हें बाहर निकाला जाता है। प्रथम समय में भाषा पुद्गल ग्रहण किए जाते हैं और दूसरे समय में भाषा पुद्गल छोड़े जाते हैं। यह क्रम तीसरे, चौथे आदि समयों में भी इसी प्रकार चलता है अर्थात् ग्रहण करने के मध्य एक समय का अन्तराल होता एवं बोलते समय भी एक समय का अन्तराल होता है। पुरुष के अनन्तर पुरुष पुरुषान्तर कहलाता है, उसी प्रकार एक समय से अनन्तर समय एकान्तर कहलाता है अर्थात् एक समय में ग्रहण करता है और एक समय में छोड़ता है।

शंका - भाषा के पुद्गलों का काययोग से ग्रहण करना तो उचित है, लेकिन वचन योग से छोड़ना कैसे संभव है? वचन योग क्या है? क्या व्यापार रूप वाणी ही वचन योग है अथवा उसके छोड़ने के कारण काययोग ही वचनयोग है? इसका **समाधान** यह है कि मनोयोग और वचनयोग, काययोग के ही विशेष भेद मनोयोग और वचनयोग हैं। शरीर व्यापार से ग्रहण किये हुए भाषा पुद्गल समूह के आश्रय से उत्पन्न तथा भाषा के विसर्जन (निसर्ग) के कारण रूप जीव का व्यापार वचन योग है। काया के व्यापार से ही ग्रहण किये हुए मनोद्रव्य के समूह के आश्रय से मनोद्रव्यों के चिन्तन के कारण जो व्यापार विशेष उत्पन्न होता है, वह मनोयोग कहलाता है। इसलिए ऐसा कहने में कोई दोष नहीं है।¹³⁷

इस प्रकार काययोग के ही (उपाधि भेद से) तीन प्रकार हैं। काययोग से ही द्रव्य ग्रहण होता है, अतः जिसके काययोग नहीं है, उसके अलग से वचन योग और मनोयोग नहीं है। क्योंकि वचनयोग और मनोयोग के पुद्गलों का ग्रहण काययोग से ही होता है। इस अपेक्षा से तो श्वासोच्छ्वास की तरह ही मनोयोग और वचनयोग भी काययोग ही हैं। इसलिए श्वासोच्छ्वास की तरह उनका समावेश भी काययोग में ही होना चाहिए। यदि ऐसा संभव नहीं होता है तो श्वासोच्छ्वास को भी अलग से योग मानना चाहिए। इसका समाधान यह है कि व्यवहार की सिद्धि के लिए जैसे वचन योग और मनोयोग का फल कायिकक्रिया से भिन्न प्रगट होता है, वैसे श्वासोच्छ्वास योग का फल कायिकक्रिया से भिन्न प्रतीत नहीं होता है। इसलिए श्वासोच्छ्वास को काययोग से भिन्न नहीं माना है।¹³⁸

जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने मतान्तर का उल्लेख करते हुए कहा है कि कुछ आचार्य एक-एक समय के अन्तर से ग्रहण और निसर्ग (शब्द रचना) मानते हैं, लेकिन यह कथन सही नहीं है, क्योंकि अन्तर-अन्तर से ग्रहण करने के समयों में सभी को सुनाई नहीं देता है। साथ ही 'अणुसमयविरहियं निरन्तरं गिण्हइ' अर्थात् प्रतिसमय विरह रहित निरन्तर ग्रहण करता है, इस आगम पाठ के साथ भी विरोध आता है। जैसे प्रतिसमय ग्रहण होता है, वैसे ही प्रतिसमय निसर्ग भी होता है, क्योंकि जिसका पहले समय में ग्रहण होता है उसका दूसरे समय में निसर्ग भी होता है।¹³⁹

136. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 351-354

138. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 359-364

137. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 355-358

139. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 365-367

पहले समय में ग्रहण किये हुए भाषा द्रव्यों का निसर्ग पहले समय में नहीं होता है, उनका निसर्ग दूसरे समय में ही होता है। इसी प्रकार दूसरे समय में ग्रहण किये हुए तीसरे समय में निकलते हैं, तीसरे समय के चौथे समय में निकलते हैं। इस प्रकार ग्रहण करने एवं त्याग करने की अपेक्षा यह अन्तर रहित है, क्योंकि ग्रहण किये हुए का त्याग उसी समय में नहीं होता है, किन्तु समय की अपेक्षा यह निरन्तर होता है, दूसरे आदि सभी समयों में त्याग ही होता है। अतः पहले समय में ग्रहण ही होता है, अन्तिम समय में मात्र निसर्ग ही होता है और बीच के समयों में ग्रहण भी होता है और त्याग भी।¹⁴⁰

कालमान

भाषा द्रव्य का ग्रहण, ग्रहण किये हुए का त्याग और भाषा ये इन तीनों का अलग-अलग रूप से जघन्य काल एक समय का है, लेकिन ग्रहण और त्याग (वचन व्यापार की अपेक्षा) का युगपत् काल जघन्य दो समय का है। भाषा का बोलना निसर्ग ही है, अर्थात् भाषा द्रव्य का त्याग ही भाषा है, इसका काल जघन्य से एक समय प्रमाण है। लेकिन ग्रहण और त्याग यह उभय रूप से भाषा नहीं कहलाती है। क्योंकि उसका जघन्य काल दो समय का है। इसलिए भाषा का काल मान एक समय का ही है। भाषा द्रव्य का ग्रहण, ग्रहण किये हुए का त्याग और भाषा इन तीनों का तथा ग्रहण और त्याग का युगपत् उत्कृष्ट काल अलग-अलग रूप से अन्तर्मुहूर्त है। इस उत्कृष्ट काल में जो महान् प्रयत्न वाला होता है, उसका अन्तर्मुहूर्त छोटा होता है और जो अल्पप्रयत्न वाला होता है, उसका अन्तर्मुहूर्त बड़ा होता है।¹⁴¹

भाषा के पुद्गलों द्वारा व्याप्य क्षेत्र

जिनभद्रगणि के अनुसार जीव औदारिकादि शरीर से भाषा के द्रव्य को ग्रहण करता है और मुक्त करता है। मुक्त भाषा के पुद्गल द्रव्य लोक पर्यन्त व्याप्त होते हैं। यहाँ विरोधाभास प्रतीत होता है क्योंकि पूर्व में यह माना गया है कि बारह योजन से अधिक दूरी से आये शब्द मन्दपरिणाम वाले होने से जीव को बराबर सुनाई नहीं देते हैं। यदि बारह योजन से अधिक दूरी वाले भाषा के द्रव्य आते हैं तो श्रोत्रेन्द्रिय के विषय की मर्यादा में रहे हुए द्रव्यों में वासना का जो सामर्थ्य होता है, वैसा ही सामर्थ्य इन्द्रिय-विषय की मर्यादा के बाहर के पुद्गल द्रव्यों में होता है कि नहीं? द्रव्य का सामर्थ्य सम्पूर्ण लोक की व्याप्ति पर्यन्त है, तो कितने समय में भाषा के द्रव्य सम्पूर्ण लोक को व्याप्त करते हैं? इत्यादि शंकाओं का उत्तर जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण देते हुए कहते हैं कि किसी भाषा के पुद्गल चार समय में सम्पूर्ण लोक में व्याप्त होते हैं और लोक के असंख्यातवें भाग में भाषा का असंख्यात्वां भाग में व्याप्त होता है।¹⁴²

मंदप्रयत्न वाला वक्ता अभिन्न और महाप्रयत्न वाला वक्ता भेदकर भाषा द्रव्यों को निकालता है। मंदप्रयत्न वाले वक्ता के द्वारा बोली गई भाषा के जिन अभिन्न द्रव्यों को निकाला जाता है, वे द्रव्य असंख्यात अवगाहना वर्गणा तक जा कर भेद को प्राप्त हो जाते हैं, फिर संख्यात योजन तक आगे जाकर नष्ट हो जाते हैं। यही बात प्रज्ञापना सूत्र के भाषापद में भी कही है।¹⁴³ महाप्रयत्न वाले वक्ता के द्वारा बोली गई भाषा के जो द्रव्य मुक्त होते हैं, वे सूक्ष्म और बहुत होने से अनन्त गुण

140. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 368-370

141. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 371-372

142. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 378-380

143. जाई अभिण्णाई णिसिरि ताई असंखेज्जाओ ओगाहणवग्गणाओ गंता भेयमावज्जंति, संखेज्जाई जोयणाई गंता विद्धंसमागच्छन्ति।

वृद्धि प्राप्त करके छहों दिशाओं में लोकान्तपर्यन्त तक जाते हैं और पराघात द्वारा वासना विशेष से ही द्रव्य समूह में भाषा परिणाम उत्पन्न होकर तीन समय में सम्पूर्ण लोक को पूरित करते हैं।¹⁴⁴

मतान्तर - कुछ आचार्यों का मत है कि जिस प्रकार केवलिसमुद्घात¹⁴⁵ में दंडादि करते हुए चार समय में समग्र लोक पूरित होता है, उसी प्रकार भाषा के पुद्गल भी चार समय में सम्पूर्ण लोक को पूरित करते हैं। लेकिन **जिनभद्रगणि** के अनुसार यह एकान्त रूप से सही नहीं है।

तीन समय - इसी प्रकार कुछ आचार्यों का मत है कि तीन समय में भाषा के द्रव्य लोक को पूरित करते हैं। जैसे कि लोक के मध्य में कोई महाप्रयत्न वाला वक्ता भाषा बोलता है तो प्रथम समय में ही भाषा द्रव्य छहों दिशाओं में जाते हैं। जीव और सूक्ष्म पुद्गलों की गति श्रेणी के अनुसार होती है। दूसरे समय में छहों दिशाओं में गये हुए भाग द्रव्य दंड रूप चारों दिशाओं में श्रेणी के अनुसार वासित द्रव्यों को फैलाकर छः मन्थान रूप होते हैं। तीसरे समय में मन्थान के आन्तरों को पूरित करके समग्र लोक को पूरित करते हैं।

चार समय - स्वयंभूरमण समुद्र के तटवर्ती लोकान्त में अर्थात् अलोक के अत्यन्त नजदीक रहकर बोलने वाला अथवा त्रसनाड़ी के बाहर चार दिशाओं में किसी भी दिशा में रहकर बोलने वाला भाषाद्रव्यों से चार समय में लोक को पूरित करता है। जैसेकि त्रसनाड़ी के बाहर रहकर बोले गये भाषा के द्रव्य पहले समय में त्रसनाड़ी में प्रवेश करते हैं, शेष तीन समय की प्रक्रिया उपर्युक्तानुसार जाननी चाहिए। स्वयंभूरमण समुद्र के दूसरे तट पर रहे हुए लोकान्त में चार दिशाओं में से किसी एक दिशा में वक्ता व्यवस्थित रहता है, तब दायें, बायें पीछे, ऊपर और नीचे की दिशाओं का अलोक से स्खलन होने के कारण भाषा द्रव्य प्रथम समय में लोक के मध्य में प्रवेश करते हैं। बाकी तीन समय का वर्णन उपर्युक्तानुसार है।

पांच समय - त्रसनाड़ी के बाहर विदिशा में रहकर बोलने वाला के भाषाद्रव्य से समग्र लोक पूर्ण होने में पांच समय लगते हैं। प्रथम समय में विदिशा में रहे हुए भाषा द्रव्य समश्रेणी (दिशा) में आते हैं। दूसरे समय में लोक (त्रस) नाड़ी के मध्य में आते हैं, इस प्रकार दो समय में भाषा द्रव्य लोक में प्रवेश करते हैं, इसके बाद शेष तीन समय की प्रक्रिया उपर्युक्तानुसार है। इस प्रकार पांच समय में भाषाद्रव्य लोक को पूरित करते हैं।¹⁴⁶

शंका - यदि ऐसा है तो फिर निर्युक्तिकार ने चार समय में लोक पूरित करते हैं ऐसा क्यों कहा है। **समाधान** - **जिनभद्रगणि** इसका समाधान करते हुए कहते हैं कि जैसे तराजू के मध्य भाग का ग्रहण करने से आदि और अन्त भाग का भी ग्रहण होता है, वैसे ही चार समय रूप मध्य का ग्रहण करने से आद्यन्तवर्ती तीन और पांच समय का भी ग्रहण हो जाता है, क्योंकि सूत्र की गति विचित्र है। सूत्र में किसी भी स्थल पर देश से ग्रहण होता है और किसी स्थल में सम्पूर्ण से ग्रहण होता है और किसी समय कारणवशात् क्रमरहित और क्रमसहित भी सूत्र में वर्णन होता है।¹⁴⁷

तीन समय की व्याप्ति में पहले, दूसरे समय में लोक के असंख्यातवें भाग में भाषा द्रव्य का असंख्यातवां भाग पूरित होता है। तीन समय की व्याप्ति के तीसरे समय में भाषा समस्त लोक में व्याप्त होती है। **चार समय** की व्याप्ति में पहले समय में लोक के मध्य में प्रवेश और दूसरे समय

144. जाइं भिण्णाइं णिसिरति ताइं अणंतगुणपरिवड्ढीए परिवड्ढमाणाइं परिवड्ढमाणाइं लोयंतं फुसंति।

- प्रज्ञापनासूत्र पद 11, पृ. 85, विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 381-382

145. केवलिसमुद्घात का वर्णन केवलज्ञान के प्रसंग पर किया गया है।

146. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 383-387

147. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 388-389

दण्ड बनाना, तीसरे समय में लोक के संख्यातवें भाग में समस्त लोक को व्याप्त करने वाली भाषा का भी संख्यातवां भाग होता है और चौथे समय में सम्पूर्ण लोक व्याप्त होता है। **पांच समय** की व्याप्ति में पहले समय में भाषा द्रव्यों को विदिशा से दिशा में गमन, दूसरे समय में लोक के मध्य में प्रवेश, इस प्रकार दोनों व्याप्ति में भी यह ले और दूसरे समय में लोक के असंख्यातवें भाग में भाषा का असंख्यातवां भाग होता है। तीसरे समय में लोक के असंख्यातवें भाग में भाषा का असंख्यातवां भाग होता है, क्योंकि इस तीसरे समय में दण्ड होता है। चौथे समय में लोक के संख्यातवें भाग में भाषा का संख्यातवां भाग होता है और पांचवें समय में सम्पूर्ण लोक पूरित होता है। उपर्युक्त सारा कथन महाप्रयत्न वाले वक्ता के द्वारा छोड़े गये द्रव्य की अपेक्षा से जानना चाहिए। मंदप्रयत्न वाले वक्ता के द्वारा छोड़े हुए भाषाद्रव्य लोक के असंख्यातवें भाग में ही होते हैं, क्योंकि दण्डादि क्रम से उनका लोक में व्याप्त होना संभव नहीं है। तीन-चार-पांच समय की व्याप्ति के चरम समय में अर्थात् तीसरे-चौथे-पांचवें समय में भाषाद्रव्य सम्पूर्ण लोक में व्याप्त होने पर लोक और भाषा दोनों का भी अन्त होता है अर्थात् लोक के चरमान्त में भाषा का चरमान्त होता है।¹⁴⁸

जिनभद्रगणि का मत - केवलिसमुद्घात के प्रथम समय में दण्ड, दूसरे समय में कपाट, तीसरे समय में मन्थान और चौथे समय में अपान्तराल पूर्ण होता है। लेकिन भाषाद्रव्य से तीन समय में ही लोक पूरित हो जाता है।

चार समय के सम्बन्ध में प्राप्त मतान्तर और उनका खण्डन - उपर्युक्त वर्णन से यदि चार समय में पूरित करे तो क्या बाधा है? जिनभद्रगणिकमाश्रमण कहते हैं कि केवलिसमुद्घात के दूसरे समय में कपाट होता है, जबकि भाषा के वर्णन में दूसरे समय में मन्थान होता है। केवलिसमुद्घात में तो भवोपग्राही कर्मों का नाश होता है, इसलिए दण्डादि का क्रम उसमें स्वभाव से ही होता है, इसलिए उसमें चार समय लगते हैं। लेकिन भाषाद्रव्य का श्रेणी में गमन और पराघात से दूसरे द्रव्यों को वासित करने के स्वभाव, ये दोनों सकल लोक की व्याप्ति में कारण हैं। इसलिये प्रथम समय में दंड, ऊर्ध्व और अधः जाता हुआ अविशेष रूप से चारों दिशाओं में शब्द के प्रयोग के लिए योग्य द्रव्यों का पराघात होता है। पराघात से अन्य द्रव्यों को वासित करने से उन भाषा द्रव्यों में दूसरे समय में वे शब्द-द्रव्य प्रसार को प्राप्त करते हैं और मन्थान को साधते हैं। तीसरे समय में उनके अन्तराल को पूरित करके सम्पूर्ण लोक को पूरित करते हैं। इसलिए तीन समय में अन्तराल आपूरित होता है, ऐसा कहा गया है।¹⁴⁹

शंका - प्रज्ञापना सूत्र के पांचवें पद अजीव पर्याय में अचित्त महास्कंध का वर्णन है, वह अचित्त पुद्गलों का स्कंध होता है। उसकी स्थिति भी चार समय की होती है। वैसे भाषा भी पुद्गलमय होने पर वह भी चार समय में लोक को पूरित करती है, इसमें क्या बाधा है? **समाधान** - यह योग्य नहीं है, क्योंकि अचित्तमहास्कंध विम्रसा परिणाम से होता है और विम्रसा यद्यपि विचित्र है अर्थात् अचित्त महास्कंध का ऐसा ही स्वभाव है। दूसरा यह कि विम्रसा परिणाम पराघात से दूसरे द्रव्यों में अपना परिणाम उत्पन्न नहीं करता, परन्तु अपने पुद्गलों से ही लोक को व्याप्त करता है, इसलिए वह चार समय का ही है। वहाँ पर भी जो पराघात होगा वह भी भाषा से लोक को व्याप्त करने के समान तीन समय का होगा, चार समय का नहीं। स्कंध भी विम्रसा से होता है, उसमें पराघात नहीं होता है, इसलिए वह चार समय का है। इस प्रकार भाष्यकार के मतानुसार तो तीन समय में ही भाषा के पुद्गल लोक को पूरित कर देते हैं।¹⁵⁰

मन का स्वरूप

परोक्ष ज्ञान में इन्द्रिय के अलावा मन भी प्रमुख साधन है। अतः सभी दर्शनों ने किसी न किसी रूप में मन के अस्तित्व को स्वीकार किया है तथा उसका स्वरूप निरूपित किया है।

मन का अस्तित्व

न्यायसूत्रकार का मन्तव्य है कि एक साथ अनेक ज्ञान उत्पन्न नहीं होते। इस अनुमान से वे मन की सत्ता स्वीकार करते हैं।¹⁵¹ वात्स्यायन के अनुसार स्मृति ज्ञान बाह्य इन्द्रियों से उत्पन्न नहीं होता है और विभिन्न इन्द्रियों तथा उनके विषयों के रहते हुए भी एक साथ सबका ज्ञान नहीं होता, इससे मन का अस्तित्व अपने आप सिद्ध हो जाता है।¹⁵² अन्नम्भट्ट के मतानुसार सुख आदि की प्रत्यक्ष उपलब्धि का साधन मन को माना गया है।¹⁵³ जैनदर्शन के अनुसार संशय, प्रतिभा, स्वप्न, ज्ञान, वितर्क, सुख, दुःख, क्षमा, इच्छा आदि मन के अनेक लिंग हैं।¹⁵⁴ उपर्युक्त प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि परोक्ष ज्ञान का इन्द्रियों के अलावा अन्य दूसरा साधन भी होना चाहिए जिससे कि ज्ञान होता है और वह दूसरा साधन मन ही है।

मन का स्वरूप

मनन करना मन है अर्थात् जिसके द्वारा मनन किया जाता है वह मन है। मनोयोग्य मनोवर्गणा से गृहीत अनन्त पुद्गलों से निर्मित मन द्रव्य मन है। द्रव्य मन के सहारे जो चिन्तन किया जाता है, वह भावमन (आत्मा) है।¹⁵⁵ धवला के अनुसार जो भी भली प्रकार से (ईहा, अवाय, धारणा, स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान, आगम आदि पूर्वक) जानता है, उसे संज्ञा या मन कहते हैं।¹⁵⁶

द्रव्यसंग्रह की टीकानुसार - मन अनेक प्रकार के संकल्प विकल्पों का जाल है।¹⁵⁷ जिसमें स्मृति, कल्पना और चिन्तन हो वह मन है। जैसे जो अतीत की स्मृति, भविष्य की कल्पना और वर्तमान का चिन्तन करता है, वह मन है। अतः जिसमें त्रैकालिक ज्ञान की क्षमता हो, वह मन है। जब स्मृति, कल्पना और चिन्तन नहीं होते हैं तब मन नहीं होता है। जब मन होता है तब तीनों आवश्यक हो जाते हैं।

“मनुतेऽर्थान् मन्यन्तेऽर्थाः अनेनेति वा मनः”¹⁵⁸ अर्थात् जो पदार्थों का मनन करता है या जिसके द्वारा पदार्थों का मनन किया जाता है, वह मन कहलाता है। जैसे अर्थ के भाषण के बिना भाषा की प्रवृत्ति नहीं होती, उसी प्रकार अर्थ के मनन के बिना मन की प्रवृत्ति नहीं होती।

दिगम्बर ग्रन्थ धवला के अनुसार मन स्वतः नोकर्म है। पुद्गल विपाकी अंगोपांग नाम कर्म के उदय की अपेक्षा रखने वाला द्रव्य मन है तथा वीर्यान्तराय और नो-इन्द्रिय कर्म क्षयोपशम से जो विशुद्धि उत्पन्न होती है, वह भाव मन है। अपर्याप्त अवस्था में द्रव्य मन के योग्य द्रव्य की उत्पत्ति से पूर्व उसका सत्त्व मानने से विरोध आता है, इसलिए अपर्याप्त अवस्था में भाव मन के अस्तित्व का निरूपण नहीं किया गया है।¹⁵⁹

151. न्यायसूत्र, 1.1.16

152. न्यायसूत्र, वात्स्यायनभाष्य 1.1.16

153. सुखाद्युपलब्धिसाधनमिन्द्रियं मनः। - तर्कसंग्रह

154. संशयप्रतिभास्वप्नज्ञानेहासुखादिक्षमेच्छादयश्च मनसो लिंगानि। - सन्मतिप्रकरण टीका, काण्ड 2

155. मणं व मनए वाऽणेण मणो तेण दव्वओ तं च। तज्जोग्गपुगलमयं भावमणो भण्णए मंता। - विशेषा०भाष्य, गाथा 3525

156. सम्यक् जानातीति संज्ञं मनः। - षट्खण्डागम (धवलाटीका) पुस्तक 1, सूत्र 1.1. 4, पृ. 152

157. नानाविकल्पजालरूपं मनो भण्यते। - बृहत् द्रव्यसंग्रह, प्रथम अधिकार, गाथा 12 की टीका, पृ. 24

158. श्री यशोविजयगणि, जैनतर्कभाषा, पृ. 11

159. धवलाटीका, भाग 1, सूत्र 1.1.35, पृ. 259-260

“मणिज्जमाणे मणे” मनन करते समय ही मन होता है अर्थात् मनन से पहले और मनन के बाद मन नहीं होता है। जैसेकि बोलने से पहले और बोलने के बाद भाषा नहीं होती है, लेकिन जब तक बोलते हैं तभी भाषा होती है। वैसे ही मन के लिए भी समझना चाहिए। जिससे विचार किया जा सके वह आत्मिक शक्ति मन है और इस शक्ति से विचार करने में सहायक होने वाले एक प्रकार के सूक्ष्म परमाणु भी मन कहलाते हैं। पहले को भाव मन और दूसरे को द्रव्य मन कहते हैं।¹⁶⁰

मन के प्रकार

जैन दर्शन के अनुसार मन चेतन द्रव्य और अचेतन द्रव्य के गुण के अनुसार उत्पन्न होता है। अतः जैनदर्शनानुसार मन दो प्रकार का होता है – 1. चेतन (भाव मन) और 2. पौद्गलिक (द्रव्य मन)। भाव मन जीवमय है और अरूपी है तथा द्रव्य मन पुद्गलमय है और रूपी है।

द्रव्यमन और भावमन ऐसे भेद आगमों में नहीं मिलते हैं। भगवतीसूत्र के 12वें शतक के पांचवें उद्देशक में रूपी-अरूपी के वर्णन में कृष्णादि छह लेश्याओं के द्रव्य और भाव से भेद किये गए हैं। द्रव्य लेश्या अष्टस्पर्शी रूपी और भाव लेश्या अरूपी है। वहाँ पर मन, वचनादि योगों का भी वर्णन है। यदि के लेश्या की तरह मनोयोग द्रव्य और भाव भेद होते तो इसका भी उल्लेख होता। किन्तु वहाँ (भगवतीसूत्र, शतक 12, उद्देशक 5) पर मन के द्रव्य और भाव रूप से भेद नहीं किये गये हैं। वहाँ मन को चतुःस्पर्शी रूपी ही बताया है। भगवती सूत्र शतक 13 उद्देशक 7 “आया भंते! मणे, अन्ने मणे? गोयमा! नो आया मणे, अन्ने मणे” इत्यादि पाठ में मन को आत्मा से भिन्न ही स्वीकार किया है। यहां भी भाव मन की अपेक्षा से मन को आत्मा रूप स्वीकार नहीं किया गया है। इस आगम पाठ से भी मन के द्रव्य और भाव भेद नहीं होते हैं, ऐसा ही स्पष्ट होता है।

यद्यपि निक्षेप पद्धति से मन के भी नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव ये चार निक्षेप होते हैं। किन्तु यहाँ पर मन का जो भाव निक्षेप किया है, वह काय योग से गृहीत मनोवर्गणा के पुद्गलों को मनोयोग के रूप से प्रवर्ताना भाव मन कहा गया है। मनोयोग में परिणत करने के पहले और बाद में जो छोड़े हुए पुद्गल हैं, वे भाव मन के कारण एवं कार्य होने से द्रव्य मन कहलाते हैं। तथापि एकेन्द्रियों में जो भाव मन कहा जाता है, वह इस भाव निक्षेप से गृहीत नहीं होता है। इसलिए निक्षेप पद्धति से मन के द्रव्य, भाव भेद आगमिक होते हुए भी एकेन्द्रियों में माने जाने वाले द्रव्य और भाव भेद आगमों में नहीं मिलते हैं।

आगम में मन को पौद्गलिक ही माना है। भावमन मानने वाले भाव मन को अपौद्गलिक मानते हैं। नन्दीचूर्णि में निक्षेप पद्धति से मन के द्रव्य और भाव भेद किये हैं। मनः पर्याप्ति नाम कर्म के उदय से जब मनोद्रव्य को ग्रहण करके मन रूप में परिणत किया जाता है, तो वह द्रव्य मन कहलाता है।¹⁶¹ फिर क्रियावन जीव के मन का परिणाम भाव मन होता है। इसका यह अर्थ है कि मनोद्रव्य के आलम्बन से जीव के मन का व्यापार ‘भाव मन’ कहलाता है।¹⁶²

विशेषावश्यकभाष्य में बताया है कि द्रव्यमन मनोवर्गणा के पुद्गलों से बना हुआ है। यह मन का भौतिक पक्ष है। साधारण रूप से इसमें शरीरस्थ सभी ज्ञानात्मक एवं संवेदनात्मक अंग आ जाते हैं।

मनोवर्गणा के परमाणुओं से निर्मित उस भौतिक रचना तन्त्र में प्रवाहित होने वाली चैतन्यधारा

160. पं. सुखलाल संघवी, तत्त्वार्थसूत्र (हिन्दी विवेचन), पृ. 54

161. मणपज्जतिनामकम्मोदयतो जोग्गे मणोदव्वे घेतुं मणत्तेणं परिणामिया दव्वा दव्वमणो भण्णइ इति।

– द्रव्य लोक प्रकाश, सर्ग 3, पृ. 163

162. जीवों पुण मणपरिणाम किरियावंतो भावमणो, किं भणियं होइ मणदव्वालंबणो जीवस्स मणणवावारो भावमणो भण्णइ।

– द्रव्य लोक प्रकाश, सर्ग 3, पृ. 163

भावमन है। दूसरे शब्दों में आत्मा से मिली हुई चिन्तन-मनन रूप चैतन्य शक्ति ही भाव मन है।

जीव में ज्ञानावरणीय कर्म के तथाविध क्षयोपशम से जो मनन करने की लब्धि होती है तथा मनन रूप उपयोग चलता है, ये दोनों 'भावमन' कहलाते हैं तथा उस मनन क्रिया में जो सहायक है तथा जिसका निर्माण मनःपर्याप्ति के द्वारा मनोवर्गणा के पुद्गल ग्रहण कर के हुआ है, वह 'द्रव्य मन' है। यह मन आत्मा से भिन्न है और अजीव है, किन्तु वह जीव के ही होता है, अजीव के नहीं। यह बात भगवती सूत्र के शतक 13 उद्देशक 7 से स्पष्ट है।¹⁶³ तेरहवें गुणस्थान में मन, वचन आदि योगों का निरोध कर केवली चौदहवें गुणस्थान में जाते हैं। अतः वे 'अयोगी' कहे जाते हैं। अयोगी होकर ही आत्मा मोक्ष जाती है, अतः मोक्ष में सिद्ध भगवान् के मन नहीं होता है।

मलयगिरि के अनुसार - मनःपर्याप्तिनामकर्म के उदय से मन के प्रायोग्य वर्गणाओं को ग्रहण कर जो मनरूप में परिणत होने वाला द्रव्य है, वह द्रव्यमन है। द्रव्यमन के सहारे जीव का जो मन परिणाम है, वह भाव मन है।¹⁶⁴

द्रव्यमन के बिना भावमन नहीं होता। किन्तु भाव मन के बिना द्रव्यमन हो सकता है। जैसे भवस्थ केवली के द्रव्यमन होता है, भावमन नहीं।¹⁶⁵

द्रव्य मन की अपेक्षा भाव मन की अधिक शक्ति और सत्ता है। भाव मन की सजगता का ही सुपरिणाम है कि जीव भोगी से रोगी और योगी भी बनता है। संयोगी, वियोगी, निर्योगी ये सब भाव मन की देन हैं। भाव मन से ही नर नारायण, आत्मा परमात्मा बनता है। इसलिए भाव मन में जिस प्रकार मनन होता है - विचारधाराएं चलती हैं, उसी के अनुसार द्रव्य मन भी परिवर्तित होता रहता है। यदि भाव मन प्रशस्त होता है, तो द्रव्य मन भी प्रशस्त वर्ण आदि वाला होता है। यदि भाव मन अप्रशस्त होता है, तो द्रव्य मन भी अप्रशस्त वर्ण आदि वाला होता है। क्योंकि मनुष्य के चारों ओर एक आभामण्डल होता है। आभामण्डल के अस्तित्व को विज्ञान भी स्वीकार करता है। आभामंडल व्यक्ति की चेतना के साथ-साथ रहने वाला पुद्गलों और परमाणुओं का संस्थान है। चेतना व्यक्ति के तैजस शरीर को सक्रिय बनाती है। जब तैजस शरीर सक्रिय होता है तब वह किरणों का विकिरण करता है। यह विकिरण ही व्यक्ति के शरीर पर वर्तुलाकार घेरा बना लेता है। यह घेरा ही आभामंडल है। आभामंडल व्यक्ति के भाव मंडल (चेतना) के अनुरूप ही होता है। भावमंडल जितना शुद्ध होता है, आभामंडल भी उतना ही शुद्ध होगा। भाव मंडल मलिन होगा तो आभामंडल भी मलिन होगा। अतः इससे सिद्ध होता है कि भाव मन से ही द्रव्य मन परिवर्तित होता है।

दूसरी अपेक्षा से पौद्गलिक मन भावात्मक मन का आधार होता है। जैसे वस्तु की संख्या एवं गुणवत्ता के आधार पर बाजार-भाव होता होता है, वैसे ही द्रव्य मन के आधार पर भाव मन भी विचारों की न्यूनाधिकता, उत्थान-पतन, संकोच-विस्तार से युक्त होता है अर्थात् द्रव्य मन के बिना भावात्मक मन अपना कार्य नहीं कर सकता। उसमें अकेले में ज्ञान शक्ति नहीं होती है, क्योंकि भाव मन विचारात्मक होता है। मन मात्र ही जीव नहीं है, परन्तु मन जीव भी है, जीव से सर्वथा भिन्न नहीं है, अर्थात् इसे आत्मिक मन कहते हैं। लब्धि और उपयोग उसके दो भेद हैं। प्रथम मानस ज्ञान का

163. आया भंते! मणे, अन्ने मणे? गोयमा! नो आया मणे, अन्ने मणे। जहा भासा तहा मणे वि जाव नो अजीवाणं मणे।

- युवाचार्य मधुकरमुनि, भगवती सूत्र भाग 3, श. 13. उ. 7, सूत्र 10-11, पृ. 329

164. मनःपर्याप्तिनामकर्मोदयो यत् मनःप्रायोग्यवर्गणादलिकमादाय मनस्त्वेन परिणमितं तद्द्रव्यरूपं मनः। द्रव्यमनोऽवष्टम्भेन जीवस्य यो मननपरिणामः स भावमनः। - मलयगिरि, नंदीवृत्ति, पृ. 174

165. द्रव्यमनोऽन्तेरण भावमनसोऽसम्भवात्, भावमनो विनापि च द्रव्यमनो भवति, यथा भवस्थकेवलिनः। - मलयगिरि, नंदीवृत्ति, पृ. 174

विकास है और दूसरा उसका व्यापार है। दोनों के योग से मानसिक क्रियाएं होती हैं। प्रश्न होता है कि यदि कोई विशेष कार्य भाव मन से होता है तो द्रव्य मन की क्या आवश्यकता है? इसके उत्तर में कहना होगा कि जिस प्रकार एक वृद्ध व्यक्ति के पैरों में चलने की शक्ति होते हुए भी वह बिना लकड़ी के सहारे के चल नहीं पाता है, वैसे ही भावमन होते हुए भी द्रव्य मन के बिना स्पष्ट विचार नहीं किया जा सकता है। इसलिए भाव मन जितना ही द्रव्य मन का भी महत्त्व है।

मनःपर्यायज्ञान मात्र रूपी द्रव्य को ही जानने वाला है, अतः मनःपर्यायज्ञानी मनःपर्यायज्ञान के द्वारा मात्र द्रव्य मन को जानते हैं, किन्तु अरूपी भाव मन को नहीं जान सकते।

मनःपर्यायज्ञानी, द्रव्य मन के वर्णादि पर्यायों को जानकर अनुमान से यह निश्चय करते हैं कि 'अमुक संज्ञी जीव के अमुक विचार होने ही चाहिए, क्योंकि द्रव्य मन की ऐसी वर्णादि पर्यायें तभी हो सकती हैं, जबकि अमुक प्रकार का भाव मन हो, अन्यथा नहीं हो सकती। जैसे मन को जानने वाले मानस-शास्त्री, मन को साक्षात् नहीं देखते। वे मन के अनुरूप मुख पर आने वाली भाव भंगिमाओं को साक्षात् देखकर अनुमान से यह निश्चय करते हैं कि - 'इसके अमुक विचार होने चाहिए', क्योंकि मुख पर ऐसी भाव भंगिमाएं तभी उत्पन्न हो सकती हैं जबकि इसके मन में अमुक प्रकार का भाव हो।¹⁶⁶ उसी प्रकार द्रव्यमन की भंगिमाओं से भावमन को जाना जाता है।

मन के अन्य प्रकार

स्थानांग सूत्र में भी मन के तीन प्रकार एवं मन की अवस्थाओं का निरूपण हुआ है। मन के तीन प्रकार बताये हैं - 1. तन्मन, 2. तदन्यमन, और 3. नो-अमन तथा मन की तीन अवस्थाएं - 1. सुमनस्कता, 2. दुर्मनस्कता और 3. नो-मनस्कता और नो-दुर्मनस्कता।¹⁶⁷ आचार्य हेमचन्द्र ने योगशास्त्र में मन के चार भेद किये हैं - 1. विक्षिप्त मन 2. यातायात मन 3. श्लिष्ट मन 4. सुलीन मन।¹⁶⁸ इसी प्रकार मन का सम्बन्ध उपयोग (चेतना) और वेदना से है। इस दृष्टि से मन के तीन भेद हैं - 1. अशुभ मन, 2. शुभ मन और 3. शुद्ध मन। नियमन की दृष्टि से मन के दो भेद हैं - 1. नियन्त्रित मन और 2. अनियन्त्रित मन। भावना के उत्थान-पतन की दृष्टि से मन के दो भेद हैं - 1. आशावादी मन और 2. निराशावादी मन।

मन का स्थान

हम विचारों से मन को जिस रूप में परिवर्तित करना चाहें, परिवर्तित कर सकते हैं। क्योंकि उसके असंख्यात पर्याय होते हैं। हमारे विचारों के अनुसार मन का आकार होता है।

मन कहां पर स्थित है - इस सम्बन्ध में विविध मान्यताएं प्राप्त होती हैं -

वैशेषिक,¹⁶⁹ नैयायिक,¹⁷⁰ और मीमांसक मन को परमाणु रूप में स्वीकार करते हैं। इसलिए मन को नित्य स्वीकार किया गया है। सांख्यदर्शन, योगदर्शन और वेदान्तदर्शन मन को अणुरूप में स्वीकार करते हैं और उसकी उत्पत्ति प्राकृतिक अहंकार तत्त्व से या अविद्या से मानते हैं।¹⁷¹ बौद्ध जैन दृष्टि से मन न तो व्यापक है और न परमाणु रूप ही है, किन्तु मध्यम परिमाणवाला है।

166. पारसमुनि, नंदीसूत्र, पृ. 74

167. तिविहे मणे पण्णत्ते, तं जहा - तम्मणे, तयण्णमणे, णोअमणे॥ 357॥ तओ पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा - सुमणे, दुम्मणे, णोसुमणे-णोदुम्मणे॥ 188॥ - युवाचार्य मधुकरमुनि, स्थानांगसूत्र, स्थान 3 सूत्र 357, 188

168. इह विक्षिप्तं यातायातं श्लिष्टं तथा सुलीनं च। चेतश्चतुःप्रकारं तज्ज्ञचमत्कारकारि भवेत्॥ 12॥

- आचार्य हेमचन्द्र, योगशास्त्र, भाग 3, प्रकाश 12, गाथा 2, पृ. 1185

169. वैशेषिकसूत्र 7.1.123

170. न्यायसूत्र 3.2.61

171. यस्मात् कर्मेन्द्रियाणि बुद्धीन्द्रियाणि च सात्त्विकादहंकारादुत्पद्यन्ते मनोऽपि तस्मादेव उत्पद्यते। - माठर कारिका 27

वैशेषिक दर्शन ने जो मन को अणु रूप माना है उसका खण्डन करते हुए अकलंक कहते हैं कि मन को अणु रूप मानने पर चक्षु के जिस अंश से मन का संयोग हो उसी से रूप ज्ञान दृष्टिगोचर होना चाहिए, लेकिन सम्पूर्ण चक्षु से रूप का ज्ञान होता है। इसलिए मन अणु रूप नहीं हो सकता है।¹⁷²

बौद्ध मन को हृदयप्रदेशवर्ती मानते हैं। यह दिगम्बर परम्परा के निकट है। सांख्य परम्परा श्वेताम्बर परम्परा के निकट है, क्योंकि सांख्य परम्परा के अनुसार मन का स्थान केवल हृदय नहीं है, क्योंकि मन सूक्ष्म-लिंग शरीर में जो अष्टादश तत्त्वों का विशिष्ट निकायरूप है, प्रविष्ट है और सूक्ष्म शरीर का स्थान सम्पूर्ण स्थूल शरीर है, इसलिए मन सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त है।¹⁷³

जैनदर्शन के अनुसार भाव मन का स्थान आत्मा है, किन्तु द्रव्य मन के सम्बन्ध में एक ही मत नहीं है। दिगम्बर परम्परा द्रव्य मन को हृदय में मानती है,¹⁷⁴ किन्तु श्वेताम्बर परम्परा में ऐसा कोई वर्णन नहीं मिलता है। श्वेताम्बर परम्परा के पक्ष में पं. सुखलालजी का मत है कि द्रव्य मन का स्थान सम्पूर्ण शरीर है।¹⁷⁵ तत्त्वार्थसूत्र के हिन्दी विवेचन में उन्होंने ऐसा ही उल्लेख किया है, यथा -

“प्रश्न - क्या मन भी नेत्र आदि की तरह शरीर के किसी विशिष्ट स्थान में रहता है या सर्वत्र रहता है? उत्तर - वह शरीर के भीतर सर्वत्र रहता है, किसी विशिष्ट स्थान में नहीं, क्योंकि शरीर के भिन्न-भिन्न स्थानों में स्थित इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण किये गये सभी विषयों में मन की गति है, जो उसे देहव्यापी माने बिना सम्भव नहीं। इसीलिए कहा जाता है कि **यत्र पवनस्तत्र मनः**”¹⁷⁶ योगशास्त्र में आचार्य हेमचन्द्र भी मन का स्थान सम्पूर्ण शरीर मानते हैं, उनके अनुसार जहाँ जहाँ प्राणवायु (मरुत्) है वहाँ-वहाँ मन है। दोनों परस्पर कारण-कार्य हैं।¹⁷⁷ भाव मन का स्थान आत्मा ही है, क्योंकि आत्मप्रदेश सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त हैं। अतः भाव मन सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त है।¹⁷⁸

दिगम्बर आचार्य पूज्यपाद ने मन को अनवस्थित कहा है क्योंकि मन आत्मा का लिंग होते हुए भी प्रतिनियत देश में स्थित पदार्थ को विषय नहीं करता और कालान्तर में भी स्थित नहीं रहता है।¹⁷⁹ इस मत का समर्थन अकलंक ने भी किया है। अकलंक के अनुसार जहाँ-जहाँ उपयोग होता है वहाँ वहाँ अंगुल के असंख्यात भाग प्रमाण आत्म प्रदेश मन रूप से परिणत हो जाते हैं। भाव मन रूप में परिणत आत्मा जब गुण-दोष विचार, चिन्तन, स्मरणादि कार्यों को करने के लिए प्रवृत्त होता है तो वह इन कार्यों को द्रव्य मन के सहयोग से पूर्ण करता है। इन कार्यों के उपस्थित होने पर ही द्रव्य मन का निर्माण होता है और कार्य पूर्ण होने पर द्रव्य मन नष्ट हो जाता है। चिन्तनादि कार्य करते समय पुद्गल परमाणुओं से निर्मित अनेक मनोवर्गणाएं मन रूप से परिणत होती हैं तथा उस कार्य को सम्पन्न होने पर वे वर्गणाएं मन रूप अवस्था का त्याग कर देती हैं।¹⁸⁰

172. अकलंक, तत्त्वार्थराजवार्तिक, सनातन जैन ग्रंथमाला, 5.19.24 पृ. 219-220

173. पं. सुखलाल संघवी, दर्शन और चिन्तन, भाग 1, पृ. 140

174. गोम्मतसार, जीवकांड भाग 2 (तृतीय संस्करण), नई दिल्ली, भारतीय ज्ञानपीठ, सन् 2000, गाथा 443

175. दर्शन और चिन्तन, भाग 1, पृ. 140

176. तत्त्वार्थसूत्र (हिन्दी विवेचन), पृ. 60

177. मनो यत्र मरुत्तत्र, मरुद्यत्र मनस्ततः।

अतस्तुल्यक्रियावेतौ, संवीतौ क्षीर-नीरवत्॥ - योगशास्त्र, प्रकाश 5, गाथा 2 पृ. 971

178. दर्शन और चिन्तन, भाग 1, पृ. 140

179. न तथा मनः इन्द्रस्य लिंगमपिसत्प्रतिनियत विषयं कालान्तरावस्थायि च। - सर्वार्थसिद्धि, अ. 1, सू. 14, पृ. 78

180. तत्त्वार्थराजवार्तिक, 5.19.6. पृ. 217

विषय-ग्रहण की दृष्टि से इन्द्रियाँ एकदेशी हैं, अतः वे नियत देशाश्रयी कहलाती हैं। किन्तु ज्ञान-शक्ति की दृष्टि से इन्द्रियाँ सर्वात्मव्यापी हैं। इन्द्रिय और मन क्षायोपशमिक-आवरण जन्य विकास के कारण से है। आवरण विलय सर्वात्म-देशों का होता है।¹⁸¹ मन विषय-ग्रहण की दृष्टि से भी शरीर-व्यापी है।

जैन दर्शन में सुख-दुःखादि के प्रत्यक्ष के लिए मन को एकांत रूप से कारण स्वीकार नहीं किया गया है। अकलंक के अनुसार “वस्तुतः गरम लोहपिण्ड की तरह आत्मा का ही इन्द्रिय रूप से परिणमन हुआ है, अतः चेतन रूप होने से इन्द्रियाँ स्वयं सुख-दुःख का वेदन करती हैं। यदि मन के बिना भावेन्द्रियों से सुख-दुःखानुभव न हो तो एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय तथा असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों को सुख-दुःख का अनुभव नहीं होना चाहिए। गुणदोष विचारादि मन के स्वतंत्र कार्य हैं। मनोलब्धि वाले आत्मा को जो पुद्गल मन रूप से परिणत हुए हैं वे अन्धकार तिमिरादि बाह्येन्द्रियों के उपघातक कारणों के रहते हुए भी गुण दोष विचार और स्मरण आदि व्यापार में सहायक होते ही हैं, इसलिए मन का स्वतंत्र अस्तित्व है।”¹⁸²

मन का अधिकारी कौन?

व्यक्त चेतनत्व की अपेक्षा से संज्ञी पंचेन्द्रिय प्राणी ही मन के अधिकारी होते हैं, पर संज्ञीश्रुत की अपेक्षा से दूसरे प्राणी भी मन के अधिकारी हैं। संज्ञी श्रुत के वर्णन में तीन प्रकार की संज्ञाएं बताई हैं,¹⁸³ जो निम्न प्रकार से हैं -

1. दीर्घकालिकी संज्ञा - जिससे जीवों में ईहा, अपोह, मार्गणा, गवेषणा, चिन्ता और विमर्श करने की योग्यता हो वह दीर्घकालिकी संज्ञा कहलाती है अथवा जिस संज्ञा में भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों कालों का ज्ञान हो अर्थात् मैं यह कार्य कर चुका हूँ, यह कार्य कर रहा हूँ और यह कार्य करूंगा, इस प्रकार का चिन्तन दीर्घकालिकी संज्ञा है। जिन जीवों में यह संज्ञा होती है वह संज्ञी और जिन जीवों में यह योग्यता नहीं उन्हें असंज्ञी कहते हैं। यह संज्ञा देव, नारकी, गर्भज तिर्यचों, गर्भज मनुष्यों में होती है।

2. हेतुवादोपदेशिकी संज्ञा - जिसमें प्रायः वर्तमान कालिक ज्ञान हो उसे हेतुवादोपदेशिकी संज्ञा कहते हैं अर्थात् अपने शरीर की रक्षा के लिए इष्ट वस्तुओं को ग्रहण करने तथा अनिष्ट वस्तुओं का त्याग करने रूप जो उपयोगी वर्तमानकालिक ज्ञान होता है, उसे हेतुवादोपदेशिकी संज्ञा कहते हैं। जिन जीवों में यह संज्ञा होती है वह संज्ञी और जिन जीवों में यह योग्यता नहीं उन्हें असंज्ञी कहते हैं। यह संज्ञा द्वीन्द्रिय आदि असंज्ञी जीवों में होती है।

3. दृष्टिवादोपदेशिकी संज्ञा - जीव-अजीव, पुण्य-पाप, आस्रव-संवर-निर्जरा, बंध, मोक्ष, इन नव तत्त्वों का सम्यग् यथार्थज्ञान और रुचि रूप जो सम्यग्दर्शन है, वह दृष्टिवाद की अपेक्षा (सम्यक्त्व की अपेक्षा) संज्ञा है। जिन जीवों में यह संज्ञा होती है वह संज्ञी और जिन जीवों में यह योग्यता नहीं उन्हें असंज्ञी कहते हैं। यह संज्ञा सम्यग्दृष्टि जीवों में पाई जाती है अथवा एक अपेक्षा से यह संज्ञा मात्र चौदह पूर्वी साधकों को होती है।

181. सव्वेणं सव्वे निज्जिण्णा। - युवाचार्य मधुकरमुनि, भगवती सूत्र भाग 1, श.1, उ. 3, पृ. 65

182. तत्त्वार्थराजवार्तिक, 5.19.30, पृ. 220

183 (अ) आचार्य महाप्रज्ञ, नंदी, सूत्र 62,63,64,

(ब) विशेषावश्यकभाष्य गाथा 504 से 509 और

(स) पं. सुखलाल संघवी, कर्मग्रन्थ भाग 1, गाथा 6 का विवेचन, पृ. 16-17

उक्त व्याख्याओं से संज्ञी जीव तीन प्रकार के हो गए हैं, किन्तु यहां पर मन का जो अधिकारी है, वह दीर्घकालिकी संज्ञा की अपेक्षा से बताया गया है। यह बात विशेषावश्यकभाष्य से भी सिद्ध होती है। जिसके द्वारा अतीत की स्मृति और भविष्य की चिन्ता (कल्पना) की जाती है, वह कालिकी अथवा दीर्घकालिकी संज्ञा है। यही मन है। मनोलब्धि सम्पन्न जीव मनोवर्गणा के अनन्त स्कन्धों को ग्रहण कर मनन करता है, वह दीर्घकालिकी संज्ञा है। यह संज्ञा मनोज्ञानावरण कर्म के क्षयोपश से निष्पन्न होती है।¹⁸⁴

अतः उपर्युक्त वर्णन के आधार पर कह सकते हैं कि जिस जीव में दीर्घकालिकी संज्ञा का विकास होता है, वह संज्ञी (समनस्क) और जिसमें इसका विकास नहीं होता, वह असंज्ञी (अमनस्क) है।¹⁸⁵

एकेन्द्रियादि में मन

आगम में एकेन्द्रियादि असंज्ञी प्राणियों में मन नहीं मानकर आहारादि संज्ञा मानी है। द्रव्य लोक प्रकाश में इसके लिए प्रश्न किया गया कि आहारादि संज्ञा होने से एकेन्द्रियादि जीवों को संज्ञी क्यों नहीं कहा? उत्तर - जिस प्रकार पैसा रुपया धन होते हुए भी पैसे वाले को धनवान् एवं साधारण रूप वाले को रूपवान् नहीं कहा जाता है। किन्तु बहुत पैसों वाले को धनवान् एवं सुन्दर रूप वाले को रूपवान् कहा जाता है। उसी प्रकार एकेन्द्रियादि प्राणियों में स्पर्श आदि इन्द्रियों के क्षयोपशम रूप मति अज्ञान के क्षयोपशम रूप आहारादि संज्ञाओं के होते हुए भी मनःपर्याप्ति से परिणामतः मनोयोग से व्यापृत मनन योग्य द्रव्यों के सहयोग से उत्पन्न विशेष क्षयोपशम रूप संज्ञा के अभाव में एकेन्द्रियादि को संज्ञी नहीं कहा जाता है। नन्दीचूर्णि में निक्षेप पद्धति से मन के द्रव्य और भाव भेद किये हैं। वहाँ पर भी एकेन्द्रियों में भाव मन स्वीकार नहीं किया है।¹⁸⁶

तत्त्वार्थसूत्र अध्ययन 2 सू. 25 के भाष्य में एकेन्द्रियादि में सूक्ष्म मन माना है, वास्तव में वे आहारादि संज्ञाएं ही हैं, जिन्हें ग्रंथकारों ने सूक्ष्म मन कह दिया है। तत्त्वार्थसूत्र के दूसरे अध्ययन के 11वें सूत्र के अर्थ में एकेन्द्रिय आदि असंज्ञी प्राणियों के भाव मन होना स्वीकार किया है, तथा वहाँ पर बताया गया है कि जिस प्रकार बूढ़ा व्यक्ति पांव एवं चलने की शक्ति से युक्त होते हुए भी बिना लकड़ी से चल नहीं सकता है, इसी तरह एकेन्द्रियों के भाव मन होते हुए भी द्रव्य मन के बिना स्पष्ट विचार नहीं किया जा सकता। इस प्रकार तत्त्वार्थ विवेचन में एकेन्द्रियों में भावमन स्वीकार करके भी द्रव्य मन के बिना उसकी प्रवृत्ति नहीं मानी है। वास्तव में यह कथन भी दिगम्बर साहित्य की अपेक्षा से ही होना चाहिए। क्योंकि श्वेताम्बर साहित्य में द्रव्य मन के अभाव में भाव मन को स्वीकार नहीं किया गया। नन्दीचूर्णि में “मणदव्वालंबणो जीवस्स मणणवावारो भावमणो भण्णइ” के द्वारा द्रव्यमन के आलम्बन के बिना भाव मन स्वीकार नहीं किया है।

द्रव्य लोक प्रकाश में नन्दीचूर्णि एवं प्रज्ञापनावृत्ति के उद्धरण देकर यह स्पष्ट किया है कि - बिना द्रव्य मन के भाव मन होता ही नहीं है। वैसे ही नन्दीचूर्णि के कथनानुसार द्रव्य मन के बिना भाव मन असंज्ञी के समान नहीं होता है। जिनेश्वर भगवान् की तरह भाव मन के बिना द्रव्य मन

184. इह दीर्घकालिगी कालिगिति सण्णा जया सुदीहंपि। संभरइ भूयमिस्सं चिंतेइ य किह णु कायव्वं॥

कालियसण्णिति तओ जस्स तई सो य जो मणोजोगे। खंधेऽणंते घेतुं मन्नइ तल्लद्धिसंणणो॥

-विशेषावश्यकभाष्य गाथा 508-509

185. श्री भिक्षु आगम शब्द कोश, भाग 1, पृ. 509

186. द्रव्य लोक प्रकाश, सर्ग 3, पृ. 163

होता है।¹⁸⁷ प्रज्ञापनावृत्ति के अनुसार भावमन के बिना द्रव्य मन होता है, जिस प्रकार भवस्थ केवली के होता है।¹⁸⁸ अतः असंज्ञी प्राणियों के द्रव्यमन नहीं होने से भाव मन भी नहीं होता है। किन्तु भाव मन के अभाव में भी द्रव्य मन होता है। जैसे भवस्थ केवलियों के चिन्तित मनन रूप भाव मन का अभाव होते हुए भी अनुत्तर देवादि को उत्तर देने के लिए प्रवर्तित द्रव्य मन होता है। इस प्रकार ग्रन्थों में भी एकेन्द्रियादि असंज्ञियों के भाव मन स्वीकार नहीं किया है। क्योंकि द्रव्य मन के बिना (मनोवर्गणा के द्रव्यों के आलम्बन के बिना) भाव मन संभव नहीं है। द्रव्य लोक प्रकाश में तो स्पष्ट शब्दों में 'द्रव्यचित्तं विना भावचित्तं न स्याद् संज्ञिवत्' द्रव्य चित्त के बिना भाव चित्त (मन) का निषेध किया है। उदाहरण भी संज्ञी प्राणियों का दिया है। अर्थात् असंज्ञी प्राणियों में द्रव्य चित्त के अभाव में भाव चित्त नहीं माना है। इस प्रकार श्वेताम्बर साहित्य में तो एकेन्द्रियादि असंज्ञी प्राणियों में भाव मन स्वीकार नहीं किया गया है।

अर्थोपलब्धि में मन का महत्त्व

जिस प्रकार चक्षुष्मान् व्यक्ति को दीपक के प्रकाश में स्फुट अर्थ की उपलब्धि होती है, वैसे ही मनोज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से युक्त जीव को चिन्तानुप्रवर्तक मनोद्रव्य के प्रकाश में अर्थ की उपलब्धि स्पष्ट होती है। शब्द आदि अर्थ में छह प्रकार (पांच इन्द्रिय और एक मन) का उपयोग होता है। अविशुद्ध चक्षुष्मान् को मंद, मंदतर प्रकाश में रूप की उपलब्धि अस्पष्ट होती है, वैसे ही असंज्ञी संमूर्च्छित पंचेन्द्रिय को अर्थ की उपलब्धि अस्पष्ट होती है, क्योंकि क्षयोपशम की मंदता के कारण उसमें मनोद्रव्य को ग्रहण करने की शक्ति भी बहुत अल्प होती है। मूर्च्छित व्यक्ति का शब्द आदि अर्थों का ज्ञान अव्यक्त होता है, वैसे ही प्रकृष्ट ज्ञानावरण के उदय के कारण एकेन्द्रिय जीवों का ज्ञान अव्यक्त होता है। इनकी अपेक्षा द्वीन्द्रिय आदि जीवों का ज्ञान शुद्धतर, शुद्धतम होता है। मानसिक प्रकाश के अभाव में अर्थ की उपलब्धि मंद, मंदतर होती चली जाती है। इसको विशेषावश्यकभाष्य में उदाहरण से समझाते हैं कि चक्रवर्ती के चक्ररत्न में जो छेदन करने की शक्ति होती है, वह सामान्य तलवार आदि में नहीं होती है। दोनों में छेदक का गुण होते हुए भी शक्ति में हीनता है, उसी प्रकार सामान्य रूप से जीवों में चैतन्यगुण समान होने पर भी समनस्क जीवों में अवग्रह आदि सम्बन्धी वस्तुबोध की जो पटुता होती है, वैसी पटुता एकेन्द्रिय आदि अमनस्क जीवों में नहीं होती है।¹⁸⁹

मन का उपयोग

मन एक साथ अनेक अर्थों को ग्रहण कर सकता है, किन्तु एक साथ दो क्रियाएं या दो उपयोग नहीं हो सकते। क्योंकि उपयोग युगपत् नहीं होते। सामान्य की अपेक्षा से एक साथ अनेक अर्थों का ग्रहण होता है, किन्तु विशेष की अपेक्षा एक समय में एक ही अर्थ का ग्रहण होता है।¹⁹⁰

क्या मन और मस्तिष्क एक हैं?

मन और मस्तिष्क में गहरा सम्बन्ध है। इन्द्रियों के द्वारा विषय का ग्रहण होता है, मस्तिष्क उनका संवेदन करता है तथा मन उस पर पर्यालोचन अर्थात् हेयता-उपादेयता के चिन्तन का कार्य

187. अतएव च द्रव्यचित्तं भावचित्तं न स्याद् संज्ञिवत् विनापि भावचित्तं तु, द्रव्यतो, जिनवद्भवेत्।

– द्रव्य लोक प्रकाश सर्ग 3 गाथा 577 पृ. 163

188. तथोक्तं प्रज्ञापनावृत्तौ – भावमनो विनापि च द्रव्यमनो भवति, यथा भवस्थ केवलिनः इति।

– द्रव्य लोक प्रकाश, सर्ग 3, पृ. 163

189. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 510-514

190. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 2442, 2445

करता है। मस्तिष्क मन की प्रवृत्ति का मुख्य साधन अंग है, इसीलिए उसके विकृत हो जाने से मन भी विकृत हो जाता है। फिर भी मन और मस्तिष्क स्वतंत्र हैं।¹⁹¹

मन इन्द्रिय या अनिन्द्रिय?

जैन दर्शन में मन को अनिन्द्रिय या नोइन्द्रिय कहा है, जिसका अर्थ इन्द्रिय का अभाव न होकर ईषत् इन्द्रिय है। श्रोत्रेन्द्रियादि पांच इन्द्रियों की तरह मन भी ज्ञान का साधन है, फिर भी रूपादि विषयों में प्रवृत्त होने के लिए उसको नेत्र आदि का सहारा लेना पड़ता है। यह मन की परतंत्रता है। इन्द्रियाँ नियत देश में स्थित पदार्थ को विषय करती हैं तथा कालान्तर में स्थित रहती हैं, लेकिन मन आत्मा का लिंग होते हुए भी प्रतिनियत देश में स्थित पदार्थ को विषय नहीं करता तथा कालान्तर में स्थित नहीं रहता है, इसलिए इसे अनिन्द्रिय कहते हैं।¹⁹² मन को अनिन्द्रिय कहने का कारण यह भी है कि मन इन्द्रिय की तरह प्रतिनियत अर्थ को नहीं जानता है। धवलाटीका के अनुसार इन्द्र अर्थात् आत्मा के लिंग को इन्द्रिय कहते हैं। जिस प्रकार शेष द्रव्येन्द्रियों का बाह्य इन्द्रियों से ग्रहण होता है, वैसा मन का नहीं होता। अतः मन अनिन्द्रिय है।¹⁹³ अनिन्द्रिय का अर्थ इन्द्रिय सदृश है।

मन को अन्तःकरण भी कहा जाता है। क्योंकि मन ज्ञान का साधन होते हुए भी श्रोत्रेन्द्रियादि की तरह बाह्य साधन नहीं है, वह आन्तरिक साधन है एवं इसका कार्य गुण-दोष विचार स्मरण आदि हैं जिन्हें वह इन्द्रियों की सहायता के बिना सम्पन्न करता है। इसलिए मन को अन्तःकरण भी कहा जाता है। सर्वार्थसिद्धि के अनुसार अनिन्द्रिय, मन और अन्तःकरण ये एकार्थवाची हैं।¹⁹⁴

मन और इन्द्रियों की सापेक्षता

जैन दर्शन के अनुसार इन्द्रिय और मन परोक्ष ज्ञान के साधन हैं। मन सभी इन्द्रियों में एक साथ प्रवृत्ति नहीं कर सकता है अर्थात् उपयोगवान् नहीं हो सकता है। भावमन उपयोगमय है वह जिस समय जिस इन्द्रिय के साथ मनोयोग कर जिस वस्तु का उपयोग करता है वह तब तद् उपयोगमय हो जाता है। इन्द्रियों के व्यापार की सार्थकता इसी में है कि उसके बाद मन भी अपना कार्य करे। इन्द्रियों के अभाव में मन भी पंगु हो जाता है। वह उसी विषय पर चिन्तन कर सकता है, जो कभी न कभी इन्द्रियों से गृहीत हुआ हो। इन्द्रियाँ सिर्फ मूर्त-द्रव्य की वर्तमान पर्याय को ही जानती हैं। मन मूर्त और अमूर्त दोनों के त्रैकालिक अनेक रूपों का जानता है, इसलिए मन को सर्वार्थग्राही कहा गया है।¹⁹⁵

इन्द्रियाँ केवल मूर्तद्रव्य की वर्तमान पर्याय को जानती हैं, मन मूर्त और अमूर्त त्रैकालिक अनेक रूपों को जानता है, क्योंकि मन का विषय प्रतिनियत नहीं है, वह दूर-निकट सर्वत्र प्रवृत्त होता रहता है। केवल पुद्गल ही मन का विषय नहीं है। केवलज्ञान की तरह मूर्त-अमूर्त सब पदार्थ मन के विषय बनते हैं।¹⁹⁶

191. सिद्धसेन दिवाकर, (पं. सुखलाल संघवी) सन्मतितर्क प्रकरण, काण्ड 2

192. इमानीन्द्रियाणि प्रतिनियतदेशविषयाणि कालान्तरावस्थायीनि च। न तथा मनः इन्द्रस्य लिंगमपिसत्प्रतिनियत -विषयं कालान्तरावस्थायि च। - सर्वार्थसिद्धि, 1.14, पृ. 78

193. मनस इन्द्रियव्यपदेशः किन् न कृत इति चेन्न, इन्द्रस्य लिङ्गमिन्द्रियम्। उपभोक्तुरात्मनोऽनिवृत्तकर्मसम्बन्धस्य परमेश्वरशक्तियोगादिन्द्रव्यपदेशमर्हतः स्वयमर्थान् गृहीतुमसमर्थस्योपयोगोपकरणं लिङ्गमिति कथ्यते। न च मनस उपयोगोपकरणमस्ति। - धवलाटीका, भाग 1, सूत्र 1.1.35, पृ. 260

194. अनिन्द्रियं मनः अन्तःकरणमित्यनर्थान्तरम्। - सर्वार्थसिद्धि, 1.14, पृ. 77

195. सर्वार्थग्रहणं मनः। - आचार्य हेमचन्द्र, प्रमाण मीमांसा, अ. 1 सू. 24 पृ. 19

196. ...मणस्स न विसयपमाणं। पोगलमिन्तिनिबन्धाभावाओ केवलस्सेव।। - विशेषावश्यकभाष्य गाथा 350

विशेषावश्यकभाष्य के अनुसार मन की अप्राप्यकारिता

मन का वस्तु के साथ सीधा सम्बन्ध नहीं होता है इसलिए मन अप्राप्यकारी है। यदि मन को प्राप्यकारी माना जाये तो अग्नि का चिन्तन करने पर हमें जलन का अनुभव और चंदन का चिन्तन करने पर शीतलता का अनुभव होना चाहिए, लेकिन ऐसा नहीं होता है। इसलिए मन अप्राप्यकारी है।¹⁹⁷ जिनभद्रगणि ने इस सम्बन्ध में विस्तार से वर्णन करते हुए मन के द्वारा व्यंजनावग्रह होता है, इस मान्यता का भी खण्डन किया है।¹⁹⁸

1. पूर्वपक्ष - जागृत अथवा स्वप्नावस्था में मन ज्ञेय पदार्थ से जुड़ता है, यह जगत्प्रसिद्ध है, अतः इससे मन की प्राप्यकारिता ही सिद्ध होती है। **उत्तरपक्ष** - **जिनभद्रगणि** कहते हैं कि मन भी चक्षु के समान अप्राप्यकारी है, क्योंकि उसमें भी विषयकृत उपघात और अनुग्रह नहीं होता है। यदि मन प्राप्यकारी होता तो जल, अग्नि आदि के चिन्तन से उपघात और अनुग्रह दोनों ही होने चाहिए, लेकिन नहीं होते हैं। इसलिए मन अप्राप्यकारी है। मन दो प्रकार का होता है - द्रव्यमन और भावमन। भावमन जीव के समस्त शरीर में व्याप्त होकर रहता है, उसका देह से बाहर निकलना युक्तियुक्त नहीं है। क्योंकि आत्मा शरीरव्यापी ही है, सर्वव्यापी नहीं। इसलिए आत्मा से अभिन्न भावमन का शरीर से बाहर निकलना संगत नहीं ठहरता है।¹⁹⁹

2. पूर्वपक्ष - भावमन का बहिर्गमन नहीं होने से वह अप्राप्यकारी है तो क्या हुआ, द्रव्यमन तो अपने विषय देश तक जाता है, अतः वह प्राप्यकारी है। **उत्तरपक्ष** - **जिनभद्रगणि** कहते हैं कि द्रव्यमन तो अचेतन रूप होता है, इसलिए वह ज्ञाता नहीं है। वह अन्यत्र देश में चला जाए तो उससे कोई लाभ नहीं है।

3. पूर्वपक्ष - द्रव्यमन ज्ञान का साधन (करण) है और उसी से तो जीव को ज्ञान होता है। जैसेकि दीपक वस्तु को प्रकाशित करने में साधन (करण) है, वैसे ही पदार्थ के ज्ञान में द्रव्यमन साधन होने से प्राप्यकारी है। **उत्तरपक्ष** - **जिनभद्रगणि** कहते हैं कि जीव शरीर में स्थित द्रव्यमन की सहायता से जानता है, पदार्थ ज्ञान में आत्मा के लिए द्रव्यमन करण है, इसे तो हम भी स्वीकार करते हैं। लेकिन करण दो प्रकार के होते हैं - अन्तःकरण (जो शरीर में रहता है) और बाह्यकरण (जो शरीर के बाहर रहता है)। द्रव्यमन अन्तःकरण है और जो अन्तःकरण होता है, उसे शरीरस्थ रखते हुए ही जीव अपने विषय को उसी प्रकार जान लेता है जैसेकि स्पर्शन इन्द्रिय के माध्यम से बाह्य स्थित कमल-नाल आदि के स्पर्श का अनुभव द्रव्यमन कर सकता है। जीव अपने विषय को उसी प्रकार जानता है, जिस प्रकार स्पर्शनेन्द्रिय जानती है। अतः अन्तःकरण के कारण ही द्रव्यमन स्पर्शनेन्द्रिय के समान बाहर नहीं निकलता है।²⁰⁰

4. पूर्वपक्ष - द्रव्यमन और भावमन का बहिर्गमन नहीं होता ऐसा स्वीकार करने पर भी मन में विशिष्ट चिन्ता आदि से दुर्बलता (शरीर का क्षीण होना), हृदय घात आदि रोग होते हैं, इनसे मन का उपघात स्पष्ट है। इसी प्रकार हर्ष आदि के समय में अनुकूल वेदन से मन का अनुग्रह होना भी स्पष्ट है, अतः मन भी अनुग्रह और उपघात से युक्त है, अतः वह भी प्राप्यकारी ही सिद्ध होता है। **उत्तरपक्ष** - **जिनभद्रगणि** कहते हैं कि जीवात्मा द्रव्यमन के रूप में परिणत अनिष्ट पुद्गलों के द्वारा शोकाकुल होकर शारीरिक दुर्बलता को उत्पन्न करके हृदय में रुकी हुई वायुप्रकोप आदि से (स्वयं

197. अभिधानराजेन्द्रकोष, भाग 6, पृ. 76-83

198. विशेषावश्यकभाष्य 213-244

199. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 213-216

200. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 217-218

का) उपघात करता है, उसी तरह शुभ पुद्गल समूह के चिन्तन की प्रवृत्ति से द्रव्यमन हर्षादि उत्पन्न कर औषधि के समान जीवात्मा का अनुग्रह करता है। इसका आशय यह है कि जीवात्मा पर इन उपघात और अनुग्रह को द्रव्यमन ही करता है, किन्तु चिन्तन के विषयभूत पदार्थ अर्थात् ज्ञेय विषय मन का किसी भी प्रकार से अनुग्रह और उपघात नहीं करते हैं। जैसेकि इष्ट और अनिष्ट पुद्गलों से निर्मित आहार आदि अपने स्वभाव के अनुसार जीवों के शरीर की पुष्टि या हानि करता है, वैसे ही द्रव्य मन भी पुद्गलमय होने से जीवों के शरीर की पुष्टि और हानि करे तो इसमें कोई बाधा नहीं है। इस प्रकार ज्ञेय विषय से द्रव्यमन का न तो अनुग्रह होता है और न ही उपघात होता है अर्थात् दोनों ही नहीं होते हैं। पुद्गलों के द्वारा जीव का अनुग्रह या उपघात होना युक्तियुक्त ही है, अर्थात् इष्ट-अनिष्ट, शब्द, रूप आदि में अनुग्रह-उपघात का होना देखा ही जाता है इसलिए हमने इसका निषेध नहीं किया है।²⁰¹

5. पूर्वपक्ष - जागृत अवस्था में भले ही मन अपने ज्ञेय विषय को प्राप्त (स्पृष्ट) नहीं करे, किन्तु सुप्त अवस्था में तो विषय से स्पृष्ट हो सकता है, जैसे कि मेरु शिखर पर मेरा मन गया था, ऐसा अनुभव सोये हुए लोगो को होता ही है। **उत्तरपक्ष** - **जिनभद्रगणि** कहते हैं कि स्वप्न में वस्तुतः जैसा दिखाई देता है, वैसा नहीं होता है, क्योंकि जो दिखाई पड़ता है, उस स्वरूप का अभाव होता है। इस अभाव के कारण वह (स्वप्न देखने वाला) मन से ही नहीं, अपितु अपने शरीर से भी वहाँ गया हुआ स्वप्न में देखता है, और वहाँ जाने से होने वाले उपघात और अनुग्रह का सद्भाव स्वप्न टूटने या निद्रा से जागृत होने पर नहीं होता है।²⁰² साथ ही स्वप्न में हुई भोजनादि क्रियाओं से होने वाली तृप्ति, स्वप्न आदि में मदिरा पान आदि का नशा, स्वप्न में शत्रु द्वारा वध, बन्ध आदि परिणामों का जागने पर सद्भाव नहीं होता है।

6. पूर्वपक्ष - स्वप्न में कामी पुरुष की कामीजनों के साथ हुई रति क्रिया के कारण किसी-किसी व्यक्ति के निद्रा से जागृत होने पर वीर्य आदि का क्षरण प्रत्यक्ष दिखाई देता है, उससे ऐसा अनुमान किया जाता है कि स्वप्न में किसी स्त्री के साथ संगम क्रिया हुई है। अतः आप कैसे कहते हैं कि स्वप्न में की गई क्रियाओं का फल दृष्टिगोचर नहीं होता है। **उत्तरपक्ष** - जिस प्रकार जागते हुए व्यक्ति को तीव्र मोह के कारण स्त्री संसर्ग सन्बन्धी तीव्र अध्यवसाय होने से वीर्य क्षरण हो जाता है उसी प्रकार स्वप्न में भी तीव्र अध्यवसाय के कारण वीर्य का क्षरण हो जाता है और उस संयोग-क्रिया में किये हुए तथा स्वप्न में अनुभूत नख-दन्त के चिह्न दिखाई नहीं देते हैं। अतः स्त्री संसर्ग के बिना भी वीर्यक्षरण होने से, वीर्य क्षरण का हेतु अनेकांतिक है। यदि आपके कहे अनुसार वीर्य-क्षरण होना आदि को स्वीकार करें तो स्वप्न में जिस स्त्री के साथ समागम हुआ है उसी से रति-सुख, गर्भाधान आदि भी होने चाहिए, किन्तु ये सब नहीं होते हैं, अतः स्वप्न में की गई रतिक्रिया विफल रहती है, अर्थात् उसका कोई परिणाम नहीं होता है।²⁰³

7. पूर्वपक्ष - स्त्यानगृद्धि निद्रा के उदय से व्यक्ति का मन स्वप्न में हाथी दांत को उखाड़ने में प्रवृत्त होता है, तब उसकी प्राप्यकारिता और व्यंजनावग्रह का होना सिद्ध ही है। **उत्तरपक्ष** - पूर्व में कही हुई युक्तियों से स्वप्न अवस्था में भी मन का व्यंजनावग्रह नहीं होता है, क्योंकि विषय की

201. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 219-223

202. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 224-225

203. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 226-233

प्राप्ति उससे नहीं होती है, किन्तु स्त्यानगृद्धि निद्रा के उदय में वर्तमान प्राणी मांस-भक्षण व दांत आदि उखाड़ने की क्रियाओं को करते हुए, चूंकि वह गाढ़ निद्रा में परवश होने के कारण सभी क्रियाओं को स्वप्न की तरह मानता है। इसमें व्यंजनावग्रह हो सकता है, हम इसका भी निषेध नहीं करते हैं। लेकिन वह व्यंजनावग्रह मन का नहीं होकर श्रोत्रेन्द्रियादि चार प्राप्यकारी इन्द्रियों का होता है, चक्षु और मन का नहीं।²⁰⁴

8. जिनभद्रगणि विषय के साथ अस्पृष्ट मन को व्यंजनावग्रह रूप नहीं मानते हैं और इसका खंडन करते हुए कहते हैं कि हम श्रोत्रेन्द्रियादि चार इन्द्रियों के शब्दादि ग्राह्य विषयों से सम्बन्धित व्यंजनों के ग्रहण को व्यंजनावग्रह के रूप में मानते हैं। किन्तु मन का व्यंजनावग्रह नहीं होता है, क्योंकि व्यंजनावग्रह तभी संभव है जब ग्राह्य वस्तु का स्पर्श (ग्रहण) होता हो, किन्तु मनोद्रव्यों का जो ग्रहण (स्पर्श) होता है, वह ग्राह्य वस्तु के रूप से नहीं होता है, लेकिन करण के रूप में होता है। चिन्तन द्रव्य रूप मन ग्राह्य (विषय) नहीं है, किन्तु ग्रहण (जिसके द्वारा शब्दादि अर्थ का ग्रहण किया जाता है) रूप है अर्थात् मन अर्थ ज्ञान में प्रमुख कारण होता है अतः मन अर्थग्रहण का साधन है, परन्तु ग्राह्य विषय नहीं है। इसलिए मन का व्यंजनावग्रह नहीं होता है। दूसरा जो आपने शरीर में स्थित मन में स्पृष्ट होने से व्यंजनावग्रह माना है वह भी उचित नहीं है क्योंकि यहाँ पर प्राप्यकारिता और अप्राप्यकारिता का चिन्तन बाह्य पदार्थ की अपेक्षा से ही किया गया है।²⁰⁵

9. पूर्वपक्ष - चक्षु और मन अप्राप्यकारी है तो सभी विषयों का ग्रहण क्यों नहीं करते हैं। जैसे चक्षु अप्राप्यकारी है तो वह तीनों लोकों में रही हुई वस्तुओं को क्यों जान नहीं पाती है? क्योंकि सभी वस्तु नेत्र के लिए तो अप्राप्त ही है? इसलिए यह प्राप्यकारी है। **उत्तरपक्ष** - **जिनभद्रगणि** कहते हैं कि केवलज्ञानादि से ज्ञेय रूप अनन्त गहन पदार्थों के विद्यमान होने पर भी किसी मन्दमति का मन मोहग्रस्त होने पर जानने में सक्षम नहीं होता है, उसी प्रकार अप्राप्यकारी होते हुए भी मन से सभी विषयों का ग्रहण नहीं होता है। **पूर्वपक्ष** - कर्मों के उदय से, या स्वभाव के कारण मन के द्वारा सभी पदार्थों का ग्रहण नहीं होता है। **उत्तरपक्ष** - यही कारण चक्षु इन्द्रिय में भी लागू होता है। इसलिए यह आवश्यक नहीं कि चक्षु के अप्राप्यकारी होने से सभी विषयों का ग्रहण हो। अतः मन के समान चक्षु इन्द्रिय भी कर्म-क्षयोपशम से अथवा स्वयं का जितना या जैसा अनुग्रह (सहयोग) रूप सामर्थ्य है उससे अधिक होने पर विषय का ग्रहण नहीं करती है।²⁰⁶

इस प्रकार चक्षु और मन को छोड़कर शेष चार इन्द्रियों से ही व्यंजनावग्रह होता है, यह सिद्ध होता है।

जिनदासगणि ने मनोद्रव्य का ग्रहण होना मानकर मन का भी व्यंजनवाग्रह स्वीकार किया है।²⁰⁷ हरिभद्र, मलयगिरि और यशोविजय ने जिनभद्रगणि का समर्थन किया है।²⁰⁸ अकलंक ने मन के अप्राप्यकारी के स्थान पर उसका अनिन्द्रियत्व सिद्ध किया है।²⁰⁹ विद्यानंद ने भी इसका विस्तार से वर्णन किया है।²¹⁰

204. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 234-236

205. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 237-240

206. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 245-249

207. 'जग्गतो अणिंदियत्थवावारेऽवि मणसो जुज्जते वंजणावग्गहो' - नंदीचूर्ण पृ. 65

208. हरिभद्रीय पृ. 66, मलयगिरि पृ. 171, जैनतर्कभाषा पृ. 11

209. तत्त्वार्थराजवार्तिक पृ. 1.19.4-7

210. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक 1.19.7 और 15

मन के कार्य

स्मृति, चिन्तन और कल्पना करना मन का कार्य है। यह इन्द्रिय ज्ञान का प्रवर्तक है अर्थात् मन इन्द्रिय के द्वारा ग्रहण की गई वस्तु के सम्बन्ध में भी चिन्तन-मनन करता है और उससे आगे भी वह विचार करता है। नंदीसूत्र में मन के कार्य ईहा, अपोह, मार्गणा, गवेषणा, चिन्ता, विमर्श बताये हैं।²¹¹ जब मन इन्द्रिय द्वारा ज्ञात, रूप, रस आदि का विशेष रूप से निरीक्षण आदि करता है तब वह इन्द्रिय की अपेक्षा रखता है। अन्यत्र स्थानों में मन को इन्द्रिय की आवश्यकता नहीं होती है। इन्द्रिय ज्ञान की सीमा पदार्थ तक सीमित है और मन इन्द्रिय और पदार्थ दोनों को जानता है। इन्द्रियाँ केवल मूर्तद्रव्य की वर्तमान पर्याय को और वह भी अंश रूप में जानती हैं, जबकि मन मूर्त और अमूर्त (रूपी-अरूपी) पदार्थों के त्रैकालिक अनेक रूपों को जानता है, मन का कार्य विचार करना है। जिसमें इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण किये गये और ग्रहण नहीं किये गये सभी विषय आते हैं।

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट होता है कि मन संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के जीवन का एक ऐसा मध्य-बिन्दु है, जिसे केन्द्र बनाकर उन जीवों का समग्र जीवन-चक्र उसके इर्द-गिर्द घूमता है। मानव-जीवन का भी वास्तविक आकलन एवं मूल्यांकन मन के द्वारा ही होता है। मनुष्य-जीवन का यह केन्द्रीय तथ्य है। जैसा मन होता है वैसा ही मनुष्य बन जाता है अर्थात् “जैसा मन, वैसा जीवन।” मन अशांत तो जीवन अशांत, मन शांत तो जीवन शांत। मन दुःखी तो जीवन दुःखी, मन सुखी तो जीवन सुखी। मन भोगी तो जीवन भोगी, मन योगी तो जीवन योगी। मन रागी तो जीवन रागी, मन वीतरागी तो जीवन वीतरागी। उपनिषद् में भी कहा है कि “मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः” इस प्रकार सम्पूर्ण उत्थान और पतन का कारण मन ही होता है।

आत्मा

यह ज्ञान तीसरा और प्रमुख साधन है। परोक्ष ज्ञान में तो आत्मा को इन्द्रिय और मन का सहयोग उपेक्षित है, किन्तु प्रत्यक्ष ज्ञान इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना ही सीधा आत्मा से होता है।

भारतीय दार्शनिकों ने दृश्यमान् जगत् के समस्त पदार्थों को चेतन और अचेतन दो भागों में विभाजित किया है। चेतन में ज्ञान, दर्शन, सुख, स्मृति, वीर्य आदि गुण पाये जाते हैं और अचेतन में स्पर्श, रस, गन्ध आदि गुण पाये जाते हैं। चेतन तत्त्व को आत्मा का मुख्य लक्षण माना है। चेतना का अर्थ है उपयोग। उपयोग का अर्थ है ज्ञान और दर्शन। अतः आत्मा चेतन है अर्थात् आत्मा ज्ञान-दर्शन स्वरूप है। आत्मा को प्रमाता भी कहा जाता है। प्रमाता का अर्थ है कि वह विश्व के सभी पदार्थों का प्रामाणिकता से ज्ञान (बोध) करने वाला है। आत्मा ज्ञाता और द्रष्टा होता है। ज्ञाता का अर्थ है जानने वाला और द्रष्टा का अर्थ है - देखने वाला। भारतीय दर्शन में चर्वाक दर्शन को छोड़कर शेष जितने भी दर्शन हैं, वे सभी किसी न किसी रूप में आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करते हुए विस्तार से उसके स्वरूप आदि का उल्लेख करते हैं।

आचारांग सूत्र में कहा गया है कि जिसके द्वारा जाना जाता है, वही आत्मा है।²¹²

कुन्दकुन्दाचार्य ने समयसार²¹³ में आत्मा को परिभाषित करते हुए कहा है कि न आत्मा में रूप है, न रस है, न स्पर्श है, और न गन्ध है। यह संस्थान और संहनन से रहित है। राग-द्वेष, मोह आत्मा के स्वरूप नहीं हैं। यह आत्मा शुद्ध, बुद्ध और ज्ञानमय है।

211. आचार्य तुलसी, नंदीसूत्र, सूत्र 62, पृ. 112

212. जेण विजाणति से आता। - आचारांगसूत्र, 1.5.5

213. समयसार, गाथा 50-51

शीलांकाचार्य के अनुसार पांचों इन्द्रियों के विषय अलग-अलग हैं, प्रत्येक इन्द्रिय अपने विषय का ही ज्ञान करती है, जबकि पांचों इन्द्रियों के विषयों का एकत्रीभूत रूप में ज्ञान करने वाला अन्य कोई अवश्य है और वह आत्मा है।²¹⁴

राजेन्द्रसूरि ने आत्मा को परिभाषित करते हुए कहा कि 'अतति इति आत्मा' अर्थात् जो गमन करती है, वही आत्मा है अर्थात् जो विभिन्न गतियों या योनियों में जन्म ग्रहण करती है, वह आत्मा है।²¹⁵

'जीव है या नहीं?' यह संशय चेतना का ही रूप है। चेतना और उपयोग आत्मा का स्वरूप है,²¹⁶ शरीर का नहीं। संशय आत्मा में ही उत्पन्न हो सकता है, शरीर में नहीं। 'मैं नहीं हूँ' ऐसी प्रतीति किसी को भी नहीं है, यदि आत्मा को अपना अस्तित्व अज्ञात होता तो 'मैं नहीं हूँ' ऐसी प्रतीति होनी चाहिए।²¹⁷ परन्तु होती नहीं। इस प्रकार शंकर ने भी आत्मा के अस्तित्व के लिए स्वतः बोध को प्रबल तर्क के रूप में स्वीकार किया है। उनके अनुसार सभी को आत्मा के अस्तित्व में भरपूर विश्वास है, कोई भी ऐसा नहीं कहता है कि मैं नहीं हूँ।²¹⁸

आलाप-पद्धति में आचार्य देवसेन ने आत्मा के छह गुणों का उल्लेख किया है, यथा - ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, चेतनत्व, अमूर्तत्व।²¹⁹ यहाँ ज्ञान-दर्शन के लिए उपयोग शब्द का प्रयोग किया जाता है। अतः जहाँ उपयोग है, वहाँ जीवत्व है, जहाँ उपयोग नहीं, वहाँ जीवत्व का अभाव है। उपयोग (ज्ञान-दर्शन) जीव का ऐसा लक्षण है, जो सिद्ध एवं संसारी सभी जीवों में पाया जाता है। अतः ज्ञान आत्मा का स्वाभाविक गुण है।

न्यायदर्शन में अहं प्रत्यय को ही आत्मा का प्रत्यक्ष ज्ञान कहा है।²²⁰ उद्घोतकर के अनुसार आत्मा के अस्तित्व के विषय में दार्शनिकों में सामान्यतः विवाद नहीं है। यदि विवाद है तो आत्मा के स्वरूप के संबंध में है। क्योंकि किसी के मत में शरीर ही आत्मा है, किसी के मत में बुद्धि, किसी के मत में इन्द्रिय या मन आत्मा है और किसी के मत में संघात को आत्मा माना है। कुछ ऐसे भी व्यक्ति हैं जो इन सबसे भिन्न आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं।²²¹

विशेषावश्यकभाष्य में आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि के लिए निम्न तर्क दिये गये हैं -

1. जीव के अस्तित्व की सिद्धि जीव शब्द से ही होती है, क्योंकि असद् की कोई सार्थ संज्ञा नहीं होती है।²²²

2. जीव है या नहीं, यह चिंतन मात्र ही जीव की सत्ता को सिद्ध करता है। देवदत्त जैसा सचेतन प्राणी ही यह सोच सकता है कि वह स्तम्भ है या पुरुष।²²³

3. शरीर में स्थित जो यह सोचता है कि मैं शरीर नहीं हूँ, वही जीव है। जीव के अलावा संशयकर्ता अन्य कोई नहीं है। बिना आत्मा के ऐसे विचार उत्पन्न नहीं हो सकते हैं। जो निषेध कर

214. तेषां च प्रत्येकं स्वविषयग्रहणादन्यविषये चाप्रवृत्तेर्नान्यदिन्द्रियज्ञातमन्यदिन्द्रियज्ञातमन्यदिन्द्रियं जानातीति, अतो मया पञ्चापि विषया ज्ञाता इत्येवमात्मकः। - सूत्रकृतांग टीका, श्रु. 1. अ. 1. उ. 1 गाथा 8

215. अभिधानराजेन्द्रकोश, भाग 2, पृ. 188

216. उपयोगो लक्षणम्, तत्त्वार्थ सूत्र 2.8, उत्तराध्ययन सूत्र 28.11

217. ब्रह्मसूत्र, शांकरभाष्य 1.1.1

218. ब्रह्मसूत्र, शंकरभाष्य, 1.1.2

219. प्रत्येकं जीव पुद्गलयोः षट्। - आलाप पद्धति, गुणाधिकार, सू. 12

220. न्यायवार्तिक पृ. 341

221. न्यायवार्तिक पृ. 366

222. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 1575

223. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 1571

रहा है, वह स्वयं ही आत्मा है।²²⁴ जहाँ संशय होता है, वहाँ आत्मा का अस्तित्व अवश्य स्वीकारना पड़ता है। जो प्रत्यक्ष अनुभव से सिद्ध है, उसे सिद्ध करने के लिए अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। आत्मा स्वयंसिद्ध है, क्योंकि उसी के आधार पर संशयादि उत्पन्न होते हैं। सुख-दुःखादि को सिद्ध करने के लिए किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं है।²²⁵

जिनभद्रगणि ने आत्मा के अस्तित्व के लिए गुण और गुणी का तर्क दिया है। वे कहते हैं कि घटादि जिन वस्तुओं को हम जानते हैं, उनका भी यथार्थ प्रत्यक्ष नहीं होता है, क्योंकि हमें जिनका प्रत्यक्ष होता है, वह घट के रूपादि गुणों का प्रत्यक्ष है। किन्तु घट मात्र रूप नहीं है, वह तो अनेक गुणों का समूह है जिन्हें हम नहीं जानते है, रूप (आकार) तो उनमें से एक गुण है। जब रूप गुण के प्रत्यक्षीकरण को घट का प्रत्यक्षीकरण मान लेते हैं और हमें कोई संशय नहीं होता, तो फिर ज्ञानगुण से आत्मा का प्रत्यक्ष क्यों नहीं मान लेते हैं।²²⁶

भारतीय दर्शन में आत्मा के सम्बन्ध में दो मान्यताएं हैं - अद्वैत मार्ग में किसी समय अनात्मा की मान्यता थी और धीरे-धीरे आत्माद्वैत की मान्यता का विकास हुआ। उत्तर मीमांसक वेदान्तियों ने अद्वैतब्रह्म को स्वीकार किया है, उनका कहना है कि 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म, नेह नानास्ति किंचन'²²⁷ अर्थात् इस जगत् के चेतन और अचेतन जितने भी पदार्थ हैं, वे ब्रह्म रूप ही हैं। अतः आत्मा एक ही है और वह अद्वितीय है। जबकि जैन, बौद्ध, सांख्यादि दर्शन में आत्मा के चेतन और अचेतन दोनों रूपों का मौलिक तत्त्वों में स्थान है। पंचाध्यायी के अनुसार स्वसंवेदन द्वारा आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि होती है।²²⁸ सभी आत्माएं में अपने को सुखी, दुःखी, निर्धन आदि के रूप में अनुभव करती हैं, यह अनुभव करने का कार्य चेतन आत्मा में ही हो सकता है।

इसी प्रकार उपनिषदों में वर्णित आत्मा के स्वरूप में सुख-दुःख की अवस्था को मिथ्या तथा जीव को ब्रह्मांश माना है। जबकि जैन दर्शन में आत्मा का स्वतन्त्र अस्तित्व माना गया है।

बृहदारण्यकोपनिषद् में आत्मा को कर्ता तथा जाग्रतादि अवस्थाओं, मृत्यु और पुनर्जन्म में एक समान रहने वाला तत्त्व स्वीकार किया गया है।²²⁹ उपनिषदों में आत्मा को शरीर, प्राण,²³⁰ इन्द्रिय और मन²³¹ से भिन्न एक चित्स्वरूप कहा गया है।

उत्तराध्ययन सूत्र में उल्लेख है कि आत्मा ही सुखों और दुःखों का कर्ता और भोक्ता है। यह भी कहा गया है कि शत्रु भी उतना अपकार नहीं करता जितना दुराचरण में प्रवृत्त अपनी आत्मा करती है।²³²

वेदवादी, सांख्य और वैशेषिक इन तीनों के अनुसार जगत् में पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश तथा आत्मा ये छः प्रकार के पदार्थ हैं। अतः ये आत्मा को आकाश के समान सर्वव्यापी तथा अमूर्त होने के कारण नित्य रूप में स्वीकार करते हैं, तथा पृथ्वी आदि पंचमहाभूत भी स्वरूप से विनाशी नहीं होने से वे भी नित्य हैं।²³³

224. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 1157

225. डॉ. सागरमल जैन, जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, भाग 1, पृ. 207

226. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 1558

227. ब्रह्मसूत्र, उद्धृत - सूत्रकृतांग (1.1.1.9-10) विवेचन, पृ. 24

228. पंचाध्यायी (उत्तरार्द्ध), 2.5

229. बृहदारण्यकोपनिषद्, 4.4.3

230. प्रश्नोपनिषद् 3.3

231. केनोपनिषद्, 1.4.6

232. उत्तराध्ययन सूत्र अ. 20 गाथा 37, 48

233. सूत्रकृतांगसूत्र. प्रथम अध्ययन, गाथा 15, पृ. 32

वैदिक काल में भी आत्मा अर्थात् चेतन तत्त्व को जानने की जिज्ञासा हुई थी – ‘यह मैं कौन हूँ? मुझे इसका पता नहीं चलता।’²³⁴

जैनदर्शन में आत्मा को असंख्यात प्रदेशी एवं शरीर परिमाण माना है। जीव द्रव्य के प्रदेशों की विशेषता यह है कि, वह बड़े या लघु जिस प्रकार का शरीर प्राप्त हुआ हो, उसी के अनुसार जीव के प्रदेश संकुचित या विस्तृत होते हैं। इसीलिए चींटी और हाथी में प्रदेशों की संख्या समान होते हुए भी चींटी में उन आत्म-प्रदेशों का संकोच हुआ है तथा हाथी में उन आत्म-प्रदेशों का विस्तार हुआ है।

जैन दर्शन में आत्मा अस्तिकाय (प्रदेशों का समूह) द्रव्य माना गया है।²³⁵ जैन दार्शनिक अन्य दार्शनिकों के समान आत्मा को निरवयव नहीं मानकर अवयव सहित भी मानते हैं। इन्हीं अवयवों को प्रदेश²³⁶ कहते हैं। उमास्वाति ने आत्मा को असंख्यात प्रदेशी कहा है।²³⁷ अतः आत्मा असंख्यात चेतन प्रदेशों का पिण्ड है।

न्याय, वैशेषिक, सांख्य-योग, मीमांसक आत्मा को आकाश के समान व्यापक मानते हैं, जबकि जैनदर्शन के अनुसार आत्मा आकाश के समान व्यापक नहीं है। प्रत्येक आत्मा को सुख-दुःखादि की अनुभूति अलग-अलग होती है। एक के सुखी होने पर सबको सुखी होना चाहिए और एक के दुःखी होने पर सबको दुःखी होना चाहिए, परन्तु ऐसा नहीं होता है। अतः आकाश के समान एक मानेंगे तो बंध, मोक्ष में अव्यवस्था उत्पन्न होगी। अतः आत्मा व्यापक नहीं है।

न्याय, वैशेषिक, बौद्ध, पूर्वमीमांसक और जैनदर्शन में आत्माओं को अनेक स्वीकार किया गया है। प्रत्येक आत्मा का अपना-अपना अस्तित्व है। जैन दर्शन में आत्मा का उल्लेख निश्चय दृष्टि और व्यवहार दृष्टि से किया गया है। निश्चयदृष्टि की अपेक्षा ‘एगे आया’ अर्थात् आत्मा एक है।²³⁸ अर्थात् स्वरूप की अपेक्षा से सिद्ध और संसारी की आत्मा में कोई भेद नहीं है। व्यवहार दृष्टि से स्थानांग सूत्र के आठवें स्थान में आत्मा के आठ भेद बताये हैं, यथा द्रव्य, कषाय, योग, उपयोग, ज्ञान, दर्शन, चारित्र और वीर्य आत्मा।

जैनदर्शन में अनन्त आत्माएं स्वीकार की गई हैं। उमास्वामी ने तत्त्वार्थ सूत्र में कहा है कि ‘जीवाश्च’²³⁹ इस सूत्र में बहुवचनान्त होने से भी यही सिद्ध होता है कि आत्माएं अनेक हैं।

जैन, बौद्ध और सांख्य दर्शन के मत में विश्व के मूल में केवल एक चेतन अथवा अचेतन तत्त्व नहीं, अपितु चेतन एवं अचेतन ऐसे दो तत्त्व हैं। जैनदर्शन में उन्हें जीव और अजीव कहा है तो सांख्यदर्शन में इनको पुरुष और प्रकृति तथा बौद्धदर्शन में इन्हीं को नाम और रूप कहा गया है।²⁴⁰

सांख्य एवं शांकर वेदान्त आत्मा को अपरिणामी (कूटस्थ) मानते हैं। आत्मा को अपरिमाणी (कूटस्थ) मानने का तात्पर्य यह है कि आत्मा में कोई विकार, परिवर्तन या स्थिति में अन्तर नहीं होता है अर्थात् आत्मा पुण्य-पाप का भोक्ता और कर्ता नहीं होता है। जैनदर्शन आत्मा को परिणामी नित्य मानता है। जैन विचारकों ने यह माना है कि सत् उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक है, अतः आत्मा भी उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक है। कुन्दकुन्दाचार्य के अनुसार आत्मा की पूर्वपर्याय का विनाश होता है और उत्तर पर्याय की उत्पत्ति होती है, किन्तु द्रव्य-दृष्टि से जो पूर्व पर्याय में था, वही उत्तर पर्याय में रहता है।²⁴¹

234. ऋग्वेद, 1.164.37

235. द्रव्यसंग्रह, गाथा 23

236. वक्ष्यमाणलक्षणः परमाणुः स यावति क्षेत्रे व्यवतिष्ठते स प्रदेश इति व्यवहियते।- सर्वार्थसिद्धि, अ. 5, सू. 8

237. असंख्येयाः प्रदेशा धर्माधर्मैकजीवानाम्। - तत्त्वार्थ सूत्र, अ. 5, सू. 8

238. स्थानांग सूत्र, स्थान 1

239. तत्त्वार्थ सूत्र, अ. 5, सू. 3

240. दलसुख मालवडिया, आत्ममीमांसा, पृ. 4

241. पंचास्तिकाय, गाथा 17

इस प्रकार पूर्व और उत्तर पर्याय में रहने वाला परिणामी नित्य²⁴² द्रव्य है। इसी आधार पर आत्मा में पर्याय परिवर्तन सम्भव है। आत्मा में तत्त्व-दृष्टि से ध्रौव्यता होते हुए भी पर्याय दृष्टि से उसमें परिवर्तन होते रहते हैं। द्रव्य के दूसरे लक्षण के अनुसार द्रव्य में गुण और पर्यायें होती हैं। आत्मतत्त्व में भी द्रव्य का लक्षण रहता है। गुण द्रव्य के आश्रित होते हैं। आत्मा में सामान्य और विशेष दोनों प्रकार के गुण रहते हैं।²⁴³ विशेष गुण को असाधारण गुण भी कहते हैं। जैन दार्शनिकों ने आत्मा के छः विशेष गुण माने हैं, यथा ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, चेतनत्व और अमूर्तत्व तथा दस सामान्य गुणों को उल्लेख हुआ है। यथा अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, अगुरुलघुत्व, प्रदेशवत्त्व, चेतनत्व, अचेतनत्व, मूर्तत्व और अमूर्तत्व।²⁴⁴ जैनदर्शन के अनुसार द्रव्य में अनन्त गुण विद्यमान रहते हैं।

ज्ञानी के प्रकार

आचारांग श्रुतस्कंध 1, अध्ययन 2, उद्देशक 5 के अनुसार ज्ञाता के नौ भेद होते हैं -

1. **कालज्ञ** - कार्य करने के अवसर को जानने वाला कालज्ञ कहलाता है।
2. **बलज्ञ** - स्वयं के बल को जानने वाला और शक्ति के अनुसार आचरण करने वाला बलज्ञ कहलाता है।
3. **मात्रज्ञ** - कौनसी वस्तु कितनी चाहिए। स्वयं की जरूरत के हिसाब से वस्तु का प्रमाण जानने वाला मात्रज्ञ कहलाता है।
4. **खेदज्ञ अथवा क्षेत्रज्ञ** - अभ्यास द्वारा प्रत्येक कार्य के अनुभवी अथवा संसार चक्र में परिभ्रमण के कष्ट को जानने वाला क्षेत्रज्ञ कहलाता है।
5. **क्षणज्ञ** - क्षण अर्थात् प्रत्येक कार्य का उचित समय जानने वाला क्षणज्ञ कहलाता है।
6. **विनयज्ञ** - ज्ञान, दर्शनादि भक्ति रूप विनय को जानने वाला विनयज्ञ कहलाता है।
7. **स्व-समयज्ञ** - स्वसिद्धान्त और आचार को जानने वाला स्व-समयज्ञ कहलाता है।
8. **पर-समयज्ञ** - अन्य के सिद्धान्तों को जानने वाला, जब समय आये तब दूसरों के सिद्धान्तों के सामने स्वयं के सिद्धान्तों की विशेषता बताने वाला पर-समयज्ञ कहलाता है।
9. **भावज्ञ** - दाता और श्रोता के अभिप्राय को जानने वाला और समझने वाला भावज्ञ कहलाता है।

ज्ञान के अष्ट आचार हैं

ज्ञान की प्राप्ति एवं अभिवृद्धि हेतु भगवती सूत्र (शतक 12, उद्देशक 1), धर्म-संग्रह (देशना अधिकार 3 श्लोक 54) आदि स्थलों पर ज्ञानाचार के आठ प्रकार कहे गये हैं, यथा -

1. **कालाचार** - दिन और रात्रि के प्रथम और चौथे प्रहर में कालिक सूत्र और अन्य काल में उत्कालिक सूत्र को 32 प्रकार के अस्वाध्याय को टाल कर पढ़ना और पढ़ाना चाहिए। शास्त्र में जिस काल में जिन सूत्र को पढ़ने की आज्ञा है, उस समय वही सूत्र पढ़ने चाहिए।
2. **विनयाचार** - ज्ञानदाता गुरु का विनय करना यह विनयाचार है।
3. **बहुमानाचार** - ज्ञानी और गुरु प्रति हृदय में भक्ति भाव और श्रद्धा रखना बहुमानाचार है।
4. **उपधानाचार** - शास्त्रों में जिन सूत्रों का अभ्यास करने के लिए जो तप बताया है, वह तप अभ्यास करते हुए करना।

242. तद्भाववाच्यं नित्यम्। - तत्त्वार्थसूत्र, अ. 5, सू. 30

243. आलाप पद्धति, गाथा 11-12

244. आलाप पद्धति, गुणाधिकार, सू. 12, 9

5. अनिह्वावाचार - पढ़ाने वाले गुरु का नाम छिपाना नहीं

6. व्यंजनाचार - शास्त्र के स्वर, व्यंजन, गाथा, अक्षर, पद, अनुस्वार और व्याकरणादि का जानकार होना तथा विपरीत प्ररूपणा नहीं करना।

7. अर्थाचार - सूत्र का यथातथ्य अर्थ करना परन्तु काल्पनिक अर्थ नहीं करना।

8. तदुभयाचार-मूल पाठ और अर्थ शुद्ध को शुद्ध बोलना, पढ़ना एवं पढ़ाना।

ज्ञान के चौदह अनाचार

1. वाइद्धं (व्याविद्ध) - सूत्र को तोड़ कर मणियों को बिखरने के समान सूत्र के अक्षर मात्रा, व्यञ्जन, अनुस्वार, पद, आलापक आदि को उलट-पुलट कर पढ़ना वाइद्धं अतिचार है।

2. वच्चाभेलियं (व्यत्याग्रेडित) - सूत्रों में भिन्न-भिन्न स्थानों पर आये हुए समानार्थक पदों को एक साथ पढ़ना वच्चाभेलियं अतिचार है। शास्त्र के भिन्न-भिन्न पदों को एक साथ पढ़ने से अर्थ बिगड़ जाता है। विराम आदि लिये बिना पढ़ना अथवा अपनी बुद्धि से सूत्र के समान सूत्र बनाकर आचारांग आदि सूत्रों में डाल कर पढ़ने से भी यह अतिचार लगता है।

3. हीणक्खरं (हीनाक्षर) - इस तरह से पढ़ना कि जिससे कोई अक्षर छूट जाय हीनाक्षर कहलाता है। जैसे 'नमो आरियाणं' के स्थान पर 'य' अक्षर कम करके 'नमो आरियाणं' पढ़ना।

4. अच्चक्खरं (अधिकाक्षर) - अधिक अक्षर युक्त पढ़ना-पाठ के बीच में कोई अक्षर अपनी तरफ से मिला देना जैसे 'नमो उवज्झारियाणं' में 'रि' अक्षर मिलाकर 'नमो उवज्झारियाणं' पढ़ना।

5. पयहीणं - किसी पद को छोड़कर पढ़ना पयहीणं अतिचार है। जैसे 'नमो लोए-सव्वसाहूणं' में 'लोए' पद कम करके 'नमो सव्वसाहूणं' पढ़ना।

6. विणयहीणं (विनयहीन) - शास्त्र तथा पढ़ाने वाले का समुचित विनय न करना। ज्ञान और ज्ञान दाता के प्रति, ज्ञान लेते समय तथा ज्ञान लेने के बाद में विनय (वंदनादि) नहीं करके अथवा सम्यग् विनय नहीं करके पढ़ना विणयहीणं अतिचार है।

7. जोगहीणं (योगहीन) - सूत्र पढ़ते समय मन, वचन और काया को जिस प्रकार स्थिर रखना चाहिए, उस प्रकार नहीं रखना अथवा योग का अर्थ उपधान तप भी होता है। सूत्रों को पढ़ते हुए किया जाने वाला एक विशेष तप उपधान कहलाता है। उस उपधान (तप) का आचरण किये बिना सूत्र पढ़ना योगहीन दोष कहलाता है।

8. घोसहीणं (घोषहीन) - उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, सानुनासिक, निरनुनासिक आदि घोषों से रहित पाठ करना। किसी भी स्वर या व्यंजन को घोष के अनुसार ठीक न पढ़ना, अथवा ज्ञान दाता जिस शब्द छन्द पद्धति से उच्चारण करावें, वैसा उच्चारण करके नहीं पढ़ना घोसहीणं दोष है।

9. सुट्ठुदिण्णं - यहां "सुट्ठु" शब्द का अर्थ है - शक्ति या योग्यता से अधिक। शिष्य में शास्त्र ग्रहण करने की जितनी शक्ति है उससे अधिक पढ़ाना 'सुट्ठुदिण्णं' कहलाता है।

10. दुट्ठुपडिच्छियं - आगम को बुरे भाव से ग्रहण करना।

11. अकाले कओ सज्झाओ - जिस काल में (चार संध्याओं में) सूत्र स्वाध्याय नहीं करना चाहिये या जो कालिक सूत्रादि जिस काल (दिन रात्रि के दूसरे तीसरे प्रहर) में नहीं पढ़ना चाहिए, उस काल में स्वाध्याय करने को अकाल स्वाध्याय कहते हैं।

12. काले न कओ सज्झाओ - जिस सूत्र के लिए जो काल निश्चित किया गया है, उस समय स्वाध्याय न करना दोष है।

13. असज्झाइए सज्झाइयं - अस्वाध्याय अर्थात् ऐसा कारण या समय उपस्थित होना जिसमें शास्त्र का स्वाध्याय वर्जित है, उसमें स्वाध्याय करना, असज्झाइए सज्झाइयं अतिचार है। अस्वाध्याय के 32 कारण कहे गये हैं।

14. सज्झाइए न सज्झाइयं - सज्झाइए न सज्झाइयं अर्थात् स्वाध्याय काल में स्वाध्याय न करना दोष है।

श्रुत (ज्ञान) ग्रहण की प्रक्रियादि

श्रुत-अध्ययन का प्रयोजन

जिससे शुभ चित्त का निर्माण होता है, अध्यात्म की उपलब्धि होती है, तथा जिससे बोधि, संयम और बन्धन मुक्ति के तथ्यों की अधिक प्राप्ति होती है, वह अध्ययन है।²⁴⁵

दशवैकालिक सूत्र के नववें अध्ययन के चौथे उद्देशक में श्रुत अध्ययन के चार कारण बताये हैं, यथा 1. मुझे श्रुत का लाभ होगा, ज्ञान बढ़ेगा, 2. मैं एकाग्र-चित्त हो पाऊंगा, 3. मैं स्वयं को धर्म में स्थापित करूंगा और 4. मैं स्वयं धर्म में स्थापित होकर दूसरों को उसमें स्थापित करूंगा।²⁴⁶

अनुयोगद्वार के अनुसार - 1. अध्यात्म की उपलब्धि, 2. उपचित्त कर्मों का क्षय (अपचय), 3. नये कर्मों का निरोध (अनुपचय)

उत्तराध्ययन सूत्र के अनुसार - 1. परम अर्थ (मोक्ष) की खोज. 2. स्वयं सिद्धि प्राप्त करने की अर्हता, 3. दूसरों की सिद्धि प्राप्त कराने की क्षमता।²⁴⁷

ज्ञान आदान-प्रदान के कारण - 1. शिष्यों को श्रुतसम्पन्न बनाने के लिए, 2. शिष्यों के उपकार के लिए, 3. कर्मों की निर्जरा के लिए, 4. वाचना द्वारा स्वयं के श्रुत को पुष्ट करने के लिए, 5. श्रुतज्ञान की परंपरा चालू रखने के लिए

ज्ञान सीखने के पांच कारण - 1. आज्ञा के लिए 2. दर्शन के लिए 3. चारित्र के लिए 4. मिथ्या अभिनिवेश छोड़ने के लिए 5. यर्थाथ ज्ञान के लिए

शिक्षा प्राप्त करने की योग्यता

गुरु का अतिशय विनय करने वाला, देश और काल के अनुकूल द्रव्य - अशन, पान, वस्त्र, पात्र, औषध आदि उपलब्ध कराने वाला, अभिप्राय को जानने वाला अनुकूल शिष्य सम्यक् श्रुत को प्राप्त करता है।²⁴⁸

जो शिष्य विनीत है, बद्धांजलि होकर गुरु से बात करता है, गुरु के अभिप्राय का अनुवर्तन करता है, जो गुरुजनों की आराधना करा है, उसे गुरु विविध प्रकार का ज्ञान शीघ्र करा देता है।²⁴⁹

जो सदा गुरुकुल में वास करता है, जो समाधिवाला होता है, जो उपधान-तप करता है, जो प्रिय व्यवहार करता है, जो प्रिय बोलता है, वह शिक्षा प्राप्त कर सकता है।²⁵⁰

जो मुनि आचार्य और उपाध्याय की शुश्रूषा और आज्ञा-पालन करते हैं, उनकी शिक्षा उसी प्रकार बढ़ती है, जैसे जल में सीचें हुए वृक्ष।²⁵¹

ज्ञानाभ्यास के अयोग्य - 1. अविनीत 2. विगय प्रतिबद्ध 3. अशांत क्लेशी 4. मायावी।

ज्ञानाभ्यास के योग्य - 1. विनीत 2. विगय अप्रतिबद्ध 3. कषाय, क्लेश रहित शांत 4. अमायावी।

245. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 960

246. दशवैकालिक सूत्र अ. 9, उ. 4, गाथा 5

248. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 937

250. उत्तराध्ययन सूत्र, अध्ययन 11, गाथा 14

247. उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन 11 गा०32

249. आवश्यकनिर्युक्ति गाथा 138

251. दशवैकालिक सूत्र अध्ययन 9, उ. 2, गा०12

अयोग्य को शिक्षा देने से हानि

जो एक अर्थपद को भी यथार्थ रूप से ग्रहण नहीं कर पाता, ऐसे अयोग्य शिष्य को वाचना देने से आचार्य और श्रुत का अवर्णवाद होता है। कोई कहता है – ‘आचार्य कुशल नहीं हैं, उनमें प्रतिपादन की क्षमता नहीं है।’ कोई कहता है, ‘श्रुतग्रन्थ परिपूर्ण अथवा उपयुक्त नहीं है।’

उस शिष्य को वाचना देने में समय अधिक बीत जाता है, इससे आचार्य सूत्र और अर्थ का परावर्तन नहीं कर सकते, अन्य योग्य शिष्यों को पूर्ण वाचना नहीं दे सकते। इस प्रकार सूत्र और अर्थ की परिहानि होती है।

जैसे वन्ध्या गाय सस्नेह आस्फालन करने पर भी दूध नहीं देती, वैसे ही मूढ़ शिष्य कुशल गुरु से एक अक्षर भी ग्रहण नहीं कर सकता। अयोग्य को वाचना देने वाला क्लेश का अनुभव करता है और प्रायश्चित्त का भागी होता है।²⁵²

शिक्षाशील के गुण

उत्तराध्ययन सूत्र में शिक्षाशील व्यक्ति के आठ लक्षण बताये हैं, यथा 1. हंसता नहीं है, 2. इन्द्रियों और मन को वश में रखता है, 3. किसी का भी मर्म प्रकाशित नहीं करता है, 4. चरित्र ऊँचा होता है, 5. चारित्र में दोष नहीं लगाता है, 6. रसों में आसक्त नहीं होता है, 7. क्रोध नहीं करता है और 8. सत्य बोलता है।²⁵³

शिक्षा प्राप्ति में बाधक तत्त्व

अहंकार, क्रोध, प्रमाद, रोग और आलस्य करने वाला श्रुतज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता है।²⁵⁴

सात कारण से ज्ञान घटता है

1. आलस्य करने से, 2. निंदा करने से, 3. क्लेश करने से, 4. शोक करने से, 5. चिन्ता करने से, 6. शरीर में रोग होने से, 7. कुटुम्ब पर अधिक मोह रखने से।

श्रुतज्ञान देने की विधि

गुरु महाराज शिष्य को किस प्रकार श्रुतज्ञान दें, इसकी विधि बताते हुए जिनभद्रगणि कहते हैं – पहले सूत्र पढ़ावे और सामान्य अर्थ बतावे, फिर निर्युक्ति मिश्रित सूत्रार्थ पढ़ावे और अन्त में नय, निक्षेप प्रमाणादि सहित ‘निरवशेष’ सूत्रार्थ पढ़ावे। यह श्रुतदान की विधि है।²⁵⁵

श्रुत के अलावा भी भाष्यकार ने अन्य प्रसंगों पर श्रुत के सम्बन्ध में जो उल्लेख किया हैं, वह निम्न प्रकार से हैं

श्रुत कैसे सीखें?

जिनभद्रगणि ने श्रुत सीखने के दस उपाय बताये हैं, यथा 1. अहीनाक्षर – अक्षर हीन नहीं हो, 2. अनत्यक्षर – अक्षर अधिक न हो, 3. अव्याविद्धाक्षर – जिसका वर्णनविन्यास नासमझ के द्वारा बानाई गई माला के समान अस्त-व्यस्त न हो, 4. अस्खलित – विषम भूमि पर चलाने पर जिस प्रकार हल स्खलित होता है, वैसे श्रुत स्खलित न हो, 5. अमीलित पद-वाक्य – जैसे भिन्न-भिन्न प्रकार के धान को अलग रखा जाता है, वैसे ही जिसके पद-वाक्य आदि मिश्रित न हों, 6. अव्यत्याग्रेडित – जिसमें विभिन्न आगम-ग्रंथों के वाक्यों का मिश्रण न हो, 7. परिपूर्ण – जो मात्रा,

252. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 1457

253. उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन 11 गाथा 4-5

254. उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन 11, गाथा 3

255. सुतत्त्वो खलु पढमो, बीओ णिज्जुत्तिमीसिओ भणिओ। तइओ य णिरवसेसो, एस विही होइ अणुओगे॥

अनुस्वार आदि पूर्ण व्यवस्थित हो तथा क्रियादि का उचित प्रयोग हुआ हो, 8. पूर्णघोष - परावर्तन के समय उदात्त आदि का बराबर उच्चारण हो, 9. कण्ठौष्ठ-विप्रमुक्त - कण्ठ, ओष्ठ आदि से स्पष्ट उच्चारित हो। 10. गुरुवाचनोपगत - जो स्वयं गुरु के द्वारा पढ़ाया हुआ हो।²⁵⁶

श्रुतग्रहण की विधि

जिनभद्रगणि के अनुसार शिक्षाग्रहण के सात सूत्र हैं, यथा 1. शिक्षित - सीख लेना, कंठस्थ कर लेना, 2. स्थित - अप्रच्युत बना लेना, हृदय में व्यवस्थित कर लेना, 3. चित्त - शीघ्र याद आ जाना, 4. मित - वर्ण आदि की संख्या-परिमाण जान लेना, 5. परिचित - प्रतिलोम (उत्क्रम) पद्धति से पुनरावर्तन करना, 6. नामसम - अपने नाम की तरह हमेशा याद रखना, 7. घोषसम - श्रुत देने वाली आचार्य ने जिस प्रकार शब्दों का उदात्त-अनुदात्त-स्वरित का जैसा घोष किया है, वैसा ही ग्रहण करना।²⁵⁷

श्रुत को सुनने की विधि

गुरु जब श्रुत ज्ञान देते हैं, तो उसे किस प्रकार सुने, इसका उल्लेख जिनभद्रगणि ने निम्न प्रकार से किया है²⁵⁸ - 1. मूक रहे - गूंगे की भांति चुपचाप होकर गुरुदेव के वचन सुने। 2. हुंकार करे - सुनने के पश्चात् गुरुदेव को विनय युक्त तीन बार वन्दना करे। 3. बाढ़कार करे - वन्दना के पश्चात् 'गुरुदेव! आपने यथार्थ प्रतिपादन किया' - यों कहे। 4. प्रतिपृच्छ करे - यह 'तत्त्व यों कैसे?' - यों सामान्य प्रश्न करे। 5. विमर्श करे - प्रश्न का सामान्य उत्तर मिलने के पश्चात् विशेष ज्ञान के लिए प्रमाण आदि पूछे। 6. प्रसंग पारायण करे - प्रमाण आदि प्राप्त करके उस तत्त्व प्रसंग का आद्योपान्त सूक्ष्म बुद्धि से पारायण करे। 7. परिनिष्ठ होवे - ऐसा करने पर सातवीं दशा में श्रुतार्थी शिष्य, गुरुदेव के समान ही तत्त्व प्रतिपादन में समर्थ बन जाता है।

'श्रुतज्ञान के लाभों में कौन-से श्रुतज्ञान का लाभ वास्तविक है' यह बताने के लिए जिनभद्रगणि कहते हैं कि

आगमसत्त्वग्रहणं, जं बुद्धिगुणेहिं अट्टहिं दिट्ठं।

बिंति सुयणाणलंभं, तं पुव्वविसारया धीरा॥²⁵⁹

अर्थ - सम्यक्श्रुत को भी बुद्धि के आठ गुणों के साथ ग्रहण किया गया हो, तभी वास्तविक श्रुतज्ञान का लाभ हो सकता है, दृष्टिवाद के पाठी तथा जो साधु आदि उपसर्ग आदि के समय भी व्रत-नियमों का दृढ़तापूर्वक पालन करते हैं, उनका कहना है कि आगम शास्त्रों से जीवादि तत्त्वों का सम्यक् (यथार्थ) बोध होना ही श्रुतज्ञान का वास्तविक लाभ है। इसके विपरीत मिथ्याश्रुत के ग्रहण से श्रुतज्ञान का वास्तविक लाभ नहीं प्राप्त हो सकता है।

बुद्धि के आठ गुण

जो बोध कराता है, वह शास्त्र सामान्य से ज्ञान कहलाता है। ये आगम ही आगमशास्त्र हैं, उनका ज्ञान श्रुतज्ञान कहलाता है। श्रुत को ग्रहण करने हेतु आगमों में जो बुद्धि के गुण कहे हैं, उसको श्रुतज्ञान कहते हैं। वे निम्न प्रकार से हैं²⁶⁰ -

256. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 853-857

257. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 851-852

258. मूअं हुंकारं वा, वाढक्कारं पडिपुच्छ वीमंसा। ततो पसंगपारायणं च, परिणिट्ठ सत्तमए॥

-आवश्यकनिर्युक्ति गाथा 23, नंदीसूत्र, पृ. 206 विशेषावश्यकभाष्य गाथा 565

259. आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा 21, नंदीसूत्र, पृ. 206, विशेषावश्यकभाष्य गाथा 558

260. १ सुस्सूसइ २ पडिपुच्छइ ३ सुणेइ ४ गिण्हइ य ५ ईहए यावि। ६ ततो अपोहए वा ७ धारेइ ८ करेइ वा सम्मं॥

- आवश्यकनिर्युक्ति गाथा 22, विशेषावश्यकभाष्य गाथा, 559-561, नंदी सूत्र पृ. 206

1. **शुश्रूषा** - गुरुदेव जो कहते हैं उसे विनययुक्त सुनने की इच्छा रखता है, एकाग्र होकर सुनता है। अथवा गुरु महाराज जिस-जिस कार्य के लिए आज्ञा दें, वे सभी अनुग्रह मान कर सुनने की इच्छा करें।

2. **प्रतिपृच्छा** - सुनते हुए श्रुत में जहाँ शंका हो जाय, वहाँ अति नम्र वचनों से गुरुदेव के हृदय को आह्लादित करता हुआ, 'पूछता' है। अथवा वह कार्य करते समय पुनः पूछे।

3. **श्रवण** - पूछने पर गुरुदेव जो कहते हैं, उन शब्दों को चित्त को दोलायमान न करते हुए सावधान चित्त होकर सुनता है। अथवा फिर जाने हुए श्रुत को अर्थ सहित सुने।

4. **ग्रहण** - उन शब्दों को सुन कर उनके अर्थों को समझता है। अथवा श्रुत को सुनकर अवग्रह आदि से ग्रहण करे।

5. **ईहा** - गुरुदेव के पूर्व कथन और पश्चात् कथन में विरोध न आए, इस प्रकार सम्यक् पर्यालोचना करता है।

6. **अपोह** - विचारणा के अन्त में गुरुदेव जैसा कहते हैं, तत्त्व वैसा ही है, अन्यथा नहीं - इस प्रकार स्वमति में सम्यक् निर्णय करता है।

7. **धारण** - वह निर्णय कालांतर तक स्मरण में रहे, इस प्रकार उसकी धारणा (अविच्युति) करता है।

8. **सम्यक् अनुष्ठान**- आगमों में जो सम्यक् अनुष्ठान बताये हैं, उनको करता है अर्थात् श्रुतज्ञान में जिसे त्याग करना कहा है, उसका त्याग करता है, जिसकी उपेक्षा करना कहा है, उसकी उपेक्षा करता है तथा जिसका धारण करना कहा है, उसे धारण करता है। सम्यक् अनुष्ठानों से श्रुतज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम होता है और गुरु के चित्त की आराधना करना भी श्रुतज्ञान की प्राप्ति का उपाय है।²⁶¹

ज्ञान वृद्धि के नक्षत्र

स्थानांग सूत्र के 10वें स्थान में ज्ञान की वृद्धि के दस नक्षत्रों का उल्लेख है अर्थात् इन नक्षत्रों का चन्द्रमा के साथ योग होने पर विद्या आरम्भ करना तथा विद्या सम्बन्धी कोई काम शुरू करने से ज्ञान की वृद्धि होती है, यथा - मृगशीर्ष, आर्द्रा, पुष्य, पूर्वाफाल्गुनी, पूर्वभाद्रपदा, पूर्वाषाढा, मूला, अश्लेषा, हस्त और चित्रा।

ज्ञान और दर्शन की अन्य दर्शनों में मान्य अवधारणाओं से तुलना

जैनदर्शन में ज्ञान को आत्मा का आवश्यक गुण एवं लक्षण स्वीकार किया गया है। क्योंकि इसी के आधार पर जीव और अजीव में भेद किया जाता है। अतः जैनदर्शन में ज्ञान की चर्चा आगमों में विद्यमान रही है, जिसे प्रमाणचर्चा का अंग बनाया गया है, जबकि अन्य दर्शनों में प्रायः ज्ञान की चर्चा प्रमाणचर्चा के अन्तर्गत ही की जाती है।

चार्वाक दर्शन

चार्वाकदर्शन मात्र एक प्रत्यक्ष प्रमाण को ही ज्ञान रूप मानता है। चार्वाक कहते हैं कि लौकिक जीवन ही यथार्थ है और इसीलिए लौकिक ज्ञान ही यथार्थ ज्ञान है और अलौकिकज्ञान की बात ब्राह्मणों का षड्यंत्र मात्र है। अतः इनका मानना है कि यथार्थ ज्ञानप्राप्ति का एकमात्र साधन प्रत्यक्ष है। इनके

अनुसार केवल इन्द्रियों के द्वारा ही विश्वास योग्य अथवा असंदिग्ध ज्ञान हो सकता है। इन्द्रिय ज्ञान ही एकमात्र यथार्थ ज्ञान है। इस प्रकार इन्होंने अन्य दर्शनों में अनुमान आदि प्रमाणों का खंडन किया है। लेकिन चार्वाक ने स्वयं अन्य मतों का खण्डन करने के लिए अनुमान का सहारा लिया है।

न्याय-वैशेषिक दर्शन

1. न्यायदर्शन में चार प्रमाण स्वीकार किए गए हैं - प्रत्यक्ष, अनुमान उपमान और शब्द। जबकि वैशेषिकों को ज्ञान रूप में दो प्रमाण मान्य हैं - प्रत्यक्ष और अनुमान।

2. वैशेषिक दर्शन में ज्ञान को बुद्धि में अंतर्भूत किया है। पुनः बुद्धि के दो भेद हैं - विद्या (प्रमा) और अविद्या (अप्रमा)। प्रमा यथार्थ ज्ञान को कहते हैं। प्रमा के चार भेद किये हैं - प्रत्यक्ष, अनुमान, स्मृति और आर्षज्ञान। इसके अलावा शेष ज्ञानों को अप्रमा कहते हैं। अविद्या (अप्रमा) के भी चार प्रकार हैं - संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय और स्वप्न। इन चारों से यथार्थ ज्ञान नहीं होता है। ज्ञान तभी सत्य होता है जब वह अपने विषय के यथार्थरूप को प्रकाशित करता है। यथार्थ-ज्ञान से सफलता मिलती है तथा मिथ्या ज्ञान से विफलता मिलती है।²⁶² इस प्रकार विद्या और अविद्या की तुलना जैनदर्शन में मान्य सम्यक्ज्ञान और मिथ्या ज्ञान के साथ कर सकते हैं।

3. न्याय-वैशेषिक भी जैन तार्किकों के समान स्मृतिज्ञान को प्रत्यक्ष से भिन्न स्वीकार करते हैं, लेकिन उन्होंने स्मृति को अप्रमाण माना है, जबकि जैन दार्शनिकों ने स्मृति को प्रमाण माना है।²⁶³

4. न्याय-वैशेषिक भी जैनदर्शन के समान संशय एवं विपर्यय को मिथ्या रूप मानते हैं, किन्तु जैन दार्शनिक अनध्यवसाय को भी अप्रमाण मानते हैं।

5. न्याय और वैशेषिक ईश्वरवादी दर्शन हैं। वे ईश्वर को सर्वज्ञ मानते हैं। कालक्रम से उनमें योगि-प्रत्यक्ष की अवधारणा प्रविष्ट हुई है, पर जैन दर्शन में केवलज्ञान या सर्वज्ञत्व मोक्ष की अनिवार्य शर्त है। न्याय और वैशेषिक का मत है- मुक्त अवस्था में योगिप्रत्यक्ष नहीं रहता। ईश्वर का ज्ञान नित्य है और योगिप्रत्यक्ष अनित्य।²⁶⁴

6. न्याय-वैशेषिक आदि दर्शनों में ज्ञान आत्मा के गुण के रूप में सम्मत नहीं है, इसलिए उन्हें मनुष्य की सर्वज्ञता का सिद्धान्त मान्य नहीं है।

7. न्यायवैशेषिक दर्शन में 'ऋते ज्ञानान् मुक्तिः' कहकर ज्ञान को मोक्ष का अनिवार्य हेतु बताया है और जैनदर्शन भी मोक्ष प्राप्ति में केवलज्ञान की अनिवार्यता स्वीकार करता है, लेकिन अन्तर है यह है कि, जैनदर्शन में मुक्तात्मा में भी केवलज्ञान स्वीकार किया गया है, जबकि न्यायवैशेषिक दर्शन मुक्तात्मा में ज्ञान को स्वीकार नहीं करते हैं, क्योंकि मुक्तात्मा ज्ञानादि विशेष गुणों से दूर होता है।²⁶⁵

8. नैयायिकों के मत से पांचों इन्द्रिया प्राप्यकारी हैं, क्योंकि इन्द्रियजन्य ज्ञान में इन्द्रिय और अर्थ का सन्निकर्ष नियम से होता है।²⁶⁶ जबकि जैन दर्शन के अनुसार चक्षु के अलावा चार इन्द्रियाँ ही प्राप्यकारी हैं।

9. न्याय-वैशेषिक दर्शन वाले ज्ञान को अस्वसंवेदी मानते हैं, जबकि जैन दर्शन में ज्ञान को स्वसंवेदी माना गया है।²⁶⁷

262. द्रष्टव्य - प्रशस्तपाद भाष्य, बुद्धि प्रकरण

264. न्यायमंजरी, पेज 508

266. न्यायसूत्र 1.1.4

263. षड्दर्शन समुच्चय, पृ. 398

265. व्योमवती, पृ. 638

267. षड्दर्शन समुच्चय, पृ. 397

योगदर्शन

1. योगदर्शन में यथार्थ ज्ञान रूप तीन प्रमाण स्वीकार किये गये हैं – प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द।
2. योगदर्शन में स्वप्न को एक प्रकार की स्मृति माना है,²⁶⁸ जबकि जैनदर्शन स्वप्न को स्मृति रूप स्वीकार नहीं करता है।
3. योगदर्शन के अनुसार ज्ञान आकाश की तरह अनन्त है, जबकि ज्ञेय अल्प है। जैनदर्शन में अभिलाष्य और अनभिलाष्य ज्ञान की अपेक्षा ज्ञेय अल्प है।
4. योगदर्शन मान्य तमोगुण ही जैनदर्शन में मान्य ज्ञानावरण, दर्शनावरण और मोहनीय कर्म हैं, क्योंकि योगदर्शन में तमो गुण को ज्ञानावरण कहा है।²⁶⁹
5. योग दर्शन जैनदर्शन की भांति निद्रा में ज्ञान स्वीकार करता है।
6. योगदर्शन में मान्य अतीत-अनागत ज्ञान और जैनदर्शन मान्य अवधिज्ञान आदि ज्ञान भूत भविष्य की बात जानते हैं।²⁷⁰
7. योगदर्शन सम्मत भुवन ज्ञान और जैनदर्शन सम्मत अवधिज्ञान दोनों में अनेक लोक को देखने की शक्ति है।²⁷¹
8. योगदर्शन गत कैवल्य ज्ञान का वर्णन जैनदर्शन के केवलज्ञान के साथ बहुत मिलता है, जैसे कि दोनों सर्वविषयक हैं और त्रिकालगोचर विषयों की सभी पर्यायों को एक साथ जानते हैं।²⁷²

बौद्धदर्शन

1. बौद्धदर्शन में भी जैनदर्शनानुसार पांच प्रकार का आवरण माना है, जिसको पांच नीवरण कहते हैं।
2. बौद्धदर्शन में ज्ञान के चार कारण माने हैं – 1. आलम्बन 2. समनन्तर 3. सहकारी 4. अधिपति प्रत्यय।
3. बौद्धदर्शन में भी ऐन्द्रियक और अतीन्द्रिय ज्ञान दर्शन के लिए जैनदर्शन के समान 'जाणइ' और 'पासइ' क्रिया का प्रयोग हुआ है।²⁷³
4. बौद्ध के अनुसार आश्रवक्षय ज्ञान (आस्रवों के क्षय का ज्ञान) ही उच्चतम है, क्योंकि वह मात्र अर्हन्त को ही प्राप्त होता है। इस ज्ञान की तुलना जैनदर्शन के केवलज्ञान के साथ कर सकते हैं।²⁷⁴
6. जैनदर्शन के दर्शनोपयोग और बौद्धदर्शन के प्रत्यक्ष का अर्थ जीव में पदार्थ का प्रतिबिम्बित होना ही है अर्थात् बौद्धदर्शन में जो प्रत्यक्ष का लक्षण निर्विकल्पक ज्ञान है वही जैनदर्शन में दर्शनोपयोग है। बौद्ध दर्शन में निर्विकल्पक ज्ञान (दर्शनोपयोग) को प्रमाण रूप में स्वीकार किया गया है, जबकि जैनदर्शन में इसको प्रमाण रूप स्वीकार नहीं किया गया है।
7. बौद्धदर्शन निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के बाद सविकल्पक ज्ञान का क्रम माना है, यह जैन दर्शन द्वारा मान्य दर्शन-ज्ञान के समान है।²⁷⁵

268. योगभाष्य 1.11

270. योगभाष्य 3.16

272. योगभाष्य 3.54

274. जयतिलक पृ. 438 परि. 752

269. योगभाष्य 3.43, 4.31

271. योगभाष्य 3.16

273. जयतिलक पृ. 418-19, 432

275. दर्शनपूर्व ज्ञानमिति चित्यात्। ज्ञानबिन्दुप्रकरण, पृ. 43

8. बौद्धदर्शन में शून्यवादी के अनुसार तीन दृष्टिकोण मान्य हैं - 1. मिथ्यासंवृति, 2. तथ्यसंवृति और 3. परमार्थ। विज्ञानवादी भी तीन दृष्टिकोणों का उल्लेख करते हैं - 1. परिकल्पित 2. परतन्त्र और 3. परिनिष्पन्न। विज्ञानवाद का परतन्त्र जैन दर्शन के परोक्षज्ञान के निकट है। यहाँ उसे परतन्त्र इसलिए कहा गया है कि वह ज्ञान, मन और इन्द्रियों के अधीन होता है। जैन परम्परा के निश्चयनय को विज्ञानवादियों ने परिनिष्पन्न और शून्यवादियों ने परमार्थ कहा है और व्यवहारनय को विज्ञानवादियों ने परतन्त्र और शून्यवादियों ने लोकसंवृति कहा है।

सांख्यदर्शन

1. सांख्यदर्शन में प्रत्यक्ष के दो भेद किये हैं - निर्विकल्प और सविकल्प जो जैन दर्शन द्वारा मान्य अनाकार (दर्शन) और साकार (ज्ञान) के तुल्य है।²⁷⁶

2. सांख्य-योग ज्ञानावरण का संबंध चित्त के साथ जोड़ते हैं, क्योंकि ज्ञान पुरुष का नहीं चित्त का स्वभाव है। सांख्यदर्शन में चितवृत्ति को ज्ञान के रूप में स्वीकार किया है। जैनदर्शन में ज्ञान का सम्बन्ध आत्मा से जोड़ा जाता है।²⁷⁷

3. सांख्य आदि छह वैदिक दर्शन²⁷⁸ तथा बौद्ध दर्शन अक्ष का अर्थ इन्द्रिय करते हैं, और इन्द्रिय से होने वाले ज्ञान को प्रत्यक्ष मानते हैं। जबकि जैनदर्शन इन्द्रियजन्य ज्ञान को परोक्ष मानता है। जिनभद्रगणि ने इस विषय में और स्पष्टता करते हुए कहा है कि इन्द्रियज्ञान (मतिज्ञान) परमार्थतः परोक्ष है, जबकि व्यवहारतः प्रत्यक्ष है।²⁷⁹

4. सांख्य दर्शन में केवलज्ञान अथवा कैवल्य की अवधारणा जैन दर्शन का भांति स्पष्ट है।²⁸⁰

5. सांख्य-योग के अनुसार चित्त ज्ञाता है और पुरुष द्रष्टा है। पुरुष चित्तवृत्ति देखता है, चित्त का ज्ञान कार्य और पुरुष का दर्शन कार्य युगपत् होता है।

मीमांसा दर्शन

1. मीमांसा दर्शन में अज्ञात अर्थ के ज्ञान को ही प्रमाण माना है, जबकि जैनदर्शन में गृहीतग्राही ज्ञान भी प्रमाण की कोटि में लिया गया है।

2. मीमांसक प्रत्यक्ष ज्ञान को निर्विकल्प और सविकल्प मानते हैं, जो कि जैनदर्शन के साकार और अनाकार उपयोग के तुल्य हो सकता है।

3. मीमांसा दर्शन में प्रत्यक्ष के अतिरिक्त परोक्ष ज्ञान के रूप में पांच प्रमाण माने गये हैं - अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि। इनमें अंतिम प्रमाण अनुपलब्धि को केवल भट्टमीमांसक मानते हैं, प्रभारक नहीं।²⁸¹ जैनदर्शन में प्रमाण के दो प्रकार हैं - प्रत्यक्ष और परोक्ष। परोक्ष प्रमाण के अन्तर्गत स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क अनुमान एवं आगम ये पांच प्रमाण स्वीकृत हैं।

4. मीमांसा दर्शन में स्वतः प्रामाण्यवाद का मत स्वीकृत है। इनके अनुसार ज्ञान का प्रामाण्य (प्रामाणिकता) उस ज्ञान की उत्पादक सामग्री में ही विद्यमान रहता है, कहीं बाहर से नहीं आता

276. भारतीयदर्शन, पृ. 270

278. न्याकुमुदचन्द्र टि. पृ. 24-25

280. सांख्यकारिका, 64,68

277. सांख्यतत्त्व कौमुदी, पृ. 5

279. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 95

281. भारतीयदर्शन, पृ. 298

है। अतः ज्ञान उत्पन्न होते ही उसके प्रामाण्य का भी ज्ञान होता है।²⁸² जैनदर्शन में अभ्यास दशा में ज्ञान का स्वतः प्रामाण्य तथा अनभ्यास दशा में परतः प्रामाण्य माना गया है।

5. प्रभाकर मीमांसकों के अनुसार प्रत्येक पदार्थ के विषय के ज्ञान के लिए अंग उसमें विद्यमान रहते हैं – 1. ज्ञाता (जानने वाला) 2. ज्ञेय (जो विषय जाना जाता है) 3. ज्ञान (पदार्थ को जानना) जैसेकि ‘मैं (ज्ञाता) यह घड़ा (ज्ञेय) जानता हूँ (ज्ञान)’ इन तीनों का ज्ञान एक साथ होता है। इसे त्रिपुटी ज्ञान कहते हैं। जब कभी ज्ञान उत्पन्न होता है, तब वह ज्ञाता, ज्ञेय और स्वयं को प्रकट करता है। इसलिए ज्ञान, ज्ञाता और ज्ञेय का प्रकाशक होने के साथ-साथ स्वयं का भी प्रकाशक होता है। लेकिन भाट्ट मीमांसकों का मानना है कि ज्ञान स्वभावतः अपना विषय स्वयं नहीं हो सकता है अर्थात् ज्ञान का ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं होता। वह परोक्ष रूप से, ज्ञाता के आधार पर अनुमान के द्वारा प्राप्त होता है।²⁸³

6. मीमांसकों का ‘आलोचना ज्ञान’ या बौद्धों का ‘निर्विकल्प ज्ञान’ अकलंक के अनुसार अवग्रह से पूर्व होने वाले दर्शन के समान है।

7. भाट्टमीमांसक और अद्वैत वेदान्तियों ने प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान, अर्थापत्ति तथा अनुपलब्धि इन छह प्रमाणों को ज्ञान रूप में स्वीकार किया है।

8. मीमांसकों के अनुसार कोई भी मनुष्य सर्वज्ञ नहीं हो सकता है।

9. भाट्टमीमांसक दार्शनिकों के अनुसार ज्ञान स्वप्रकाश नहीं होता है, जबकि जैन दार्शनिकों के अनुसार ज्ञान स्व-पर प्रकाशक होता है।²⁸⁴

वेदान्त दर्शन

वेदान्त के अनुसार केवल ब्रह्म ही सर्वज्ञ हो सकता, कोई मनुष्य नहीं।

वैदिक मान्यतानुसार आत्मा की सहायता से मन ज्ञान प्राप्त करता है, लेकिन अतीन्द्रिय ज्ञान में मन की उपस्थिति उचित प्रतीत नहीं होती है। क्योंकि जैन परम्परा में अतीन्द्रिय ज्ञान को आत्म-सापेक्ष माना गया है।

वैदिक और बौद्ध परम्परा इन्द्रियजन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष स्वीकार करती हैं।²⁸⁵ जबकि जैनदर्शन में मति (इन्द्रियजन्य ज्ञान) और श्रुतज्ञान को परमार्थतः परोक्ष एवं अवधि आदि तीन ज्ञान परमार्थतः प्रत्यक्ष स्वीकृत हैं।

वैदिकदर्शन में तीन प्रकार के सत्य कहे गये हैं – प्रातिभासिक सत्य, व्यावहारिक सत्य और पारमार्थिक सत्य है। जैनपरम्परा का निश्चयनय शंकर का पारमार्थिक सत्य और व्यवहारनय व्यावहारिक सत्य है।²⁸⁶

282. भारतीयदर्शन, पृ. 306

283. भारतीयदर्शन, पृ. 313-314

284. षड्दर्शन समुच्चय, पृ. 403

285. प्रमाण मीमांसा, टिप्पण पृ. 127

286. जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन भाग 1, पृ. 31-32

समीक्षण

भारतीय दर्शन की पृष्ठभूमि अध्यात्मवाद पर अवलम्बित है। प्रायः सभी दर्शनों ने किसी न किसी रूप में जीव की मुक्त अवस्था को स्वीकार किया है। जीव के मुक्त होने में सबसे मुख्य उपाय ज्ञान है। जीव साकार (ज्ञान) उपयोग में ही मोक्ष को प्राप्त करता है। ज्ञान सहित क्रिया (चारित्र) से जीव अपने चरम लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है। भगवती सूत्र (शतक 2, उद्देशक 5) में ज्ञान का फल विज्ञान, विज्ञान का फल प्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान का संयम, इसी प्रकार अनास्रव, तप, निर्जरा, अक्रिया एवं अंतिम फल मोक्ष बताया है।

जैन दार्शनिकों ने ज्ञान को आत्मा का स्वाभाविक गुण माना है। ज्ञान और आत्मा का एक दूसरे की अपेक्षा से अस्तित्व सिद्ध है। यदि आत्मा से ज्ञान नष्ट हो जाए तो वह अजीववत् हो जाएगी एवं ज्ञान भी बिना आत्मा के नहीं रह सकता है। अतः ज्ञान आत्मा से कभी अलग नहीं होता है। बल्कि ज्ञान आत्मा का स्वरूप है। आत्मा नरक-निगोद अथवा मोक्ष किसी भी अवस्था में रहे उसमें ज्ञान की सत्ता अवश्य रहती है। भगवती सूत्र में भी ज्ञान को इहभविक, परभविक और तदुभय भविक बताया है। सम्यग्ज्ञान आत्मा के उत्थान में सहायक बनता है। ज्ञान ही विरक्ति (चारित्र) या मोक्ष का मातृ स्थान है।

किसी भी वस्तु को जानना ज्ञान कहलाता है। ज्ञान कर्ता, करण एवं कार्य तीनों है। जिस प्रकार दीपक स्वयं को जानता है, वैसे ही ज्ञान स्व-पर को जानता है। पर-संवेदन में 'यह पट है' तथा स्व-संवेदन में 'मैं इस पट को जान रहा हूँ' ये दोनों प्रत्येक ज्ञान के आवश्यक पक्ष हैं तथा अस्तित्व की दृष्टि से परस्पर सापेक्ष हैं। इनमें से एक का निषेध करने पर दूसरे का कथन भी संभव नहीं है। ज्ञान स्व-पर का प्रकाशक तत्तत् होता है।

ज्ञान से जिसे जाना जाता है, वह ज्ञान का ज्ञेय कहलाता है। जैनदर्शन के अनुसार न तो ज्ञेय से ज्ञान उत्पन्न होता है और न ज्ञेय ज्ञान से। हमारा ज्ञान ज्ञेय को जानता है, ज्ञेय से उत्पन्न नहीं होता है। ज्ञान आत्मा में गुण स्वरूप से सदा अवस्थित रहता है और पर्याय रूप से प्रतिसमय परिवर्तित होता रहता है। ज्ञान और ज्ञेय में विषय और विषयी भाव का सम्बन्ध घटित होता है।

ज्ञान को आवरित करने वाले कर्म को ज्ञानावरणीय कर्म कहते हैं। जिस प्रकार आँख पर कपड़े की पट्टी लपेटने से वस्तुओं के देखने में रुकावट हो जाती है उसी प्रकार ज्ञानावरणीय कर्म के प्रभाव से आत्मा को पदार्थों का ज्ञान करने में रुकावट पड़ जाती है। पं. कन्हैयालाल लोढ़ा ज्ञानावरण कर्म में मोहनीय कर्म को कारण मानते हैं।

उपयोग जीव का असाधारण लक्षण है। असाधारण लक्षण वह होता है जो उसके अलावा अन्य में नहीं पाया जाता हो। उपयोग दो प्रकार का होता है - साकार (ज्ञान) और अनाकार (दर्शन)। आत्मा का बोध रूप व्यापार जो वस्तु के सामान्य धर्म को गौण करके मुख्य रूप से वस्तु के विशेष धर्म को जानता है, वह साकार (ज्ञान) उपयोग है तथा आत्मा का वह बोधरूप व्यापार जो वस्तु के विशेष धर्म को गौण करके वस्तु के सामान्य धर्म को मुख्य रूप से जानता है, वह अनाकार (दर्शन) उपयोग है। पं. कन्हैयालाल लोढ़ा के अनुसार जहाँ सामान्य ग्रहण दर्शन कहा है वहाँ सामान्य शब्द का प्रयोग अविशेष अनुभूति के लिए हुआ है, जिसका दूसरा नाम संवेदन है।

ज्ञान और दर्शन में अन्तर - 1. ज्ञान में प्रमाणता होती है और दर्शन में प्रमाणता नहीं है। 2. ज्ञान विशेष ग्रहण करने वाला जबकि दर्शन सामान्य ग्रहण करने वाला होता है। 3. ज्ञान विद्यमान और अविद्यमान दोनों प्रकार के पदार्थों के सम्बन्ध में होता है जबकि दर्शन केवल विद्यमान पदार्थों के सम्बन्ध में ही होता है।

ज्ञान के पांच प्रकार हैं, यथा 1. आभिनिबोधिकज्ञान, 2. श्रुतज्ञान, 3. अवधिज्ञान, 4. मनःपर्यवज्ञान, 5. केवलज्ञान। तीन अज्ञान हैं - 1. मति अज्ञान, 2. श्रुत अज्ञान और विभंग ज्ञान। दर्शन के चक्षु, अचक्षु, अवधि और केवल दर्शन ये चार भेद होते हैं। वैसे तो दर्शन के ये ही चार भेद प्रसिद्ध हैं, परन्तु **स्थानांग सूत्र** स्थान 8 में दर्शन के आठ प्रकारों का भी उल्लेख है, यथा - सम्यग्-दर्शन, मिथ्या दर्शन, सममिथ्या दर्शन, यानी मिश्र दर्शन, चक्षु दर्शन, अचक्षु दर्शन, अवधि दर्शन, केवल दर्शन और स्वप्न दर्शन।

दर्शन में विकल्प का अभाव होने से वह मिथ्या नहीं होता है, जबकि ज्ञान विकल्प सहित होता है, इसलिए वह मिथ्या रूप भी होता है। मिथ्यात्व के कारण ही ज्ञान अज्ञान रूप होता है। अज्ञान में से मिथ्यात्व निकाल देने पर वही ज्ञान रूप में परिणत हो जाता है।

मिथ्यादृष्टि का ज्ञान सत्-असत् के विवेक से रहित होने से संसार का कारण होता है। इसलिए वह अज्ञान रूप है जबकि सम्यग्दृष्टि का ज्ञान सत्-असत् के विवेक सहित होने से मोक्ष का कारण होता है, इसलिए वह ज्ञान रूप में स्वीकार किया गया है।

प्राचीन आगम परम्परा में मति आदि पांच ज्ञानों का उल्लेख प्राप्त होता है। दार्शनिक परम्परा के आचार्यों ने मति आदि पांच ज्ञानों को प्रत्यक्ष और परोक्ष के रूप में विभाजित किया है, जिसमें प्रथम दो ज्ञान का परोक्ष और शेष तीन ज्ञानों का प्रत्यक्ष में ग्रहण किया है। इन्द्रिय और मन की सहायता से आत्मा को जो ज्ञान होता है, वह परोक्ष है तथा इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना आत्मा को जो ज्ञान होता है, वह प्रत्यक्ष है।

वैशेषिकदर्शन के अनुसार अक्ष का अर्थ इन्द्रिय है और इन्द्रियों से होने वाला ज्ञान ही प्रत्यक्ष है, शेष ज्ञान परोक्ष है। जिनभद्रगणि कहते हैं कि इन्द्रियों से उत्पन्न हुए ज्ञान की स्मृति आत्मा में इन्द्रियों के नष्टादि होने पर भी होती है। यदि इन्द्रियाँ ही ज्ञाता होती तो उन (इन्द्रियों) के नष्ट होने पर आत्मा को ज्ञान नहीं होना चाहिए, लेकिन होता है। अतः आत्मा ही जानती है, इन्द्रियाँ नहीं। इन्द्रिय ज्ञान को प्रत्यक्ष मानने में कोई दोष नहीं है। अकलंक ने इसका युक्तियुक्त समाधान किया है।

कालक्रम से प्रत्यक्ष प्रमाण के दो भेद किए हैं - १. सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष और २. पारमार्थिक प्रत्यक्ष। परोक्ष प्रमाण के पांच भेद किए गए हैं - 1. स्मृति, 2. प्रत्यभिज्ञान, 3. तर्क, 4. अनुमान और 5. आगम। सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष के दो भेद प्रतिपादित किए गये हैं - 1. इन्द्रिय प्रत्यक्ष और 2. अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष। पारमार्थिक प्रत्यक्ष के पुनः तीन भेद किए गए हैं - 1. अवधिज्ञान, 2. मनःपर्यवज्ञान और 3. केवलज्ञान। इस प्रकार जैनसाहित्य में पांच ज्ञान का विचार आगम शैली, तर्क शैली, दर्शन शैली से किया गया है।

मति आदि पांच ज्ञानों का जो क्रम रखा गया है, वह स्वामी, काल, विषय आदि के आधार से है। अन्त में केवलज्ञान को रखने कारण यह है कि केवलज्ञान में मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान

और मनःपर्यवज्ञान इन चारों ज्ञानों की सहायता की अपेक्षा नहीं रहती है। ये चारों ज्ञान क्षायोपशमिक हैं इसलिये इन चारों ज्ञानों के छूट जाने पर यह केवलज्ञान उत्पन्न होता है। कुछ लोगों की मान्यता है कि केवलज्ञान हो जाने पर मतिज्ञान आदि चारों ज्ञानों का केवलज्ञान में अन्तर्भाव (समावेश) हो जाता है किन्तु यह मान्यता आगम सम्मत नहीं है। क्योंकि केवलज्ञान क्षायिक भाव है और मतिज्ञान आदि चारों ज्ञान क्षायोपशमिक भाव में है। इसलिए क्षायोपशमिक भाव का क्षायिक भाव में समावेश नहीं होता है।

ज्ञान के मुख्य रूप से तीन साधन होते हैं - 1. इन्द्रिय, 2. मन और 3. आत्मा। इसमें से प्रथम दो परोक्ष ज्ञान के तथा आत्मा प्रत्यक्ष ज्ञान का मुख्य रूप से साधन होती है।

संसारी आत्मा को पहचानने का जो लिंग होता है, उसे इन्द्रिय कहते हैं। जैनदर्शन में इन्द्रियों को पौद्गलिक माना है, जिससे नैयायिकों के मत का खण्डन हो जाता है। इन्द्रियों के श्रोत्रेन्द्रियादि पांच भेद होते हैं। पुनः पांच इन्द्रियों को मुख्य रूप से दो भागों में विभाजित किया गया है - द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय। द्रव्येन्द्रिय दो प्रकार की होती है - निर्वृति और उपकरण। निर्वृति द्रव्येन्द्रिय के पुनः दो भेद होते हैं - ब्राह्मनिर्वृति (इन्द्रिय का संस्थान विशेष) और आभ्यन्तर (सभी जीवों में संस्थान समान होता है)। जो निर्वृति द्रव्येन्द्रिय में उपकारक हो वह उपकरणेन्द्रिय है।

भावेन्द्रिय के दो भेद होते हैं - लब्धि भावेन्द्रिय (सभी आत्मप्रदेशों पर आवरक कर्मों का क्षयोपशम होना) और उपयोग भावेन्द्रिय (विषय में प्रवृत्त होना)।

जीव के सभी आत्म-प्रदेशों पर इन्द्रिय ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम होते हुए भी स्थान विशेष से इन्द्रिय के विषय का ग्रहण होता है। जैसे चक्षु से ही रूप का ग्रहण होता है। द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय में आपस में कार्य और कारण भाव होता है।

न्याय-वैशेषिक दर्शन में चक्षु इन्द्रिय और मन को प्राप्यकारी स्वीकार किया गया है। अतः **जिनभद्रगणि** ने तर्क पूर्वक चक्षुइन्द्रिय और मन को अप्राप्यकारी सिद्ध किया है। क्योंकि यदि चक्षु और मन को प्राप्यकारी स्वीकार किया जाए तो जाने गये पदार्थ से उत्पन्न अनुग्रह (सुख) और उपघात (दुःख) का कारण भी उसी पदार्थ को मानना पड़ेगा। ऐसी स्थिति में पानी को देखने से आंखों में शीतलता का और अग्नि को देखने पर उष्णता का अनुभव होगा। इसी प्रकार मन में जल का चिन्तन करने पर आर्द्रता और अग्नि का चिन्तन करने पर दाह होना चाहिए, लेकिन ऐसा व्यवहार में नहीं होता है इसलिए यह दोनों अप्राप्यकारी हैं।

इन्द्रियां मतिज्ञान में सहायक होती हैं। अतः श्रोत्रेन्द्रियादि पांचों इन्द्रियाँ अपने-अपने विषय का ग्रहण करती हैं, लेकिन अपने-अपने विषय को भी भिन्न-भिन्न प्रकार से ग्रहण करती हैं। जैसेकि श्रोत्रेन्द्रिय शब्द का स्पर्श होने पर सुनती है, किन्तु चक्षुरिन्द्रिय तो रूप को बिना स्पर्श हुए ही देखती है तथा घ्राणेन्द्रिय गन्ध को, रसनेन्द्रिय रस को और स्पर्शनेन्द्रिय स्पर्श को, स्पृष्ट और बद्ध होने पर ही जानती है। इस अपेक्षा से चक्षु इन्द्रिय पटुतम, श्रोत्रेन्द्रिय पटुतर और शेष तीन इन्द्रियां पटु होती हैं। पांचों इन्द्रियों के जघन्य और उत्कृष्ट विषय का उल्लेख किया गया है।

इन्द्रियों का विषय आत्मांगुल से ही ग्रहण करना चाहिए। श्रोत्रेन्द्रिय का उत्कृष्ट विषय 12 योजन, चक्षुरिन्द्रिय का उत्कृष्ट विषय एक लाख योजन से अधिक तथा शेष घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय और स्पर्शनेन्द्रिय का उत्कृष्ट विषय नौ योजन का है। ये पांचों इन्द्रियां अपने-अपने उत्कृष्ट विषय

क्षेत्र से आये हुए गंध-रस और स्पर्श रूप अर्थ को ग्रहण करती हैं। इससे अधिक दूर से आये हुए शब्द और गंधादि विषय मंदपरिणाम वाले होने से इन्द्रियों के विषय नहीं बनते हैं।

श्रोत्रेन्द्रिय का विषय शब्द (भाषा) है। जो बोली जाती है, वह भाषा है, अथवा वक्ता जिसको शब्द रूप में छोड़े वह द्रव्य समूह भाषा है। जो व्यक्ति समश्रेणी में रहे हुए शब्द को सुनता है, तो वह मिश्र शब्द सुनता है अर्थात् जो श्रोता छहों दिशाओं में से किसी भी दिशा में, यदि वक्ता की समश्रेणी में रहा हुआ हो, तो वह जो शब्द सुनता है, वह मिश्रित सुनता है। भाषा का ग्रहण काययोग से होता है, उसका विसर्जन वचनयोग से होता है। कितने समय में भाषा पूरे लोक को पूरित करती है, इस सम्बन्ध में प्राप्त मतान्तरों को स्पष्ट किया गया है।

परोक्ष ज्ञान में इन्द्रिय के बाद मन का सहयोग भी अपेक्षित है। अतः परोक्ष ज्ञान का दूसरा मुख्य साधन मन है। सभी भारतीय दर्शनों ने मन के अस्तित्व को स्वीकार किया है। जिसके द्वारा पदार्थों का मनन किया जाता है, वह मन कहलाता है। मन दो प्रकार का होता है, द्रव्य मन (पौद्गलिक) और भाव मन (चेतनामय)। मनःपर्याप्ति नाम कर्म के उदय से जब मनोद्रव्य को ग्रहण करके मन रूप में परिणत किया जाता है, तो वह द्रव्य मन कहलाता है तथा मनोद्रव्य के आलम्बन से जीव के मन का व्यापार 'भाव मन' कहलाता है।

द्रव्यमन के बिना भावमन नहीं होता। किन्तु भाव मन के बिना द्रव्यमन हो सकता है। जैसे भवस्थ केवली के द्रव्यमन होता है, भावमन नहीं। भाव मन के अनुसार ही द्रव्य मन के परिणाम होते हैं, वैसे ही द्रव्यमन भावमन का आधार होता है। द्रव्यमन के बिना भावमन अपना कार्य नहीं कर सकता है। मनःपर्यवज्ञानी भी द्रव्यमन को ही जानते हैं। वैशेषिक मन को परमाणु रूप, सांख्यदर्शन अणुरूप तथा बौद्ध-जैन के अनुसार मन मध्यम परिमाणी है। जैनदर्शन के अनुसार भाव मन का स्थान आत्मा है, किन्तु द्रव्य मन के सम्बन्ध में एक मत नहीं है। दिगम्बर परम्परा द्रव्य मन को हृदय में मानती है, किन्तु श्वेताम्बर परम्परा के व्याख्या साहित्य के अनुसार द्रव्य मन का स्थान सम्पूर्ण शरीर है।

मन मात्र संज्ञी जीवों के होता है, संज्ञी जीव दीर्घकालिकोपदेशिकी संज्ञा, हेतुवादोपदेशिकी संज्ञा, दृष्टिवादोपदेशिकी संज्ञा की अपेक्षा तीन प्रकार के होते हैं, किन्तु यहां पर मन के जो अधिकारी हैं, वे दीर्घकालिकी संज्ञा की अपेक्षा से ही हैं, क्योंकि जिसके द्वारा अतीत की स्मृति और भविष्य की चिन्ता (कल्पना) की जाती है, वह दीर्घकालिकी संज्ञा है। आगमानुसार एकेन्द्रिय जीवों के भाव मन नहीं होता है।

इन्द्रियाँ केवल मूर्तद्रव्य की वर्तमान पर्याय को जानती हैं, मन मूर्त और अमूर्त त्रैकालिक अनेक रूपों को जानता है, क्योंकि मन का विषय प्रतिनियत नहीं है, वह दूर-निकट सर्वत्र प्रवृत्त होता रहता है।

मन प्रवृत्त होते ही अर्थ की उपलब्धि करता है, और अर्थ की उपलब्धि व्यंजनावग्रह में नहीं, अर्थावग्रह में प्रारंभ होती है, अतएव मन से व्यंजनावग्रह मानना योग्य नहीं। इसके सम्बन्ध में नंदी, षट्खण्डागम और तत्त्वार्थसूत्र की परम्परा के आचार्य एक मत हैं।

ज्ञान का अंतिम साधन आत्मा है। आत्मा प्रत्यक्ष ज्ञान का साधन है। आत्मा ज्ञाता (जानने) और द्रष्टा (देखने) होता है। आत्मा वर्ण गन्ध आदि से रहित होता है, आत्मा के छह गुण होते हैं

- ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, चेतनत्व, अमूर्तत्व। उपयोग आत्मा का लक्षण है। आत्मा की सिद्धि के लिए जैनाचार्यों ने अनेक हेतु दिए हैं, जैसेकि जीव के अस्तित्व की सिद्धि जीव शब्द से ही होती है, जीव है या नहीं, यह चिंतन मात्र ही जीव की सत्ता को सिद्ध करता है तथा शरीर में स्थित जो यह सोचता है कि मैं शरीर नहीं हूँ, वही जीव है। जैन दर्शन में आत्मा को प्रदेशों से युक्त माना है। यह शरीर प्रमाण होती है। इसमें संकोच विस्तार का गुण पाया जाता है। जैन दर्शन आत्मा को सर्वव्यापक तथा कूटस्थ नित्य नहीं मानता है। आत्मा उत्पाद, ध्रौव्य और व्यय गुण वाली होती है।

इसके बाद श्रुतज्ञान कैसे ग्रहण करना चाहिए, इसके ग्रहण की विधि क्या है, श्रुतज्ञान को ग्रहण करने वाले की योग्यता क्या है? इत्यादि का विस्तार से उल्लेख किया गया है।

जैनदर्शन में वर्णित ज्ञान के स्वरूप की अन्य दर्शनों के साथ तुलना करने पर ज्ञात होता है कि न्याय-वैशेषिक दार्शनिक ज्ञान को अस्वसंवेदी मानते हैं, जबकि जैन दर्शन में ज्ञान को स्वसंवेदी माना गया है। योगदर्शन में मान्य अतीत-अनागत ज्ञान और जैनदर्शन मान्य अवधिज्ञान आदि ज्ञान भूत भविष्य की बात जानते हैं। बौद्धदर्शन में भी ऐन्द्रियक और अतीन्द्रिय ज्ञान दर्शन के लिए जैनदर्शन के समान 'जाणइ' और 'पासइ' क्रिया का प्रयोग हुआ है। सांख्यदर्शन में प्रत्यक्ष के दो भेद किये हैं - निर्विकल्प और सविकल्प जो जैन दर्शन द्वारा मान्य अनाकार (दर्शन) और साकार (ज्ञान) के तुल्य है। भाट्टमीमांसक दार्शनिकों के अनुसार ज्ञान स्वप्रकाशक नहीं होता है, जबकि जैन दार्शनिकों के अनुसार ज्ञान स्व-पर प्रकाशक होता है।

ज्ञान के सम्बन्ध में कुछ विशिष्ट बिन्दु हैं -

1 पांचो ज्ञानों में एक श्रुतज्ञान ही वचन का विषय बनता है। जो अनुभूति होती है, वह मतिज्ञान है। मतिज्ञान का कुछ हिस्सा श्रुत बनकर वचन का विषय बन जाता है। शेष जो वचन का विषय नहीं बनता है, उसे वचन अगोचर कहा जाता है।

2. उत्तराध्ययन सूत्र में पहले श्रुतज्ञान और बाद में मतिज्ञान का जबकि नन्दी में पहले मतिज्ञान और बाद में श्रुतज्ञान का उल्लेख है। नन्दी आदि में जो पहले मतिज्ञान को बताया है, वही क्रम आगमकारों को इष्ट है तथा उत्तराध्ययनसूत्र अध्ययन 28 में पहले श्रुतज्ञान का उल्लेख हुआ है वह गाथा छन्द की पूर्ति के कारण किया हो, ऐसा प्रतीत होता है।

3. ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम के कारण आत्मा में उत्पन्न ज्ञानलब्धि की अपेक्षा ही एक जीव में एक समय में, एक से अधिक ज्ञान पाये जाते हैं। परन्तु उपयोग की अपेक्षा से एक जीव में एक समय में एक से अधिक ज्ञान का या दर्शन का उपयोग नहीं पाया जाता है।

4. पांचों इन्द्रियों के सामान्य ज्ञान को दर्शन कहते हैं। इस सामान्य ज्ञान को मति-श्रुत के समान एक साथ ग्रहण नहीं करके चक्षुदर्शन और अचक्षुदर्शन में विभक्त किया गया है, क्योंकि लोक में देखने का व्यवहार नेत्रों द्वारा ही होता है, शेष इन्द्रियों द्वारा नहीं। अतः आँख से होने वाले सामान्य बोध को 'चक्षुदर्शन' तथा शेष चार इन्द्रियों और मन के द्वारा देखने की क्रिया नहीं होने से उन सब का एक अचक्षुदर्शन में ग्रहण कर लिया है।

5. छद्मस्थ का ज्ञान दर्शन पूर्वक ही होता है, यह एकान्त नहीं है। मति तो दर्शन पूर्वक ही होता है, मति के बाद जो श्रुत होता है उसके लिए दर्शन का होना आवश्यक नहीं है। सामान्यतया अविधदर्शन पूर्वक ही अवधिज्ञान होता है, किन्तु एक ज्ञान से सीधा दूसरे ज्ञान में चला जाये ऐसा भी हो सकता है। जैसे श्रुतज्ञान से सीधा अवधिज्ञान में चला जाये। अतः निश्चित कुछ नहीं कह सकते हैं। विभंगज्ञान में उपयोग था। फिर सम्यक्त्व प्राप्त हुई तो विभंगज्ञान, अविधज्ञान में परिवर्तित हो गया। उस समय दर्शन नहीं भी हो, ऐसा समझा जाता है। मनःपर्यवज्ञान के पहले दर्शन नहीं होता है। इसलिये किसी भी ज्ञान के बाद तुरन्त मनःपर्यव होने में बाधा नहीं है। अतः छद्मस्थों का ज्ञान दर्शन पूर्वक ही हो ऐसा नहीं है।

6. ज्ञान का विषय त्रैकालिक होता है। किसी को शंका हो सकती है कि ज्ञान तीनों काल की पर्यायों को कैसे से जानता है, तो इसका समाधान प्रवचनसार के टीकाकार ने निम्न प्रकार से किया है -

(अ) छद्मस्थ जैसे वर्तमान वस्तु का चिंतन करते हुए ज्ञेयाकार का अवलम्बन लेकर जानता है, उसी प्रकार भूत और भविष्यत् वस्तु का चिंतन करते हुए भी ज्ञेयाकार का अवलम्बन लेकर जानता है।

(ब) ज्ञान चित्रपट के समान है। जैसे चित्रपट में अतीत अनागत और वर्तमान वस्तुओं का साक्षात् एक क्षण में ही भास होता है, उसी प्रकार ज्ञान रूपी भित्ति में भी अतीत, अनागत और वर्तमान पर्यायों के ज्ञेयाकार साक्षात् एक क्षण में ही भासित होते हैं।

(स) सर्व ज्ञेयाकारों की तात्कालिकता अविरोद्ध है। जैसे चित्रपट में नष्ट व अनुत्पन्न वस्तुओं के चित्र वर्तमान रूप ही हैं, इसी प्रकार ज्ञान में अतीत और अनागत पर्यायों के ज्ञेयाकार वर्तमान रूप ही हैं।²⁸⁷



तृतीय अध्याय

विशेषावश्यकभाष्य में मतिज्ञान

पूर्व अध्याय में ज्ञान के सम्बन्ध में सामान्य उल्लेख किया गया है। प्रस्तुत अध्याय में ज्ञान के पांच भेदों में प्रथम भेद मतिज्ञान का विशिष्ट वर्णन किया जा रहा है। जो ज्ञान जीव को इन्द्रिय एवं मन अथवा मात्र इन्द्रिय की सहायता से होता है, वह मतिज्ञान कहलाता है। बुद्धि से होने वाला ज्ञान भी मतिज्ञान कहलाता है। पूर्वजन्म का ज्ञान भी मतिज्ञान के अन्तर्गत ही समाविष्ट होता है। मतिज्ञान का विवेचन जैन आगम एवं व्याख्या ग्रंथों में विस्तार से प्राप्त होता है, उसी की समीक्षात्मक प्रस्तुति यहाँ की जा रही है।

मतिज्ञान का स्वरूप

अनुयोगद्वार सूत्र में मतिज्ञान के लिए 'आभिनिबोधिक' शब्द का प्रयोग किया गया है।

आभिनिबोधिकज्ञान में 'आभिनिबोधिक' शब्द इन्द्रिय और मन से उत्पन्न होने वाले विशिष्ट ज्ञान का तथा 'ज्ञान' शब्द सामान्य ज्ञान का बोधक है।

मति शब्द को आभिनिबोधिक का पर्याय समझना चाहिए। आभिनिबोधिक ज्ञान को ही औत्पत्तिकी मति आदि की प्रधानता के कारण मति (ज्ञान) भी कहा जाता है।¹

श्वेताम्बराचार्यों के अनुसार मतिज्ञान की परिभाषा

तत्त्वार्थसूत्र में उमास्वाति (तृतीय शती) ने कहा है कि जिस ज्ञान में इन्द्रिय और मन की सहायता की अपेक्षा रहती है, वह मतिज्ञान है² अथवा इन्द्रिय तथा मन के निमित्त से शब्द, रस, स्पर्श, रूप और गन्धादि विषयों में अवग्रह, ईहा, अवाय तथा धारणा रूप से जो ज्ञान होता है, वह मति ज्ञान है।³

जिनभद्रगणि (सप्तम शती) ने विशेषावश्यकभाष्य में उल्लेख किया है कि अर्थाभिमुख होते हुए जो नियत अर्थ ज्ञान है, वह आभिनिबोध है। वही आभिनिबोधिक ज्ञान है। बोध का अर्थ ज्ञान, अर्थ का मतलब है जो प्राप्त किया जाय अर्थात् जाना जाए। अभि उपसर्ग का उपयोग सामर्थ्य अर्थ में हुआ है। निबोध में नि उपसर्ग निश्चयात्मक अर्थात् अर्थ-बल से उत्पन्न होने के कारण बिना किसी व्यवधान के उत्पन्न होने वाला निश्चयात्मक ज्ञान।⁴

बृहत्कल्पभाष्य के अनुसार - प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष विषय की तर्कणा कर जो निश्चयपूर्वक जानता है, वह ज्ञान अर्थ के प्रति अभिमुख होने के कारण आभिनिबोधिक ज्ञान है।⁵

जिनदासगणि (सप्तम शती) ने नंदीचूर्णि में कहा है कि अर्थ (इन्द्रिय विषय) की अभिमुखता और नियत बोध वह आभिनिबोध है, इससे होने वाला ज्ञान आभिनिबोधिकज्ञान है।⁶

आवश्यकचूर्णि के अनुसार - जो अभिमुख अर्थ को जानता है, विपरीत अर्थ को नहीं जानता, वह आभिनिबोधिक है। अभिमुख अर्थ का आशय है - सामने दिखाई देने वाले पदार्थ का सही बोध

1. मलधारी हेमचन्द्र गाथा 85 की टीका

2. तदिन्द्रियोऽनिन्द्रियनिमित्तम् - तत्त्वार्थसूत्र 1.14,

3. अवग्रहेहावायधारणाः। - तत्त्वार्थसूत्र 1.15

4. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 80

5. बृहत्कल्पभाष्य, गाथा 39

6. अर्थाभिमुखो णियतो बोधो आभिनिबोधः, स एव स्वार्थिकप्रत्ययोपादानादाभिनिबोधिकम्। - नंदीचूर्णि पृ. 20

होना। इसको दृष्टांत द्वारा समझाया है, जैसे सामने स्थित स्थाणु को स्थाणु जानना, उसे पुरुष नहीं जानना। यथा रात्रि के मंद प्रकाश के कारण पुरुष के आकार का स्थाणु देखकर व्यक्ति सोचता है कि यह पुरुष है अथवा स्थाणु? वल्लियों से परिवेष्टित अथवा पक्षियों से युक्त उस स्थाणु को देखकर यह ज्ञात होता है कि यह स्थाणु है।⁷

मलधारी हेमचन्द्र (द्वादश शती) ने बृहद्वृत्ति में मतिज्ञान को निम्न प्रकार से परिभाषित किया है - 'अभि' का अर्थ है-अभिमुख, 'नि' का अर्थ है-नियत और 'बोध' का अर्थ है-जानना। अतएव द्रव्य इन्द्रिय और द्रव्य मन के कारण द्रव्य इन्द्रियाँ और द्रव्य मन ग्रहण कर सके, ऐसे योग्य क्षेत्र में रहे हुए रूपी या अरूपी द्रव्यों को आत्मा नियत रूप से जिस ज्ञान-उपयोग परिणाम विशेष से जानती है, उसे 'आभिनिबोधिक ज्ञान' कहते हैं।⁸

नंदीवृत्ति में **मलयगिरि** (त्रयोदश शती) ने अर्थ किया है कि आभिनिबोधिक ज्ञान अभिनिबोधावरण कर्म (मतिज्ञानावरण कर्म) के क्षयोपशम से निष्पन्न है। यह इन्द्रिय और मन के निमित्त से होने वाला तथा उचित क्षेत्र में अवस्थित वस्तु को ग्रहण करने वाला स्पष्ट अवबोध है।⁹

यशोविजय (अष्टादश शती) के मतानुसार - जो ज्ञान इन्द्रिय और मन के निमित्त से ही होता है, किन्तु श्रुत का अनुसरण नहीं करता है, तो वह मतिज्ञान कहलाता है।¹⁰

दिगम्बराचार्यों के अनुसार मतिज्ञान की परिभाषा

आचार्य गुणधरानुसार (द्वितीय-तृतीय शती) - इन्द्रिय और मन के निमित्त से शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्धादिक विषयों में अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा रूप जो ज्ञान होता है, वह मतिज्ञान है, क्योंकि इन्द्रिय और पदार्थ के सन्निकर्ष के अनन्तर उसकी उत्पत्ति होती है।¹¹

पूज्यपाद (पंचम-षष्ठ शती) के अनुसार - 1. इन्द्रिय और मन के सहयोग से यथायोग्य पदार्थ जिसके द्वारा मनन किये जाते हैं, जो मनन करता है या मननमात्र मतिज्ञान कहलाता है।¹² **योगीन्द्रदेव** की तत्त्वार्थवृत्ति में यही परिभाषा मिलती है।¹³

2. जो ज्ञान इन्द्रिय और मन के निमित्त से होता है, वह मतिज्ञान है।¹⁴ **अमृतचन्द्रसूरि** ने भी यही परिभाषा दी है।¹⁵

अकलंक (अष्टम शती) के कथनानुसार - मतिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से इन्द्रिय और मन की सहायता से पदार्थों को जानना मति है। कर्ता अर्थ में मति शब्द 'मनुतेऽर्थान्' पदार्थों को जाने वह मति है। करण अर्थ में मति 'मन्यतेऽनेनेति मतिः' जिसके द्वारा पदार्थ जाने जायें वह मति है।¹⁶

7. आवश्यक चूर्ण 1 पृ. 7-8

8. मलधारी हेमचन्द्र, विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 80 की टीका, पृ. 45

9. मलयगिरि, नंदीवृत्ति, पृ. 65

10. तत्रेन्द्रियमनोनिमित्तं श्रुतानुसारि ज्ञानं मतिज्ञानम्। - जैन तर्कभाषा, पृ. 6

11. इंदिय णोइंदिएहि सद-परिस-रूव-रस-गंधादि विसएसु ओगगह-ईहावाय-धारणओ मदिणाणं, इंदियट्ठसण्णिकरिस समणंतरमुप्पण्णत्तादो। - कसायपाहुड (जयधवल/महाधवल) प्रथम भाग, पृ. 38

12. इन्द्रियैर्मनसा च यथा स्वमर्थी मन्यते अनया मनुते मननमात्रं वा मतिः। - सर्वार्थसिद्धि, 1.9, पृ. 67

13. मतिज्ञानावरणक्षयोपशमे सति पंचभिरिन्द्रियैर्मनसा च यथास्वमर्थान्यन्यते मनुते वा पुरुषो मया सा मतिः। मननमात्रं वा मतिः।

- तत्त्वार्थवृत्ति सूत्र 1.9, पृ. 29

14. तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम्। सर्वार्थसिद्धि, 1.14, पृ. 77

15. तत्त्वार्थसार, श्री गणेशप्रसाद वर्णी ग्रन्थमाला, वाराणसी-5, प्रथम अधिकार, गाथा 20 पृ. 7

16. तदावरणकर्मक्षयोपशमे सति इन्द्रियानिन्द्रियापेक्षमर्थस्य मननं मति औदासीन्येन तत्त्वकथनात्। बहुलापेक्षया कर्तृसाधनः करणसाधनो वा, 'मनुतेऽर्थान् मन्यतेऽनेन' इति वा मतिः। - तत्त्वार्थराजतार्किक, 1.9.1 पृ. 32

पंचसंग्रहकार के अनुसार - अनिन्द्रिय अर्थात् मन और इन्द्रियों की सहायता से उत्पन्न होने वाले, अभिमुख और नियमित पदार्थ के बोध को आभिनिबोधिक ज्ञान कहते हैं।¹⁷

मति अज्ञान - परोपदेश के बिना जो विषय, यन्त्र, कूट, पंजर तथा बन्ध आदि के विषय में बुद्धि प्रवृत्त होती है, उसे मति अज्ञान कहते हैं।¹⁸

वीरसेनाचार्य (नवम शती) के अनुसार - अभिमुख तथा नियमित अर्थ के बोध को आभिनिबोधि कहा जाता है। स्थूल, वर्तमान तथा अनन्तरित अर्थात् व्यवधान रहित अर्थ 'अभिमुख' तथा 'इस इन्द्रिय का यही विषय है' इस प्रकार के नियम से युक्त अर्थ 'नियमित' है। चक्षुरिन्द्रिय के रूप, श्रोत्रेन्द्रिय में शब्द, जिह्वेन्द्रिय में रस, स्पर्शनेन्द्रिय में स्पर्श तथा मन के दुष्ट, श्रुत तथा अनुभूत अर्थ नियमित है। इस प्रकार अभिमुख तथा नियत अर्थ में होने वाला बोध ही आभिनिबोधिक ज्ञान है,¹⁹ ऐसा ही उल्लेख धवला पु. 13 में भी प्राप्त होता है।²⁰

नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती (एकादश शती) के कथनानुसार - 1. स्थूल, वर्तमान और योग्यदेश में स्थित अर्थ को अभिमुख कहते हैं। इस इन्द्रिय का यही विषय है, इस अवधारणा को नियमित कहते हैं। अभिमुख और नियमित को अभिमुख नियमित कहते हैं। उस अर्थ के बोधन अर्थात् ज्ञान को मतिज्ञान कहते हैं।²¹

2. मतिज्ञान के आवरण के क्षयोपशम से तथा वीर्यान्तराय के क्षयोपशम से और बहिरंग पांच इन्द्रिय तथा मन के अवलम्बन से मूर्त और अमूर्तवस्तु को एक देश से विकल्पाकार परोक्ष रूप से अथवा सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष रूप से जो जानता है, वह क्षायोपशमिक मतिज्ञान है।²²

अभयचन्द्रसिद्धान्त चक्रवर्ती के अनुसार - पांच इन्द्रियों तथा मन की सहायता से होने वाला मननरूप ज्ञान मतिज्ञान है।²³

मतिज्ञान के पर्यायवाची

जैन आगम एवं व्याख्या ग्रंथों में मतिज्ञान के लिए समय-समय पर विभिन्न शब्दों का प्रयोग हुआ है, जिसे हम मुख रूप से तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं - 1. आवश्यकनिर्युक्ति, नंदीसूत्र और विशेषावश्यकभाष्य, 2. षट्खण्डागम और 3. तत्त्वार्थसूत्र।

1. **आवश्यकनिर्युक्ति**²⁴ आदि में 1. ईहा, 2 अपोह (अवाय), 3. विमर्श, 4. मार्गणा, 5. गवेषणा, 6. संज्ञा, 7. स्मृति, 8. मति, 9. प्रज्ञा - ये सभी सामान्यतया आभिनिबोधिक ज्ञान के नाम हैं। जो गाथा आवश्यकनिर्युक्ति में प्राप्त होती है, वही गाथा नंदीसूत्र और विशेषावश्यकभाष्य में भी प्राप्त होती है।

ईहा अपोह वीमंसा, मगगणा य गवेसणा।

सण्णा सई मई पण्णा, सव्वं आभिणिबोहियं॥

17. अहिमुहणियमियबोहणमाभिणिबोहियमणिदि-इंदियजं। - पंचसंग्रह, गाथा 121, पृ. 26

18. विस-जंत-कूड-पंजर-बंधादिसु अणुवदेसकरणेण। जा खलु पवत्तई मई णइअण्णाण त्ति णं विति।

-पंचसंग्रह, गाथा 118, पृ. 25

19. षट्खण्डागम (धवला), पु. 6, सूत्र 1.9.1.14, पृ. 15

20. तत्थ अहिमुह-णियमिदत्थस्य बोहणमाभिणिबोहियं णाम णाणं। षट्खण्डागम (धवला) पु. 13 सूत्र 5.5.21 पृ. 209

21. अहिमुहणियमियबोहणमाभिणिबोहियमणिदिइंजयं। गोम्मटसार (जीवकांड), भाग 2, गाथा 306

22. आचार्य नेमिचन्द्र कृत 'बृहत् द्रव्यसंग्रह' गाथा 5 की टीका पृ. 12-13

23. तत्र पंचभिरिन्द्रियैर्मनसा च मननं ज्ञानं मतिज्ञानं। - अभयचन्द्रसिद्धान्त चक्रवर्तीकृत, कर्मप्रकृति, पृ. 16

24. आवश्यकनिर्युक्ति गाथा 12, नंदीसूत्र गाथा 71 पृ. 144, विशेषावश्यकभाष्य गाथा 396

स्मृति, संज्ञा और आभिनिबोधक आदि कुछ शब्द आगमिक परम्परा में मति के पर्यायवाची के रूप में स्थिर हो गये और तार्किक परम्परा में उन्हीं भेदों का परोक्ष ज्ञान में समावेश कर लिया गया है। जैसेकि स्मृति को धारणा के बाद होने वाले ज्ञान के रूप में, संज्ञा को प्रत्यभिज्ञान के रूप में, चिन्ता, तर्क और ऊहा को तर्कज्ञान इत्यादि के रूप में। शेष ईहा, विमर्श, मार्गणा, गवेषणा और संज्ञा इन सभी का ईहा में अंतर्भाव होता है।

2. षट्खण्डागम²⁵ में मति, स्मृति, संज्ञा और चिन्ता इन चार शब्दों का प्रयोग हुआ है।

3. तत्त्वार्थसूत्र²⁶ में मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और आभिनिबोधक इन पांच शब्दों का प्रयोग हुआ है। साथ ही नंदीसूत्र, षट्खण्डागम और तत्त्वार्थभाष्य में अवग्रह ईहा आदि भेदों के लिए भी विभिन्न शब्दों का प्रयोग हुआ है, जिनका उल्लेख अवग्रहादि के वर्णन में किया गया है।

उपर्युक्त प्रयुक्त पर्यायवाची नामों में मति, प्रज्ञा, आभिनिबोधक और बुद्धि ये वचनपर्याय²⁷ हैं तथा शेष अवग्रहादि अर्थपर्याय²⁸ हैं। अतः सभी अर्थपर्याय और वचनपर्याय सामान्य से आभिनिबोधक ज्ञान ही हैं। अथवा वस्तु का कथन करने वाले शब्द वचनपर्याय और उस शब्द के अभिधेय अर्थ के भेद अर्थपर्याय रूप हैं। जैसे कि सोने के कंगन, बाजूबंद आदि भेद अर्थपर्याय हैं। इस व्याख्या से मति, प्रज्ञा, अवग्रह, ईहा आदि सभी शब्द मतिज्ञान की वचनपर्याय रूप हैं और इन शब्दों से मतिज्ञान के कहने योग्य भेद अर्थपर्याय हैं। इसमें भी मति-प्रज्ञा आदि शब्द सम्पूर्ण मतिज्ञान के वाची हैं और अवग्रह, ईहा आदि शब्द मतिज्ञान के एकदेशवाची हैं, ऐसा कहा गया है। लेकिन ये भी सम्पूर्ण मतिज्ञान वाची हैं, इसको निम्न प्रकार से सिद्ध किया है।

अवग्रहादि शब्द अर्थ विशेष की अपेक्षा से भिन्न हैं, क्योंकि अवग्रहादि अपने लक्षण के अनुसार अर्थ का ग्रहण करते हैं, जैसे सामान्य ग्रहण से अवग्रह, चेष्टा रूप अर्थ से ईहा, निश्चयरूप अर्थ से अवाय और धारण करने रूप अर्थ से धारणा, इस प्रकार ग्रहण करने रूप अर्थविशेष की अपेक्षा से ही अवग्रहादि शब्द भिन्न हैं, वास्तव में तो ये आभिनिबोधक ज्ञान रूप ही हैं। अवग्रहादि अर्थविशेष की अपेक्षा से ही भिन्न-भिन्न हैं। क्योंकि सामान्य ग्रहण-विचारणा-निश्चय और धारण करना यह सामान्य स्वरूप है। यह सभी में अनुक्रम से होता है, अवग्रहादि शब्दों का प्रयोग किया जाता है। क्योंकि अवग्रह में जिस सामान्य का ग्रहण होता है, वह ईहा रूप नहीं है, परन्तु उससे विशेष-विशेष अर्थ ग्रहण से अनुक्रम से ईहादि होते हैं। जो विशेष अर्थ ईहा में होता है, वह अवग्रह में नहीं होता है, इसी प्रकार आगे भी समझ लेना चाहिए। इसलिए ईहा अवग्रह रूप नहीं है, इत्यादि। अतः अर्थपर्याय और वचन पर्याय की दोनों व्याख्याओं में दूसरी व्याख्या तो वृद्ध सम्मत है और प्रथम व्याख्या युक्ति संगत है। इसलिए ये दोनों व्याख्याएं निर्दोष हैं।²⁹ मतिज्ञान के भेदों का अर्थपर्याय और वचनपर्याय से कथन करना जिनभद्रगणि का वैशिष्ट्य है।

अवग्रहादि शब्दों से सम्पूर्ण मतिज्ञान का ग्रहण

जिनभद्रगणि कहते हैं कि ग्रहण करना अवग्रह है, इस व्युत्पत्ति से अवग्रह, ईहा आदि भेद वाला सम्पूर्ण मतिज्ञान अवग्रह रूप ही है, क्योंकि अवग्रह का तात्पर्य अर्थ को ग्रहण करना है, वैसे ही ईहा, अवाय और धारणा भी किसी न किसी अर्थ को ग्रहण करते ही हैं, इसलिए ये सब सामान्य

25. षट्खण्डागम, पु. 13, सूत्र 5.5.41

26. तत्त्वार्थसूत्र 1.13

27. जो शब्द वस्तु का सम्पूर्ण प्रकार से प्रतिपादन करता है, वह शब्द वस्तु की वचन पर्याय कहलाता है।

28. जो शब्द वस्तु का एकदेश से प्रतिपादन करता है, वह शब्द वस्तु की अर्थपर्याय कहलाता है।

29. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 396-399 की टीका

रूप से अवग्रह ही हैं। मति की चेष्टा (व्यापार) ईहा है, चेष्टा करना इस व्युत्पत्ति से सम्पूर्ण मतिज्ञान मति के व्यापार रूप ही है, अतः सभी सामान्य रूप से ईहा रूप ही है, क्योंकि अवग्रह, अपाय और धारणा भी सामान्य से मति के व्यापार (चेष्टा) रूप ही है। जो निश्चय होता है, वह अपाय या अवाय है। इस व्युत्पत्ति से सम्पूर्ण मतिज्ञान अर्थ निश्चय रूप है, क्योंकि अवग्रह, ईहा और धारणा में भी सामान्य रूप से अर्थ का निश्चय होता ही है। धारण करना धारणा है, इस व्युत्पत्ति से सम्पूर्ण मतिज्ञान अर्थ को धारण करने रूप होने से धारणा रूप ही है, क्योंकि अवग्रह, ईहा और अपाय में भी सामान्य रूप से अर्थधारण होता ही है। इस प्रकार अवग्रहादि शब्दों से सम्पूर्ण मतिज्ञान का ग्रहण होता है।³⁰ यह उल्लेख जिनभद्रगणि के वैशिष्ट्य को दर्शाता है।

पर्यायवाची शब्दों का स्वरूप

विशेषावश्यकभाष्य की गाथा 396 में मतिज्ञान के दिये गये पर्यायवाची शब्दों का अर्थ टीकाकार मलधारी हेमचन्द्र और अन्य आचार्यों ने निम्न प्रकार से किया है। -

1. **ईहा** - अन्वय और व्यतिरेक धर्म की समालोचना अर्थात् यथार्थ पर्यालोचना को 'ईहा' कहते हैं। यह मतिज्ञान का दूसरा भेद है।

2. **अपोह** - निश्चय को 'अपोह' कहते हैं। यह मतिज्ञान के तीसरे भेद अवाय का पर्यायवाची शब्द है।

3. **विमर्श** - विमर्श का प्राकृत शब्द 'वीमंसा' होता है। सूत्रकृतांग में विचारपरक अर्थ (मीमांसा) में इसका प्रयोग हुआ है।³¹ सर्वप्रथम आवश्यकनिर्युक्ति में विमर्श का सम्बन्ध मतिज्ञान के साथ किया गया है।³² नंदीसूत्र में इसका प्रयोग ईहा के पर्यायवाची के रूप में हुआ है।³³ जिनदासगणि के अनुसार 'नित्यत्व-अनित्यत्व विशिष्ट द्रव्यभाव से अर्थ का आलोचन विमर्श है।' हरिभद्र और मलयगिरि के मतानुसार 'व्यतिरेक धर्म का त्यागपूर्वक अन्वयधर्म का आलोचन विमर्श है।'³⁴ मलधारी हेमचन्द्र के अनुसार सत्पदार्थ में पाये जाने वाले धर्म के स्पष्ट विचार को 'विमर्श' कहते हैं। विमर्श ईहा और अवाय के बीच की अवस्था है। जैसे सिर को खुजालते हुए देखकर यह ज्ञान होता है कि खुजलाना पुरुष में घटित होता है, स्तंभ में नहीं। न्याय दर्शन का विमर्श जैनसंमत विमर्श से भिन्न है, क्योंकि वहाँ संशय के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, जबकि जैनाचार्य ईहा ज्ञान को संशय से भिन्न स्वीकार करते हैं।³⁵

4. **मार्गणा** - मलधारी हेमचन्द्र के अनुसार सत्पदार्थ में पाये जाने वाले (अन्वय) धर्मों की खोज 'मार्गणा' हैं। भगवती सूत्र³⁶ में मार्गणा शब्द प्रयुक्त हुआ है। सर्वप्रथम इस शब्द का प्रयोग मतिज्ञान के लिए आवश्यकनिर्युक्ति³⁷ में हुआ है। नंदी और षट्खण्डागम के काल में इसका प्रयोग ईहा के पर्यायवाची के रूप में हुआ है।³⁸ नंदीसूत्र की टीका में मार्गणा का अर्थ 'अन्वय और व्यतिरेक धर्म की खोज' किया गया है।³⁹ धवलाटीका में मार्गणा का अर्थ नंदीवृत्ति के समान ही प्राप्त होता है।⁴⁰

30. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 400-401 की टीका

31. सूत्रकृतांगसूत्र 1.1.2.17

32. आवश्यकनिर्युक्ति गाथा 12

33. नंदीसूत्र, पृ. 131

34. नंदीचूर्ण पृ. 68, हारिभद्रीय वृत्ति पृ. 69, मलयगिरि वृत्ति पृ. 176

35. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 181-183, न्यायदर्शन 1.1.13

36. ईहापोहमगगणवेसणं करमाणस्स विब्भंगे नामं अण्णाणे समुप्पन्ने। - भगवतीसूत्र श. 11. उ. 9 पृ. 41

37. आवश्यकनिर्युक्ति गाथा 12 विशेषावश्यकभाष्य गाथा 396

38. नंदीसूत्र, पृ. 131, षट्खण्डागम पु. 13, सू. 5.5.38

39. नंदीचूर्ण पृ. 68, हारिभद्रीय पृ. 69, मलयगिरि पृ. 176

40. षट्खण्डागम, पु. 13, सू. 5.5.38 पृ.242

5. गवेषणा – मलधारी हेमचन्द्र के अनुसार सत्पदार्थ में नहीं पाये जाने वाले (व्यतिरेक) धर्मों की विचारणा को ‘गवेषणा’ कहते हैं। उत्तराध्ययनसूत्र और सूत्रकृतांग में गवेषणा शब्द का प्रयोग मिलता है।⁴¹ आवश्यकनिर्युक्ति⁴² में सर्वप्रथम इसका प्रयोग मतिज्ञान के लिए हुआ है। नंदी और षट्खण्डागम में इसका प्रयोग ईहा के पर्यायवाची के रूप में हुआ है।⁴³ नंदीसूत्र की टीका में गवेषणा का अर्थ ‘व्यतिरेक धर्म का त्याग और उसके ही अन्वय धर्म की आलोचना’ किया गया है।⁴⁴ धवलाटीका में गवेषणा का अर्थ स्पष्ट नहीं किया है।⁴⁵

6. संज्ञा – पदार्थ को अव्यक्त रूप में जानना संज्ञा है। द्रव्य इंद्रिय आदि की सहायता के बिना होने वाले क्षुधा वेदन आदि को भी ‘संज्ञा’ कहते हैं। यह मतिज्ञान के पहले भेद अवग्रह का पर्यायवाची है।

आगम काल में भगवतीसूत्र⁴⁶ में दृष्टि, दर्शन, ज्ञान, शरीर, योग और उपयोग के साथ तथा सूत्रकृतांग में तर्क, प्रज्ञा, मन, और वाक् के साथ भी संज्ञा शब्द प्रयुक्त हुआ है।⁴⁷ बौद्ध दर्शन में यह वेदना, चेतना आदि शब्दों के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।⁴⁸ जैन दर्शन में इसके दो अर्थ मिलते हैं – 1. ज्ञान⁴⁹ अथवा समझ⁵⁰ और 2. आहारादि दस संज्ञा।⁵¹ बौद्ध दर्शन में यह ज्ञान और निमित्तोदग्रहण इन दो अर्थों में प्रयुक्त हुआ है।⁵²

मतिज्ञान के अर्थ में इसका प्रयोग सर्वप्रथम आवश्यकनिर्युक्ति में हुआ है,⁵³ जिसका उल्लेख नंदीसूत्र, षट्खण्डागम, तत्त्वार्थसूत्र, पूज्यपाद, जिनभद्रगणि, अकलंक, मलयगिरि आदि आचार्यों ने भी किया है।⁵⁴ संज्ञा के आधार पर भी जीवों को संज्ञी और असंज्ञी में विभाजित किया जाता है। नंदीसूत्र में संज्ञी-असंज्ञी के अर्थ में तीन संज्ञाओं का प्रयोग हुआ है।⁵⁵ जिनभद्रगणि ने इसका प्रयोग ईहा और मनोविज्ञान इन दो अर्थों में किया है।⁵⁶ हरिभद्र, मलधारी हेमचन्द्र और मलयगिरि के अनुसार व्यंजनावग्रह के उत्तर काल में होने वाली मति संज्ञा है।⁵⁷

उमास्वाति ने संज्ञा का अर्थ सम्प्रधारणसंज्ञा किया है।⁵⁸ पूज्यपाद और अकलंक ने ‘संज्ञा’ शब्द को आहारादि संज्ञा, समनस्कता, हिताहित का त्याग और ग्रहण तथा ज्ञान अर्थ में प्रयुक्त किया है।⁵⁹ साथ ही अकलंक ने राजवार्तिक में संज्ञा का सम्बन्ध मतिज्ञान से और लघीस्त्रय में श्रुतज्ञान के साथ किया है।⁶⁰ धवलाटीका में संज्ञा को सम्यक्ज्ञान का हेतु माना है।⁶¹ इस प्रकार जैन परम्परा में संज्ञा के विभिन्न अर्थ प्राप्त होते हैं।

41. सूत्रकृतांगसूत्र 1.3.4 गाथा 14, उत्तराध्ययन सूत्र अ. 24 गाथा 11

42. आवश्यकनिर्युक्ति गाथा 12 विशेषावश्यकभाष्य गाथा 396

43. नंदीसूत्र, पृ. 131, षट्खण्डागम पु. 13, सू. 5.5.38

44. नंदीचूर्णि पृ. 68, हरिभद्रीय पृ. 69, मलयगिरि पृ. 176

45. षट्खण्डागम, पु. 13, सू. 5.5.38 पृ. 242

46. दिट्ठी दंसण णाणा सण्ण सरीरा य जोग उवओगे। – भगवतीसूत्र श. 1, उ. 6, पृ. 115

47. सूत्रकृतांगसूत्र 2.4.4 पृ. 140

48. अभिधर्मकोश भाष्य 2.24

49. ‘णो सण्णा भवइ’ आचारांगसूत्र 1.1.1

50. ‘ते एवं सण्णं कुव्वंति’ सूत्रकृतांगसूत्र श्रु. 2 अ. 1 पृ. 30

51. भगवतीसूत्र श. 7 उ. 8 पृ. 175-176, प्रज्ञापनासूत्र आठवां पद

52. अभिधर्मकोश भाष्य 1.21

53. आवश्यकनिर्युक्ति गाथा 12, विशेषावश्यकभाष्य 396

54. नंदीसूत्र पृ. 144, षट्खण्डागम पु. 13, सू. 5.5.41, तत्त्वार्थसूत्र 1.13, सर्वार्थसिद्धि 1.13, हरिभद्रीय पृ. 69, राजवार्तिक 1.13.12

55. नंदीसूत्र पृ. 149

56. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 397, 507

57. हरिभद्रीय पृ. 70, मलयगिरि पृ. 187

58. तत्त्वार्थभाष्य 2.25

59. सर्वार्थसिद्धि 2.24, राजवार्तिक 1.24.1-5

60. राजवार्तिक 1.13.12, लघयस्त्रीय, परिच्छेद 3 गाथा 10-11

61. धवला पु. 13, सू. 5.5.41 पृ. 244

7. **स्मृति** - पहले जाने हुए पदार्थ के स्मरण को 'स्मृति' कहते हैं। यह धारणा का पर्यायवाची शब्द है।

8. **मति** - श्रुतनिश्चित मतिज्ञान को 'मति' कहते हैं अथवा सूक्ष्म पर्यालोचना को 'मति' कहते हैं अर्थात् अर्थ का बोध होने के बाद स्वयं किसी व्यक्त सूक्ष्म धर्म की आलोचना करने रूप बुद्धि 'मति' है।

9. **प्रज्ञा** - अश्रुतनिश्चित मतिज्ञान को 'प्रज्ञा' कहते हैं। यह बुद्धि का पर्यायवाची शब्द है। मतिज्ञानावरण के विशिष्ट क्षयोपशमजन्य वस्तु के अनेक यथार्थ धर्मों की पर्यालोचना को 'प्रज्ञा' कहते हैं।

आगमों में प्रज्ञा का प्रयोग लौकिक और अलौकिक दोनों ज्ञान के वाचक के रूप में हुआ है, जैसेकि महापण्ण⁶² 'आसुपण्ण'⁶³ 'विसुद्धपण्ण'⁶⁴ 'भूमिपण्ण'⁶⁵ इत्यादि। मतिज्ञान के साथ सर्वप्रथम आवश्यकनिर्युक्ति में इसका प्रयोग हुआ है।⁶⁶ **जिनभद्रगणि** इसका अर्थ 'मति' तथा हरिभद्र, मलयगिरि आदि ने इसका अर्थ अनेक वस्तुगत धर्मों का आलोचन करती संवित् किया है।⁶⁷ जिनभद्रगणि प्रज्ञा और बुद्धि को समानार्थक स्वीकार करते हैं।⁶⁸ श्वेताम्बर परम्परा के आचार्य इसका सम्बन्ध श्रुतनिश्चित मति के साथ जोड़ते हैं जबकि दिगम्बराचार्य अश्रुतनिश्चित के साथ इसका सम्बन्ध जोड़ते हैं।⁶⁹ आवश्यकनिर्युक्ति, नंदीसूत्र और विशेषावश्यकभाष्य में दिये गये उपर्युक्त पर्यायवाची नामों के अलावा भी अन्य और शब्द हैं जो मतिज्ञान के पर्यायवाची के रूप में प्रयुक्त होते थे, लेकिन बाद वाले ग्रन्थों में उनका प्रयोग अवग्रहादि के पर्यायवाची शब्दों के रूप में होने लगा, इसलिए अवग्रहादि के पर्यायवाची शब्दों के साथ उनका भी उल्लेख किया जाएगा।

वितर्क - आगम काल में इसके दो अर्थ मिलते हैं - 1. तर्क के विशुद्धार्थ के रूप में⁷⁰ 2. तर्क के पर्याय के रूप में। वितर्क का सम्बन्ध मतिज्ञान के साथ था।⁷¹ लेकिन बाद वाले काल में इसका सम्बन्ध श्रुतज्ञान से स्थापित करके इसका अर्थ ऊह (तर्क) किया गया है।⁷²

उपर्युक्त शब्दों का प्रयोग मतिज्ञान के लिए होते हुए भी मुख्य रूप से मतिज्ञान के लिए मति और आभिनिबोधक शब्द का प्रयोग हुआ है, जिसका उल्लेख निम्न प्रकार से है -

मति एवं आभिनिबोधक शब्द पर विचार

आगमिक काल में मति शब्द उच्चज्ञान, विपुलज्ञान⁷³ और ज्ञानसामान्य⁷⁴ आदि अर्थों में आगमों में प्रयुक्त हुआ है। सूत्रकृतांग सूत्र में 'अमतीमता'⁷⁵ 'दुम्मती'⁷⁶ और 'सहसम्मूह'⁷⁷ आदि शब्द भी मिलते हैं। इस प्रकार प्राचीन काल में मति शब्द का प्रयोग विभिन्न अर्थों में होता था तथा मतिज्ञान

62. उत्तराध्ययन सूत्र अ. 3, गाथा 18

63. आचारांगसूत्र श्रु. 1, अ. 8 उ. 1, सूत्रकृतांगसूत्र श्रु. 1, अ. 6 गाथा 25

65. सूत्रकृतांगसूत्र श्रु. 1, अ. 6 गाथा 6, 15, 18

67. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 397, हरिभद्रीय पृ. 70, मलयगिरि पृ. 187

69. षट्खण्डागम पु. 9, सू. 4.1.18, पृ. 82

70. 'अप्पणो य वितक्काहिं' सूत्रकृतांगसूत्र श्रु. 1, अ. 1, उ. 2, गाथा 21

71. 'इच्चेव मे होति मती वियक्का' सूत्रकृतांगसूत्र श्रु. 2, अ. 6, गाथा 19

72. 'वितर्क श्रुतम्' विशेषण तर्कणमूहनं वितर्कः श्रुतज्ञानमित्यर्थः। - तत्त्वार्थसूत्र 9.45, सवार्थसिद्धि 9.43

73. 'मतिमता' (मतिमान्-केवलज्ञान) आचारांग, 1.8.2.3 पृ. 255, सूत्र. 1.9.1.63 पृ. 314, सूत्रकृतांग 1.9 गाथा 1, 1.11 गाथा 1

74. सएहिं सएहिं मतिदंसणेहिं निज्जुहंति। - भगवतीसूत्र शतक 15, पृ. 436

75. सूत्रकृतांगसूत्र, 1.3.4 गाथा 16

76. सूत्रकृतांगसूत्र, 1.1.2 गाथा 21

77. सूत्रकृतांगसूत्र, 1.8 गाथा 14

64. उत्तराध्ययन सूत्र अ. 8, गाथा 20

66. आवश्यकनिर्युक्ति गाथा 12

68. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 398

के लिए आभिनिबोधक शब्द का प्रयोग होता था।⁷⁸ परन्तु नंदीसूत्र में मतिज्ञान के लिए आभिनिबोधक⁷⁹ और मति⁸⁰ दोनों शब्दों का प्रयोग, षट्खण्डागम में आभिनिबोधक शब्द का ही प्रयोग⁸¹ तथा तत्त्वार्थसूत्र में केवल मति शब्द का ही प्रयोग हुआ है और इसके बाद वाले अधिकतर आचार्य जैसेकि जिनभद्रगणि⁸², जिनदासगणि, हरिभद्रसूरि आदि ने दोनों शब्दों का प्रयोग किया है।⁸³ इस प्रकार मतिज्ञान के लिए दोनों शब्दों का प्रयोग प्रचलित रहा है, लेकिन अन्ततः मति शब्द ही अधिक प्रचलन में रह गया है। हरिभद्र ने इसको स्पष्ट करते हुए कहा है कि अवग्रह आदि रूप वाला आभिनिबोधक ज्ञान मतिज्ञान ही है।⁸⁴

मलयगिरि स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि मति शब्द का प्रयोग ज्ञान और अज्ञान दोनों के लिए होता है, लेकिन आभिनिबोधक शब्द का प्रयोग मात्र ज्ञान के लिए ही होता है।⁸⁵ आभिनिबोधक अज्ञान शब्द का कहीं भी प्रयोग नहीं मिलता है, उसके स्थान पर मति अज्ञान शब्द का प्रयोग हुआ है। मति शब्द आभिनिबोधक के समान अर्थ वाला है। औत्पत्तिकी आदि मति की प्रधानता के कारण आभिनिबोधक ज्ञान मतिज्ञान भी कहलाता है।

मति एवं श्रुत ज्ञान में भेद

जैन परम्परा में मति और श्रुत के भेद-अभेद के सम्बन्ध में दो मत मिलते हैं। प्रायः आचार्यों का मानना है कि ये दोनों भिन्न हैं। जबकि कतिपय आचार्य मति-श्रुत को अभिन्न मानते हैं।

मतिज्ञान और श्रुतज्ञान की युगपत्ता

नंदी सूत्र के अनुसार जहाँ मतिज्ञान होता है, वहाँ श्रुत ज्ञान होता है तथा जहाँ श्रुतज्ञान होता है, वहाँ मतिज्ञान होता है अर्थात् जिस जीव को मतिज्ञान होता है, उसे नियम से श्रुत ज्ञान होता है और जिस जीव को श्रुतज्ञान होता है, उसे नियम से मतिज्ञान होता है। अतः ये दोनों ज्ञान अन्योन्य अनुगत हैं अर्थात् ये दोनों यद्यपि लब्धि की अपेक्षा एक जीव में एक साथ नियम से पाये जाते हैं, फिर भी ये दोनों स्वरूप से एक नहीं हैं, क्योंकि श्रुतज्ञान मतिपूर्वक होता है, पर मति, श्रुतपूर्वक नहीं होती, इस कारण मति और श्रुत दोनों भिन्न-भिन्न हैं।⁸⁶

मति और श्रुत की भिन्नता के कारण

भगवतीसूत्र में ज्ञान के वर्णन में मतिज्ञान और श्रुतज्ञान का अलग-अलग वर्णन है।⁸⁷ दोनों ज्ञानों के आवरण रूप मतिज्ञानावरणीय और श्रुतज्ञानावरणीय कर्म अलग-अलग हैं।⁸⁸ इसी प्रकार स्थानांग में आचार्य (गणि) की आठ सम्पदाओं में मति सम्पदा और श्रुत सम्पदा का भी अलग-अलग उल्लेख है।⁸⁹ इस प्रकार आगमों में जहाँ भी ज्ञान का वर्णन हुआ है वहाँ पर इन दोनों ज्ञानों का उल्लेख अलग-अलग हुआ है। इससे स्पष्ट होता है कि प्राचीन आगम परम्परा से ही मतिज्ञान और श्रुतज्ञान भिन्न-भिन्न हैं।

78. आवश्यकनिर्युक्ति गाथा 1, 2, 12, विशेषावश्यकभाष्य गाथा 79, 176, 396

79. मधुकरमुनि, नंदीसूत्र, सूत्र नम्बर 45, 47, 62, 65, 66

80. मधुकरमुनि, नंदीसूत्र 46

81. षट्खण्डागम पु. 13, 5.5.21, 22, 35, 36, 42

82. 'आभिनिबोधक' विशेषावश्यकभाष्य गाथा 79, 80, 81 आदि गाथाओं, 'मतिज्ञान' 85, 88, 94, 96 आदि गाथाओं में

83. नंदीचूर्ण पृ. 22, 51, 53, हरिभद्रीय, नंदीवृत्ति, पृ. 23, 52, 54

84. आभिनिबोधकम्-अवग्रहादिरूपं मतिज्ञानमेव। - हरिभद्रीय नंदीवृत्ति, पृ. 22

85. मलयगिरि नंदीवृत्ति, पृ. 140

86. पारसमुनि, नंदीसूत्र, पृ. 97

87. भगवती सूत्र, भाग 2, श. 8 उ. 2 पृ. 151

88. भगवती सूत्र, भाग 2, श. 9 उ. 31, पृ. 439

89. स्थानांग सूत्र, स्थान 8 पृ. 632

प्रश्न - स्वामी, काल, कारणादि की दृष्टि से मतिज्ञान व श्रुतज्ञान में समानता होने से चार ही ज्ञान मानना चाहिए, पांच नहीं।⁹⁰

उत्तर- समानता होते हुए भी लक्षण आदि भेद से दोनों में विभिन्नता है। जैसेकि कुछ धर्मों में समानता होने से घट और पट को समान नहीं मान सकते हैं, क्योंकि इन दोनों के बहुत से धर्मों में भिन्नता होती है, जिससे दोनों पदार्थों में एकत्व स्वीकार नहीं किया जाता है। यदि एकत्व मानेंगे तो सम्पूर्ण विश्व एक रूप हो जायेगा, क्योंकि सभी वस्तुओं में परस्पर कुछ न कुछ धर्मों के कारण समानता पाई जाती है।⁹¹

जिनदासगणि के अनुसार मति और श्रुत अन्योन्य अनुगत हैं। इनमें स्वामी, काल आदि का अभेद है, फिर भी इनमें भिन्नता है। जैसे आकाशप्रतिष्ठ धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय अन्योन्य-अनुगत होने पर भी अपने-अपने लक्षण भेद से भिन्न हैं।⁹²

विशेषावश्यकभाष्य के अनुसार मति-श्रुत ज्ञान में अन्तर

भाष्यकार ने मतिज्ञान और श्रुतज्ञान में लक्षण, हेतु-फल, भेद-विभाग, इन्द्रिय विभाग से तथा वल्क, अक्षर, मूक-अमूक आदि अपेक्षाओं से भेद को स्पष्ट किया है।⁹³

1. लक्षणभेद से मति-श्रुत में अन्तर

मति-श्रुतज्ञान में भिन्नता का प्रथम कारण है कि दोनों के लक्षण भिन्न-भिन्न हैं।

नंदीसूत्र के अनुसार जिससे आभिनिबोधक हो, वह आत्मा का ज्ञानोपयोग परिणाम आभिनिबोधकज्ञान है तथा जिस ज्ञानोपयोग परिणाम से सुना जाये वह आत्मा का श्रुतज्ञान है तथा श्रुतज्ञान मतिपूर्वक होता है, पर मति, श्रुतपूर्वक नहीं होती, इस कारण मति और श्रुत दोनों भिन्न हैं।⁹⁴

जिनभद्रगणि के वचनानुसार -1. जो ज्ञान वस्तु को जानता है, वह आभिनिबोधक अथवा मतिज्ञान है। जिसे जीव सुनता है, वह श्रुत ज्ञान है। इस प्रकार दोनों का लक्षण अलग होने से दोनों भिन्न हैं।⁹⁵

2. जो ज्ञान श्रुतानुसारी होकर मन और इन्द्रिय का निमित्त मिलने पर अपने अर्थ को प्रकट करता है, वह श्रुतज्ञान तथा इन्द्रिय और मन का निमित्त मिलने पर भी जो श्रुतानुसारी नहीं होता है, वह मतिज्ञान कहलाता है।⁹⁶ नंदीसूत्र में जो 'मतिपुव्वं जेण सुयं, ण मति सुयपुव्विया' कह कर लक्षण भेद किया, इसका उल्लेख **जिनभद्रगणि** ने हेतु व फल की अपेक्षा से मति-श्रुत में अन्तर के अन्तर्गत किया गया है। अतः इसका उल्लेख आगे करेंगे।

आवश्यकचूर्णि में कहा है कि जो अर्थ का विमर्श कर उसका निर्देश नहीं करता, वह मतिज्ञान है। जो विमर्शपूर्वक अर्थ का निर्देश करता है, वह श्रुतज्ञान है।⁹⁷

नंदीवृत्ति में **मलयगिरि** ने उल्लेख किया है कि परस्पर अनुगत होने पर भी मति और श्रुत अपने-अपने लक्षण से भिन्न हैं। जिस परिणाम विशेष से आत्मा इन्द्रिय और मन के माध्यम से योग्य देश में अवस्थित नियत अर्थ को जानती है, वह परिणाम विशेष आभिनिबोधक ज्ञान है। रूपी अरूपी पदार्थ को मतिज्ञान से ग्रहण कर या स्मरण कर उसे और उसके वाचक शब्द को, उस वाच्य

90. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 85

92. नंदीचूर्णि, पृ. 51

94. अभिणिबुज्झइ ति आभिणिबोहियणां, सुणेइति सुयं। 2. मतिपुव्वं जेण सुयं, ण मति सुयपुव्विया। - नंदीसूत्र, पृ. 70

95. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 98

97. आवश्यकचूर्णि 1 पृ. 7-8

91. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 96

93. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 97

96. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 100

अर्थ और उसके वाचक शब्द में जो परस्पर वाच्य-वाचक संबंध रहा हुआ है, उसकी पर्यालोचना पूर्वक शब्द उल्लेख सहित जानना श्रुतज्ञान है।⁹⁸

गोम्मटसार के अनुसार - 'जीवःअस्ति' ऐसा कहने पर जो शब्द का ज्ञान होता है कि 'जीव है' यह श्रोत्रेन्द्रिय से उत्पन्न हुआ मतिज्ञान है और ज्ञान के द्वारा 'जीव है' इस शब्द के वाच्यरूप आत्मा के अस्तित्व में वाच्य-वाचक सम्बन्ध के संकेत ग्रहण पूर्वक जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह श्रुतज्ञान है। जैसेकि 'जीवः अस्ति' ऐसे शब्द को जानना मतिज्ञान और उसके निमित्त से जीव नामक पदार्थ को जानना श्रुतज्ञान है। इस प्रकार अक्षरात्मक श्रुतज्ञान का स्वरूप जानना चाहिए। शीतल पवन का स्पर्श होने पर 'यहाँ शीतल पवन है' यह जानना मतिज्ञान है और उस ज्ञान से 'वायु की प्रकृतिवाले के लिए यह पवन अनिष्ट है।' ऐसा जानना अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान है, क्योंकि यह अक्षर के निमित्त से उत्पन्न नहीं हुआ है।⁹⁹

उपर्युक्त वर्णन में मतिज्ञान और श्रुतज्ञान को लक्षण की भिन्नता के कारण भिन्न-भिन्न सिद्ध किया गया है।

2. हेतु एवं फल से मति-श्रुत में अन्तर

श्रुत मतिपूर्वक होता है, मति श्रुतपूर्वक नहीं होती, यह दोनों में भेद है। श्रुत की प्राप्ति तथा वैशिष्ट्य सम्पादन के कारण मतिपूर्वक श्रुत कहा गया है।¹⁰⁰ 'मइपुव्वं सुत्तं' अर्थात् 'मतिपूर्वक श्रुतज्ञान' इस आगमिक कथन में श्रुतज्ञान के पूर्व मतिज्ञान का सद्भाव माना है, किन्तु मतिज्ञान के पूर्व श्रुतज्ञान का सद्भाव स्वीकार नहीं किया गया है। यही दोनों में अन्तर है और इसी अपेक्षा से मतिज्ञान हेतु एवं श्रुतज्ञान फल रूप है।

प्रश्न - यदि श्रुतज्ञान मतिज्ञान पूर्वक होता है तो वह श्रुतज्ञान भी मति रूप ही है, क्योंकि कारण के समान ही कार्य होता है? **उत्तर** - यह कोई एकान्त नियम नहीं है कि कारण के समान कार्य होता है। यद्यपि घट की उत्पत्ति दण्डादिक से होती है तो भी वह घट दण्डादि रूप नहीं होता है। दूसरा, मतिज्ञान के रहते हुए भी जिसके श्रुतज्ञानावरण का प्रबल उदय है, उसको श्रुतज्ञान नहीं होता है। लेकिन श्रुतज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम होने पर ही श्रुतज्ञान होता है। इसलिए मतिज्ञान श्रुतज्ञान की उत्पत्ति में निमित्त मात्र जानना चाहिए।¹⁰¹ अकलंक ने भी ऐसा ही उल्लेख किया है।¹⁰²

विशेषावश्यकभाष्य में शंका उपस्थित करते हुए कहा है कि श्रुत को मतिपूर्वक क्यों कहा है? **समाधान** - पूर्व शब्द 'पृ' (पालन व पूरण) धातु से निपातन से बना है। अतः मतिज्ञान श्रुतज्ञान का पूरण (पोषण) या पूर्ति करता है और वह उसका पालन (स्थिरीकरण) भी करता है, इसलिए मतिज्ञान का श्रुतज्ञान के पहले (पूर्व) ही होना उचित है, अतः 'मतिपूर्वक श्रुत' होता है, यह कथन सही है। अनुप्रेक्षादि के समय, विचारणा के द्वारा श्रुतपर्याय की वृद्धि होने से मति द्वारा ही श्रुतज्ञान का पूरण, पोषण होता है, मति से ही श्रुत पुष्ट होता है, मति द्वारा ही प्राप्त होता है, मति से ही वह दूसरों को दिया जाता है, ग्राह्यमाण श्रुतज्ञान परावर्तन व चिन्तन के माध्यम से मतिज्ञान द्वारा ही पालित होता है, अर्थात् श्रुतज्ञान का स्थिरीकरण होता है। इसलिए मतिज्ञान ही सर्वतोभावेन रूप से श्रुतज्ञान का कारण है और श्रुतज्ञान मति का फल है। दोनों को अभेद रूप से स्वीकार करने पर हेतु

98. मलयगिरि, नंदीवृत्ति, पृ. 140

100. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 105

102. तत्त्वार्थराजवार्तिक 1.20.3-5 पृ. 49-50

99. गोम्मटसार जीवकांड, गाथा 315 पृ. 524

101. सर्वार्थसिद्धि 1.20 पृ. 85

एवं फल भाव घटित नहीं होता है। अतः दोनों में हेतु एवं फल भाव घटित करने के लिए दोनों को भिन्न ही स्वीकार करना होगा।¹⁰³

शंका - सम्यक् दृष्टि के मति-श्रुत ज्ञान और मिथ्यादृष्टि के मति-श्रुत अज्ञान एक साथ ही होते हैं, आगे-पीछे से नहीं। क्योंकि आगमानुसार उन दोनों का क्षयोपशम एकसाथ होता है, समकाल में उत्पन्न हुई वस्तु में पूर्व-पश्चात् के क्रम का निर्धारण नहीं होता है। क्योंकि मतिज्ञान के उत्पन्न होने पर उसके समकाल में ही श्रुतज्ञान उत्पन्न होना नहीं मानेंगे तो तब उस जीव के श्रुत अज्ञान का प्रसंग प्राप्त होगा, क्योंकि जीव में सदैव कम से कम दो ज्ञान अथवा अज्ञान का सद्भाव रहता है। अर्थात् जब तक जीव को मतिज्ञान के बाद श्रुतज्ञान की प्राप्ति नहीं होगी तब तक श्रुत अज्ञान का सद्भाव रहेगा जो कि आगमकारों को इष्ट नहीं है। अतः श्रुत ज्ञान मति पूर्वक नहीं हो सकता है।

समाधान - यहाँ पर मति-श्रुत ज्ञान का जो समकाल कहा गया है, वह लब्धि की अपेक्षा से है, उपयोग की अपेक्षा से नहीं, क्योंकि एक समय में एक ही ज्ञान में उपयोग होता है। अतः 'मतिपूर्वक श्रुत' का अर्थ है कि श्रुत का उपयोग मतिपूर्वक होता है।¹⁰⁴ अकलंक और मलयगिरि ने भी ऐसा कथन किया है तथा हरिभद्र ने यही तर्क मति अज्ञान और श्रुत अज्ञान के सद्भाव के समाधान में भी दिया है।¹⁰⁵

द्रव्यश्रुतपूर्वक मति

पूर्वपक्ष - मतिज्ञान भी दूसरे के शब्द सुनकर उत्पन्न होता है, अतः मतिज्ञान भी श्रुतपूर्वक हुआ, अतः दोनों में कोई भेद नहीं है। **उत्तरपक्ष** - जिनभद्रगणि कहते हैं कि दूसरे के शब्द को सुनकर जो मतिज्ञान उत्पन्न होता है, वह तो मात्र द्रव्यश्रुत से उत्पन्न है, भावश्रुत से नहीं। क्योंकि शब्द को द्रव्यश्रुत कहा गया है, लेकिन भावश्रुतपूर्वक मति उत्पन्न नहीं होता है।

पूर्वपक्ष - क्या भावश्रुत के बाद मतिज्ञान सर्वथा प्रकार से नहीं होता है? **उत्तरपक्ष** - श्रुत के उपयोग का काल पूरा होने के बाद मतिज्ञान हो सकता है, अर्थात् अनुक्रम से होने में बाधा नहीं है, लेकिन भावश्रुत के बाद उसके कार्यरूप में मतिज्ञान नहीं होता है। इस लिए मति श्रुतपूर्वक नहीं होता है।¹⁰⁶

भावश्रुत से उत्पन्न द्रव्यश्रुत मतिपूर्वक नहीं

पूर्वपक्ष - भावश्रुत से उत्पन्न होने वाला शब्द (द्रव्यश्रुत) भी मतिपूर्वक है, क्योंकि बिना चिन्तन किये कोई बोलता नहीं है और क्या बोलना है, इस विषय का चिन्तन करना ही मतिज्ञान है। अतः द्रव्यश्रुत मतिपूर्वक होता है। **उत्तरपक्ष** - जिनभद्रगणि कहते हैं कि यह कथन उपयुक्त नहीं है, क्योंकि इस प्रकार तो भावश्रुत का सर्वथा अभाव हो जाएगा, क्योंकि वक्ता के बोलने की इच्छा सम्बन्धी उपयोग रूप ज्ञान को पूर्वपक्ष ने मतिरूप माना है। श्रोता का शब्द सुन कर जो अवग्रह आदि का ज्ञान होता है, वह मति है, उसके बाद भी भावश्रुत का होना नहीं माना जा सकता, क्योंकि ऐसा मानने पर तो 'मतिपूर्वक भावश्रुत' यह तो उत्तरपक्ष का मत है। द्रव्यश्रुत मतिज्ञान से होता है, और मतिज्ञान भी द्रव्यश्रुत से होता है, अतः इन दोनों में कोई अन्तर नहीं है। इसलिए उत्तरपक्ष के अनुसार यही मानना अधिक उपयुक्त है कि भावश्रुत मतिपूर्वक होता है और शब्दात्मक द्रव्यश्रुत तो उस भावश्रुत का लिंग अर्थात् साधन है। क्योंकि वक्ता पहले विचार करता है कि क्या बोलना है, उसके

103. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 105-106 एवं बृहद्वृत्ति

104. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 107-108

105. तत्त्वार्थराजवार्तिक 1.20.8, हरिभद्रीय पृ. 53, मलयगिरि पृ. 70, 141

106. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 109-110

बाद ही शब्दों का उच्चारण करता है। जो सोचा जाता है, वह चिन्तनात्मक ज्ञान श्रुतानुसारी होने से भावश्रुत है। अतः द्रव्यश्रुत की उत्पत्ति भावश्रुत से हुई है, यह स्पष्ट होता है, क्योंकि जो जिससे उत्पन्न होता है, वह उसका कार्य होता है। जैसे कि कार्य रूप द्रव्यश्रुत के आधार पर उसके कारण भूत भावश्रुत का ज्ञान होता है, इसलिए द्रव्यश्रुत भावश्रुत का लक्षण सिद्ध होता है, अतः भावश्रुत से उत्पन्न शब्द (द्रव्यश्रुत) मतिपूर्वक नहीं होता है।¹⁰⁷

विद्यानंद के अनुसार अर्हत् भगवान् तब बोलते हैं जब उनके द्रव्यश्रुत के स्थान पर केवलज्ञान होता है, मतिज्ञान नहीं। अतः यहाँ पर श्रुत का अर्थ भावश्रुत करके भावश्रुत के पूर्व मति है, ऐसा अर्थ समझाया है।¹⁰⁸ नंदीसूत्र में 'ण मति सुयपुव्विया' इस नियम के लिए यह तर्क है कि मति के पहले भी श्रुत हो सकता है। क्योंकि शब्द श्रवण के बाद मति होती है। जिनभद्रगणि के अनुसार भी मति के पहले द्रव्यश्रुत हो सकता है। अतः नंदीसूत्र में जो निषेध किया है वह भावश्रुत के लिए है। अतः भावश्रुत के बाद मतिज्ञान नहीं होता है।

शंका - प्रत्येक प्राणी में मति होने से उनमें 'मतिपुव्वं' यह कारण समान रूप से होने पर उनमें श्रुतज्ञान की समानता प्राप्त होती है। **समाधान** - अकलंक के अनुसार प्रत्येक प्राणी में मतिश्रुतज्ञानावरण के क्षयोपशम रूप इस बाह्यनिमित्त की भिन्नता के कारण उनमें श्रुत की समानता प्राप्त नहीं होती है।¹⁰⁹

श्रुत की मतिपूर्वकता विषयक मलयगिरि का मन्तव्य - 1. पहले मतिज्ञान होता है, फिर श्रुतज्ञान यह कथन उपयोग की अपेक्षा से है। मति के उपयोग के बिना ग्रन्थानुसारी श्रुतज्ञान प्राप्त नहीं होता। लब्धि की अपेक्षा से सम्यक्त्व की प्राप्ति के समय मति और श्रुत को समकालीन कहा गया है। उपयोग की अपेक्षा से मति और श्रुत समकालीन नहीं हैं।¹¹⁰

2. मति से श्रुत की प्राप्ति होती है। मतिपाटव (चतुर) के बिना श्रुत का वैभव उत्तरोत्तर प्राप्त नहीं होता। एक वस्तु का उत्कर्ष और अपकर्ष जिस दूसरे द्रव्य (वस्तु) के अधीन होता है, वही उसका कारण बनता है। जैसे घड़े का कारण मृत्पिण्ड है। मतिज्ञान से ही श्रुत को विशेष अवस्था प्राप्त होती है। बहुत सारे श्रुतग्रंथों में भी जिस श्रुतग्रंथ के विषय में स्मरण, ईहा, अपोह आदि मतिरूपों का प्रयोग होता है, वह ग्रन्थ अत्यन्त स्पष्ट हो जाता है, शेष उतने स्पष्ट नहीं होते।¹¹¹

पं. कन्हैयालाल लोढ़ा का कथन है कि मतिज्ञानजन्य इन्द्रिय विषयों के भोगों के सुख (आसक्ति व प्रलोभन) रूप विकारों से मुक्त होने के लिए ही श्रुतज्ञान की आवश्यकता होती है। मतिज्ञान के प्रभाव से विषयसुख की लोलुपता नहीं हो तो श्रुतज्ञान की आवश्यकता ही नहीं रहती है, इसीलिए श्रुतज्ञान को मतिपूर्वक कहा है।¹¹²

3. भेद (विभाग) की अपेक्षा से मति-श्रुत में अन्तर

मतिज्ञान के अवग्रह, ईहा, आदि अठाईस और श्रुतज्ञान के अक्षरश्रुत, अनक्षरश्रुत आदि चौदह भेद होते हैं। इस प्रकार दोनों के अवान्तर भेद भिन्न-भिन्न हैं, इसलिए मति और श्रुत अलग-अलग हैं।¹¹³

107. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 111-113 एवं बृहद्वृत्ति

108. न च केवलपूर्वत्वात्सर्वज्ञवचनात्। श्रुतस्य मतिपूर्वत्वनियमोत्र विरुध्यते। तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक 1.20.7

109. मतिश्रुतावरणक्षयोपशमो बहुधा भिन्नः तद्भेदाद् बाह्यनिमित्तभेदाच्च श्रुतस्य प्रकर्षाप्रकर्षयोगो भवति मतिपूर्वकत्वाविशेषेऽपि।

- तत्त्वार्थराजवार्तिक 1.20.9

110. मलयगिरि पृ. 70

112. बन्धतत्त्व, पृ. 5

111. मलयगिरि पृ. 141

113. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 116

4. इन्द्रिय की अपेक्षा से मति-श्रुत में अन्तर

सामान्य रूप से यह प्रचलन है कि श्रुतज्ञान केवल श्रोत्रेन्द्रिय से संबंधित है, मतिज्ञान शेष इन्द्रियों से संबंधित है।

जिनभद्रगणि तथा **मलधारी हेमचन्द्र** “सोइन्दिओवलद्धी होइ सुयं सेसयं तु मइनानं। मोत्तूणं दव्वसुयं अक्खरलंभो य सेसेसु।”¹¹⁴ गाथा के आधार से स्पष्ट करते हुए कहते हैं यह एकांत नियम नहीं है, क्योंकि द्रव्यश्रुत (पुस्तक आदि) ही नहीं, शेष चारों इन्द्रियों से जो अक्षर लाभ होता है, वह भी श्रुत है अर्थात् श्रोत्रेन्द्रियोपलब्धि श्रुत है और शेष मतिज्ञान है, इस कथन का तात्पर्य यह है कि श्रोत्रेन्द्रिय के अलावा शेष इन्द्रियों से प्राप्त होने वाले अक्षर को शेष इन्द्रियोपलब्धि रूप कहा जाता है। अतः समस्त श्रोत्रविषय श्रुतज्ञान है, जबकि श्रोत्रेन्द्रिय और शेष इन्द्रिय विषय के ग्रहण से मतिज्ञान दोनों प्रकार का होता है।

पूर्वपक्ष - “सोइन्दिओवलद्धी होइ सुयं सेसयं तु मइनानं। मोत्तूणं दव्वसुयं अक्खरलंभो य सेसेसु।”¹¹⁵ गाथा का अर्थ कतिपय आचार्य करते हैं कि बोले जाने वाले शब्द (सोइन्दिओवलद्धी) श्रुत हैं और इन शब्दों को सुनना मति है। **जिनभद्रगणि** कहते हैं कि यदि श्रोत्रेन्द्रिय उपलब्धि ही श्रुत है, तो श्रोत्रेन्द्रिय से होने वाले अवग्रहादि मतिज्ञान के भेद नहीं बन पायेंगे, क्योंकि पूर्वपक्ष ने समस्त उपलब्धि को श्रुत रूप में स्वीकार किया है। यदि उनको मतिज्ञान रूप मानेंगे तो वे श्रुत रूप नहीं होंगे, जिससे श्रोत्रेन्द्रियलब्धि को श्रुत कहना अनुचित है। यदि उनको उभय रूप मानते हैं तो सांकर्य (संकीर्णता) दोष आएगा, जिससे मति और श्रुत में अभेद प्राप्त होगा। इसके सम्बन्ध में कुछ आचार्य कहते हैं कि वक्ता का शब्द श्रुत है और वही शब्द श्रोता के लिए मति है। यह भी संगत नहीं है, क्योंकि इसमें दो दोष आते हैं। प्रथम तो जो भी शब्द होता है, वह वक्ता और श्रोता दोनों के लिए द्रव्यश्रुत रूप ही होता है। दूसरा यहाँ ज्ञानसम्बन्धी अधिकार में पुद्गल रूप शब्द से कथन सिद्ध नहीं होती है। यदि ऐसा कहो कि श्रोत्रेन्द्रिय शब्द में कारण और कार्यभूत है, इसलिए उपचार से शब्द वक्ता के लिए श्रुत और श्रोता के लिए मति हैं, तो पूर्वपक्ष का ऐसा कहना भी अयोग्य है, क्योंकि शब्द-ज्ञान तो भेद रहित ही होता है। अतः इन दोषों के परिहार के लिए ऐसा मानना उचित है कि बोलने वाले और सुनने वाले दोनों के शब्द द्रव्यश्रुत हैं, इसलिए उपर्युक्त गाथा का अर्थ ऐसा कर सकते हैं कि किसी भी इन्द्रिय से प्राप्त हुआ श्रुताक्षरलाभ श्रुत है जो कि द्रव्यश्रुत रूप है। इसके अलावा अक्षरलाभ मति है अर्थात् ‘श्रोत्रेन्द्रिय उपलब्धि श्रुत ही है’ ऐसा नहीं मानकर ‘श्रोत्रेन्द्रिय उपलब्धि श्रुत है’ ऐसा स्वीकार करना चाहिए। क्योंकि सभी श्रोत्रेन्द्रिय-उपलब्धि श्रुतानुसारिणी नहीं होकर मात्र अवग्रहादि रूप भी होती है। इसलिए श्रोत्रेन्द्रियनिमित्तक अवग्रहादि मतिज्ञान रूप है।¹¹⁶

शब्द के समान भावश्रुत में कारण होने से पुस्तक, पत्र (कागज) आदि में लिखित शब्द भी द्रव्यश्रुत है। केवल श्रोत्रेन्द्रिय से प्राप्त शब्द श्रुत है, ऐसा नहीं है, क्योंकि शेष चक्षु आदि इन्द्रियों से जो अक्षर लाभ होता है अर्थात् परोपदेश अथवा अर्हत् वचन के अनुसार जो अक्षर की उपलब्धि होती है, वह भी श्रुतानुसारी होने से भावश्रुत रूप है। शेष इन्द्रियों से प्राप्त ज्ञान में प्रतिभासित अक्षर श्रोत्रोपलब्धि युक्त है, क्योंकि श्रवण से उत्पन्न हुआ समस्त शब्दोल्लेख श्रोत्र उपलब्धि रूप ही है। **पूर्वपक्ष** - जो

114. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 117 एवं बृहद्वृत्ति पृ. 65

115. ‘सोइन्दिओवलद्धी होइ सुयं सेसयं तु मइनानं। मोत्तूणं दव्वसुयं अक्खरलंभो य सेसेसु।’ - विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 117

116. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 118-121, 123

श्रुत अक्षरलाभ है, वह श्रुत है और जो अनक्षर है वह मतिज्ञान माना जाये तो (सभी अनक्षर ज्ञान को मति मानने से) ईहा आदि सभी का मतित्व घटित नहीं होगा। **उत्तरपक्ष** – इस दोष के निवारण के लिए निर्विवाद रूप से श्रुतानुसारी होने वाला अक्षरलाभ ही श्रुत है, वह किसी भी इन्द्रिय से हो तथा शेष मतिज्ञान है, जो कि पांचों इन्द्रिय और मन से होता है लेकिन श्रुतानुसारी नहीं होता है। ऐसा स्वीकार करना होगा।¹¹⁷ जिनदासगणि और हरिभद्र ने इस सम्बन्ध में विशेष उल्लेख नहीं किया जबकि मलयगिरि ने जिनभद्रगणि का समर्थन किया है।¹¹⁸ वस्तुतः जो श्रुतानुसारी ज्ञान है, वह श्रोता और वक्ता के लिए श्रुतज्ञान है और जो श्रुत के स्वरूप से रहित है, वह दोनों के लिए मतिज्ञान है।

अकलंक ने भी ऐसा ही उल्लेख किया है। तत्त्वार्थवार्तिक में वे प्रश्न करते हैं कि ईहा आदि ज्ञान में भी श्रुत का व्यपदेश प्राप्त होता है, क्योंकि वे भी मन के निमित्त से उत्पन्न होते हैं। इसके उत्तर में वे कहते हैं कि ऐसा नहीं है, क्योंकि वे मात्र अवग्रह के द्वारा गृहीत पदार्थ को जानते हैं, जबकि श्रुतज्ञान अपूर्व अर्थ को विषय करता है।¹¹⁹ यद्यपि ईहा मतिज्ञान और श्रुतज्ञान दोनों ही मन से होते हैं, किन्तु जिस प्रकार मन को ईहा ज्ञान का निमित्त प्राप्त होता है वैसा श्रुतज्ञान को प्राप्त नहीं होता है।¹²⁰

द्रव्यश्रुत और भावश्रुत का स्वरूप

आचारांग आदि बारह अंग, उत्पाद पूर्व आदि चौदह पूर्व और सामायिकादि चौदह प्रकीर्णक स्वरूप द्रव्यश्रुत जानना, और इनके सुनने से उत्पन्न हुआ ज्ञान भावश्रुत कहलाता है।

जिनभद्रगणि के अनुसार – 1. श्रुतोपयोग के साथ जिन पदार्थों को वक्ता बोलता है, वह द्रव्यश्रुत व भावश्रुत दोनों रूप होता है, जिन्हें उपयोग रहित होकर बोलता है, वह शब्दमात्र होने से द्रव्यश्रुत है, और जिन्हें श्रुत-बुद्धि से केवल पर्यालोचित ही करता है, बोलता नहीं है, वह भावश्रुत है।¹²¹

2. जो ज्ञान श्रुत का अनुसरण करके इन्द्रिय और मन का निमित्त मिलने पर अपने अर्थ को कहने में समर्थ है, वह भावश्रुत है।¹²²

3. भावश्रुत मतिपूर्वक होता है। द्रव्यश्रुत उसका लक्षण है। द्रव्यश्रुत भावश्रुत से उत्पन्न होता है। पहले भावश्रुत से चिंतन किया जाता है, तत्पश्चात् उसे शब्द से प्रकट किया जाता है। अतः द्रव्यश्रुत से भावश्रुत लक्षित होता है।¹²³

4. श्रुत के उपयोग से निरपेक्ष/अनुपयुक्त वक्ता आगमतः द्रव्यश्रुत है। श्रुत में उपयुक्त श्रुत का अध्येता आगमतः भावश्रुत है, क्योंकि वह श्रुतोपयोग से अभिन्न होता है।¹²⁴

मलधारी हेमचन्द्र के अनुसार – श्रुतबुद्धि से प्रथमतः दृष्ट (गृहीत) पदार्थों को, जब उपयोग रहित होकर अभ्यास से वक्ता बोलता है, तो वह द्रव्यश्रुत होता है। जिन्हें वक्ता श्रुतबुद्धि से देखता है और मन से स्फुरित होने पर भी नहीं बोलता है, वह भावश्रुत है।¹²⁵

नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती के कथनानुसार – पुद्गलद्रव्यस्वरूप अक्षर पदादिक रूप से द्रव्यश्रुत है, और उनके सुनने से श्रुतज्ञान की पर्यायरूप उत्पन्न हुआ ज्ञान भावश्रुत है।¹²⁶

117. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 124-126

118. नंदीचूर्ण पृ. 51, हारिभद्रीय पृ. 53, मलयगिरि पृ. 142

119. तत्त्वार्थराजवार्तिक 1.9.32 पृ. 35

120. नानिन्द्रियानिमित्त्वादीहनश्रुतयोरिह। तादात्म्यं बहुवेदत्वाच्छ्रुतस्येहाव्यपेक्षया। – तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक 1.9.31

121. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 129

122. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 100

123. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 112-113

124. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 877-878

125. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 128 की टीका

126. गोम्मटसार जीवकांड गाथा 348-349

द्रव्यश्रुत-भावश्रुत और मतिज्ञान का संबंध

भाष्यकार ने “सोइन्दिओवलद्धी होइ सुयं सेसयं तु मइनाणं। मोत्तूणं दव्वसुयं अक्खरलंभो य सेसेसु।”¹²⁷ गाथा में पुस्तक आदि में लिखित ज्ञान द्रव्यश्रुत, अक्षर लाभ भावश्रुत तथा शब्द और उसका ज्ञान उभयश्रुत कहा है, अतः भावश्रुत का कौन सा अथवा कितना भाग द्रव्यश्रुत में एवं उभयश्रुत में परिणत होता है? इत्यादि शंका के समाधान के लिए जिनभद्रगणि कहते हैं कि बुद्धि द्वारा दृष्ट अर्थ जिसे वक्ता बोलता है, वह मति सहित अर्थात् उभयरूप से श्रुत है अर्थात् श्रुतात्मक बुद्धि से ग्रहण किये हुए जिन अर्थों को श्रुतात्मक बुद्धि से उपयोग सहित होकर ही बोलता है, उसी के द्रव्यश्रुत और भावश्रुत रूप उभयश्रुत होता है।

जो ज्ञान बुद्धिदृष्ट अर्थों का प्रतिपादन करने में समर्थ होता है, वह श्रुतज्ञान है। वह मतिज्ञान सहित होता है। प्रतिपादन का संबंध द्रव्यश्रुत से है और मन सहित होने का संबंध भावश्रुत से। भावश्रुत के साथ द्रव्यश्रुत भी होता है। वह जितनी ज्ञान की उपलब्धि है, उतना निरूपण करता है।¹²⁸

द्रव्यश्रुत और उभयश्रुत से भावश्रुत अनन्तगुणा अधिक होता है, क्योंकि वाणी (भाषा) क्रम से प्रवृत्त होती है और आयु सीमित होती है अतः भावश्रुत के विषयभूत पदार्थों के अनन्तवें भाग को ही वक्ता कथन कर सकता है। अतः श्रुतोपलब्धि से गृहीत उपलब्ध पदार्थों के अनन्तवें भाग को ही बोल पाता है, अतः उस अनन्तवें भाग में से ही उपयोग रहित बोले तो द्रव्यश्रुत और उपयोगसहित बोले तो उभयश्रुत रूप होगा।¹²⁹

(1) कुछेक आचार्य भाष्य की गाथा ‘बुद्धिदिट्ठे अत्थे जे भासइ तं सुयं मई सहियं। इतरत्थ वि होज्ज सुयं, उवलद्धिसमं जइ भणेज्जा।’¹³⁰ में आये ‘बुद्धि’ का अर्थ श्रुतबुद्धि नहीं करके मति करते हैं अर्थात् मतिज्ञान में दृष्ट पदार्थों को वक्ता जब मतिज्ञान के उपयोग से युक्त होकर बोलता है तो वह श्रुतज्ञान रूप है तथा जो अर्थ मति (बुद्धि) से आलोचित होता है, लेकिन शब्द रूप में उसकी प्रवृत्ति नहीं होती है, तो बुद्धि से आलोचित ज्ञान अर्थात् श्रुतानुसारी होने पर भी वह मतिज्ञान रूप ही होता है।

जिनभद्रगणि कहते हैं कि यह उचित नहीं है, क्योंकि भाष्यमाण अर्थ को द्रव्यश्रुत मानने से भावश्रुत का अभाव प्राप्त होता है। जैसेकि शब्द द्रव्यश्रुत रूप है और मति आभिनिबोधक रूप है तथा दोनों मिलकर भी भावश्रुत नहीं हो सकते हैं, जैसे कि बालू रेत के बहुत से कण मिल जायें तो भी उनमें तैल का सद्भाव नहीं हो सकता है। इसी प्रकार शब्द और मति अलग-अलग तथा संयुक्त रूप होने पर भी भावश्रुत रूप नहीं होते हैं।¹³¹

(2) दूसरा कारण बताते हुए वे कहते हैं कि अनभिलाष्य को अभाष्यमाण कहते हैं, जो मतिज्ञान रूप होता है तथा अभिलाष्य (भाष्यमाण) श्रुतज्ञान रूप है। भाष्यमाण अर्थ हमेशा छोटा होने से मतिज्ञानी की अपेक्षा श्रुतज्ञानी हमेशा हीन रहता है। अतः ‘बुद्धिदिट्ठे अत्थे जे भासइ तं सुयं मई सहियं।’ पंक्ति का अर्थ निम्न प्रकार से कर सकते हैं कि सामान्य (मति-श्रुत से युक्त) बुद्धि से आलोचित हुए अर्थों में से जो अर्थ श्रुत मति सहित भाषण के योग्य है, चाहे वह अर्थ उस समय नहीं बोला जा रहा है तो भी वह भावश्रुत है, जबकि शेष अर्थ मति है।

127. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 117

128. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 128

129. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 128 बृहद्वृत्ति सहित

130. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 128

131. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 132, 133, 145

श्रुतज्ञान शब्द रूप तथा मतिज्ञान उभय रूप

जिसका कथन किया जाता है तथा जो कथन करता है उनके ही श्रुत होता है, ऐसा मानना भी उचित नहीं है, क्योंकि कुछ ऐसे भी अभिलाष्य पदार्थ होते हैं जिनका ज्ञान (निश्चय) मतिज्ञान के द्वारा ही होता है और शब्द रूप द्रव्यश्रुत द्वारा कहा जाता है। यदि बोलने वाले के श्रुत ही माना जायेगा तो श्रुतज्ञान का प्रसंग प्राप्त होगा जो कि अभीष्ट (श्रुतानुसारी नहीं होने से श्रुतोपयोग से रहित है) नहीं है। अतः जो अर्थ भाषण (बोलने) के योग्य नहीं (अनभिलाष्य) वह सम्पूर्ण अर्थ मति रूप है। जो अर्थ बोलने योग्य (अभिलाष्य) है और उस अर्थ की आलोचना श्रुतबुद्धि से होती है, तो वह अर्थ श्रुत है तथा जिस अर्थ की आलोचना मति से होती है तो वह अर्थ मति है। इस प्रकार श्रुतज्ञान शब्द में परिणत होता है और मति उभयस्वभाव रूप है।¹³²

क्या मतिज्ञान श्रुत परिणत होता है?

पूर्वपक्ष - विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 128 की 'इतरत्थ वि होज्ज सुयं, उवलद्धिसमं जइ भणेज्जा।' इस द्वितीय पंक्ति का अर्थ निम्न प्रकार से करते हुए कहता है कि मतिज्ञान से जितना जाना उतना (उपलब्धि समान) कहते हैं तो वह श्रुत है। अतः मतिज्ञान श्रुतज्ञान में परिणत होता है, ऐसा माना गया है।

उत्तपक्ष - जिनभद्रगणि इसको स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि ऐसा मानना उचित नहीं है क्योंकि जो मति है वह श्रुत नहीं हो सकता है और जो श्रुत है वह मति नहीं हो सकता है। अतः मतिज्ञान और श्रुतज्ञान भिन्न होने से मतिज्ञान श्रुतज्ञान में परिणत नहीं हो सकता है। क्योंकि दोनों का अपना-अपना अस्तित्व है। आगमानुसार दोनों का लक्षण अलग-अलग है और दोनों के आवरक कर्म भी भिन्न-भिन्न हैं। अतः दोनों एक हो ही नहीं सकते हैं। यदि अभिलाष्य व अनभिलाष्य पदार्थ को मतिज्ञानी मतिज्ञान द्वारा जानता है, फिर भी वह उपलब्धि (ज्ञान) के समान भाषण नहीं कर पाता है। क्योंकि उसमें अनभिलाष्य पदार्थ अवाच्य रूप होते हैं। अतः मति को उभयरूप मानलें अर्थात् अभिलाष्य पदार्थ जिन्हें जानकर बोलता है, वे श्रुतज्ञान रूप है और अनभिलाष्य पदार्थों के ज्ञान को मतिरूप मान लिया जाय तो क्या बाधा है? **जिनभद्रगणि** कहते हैं कि मानना उचित नहीं है क्योंकि मतिज्ञानी जो कुछ भी बोलता है, वह श्रुतानुसरण नहीं करते हुए स्वमति से ही बोलता है अतः मतिज्ञान में श्रुतरूपता संभव नहीं है।¹³³

5. कारण-कार्य से मति-श्रुत में अन्तर

मतिज्ञान कारण है, श्रुतज्ञान कार्य है इस अपेक्षा से दोनों भिन्न हैं। कुछेक आचार्यों के मतानुसार श्रुतज्ञान का कारण मतिज्ञान वल्कल (छाल) के समान है और श्रुतज्ञान कार्य होने से अवल्क रूप शुम्ब है। यहाँ वल्क का अर्थ पलाश आदि की छाल और अवल्क रूप शुम्ब का अर्थ उस छाल से बनी दवरिका (छाल को गूँथकर बनाई हुई दरी, चटाई या लड़ी) है। इस प्रसंग में मति वल्क जैसा और भावश्रुत शुम्ब जैसा है, ऐसा कहना चाहिए (वल्क कारण है, रज्जु कार्य है।) अर्थात् अर्हत् वचनादि रूप परोपदेश से सुसंस्कृत होकर मतिज्ञान ही विशिष्ट स्थिति को प्राप्त होता हुआ श्रुतज्ञान के रूप में जाना जाता है, इस प्रकार वल्क-अवल्क के रूप में इनकी भिन्नता होने से मति-श्रुत में भिन्नता है।¹³⁴

जिनभद्रगणि इसका खण्डन करते हैं, क्योंकि इससे भावश्रुत का अभाव, सांकर्य दोष, अभेद, स्व-आवरण सम्बन्धी भेद आदि समस्याएं उत्पन्न होती हैं। जैसेकि मति के बाद शब्द मात्र के

132. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 146-150 बृहद्वृत्ति सहित

133. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 135, 151-153

134. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 154 एवं बृहद्वृत्ति

सद्भाव को मानने से भावश्रुत का अभाव प्राप्त होगा। यदि मतिसहित शब्द को भावश्रुत मानते हैं तो मति और श्रुत में सांकर्य दोष आने से जो मतिज्ञान है वही भावश्रुत है, ऐसा मानने से दोनों में एकत्वपना प्राप्त होने से मति-श्रुत में अभेद प्राप्त होगा जो कि आगमानुसार नहीं है।¹³⁵

जिनभद्रगणि दृष्टांत को सही तरीके से घटाते हुए कहते हैं कि आगम में मतिपूर्वक भावश्रुत का सद्भाव कहा है, इसलिए मति को वल्क (कारण) के समान और भावश्रुत शुम्ब (कार्य) के समान मानने से दृष्टांत की संगति बैठती है। जीव मति से चिन्तन करता है, उसके बाद श्रुत की परिपाटी का अनुसरण करता है अर्थात् वाच्यवाचक भाव रूप में परोपदेश या श्रुतग्रन्थ का वस्तु के साथ नियोजन करता है, इसलिए वल्क व शुम्ब के समान मति व श्रुत में कार्यकारण भाव होने से परस्पर भेद की सिद्धि हो सकती है और दृष्टांत भी सही तरीके से घटित होता है।¹³⁶

उपर्युक्त चर्चा का सारांश यह है कि मतिज्ञान और द्रव्यश्रुत में तथा मतिज्ञान का प्रसंग होने से भावश्रुत और द्रव्यश्रुत में भी वल्क और शुम्ब का दृष्टांत घटित नहीं होता है। मतिज्ञान और भावश्रुत के लिए यह दृष्टांत घटित हो सकता है। नंदी के टीकाकारों ने भी लगभग ऐसा ही उल्लेख किया है।¹³⁷

6. अनक्षर-अक्षर से मति-श्रुत में अन्तर

पूर्वपक्ष - मति अनक्षर रूप तथा श्रुत अक्षर-अनक्षर (उभयात्मक) रूप होने से दोनों में भेद है। **उत्तरपक्ष** - **जिनभद्रगणि** कहते हैं कि यदि पूर्वपक्ष मति को अनक्षर मानेगा तो ईहादि जो शब्दोल्लेख सहित होते हैं जैसेकि 'यह स्थाणु है या पुरुष है?' आदि विकल्पों का समावेश मति में कैसे होगा? **पूर्वपक्ष** - आगम में मतिज्ञान के ईहादि भेदों को श्रुतनिश्चित बताया है, इसलिए अक्षरात्मक मतिज्ञान से ईहादि का ज्ञान होना मान लेंगे, बुद्धि (मति) से नहीं, क्योंकि वह अनक्षर रूप है। **उत्तरपक्ष** - 1. यदि ईहादि ज्ञान को श्रुत का व्यापार मानेंगे तो मतिज्ञान में अवग्रह के अलावा कुछ भी नहीं रहेगा। 2. श्रुत से ईहादि का ज्ञान तो होता है, किन्तु वह ज्ञाता के श्रुत रूप नहीं होकर मति रूप ही है, तो इससे तो श्रुत का अभाव प्राप्त हो जाएगा। 3. ईहादि की पर्याय के ज्ञान के समय मति-श्रुत का उपयोग उभयात्मक मानते हो तो यह भी सिद्धान्त के अनुकूल नहीं है। 4. ईहादि के ज्ञान द्वारा प्रमाता का ज्ञान अक्षरानुसारी होने से श्रुतनिश्चित है, मानने पर औत्पातिकी आदि चारों मतियाँ भी श्रुतनिश्चित रूप हो जायेंगी क्योंकि औत्पातिकी आदि चार बुद्धियाँ ईहादि के अभाव में नहीं होती हैं। जबकि आगम में चार बुद्धियों को अश्रुतनिश्चित बताया है।

जिनभद्रगणि और **मलधारी हेमचन्द्र** कहते हैं कि पूर्व में श्रुत से संस्कारित मति वाला जो ज्ञान, वर्तमान में श्रुत निरपेक्ष रूप में प्रवृत्त होता है, वह श्रुतनिश्चित है, शेष औत्पातिकी आदि चार बुद्धियाँ अश्रुतनिश्चित हैं। अतः अवग्रह और औत्पातिकी आदि बुद्धि की अपेक्षा से मतिज्ञान अनक्षर और ईहादि की अपेक्षा से अक्षर रूप है, अतः मतिज्ञान भी उभयात्मक है। इन दोनों ज्ञानों में भेद का मुख्य कारण है कि श्रुत में द्रव्याक्षर का सद्भाव है, जबकि मति में द्रव्याक्षर नहीं होता है, क्योंकि द्रव्यमति के रूप में मतिज्ञान का प्रयोग रूढ़ नहीं है, इस प्रकार दोनों में द्रव्याक्षर की अपेक्षा साक्षरता और अनक्षरता से अन्तर है।¹³⁸

जिनभद्रगणि और **मलधारी हेमचन्द्र** के अनुसार मति-श्रुत में उपर्युक्त अन्तर का मुख्य कारण है कि पुस्तक में लिखित अकारादि वर्ण तथा ताल्वादि करणजन्य शब्द व्यंजानक्षर हैं। अंतर में

135. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 155 एवं बृहद्वृत्ति

137. नंदीचूर्ण पृ. 51, मलयगिरि पृ. 142

136. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 156-161 एवं बृहद्वृत्ति

138. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 162-169 एवं बृहद्वृत्ति

स्फुरित होने वाला अकारादि वर्ण का ज्ञान भावाक्षर है। व्यंजनाक्षर (द्रव्याक्षर) की अपेक्षा मतिज्ञान अनक्षर है। भावाक्षर की अपेक्षा मतिज्ञान साक्षर है। जैसेकि अवग्रह में भावाक्षर नहीं होता है, इसलिए वह अनक्षर तथा ईहा में भावाक्षर होता है, इसलिए वह साक्षर होता है। श्रुतज्ञान व्यंजनाक्षर और भावाक्षर दोनों की अपेक्षा साक्षर है।¹³⁹ जिनदासगणि श्रुत को साक्षर और मति को अनक्षर मानते हैं, हरिभद्र और मलयगिरि ने श्रुत को साक्षर और मति को उभयात्मक माना है।¹⁴⁰

7. मूक-अमूक से मति-श्रुत में अन्तर

कतिपय आचार्य ऐसा मानते हैं कि मतिज्ञान मूक है, क्योंकि वह केवल अपने को ही प्रकाशित करता (स्वप्रत्यायक) है एवं उसमें दूसरों के प्रतीति कराने वाले 'द्रव्याक्षर' का अभाव है। श्रुतज्ञान अमूक (मुखर) है, क्योंकि वह स्व-पर दोनों को प्रकाशित करता (स्व-परप्रत्यायक) है, इस अपेक्षा से दोनों में भेद है। जिनभद्रगणि उपर्युक्त कथन में दोष मानते हुए पूर्वपक्ष से पूछते हैं कि हाथ आदि की चेष्टाएं परप्रबोधक होने से मति भी परप्रत्यायक (दूसरों को प्रकाशित करता) है। जिस प्रकार शब्द से दूसरों को बोध/ज्ञान होता है, वैसे ही करादि की चेष्टाओं से भी होता है। इस प्रकार मतिज्ञान के हेतु भी पर-प्रबोधक हैं (दूसरों को बोध कराते हैं) अतः मति और श्रुत में कोई भेद नहीं है।

जिनभद्रगणि मूक और अमूक की अपेक्षा अन्तर को घटित करने के लिए कहते हैं कि पुस्तकों में लिखित अक्षर (शब्द रूप) द्रव्यश्रुत श्रुतज्ञान का असाधारण कारण होने से द्रव्यश्रुत पर-प्रबोधक होता है, किन्तु करादि चेष्टाएं मतिज्ञान का असाधारण कारण नहीं होने के कारण पर-प्रबोधक नहीं है, क्योंकि पर-प्रत्यायक का सम्बन्ध ज्ञान के साथ नहीं, लेकिन ज्ञान के कारण के साथ है। द्रव्यश्रुत तो कारण में कार्य का उपचार करते हुए श्रुतज्ञान रूप से निरूपित होता है, अतः परम्परा से श्रुतज्ञान का द्रव्यश्रुत की अपेक्षा से परप्रबोधक होना संगत है। किन्तु मतिज्ञान करादि चेष्टाओं से पृथक् होने से तथा परम्परा से मतिज्ञान पर-प्रबोधक नहीं होता है, अतः मति व श्रुत में मूक और अमूक होने का भेद युक्ति संगत घटित होता है।¹⁴¹ जिनदासगणि, हरिभद्र और मलयगिरि ने जिनभद्रगणि का समर्थन किया है।¹⁴²

इस प्रकार जिनभद्रगणि ने सात प्रकार से मति और श्रुत में भेद को स्पष्ट करते हुए उनसे पूर्व तथा समकाल में इस सम्बन्ध में जो-जो मतान्तर प्रचलित थे, उनका युक्तियुक्त खण्डन किया है। जिसका बहुलता से बाद वाले आचार्यों ने अनुगमन किया है। तत्त्वार्थसूत्रानुसार काल (विषय) आदि की अपेक्षा से भी मति और श्रुत में भेद हो सकता है, जिसका उल्लेख निम्न प्रकार से है।

8. विषय ग्रहण काल की अपेक्षा दोनों में भेद

उमास्वाति कहते हैं कि मति वर्तमानकाल विषयक होता है, जबकि श्रुत त्रिकाल विषयक है। श्रुतज्ञान मतिज्ञान की अपेक्षा अधिक विशुद्ध है। मतिज्ञान इन्द्रिय-अनिन्द्रिय निमित्त है, यह आत्मा का पारिणामिक भाव है, जबकि श्रुत मनोनिमित्त है, क्योंकि वह आप्त के उपदेशात्मक होता है।¹⁴³

139. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 170 एवं बृहद्वृत्ति

140. नंदीचूर्ण पृ. 51 “अक्कराणगत सुतं अमक्खरं मतिनाणं ति।” -हरिभद्री पृ. 52, मलयगिरि पृ. 142

141. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 172-175

142. नंदीचूर्ण पृ. 51, हरिभद्रीय पृ. 52, मलयगिरि पृ. 142

143. उत्पन्नाविनष्टार्थग्राहकं साम्प्रतकालविषयं मतिज्ञानं, श्रुतज्ञानं तु त्रिकालविषयम् च विशुद्धतरं। किंचान्यत्। मतिज्ञानमिन्द्रियानिन्द्रिय-निमित्तम्, आत्मने ज्ञस्वाभाव्यात् पारिणामिकं, श्रुतज्ञानं तु तत्पूर्वकमाप्तोपदेशात् भवतीति। -तत्त्वार्थभाष्य 1.20

मलयगिरि ने भी ऐसा उल्लेख किया है कि मतिज्ञान का विषय है - वर्तमानवर्ती वस्तु। श्रुत ज्ञान का विषय, अतीत, वर्तमान और अनागत तीनों कालों में समान परिणामन वाली ध्वनि (शब्द) है।¹⁴⁴

9. इन्द्रिय एवं मन की निमित्तता के आधार पर दोनों में भेद

उमास्वाति के अनुसार मतिज्ञान इन्द्रिय और अनिन्द्रिय निमित्त है और श्रुतज्ञान मनोनिमित्त है। जिनभद्रगणि के अनुसार दोनों ज्ञान इन्द्रिय और मनोनिमित्त होते हैं। हरिभद्र, मलयगिरि और यशोविजयजी ने भी इसका समर्थन किया है।¹⁴⁵ अकलंक के अनुसार मतिज्ञान इन्द्रिय और मनोनिमित्त और श्रुतज्ञान मनोनिमित्त है।¹⁴⁶ इसके समन्वय का प्रयास करते हुए विद्यानंद ने कहा है कि मति साक्षात् इन्द्रिय मनोनिमित्त है, जबकि श्रुत साक्षात् मनोनिमित्त है और परम्परा से इन्द्रियमनोनिमित्त है।¹⁴⁷ इस स्पष्टता से उमास्वाति, जिनभद्रगणि और अकलंक के मत में कोई भिन्नता नहीं रहती है।

श्रुतज्ञान में इन्द्रिय और मन कारण नहीं

कन्हैयालाल लोढ़ा का अभिमत है कि श्रुतज्ञान इन्द्रिय और मन से नहीं होता है क्योंकि तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार 'श्रुतमनिन्द्रियस्य'¹⁴⁸ अर्थात् श्रुतज्ञान अनिन्द्रिय (इन्द्रियों के विषय से रहित) का विषय है। वे कहते हैं कि कतिपय विद्वान् अनिन्द्रिय का अर्थ मन करते हैं, परन्तु यह उचित नहीं है, क्योंकि एकेन्द्रिय आदि 'मन रहित' सभी असन्नी प्राणियों के श्रुतज्ञान या श्रुतअज्ञान नियम से होता है। यदि सूत्रकार को श्रुत का विषय मन इष्ट होता, तो 'श्रुतं मनसः' सूत्र ही रच देते। विधिपरक 'मनसः' शब्द के स्थान पर निषेधात्मक अनिन्द्रियस्य शब्द लगाया ही इसलिए गया है कि इन्द्रिय और मन आदि मतिज्ञान के विषय को श्रुतज्ञान नहीं समझा जाएं। यह अक्षर श्रुतज्ञान जीव में सदैव विद्यमान है। केवल उस पर आवरण आ गया है। आवरण विद्यमान वस्तु पर ही होता है, अविद्यमान वस्तु पर आवरण नहीं आ सकता। आशय यह है कि अक्षर श्रुतज्ञान का अर्थ क, ख, ग आदि अक्षरों से संबद्ध नहीं होकर क्षरण रहित अमरत्व, ध्रुवत्व व आविनाशित्व के ज्ञान से संबंधित है।¹⁴⁹

क्या मतिज्ञान द्रव्यश्रुत रूप है?

'बुद्धिहिद्वे अथे जे भासइ तं सुयं मई सहियं। इतरत्थ वि होज्ज सुयं, उवलद्धिसमं जइ भणेज्जा।'¹⁵⁰ गाथा से यह फलितार्थ निकलता है कि मतिज्ञान भावश्रुत रूप तो नहीं हो सकता है, लेकिन उसे द्रव्यश्रुत के रूप में स्वीकार करें तो कोई बाधा नहीं है। इसी क्रम में जिनभद्रगणि कहते हैं कि मतिज्ञान के द्रव्यश्रुत में परिवर्तित होने में बाधा नहीं है क्योंकि मति (बुद्धि) द्वारा देखे गए पदार्थ को मति उपयोग सहित होकर बोल रहे वक्ता का मतिज्ञान द्रव्यश्रुत (शब्द रूप) का कारण है, अतः वह द्रव्यश्रुत रूप है। जबकि जिसका कथन नहीं किया जा रहा है वह मतिज्ञान है। द्रव्यश्रुत भी तभी होगा जबकि जो अश्रुतानुसारी (अपनी मति से ही) पर्यालोचित मति पदार्थों में ईहा, अपाय रूप ज्ञान में जो अक्षर लाभ होता है, वह शब्द रूप द्रव्यश्रुत का कारण होने से द्रव्यश्रुत है। लेकिन श्रुतानुसारी अर्थात् परोपदेश/तीर्थकर वचन रूप श्रुत का अनुसरण कर जो आन्तरिक अक्षर-लाभ होता है, उसे वक्ता श्रुतोपयोग में रहकर ही बोलता है, अतः यहाँ बोले गए शब्द का कारण मतिज्ञान नहीं, क्योंकि वह श्रुतपूर्वक है। इसलिए यहाँ मतिज्ञान द्रव्यश्रुत रूप नहीं होगा।¹⁵¹

144. मलयगिरि पृ. 66

145. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 144, हरिभद्रीय पृ. 52, मलयगिरि पृ. 141, जैनतर्कभाषा पृ. 6

146. उभयेरिन्द्रियानिन्द्रिय-निमित्तत्वादिति चैन्न असिद्धत्वात्। - तत्त्वार्थराजवार्तिक 1.9.30-32

147. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, 1.9

148. तत्त्वार्थसूत्र 2.22

149. बन्ध तत्त्व, पृ. 11

150. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 128

151. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 136

अभिलाप्य और अनभिलाप्य का विचार

‘अहव भइ दव्वसुयत्तमेउ भावेण सा विरुज्जेज्जा। जो असुयक्खरलाभो, तं भइसहिओ पभासेज्जा’ गाथा 136 के उत्तरार्द्ध में कहा है कि ‘अन्यत्र भी श्रुत हो सकता है’ इस कथन से मतिज्ञान दो प्रकार का प्रतीत होता है, यथा बोलने वाले वक्ता का मतिज्ञान जो कि द्रव्यश्रुत रूप है, तथा जिसका कथन नहीं किया जाता है, वह मतिज्ञान भी द्रव्यश्रुत हो सकता है, लेकिन जितना मतिज्ञान से जाना, उस सब का कथन करे ऐसा संभव नहीं है, क्योंकि जितना बोला जा सकता है, उसकी अपेक्षा अकथनीय (उपलब्ध ज्ञान) मतिज्ञान अनन्तगुणा अधिक होता है।¹⁵²

पूर्वपक्ष - मतिज्ञान¹⁵³ और श्रुतज्ञान¹⁵⁴ से उपलब्ध सभी पदार्थों का कथन करना सम्भव नहीं है। **उत्तपक्ष** - दोनों ज्ञानों का बहुत्व (प्राचुर्य) है। क्योंकि सम्पूर्ण आयु पर्यन्त भी मति-श्रुतज्ञानी ज्ञात पदार्थों के अनन्तत्वं भाग को ही बोल पाता है। ऐसा आगम में उल्लेख है। श्रुतज्ञान से ज्ञात सभी पदार्थों का कथन कर पाना सम्भव नहीं है, क्योंकि उनकी बहुलता है और शेष मति आदि चार ज्ञानों के द्वारा ज्ञात पदार्थ बहुलता में होते हुए स्वभाव से ही अनभिलाप्य हैं। क्योंकि अभिलाप्य (प्रज्ञापनीय) पदार्थ अनभिलाप्य पदार्थों के अनन्तत्वं भाग प्रमाण होते हैं और जो श्रुत-निबद्ध (चौदहपूर्व) हैं, वह अभिलाप्य पदार्थों का अनन्तत्वं भाग ही है। क्योंकि उत्कृष्ट चौदहपूर्वी समस्त कथनीय वस्तुओं के ज्ञाता होते हुए भी परस्पर षट्स्थानपतित न्यून्याधिक हैं। क्योंकि सभी अभिलाप्य पदार्थ यदि श्रुतनिबद्ध होते तो उनके ज्ञानियों की परस्पर तुल्यता ही होती, षट्स्थानपतित न्यून्याधिकता नहीं बताई जाती। इस हीनाधिकता का कारण क्षयोपशम की विचित्रता है, क्योंकि अक्षर लाभ की दृष्टि से सभी चौदहपूर्वी का ज्ञान समान है, उनमें कोई अन्तर नहीं है।¹⁵⁵

मति और श्रुत में अभेद

श्वेताम्बर एवं दिगम्बर दोनों परम्पराओं के लगभग सभी आचार्यों ने मति और श्रुत को भिन्न रूप में स्वीकार किया है, लेकिन अपनी व्याख्या और विवेचन में ऐसा अंश छोड़ा है जिससे इन दोनों में अभेद भी लक्षित होता है। जैसेकि नंदीसूत्र में ‘दोऽवि एयाइं अण्णमण्णमणुगयाइं तहवि पुण इत्था आयरिया णाणत्तं पण्णवयंति।’¹⁵⁶ अर्थात् मति और श्रुतज्ञान अन्योन्य अनुगत हैं, तथापि आचार्य इन दोनों में भेद बताते हैं। उपर्युक्त नंदीसूत्र के पाठ में आये हुए ‘तहवि’ से विदित होता है कि नंदीसूत्र से पूर्व काल में इन दोनों ज्ञानों को भिन्न और अभिन्न मानने की परम्परा प्रचलित रही होगी। इसलिए आचार्यों ने इनमें भेद करने का प्रयास किया। नंदीसूत्र के इस पाठ का समर्थन पूज्यपाद और अकलंक ने भी किया है।¹⁵⁷ लेकिन ऐसा अर्थ करना उचित नहीं, क्योंकि नंदीसूत्र में जो सहचारित्व बताया है, वह किसी विशेष ज्ञान की अपेक्षा से नहीं होकर सामान्य रूप से कथन है। क्योंकि सभी जीवों में दोनों ज्ञान साथ-साथ रहते हैं अर्थात् एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के जीवों में कम से कम दो ज्ञान तो होते हैं। अतः यह नियम है कि मति और श्रुत के बिना कोई जीव नहीं होता है। इसी अपेक्षा से दोनों का सहचारित्व बताया है।

152. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 137

153. इयरम्मि वि मइणाणे, होज्ज तयं तस्समं जइ भणेज्जा। न य तरइ तत्तिंयं, सो जमणेगगुणं तयं तत्तो। - विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 137

154. इयरत्थोऽवि भावसुये, होज्ज तयं तस्समं जइ भणिज्जा।

न य तरइ तत्तिंयं, सो जमणेगगुणं तयं तत्तो। - विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 130

155. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 138-143

156. पारसमुनि नंदीसूत्र पृ. 97

157. सर्वार्थसिद्धि 1.30, राजवार्तिक 1.9.30

विशेषावश्यकभाष्य “जं सामि-काल-कारण-विसय-परोक्षत्तणेहिं तुल्लाईं। तब्भावे सेसाणि य तेणाईए मइ सुयाईं”¹⁵⁸ में भी मति और श्रुत में समानता बताई है, जिसका उल्लेख पूर्व में कर दिया गया है।¹⁵⁹ जिनभद्रगणि का अनुसरण हरिभद्र, मलधारी हेमचन्द्र, मलयगिरि आदि आचार्यों ने किया है।

अकलंक का भी यही मत है कि मतिज्ञान और श्रुतज्ञान का विषय बराबर है, मति और श्रुत सदा अव्यभिचारी हैं, नारद पर्वत की तरह एक दूसरे का साथ नहीं छोड़ते, अतः एक के ग्रहण से दूसरे का ग्रहण हो ही जाता है तथा दोनों सहभावी हैं, जहाँ मति है, वहाँ श्रुत है, जहाँ श्रुत है वहाँ मति है।¹⁶⁰

सिद्धसेन दिवाकर ने तो स्पष्ट शब्दों में दोनों में अभेदता को स्वीकार किया है। इसके लिए उन्होंने जो तर्क दिये हैं, उनका उल्लेख यशोविजयजी ने ज्ञानबिन्दुप्रकरण में निम्न प्रकार से किया है।

1. श्रुतोपयोग मति उपयोग से भिन्न नहीं है, क्योंकि मति उपयोग से उसके कार्य की प्रतिपत्ति हो जाती है।

2. श्रुत को मति से भिन्न माना जाता है तो अनुमान, स्मृति और प्रत्यभिज्ञान आदि को भी मतिज्ञान से भिन्न मानना पड़ेगा, क्योंकि उनमें भी सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष का अभाव है।

3. आगम में अवग्रह आदि को शब्दतः सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष रूप मानने से अनुमानादि अर्थतः परोक्षमति रूप है, इसी प्रकार श्रुतज्ञान को भी परोक्ष मति कहना चाहिए, क्योंकि अनुमानादि परोक्षज्ञान का तो परोक्षमति में समावेश कर लिया और श्रुतरूप परोक्षज्ञान को मतिज्ञान से भिन्न माना है जो कि सही नहीं लगता है।

4. मति-श्रुत की भिन्नता के कारण ‘मत्या जानामि’ अर्थात् मति से जानता हूँ, ‘श्रुत्वा जानामि’ अर्थात् श्रुत से जानता हूँ, ऐसा अनुभव मति और श्रुत का भेदक धर्म है तो फिर ‘अनुमाय जानामि’ अर्थात् अनुमान से जानता हूँ, ‘स्मृत्वा जानामि’ अर्थात् स्मृति से जानता हूँ, ऐसा अनुभव अनुमान, स्मृति आदि को भी मति से पृथक् सिद्ध करता है। यदि अनुमितित्व आदि को मति का व्याप्य माना जाय तो शब्दत्व को मति का व्याप्तत्व क्यों नहीं कह सकते हैं? पूर्वपक्ष यदि ऐसा कहे कि श्रुत के समय ‘मत्या न जानामि’ अर्थात् मति से नहीं जानता हूँ, ऐसी प्रतीति होती है, इसलिए मति और श्रुत भिन्न हैं, तो उसका उत्तर यह है कि जैसे वैशेषिकों ‘नानुमिनोमि’ ऐसी प्रतीति शब्दज्ञान की अपेक्षा विशेष विषयक है। वैसे ही ‘मत्या न जानामि’ ऐसी प्रतीति मतिज्ञान में विशेषविषयक है, ऐसा मानने पर किसी भी प्रकार की बाधा नहीं आती है।

5. मति का कार्य निसर्गज सम्यक्त्व है और श्रुत का कार्य अधिगमज सम्यक्त्व है, तो कार्य भिन्न होने से कारण (मति-श्रुत) भी भिन्न हैं, तो उसका समाधान यह है कि दोनों प्रकार के सम्यक्त्व में मुख्य कारण तो तदावरणक्षयोपशम है। इससे कार्य की भिन्नता प्राप्त नहीं होती है।¹⁶¹

इस प्रकार मति-श्रुत को अभिन्न सिद्ध करने का यह प्रयास सिद्धसेन दिवाकर की विशेषता को इंगित करता है, ऐसा तार्किक प्रयास दिगम्बर साहित्य में प्राप्त नहीं होता है। यशोविजयजी जैन वाङ्मय में एक ऐसे विद्वान् थे, जिन्होंने मति और श्रुत की आगमसिद्ध युक्ति को स्वीकार करते हुए भी सिद्धसेन के मत का तार्किक शैली से समर्थन किया है।¹⁶²

158. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 85

159. द्वितीय अध्याय - ‘ज्ञानमीमांसा : सामान्य परिचय’, पृ. 64

161. ज्ञानबिन्दुप्रकरण पृ. 16-17

160. तत्त्वार्थराजवार्तिक 1.9.19-20 पृ. 34

162. ज्ञानबिन्दुप्रकरण, परिचय, पृ. 23

मतिज्ञान के भेद

आगम काल से लेकर विशेषावश्यकभाष्य के काल तक मतिज्ञान के भेदों की संख्या विभिन्न प्रकार से प्राप्त होती है।

मतिज्ञान के 28 भेदों का उल्लेख श्वेताम्बर-दिगम्बर दोनों परम्पराओं में प्राप्त होता है। इसका उल्लेख सर्वप्रथम आवश्यकनिर्युक्ति में देखने को मिलता है और उसके बाद तत्त्वार्थाधिगम सूत्र, षट्खण्डागम, कसायपाहुड आदि में भी ऐसा ही उल्लेख प्राप्त होता है। इससे ये भेद प्राचीन प्रतीत होते हैं। षट्खण्डागम और तत्त्वार्थसूत्र के समय में विशेष विचारणा के साथ यह संख्या 336 और 384 तक पहुँच गई। नंदीसूत्र में ये भेद श्रुतनिश्चित के हैं, जबकि षट्खण्डागम और तत्त्वार्थसूत्र में यही भेद मति सामान्य के हैं।

नंदीसूत्र और विशेषावश्यकभाष्य के अनुसार मतिज्ञान के भेद

नंदीसूत्र में मतिज्ञान के 28 भेदों का उल्लेख मिलता है। अवग्रह (अर्थावग्रह) ईहा, अवाय और धारणा के छह-छह भेद (पांच इंद्रियां और मन) इस प्रकार चौबीस भेद होते हैं, इन में व्यंजनावग्रह के (चक्षु और मन को छोड़कर) चार भेद मिलाने पर श्रुतनिश्चित मति के 28 ($6+6+6+6+4=28$) भेद होते हैं।¹⁶³

मतान्तर - भाष्यकार ने मतान्तर का उल्लेख किया है कि कतिपय आचार्य अवग्रह आदि चार को पांच इंद्रिय और मन इन छह से गुणा करने पर चौबीस भेद करते हैं तथा औत्पातिकी, वैनयिकी, कार्मिकी और पारिणामिकी इन चार प्रकार की बुद्धियों को मिलाकर मतिज्ञान के 28 भेद करते हैं। उनका कहना है कि यहाँ पर सम्पूर्ण मतिज्ञान के भेदों का उल्लेख है। यदि अश्रुतनिश्चित रूप चार प्रकार की बुद्धि का यहाँ ग्रहण नहीं करेंगे तो श्रुतनिश्चित मतिज्ञान के ही 28 भेद हो जायेंगे, न कि सम्पूर्ण मतिज्ञान के, इसलिए उक्त प्रकार से मतिज्ञान के 28 भेद करने चाहिए। जिसमें श्रुतनिश्चित और अश्रुतनिश्चित दोनों के भेदों का समावेश हो जाए। **शंका** - यदि इस प्रकार मतिज्ञान के भेद कहेंगे तो व्यंजनावग्रह के चार भेदों का क्या होगा? **समाधान** - अवग्रह के दो भेद होते हुए भी सामान्य रूप से अर्थावग्रह के भेदों में व्यंजनावग्रह के भेदों का समावेश हो जाता है। जैसे कि सेना में हाथी, घोड़े, पैदल सैनिक आदि सभी का समावेश हो जाता है। इसी प्रकार अवग्रह सामान्य रूप से एक ही मानने पर उसमें अर्थावग्रह एवं व्यंजनावग्रह का समावेश हो जाता है। अवग्रह आदि चार में प्रत्येक के छह-छह भेद होने पर श्रुतनिश्चित मतिज्ञान के 24 भेद और अश्रुतनिश्चित रूप चार प्रकार की बुद्धि मिलाने पर मतिज्ञान के 28 भेद प्राप्त होंगे।

जिनभद्रगणि इस मतान्तर का खण्डन करते हुए कहते हैं कि अवग्रहादि चार से अश्रुतनिश्चित भिन्न नहीं है। अतः अश्रुतनिश्चित चार प्रकार की बुद्धि का समावेश भी अवग्रहादि में ही है। जिस प्रकार अवग्रह सामान्य होने से व्यंजनावग्रह के चार भेद छोड़ सकते हैं, वैसे ही चार प्रकार की बुद्धि को भी छोड़ा जा सकता है। अतः मतिज्ञान के अर्थावग्रह के 24 भेद और व्यंजनावग्रह के 4 इस प्रकार मतिज्ञान के कुल 28 भेद मानना ही उचित हैं।¹⁶⁴

यदि यहाँ कोई शंका करे कि औत्पातिकी आदि चार प्रकार की बुद्धि में अवग्रहादि चार भेद कैसे सम्भव है, तो इसके समाधान में जिनभद्रगणि कहते हैं कि नंदीसूत्र में नट पुत्र भरत, शिला आदि बहुत से दृष्टान्त बताये हैं, जिनमें अवग्रहादि चारों घटित होते हैं। जैसे कि औत्पातिकी बुद्धि के लिए

‘कुक्कुट’ का उदाहरण दिया है, जिसमें प्रतिबिम्ब का सामान्य ग्रहण अवग्रह, उसका अन्वेषण करना ईहा, दर्पण में गिरता हुआ प्रतिबिम्ब उपयोगी है, ऐसा निर्णय करना अवाय है, इत्यादि।

शंका – आगम में तो मतिज्ञान के श्रुतनिश्चित और अश्रुतनिश्चित भेदों का स्पष्ट उल्लेख है इस प्रकार समावेश करने पर उसकी संगति कैसे बैठेगी? इस का समाधान यह है कि अवग्रहादि सामान्य धर्म की अपेक्षा से अश्रुतनिश्चित का समावेश श्रुतनिश्चित में किया है, जबकि श्रुतनिश्चित और अश्रुतनिश्चित का जहाँ विचार किया जाएगा वहाँ विशिष्ट धर्म की अपेक्षा श्रुतनिश्चित और अश्रुतनिश्चित को अलग-अलग रूप में स्वीकार किया है। इस प्रकार संगति बिठाने पर आगम से कोई विरोध नहीं आएगा। क्योंकि वस्तु में समान धर्म से समानता और भिन्न धर्मों से भिन्नता सिद्ध ही है। अवग्रहादि की समानता से अश्रुतनिश्चित का श्रुतनिश्चित में समावेश कर श्रुतनिश्चित मतिज्ञान के 28 भेद मानना आगमानुसार संगत है, लेकिन व्यंजनावग्रह को छोड़कर श्रुतनिश्चित और अश्रुतनिश्चित के 28 भेद करना उचित नहीं है। क्योंकि आगम में भी भेद पूर्वक श्रुतनिश्चित कहने के बाद ही अश्रुतनिश्चित का उल्लेख है।¹⁶⁵

जिनभद्रगणि के अनुसार श्रुतनिश्चित मति के अवग्रह आदि 28 भेदों के बहु-अबहु, बहुविध-अबहुविध, क्षिप्र-अक्षिप्र, अनिश्रित-निश्चित, निश्चित-अनिश्चित, ध्रुव-अध्रुव- ये बारह भेद होते हैं। आभिनिबोधिक ज्ञान के उपर्युक्त 28 भेदों को इन बारह भेदों से गुणित करने पर $(28 \times 12 = 336)$ तीन सौ छत्तीस भेद होते हैं।¹⁶⁶ इसमें अश्रुतनिश्चित चार बुद्धियाँ मिलाने से मतिज्ञान के $336 + 4 = 340$ भेद होते हैं। तत्त्वार्थसूत्र परम्परा में धारणा के अन्तर्गत आने वाला जातिस्मरण, पृथक् करके सम्मिलित किया जाये तो $340 + 1 = 341$ भेद होते हैं।

षट्खण्डागम के अनुसार मतिज्ञान के भेद

षट्खण्डागम के सूत्र 5.5.22 में 4, 24, 28 और 32 भेदों का और षट्खण्डागम के सूत्र 5.5.34 में 4, 24, 28, 32, 48, 144, 168, 192, 288, 336 और 384 की भेद संख्या का उल्लेख मिलता है। इन भेदों को अकलंक और धवलाटीकाकार ने निम्न प्रकार से स्पष्ट किया है -

1. चार भेद के रूप में अवग्रह, ईहा, अवाय एवं धारणा।
2. अवग्रह आदि चार को श्रोत्रेन्द्रियादि छह भेदों से गुणा करने पर 24 भेद होते हैं,
3. नंदीसूत्र में वर्णित 28 भेद के समान।
4. व्यंजनावग्रह के भेदों को अलग से मानते हुए प्राप्त 28 भेदों में अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा को मिलाने पर 32 भेद होते हैं।
5. अवग्रहादि चार को बहु आदि 12 से गुणा करने पर 48 भेद।
6. उक्त 24 भेदों को बहु आदि छह से गुणा करने पर 144 भेद होते हैं।
7. व्यंजनावग्रह के भेदों को अलग से मानते हुए प्राप्त 28 भेदों को बहु आदि 6 से गुणा करने पर 168 भेद।
8. उक्त 32 भेदों को बहु आदि 6 से गुणा करने पर 192 भेद।
9. उक्त 24 भेदों को बहु आदि बारह से गुणा करने पर 288 भेद।
10. व्यंजनावग्रह के भेदों को अलग से मानते हुए प्राप्त 28 भेदों को बहु आदि 12 से गुणा करने पर 336 भेद।
11. उक्त 32 भेदों को बहु आदि 12 से गुणा करने पर 384 भेद प्राप्त होते हैं।

165. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 304-306

166. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 307

अकलंक ने राजवार्तिक में 48 भेदों का उल्लेख नहीं किया है, परन्तु लघीयस्त्रय में इन भेदों का उल्लेख किया है और इनका प्रामाण्य भी सिद्ध किया है।¹⁶⁷

षट्खण्डागम में बहु आदि 12 भेदों का शब्दतः उल्लेख नहीं है। लेकिन मति के 336 आदि भेद स्वीकार करने से बहु आदि को अर्थतः रूप से स्वीकार किया है।¹⁶⁸

तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार मतिज्ञान के भेद

तत्त्वार्थसूत्र में मतिज्ञान के 2, 4, 28, 168 और 336 भेदों का उल्लेख मिलता है। (तत्त्वार्थभाष्य 1.19) तत्त्वार्थ सूत्र में मतिज्ञान के दो भेद के रूप में इन्द्रियनिमित्त और अनिन्द्रियनिमित्त, शेष 4, 28, 168 और 336 भेदों का खुलासा षट्खण्डागम के अनुसार है। बहु आदि 12 भेदों का उल्लेख सर्वप्रथम तत्त्वार्थसूत्र में ही प्राप्त होता है।¹⁶⁹ जिनभद्रगणि और मलयगिरि आदि ने भी बहु आदि का उल्लेख किया है।¹⁷⁰

सारांश – तीनों परम्पराओं का समावेश करने पर मतिज्ञान के भेदों की संख्या निम्न प्रकार से प्राप्त होती है – 2, 4, 24, 28, 32, 48, 144, 168, 192, 288, 336, 340, 341 और 384 भेद मतिज्ञान के प्राप्त होते हैं। वास्तव में मतिज्ञान के मूल में 28 भेद (नंदीसूत्र के अनुसार) ही थे, जो काल क्रम और अपेक्षा से बढ़ते और घटते गये हैं।

श्रुतनिश्चित एवं अश्रुतनिश्चित मतिज्ञान

मुख्य रूप से मतिज्ञान के दो भेद हैं – 1. श्रुतनिश्चित 2. अश्रुतनिश्चित। आभिनिबोधक ज्ञान के यह दो भेद सर्वप्रथम नंदीसूत्र में प्राप्त होते हैं। मतिज्ञान के इन भेदों का नंदी परम्परा के आचार्यों ने समर्थन किया है।¹⁷¹ षट्खण्डागम और तत्त्वार्थ परम्परा के आचार्यों ने इन भेदों का उल्लेख नहीं करते हुए अवग्रहादि को ही सामान्य रूप से मतिज्ञान के भेद रूप में स्वीकार किया है।¹⁷² इन दोनों भेदों की ऐतिहासिकता की चर्चा पं. सुखलाल संघवी ने ज्ञानबिन्दुप्रकरणम्¹⁷³ के परिचय में करते हुए कहा है कि उक्त दोनों भेद उतने प्राचीन नहीं, जितने प्राचीन मतिज्ञान के अवग्रहादि भेद हैं। क्योंकि मतिज्ञान के अवग्रह आदि तथा बहु, बहुविध आदि भेद श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्परा में समान रूप से प्राप्त होते हैं। लेकिन उक्त दोनों भेदों का कथन मात्र श्वेताम्बर परम्परा में ही प्राप्त होता है। श्वेताम्बर ग्रन्थों में अनुयोगद्वार और निर्युक्ति के काल तक तो इनका उल्लेख नहीं है। ये भेद सर्वप्रथम नंदीसूत्र में प्राप्त होते हैं, इसलिए संभवतः नंदी की रचना के समय से विशेष प्राचीन नहीं है, यह भी संभव हो कि यह भेद नन्दीकार ने ही किये हों। लेकिन नंदीसूत्र में इनकी परिभाषा नहीं मिलती है। इनकी परिभाषा सर्वप्रथम **जिनभद्रगणि** के विशेषावश्यकभाष्य में प्राप्त होती है।

1. **श्रुतनिश्चित** – जिसकी मति श्रुत से पहले ही संस्कारित (परिकर्मित) हो चुकी है, ऐसे व्यक्ति को व्यवहार काल में उस श्रुत की अपेक्षा किये बिना ही जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह श्रुतनिश्चित है अर्थात् जो मति श्रुत से परिकर्मित/संस्कारित है, किन्तु वर्तमान व्यवहारकाल में श्रुत से निरपेक्ष है, वह श्रुतनिश्चित मति है।

167. राजवार्तिक 1.19.10, धवला पु. 13, सू. 5.5.34-35 पृ. 234-241

168. षट्खण्डागम, पु. 13, सू. 5.5.35

169. तत्त्वार्थभाष्य 1.16

170. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 307, मलयगिरि पृ. 183, जैनतर्कभाषा पृ. 21

171. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 300-302, नंदीचूर्ण पृ. 56-64, हारिभद्रीय 57-66, मलयगिरि पृ. 144-177

172. षट्खण्डागम पु. 13 सू. 5.5.22-35, तत्त्वार्थसूत्र 1.15, राजवार्तिक 1.15

173. ज्ञानबिन्दुप्रकरणम्, परिचय पृ. 24-25

2. अश्रुतनिश्चित - श्रुत से परिकर्मित (संस्कारित) मति जिसकी पहले नहीं हुई है, ऐसे व्यक्ति को सहज ही जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह अश्रुतनिश्चित है अर्थात् श्रुत संस्कार से निरपेक्ष सहज मति अश्रुतनिश्चित मति है।¹⁷⁴

नंदीचूर्णि में जिनदासगणि कहते हैं कि द्रव्य श्रुत (द्वादशांग) के आधार पर होने वाला आभिनिबोधिक ज्ञान श्रुतनिश्चित आभिनिबोधिक ज्ञान कहलाता है। जिस आभिनिबोधिक ज्ञान की उत्पत्ति में द्रव्यश्रुत और भावश्रुत की आवश्यकता नहीं होती है, वह अश्रुतनिश्चित आभिनिबोधिक ज्ञान है।¹⁷⁵

हरिभद्रसूरि के अनुसार - द्रव्य श्रुत (द्वादशांग) को ग्रहण करके, उसके अनुसार श्रुतपरिकर्मित मति वाले के श्रुत की अपेक्षा से जो आभिनिबोधिक ज्ञान उत्पन्न होता है, वह श्रुतनिश्चित आभिनिबोधिक ज्ञान कहलाता है। श्रुत सहायता के बिना तथाविध क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाला आभिनिबोधिकज्ञान अश्रुतनिश्चित आभिनिबोधिक ज्ञान कहलाता है।¹⁷⁶

जिनभद्रगणि और हरिभद्रसूरि दोनों के अनुसार श्रुतपरिकर्मित मति वाले के श्रुतनिश्चित मतिज्ञान होता है, लेकिन भाष्यकार मति को वर्तमान में श्रुतातीत मानते हैं, जबकि हरिभद्रसूरि मति को वर्तमान में श्रुत सापेक्ष मानते हैं।

मलयगिरि की नंदीवृत्ति के कथनानुसार - जिसकी मति शास्त्र के अध्ययन से परिष्कृत हो गई है, उस व्यक्ति को ज्ञान की उत्पत्ति के समय शास्त्र की पर्यालोचना के बिना जो मतिज्ञान उत्पन्न होता है, वह श्रुतनिश्चित है। शास्त्र-संस्पर्श से सर्वथा रहित, तथाविध क्षयोपशम से जो यथार्थ वस्तुसंस्पर्शी मतिज्ञान होता है, वह अश्रुतनिश्चित मति है।¹⁷⁷

जिस मतिज्ञान का श्रुतज्ञान से सम्बन्ध हो, जिस मतिज्ञान सीखा हुआ श्रुतज्ञान काम आता हो, जिस मतिज्ञान पर पहले सीखे हुए श्रुतज्ञान का प्रभाव हो, उस मतिज्ञान को - 'श्रुतनिश्चित मतिज्ञान' कहते हैं। इसका दूसरा नाम 'मति' है।

जिस मतिज्ञान का श्रुतज्ञान से सम्बन्ध नहीं हो, जिस मतिज्ञान में सीखा हुआ श्रुतज्ञान काम नहीं आता हो, जिस मतिज्ञान पर पहले सीखे हुए श्रुत ज्ञान का प्रभाव नहीं हो, उस मतिज्ञान को 'अश्रुत-निश्चित आभिनिबोधिक ज्ञान' कहते हैं। इसका दूसरा नाम 'बुद्धि' है।¹⁷⁸

अश्रुतनिश्चित वैनयिकी में श्रुत का स्पर्श होता है, इससे श्रुत स्पर्श-अस्पर्श श्रुतनिश्चित-अश्रुतनिश्चित के भेद का व्यावर्तक लक्षण कैसे बन सकता है? जिनभद्रगणि इसका समाधान करते हुए कहते हैं कि श्रुतनिश्चित में श्रुतस्पर्श की बहुलता होती है जबकि अश्रुतनिश्चित में श्रुत का स्पर्श अल्प होता है। श्रुत का अल्प और बहुत्व स्पर्श ही दोनों के भेद का व्यावर्तक लक्षण है।¹⁷⁹

प्रश्न - 'इंदिय-मणोनिमित्तं, तं सुयनिस्सियमहेयरं च पुणो। तत्थेक्केक्कं चउभेयमुग्गहो-प्पत्तियाइयं'¹⁸⁰ श्रुतनिश्चित मतिज्ञान के अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा-ये चार भेद तथा अश्रुतनिश्चित मतिज्ञान के औत्पातिकी, वैनेयिकी, कार्मिकी और पारिणामिकी-ये चार भेद बतलाये हैं तो इस प्रकार कुल आठ भेद मतिज्ञान के प्राप्त होते हैं।

उत्तर - नहीं, वे भेद वास्तव में अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा-इन चार भेदों से पृथक् नहीं

174. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 177 बृहद्वृत्ति, पृ. 90

175. नंदीचूर्णि पृ. 57

176. हरिभद्राय वृत्ति, पृ. 57

177. मलयगिरि, नंदीवृत्ति, पृ. 144

178. पारसमुनि, नंदीसूत्र, पृ. 102

179. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 168, हरिभद्राय पृ. 54 मलधारी हेमचन्द्र गाथा 169, मलयगिरि पृ. 159

180. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 177

हैं, क्योंकि औत्पातिकी, वैनयिकी, कार्मिकी और पारिणामिकी इन बुद्धियों में भी पदार्थ का (विषय का) ग्रहण, विचारणा, निर्णय और धारणा होती ही है। अतएव उक्त चारों बुद्धियाँ भी अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणात्मक होने से अवग्रहादि से अभिन्न हैं अथवा 'सामान्य रूप में मति ज्ञान, श्रुत का अनुसरण करने वाला है। किन्तु ये चार बुद्धियाँ ग्रंथ आदि रूप श्रुत का अनुसरण करने वाली नहीं हैं।' इस विशेष बात का ज्ञान कराने के लिए ही सूत्रकार ने पहले मतिज्ञान के श्रुतनिश्चित और अश्रुतनिश्चित-ये दो भेद किये और चारों बुद्धियों को अश्रुतनिश्चित में-श्रुतनिश्चित अवग्रहादि से भिन्न करके बतलाया।

अश्रुतनिश्चित मतिज्ञान के भेद

अश्रुतनिश्चित के चार भेद होते हैं - 1. औत्पातिकी 2. वैनयिकी 3. कार्मिकी तथा 4. पारिणामिकी।¹⁸¹

भगवती सूत्र में इन चार प्रकार की बुद्धियों को अरूपी बताते हुए वर्ण, गंध, रस और स्पर्श से रहित बताया है।¹⁸² भगवती में अवग्रहादि चार और औत्पातिकी आदि चार बुद्धियों को आत्मा रूप में स्वीकार किया है।¹⁸³ इस प्रकार चार बुद्धियों को ज्ञान रूप तो स्वीकार किया है, लेकिन इनका मतिज्ञान के भेदों के रूप में उल्लेख प्राप्त नहीं होता है। स्थानांग सूत्र में अवग्रहादि चार का सम्बन्ध मति के साथ किया है, लेकिन औत्पातिकी आदि चार बुद्धि का नहीं।¹⁸⁴ आवश्यकनिर्युक्ति में भी मतिज्ञान के भेद के रूप इनका उल्लेख नहीं है।¹⁸⁵ इस प्रकार निर्युक्ति काल तक तो इनका उल्लेख मतिज्ञान के भेदों के रूप में नहीं हुआ था, मतिज्ञान के भेदों के रूप में सर्वप्रथम इनका ऐसा उल्लेख नंदीसूत्र में प्राप्त होता है।¹⁸⁶ धवलाटीका में औत्पातिकी आदि चार बुद्धियों का प्रज्ञा के भेदों के रूप में उल्लेख हुआ है।¹⁸⁷

आवश्यकनिर्युक्ति में औत्पातिकी आदि चारों बुद्धियों के लक्षण दिए हैं। इन चारों बुद्धियों के स्वरूप आदि का उल्लेख नंदीसूत्र में विस्तार से किया गया है। विशेषावश्यकभाष्य (स्वोपज्ञ) में नंदीगत बहुत सी गाथाएं मिलती हैं। इन चारों बुद्धियों को कथानकों के माध्यम से समझाया है, लेकिन निर्युक्ति, नंदीसूत्र और नंदीचूर्ण और हारिभद्रीय वृत्ति में चार बुद्धि के कथानक के नाम निर्देश मात्र हैं, जिनभद्रगणि¹⁸⁸ आवश्यकचूर्ण और नंदीसूत्र टिप्पण (चन्द्रसूरिकृत) में ये कथानक संक्षेप में मिलते हैं। मलयगिरि ने इन कथानकों का विस्तार से वर्णन किया है।¹⁸⁹ बुद्धियों का स्वरूप निम्न प्रकार से हैं-

1. औत्पातिकी

जो बुद्धि अन्य किसी भी कारण के बिना तथाविध पटु क्षयोपशम से स्वतः उत्पन्न हो, वह 'औत्पातिकी बुद्धि' है अर्थात् जिस बुद्धि के द्वारा जिसे पहले कभी घटित होते हुए आँख से देखा नहीं, कभी किसी जानकार से उस विषय में कुछ सुना भी नहीं और मन से भी कभी उस विषय पर विचार नहीं किया, ये तीनों कारण नहीं हों और जो केवल क्षयोपशम मात्र से उत्पन्न हो, वह विषय भी तत्क्षण-बिना विलम्ब के तत्काल समझ में आ जाता है और वह भी विशुद्ध रूप में समझ में आ जाता है, उसे 'औत्पातिकी बुद्धि' कहते हैं।¹⁹⁰

181. पारसमुनि, नंदीसूत्र, पृ. 102, विशेषावश्यकभाष्य गाथा 177

182. भगवतीसूत्र श. 12 उ. 5, पृ. 175, स्थानांगसूत्र 4.4. पृ. 431

183. भगवतीसूत्र श. 17 उ. 2 पृ. 613

184. स्थानांगसूत्र 4.4. पृ. 431-432

185. आवश्यकनिर्युक्ति गाथा 938, विशेषावश्यकभाष्य स्वोपज्ञ गाथा 3596

186. ज्ञानबिन्दुप्रकरण, परचिय पृ. 24-25

187. धवला, पु. 9, सू. 4.4.18, पृ. 82

188. विशेषावश्यकभाष्य स्वोपज्ञ गाथा 3603

189. मलयगिरि पृ. 145

190. आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा 939, विशेषावश्यकभाष्य, स्वोपज्ञ गाथा 3599

औत्पत्तिकी बुद्धि से जो काम किया जाता है, उसकी सफलता में कभी बाधा नहीं आती। यदि आ भी जाय, तो बाधा नष्ट हो जाती है और काम में सफलता प्राप्त होती है।

षट्खण्डागम के अनुसार औत्पातिकी आदि चार बुद्धियों से विनयपूर्वक द्वादशांग को धारण करके मृत्यु के बाद देव में उत्पन्न होकर अविनष्ट संस्कार सहित मनुष्य भव में उत्पन्न होने के बाद श्रवण, अध्ययन आदि के बिना जो प्रज्ञा होती है, वह औत्पातिकी बुद्धि होती है। इस प्रकार औत्पातिकी बुद्धि के मूल में पूर्वभव में प्राप्त श्रुत को स्वीकार किया है। विनय से सीखा हुआ श्रुतज्ञान प्रमाद के कारण विस्मृत हो जाता है, वह परभव में पुनः स्मरण होकर औत्पत्तिक बुद्धि रूप होता है।¹⁹¹ लेकिन श्वेताम्बर साहित्य में पूर्वजन्म में सीखे हुए चौदह पूर्व की विस्मृति और उत्तरवर्ती मनुष्य भव में पुनः प्रकट होने का उल्लेख नहीं मिलता है।

औत्पातिकी बुद्धि विषयक 27 दृष्टान्त के नाम निम्न प्रकार से हैं - 1. भरत शिला 2. पणित-होड़ 3. वृक्ष 4. खुड्डुग-अंगूठी 5. पट-वस्त्र 6. शरट-गिरगिट 7. काक 8. उच्चार - विष्ठा 9. गज 10. घयण - भाण्ड 11. गोल 12. स्तंभ 13. क्षुल्लक-बाल परिवान्नक 14. मार्ग, 15. स्त्री 16. पति 17. पुत्र 18. मधु का छत्ता, 19. मुद्रिका, 20. अंक, 21. नाणक, 22. भिक्षु, 23. चेटक-बालक और निधान, 24. शिक्षा, 25. अर्थशास्त्र, 26. 'जो इच्छा हो वह मुझे देना' और 27. एक लाख।¹⁹²

आवश्यकनिर्युक्ति और नंदीसूत्र में 'भरहसिल, पणिय....' के बाद 'भरहसिल मिंढ...' गाथा का क्रम है, जबकि विशेषावश्यकभाष्य में यह क्रम विपरीत है।¹⁹³ हरिभद्रीय वृत्ति और मलयगिरि वृत्ति वाले नंदीसूत्र में उक्त गाथाओं का क्रम आवश्यक निर्युक्ति के समान है। परन्तु मलयगिरि ने कथानक जिनभद्रगणि के क्रमानुसार दिये हैं।¹⁹⁴

दृष्टान्त - कुछ यात्री वन में जा रहे थे। मार्ग में फलों से लदा हुआ आम का वृक्ष देखा और उसके फल खाने की इच्छा हुई। पेड़ पर कुछ बन्दर बैठे हुए थे। वे यात्रियों को आम लेने में बाधा डालने लगे। यात्रियों ने आम लेने का उपाय सोचा और बन्दरों की ओर पत्थर फेंकने लगे। इससे कुपित होकर बन्दरों ने आम के फल तोड़कर यात्रियों को मारने के लिए उन पर फैंकना आरम्भ कर दिया। इस प्रकार यात्रियों का अपना प्रयोजन सिद्ध हो गया। आम प्राप्त करने की यह यात्रियों की औत्पत्तिकी बुद्धि थी।

2. वैनेयिकी

वन्दनीय पुरुषों के प्रति विनय, वैयावृत्य, आराधना आदि से जो बुद्धि उत्पन्न होती है या बुद्धि में विशेषता आती है, उसे 'वैनेयिकी बुद्धि' कहते हैं अथवा जो बुद्धि धर्म, अर्थ, काम-तीनों पुरुषार्थ अथवा तीनों लोक का तलस्पर्शी ज्ञान रखने वाली है और विकट से विकट प्रसंग को भी पार कर सकती है तथा उभय-लोक सफल बना देती है, उसे 'वैनेयिकी बुद्धि' कहते हैं।¹⁹⁵ जिनभद्रगणि ने त्रिवर्ग के दो अर्थ किये हैं - 1. धर्म, अर्थ और काम को प्राप्त करने का उपाय बताने वाले शास्त्र 2. अधोलोक, तिर्यक् लोक और ऊर्ध्वलोक प्ररूपणा करने वाले आगम। इसी प्रकार विनय के भी दो अर्थ किये हैं - 1. गुरुसेवा 2. गुरु उपदेश शास्त्र। हरिभद्र ने भी दोनों अर्थों का समर्थन किया है।¹⁹⁶

191. षट्खण्डागम, पु. 9 पृ. 82

192. आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा 940-942, विशेषावश्यकभाष्य, स्वोपज्ञ गाथा 3601-3603

193. आचार्य महाप्रज्ञ, नंदी, पृ. 82, विशेषावश्यकभाष्य स्वोपज्ञ गाथा 3601-3603

194. मलयगिरि पृ. 144

195. आवश्यकनिर्युक्ति गाथा 943

196. विशेषावश्यकभाष्य, स्वोपज्ञ गाथा 3604-3607, हरिभद्रीय, पृ. 55

धवलाटीका के अनुसार – विनय सहित द्वादशांगी (बारह अंग) पढ़ने पर अथवा परोपदेश से जो बुद्धि उत्पन्न होती है, वह वैनयिकी कहलाती है।¹⁹⁷ इस प्रकार धवलाटीका में द्वादशांग के अध्ययन से उत्पन्न बुद्धि अर्थ करके जिनभद्रगणि के दूसरे अर्थ का समर्थन किया गया है। मलयगिरि ने विनय के दूसरे अर्थ का समर्थन किया है।¹⁹⁸

वैनयिकी बुद्धि के पन्द्रह दृष्टान्तों के नाम – 1. निमित्त, 2. अर्थशास्त्र, 3. लेख, 4. गणित, 5. कूप, 6. अश्व, 7. गर्दभ, 8. लक्षण, 9. ग्रन्थी, 10. औषधि, 11. रथिक, 12. गणिका 13. भीगी साड़ी, दीर्घतृण और कौञ्च पक्षी का वाम आवर्त, 14. नेवे का जल तथा 15. बैल, घोडा और वृक्ष से गिरना।¹⁹⁹

दृष्टान्त – किसी गाँव में एक किसान रहता था। गुरु कृपा से वह भूगर्भ विज्ञान में बड़ा कुशल था। एक समय उसने गाँव के किसानों को बतलाया कि यहाँ इतना गहरा खोदने पर पानी निकल आयेगा। उसके कथनानुसार लोगों ने उतनी गहरी जमीन खोद डाली, फिर भी पानी नहीं निकला। तब किसान ने उनसे कहा कि इसके पास जरा एड़ी से प्रहार करो। उन्होंने जब एड़ी का प्रहार किया तो तत्काल पानी निकल आया। उस किसान की यह वैनेयिकी बुद्धि थी।

3. कार्मिकी

जो बुद्धि, सतत चिंतन के अन्तिम सार रूप हो और निरंतर कर्म के विशाल अनुभव युक्त हो तथा जिससे धन्यवाद के पात्र कार्य कर दिखाये जाये, उसे कार्मिकी बुद्धि कहते हैं अर्थात् जो बुद्धि काम करने से उत्पन्न हो, यह बुद्धि किसी भी विवक्षित कार्य में मन का उपयोग एकाग्र करने से उत्पन्न होती है और कार्य को शीघ्र अल्प परिश्रम से और सुन्दर रूप में सम्पादित करने की कुशलता उत्पन्न करती है। उसके पश्चात् भी ज्यों-ज्यों कार्य अधिक किया जाता है तथा ज्यों-ज्यों उसका उत्तरोत्तर विचार मन्थन होता है, त्यों-त्यों उस बुद्धि में विशालता आती जाती है। ४. कार्मिकी बुद्धि से किये गये कार्य से लोगों में-विद्वानों द्वारा 'साधुवाद' और धनवानों से 'धन लाभ' प्राप्त होता है।²⁰⁰ जिनभद्रगणि ने उपयोग के दो अर्थ किये हैं – चित्त की एकाग्रता और मन का आग्रह (अभिनिवेश)। हरिभद्र और मलयगिरि ने दूसरे अर्थ का समर्थन किया है।²⁰¹ अतः कर्मजा बुद्धि की उत्पत्ति का मूल एकाग्रता, अभ्यास और मनन है।

धवलाटीका के अनुसार गुरु के उपदेश के बिना, तपश्चरण और औषध सेवन के बल से जो बुद्धि होती है, वह कर्मजा बुद्धि है।²⁰² धवलाटीकार ने भी कर्मजा बुद्धि की प्राप्ति में आचार्य के उपदेश के तत्त्व को स्वीकार नहीं किया है। यह प्रतिदिन के कार्य के अनुभव पर आधारित है।

कार्मिकी बुद्धि के बारह दृष्टान्तों के नाम – 1. हैरण्यक (सोनी), 2. कृषक, 3. कोलिक-जुलाहा, 4. दर्वी-लुहार, 5. मौक्तिक-मणिहार, 6. घृत-घी वाला, 7. प्लवक-नट, तैराक, 8. तुन्नवाय-दर्जी, 9. वर्द्धकी-बढ़ई, 10. आपूपिक-हलवाई, 11. घटकार-कुंभार और 12. चित्रकार-चितेरा।²⁰³

दृष्टान्त – घड़े बनाने में चतुर कुम्हार, पहले से उतनी ही प्रमाण युक्त मिट्टी उठा कर चाक पर रखता है कि जितने से घड़ा बन जाये। यह कर्मजा बुद्धि का उदाहरण है।

197. षट्खण्डागम, पु. 9, पृ. 82

198. मलयगिरि पृ. 159

199. आवश्यकनिर्युक्ति गाथा 944-945, विशेषावश्यकभाष्य, स्वोपज्ञ गाथा 3608-3609

200. आवश्यकनिर्युक्ति गाथा 946

201. विशेषावश्यकभाष्य, स्वोपज्ञ गाथा 3610-3612, हरिभद्रीय पृ. 55, मलयगिरि पृ. 164

202. धवला पु. 9, सू. 4.1.18 पृ. 82

203. आवश्यकनिर्युक्ति गाथा 947, विशेषावश्यकभाष्य, स्वोपज्ञ गाथा 3616

4. पारिणामिकी

जो बुद्धि, अवस्था के परिपक्व होने से पुष्ट हुई है, जिसमें अनुमानों, हेतुओं और दृष्टान्तों का अनुभव है और इनके बल पर अपना हित और कल्याण साध सकती है, उसे 'पारिणामिकी बुद्धि' कहते हैं अर्थात् परिणामों से जो बुद्धि उत्पन्न होती है, उसे 'पारिणामिकी बुद्धि' कहते हैं। स्वतः के अनुमान, अन्य लोगों से सुने हुए तर्क और घटित हुए तथा घटित हो रहे दृष्टान्तों के ज्ञान से पारिणामिकी बुद्धि सधती है। ज्यों-ज्यों वय में परिपाक आता है, त्यों-त्यों पारिणामिकी बुद्धि में परिपाक आता है। पारिणामिकी बुद्धि से किये गये कार्य से इहलोक तथा परलोक में हित होता है और अन्त में निःश्रेयस (मोक्ष) की उपलब्धि होती है।²⁰⁴ जिनभद्रगणि के अनुसार परिणाम जिसका प्रयोजन है, वह पारिणामिक है। परिणाम के दो अर्थ किये हैं - 1. मन से पूर्व और पश्चात् अर्थ का एकाग्रता पूर्वक चिंतन करना 2. उम्र में वृद्धि होने से जो बुद्धि में परिक्वता आती है, वह परिणाम है। मलयगिरि ने प्रथम अर्थ का समर्थन किया है।²⁰⁵

धवलाटीका के अनुसार जातिविशेष से उत्पन्न हुई बुद्धि पारिणामिकी है। इसलिए औत्पत्तिकी, वैनयिकी और कर्मजा से भिन्न बुद्धि का अंतर्भाव पारिणामिक प्रज्ञा में किया गया है।²⁰⁶

पारिणामिकी बुद्धि के 21 दृष्टान्तों के नाम - 1. अभयकुमार 2. सेठ 3. कुमार 4. देवी 5. उदितोदय राजा 6. साधु और नन्दिषेण 7. धनदत्त 8. श्रावक 9. अमात्य-मंत्री, 10. क्षपक 11. अमात्यपुत्र (मंत्री पुत्र) 12. चाणक्य 13. स्थूलभद्र 14. नासिकराज सुन्दरीनन्द 15. वज्र 16. चलन आहत 17. आँवला 18. मणि 19. साँप 20. खगी-गेंडा और 21. स्तुपेन्द्र इत्यादि पारिणामिकी बुद्धि के उदाहरण हैं।²⁰⁷

दृष्टान्त - किसी कुम्हार ने एक मनुष्य को एक बनावटी आँवला भेंट में दिया। वह रंग-रूप और आकार में बिलकुल आँवले के समान था। उसे लेकर उस मनुष्य ने सोचा कि यह रंग-रूप में तो आँवले के समान दिखता है, किन्तु इसका स्पर्श कठोर होता है तथा यह आँवले फलने की ऋतु भी नहीं है। ऐसा सोच कर उस आदमी ने समझ लिया कि यह आँवला असली नहीं है, किन्तु बनावटी है। इसलिए उसने भेंट को खाई नहीं पर प्रदर्शन में रखी। यह उस पुरुष की पारिणामिकी बुद्धि थी।

बुद्धि का क्रम

आवश्यकनिर्युक्ति, नंदी और धवलाटीका में चार बुद्धियों का क्रम औत्पत्तिकी, वैनयिकी, कर्मजा और पारिणामिकी है, जबकि तिलोयपण्णति²⁰⁸ में औत्पत्तिकी, पारिणामिकी, वैनयिकी और कर्मजा का क्रम दिया गया है। इन दोनों क्रमों में से आवश्यकनिर्युक्ति वाला क्रम अधिक तर्कसंगत प्रतीत होता है, क्योंकि पारिणामिकी, कर्मजा, वैनयिकी और औत्पत्तिकी उत्तरोत्तर सूक्ष्म-सूक्ष्मतर है।

नंदी में उक्त चार बुद्धियों का सम्बन्ध मतिज्ञान के साथ बताया है, जबकि तिलोयपण्णति²⁰⁹ में इनका सम्बन्ध श्रुतज्ञान के साथ किया है। क्योंकि श्रुतज्ञानावरण और वीर्यतराय का उत्कृष्ट क्षयोपमशम होने पर श्रमण ऋद्धि उत्पन्न होती है, जिसके औत्पत्तिकी आदि चार भेद हैं। धवला²¹⁰ में प्रज्ञा के औत्पत्तिकी आदि चार भेद किये हैं।

204. आवश्यकनिर्युक्ति गाथा 948

205. विशेषावश्यकभाष्य, स्वोपज्ञ गाथा 3617-3622, मलयगिरि पृ. 144

206. षट्खण्डागम, पु. 9 पृ. 84

207. आवश्यकनिर्युक्ति गाथा 949-951, विशेषावश्यकभाष्य, स्वोपज्ञ गाथा 3623-3625

208. तिलोयपण्णति, गाथा 1019

209. तिलोयपण्णति, गाथा 1017

210. धवला पु. 9, पृ. 82

श्रुतनिश्चित मतिज्ञान के भेद

आवश्यकनिर्युक्ति, तत्त्वार्थ और षट्खण्डागम में मतिज्ञान के सामान्यतः अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा इन चार भेदों का उल्लेख है। जबकि नंदी में इन चार भेदों और इनके प्रभेदों का श्रुतनिश्चित भेदों के रूप में उल्लेख है। अवग्रहादि का सर्वप्रथम उल्लेख निर्युक्ति में प्राप्त होता है।²¹¹ इसके बाद तत्त्वार्थसूत्र में इनका उल्लेख प्राप्त होता है।²¹²

प्रश्न - नंदीसूत्र में तो अवग्रहादि चार भेद श्रुतनिश्चित के ही बताये हैं, लेकिन स्थानांगसूत्र²¹³ के अनुसार श्रुतनिश्चित और अश्रुतनिश्चित दोनों के अवग्रहादि भेद किये हैं।

उत्तर - यद्यपि मतिज्ञान सम्बन्धी प्रत्येक निर्णय अवग्रहादि से ही होता है, तथापि नंदीसूत्र से श्रुतनिश्चित के ही अवग्रहादि भेद किये हैं। इसका कारण इन्द्रिय और मन से ग्रहण होने वाले विषयों को श्रुतरूप मानकर उनके विषयों को ग्रहण करने का जो व्यवस्थित क्रम है, उसी को व्यंजनावग्रह, अर्थावग्रह, ईहा, अपाय और धारणा के रूप में समझाया गया है। इस ज्ञान में पूर्व संस्कारों का सहयोग रहता है। अश्रुतनिश्चित और चारों बुद्धियाँ विषय ग्रहण के साथ अधिक सम्बन्ध नहीं रखकर, वस्तुस्थिति का गहराई से अनुभव, कार्यपटुता आदि के साथ सम्बन्ध रखती हैं। अतः उनमें अवग्रहादि श्रुतनिश्चित के समान स्पष्ट परिलक्षित नहीं होते हैं। अतः नंदीसूत्र में अवग्रहादि भेद अश्रुतनिश्चित के नहीं किये गये हैं। स्थानांगसूत्र में अश्रुतनिश्चित भी मतिज्ञान का भेद होने से तथा इन्द्रिय और मन से ही अपने विषय को ग्रहण करने वाला होने से इसमें भी अवग्रहादि भेदों का क्रम तो घटित होता ही है, अतः स्थानांगसूत्र में अश्रुतनिश्चित के भी अवग्रहादि भेद बताये गए हैं अर्थात् नंदीसूत्र में अश्रुतनिश्चित के अवग्रहादि भेदों की मुख्यता नहीं होने से उपेक्षित कर दिया गया है तथा स्थानांगसूत्र में गौण रूप से होने पर भी उनका अस्तित्व तो है ही, इसलिए बताये गए हैं। “उगग्रह ईहाऽवाओ य, धारणा एव हुंति चत्तारि। आभिणिबोहियनाणस्स, भेयवत्थु समासेणं।” इस गाथा में संक्षेप में मतिज्ञान के अवग्रहादि चार भेद किये गये हैं। इस प्रकार श्रुत-अश्रुत सभी प्रकार के मतिज्ञान के अवग्रहादि चारों भेद स्वीकार किए गये हैं।

स्थानांगवृत्ति²¹⁴ में अश्रुतनिश्चित मति के दो प्रकार बताये हैं - 1. श्रोत्रेन्द्रियादि से उत्पन्न मति 2. औत्पातिकी आदि चार बुद्धियाँ। श्रोत्रेन्द्रियादि से उत्पन्न अश्रुतनिश्चित मति में अर्थावग्रह और व्यंजनावग्रह दोनों होते हैं। जबकि औत्पातिकी आदि बुद्धियों से उत्पन्न अश्रुतनिश्चित मति में केवल अर्थवाग्रह ही होता है, क्योंकि व्यंजनावग्रह इन्द्रिय आश्रित होता है। चार बुद्धियों का ज्ञान मानस ज्ञान है, इसलिए वहाँ व्यंजनावग्रह सम्भव नहीं है। इस तरह व्यंजनावग्रह की अल्पता, अव्यक्तता और गौणता के आधार पर ही अर्थावग्रह को पहले और व्यंजनवाग्रह को बाद में रखा गया है। स्थानांगसूत्र में केवल अवग्रह का ही उल्लेख किया है। अश्रुतनिश्चित में ईहा आदि का उल्लेख नहीं है, जिनभद्रगणि ने यह उल्लेख किसी ग्रंथ के आधार पर किया या स्वोपज्ञ, कुछ स्पष्ट नहीं है। स्थानांग में श्रुतनिश्चित-अश्रुतनिश्चित भेदों का जो उल्लेख मिलता है, डॉ. हरनारायण पंड्या²¹⁵ कहते हैं कि स्थानांग में यह भेद आवश्यकनिर्युक्ति के काल के बाद ही आये हैं। क्योंकि प्राचीन काल से ही इनका उल्लेख स्थानांगसूत्र में होता तो निर्युक्तिकार भी इनका उल्लेख करते।

211. आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा 2

212. तत्त्वार्थसूत्र 1.15

213. स्थानांगसूत्र, स्था. 2. उ. 1 पृ. 36

214. स्थानांगवृत्ति, स्था. 2, उ. 1, सू. 71, पृ. 60

215. जैनसम्मत ज्ञानचर्चा, पृ. 82-83

विशेषावश्यकभाष्य में जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण अवग्रहादि के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहते हैं - 'अत्थाणं उग्गहणं अवग्गहं तह वियालणं ईहं। ववसायं च अवायं धरणं पुण धारणं बेत्ति।' अर्थात् पदार्थ के ग्रहण को 'अवग्रह' कहते हैं, पदार्थ की विचारणा को 'ईहा' कहते हैं, पदार्थ के व्यवसाय को 'अवाय' कहते हैं और पदार्थ के निर्णय ज्ञान के धारण करने को 'धारणा' कहते हैं। आगे की गाथा में इनका स्वरूप और स्पष्ट किया गया है - सामान्य अर्थ अवग्रहण (सामान्य अवग्रहण) है, अवग्रह के भेदों (विशेषों) की मार्गणा (अन्वेषणा) ईहा है, उसी ईहित पदार्थ का निश्चयात्मक अवगम अपाय है, और उसी निर्णयात्मक ज्ञान की अविच्छिन्न रूप से स्थिति धारणा कही जाती है।²¹⁶ इनका से विस्तार वर्णन भाष्यकार के आधार पर क्रमशः करेंगे।

जिनदासगणि महत्तर ने नन्दीचूर्णि में इनका स्वरूप इस प्रकार स्पष्ट किया है - रूपादि विशेष से निरपेक्ष अनिर्देश्य सामान्य का ग्रहण अवग्रह है। अवगृहीत अर्थ का विशेष विचार या अन्वेषण ईहा है। उस (ईहित) विशेषण विशिष्ट अर्थ का निर्णय होना अवाय है। उस विशेष रूप से ज्ञात अर्थ को धारण करना उसकी अविच्युति होना धारणा कहा जाता है।²¹⁷

पूज्यपाद, अकलंक आदि दिगम्बर दार्शनिक भी अवग्रह को छोड़कर ईहा आदि का इसी प्रकार से विवेचन करते हैं। वे अवग्रह के पहले 'दर्शन' का होना मानते हैं। उनके मत में विषय और विषयी (इन्द्रिय) का सन्निपात (सन्निकर्ष) होने पर दर्शन होता है, उसके पश्चात् अर्थ का ग्रहण अवग्रह कहलाता है। अवगृहीत अर्थ में उससे विशेष जानने की आकांक्षा ईहा है। विशेष को जान लेने पर यथास्वरूप का ज्ञान अवाय कहलाता है तथा अवाय द्वारा जाने गए अर्थ को कालान्तर में भी न भूलना धारणा है।²¹⁸

अवायज्ञान और धारणाज्ञान में इस प्रकार निश्चयात्मकता निर्विवाद है, किन्तु अवग्रह एवं ईहा ज्ञान की निश्चयात्मकता विवाद का विषय है। श्वेताम्बर आगम-परम्परा के अनुयायी **जिनभद्रगणि** आदि दार्शनिक अवग्रह और ईहाज्ञान में निश्चयात्मकता अंगीकार नहीं करते हैं, किन्तु प्रमाणशास्त्र के अनुयायी **अकलंक** आदि दिगम्बर दार्शनिक तथा **वादिदेवसूरि** आदि कुछ श्वेताम्बर दार्शनिक अवग्रह और ईहा ज्ञान को प्रमाण बतलाने के लिए उनमें निश्चयात्मकता स्वीकार करते हैं।

अवग्रह का स्वरूप

मतिज्ञान के चार भेदों में से प्रथम भेद अवग्रह का स्वरूप निम्न प्रकार से है -

उमास्वाति ने उल्लेख किया है कि - इन्द्रियों से विषय का अव्यक्त आलोचन अवग्रह है।²¹⁹

पूज्यपाद के मतानुसार - पदार्थ और उसे विषय करने वाली इन्द्रियों का योग्य देश में संयोग होने के अनन्तर पदार्थ का सामान्य प्रतिभासरूप 'दर्शन' होता है, उसके अनन्तर वस्तु का जो प्रथम बोध होता है उसे अवग्रह कहते हैं।²²⁰

जिनभद्रगणि के अनुसार - 'अत्थाणं उग्गहणं अवग्गहं' अर्थात् पदार्थों का अवग्रहण अवग्रह है।²²¹

216. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 179-180

217. नन्दिसूत्र (चूर्णियुतं), पृ. 34

218. भट्टकलंकदेव, तत्त्वार्थवार्तिक, अ. 1. सू. 15

219. तत्राव्यक्तं यथास्वमिन्द्रियैर्विषयाणामालोचनावधारणमवग्रहः। - तत्त्वार्थभाष्य 1.15

220. विषय-विषयिसंनिपातसमनन्तरमाद्यं ग्रहणमवग्रह विषयविषयिसंनिपाते सति दर्शनं भवति। तदनन्तरमर्थग्रहणमवग्रह।

- सर्वार्थसिद्धि, अ. 1 सू. 15 पृ. 111

221. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 179

नंदीसूत्र के कथनानुसार – श्रोत्र आदि उपकरण द्रव्यों के साथ शब्दादि पुद्गलों का सम्बन्ध होना और श्रोत्रादि भाव इन्द्रियों के द्वारा शब्दादि पुद्गलों को अव्यक्त रूप में जानना-‘अवग्रह’ कहलाता है।²²²

जिनदासगणि ने नंदीचूर्णि में कहा है कि जो अनिर्देश्य सामान्य मात्र रूप आदि अर्थों का ग्रहण किया जाता है अर्थात् जो नाम, जाति, विशेष्य-विशेषण आदि की कल्पना से रहित सामान्यमात्र का ज्ञान होता है, उसे अवग्रह कहते हैं।²²³

वीरसेन के मन्तव्यानुसार – विषय व विषयी का सम्बन्ध होने के अनन्तर जो प्रथम ग्रहण होता है, वह अवग्रह है। रस आदि अर्थ विषय हैं, पांचों इन्द्रियाँ एवं मन विषयी हैं, ज्ञानोत्पत्ति की पूर्वावस्था विषय व विषयी का सम्बन्ध है, जो दर्शन नाम से कहा जाता है। यह दर्शन ज्ञानोत्पत्ति के कारणभूत परिणाम विशेष की सन्तति की उत्पत्ति से उपलक्षित होकर अन्तर्मुहूर्त कालस्थायी है। इसके बाद जो वस्तु का प्रथम ग्रहण होता है, वह अवग्रह है, यथा-चक्षु के द्वारा ‘यह घट है, यह पट है’ ऐसा ज्ञान होना अवग्रह है। जहाँ घटादि संज्ञा के बिना रूप, दिशा, आकार आदि विशिष्ट वस्तु मात्र ज्ञान के द्वारा अनध्यवसाय रूप से जानी जाती है, वहाँ भी अवग्रह ही है, क्योंकि अनवगृहीत अर्थ में ईहादि ज्ञानो की उत्पत्ति नहीं हो सकती है।²²⁴

वादिदेवसूरि के अनुसार – विषय (पदार्थ) और विषयी (चक्षु आदि) का यथोचित देश में सम्बन्ध होने पर सत्तामात्र को जानने वाला दर्शन उत्पन्न होता है। इसके अनन्तर सबसे पहले, मनुष्यत्व आदि अवान्तर सामान्य से युक्त वस्तु को जानने वाला ज्ञान अवग्रह कहलाता है। विषय अर्थात् घट आदि पदार्थ, विषयी अर्थात् नेत्र आदि जब योग्य देश में मिलते हैं तब सर्वप्रथम दर्शनोपयोग उत्पन्न होता है। दर्शन सत्ता को ही जानता है। इसके पश्चात् उपयोग कुछ आगे की ओर बढ़ता है और वह मनुष्यत्व आदि अवान्तरसामान्ययुक्त वस्तु को जान लेता है। यह अवान्तर सामान्य युक्त वस्तु अर्थात् मनुष्यत्व आदि का ज्ञान ही अवग्रह कहलाता है।²²⁵

मलधारी हेमचन्द्र के अनुसार – 1. जिसमें रूप, रस आदि का निर्देश न किया जा सके, जिसका स्वरूप स्पष्ट न हो, उस सामान्य मात्र अर्थ का ग्रहण अवग्रह है।²²⁶

2. जो समस्त विशेषों को अपने अन्दर समेटे हुए होता है तथा किसी भी रूप से जो निर्दिष्ट नहीं किया जा सकता है, ऐसे सामान्य (सत्तामात्र) पदार्थ का एक समय में जो ग्रहण होता है वह अवग्रह कहलाता है।²²⁷

मतान्तर – जिनभद्रगणि ने मतान्तर का उल्लेख करते हुए कहा है कि कुछेक आचार्य सामान्यविशेषात्मक पदार्थ का जो अवग्रहण है जैसे ‘यह वह है’ इस प्रकार जो मतिज्ञान होता है, उसे भी अवग्रह की श्रेणी में मानते हैं। इसके पीछे उनका तर्क है कि सामान्यविशेषात्मक ग्राहक के बाद ‘यह वह है’ ऐसा विमर्श रूप मतिज्ञान ईहा रूप होता है। ईहा ज्ञान जिस ज्ञान के बाद हुआ है, वह

222. पारसमुनि, नंदीसूत्र, पृ. 182

223. इह सामण्यस्स रूपादिअसेसविसेसनिरवेक्खस्स जणिद्वेसस्स अवग्रहणं अवग्रहः। – नंदीचूर्णि पृ. 56

224. विषयविषयि.....ईहाद्यनुत्पत्ते। – षट्खण्डागम (धवला टीका), पृ. 13, सू. 5.5.23, पृ. 216-217

225. विषयविषयि-सन्निपातानन्तरसमुद्भूतसत्तामात्रगोचरदर्शनाज्जातं, आद्यं, अवान्तरसामान्याकारविशिष्टवस्तुग्रहणमवग्रहः

– वादिदेवसूरि, प्रमाणनयतत्त्वालोक, सूत्र 2.7

226. रूप-रसादिभैरेनिर्देश्यस्याऽव्यक्तस्वरूपस्य सामान्यार्थस्याऽवग्रहणं परिच्छेदनमवग्रहः।

–मलधारी हेमचन्द्र, बृहद्वृत्ति, गाथा 178, पृ. 90

227. मलधारी हेमचन्द्र बृहद्वृत्ति, गाथा 180, पृ. 91

अवग्रह ही है। जिस विमर्श के बाद या तो अंतिम निर्णय हो जाए या फिर ज्ञान का ऐसा क्षयोपशम हो कि ईहा की प्रवृत्ति नहीं हो तो, वह अपाय ही होगा। ऐसा मानना उचित नहीं है, क्योंकि सम्पूर्ण आयु-काल में भी अपाय की प्रवृत्ति नहीं हो पाएगी, क्योंकि उक्त विमर्श की प्रवृत्ति की कोई काल सीमा नहीं है। जिस पदार्थ से पहले ईहा नहीं हुई तो उस शब्द का निश्चय ज्ञान मानना युक्तियुक्त नहीं है, और जिससे पहले ईहा प्रवृत्त होती है, वह अवग्रह नहीं होकर अपाय होता है।²²⁸

अवग्रह के भेद और उनका स्वरूप

अवग्रह के स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए कहा गया है कि इन्द्रिय एवं पदार्थ का सन्निकर्ष होने के पश्चात् पहले निर्विकल्प दर्शन होता है एवं फिर जो पदार्थ का सामान्य एवं अनिर्देश्य ग्रहण होता है, वह अवग्रह कहलाता है। अवग्रह के स्वरूप के संबंध में जैनाचार्यों के निरूपण में भिन्नता भी प्राप्त होती है।

अवग्रह के भेद - व्यंजन और अर्थ का ग्राहक होने के कारण अवग्रह दो प्रकार का है - 1. **व्यंजनावग्रह** - अर्थ और इन्द्रिय का संयोग होना व्यंजनावग्रह है और 2. **अर्थावग्रह** - इन्द्रिय और अर्थ का सम्बन्ध होने पर नाम आदि की विशेष कल्पना से रहित सामान्य मात्र का ज्ञान अवग्रह है। अवग्रह के इन दो भेदों का उल्लेख सर्वप्रथम नंदीसूत्र में मिलता है।²²⁹ ऐसा ही उल्लेख जिनभद्रगणि²³⁰ और यशोविजयजी²³¹ ने भी किया है एवं दिगम्बर आगम षट्खण्डागम की धवला टीका में भी अवग्रह के इन्हीं दो भेदों का निरूपण है।²³²

श्रोत्र आदि उपकरण द्रव्य इन्द्रियों के साथ शब्दादि पुद्गलों का व्यंजन यानी सम्बन्ध-संयोग होना अर्थात् अर्थ और इन्द्रिय का संयोग होना 'व्यंजनावग्रह' कहलाता है। यद्यपि व्यंजनावग्रह के द्वारा ज्ञान नहीं होता तथापि उसके अन्त में होने वाले अर्थावग्रह के ज्ञानरूप होने से, अर्थात् ज्ञान का कारण होने से व्यंजनावग्रह भी उपचार से ज्ञान माना गया है। इसी प्रकार आगम-ग्रंथों में अवग्रह के नैश्चयिक और व्यावहारिक एवं विशदावग्रह और अविशदावग्रह ये भेद भी किये गये हैं। अवग्रह, ईहा का भेदाभेद, अवग्रह के भेदों के स्वरूप में मतभेद, अवग्रह और दर्शन में भेदाभेदता, अवग्रह और संशय में अन्तर, अवग्रह अवाय में अन्तर, अवग्रह ज्ञान प्रमाण है या नहीं इत्यादि विषयों के आधार पर अवग्रह का विशद वर्णन एक ही आगम अथवा ग्रंथ में एक साथ उपलब्ध नहीं होता है। अतः अवग्रह के स्वरूप को समझने के लिए जिज्ञासुओं को भिन्न-भिन्न आगम और ग्रंथों का अवलोकन करना पड़ता है। इस समस्या के समाधान के लिए सम्बद्ध साहित्य का समीक्षण करके प्रस्तुत शोध में उनका उल्लेख किया गया है।

व्यंजनावग्रह का स्वरूप

जिनभद्रगणि के अनुसार - उपकरणेन्द्रिय और विषय का संबंध व्यंजन कहलाता है। जिस प्रकार दीपक से घट प्रकाशित होता है, उसी प्रकार जिससे अर्थ व्यक्त (प्रकट) होता है, वह व्यंजनावग्रह होता है।²³³

228. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 181

229. उगहे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा - अत्थुग्गहे य वंजणुग्गहे य। - नंदीसूत्र पृ. 128

230. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 193, 336, राजवार्तिक 1.19.31

231. "स द्विविधः - व्यंजनावग्रहः, अर्थावग्रहश्च।" जैनतर्कभाषा, पृ. 7

232. षट्खण्डागम (धवला टीका), पु. 1, सू. 1.1.115, पृ. 354

233. वंजिज्जइ जेणत्थो घडो व्व दीवेण वंजणं तं च। उवगरणिंदियसद्दाइपरिणयहव्वसंबंधो। - विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 194

मलधारी हेमचन्द्र कहते हैं कि इन्द्रिय रूप व्यंजन से शब्दादिपरिणत द्रव्य के साथ व्यंजन रूप सम्बन्ध का अवग्रहण व्यंजनावग्रह है।²³⁴

मलयगिरि ने नंदीवृत्ति में उल्लेख किया है कि उपकरण इन्द्रिय और शब्दादि रूप में परिणत द्रव्य का संबंध होने पर प्रथम समय से लेकर अर्थावग्रह से पूर्व का जो अव्यक्त ज्ञान है, वह व्यंजनावग्रह है। यह अव्यक्त ज्ञान सुप्त-मत्त-मूर्च्छित पुरुष के ज्ञान जैसा होता है।²³⁵

धवलाटीका के अनुसार अप्राप्त अर्थ का ग्रहण अर्थावग्रह है।²³⁶

दृष्टांत द्वारा व्यंजनावग्रह का स्वरूप

मल्लक का दृष्टांत - नंदीसूत्र में व्यंजनावग्रह को मल्लक के दृष्टांत से समझाया गया है। एक पुरुष के पास एक मल्लक (सकोरा) था, जो तत्काल पका हुआ होने के कारण वह अत्यन्त उष्ण और रुक्ष था। पुरुष ने उसमें जल की एक बून्द डाली, पर वह शकोरे की उष्णता और रुक्षता से शोषित हो गयी। इस प्रकार जल की बून्दें डालते हुए सकोरे की उष्णता और रुक्षता पूरी नष्ट हो जाने पर एक ऐसी जल-बून्द होगी, जो सकोरे में शोषित नहीं होगी और वह सकोरे को कुछ गीला कर देगी। उसके पश्चात् भी एक-एक जल-बून्द डालते रहने पर कई जल-बून्दों से सकोरा पूरा गीला हो जाएगा। उसके बाद एक ऐसी बून्द होगी-जो सकोरे के तल पर अस्तित्व धारण किये हुए ठहरेगी। उसके पश्चात् एक-एक जल-बून्द डालते रहने पर कई जल-बून्दों से सकोरा भर जाएगा और उसके बाद की बून्दें सकोरे से बाहर निकलने लगेगी।

इसी प्रकार जो पूर्वोक्त सोए हुए पुरुष को जगाने वाला पुरुष, जब अनेक शब्द करता है और वे शब्द उस सुप्त पुरुष के कानों में प्रविष्ट होते होते, जब योग्य शब्द पुद्गलों के द्वारा श्रोत्रेन्द्रिय का व्यंजनावग्रह पूरा हो जाता है, तब उससे अगले समय में उस सोये हुए पुरुष को एक समय का अर्थावग्रह होता है, जिसमें वह शब्द को अत्यंत अव्यक्त रूप में जानता है। उससे अगले असंख्य समय में उसे व्यावहारिक अर्थावग्रह होता है, उससे वह 'कोई शब्द करता है'-इस अव्यक्त रूप में शब्द को जानकर 'हुँकार' करता है। परन्तु वह स्पष्ट व्यक्त रूप में नहीं जानता कि 'यह शब्द कौन कर रहा है?' उस व्यावहारिक अर्थावग्रह के अनन्तर वह पुरुष ईहा आदि में प्रवेश करता है।

'शकोरे' के समान 'श्रोत्रेन्द्रिय' है और 'जल' के समान 'शब्द' है। जैसे शकोरा एक जल-बून्द से भर नहीं पाता, उसके भरने में सैकड़ों जल-बून्दें चाहिए, वैसे ही श्रोत्रेन्द्रिय शकोरे के समान होने से उसका व्यंजनावग्रह एक समय प्रविष्ट शब्द पुद्गलों से पूरा नहीं हो जाता। उसे पूरा होने में असंख्य समय चाहिए।

जिनभद्रगणि ने उपर्युक्त दृष्टांत का विशेष उल्लेख नहीं किया है, लेकिन मलधारी हेमचन्द्र ने बृहद्वृत्ति²³⁷ में व्यंजनावग्रह के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए इसी दृष्टांत का उल्लेख नंदी की टीका के अनुसार ही किया है।

विशेषावश्यकभाष्य के अनुसार व्यंजन के अर्थ

जिसके द्वारा अर्थ व्यक्त किया जाय वह 'व्यंजन' कहलाता है। जिनभद्रगणि ने व्यंजन के तीन अर्थ किये हैं, वे कहते हैं कि नंदीसूत्र में 'जल का सिकोरा (मल्लक) जल बिन्दु से पूरित होते हुए

234. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 194 की टीका, पृ. 98

235. मलयगिरि, नंदीवृत्ति पृ. 169

236. प्राप्तार्थग्रहणं व्यंजनावग्रहः। धवला पु. 13, सू. 5.5.24, पृ. 220

237. विशेषावश्यकभाष्य की गाथा 249 की बृहद्वृत्ति

भर जाता है, वैसे ही श्रोत्रेन्द्रिय जब व्यंजन से पूर्ण हो जाती है।' ऐसा कहा है तो यहाँ 'व्यंजन' का अर्थ द्रव्य या इन्द्रिय या इन्द्रिय व द्रव्य का संयोग है, न कि व्यंजनावग्रह।²³⁸ उसी का अनुकरण करके मलधारी हेमचन्द्र ने भी व्यंजन के तीन अर्थ किये हैं - 1. उपकरणेन्द्रिय और शब्दादि परिणत द्रव्य इन दोनों का परस्पर जो सम्बन्ध है, वह उपकरणेन्द्रिय-शब्दादिपरिणतद्रव्य सम्बन्ध है, वह व्यंजन कहलाता है। 2. इंद्रियों के द्वारा अर्थ अभिव्यक्त होता है, इसलिए वह भी व्यंजन है और 3. जो व्यक्त किया जाता है, उसे भी व्यंजन कहते हैं अर्थात् इंद्रिय-विषय सम्बन्ध, इन्द्रियां, शब्दादिविषय इन तीनों को व्यंजन कहा जाता है।²³⁹

व्यंजन के तीन अर्थों का अन्य आचार्यों के द्वारा समर्थन

1. **द्रव्य** - तत्त्वार्थसूत्र में 'व्यंजनस्य अवग्रहः' शब्द व्यंजन का द्रव्यपरक अर्थ प्रकट करता है। इसका समर्थन पूज्यपाद, अकलंक आदि आचार्यों ने किया है। यशोविजयजी के अनुसार शब्द आदि के रूप में परिणत पुद्गल द्रव्यों का समूह भी व्यंजन कहलाता है। यह प्रथम अर्थ तब घटित होता है, जब पुद्गल द्रव्य प्रमाणोपेत होकर अपने विषय के प्रतिबोध में समर्थ बन जाते हैं।²⁴⁰

2. **इन्द्रिय** - नंदीसूत्र में जो मल्लक दृष्टान्त में प्रयुक्त **वंजणं पूरितं होति** शब्द व्यंजन का इन्द्रियपरक अर्थ प्रकट करता है, नंदी टीकाकारों ने भी ऐसा उल्लेख किया है। यशोविजयजी के अनुसार कदम्ब के फूल तथा गोलक आदि आभ्यन्तर निर्वृत्ति रूप इंद्रियों के शब्द आदि विषयों को ग्रहण करने की कारण भूत शक्ति, जिसे उपकरणेन्द्रिय कहते हैं, 'व्यंजन' कहलाती है। यह दूसरा अर्थ घटित होता है, जब पुद्गलों से द्रव्येन्द्रिय परिपूर्ण हो जाता है।²⁴¹

3. **द्रव्य और इन्द्रिय सम्बन्ध** - विशेषावश्यकभाष्य में जिनभद्रगणि कहते हैं कि जैसे दीपक से घट अभिव्यक्त होता है, वैसे ही जिससे अर्थ अभिव्यक्त होता है, वह व्यंजन है।²⁴² यशोविजयजी के अनुसार उपकरणेन्द्रिय और विषय का संबंध भी व्यंजन कहलाता है। अतएव व्यंजन (उपकरणेन्द्रिय) के द्वारा व्यंजन (विषय) का ग्रहण होना व्यंजनावग्रह है। व्यंजनावग्रह में मध्यमपदलोपी समास है, अर्थात् 'व्यंजन-व्यंजनावग्रह' में से बीच के 'व्यंजन' पद का लोप हो गया है।²⁴³ इस तीसरी अवस्था में जब पुद्गल द्रव्येन्द्रिय के अंगभूत बन जाते हैं और पुद्गल द्रव्येन्द्रिय से तादात्म्य स्थापित कर लेते हैं अर्थात् पुद्गल इन्द्रिय को पूर्ण कर देते हैं, इन्द्रिय अपने विषय के प्रतिबोध के लिए उन पुद्गलों को ग्रहण कर लेती है। इससे पुद्गल और इन्द्रिय दोनों के सहयोग से ज्ञान होता है। जिनदासगणि, हरिभद्र, मलयगिरि और यशोविजयजी ने तीनों ही अर्थों का समर्थन किया है।²⁴⁴

व्यंजनावग्रह के सम्बन्ध में दो मान्यताएं

1. पूज्यपाद आदि आचार्य अव्यक्त शब्दादि के ग्रहण को व्यंजनावग्रह मानते हैं।²⁴⁵ क्योंकि दर्शन के बाद शब्द का अव्यक्त ग्रहण है।

238. तोएण मल्लगं पिव वंजणमापूरियं ति जं भणियं। तं दव्वमिंदियं वा तस्संजोगो व न विरुद्धं। - विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 250

239. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 194 तथा 250 की टीका, पृ. 98, 126

240. तत्त्वार्थसूत्र 1.18, सर्वार्थसिद्धि 1.18, राजवार्तिक 1.18, जैनतर्कभाषा, पृष्ठ 7

241. नंदीचूर्णि पृ. 63, हरिभद्रीय पृ. 66, मलयगिरि पृ. 180, जैनतर्कभाषा, पृष्ठ 7

242. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 194

243. मलधारी हेमचन्द्र गाथा 194 की टीका, जैनतर्कभाषा, पृष्ठ 7

244. नंदीचूर्णि पृ. 56, 63, हरिभद्रीय पृ. 56, 66, मलयगिरि 168, 180, जैनतर्कभाषा पृ. 7

245. 'व्यंजनमव्यक्तं शब्दादिजातं तस्यावग्रहो भवति' सर्वार्थसिद्धि 1.18, तत्त्वार्थराजवार्तिक 1.18

2. जिनभद्रगणि आदि आचार्य द्रव्य और इन्द्रिय के संयोग को व्यंजनावग्रह मानते हैं²⁴⁶ अर्थात् शब्द द्रव्य और कर्णेन्द्रिय के संयोग को व्यंजनावग्रह कहते हैं। विषय (द्रव्य) और इन्द्रिय का संयोग ही व्यंजनावग्रह है अतः व्यंजनावग्रह के पहले दर्शन का अवकाश नहीं रहता है। इस प्रकार उपर्युक्त दोनों मान्यताओं में आंशिक अन्तर है।

पूज्यपाद के अनुसार विषय और विषयी का सन्निपात होने पर दर्शन होता है, उसके पश्चात् जो पदार्थ का ग्रहण होता है, वह अवग्रह कहलाता है।²⁴⁷ इसी प्रकार अकलंक, हेमचन्द्र आदि आचार्यों ने एक ओर तो अवग्रह के पहले दर्शन होना स्वीकार किया है तथा²⁴⁸ उसके बाद व्यंजनावग्रह को अव्यक्त रूप में स्वीकार किया है।²⁴⁹ जबकि दूसरी ओर वे चक्षु और मन को छोड़कर शेष चार प्राप्यकारी इन्द्रियों से ही व्यंजनावग्रह होना स्वीकार करते हैं।²⁵⁰ इस प्रकार इन दोनों कथनों में विसंगति है। क्योंकि दर्शन के बाद तथा अर्थावग्रह से पहले व्यंजनावग्रह होता है। लेकिन व्यंजनावग्रह होने से पहले ही अर्थात् दर्शन के समय ही विषय और इन्द्रिय का संयोग हो चुका है।²⁵¹ इसलिए व्यंजनावग्रह के समय विषय और इन्द्रिय का संयोग नहीं होता है, ऐसा स्वीकार करना ही पड़ेगा। इस व्यवस्था के अनुसार मन सहित छहों इन्द्रियों से व्यंजनावग्रह होना संभव है, क्योंकि छहों इन्द्रियों के अर्थावग्रह से पहले दर्शन का होना स्वीकृत है तथा दर्शन और अर्थावग्रह के बीच में व्यंजनावग्रह होता है। व्यंजनावग्रह में विषय और इन्द्रिय संयोग नहीं होने से इन्द्रियों का प्राप्य-अप्राप्यकारित्व के साथ संबन्ध नहीं रहता है। अतः व्यंजनावग्रह के चार भेदों की संगति के लिए जो प्राप्यकारी का तर्क दिया है, वह संगत नहीं रहता है।²⁵²

जिनभद्रगणि²⁵³ और यशोविजय²⁵⁴ ने दर्शन, आलोचना और अवग्रह को अभिन्न स्वीकार करके इस विसंगति को दूर किया है तथा अवग्रह को अनाकार रूप माना है और अवग्रह के पूर्व अलोचन को स्वीकार नहीं किया गया है।²⁵⁵ अतः इसके सारांश में हम कह सकते हैं कि इनके मतानुसार दर्शन और अवग्रह एकरूप हैं। मलधारी हेमचन्द्रसूरि बृहद्वृत्ति में आलोचन को अर्थावग्रह रूप मानते हैं, लेकिन दर्शन के बाद अवग्रह को भी स्वीकार करते हैं।²⁵⁶

ध्वलाटीका में एक ओर तो अर्थग्रहण को व्यंजनावग्रह मानकर जिनभद्रगणि का समर्थन किया गया है।²⁵⁷ तथा दूसरी ओर अवग्रह से पहले दर्शन स्वीकार करके पूज्यपाद का भी समर्थन किया गया है।²⁵⁸ अतः इस प्रकार वीरसेन स्वामी ने दोनों मतों का समर्थन किया है।

246. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 194, नंदीचूर्णि पृ. 57, हारिभद्रीय पृ. 57, मलयगिरि पृ. 169, जैनतर्कभाषा पृ. 7

247. विषयविषयिसंनिपाते सति दर्शनं भवति। तदनन्तरमर्थग्रहणमवग्रहः। सर्वार्थसिद्धि 1.15 पृ. 79

248. राजवार्तिक 1.15.1, ध्वला पु. 13, सू. 5.5.23 पृ. 216, प्रमाणमीमांसा 1.1.26

249. सर्वार्थसिद्धि 1.18 पृ. 83, राजवार्तिक 1.18.1

250. सर्वार्थसिद्धि 1.19, राजवार्तिक 1.19.1, ध्वला पु. 13, सू. 5.5.26 पृ. 225

251. तत्त्वार्थसूत्र 1.19, सर्वार्थसिद्धि 1.19, राजवार्तिक 1.19.1, ध्वला पु. 13, सू. 5.5.26 पृ. 225

252. सर्वार्थसिद्धि 1.18-19, राजवार्तिक 1.19.1, ध्वला पु. 13, सू. 5.5.26 पृ. 225

253. 'अवग्रहस्यानाकारोपयोगान्तर्भावात् ...' विशेषावश्यकभाष्य गाथा 262 की टीका

254. 'अर्थावग्रहेऽव्यक्तशब्दश्रवणस्यैव सूत्रे निर्देशात्, अव्यक्तस्य च सामान्यरूपत्वादानाकारोपयोगरूपस्य चास्य तन्मात्रविषयात्वात्।' - जैनतर्कभाषा पृ. 13

255. विशेषावश्यकभाष्य 273-279, जैनतर्कभाषा 14-15

256. तस्मादर्थवग्रह एव सामान्यार्थग्राहकः, न पुनरेतस्मादपरमालोचनाज्ञानम्। (गाथा 277 की टीका), अर्थानां रूपादीनां प्रथमं दर्शनानन्तरमेवाऽवग्रहणमवग्रहं ब्रुवत इति सम्बन्धः। - मलधारी हेमचन्द्र गाथा 179 की टीका

257. ध्वला पु. 13, सू. 5.5.24, पृ. 220

258. ध्वला पु.13, सूत्र 5.5.23 पृ. 216

समीक्षा - इस प्रकार जिनभद्रगणि का मत अधिक पुष्ट प्रतीत होता है, क्योंकि जो सैद्धान्तिक बाधा पूज्यपाद के मत को स्वीकार करने पर प्राप्त होती है, जिनभद्रगणि के मत में उसका अवकाश नहीं रहता है। अतः व्यंजनावग्रह और दर्शन एक ही रूप मान सकते हैं।

व्यंजनावग्रह का विषय एवं भेद

इन्द्रिय के विषय और इन्द्रिय का जो परस्पर सम्पर्क (सम्बन्ध) होता है, वह व्यंजनावग्रह का विषय है। यह विषय श्रोत्र आदि जो चार इन्द्रिया प्राप्यकारी हैं, उनके साथ ही घटित होता है, चक्षु और मन के साथ नहीं, क्योंकि यह दोनों अप्राप्यकारी हैं। इसका विस्तार से वर्णन द्वितीय अध्याय में कर दिया गया है।²⁵⁹ क्योंकि भाव चक्षुइन्द्रिय और भाव मन, रूप आदि को उनके चक्षु उपकरण रूप द्रव्य इन्द्रिय और द्रव्यमन के साथ सम्बन्ध हुए बिना ही जानते हैं, अतएव चक्षु इन्द्रिय का और मन का व्यंजनावग्रह नहीं होता है। इसलिए व्यंजनावग्रह के चार भेद होते हैं, यथा 1. श्रोत्रेन्द्रिय व्यंजनावग्रह, 2. घ्राणेन्द्रिय व्यंजनावग्रह, 3. जिह्वेन्द्रिय व्यंजनावग्रह तथा 4. स्पर्शनेन्द्रिय व्यंजनावग्रह अर्थात् 1. श्रोत्र 2. घ्राण 3. जिह्वा और 4. स्पर्शन, ये चार भाव इन्द्रियाँ ही शब्दादि पदार्थों को श्रोत्र आदि उपकरण द्रव्य इन्द्रिय के साथ सम्बन्ध होने पर जानती हैं। अतएव इन चार इन्द्रियों का ही व्यंजनावग्रह कहा है।

अर्थावग्रह का स्वरूप

अर्थावग्रह के स्वरूप का निर्देश करते हुए जिनभद्र विशेषावश्यकभाष्य में कहते हैं - व्यंजनावग्रह के चरम समय में अर्थावग्रह होता है और वह अर्थावग्रह सामान्य, अनिर्देश्य एवं स्वरूप नाम आदि की कल्पना से रहित होता है। आवश्यकनिर्युक्ति में अर्थावग्रह की स्पष्ट परिभाषा प्राप्त नहीं होती है।²⁶⁰

नंदीसूत्र के अनुसार - श्रोत्र आदि उपकरण द्रव्येन्द्रियों के निमित्त से श्रोत्र आदि भावेन्द्रियों के द्वारा शब्दादि रूपी पदार्थों को अव्यक्त रूप में जानना 'अर्थावग्रह' है।²⁶¹

जिनभद्रगणि के अनुसार - जब व्यंजनावग्रह में श्रोत्र आदि इन्द्रियाँ शब्द आदि द्रव्यों से आपूरित होती हैं, तब द्रव्य और इन्द्रिय का परस्पर संसर्ग होता है, उस संसर्ग के पश्चात् सामान्य, अनिर्देश्य (अनभिलाष्य) तथा स्वरूप, नाम, जाति आदि की कल्पना से रहित अर्थ का ग्रहण होना अर्थावग्रह है।²⁶² इस पदार्थ का नाम क्या है, इस पदार्थ की जाति क्या है, इस पदार्थ का गुण क्या है, इत्यादि ज्ञान जिसमें व्यक्त न हो, ऐसी मन्दतम ज्ञान मात्रा को 'अव्यक्त ज्ञान' कहते हैं। अर्थावग्रह में मात्र ऐसा अव्यक्त ज्ञान ही होता है,²⁶³ क्योंकि अर्थावग्रह का काल एक समय ही है और एक समय में नाम, जाति, गुण, क्रिया आदि का व्यक्त ज्ञान छद्मस्थों को संभव नहीं हो सकता। अव्यक्त के तीन अर्थ होते हैं, अनिर्देश्य, सामान्य, विकल्प से रहित।²⁶⁴ मलधारी हेमचन्द्र टीका में भी यही अर्थ किये गए हैं²⁶⁵ ऐसे ही भेद नंदीचूर्णि में भी प्राप्त होते हैं।²⁶⁶ हरिभद्र, मलयगिरि और यशोविजय आदि ने इसका समर्थन किया है।²⁶⁷

259. पारसमुनि, नंदीसूत्र, पृ. 183, विशेषावश्यकभाष्य गाथा 204

260. आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा 3, विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 178, नंदीसूत्र, पृ. 136

261. पारसमुनि, नंदीसूत्र, पृ. 183

262. दत्तं माणं पूरियमिदियमापूरियं तहा दोण्हं। अवरोप्परसंसग्गो जया तथा गिण्हइ तमत्थं।

सामन्नमणिद्देसं सरूप-नामाइकप्पणारहियं। जइ एवं जं तेणं गहिए सदे ति तं किह णु।-विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 251-252

263. सामान्यमनिर्देश्यं स्वरूप-नाम-जाति-द्रव्य-गुण-क्रियाविकल्पविमुखमनाख्येयमित्यर्थः।

-विशेषावश्यकभाष्य स्वोपज्ञ गाथा 251, भाष्य गाथा 252

264. अव्वत्तमणिद्देसं, सामण्णं कप्पणारहियं।-विशेषावश्यकभाष्य गाथा 262

265. स्वरूप-नामादिकल्पनारहितम्, आदि शब्दाज्जाति-क्रिया-गुण-द्रव्यपरिग्रहः।-विशेषावश्यकभाष्य गाथा 252 की टीका

266. जता अव्वत्तमणिद्देसं सामण्णं विकप्परहियं ति भण्णति।-नंदीचूर्णि पृ. 63

267. हरिभद्रीय पृ. 66, मलयगिरि पृ. 168, जैनतर्कभाषा पृ. 12

पूज्यपाद आदि आचार्यों के अनुसार जो सामान्य से ग्रहण करे वह अर्थावग्रह है।²⁶⁸

धवलाटीका के अनुसार अप्राप्त अर्थ का ग्रहण अर्थावग्रह है।²⁶⁹

यशोविजयजी के कथनानुसार – 1. ‘अव्वत्तं सद्दं सुणेइ’ अर्थात् कोई अव्यक्त शब्द सुनता है, यह अर्थावग्रह है। यहाँ अव्यक्त कहने का तात्पर्य यह है कि अर्थावग्रह में ज्ञेय पदार्थ का निश्चय नहीं होता है।²⁷⁰

2. “स्वरूपजातिक्रियागुणद्रव्यकल्पनारहितं सामान्यग्रहणम् अर्थावग्रहः”²⁷¹ अर्थात् स्वरूप, नाम, जाति, क्रिया, गुण और द्रव्य की कल्पना (शब्दोल्लेखयोग्य प्रतीति) से रहित सामान्य की उपलब्धि अर्थावग्रह है।

अर्थावग्रह में प्रयुक्त ‘अर्थ’ शब्द का अर्थ दो प्रकार से किया गया है –

1. पूज्यपाद²⁷² के अनुसार ‘इयर्ति पर्यायांस्तैर्वाऽयत इत्यर्थो द्रव्यम्’ अर्थात् जो पर्यायों को प्राप्त होता है या पर्यायों के द्वारा जो प्राप्त किया जाता है, वे अर्थ हैं। इसकी व्युत्पत्ति के अनुसार अर्थ शब्द ‘ऋ गतौ’ धातु से बना है। इसका समर्थन हरिभद्र और अकलंक ने भी किया है।²⁷³

अतः अर्थ ऐसी द्रव्यपर्यात्मक वस्तु है²⁷⁴ जिसके रूप²⁷⁵ आदि चक्षुरादि इन्द्रिय के विषय बनते हैं। इससे नैयायिक आदि का मानना है कि रूपादि गुणों का ही इन्द्रियों से सन्निकर्ष होता है, रूपादि गुणों से युक्त पदार्थों से नहीं। उक्त अर्थ से इसका खण्डन हो जाता है। अतः चक्षु आदि इन्द्रियां रूप आदि गुणों से युक्त पदार्थों को ग्रहण करती हैं, रूपादि गुणों को नहीं।

2 मलयगिरि के अनुसार ‘अर्थ्यते इत्यर्थः’ के अनुसार ‘अर्थ उपयाज्चायाम्’ धातु से बना है।²⁷⁶ जिसका तात्पर्य है कि जिसकी याचना की जाती है अथवा जिसको चाहा जाता है, वह अर्थ है। यह अर्थ भी पदार्थ का ही वाचक है।

अर्थावग्रह के भेद

अवग्रह के तत्त्वार्थसूत्र में बहु-अबहु, बहुविध-अबहुविध, क्षिप्र-अक्षिप्र, अनिश्रित-निश्चित, निश्चित-अनिश्चित, ध्रुव-अध्रुव इन बारह भेद किए गए हैं, किन्तु इन भेदों की एक समय की स्थिति वाले अवग्रह के साथ संगति नहीं बैठती है। इसलिए जिनभद्रगणि ने अवग्रह के दो भेद किए हैं – नैश्चयिक और सांख्यवहारिक। अव्यक्त सामान्य मात्र ग्रहण करने वाला अवग्रह नैश्चयिक अवग्रह है। इसका कालमान एक समय है। अपाय के पश्चात् उत्तरोत्तर पर्याय का ज्ञान करने के लिए जो अवग्रह होता है, वह सांख्यवहारिक अवग्रह है। दूसरा सांख्यवहारिक अवग्रह विशेषग्राही है, क्योंकि यदि ‘शब्द’ ऐसा जो श्रुत में कहा गया है, उसे यदि विकल्प (विवक्षा) की अपेक्षा से विशेष विज्ञान के रूप में ग्रहण किया जाय, तो वह सारा कथन सांख्यवहारिक अर्थावग्रह को स्वीकार करने पर सही होगा। साथ ही क्षिप्रादि को भेदों सांख्यवहारिक अवग्रह के भेद स्वीकार करना चाहिए। क्योंकि असंख्यात समय में इनके निष्पन्न होने से इसमें क्षिप्र या चिर ग्रहण का होना संगत हो सकता है और विशेष ग्राहक होने से बहु-बहुविध आदि के ग्रहण की भी संगति होगी, इसलिए सांख्यवहारिक

268. सवार्थसिद्धि 1.17, हरिभद्रीय पृ. 57, मलयगिरि पृ. 185

269. अप्राप्तार्थग्रहणमर्थावग्रहः। – धवला पृ. 13, सू. 5.5.24, पृ. 220

270. ज्ञानबिन्दुप्रकरणम् पृ. 10

272. सर्वार्थसिद्धि सू. 1.17

274. सर्वार्थसिद्धि सू. 1.17, राजवार्तिक 1.17.1, प्रमाणमीमांसा 1.1.26

275. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 179, धवला पृ. 13, सू. 5.5.23, पृ. 216

271. जैनतर्कभाषा, पृ. 12

273. राजवार्तिक 1.17.1, हरिभद्रीय पृ. 69

276. मलयगिरि पृ. 168

अर्थावग्रह का भेद उचित है।²⁷⁷ यशोविजयजी ने भी ऐसा ही उल्लेख किया है।²⁷⁸ नैश्चयिक अवग्रह सामान्य अर्थावग्रह ही है।

सांव्यवहारिक अवग्रह की भिन्नता का कारण

एक बार अर्थ-अवग्रह के पश्चात् ईहा और अवाय हो जाते हैं, उसके पश्चात् भी यदि नई ईहा जगे, तो उस नई ईहा की अपेक्षा पिछले अवाय में अवग्रह का उपचार करके उसे व्यवहार में अवग्रह मानते हैं। 'ईहा के पहले जो होता है, वह अवग्रह होता है।' इस अपेक्षा से नई ईहा के पूर्ववर्ती अवाय में अवग्रह का उपचार किया जाता है। यदि उस दूसरी ईहा के पश्चात् अवाय होकर तीसरी ईहा और भी जगे, तो वह दूसरा अवाय भी तीसरी ईहा की अपेक्षा से उपचार करके अवग्रह माना जाता है। इस प्रकार जिस अवाय के पश्चात् नई ईहा जगे, उसे उपचार से व्यवहार में अवग्रह मानते हैं। जिस अवाय के पश्चात् नई ईहा नहीं जगती, उसे अवाय ही मानते हैं। कहने का तात्पर्य है कि नैश्चयिक अर्थावग्रह के पश्चात् ईहा द्वारा वस्तु-विशेष का जो अपाय ज्ञान होता है वह पुनः होने वाली ईहा एवं अपाय की अपेक्षा से उपचरित अर्थावग्रह कहलाता है। अपाय ज्ञान भी विशेष का आकांक्षी होता है। विशेष के ज्ञान की आकांक्षा के कारण वह अपायज्ञान सामान्य को ग्रहण करता है। सामान्य को ग्रहण करने के कारण वह (अपाय) अर्थावग्रह माना जाता है।²⁷⁹ तभी सामान्य एवं विशेष का व्यवहार सापेक्ष होता है। अवान्तर विशेष की अपेक्षा से पूर्व अपायज्ञान भी इस प्रकार सामान्यग्राही होने के कारण अर्थावग्रह होता है। यह उपचरित अर्थावग्रह कहलाता है।

जैसे किसी शब्द पुद्गल का श्रवण होने पर ईहा और अवाय होकर जब यह निर्णय हो जाये कि 'मैंने जिसे जाना है, वह शब्द ही है, रूपादि नहीं।' यदि उसके पश्चात् यह जिज्ञासा उत्पन्न हो कि 'वह शब्द किसका है?' शंख का या धनुष्य का? तो इस जिज्ञासा की अपेक्षा पूर्व का वह निर्णय उपचार से व्यवहार में अवग्रह माना जाता है। यदि इसका भी निर्णय हो जाये कि 'यह शंख का ही शब्द है धनुष्य का नहीं' और फिर यह जिज्ञासा उत्पन्न हो कि 'यह शंख का शब्द, नवयुवक ने बजाया है या वृद्ध ने?' तो इस जिज्ञासा की अपेक्षा पूर्व का दूसरा निर्णय भी उपचार से व्यवहार में अवग्रह माना जाता है। इस अपेक्षा से नंदीचूर्ण में भी अवग्रह के तीन भेद माने हैं - व्यंजनावग्रह, सामान्य अर्थावग्रह और विशेष सामान्य अर्थावग्रह।²⁸⁰

धवला में अवग्रह के विशदावग्रह और अविशदावग्रह ये दो भेद बताये हैं। विशदावग्रह निर्णयात्मक होता हुआ ईहा, अवाय एवं धारणा ज्ञान की उत्पत्ति में कारण बनता है। वह अवग्रह निर्णय रूप होता हुआ भी ईहा, अवाय आदि निर्णयात्मक ज्ञानों से पृथक् होता है। अविशदावग्रह किसी पुरुष की भाषा, आयुष्य, रूपादि विशेषों का ग्रहण किए बिना पुरुष मात्र (सामान्य) का ग्रहण करने वाला तथा अनियम से ईहा आदि की उत्पत्ति में कारण है।²⁸¹ धवला का अविशदावग्रह नैश्चयिक के समान और विशदावग्रह सांव्यवहारिक के समान है।

277. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 285-288

278. अथवा अवग्रहो द्विविधः- नैश्चयिकः व्यावहारिकश्चः" "जैनतर्कभाषा" पृष्ठ 16

279. जिनभद्रगणिकमाश्रमण 'विशेषावश्यकभाष्य' गाथा 282-284

280. सो उ उग्गहो तिविहो-विसेसावग्गहो सामण्णत्थावग्गहो विसेससामण्णत्थावग्गहो य। - नंदीचूर्ण, पृ. 58

281. तत्र विशदो निर्णयरूपः अनियमेनेहावाय-धारणाप्रत्ययोत्पत्तिनिबन्धनः। तत्र अविशदावग्रहो नाम अवगृहीतभाषावयोरूपादि-विशेषः गृहीतव्यवहारनिबन्धनपुरुषमात्रसत्त्वादिविशेषः अनियमेनेहाद्यत्पत्तिहेतुः।-षट्खण्डागम (धवला), पु. 9, सू. 4.1.45, पृ.145

अर्थावग्रह के छह प्रकार

1. श्रोत्रेन्द्रिय अर्थावग्रह 2. चक्षुरिन्द्रिय अर्थावग्रह 3. घ्राणेन्द्रिय अर्थावग्रह, 4. जिह्वेन्द्रिय अर्थावग्रह 5. स्पर्शनेन्द्रिय अर्थावग्रह तथा 6. अनिन्द्रिय अर्थावग्रह²⁸² इस प्रकार अर्थावग्रह के छह प्रकार होते हैं, क्योंकि यह सभी इन्द्रियों (पांच ज्ञानेन्द्रियों और मन) से होता है। अप्राप्यकारी चक्षु एवं मन से भी अर्थावग्रह होता है, यह तात्पर्य है। व्यंजनावग्रह चक्षु और मन से नहीं होता है तथा अर्थावग्रह सभी इन्द्रियों से होता है।

चक्षुरिन्द्रिय का अर्थावग्रह - पूर्वपक्ष - जिस प्रकार चक्षुरिन्द्रिय और मन का व्यंजनावग्रह नहीं होता है, वैसे अर्थावग्रह भी नहीं होना चाहिए था? **उत्तरपक्ष** - पूज्यपाद आदि के द्वारा दिये गये उदाहरण के अनुसार कोई मनुष्य दूर रहे हुए बादल को देखता है तब उसके विषय और विषयी का संनिपात हो ने पर उसको प्रथम दर्शन होता है और बाद में 'यह शुक्ल रूप है' ऐसा जो बोध होता है वह चक्षुरिन्द्रिय अर्थावग्रह है²⁸³ मन के अर्थावग्रह के सम्बन्ध में मलयिगिर कहते हैं कि जीव के मनन का व्यापार भावमन है, जबकि मनोयोग्य परिणत द्रव्य द्रव्यमन है। ज्ञान पर्याय में भाव मन ही अभिप्रेत है, भावमन से द्रव्य मन का अपने आप ग्रहण हो जाता है²⁸⁴ उपकरणेन्द्रिय की सहायता के बिना घटादि अर्थ का अनिर्देश्य चिंतनबोध मन का अर्थावग्रह है।

विशेषावश्यकभाष्य में अर्थावग्रह के स्वरूप के सम्बन्ध में प्राप्त मतान्तर और उनका निराकरण -

प्रथम मतान्तर - कतिपय आचार्य नंदीसूत्र के 'तेणं सदे त्ति उग्गहिए' इस पाठ के आधार पर अवग्रह में विशेष ग्रहण को स्वीकार करते हैं।

जिनभद्रगणि का समाधान - जिनभद्रगणि कहते हैं कि जब शब्दादि द्रव्य का प्रमाण प्रकृष्टता को प्राप्त करले और जब इन्द्रिय उन शब्दादि से पूरित हो जाए और दोनों (द्रव्य और इन्द्रिय) का परस्पर सम्यक् सम्बन्ध हो जाए 'तब जीव हुंकार भरता है' इस प्रकार अर्थावग्रह तो एक समय की स्थिति वाला और इससे पूर्व शब्द द्रव्य के प्रवेशादि का अन्तर्मुहूर्तकाल तक होगा व्यंजनावग्रह है।

इस प्रकार एक समयवर्ती अर्थावग्रह में गृहीत वस्तु का स्वरूप सामान्य, अनिर्देश्य, नाम, जाति आदि की कल्पना से रहित होता है, विशेष रूप से नहीं। इसका कारण यह है कि यदि अर्थावग्रह में विशेष ज्ञान सहित शब्द ग्रहण करना मानते हैं तो वह अर्थावग्रह रूप नहीं होकर अवाय रूप हो जाएगा²⁸⁵

यदि ऐसा स्वीकार किया जाये कि प्रथम समय में ही 'यह शब्द है' ऐसा ज्ञान अवग्रह रूप है, क्योंकि यह सामान्य ज्ञान है तो **जिनभद्रगणि** इसका प्रत्युत्तर देते हुए कहते हैं शब्दबुद्धि मात्र ज्ञान के निश्चयात्मक होने से 'अवाय' ज्ञान है। 'यह शब्द है', 'अशब्द नहीं है' क्योंकि वह रूपादि नहीं है, अतः ऐसा ज्ञान 'विशेष ज्ञान' है जो कि अपाय रूप है और ऐसा मानने से अवग्रह के लोप का प्रसंग उपस्थित होता है। यदि अल्प विशेष का ग्रहण होता है, तो वह अपाय रूप नहीं हो कर अवग्रह रूप ही होता है। यह भी उचित नहीं है, क्योंकि अल्प विशेषग्राही होने से अल्प ही है। अतः वह अपाय

282. पारसमुनि, नंदीसूत्र, पृ. 183

283. सर्वार्थसिद्धि 1.15, राजावार्तिक 1.15.1,13

284. नंदीचूर्ण पृ. 41, हारिभद्रीय पृ. 48, राजवार्तिक 1.15.3, ध्वला पु. 13, सू. 5.5.23, पृ. 218, प्रमाणमीमांस 1.1.25, मलयिगिरि पृ. 168, जैनतर्कभाषा पृ. 5

285. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 251-253

नहीं होगा तो उत्तरोत्तर विशेषग्राही ज्ञानों के भी उनके उत्तरोत्तर भेदों की अपेक्षा से अल्प (स्तोक) होने से, उनमें अपाय का अभाव हो जाएगा²⁸⁶ तथा ईहा के बिना अवाय नहीं हो सकता है, अवग्रह के बिना ईहा नहीं हो सकती है, अतः 'सामान्य' का ग्रहण काल होना चाहिए और वह काल अर्थावग्रह से पूर्व का होना चाहिए। लेकिन उस सामान्य ग्रहण काल से पहले व्यंजनकाल होता है, जो कि सामान्य और विशेष से रहित होता है। अतः आपको सामान्य ग्रहण काल रूप अर्थावग्रह को स्वीकार करना ही होगा। क्योंकि सामान्य के ग्रहण होने पर ही विशेष का ग्रहण होता है²⁸⁷

जिनभद्रगणि कहते हैं कि एक समयवर्ती अर्थावग्रह के काल में 'शब्द' यह विशेषण उपयुक्त नहीं है, क्योंकि शब्द निश्चय का काल अन्तर्मुहूर्त माना गया है। व्यंजनावग्रह में होने वाला ज्ञान अव्यक्त रूप होता है और अव्यक्त ज्ञान में 'यह शब्द है' ऐसा निश्चयात्मक ज्ञान संभव नहीं है। अर्थावग्रह में ऐसे अव्यक्त विषयों का ग्रहण ही इष्ट है तथा अर्थावग्रह में तो अव्यक्त (अस्पष्ट) शब्द का श्रवण होना ही सूत्र में कहा गया है। अव्यक्त वस्तु सामान्य रूप ही होती है और निराकार उपयोग सामान्य को ही विषय करता है, अगर व्यंजनावग्रह में ही अव्यक्त शब्द का ग्रहण मान लिया जाए तो वह अर्थावग्रह हो जाएगा, क्योंकि उसने अर्थ (सामान्य) का ग्रहण किया है। इसलिए व्यंजनावग्रह में सामान्य विशेष से रहित सम्बन्ध मात्र होता है, ऐसा ही मानना उचित है।²⁸⁸

अर्थावग्रह के काल में अर्थ का ग्रहण, ईहा और अपाय संभव नहीं है। इसलिए अर्थावग्रह में 'यह शब्द है' ऐसी विशेष बुद्धि नहीं होती है। क्योंकि जहाँ विशेष बुद्धि है वहाँ अपाय ही होगा, अर्थावग्रह, ईहा नहीं। इससे इन दोनों का अभाव हो जाएगा। यदि अर्थावग्रह में विशेष बुद्धि मानेंगे तो सामान्य ग्रहण, उसमें अविद्यमान सामान्य धर्मों की ईहा, फिर हेय धर्मों का त्याग और उपादेय धर्मों का ग्रहण यह सारा कार्य एक समयवर्ती अवग्रह में संभव नहीं है। अर्थावग्रह को आगम जो एकसमयवर्ती में बताया है, उसके साथ विरोध आया²⁸⁹

दूसरा मतान्तर - कुछेक आचार्यों का मानना है कि अनिर्देश्य सामान्य (संकेतादि विकल्प से रहित) ज्ञान सद्योजात (तत्काल जन्मा) बालक को होता है, किन्तु जो विषयों (पदार्थों) से परिचित हैं, उनको तो प्रथम समय में ही विशेष ज्ञान होता है।

जिनभद्रगणि का समाधान - इस प्रकार तो विषय से अधिक परिचित व्यक्ति को प्रथम समय में ही 'यह शंख का शब्द है' इत्यादि अवाय ज्ञान भी हो जाएगा। यदि प्रथम समय में विशेष ज्ञान का होना माना जाय तो अर्थावग्रह के एक समय तक होने की बात खण्डित हो जाती है, जो कि आगमविरुद्ध है, क्योंकि विशेषज्ञान असंख्य समय वाला होता है। इससे एक समय में ही अनेक उपयोगों का प्रसंग उपस्थित होगा, लेकिन पुरुष की शक्तियों में तारतम्य दिखाई देते हैं, अतः एक समय में अनेक उपयोग होना संभव नहीं है। इसी प्रकार यदि हो तो सारा मतिज्ञान अवाय मात्र हो जाएगा अथवा अवग्रह मात्र रह जाएगा। आगम में अवग्रह आदि का जो निश्चित क्रम बताया है, वह खण्डित हो जाएगा। क्योंकि आगम में स्पष्ट उल्लेख है कि अवग्रह के बिना ईहा, ईहा के बिना अवाय और अवाय के बिना धारणा नहीं होती है। प्रथम समय में ग्रहण किया गया ज्ञान सामान्य-विशेष रूप ज्ञान एकमेक हो जाएगा, जिससे सामान्य एवं विशेष का भेद ही घटित नहीं हो पायेगा। इसलिए परिचित विषयों का ज्ञान होने में भी प्रथम समय में सामान्य ग्रहण स्वीकार करना चाहिए।²⁹⁰

286. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 254-256

287. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 257-260

288. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 261-265

289. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 266-267

290. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 268-272

जिनदासगणि आदि आचार्यों ने भी जिनभद्रगणि का समर्थन किया है। नंदीटीकाकारों के अनुसार वस्तु-ज्ञान के क्रम में सर्वप्रथम अनिर्देश्य सामान्य ज्ञान होता है और उसके बाद क्रमशः विशेषज्ञान होता है। परंतु उत्पलशतपत्रछेद न्याय के अनुसार शीघ्रता के कारण इसक्रम का ज्ञान नहीं होता है।²⁹¹

तीसरा मतान्तर - अर्थावग्रह आलोचनापूर्वक होता है, और यहाँ आलोचना को सामान्यग्राही माना गया है और अर्थावग्रह काल में शब्द रूपादि से भिन्न ज्ञात होता है। आलोचना ज्ञान को सांख्य, न्यायवैशेषिक आदि छहों वैदिक दर्शन भी स्वीकार करते हैं।²⁹² पूज्यपाद, अकलंक आदि आचार्यों ने अवग्रह के पहले दर्शन स्वीकार किया है।²⁹³

जिनभद्रगणि का समाधान - इसके खण्डन के लिए वे प्रश्न करते हैं कि आलोचना ज्ञान व्यंजनावग्रह से पूर्व होता है, बाद में होता है या व्यंजनावग्रह है? इनमें से प्रथम पक्ष उचित नहीं है, क्योंकि तब अर्थ एवं व्यंजन (इन्द्रिय) के सम्बंध का ही अभाव रहता है। बाद में भी आलोचना ज्ञान होना संभव नहीं है, क्योंकि व्यंजनावग्रह के चरम समय में अर्थावग्रह होता है। यदि व्यंजनावग्रह ही आलोचनाज्ञान है तो यह नामान्तरकरण ही हुआ। दूसरी बात यह है कि व्यंजनावग्रह अर्थशून्य (अर्थज्ञान से रहित) होता है इसलिए अर्थ का आलोचनाज्ञान तब भी होना उचित नहीं है। इसलिए अर्थावग्रह ही सामान्य अर्थ का ग्राहक है, इसके बाद कोई दूसरा आलोचना ज्ञान नहीं होता है।²⁹⁴

चौथा मतान्तर - कतिपय आचार्यों का मानना है कि अवग्रह कभी सामान्य रूप होता है, कभी विशेष रूप होता है, क्योंकि अवग्रह के बहु-बहुविध आदि 12 भेद होते हैं। अवग्रह के ये भेद एक समय में घटित नहीं हो सकते हैं। अतः ऐसा स्वीकार करना होगा कि अवग्रह भी बहुत समयों का होता है।²⁹⁵

जिनभद्रगणि का समाधान - यह मात्र पूर्वपक्ष का दुराग्रह है, क्योंकि यहां ग्रहण का अर्थ सामान्य अर्थ का ग्रहण होना है, अवगृहीत की ईहा होती है, ईहा युक्त निश्चय अपाय होता है। यशोविजयजी ने विशेष स्पष्टता करते हुए कहा है कि अवग्रह के क्षिप्र आदि भेद होने से विशेष ज्ञान होता है, ऐसा नहीं कह सकते हैं, क्योंकि ये भेद वास्तव में अपाय के हैं। परंतु कारण में कार्य का उपचार करके ही उन्हें अवग्रह के भेद मान सकते हैं अर्थात् अपाय कार्य है और अवग्रह तथा ईहा उसके कारण हैं। यहाँ उपचार का अर्थ है कि सामान्य मात्र ग्राहक एक समय का प्रथम अवग्रह नैश्चिक्यक अवग्रह है, उसके बाद ईहित वस्तु के विशेष का ज्ञान जो होता है, वह अपाय है। किन्तु वह पुनः होने वाली ईहा व अपाय की अपेक्षा से औपचारिक अवग्रह कहलाता है। चूंकि वह अपने भावी विशेष की अपेक्षा से सामान्य का ग्रहण होता है, इसलिए उसके बाद उसके विशेष की ईहा और उसका अपाय होता रहता है, इस प्रकार सामान्य व विशेष की अपेक्षा तब तक करते रहना चाहिए जब तक वस्तु का अन्तिम विशेष ज्ञान न हो जाए।²⁹⁶

इस प्रकार भाष्यकार ने उनके समय में अथवा पूर्व से प्रचलित मतान्तरों का युक्तियुक्त समाधान करके आगमिक परम्परा को पुष्ट किया है।

291. नंदीचूर्णि पृ. 63, हारीभद्रिय पृ. 65, मलयिगिर पृ. 180-181

292. प्रमाणमीमांसा भाषा टिप्पण पृ. 125

293. सर्वार्थसिद्धि 1.15, राजवार्तिक 1.15.1 धवला भाग 13, सू. 5.5.23 पृ. 216, प्रमाणमीमांसा 1.1.26

294. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 273-279

295. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 280

296. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 281-284

व्यंजनावग्रह और अर्थावग्रह के स्वरूप में मतभेद

व्यंजनावग्रह और अर्थावग्रह के स्वरूप को लेकर जैनदर्शन में प्रमुख रूप से तीन मत हैं, जिनका उल्लेख डॉ. धर्मचन्द्र जैन ने इस प्रकार किया है।²⁹⁷

(1) प्रथम मत में **पूजपाद देवन्दी** और **अकलंक** के अनुसार अव्यक्त ग्रहण व्यंजनावग्रह होता है तथा व्यक्त ग्रहण अर्थावग्रह होता है। जैसेकि व्यक्त ग्रहण से पूर्व व्यंजनावग्रह होता है और व्यक्त ग्रहण का नाम अर्थावग्रह है।²⁹⁸ जिस प्रकार नया सकोरा जल की दो तीन सूक्ष्म बूंदों से छींटे जाने पर गीला नहीं होता है, किन्तु वही सकोरा बार-बार छींटे जाने पर धीरे-धीरे गीला हो जाता है। इसी प्रकार शब्दादि विषयों के अव्यक्त ग्रहण को व्यंजनावग्रह एवं व्यक्त ग्रहण को अर्थावग्रह कहते हैं।²⁹⁹ **आचार्य विद्यानन्द** भी इसी मत का समर्थन करते हुए व्यंजनावग्रह को अस्पष्ट तथा अर्थावग्रह को स्पष्ट के रूप में निरूपित करते हैं।³⁰⁰

(2) द्वितीय मत **जिनभद्र क्षमाश्रमण** का है। इनके मत में व्यंजनावग्रह से पूर्व विषय एवं विषयी के सन्निपात से उत्पन्न दर्शन नहीं होता है। आगमपरम्परा के व्याख्याकर आचार्य जिनदासगणिमहत्तर, सिद्धसेनगणि, यशोविजय आदि इसके समर्थक हैं। व्यंजनावग्रह के स्वरूप का निर्देश करते हुए जिनभद्रगणि विशेषावश्यकभाष्य में कहते हैं - इन्द्रियलक्षण व्यंजन से शब्दादि परिणत द्रव्य के सम्बन्ध स्वरूप व्यंजन का अवग्रह व्यंजनावग्रह कहलाता है। व्यंजन के इन्द्रियादि तीन अर्थ किये हैं। यद्यपि व्यंजनावग्रह में ज्ञान का अनुभव नहीं होता है फिर भी ज्ञान का कारण होने से वह ज्ञान कहलाता है। अग्नि के एक कण की भांति उसमें अतीव अल्प ज्ञान स्वीकार किया जाता है।³⁰¹

व्यंजनावग्रह के चरम समय में अर्थावग्रह होता है। जिनभद्रगणि ने अर्थावग्रह को सामान्य, अनिर्देश्य एवं स्वरूप नाम आदि की कल्पना से रहित माना है।³⁰² जैनागमों में अर्थावग्रह का काल एक समय ही माना गया है।³⁰³ समय काल का सबसे छोटा अविभाज्य अंश होता है। एक समय में नामादि की कल्पना होना संभव भी नहीं है। स्वरूप का निर्देश भी नहीं किया जा सकता है। आचार्य यशोविजयजी ने जैनतर्कभाषा में अर्थावग्रह का यही स्वरूप स्पष्ट किया है। इस द्वितीय मत का विस्तार से पूर्व में वर्णन करते हुए मतान्तरों का खण्डन कर दिया गया है।³⁰⁴

(3) तीसरे मत में **वीरसेनाचार्य** (9-10वीं शती) **षट्खण्डागम** की धवला टीका में “अप्राप्तार्थग्रहणमर्थावग्रहः” अप्राप्त अर्थ के ग्रहण करने को अर्थावग्रह कहते हैं और “प्राप्तार्थग्रहणं व्यंजनावग्रहः” प्राप्त अर्थ के ग्रहण करने को व्यंजनावग्रह कहते हैं।³⁰⁵ वे **अकलंक** के द्वारा दी गई परिभाषा का खण्डन करते हुए कहते हैं - “स्पष्ट ग्रहण अर्थावग्रह नहीं है, क्योंकि फिर अस्पष्ट ग्रहण को व्यंजनावग्रह मानना पड़ेगा। यदि ऐसा हो भी जाय तो चक्षु में भी अस्पष्ट ग्रहण होता दिखाई देता है, इसलिए उसमें भी व्यंजनावग्रह मानने का प्रसंग आता है और आगम में चक्षु एवं मन से व्यंजनावग्रह स्वीकार नहीं किया गया है।”³⁰⁶

297. ‘जैनप्रमाणशास्त्रेऽवग्रहस्य स्थानम्’ स्वाध्याय शिक्षा, जुलाई, 1994

298. पूजपाद, सर्वार्थसिद्धि 1.18, पृ. 117

299. सर्वार्थसिद्धि 1.18, राजवार्तिक 1.18.2

300. ‘स्पष्टाभोऽक्ष-बलोद्भूतोऽस्पष्टो व्यंजनगोचरः।’ - तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक 1.15.42, 1.18.4 से 9

301. मलधारि हेमचन्द्र बृहद्वृत्ति, विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 194-196

302. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 252

303. ‘उगगहे इक्कसमाए’ - नन्दीसूत्र, सूत्र 61

304. द्रष्टव्य - प्रस्तुत अध्याय, पृ. 159-161

305. षट्खण्डागम (धवला टीका), पृ. 1, सू. 1.1.115 पृ. 354 और 355

306. षट्खण्डागम (धवला टीका), पृ. 13 सू. 5.5.24 पृ. 220

गोम्मटसार में जो विषय इन्द्रिय के निकट प्राप्त होकर स्पर्शित होता है, वह व्यंजन कहा गया है। जो प्राप्त नहीं होता वह अर्थ कहलाता है। लेकिन सिद्धसेनगणि द्वारा विरचित तत्त्वार्थसूत्र की टीका के अनुसार व्यंजन नाम अव्यक्त शब्दादि का है। यहाँ प्राप्त अर्थ को व्यंजन कैसे कहा है? इसका समाधान यह है कि व्यंजन शब्द के दो अर्थ हैं – अंजन और व्यंजन। दूर होता है वह अंजन और व्यक्त भाव को व्यंजन कहते हैं। ‘व्यज्यते भ्रक्ष्यते प्राप्यते इति व्यंजनं’ जो प्राप्त होता है उसे व्यंजन कहते हैं, इसलिए यहाँ इस अर्थ को ग्रहण किया है। ‘अंजु’ धातु गति, व्यक्ति, भक्षण अर्थ में प्रयुक्त होती है। यहाँ ‘व्यक्त’ के भक्षण अर्थ का ग्रहण करते हैं, करणादिक इन्द्रियनिकारि शब्दादिक अर्थ प्राप्त होते हुए भी व्यक्त नहीं होते इसलिए व्यंजनावग्रह है, व्यक्त होने पर अर्थावग्रह होता है। जैसेकि माटी का नया सकोरा जल के दो तीन बूंदों से सींचने पर गीला नहीं होता और पुनःपुनः सींचने पर धीरे-धीरे गीला हो जाता है। इसी प्रकार श्रोत्रादि इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण किये गये शब्दादि रूप पुद्गल स्कंध दो तीन समयों में व्यक्त नहीं होते हैं। किन्तु पुनः पुनः ग्रहण होने पर व्यक्त हो जाते हैं। इससे सिद्ध हुआ कि व्यक्त ग्रहण से पहिले-पहिले व्यंजनावग्रह होता है और व्यक्त ग्रहण का नाम (या व्यक्त ग्रहण हो जाने पर) अर्थावग्रह है। अव्यक्त अवग्रह से ईहा आदि नहीं होते हैं।³⁰⁷

वीरसेनाचार्य ने ध्वलाटीका में शंका करते हुए कहा कि अवग्रह निर्णय रूप होता है या अनिर्णय रूप होता है। यदि वह निर्णय रूप होता है तो उसका अवाय में अन्तर्भाव होना चाहिए और यदि वह अनिर्णय रूप होता है तो वह प्रमाण नहीं हो सकता। इस शंका के समाधान के लिए अवग्रह के दो भेद विशद अवग्रह और अविशद अवग्रह मान कर विशदावग्रह निर्णयात्मक होते हुए भी ईहा, अवाय आदि निर्णयात्मक ज्ञानों से पृथक् होता है, ऐसा उल्लेख किया है।

समीक्षा – व्यंजनावग्रह के स्वरूप को लेकर जो उपर्युक्त मतों का विवेचन किया गया है, उनमें कोई विरोध प्रतीत नहीं होता है अपितु इन तीनों से व्यंजनावग्रह के स्वरूप का स्पष्टीकरण होता है। इन मतों से स्पष्ट होता है कि चक्षु एवं मन से व्यंजनावग्रह स्वीकार नहीं किया गया है अर्थात् व्यंजनावग्रह तभी होता है, जब अर्थ का इन्द्रिय से स्पर्श हो, अर्थ इन्द्रिय को प्राप्त हो। इन्द्रिय एवं अर्थ में स्पृष्टता नहीं होने पर व्यंजनावग्रह नहीं होता है। दूसरी बात यह है कि व्यंजनावग्रह में अर्थ का ग्रहण होता है, वह अव्यक्त होता है, अस्पष्ट होता है। तीसरी विशेषता यह है कि यह व्यंजन अर्थात् उपकरणेन्द्रिय एवं अर्थ का संयोग होने पर ही होता है। इसमें ज्ञान का ऐसा अनुभव नहीं होता है कि जिसे व्यक्त किया जा सके। जिनभद्रगणि ने व्यंजनावग्रह को उपचार से ज्ञानात्मक माना है।

अर्थावग्रह व व्यंजनावग्रह में प्रमुख अन्तर

उपर्युक्त अर्थावग्रह और व्यंजनावग्रह में मतभेद के आलावा भी दोनों में कुछ अन्तर है, जो कि निम्नांकित है –

1. अर्थावग्रह पटुक्रमी होता है जबकि व्यंजनावग्रह मन्दक्रमी होता है।
2. अर्थावग्रह अभ्यस्तावस्था तथा विशिष्ट क्षयोपशम की अपेक्षा रखता है, जबकि व्यंजनावग्रह अनभ्यस्तावस्था तथा क्षयोपशम की मन्दता में भी होता है।
3. अर्थावग्रह के द्वारा अत्यल्प समय में ही वस्तु की पर्याय का ग्रहण हो जाता है। लेकिन व्यंजनावग्रह में अत्यल्प समय में नहीं अल्प समयों में पर्याय का “यह कुछ है” ज्ञान होता है।³⁰⁸
4. व्यंजनावग्रह में व्यंजन का सम्बन्ध मात्र होता है, अर्थावग्रह में अव्यक्त शब्दादि वस्तु का ग्रहण होता है, किन्तु वहाँ व्यक्त शब्दादि पदार्थों का ज्ञान नहीं होता है।

5. व्यंजनावग्रह उपकरणेन्द्रिय और वस्तु के संयोग से होता है। यह चक्षु इन्द्रिय और मन को छोड़ शेष चार इन्द्रियों से ही होता है। अर्थावग्रह श्रोत्रादि पांचों इन्द्रियों और मन से होता है।

6. व्यंजनावग्रह चारों इन्द्रियों से एक साथ हो सकता है, किन्तु अर्थावग्रह अनुक्रम से एक - एक-एक इन्द्रिय का ही होगा। जैसे हवा का स्पर्श भी हो रहा है, सुगन्ध भी आ रही है, तथा देखना, सुनना भी हो रहा है। सभी पुद्गलों का इन्द्रियों के साथ सन्निकर्ष हो रहा है। किन्तु उपयोग इनमें से किसी एक में ही होता है।

7. ग्रंथों के अनुसार किसी भी वस्तु के उपयोग लगाते समय उसमें व्यंजनावग्रह तक तो मन नहीं जुड़ता है, किन्तु अर्थावग्रह तक मन जुड़ जाता है।³⁰⁹

अवग्रह ज्ञान प्रमाण है या नहीं?

अब यह विचार किया जा रहा है कि अवग्रह ज्ञान प्रमाण है या नहीं? यदि प्रमाण है तो प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण उसमें अन्वित होता है या नहीं? इस सम्बन्ध में दो परम्पराएं प्राप्त होती हैं। एक आगमिक परम्परा और दूसरी प्रमाणमीमांसीय परम्परा। आगमिक परम्परा में अवग्रह का प्रमाण होना सिद्ध नहीं होता, किन्तु प्रमाणमीमांसीय परम्परा में इसकी सिद्धि के लिए समुचित प्रयास किया गया है। डॉ. नथमल टाटिया के अनुसार जैन नैयायिकों ने आगमिक अवधारणा में निरूपित अनिश्चयात्मक ज्ञान स्वरूप अवग्रह को प्रमाण स्वीकार नहीं किया है।³¹⁰

आगमिक परम्परा

आगमिक परम्परा में दोनों परम्परा के आचार्य समर्थक हैं। आगम-परम्परा के जिनभद्र क्षमाश्रमण आदि श्वेताम्बर दार्शनिकों के मत में अवाय ज्ञान ही निश्चयात्मक होता है, उससे पूर्व होने वाले अवग्रह एवं ईहाज्ञान निर्णयात्मक नहीं होते हैं। दिगम्बर परम्परा में अवग्रह ज्ञान स्वप्रकाशक नहीं है, क्योंकि स्व-प्रकाशकता दर्शन का विषय है, ज्ञान का नहीं। निर्णयात्मकता भी अवायज्ञान में ही मानी गई है, अवग्रह और ईहा में नहीं मानी गई। श्वेताम्बर परम्परा के आचार्य जिनभद्रगणि का मन्तव्य अवग्रह और संशय में अन्तर के अन्तर्गत स्पष्ट किया जाएगा।

यहाँ दिगम्बर परम्परा के आचार्यों का मन्तव्य स्पष्ट कर रहे हैं।

तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक में शंका उठायी गई है कि चक्षु द्वारा वस्तु के दृष्टिगोचर होते हुए भी उसके ज्ञान में संशय होता है। अतः उसे निर्णय नहीं कह सकते हैं उसी तरह अवग्रह के होते हुए ईहा देखी जाती है। ईहा निर्णय रूप नहीं है और जो स्वयं निर्णय रूप नहीं है वह अप्रमाण की ही कोटि में होता है, अतः अवग्रह और ईहा को प्रमाण नहीं कह सकते हैं। समाधान में अकलंक कहते हैं कि यह कथन उचित नहीं है, क्योंकि अवग्रह संशय नहीं है, क्योंकि 'अवग्रह' अर्थात् निश्चय ऐसा कहा गया है। जो कि उक्त पुरुष में 'यह पुरुष है' ऐसा ग्रहण तो अवग्रह है और उनकी भाषा, आयु व रूपादि विशेषों की जानने की इच्छा का नाम ईहा है।³¹¹

पूर्वपक्ष - अनिर्णय स्वरूप होने के कारण अवग्रह प्रमाण नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसा होने पर उसका संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय में अन्तर्भाव होगा।

309. मलयगिरि पृ. 169

310. "The Agamika Conception of the avagraha as indeterminate cognition was not upheld by the jaina Logicians in view of its indefiniteness and lack of Pragmatic value"

- डॉ. नथमल टाटिया "Studies in Jaina Philosophy" वाराणसी-पार्श्वनाथ विद्यापीठ, पृ. 40

311. राजवार्तिक 1.15.6

उत्तरपक्ष – नहीं, क्योंकि विशदावग्रह निर्णयरूप होता है और भाषा, आयु व रूपादि विशेषों को ग्रहण करने वाला अविशदावग्रह अनिर्णयरूप होता है।

पूर्वपक्ष – अविशदावग्रह अप्रमाण है, क्योंकि वह अनध्यवसाय रूप है। **उत्तरपक्ष** – 1. ऐसा नहीं है, क्योंकि वह कुछ विशेषों के अध्यवसाय से सहित है। 2. उक्त ज्ञान विपर्यय स्वरूप होने से भी अप्रमाण नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उसमें विपरीतता नहीं पायी जाती है। यदि कहा जाय कि वह चूँकि विपर्यय ज्ञान का उत्पादक है, अतः अप्रमाण है, सो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि, उससे विपर्ययज्ञान के उत्पन्न होने का कोई नियम नहीं है। 3. संशय का हेतु होने से भी वह अप्रमाण नहीं है, क्योंकि कारणानुसार कार्य होने का नियम नहीं पाया जाता तथा अप्रमाणभूत संशय से प्रमाणभूत निर्णय प्रत्यय की उत्पत्ति होने से उक्त हेतु व्यभिचारी है। 4. संशयरूप होने से भी वह अप्रमाण नहीं है – इस कारण ग्रहण किये गये वस्तु अंश के प्रति अविशदावग्रह को प्रमाण स्वीकार करना चाहिए, क्योंकि वह व्यवहार के योग्य है, 'मैंने कुछ देखा है' इस प्रकार का व्यवहार वहाँ भी पाया जाता है। किन्तु वस्तुतः व्यवहार की अयोग्यता के प्रति वह अप्रमाण है।³¹²

प्रमाणमीमांसीय परम्परा

प्रमाण के जैन दर्शन में अनेक लक्षण दिए गये हैं, यथा –

1. स्व एवं पर का आभासी (व्यवसायक) एवं बाधारहित ज्ञान प्रमाण है।³¹³
2. स्व एवं पर का अवभासक (व्यवसायात्मक/प्रकाशक) ज्ञान प्रमाण है।³¹⁴
3. व्यवसायात्मक ज्ञान स्व एवं अर्थ का ग्राहक माना गया है, इसलिए व्यवसायात्मक अथवा निर्णयात्मक ज्ञान ही मुख्य प्रमाण है।³¹⁵
4. स्व एवं अर्थ का व्यवसायात्मक ज्ञान प्रमाण है।³¹⁶
5. स्व एवं अपूर्व अर्थ का व्यवसायात्मक ज्ञान प्रमाण है।³¹⁷
6. स्व एवं अर्थ की निर्णीतिस्वभाव वाला ज्ञान प्रमाण है।³¹⁸
7. स्व एवं पर का व्यवसायक ज्ञान प्रमाण है।³¹⁹
8. अर्थ का सम्यक् निर्णय प्रमाण है।³²⁰

प्रमाण के इन लक्षणों का अध्ययन करने से यह स्पष्ट होता है कि जैनदर्शन में वही ज्ञान प्रमाण होता है जो स्व एवं पर का निश्चयात्मक होता है। जो ज्ञान स्व एवं पर (अर्थ) का निश्चयात्मक नहीं होता वह प्रमाण नहीं माना जाता है। संशय, विपर्यय और अनध्यवसायात्मक ज्ञान प्रमाण कोटि में नहीं आता है, क्योंकि वह सम्यक् नहीं होता है। स्व का एवं अर्थ (पदार्थ, वस्तु) का सम्यक् निर्णय ही प्रमाण होता है, यह सभी जैन दार्शनिकों के द्वारा स्वीकृत है। इस लक्षण में हान, उपादान और उपेक्षा बुद्धि का प्रयोजन ही प्रमुख है। इसलिए संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय

312. षट्खण्डागम (धवला टीका), पु. 9, सू. 4.1.45, पृ. 145-146

313. प्रमाणं स्वपराभासि ज्ञानं बाधविवर्जितम्। – सिद्धसेन, न्यायावतार, 1

314. स्वपरावभासकं ज्ञानं यथा प्रमाणं भुवि बुद्धिलक्षणम्। – समन्तभद्र, स्वयम्भूस्तोत्र, 63

315. व्यवसायात्मकं ज्ञानमात्मार्थग्राहकं मतम्। ग्रहण निर्णयस्तेन मुख्यं प्रामाण्यमश्नुते। – अकलंक, लघीयस्त्रय, 60

316. तत्त्वार्थव्यवसायात्मज्ञानं मानमितीयता। – विद्यानन्द, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक 1.10.78

317. स्वार्थपूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रत्यक्षम्। – माणिक्यनन्दी, परीक्षामुख 1.1

318. प्रमाणं स्वार्थनिर्णीतिस्वभावज्ञानमिति। – अभयदेवसूरि, तत्त्वबोधविधायिनी, पृ. 518

319. स्वपरव्यवसायिकज्ञानं प्रमाणम्। – वादिदेवसूरि, प्रमाणनयतत्त्वालोक, 1.2

320. सम्यगर्थनिर्णयः प्रमाणम्। – हेमचन्द्र, प्रमाणमीमांसा 1.1.3

हान, उपादान एवं उपेक्षा बुद्धि में असमर्थ होने के कारण प्रमाणलक्षण से बहिर्भूत है। निर्विकल्पक दर्शन भी इस कारण से प्रमाणकोटि में समाविष्ट नहीं किया गया।

अकलंक आदि जो प्रमाणमीमांसीय परम्परा के आचार्य हैं, वे अवग्रह ज्ञान में प्रामाण्य स्थापित करने हेतु उसमें निर्णयात्मकता भी स्वीकार करते हैं। **तत्त्वार्थवार्तिक** में **अकलंक** ने अवग्रह एवं ईहाज्ञान में निर्णयात्मकता इस प्रकार सिद्ध की है - ‘स्थाणु, पुरुष आदि अनेक अर्थों के आलम्बन रूप सन्निधान से संशय अनेकार्थात्मक होता है। अवग्रह एक पुरुष आदि अन्यतमात्मक होता है। संशय निर्णय विरोधी होता है, किन्तु अवग्रह नहीं, क्योंकि उसमें निर्णय होता दिखाई देता है।’³²¹ तात्पर्य यह है कि अवग्रह ज्ञान संशय ज्ञान से भिन्न है। संशय अनेक अर्थों का आलम्बी एवं निर्णयविरोधी होता है, किन्तु अवग्रह में ऐसे दोष नहीं हैं। वह तो एकात्मक और निर्णयात्मक होता है इसलिए प्रमाण ही है। **अकलंक** ने ईहा को अवगृहीत अर्थ का आदान करने से निर्णयात्मक माना है, इसलिए ईहा भी प्रमाण है।

यह उल्लेखनीय है कि आचार्य **सिद्धसेन** के टीकाकार **अभयदेवसूरि** साकार ज्ञान की भांति निराकार दर्शन को भी प्रमाण स्वीकार करते हैं। वे ही अकेले जैनाचार्य हैं जिन्होंने सामान्यग्राही दर्शन को भी विशेषग्राही ज्ञान की भांति प्रमाण माना है। उन्होंने कहा है - “निराकार और साकार उपयोग तो अपने से भिन्न आकार के सहयोगी बनकर अपने विषय के अवभासक रूप में प्रवृत्त होने से प्रमाण हैं, इतर आकार से रहित होकर नहीं।”³²² यहाँ अभयदेवसूरि ने अनेकान्तदृष्टि को अपनाकर ज्ञानदर्शन की सापेक्ष प्रमाणता स्वीकार की है, ऐसा प्रतीत होता है।

अवग्रह को प्रमाण रूप सिद्ध करके अब इसके दोनों भेदों में प्रमाण है कि नहीं इसकी समीक्षा करते हैं।

व्यंजनावग्रह प्रमाण नहीं है

व्यंजनावग्रह के प्रमाण रूप होने के सम्बन्ध में चर्चा करने से पूर्व व्यंजनावग्रह ज्ञान रूप है या नहीं इसकी चर्चा करते हुए जिनभद्रगणि ने व्यंजनावग्रह को ज्ञान रूप स्वीकार किया है। जिसका उल्लेख विशेषावश्यकभाष्य के आधार पर निम्न प्रकार से हैं।

व्यंजनावग्रह को ज्ञान रूप सिद्ध करने के लिए जिनभद्रगणि ने निम्न प्रकार से उल्लेख किया है-

पूर्वपक्ष - जिस प्रकार बहरे मनुष्य के कान के साथ शब्द द्रव्य का संयोग होता है, परंतु संवेदन नहीं होने के कारण वह अज्ञान रूप है वैसे ही व्यंजनावग्रह के समय भी संवेदन नहीं होने से वह अज्ञानरूप है। **उत्तरपक्ष** - **जिनभद्रगणि** कहते हैं कि व्यंजनावग्रह का ग्रहण सूक्ष्म और अव्यक्त होने से उसका संवेदन अनुभव में नहीं आता है। फिर भी यह प्रथम समय से अंतिम समय तक ज्ञान रूप ही है।

पूर्वपक्ष - जैसे बधिर व्यक्ति को प्रारंभ में ज्ञान की अनुभूति नहीं होती वैसे ही व्यंजनावग्रह में इन्द्रिय और विषय के सम्बन्ध काल में ज्ञान की अनुभूति नहीं होती है, इसलिए व्यंजनावग्रह अज्ञान है। **उत्तरपक्ष** - **जिनभद्रगणि** कहते हैं कि यह कथन अयुक्त है क्योंकि व्यंजनावग्रह के अनन्तर (बाद में) ज्ञानात्मक अर्थावग्रह होता है। यद्यपि व्यंजनावग्रह में ज्ञान की अनुभूति नहीं होती, किन्तु वह ज्ञान का कारण है, अतः वह भी ज्ञान रूप ही है, लेकिन वह अल्प (अव्यक्त) रहता है।³²³

321. तत्त्वार्थराजवार्तिक 1.15

322. तत्त्वबोधविधायिनी (सम्मतितर्कटीका) पृ. 458

323. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 195-196

पूर्वपक्ष - व्यंजनावग्रह में ज्ञान भी होता है और वह अव्यक्त रहता है, यह कैसे घटित होगा?
उत्तरपक्ष - यह ज्ञान छोटीसी चिनगारी रूप प्रकाश की तरह सूक्ष्म होने के कारण अव्यक्त है, जैसे कि सोये हुए, नशे में रहे हुए तथा मूर्च्छित आदि व्यक्तियों को ज्ञान का स्वयं संवेदन नहीं होता है, फिर भी उनमें ज्ञान की सत्ता तो है, वैसे ही व्यंजनावग्रह भी अव्यक्त ज्ञान रूप है।

पूर्वपक्ष - यदि सोये हुए व्यक्तियों को अपने ज्ञान का स्व-संवेदन नहीं होता है, तो उनमें ज्ञान का अस्तित्व कैसे होता है? **उत्तरपक्ष** - सोये हुए व्यक्ति स्वप्न आदि में बोलते हैं, आवाज आदि देने पर प्रत्युत्तर भी देते हैं, सोते हुए ही शरीर को फैलाना, सिकोड़ना, अंगड़ाई लेना आदि क्रियाएं करते हैं, लेकिन न तो उन्हें इन क्रियाओं का संवेदन होता है और न ही जागने के बाद उनका स्मरण रहता है। किन्तु ये क्रियाएं मतिज्ञान पूर्वक ही होती हैं, अन्यथा निर्जीव में भी यह क्रियाएं होनी चाहिए। अतः इन क्रियाओं के आधार पर सोये हुए व्यक्ति में ज्ञान का सद्भाव होता है। वैसे ही व्यंजनावग्रह में ज्ञान होता है।³²⁴

पूर्वपक्ष - सोये हुए व्यक्ति में तो ज्ञान के अस्तित्व को उनके वचन आदि की चेष्टाओं से जाना जाता है, लेकिन व्यंजनावग्रह में तो ऐसा कोई कारण स्पष्ट नहीं जिससे उसे ज्ञान रूप स्वीकार किया जाए? **उत्तरपक्ष** - जिनभद्रगणि कहते हैं कि व्यंजनावग्रह में तो प्रतिसमय असंख्यात समय तक श्रोत्रादि इंद्रियों के साथ शब्दादि विषय द्रव्यों का सम्बन्ध रहता है, यदि आप असंख्यात समय तक रहने वाले शब्दादि द्रव्य के होने पर भी व्यंजनावग्रह को अज्ञान रूप मानते हैं, तो चरम समय में होने वाले शब्दादि द्रव्यों में ज्ञानोत्पादकता का सामर्थ्य नहीं हो सकता है। अतः ऐसी स्थिति में अर्थावग्रह की उत्पत्ति नहीं हो पाएगी। इसलिए शब्दादि विषय द्रव्यों का श्रोत्रादि इंद्रियों के साथ सम्बन्ध होता है, तब प्रथम समय में ही ज्ञान की कुछ-न-कुछ मात्रा (सत्ता) प्रतिसमय प्रवर्तमान रहती है, ऐसा मानना ही पड़ेगा। क्योंकि जो वस्तु पृथक्-पृथक् रूप से उपलब्ध नहीं होती है वह एक साथ भी नहीं हो सकती है। जैसेकि धूल के कणों में तैल नहीं है, तो उनको एक साथ इकट्ठा करने पर भी तैल नहीं हो सकता है। वैसे ही व्यंजनावग्रह के प्रत्येक समय में ज्ञान अंश को नहीं मानेंगे तो समुदाय में भी ज्ञानांश नहीं होगा। यदि पूर्वपक्ष समुदाय में ज्ञान को मानता है तो चरमान्त समय के अलावा शेष समयों में ज्ञान होता है। यदि पूर्वपक्ष मात्र समुदाय रूप में नहीं मानकर चरम समय में मानता है, तो वह ज्ञान समग्र रूप से अकस्मात् प्रकट नहीं होगा। इसलिए सभी समयों में ज्ञानांश मानना ही उचित है। अतः अर्थावग्रह होने के पूर्व समयों में जो ज्ञान अव्यक्त रूप से विद्यमान है, उसी को व्यंजनावग्रह कहा जाता है। चरम समय में वह अव्यक्त ज्ञान ही व्यक्त हो जाता है, उसी को अर्थावग्रह कहते हैं। अतः व्यंजनावग्रह ज्ञान रूप सिद्ध होता है।³²⁵ नंदीवृत्ति में मलयगिरि³²⁶ ने भी ऐसा ही उल्लेख किया है।

डॉ. धर्मचन्द्र जैन का अभिमत है कि व्यंजनावग्रह का जो स्वरूप जैनाचार्यों ने बतलाया है वह तो किसी भी प्रकार प्रमाणकोटि में, विशेषतः प्रत्यक्षप्रमाण की कोटि में समाविष्ट नहीं हो सकता। जिनभद्रगणि आदि के मत में व्यंजनावग्रह इंद्रिय एवं अर्थ के सम्बन्ध रूप होता है, अतः वह तो न्यायदर्शन में वर्णित इन्द्रियार्थसन्निकर्ष से अत्यन्त भिन्न नहीं है। इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष जैनदर्शन में प्रमाण नहीं माना गया।

324. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 197-198 बृहद्वृत्ति सहित

325. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 200-203 बृहद्वृत्ति सहित

326. मलयगिरि पृ. 169

उसे प्रमाण मानने का जैनदर्शन में अनेक बार खण्डन किया गया है। **पूज्यपाद, अकलंक** आदि जो जैनदार्शनिक व्यंजनावग्रह को अव्यक्तग्रहण के रूप में मानते हैं वह भी प्रत्यक्ष प्रमाण की कोटि में नहीं आता है, क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण तो विशदतालक्षण वाला होता है। 'स्पष्ट ज्ञान प्रत्यक्ष होता है' यह प्रत्यक्षप्रमाण का लक्षण जैनदर्शन में सर्वस्वीकृत है। व्यंजनावग्रह में अस्पष्टता होती है, इसलिए उसका समावेश प्रत्यक्षप्रमाण में किसी भी प्रकार नहीं हो सकता। **वीरसेनाचार्य** ने **धवला टीका** में "प्राप्त अर्थ का ग्रहण व्यंजनावग्रह है एवं अप्राप्त अर्थ का ग्रहण अर्थावग्रह है" यह जो कहा है वह भी उचित नहीं है, क्योंकि व्यंजनावग्रह के पश्चात् अर्थावग्रह होने का क्रम निश्चित है। व्यंजनावग्रह में जब प्राप्त अर्थ का ग्रहण होता है तब अर्थावग्रह में वह अप्राप्त अर्थ का ग्रहण कैसे हो सकता है? जो पूर्व में प्राप्त (सन्निकर्ष युक्त) है वह अनन्तर काल में अप्राप्त नहीं हो सकता। चक्षु एवं मन से व्यंजनावग्रह नहीं होता, इसलिए उनसे प्रारंभ में ही अर्थावग्रह होता है, किन्तु अन्य इन्द्रियों से व्यंजनावग्रह के पश्चात् अर्थावग्रह होता है, यह नियम है। अतः वीरसेनाचार्य द्वारा निरूपित लक्षण व्यंजनावग्रह में प्रमाणता सिद्ध करने में समर्थ नहीं है। व्यंजनावग्रह यदि अविशद अवग्रह के रूप में स्वीकार किया जाता है तो विशदता के अभाव में उसका प्रत्यक्षप्रमाण होना सिद्ध नहीं होता।³²⁷

अर्थावग्रह प्रमाण कैसे?

डॉ. धर्मचन्द जैन के अनुसार **जिनभद्रगणि** आदि के द्वारा वर्णित स्वरूप, नामादि की कल्पना से रहित एवं अनिर्देश्य अर्थावग्रह में स्व-पर निश्चयात्मकता का अभाव होने के कारण प्रमाणता सिद्ध नहीं है।³²⁸ लेकिन नैश्चयिक और व्यावहारिक (उपचरित) अर्थावग्रह में से उपचरित (व्यावहारिक) अर्थावग्रह निर्णयात्मक एवं विशद होता है, इसमें संदेह कतई नहीं है। स्व एवं पर का निर्णयात्मक होने के कारण यह प्रमाण तथा विशद होने के कारण प्रत्यक्ष प्रमाण सिद्ध होता है।³²⁹

अकलंक आदि दार्शनिकों के मत में अर्थावग्रह निर्णयात्मक होने से प्रमाण रूप ही है, किन्तु उस अर्थावग्रह का काल एक समय का है, यह आगम-मान्यता खण्डित हो जाती है। क्योंकि एक समय में निर्णयात्मक ज्ञान का होना शक्य नहीं है। फिर भी **विद्यानन्द, प्रभाचन्द्र, देवसूरि** आदि दार्शनिकों ने अवग्रह को प्रमाण माना ही है। आचार्य **विद्यानन्द** अवग्रह को संवादक होने के कारण भी प्रमाण सिद्ध करते हैं। अवग्रह में प्रमाणता सिद्ध करने के लिए वे तर्क देते हैं - अवग्रह प्रमाण है, क्योंकि वह संवादक है, साधकतम है, अनिश्चित अर्थ का निश्चायक है और प्रतिपत्ता को उसकी अपेक्षा रहती है। अवग्रह को प्रमाण मानने का साक्षात् फल है स्व एवं अर्थ का व्यवसाय। इसका परम्पराफल तो ईहा एवं हानादि बुद्धि का होना है।³³⁰ इस प्रकार आचार्य **विद्यानन्द** ने अवग्रह में प्रमाणता सिद्ध करने के लिए अनेक हेतु उपस्थित किए हैं। ये हेतु अवग्रह के निश्चयात्मक रूप को प्रस्तुत करते हैं। निश्चयात्मकता के साथ उन्होंने स्पष्टता भी अंगीकार की है। तथा **तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक** में - "वह अर्थावग्रह इन्द्रियबल से उत्पन्न होता है, स्पष्ट रूप से प्रकाशक होता है, वस्तु का ज्ञान कराता है, इसलिए वह निर्णयात्मक रूप से सिद्ध है। व्यंजन को विषय करने वाला व्यंजनावग्रह अस्पष्ट होता है।"³³¹ यहाँ विद्यानन्द के मत में अर्थावग्रह प्रत्यक्ष प्रमाण सिद्ध होता है, क्योंकि वह

327. 'जैनप्रमाणशास्त्रेऽवग्रहस्य स्थानम्' स्वाध्याय शिक्षा, जुलाई, 1994

328. 'जैनप्रमाणशास्त्रेऽवग्रहस्य स्थानम्' स्वाध्याय शिक्षा, जुलाई, 1994

329. विशेषावश्यकभाष्य 288 द्वादशभेदों के लिए द्रष्टव्य, तत्त्वार्थसूत्र 1.16

330. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, 1.15

331. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, 1.15.43

निश्चयात्मक होता है तथा विशद होता है। **विद्यानन्द** प्रत्यक्ष प्रमाण में निश्चयात्मकता को अंगीकार करके भी शब्द योजना को आवश्यक नहीं मानते हैं। शब्द योजना से रहित होने की अपेक्षा वे प्रत्यक्ष को कथञ्चित् निर्विकल्पक भी मानते हैं।³³² **तत्त्वबोधविधायिनी** के रचयिता **अभयदेवसूरि** भी इसी प्रकार प्रत्यक्ष में निर्विकल्पकता को (कथञ्चिद्) स्वीकार करते हैं।

वीरसेनाचार्य मानते हैं कि यदि अवग्रह निर्णयात्मक होता है तो उसका अन्तर्भाव अवाय में होना चाहिए और यदि वह अनिर्णय रूप होता है तो वह प्रमाण नहीं हो सकता। इसके लिए **वीरसेनाचार्य** ने विशदावग्रह को निर्णयात्मक अविशदावग्रह को अनिर्णयात्मक प्रतिपादित किया है।³³³

इस प्रकार **जिनभद्रगणि** के मत में उपचरित अर्थावग्रह, **अकलंक**, **विद्यानन्द** आदि के मत में वर्णित अर्थावग्रह और **वीरसेनाचार्य** के मत में विशदावग्रह स्वरूप जो अर्थावग्रह है, वह प्रत्यक्ष-प्रमाण सिद्ध होता है।

सारांश - उपर्युक्त वर्णन के आधार पर हम कह सकते हैं कि व्यंजनावग्रह अनध्यवसाय सहित होने से, निर्णय रूप नहीं होने से प्रमाण तथा अविशद होने से प्रत्यक्ष रूप नहीं है। अर्थावग्रह व्यवसायात्मक तथा संशय, विपर्यय एवं अनध्यवसाय से रहित होने से प्रमाण तथा विशद होने से प्रत्यक्ष रूप है।³³⁴

दर्शन और अवग्रह में भेदाभेद

जैनदर्शन में 'ज्ञान के पूर्व दर्शन होता है' यह प्रसिद्ध सिद्धांत है। दर्शन के अनन्तर ही ज्ञान होता है, यह सुनिश्चित क्रम है। अवग्रह मतिज्ञान का भेद होने के कारण ज्ञानात्मक होता है, अतः उससे पूर्व दर्शन होना चाहिए, किन्तु दर्शन और अवग्रह के स्वरूप का जब दार्शनिकों के द्वारा विवेचन किया जाता है तब इन दोनों की पृथक्ता बतलाना कठिन हो जाता है। संक्षेप में यहाँ इसकी चर्चा की जा रही है।

आचार्य सिद्धसेन सन्मतितर्कप्रकरण³³⁵ में सामान्य ग्रहण दर्शन है तथा विशेष का ग्रहण ज्ञान है, ऐसी परिभाषा करते हैं। द्रव्यार्थिकनय से दर्शन सामान्यग्राही तथा पर्यायार्थिकनय से ज्ञान विशेषग्राही होता है। उनके मत में दर्शन और ज्ञान में ऐकान्तिक भेद नहीं है।

'जीव का लक्षण उपयोग है' यह जैन परम्परा में सर्वमान्य है। वह उपयोग ज्ञान और दर्शन के भेद से दो प्रकार का होता है। जब हमारे द्वारा वस्तु का सामान्य ग्रहण होता है तो दर्शनोपयोग होता है तथा जब विशेष ग्रहण होता है तो ज्ञानोपयोग कहा जाता है। (यह भी मान्यता है कि एक समय में एक ही उपयोग होता है एवं ये क्रम से होते रहते हैं। अन्तर्मुहूर्त में ये बदलते रहते हैं।)

यहाँ प्रश्न खड़ा होता है कि आचार्य **जिनभद्र** अर्थावग्रह को सामान्यग्राही मानते हैं और **सिद्धसेन** दर्शन को सामान्यग्राही मानते हैं तब दर्शन और अर्थावग्रह के स्वरूप में कोई भेद है या नहीं? **आचार्य सिद्धसेन** कहते हैं कि अवग्रहज्ञान दर्शन से भिन्न है। यदि अवग्रहज्ञान को दर्शन माना जाय तो सम्पूर्ण मतिज्ञान को दर्शन मानना होगा। तब फिर दर्शन और ज्ञान के मध्य भेद सिद्ध नहीं किया जा सकेगा। अतः मतिज्ञान से अस्पष्ट एवं अविषयभूत अर्थ में दर्शन प्रवृत्त होता है। मतिज्ञान में चक्षु एवं मन से व्यंजनावग्रह स्वीकार नहीं किया जाता, तब इन दोनों (चक्षु एवं मन) से दर्शन

332. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, 1.12.26-27

333. षट्खण्डागम (धवला टीका), पृ. 9/4.1.45, पृ.145

334. 'जैनप्रमाणशास्त्रेऽवग्रहस्य स्थानम्' स्वाध्याय शिक्षा, जुलाई, 1994

335. जं सामण्णगहणं दंसणमेयं विसेसियं नाणं। दोण्ह वि णयाण एसो पाडेक्कं अत्थपज्जाओ। - सन्मतितर्कप्रकरण, गाथा 2.1

होता है। उसको क्रमशः चक्षुदर्शन और अचक्षुदर्शन कहते हैं। इस प्रकार अवग्रह ज्ञान से चक्षुदर्शन और अचक्षुदर्शन भिन्न है। अचक्षु शब्द से प्रायः चक्षु से भिन्न सारी इन्द्रियों का ग्रहण किया जाता है, किन्तु सिद्धसेन के मत में अचक्षु शब्द से मात्र मन ही गृहीत होता है।³³⁶

विशेषावश्यकभाष्य में **जिनभद्र क्षमाश्रमण** दर्शन का विशद विवेचन नहीं करते हैं, किन्तु एक स्थान पर उन्होंने अवग्रह और ईहा को दर्शन रूप में स्वीकार करने का संकेत किया है, यथा – अवाय और धारणा ज्ञान है तथा अवग्रह एवं ईहा का दर्शन होना इष्ट है।³³⁷ यदि इस मत को स्वीकार करने पर विचार करें तो अवायज्ञान का ही ज्ञान के भेदों में समावेश होता है, उसके पूर्व होने वाले अवग्रह और ईहाज्ञान सामान्यग्राही होने के कारण दर्शन के ही अंग सिद्ध होते हैं।

दर्शन और ज्ञान के मध्य प्रायः साकार और निराकार के आधार पर भेद किया जाता है। दर्शन निराकार और निर्विकल्पक होता है, ज्ञान साकार और सविकल्पक कहा जाता है। अवग्रह में विशेषतः अर्थावग्रह में निर्विकल्पकता और निराकारता प्राप्त होती है, अतः जिनभद्र के मत में किसी अपेक्षा से अवग्रह भी दर्शन हो सकता है।

वीरसेनाचार्य ने **धवला टीका** में दर्शन और ज्ञान के स्वरूप का विचार करते हुए दर्शन को आत्मप्रकाशक और ज्ञान को परप्रकाशक माना है।³³⁸ किन्तु यह मत भी आगम परम्परा के अनुकूल नहीं है, क्योंकि तब चक्षुदर्शन आदि दर्शन के भेद घटित नहीं हो सकते। चक्षुदर्शन आदि परप्रकाशक दिखाई देते हैं। दिगम्बर आगमों की मान्यता है कि स्वरूप का ग्रहण दर्शन है, किन्तु आचार्य विद्यानन्द ने इस मान्यता का खण्डन किया है, यथा – आत्मग्रहण भी दर्शन नहीं है, क्योंकि चक्षु, अवधि और केवलदर्शन के अभाव का प्रसंग आता है।³³⁹ कुछ दिगम्बर दार्शनिक न्यायशास्त्र की अपेक्षा सामान्य ग्रहण को दर्शन तथा सिद्धांत की अपेक्षा से स्वरूपग्रहण को दर्शन प्रतिपादित करते हैं।³⁴⁰

पूज्यपाद, अकलंक, विद्यानंद आदि दिगम्बर दार्शनिक और **हेमचन्द्र, देवसूरि** आदि श्वेताम्बर दार्शनिक ‘दर्शन सामान्यग्राही होता है’ ऐसा मानते हुए उसका सत्तामात्र विषय अंगीकार करते हैं। सत्तामात्र के ग्राहक उस दर्शन को वे अवग्रह से पूर्व रखते हैं। उनके मत में विषय और विषयी के सन्निपात (सन्निकर्ष) के होने पर दर्शन होता है तथा उसके पश्चात् अवग्रह होता है। इस प्रकार प्रमाणशास्त्रीय सन्दर्भ में क्रमभेद से दर्शन और अवग्रह में भेद स्वीकार किया गया है।

अवग्रह और संशय में अन्तर

अवग्रह में ईहा की अपेक्षा होने से लगभग संशयरूपता ही है। ऐसा कहना सही नहीं, क्योंकि अवग्रह और संशय के लक्षण जल और अग्नि की तरह अत्यन्त भिन्न हैं, अतः दोनों अलग-अलग हैं। जैसेकि संशय स्थाणु पुरुष आदि अनेक पदार्थों में दोलित रहता है, अनिश्चयात्मक होता है और स्थाणु पुरुषादि में से किसी का निराकरण नहीं करता, जबकि अवग्रह एक ही अर्थ को विषय करता है, निश्चयात्मक है और स्व विषय में भिन्न पदार्थों का निराकरण करता है। अर्थात् संशय निर्णय का विरोधी होता है, अवग्रह नहीं।³⁴¹

336. सिद्धसेन दिवाकर, “सन्मतिप्रकरण” गाथा 2.23-25

337. नामवाय-धिईओ, दंसणमिट्ठं जहोग्गहे-हाओ। तह तत्तई सम्मं, रोइज्जइ जेण तं नाणं। – विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 536

338. अन्तर्बहिर्मुखयोश्चित्प्रकाशयोर्दर्शनज्ञानव्यपदेशभाजोरेकत्वविरोधात्। – षट्खण्डागम (धवला), पु. 1, सूत्र 1.14 पृ. 145

339. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकवृत्तिः, 1.15.15

340. कैलाशचन्द्र शास्त्री, ‘जैनन्याय’, पृष्ठ 147

341. राजवार्तिक 1.14.7-10 पृ. 60, धवला पु. 9, सू. 4.1.45, पृ. 145, न्यायद्वीप अधिकार 2.11.31

कुछ आचार्य शंका करते हैं कि अवग्रहादि ज्ञान ही नहीं होते हैं, क्योंकि वे संशय की भांति स्पष्ट अर्थ का प्रकाशन नहीं करते हैं। जिनभद्रगणि इस शंका का निवारण करते हुए अवग्रह आदि के ज्ञान रूप होने की सिद्धि में हेतु देते हैं कि अवग्रह, ईहा आदि का अनुमान प्रमाण की भांति संशय आदि में अन्तर्भाव नहीं होता है, इसलिए अवग्रह आदि संशयादि से पृथक् है तथा वे ज्ञान रूप से हैं। ईहा भी संशय रूप नहीं है, क्योंकि 'यह स्थाणु है या पुरुष है' इस प्रकार के संशय को ईहा नहीं मानकर अन्वय धर्म की संभावना और व्यतिरेक धर्म के त्यागने से निश्चय सन्मुख जो बोध होता है, उसे ईहा कहते हैं। ऐसा बोध निश्चयाभिमुख होने से संशय नहीं कहलाता है। इस प्रकार अवग्रहादि में संशयादि नहीं होते हैं, यदि आपके अनुसार होते हैं तो भी वह ज्ञान रूप ही है।³⁴²

शंका - संशयादि वस्तु के एक देश को जानते हैं, इसलिए वे ज्ञान भेद हो सकते हैं, लेकिन संशयादि अंश रहित होने से उनमें देश का अभाव होता है। इसलिए संशयादि एक देशग्राही कैसे होते हैं?

समाधान - जिनभद्रगणि कहते हैं कि घटादि मिट्टी से बने हुए होते हैं। ये मोटे, लम्बी ग्रीवा युक्त हैं इत्यादि अर्थपर्याय अनन्त हैं तथा घट, कुंभ, कलश आदि वचन रूप पर्याय भी अनन्त हैं। इस प्रकार एक ही वस्तु की अर्थपर्याय और वचनपर्याय रूप अनन्त शक्तियुक्त वस्तु है। अतः उस वस्तु के एक देश को ग्रहण करने वाले संशयादि ज्ञान रूप हैं।³⁴³

शंका - संशयादि तीन मतिज्ञान रूप हैं तो इस प्रकार मतिज्ञान के अवग्रहादि चार भेदों में संशयादि तीन भेद मिलाने पर सात भेद होते हैं। **समाधान** - यह योग्य नहीं है क्योंकि अनध्यवसाय सामान्य मात्रग्राही होने से उसका अवग्रह में समावेश होता है, संशय का ईहा में और विपर्यय का निश्चय रूप होने से अपाय में समावेश हो जाता है। इसलिए मतिज्ञान के अवग्रहादि चार ही भेद होंगे।³⁴⁴

शंका - यदि संशयादि तीन को आप ज्ञान रूप मानते हैं तो संसार में कोई भी अज्ञानी नहीं रहेगा, क्योंकि इनको ज्ञान रूप मानने से अज्ञान रूप लोक व्यवहार का नाश होता है, लेकिन लोक में तो अज्ञान व्यवहार है, तो उसकी व्यवस्था कैसे होगी? **समाधान** - मिथ्यादृष्टि के संशयादि तथा निर्णय अज्ञान रूप हैं तथा सम्यग्दृष्टि के संशयादि तथा निर्णय ज्ञान रूप हैं। इस प्रकार मानने से अज्ञान व्यवहार का नाश नहीं होता है। आगम का भी यही अभिप्राय है।

इस प्रकार जिनभद्रगणि ने संशयादि को ज्ञान रूप स्वीकार किया है। जबकि अकलंक ने संशयादि को ज्ञान रूप स्वीकार नहीं किया है।³⁴⁵

अवग्रह के पर्यायवाची नाम

आवश्यकनिर्युक्ति, नंदीसूत्र में अवग्रह के पांच अपर नाम बताये हैं - अवग्रहणता, उपधारणता, श्रवणता, अवलंबनता और मेधा। इसी प्रकार षट्खण्डागम में भी अवग्रह, अवधान, सान, अवलम्बना और मेधा ये अवग्रह के पर्यायवाची नाम बताये हैं।³⁴⁶ इन पर्यायवाची नामों के द्वारा इन्द्रिय ज्ञान की उत्पत्ति बताई है। अवग्रहणता आदि पांच शब्दों के अर्थ नंदीचूर्णि, हारिभद्रीय और मलयगिरि के आधार पर निम्न प्रकार से हैं³⁴⁷ -

342. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 312-314 बृहद्वृत्ति का भावार्थ

343. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 315-316 बृहद्वृत्ति का भावार्थ

344. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 317

345. राजवार्तिक 1.15

346. आवश्यकनिर्युक्ति गाथा, नंदीसूत्र पृ. , षट्खण्डागम (धवला टीका), पु. 13 सू. 5.5.37 पृ. 242

347. नंदीचूर्णि पृ. 58, हारिभद्रीय पृ. 58, मलयगिरि पृ. 174

1. **अवग्रहणता** - व्यञ्जन अवग्रह के पहले समय में आये हुए शब्दादि पुद्गलों का उपकरण द्रव्यइन्द्रिय के द्वारा ग्रहण करना अथवा व्यंजनावग्रह के पहले समय में अव्यक्त झलक का ग्रहण होना अवग्रह की पहली अवस्था 'अवग्रहणता' है। इसमें ग्रहण किये गये अर्थ का ज्ञान काल सापेक्ष है। क्योंकि एक साथ सम्पूर्ण अर्थ का ग्रहण नहीं होता है, अनुक्रम से होता है।

2. **उपधारणता** - व्यञ्जन अवग्रह के दूसरे तीसरे आदि समयों से लेकर असंख्यात समय तक आते हुए नये-नये शब्दादि पुद्गलों का, उपकरण द्रव्येन्द्रिय द्वारा ग्रहण करना अथवा अव्यक्त से व्यक्ताभिमुख हो जाने वाले अवग्रह को अवग्रह की दूसरी अवस्था 'उपधारणता' कहते हैं।

3. **श्रवणता** - अवग्रह की इस तीसरी अवस्था में एक समय की अवधि वाले सामान्य अर्थ का अवग्रहण होना 'श्रवणता' है अथवा जो अवग्रह श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा हो, उसे श्रवणता कहते हैं, एक समय में होने वाले सामान्यार्थावग्रह बोधरूप परिणाम को श्रवणता कहते हैं, इसका का सीधा सम्बन्ध श्रोत्रेन्द्रिय से है।

4. **अवलम्बनता** - अवग्रह की चौथी अवस्था में नई दूसरी ईहा के लिए प्रथम अवाय का अवलम्बन रूप होना 'अवलम्बनता' है अर्थात् विशेष सामान्य अर्थ का अवग्रह होता है। जैसे यह शब्द है, ऐसा किसी ने निर्णय कर लिया अर्थात् अपाय हो गया है। फिर पुनः किसका शब्द है। ऐसा होने पर वही शब्द अवग्रह बन गया अर्थात् प्रथम अवाय का आलम्बन लेकर पुनः ईहन किया। इसलिए इसे आलम्बनता कह दिया है। ऐसा अवग्रह सांख्यवहारिक अवग्रह कहलाता है। जबतक अन्तिम अपाय नहीं हो जाता है तब तक अपाय अवान्तर सामान्य होने से अवग्रह बनता जायेगा।

5. **मेधा** - मेधा शब्द का प्रयोग जैन आगमों में बुद्धि परक अर्थ में मिलता है। जबकि नंदी और षट्खण्डागम में इसका उल्लेख *अवग्रह* की पर्याय के रूप में किया है। दूसरे तीसरे आदि अवायों में पहले अवाय से अधिक बुद्धि का होना 'मेधा' है। यह अवग्रह की पांचवी अवस्था है इस अवस्था में उत्तरोत्तर धर्म की जिज्ञासा के काल में विशेष सामान्य अर्थ का अवग्रहण होता है। इस प्रकार नंदी टीका में इसका अर्थ प्रथम विशेष सामान्य अर्थावग्रह के बाद प्राप्त 'विशेष सामान्य अर्थावग्रह' किया है।³⁴⁸ जबकि धवलाटीका में इसका अर्थ अर्थज्ञान के हेतु के रूप में किया है।³⁴⁹

इन पांच भेदों में से पहले दो भेद व्यंजनावग्रह से सम्बन्धित हैं, तीसरा केवल श्रोत्रेन्द्रिय के अवग्रह से सम्बन्धित है अर्थात् अर्थावग्रह है तथा चौथा और पांचवा भेद सांख्यवहारिक अर्थावग्रह रूप है, जो नियम से ईहा, अवाय और धारणा तक पहुँचने वाले हैं। कुछ ज्ञानधारा सिर्फ अवग्रह तक ही रह जाती है और कुछ आगे बढ़ने वाली होती है।³⁵⁰ इन पांच नामों में से आलम्बनता तो नाम भेद की अपेक्षा से और शेष चार काल भेद की अपेक्षा से है।³⁵¹ इस प्रकार नंदी टीकाकारों ने अवग्रह की क्रमिक ज्ञान प्रक्रिया का उल्लेख किया है।³⁵²

प्रश्न - क्या ये पाँचों नाम एकार्थक हैं?

उत्तर - यह कथन सामान्य अपेक्षा से समझना चाहिए, क्योंकि सभी विकल्पों में अवग्रह के स्वरूप का ही निर्देश किया गया है, इसलिए इन्हे एकार्थक कहा गया है।³⁵³

348. नंदीचूर्णि पृ. 58, हारिभद्रीय पृ. 59

349. धवला पु. 13, पृ. 242

350. आत्मारामजी, नंदीसूत्र पृ. 225

351. पारसमुनि, नंदीसूत्र, पृ. 184

352. नंदीचूर्णि पृ. 58, हारिभद्रीय पृ. 58, मलयगिरि 174-175

353. नंदीचूर्णि, पृ. 58

तत्त्वार्थभाष्य में अवग्रह, ग्रहण, आलोचन और अवधारण इन चार शब्दों का प्रयोग हुआ है।³⁵⁴ उमास्वाति ने और तत्त्वार्थ टीकाकारों ने इन शब्दों के अर्थ को स्पष्ट नहीं किया है।

षट्खण्डागम में नंदी गत अंतिम दो भेदों के अलावा ओगगहे, वोदाणे और साणे ऐसे पांच शब्द मिलते हैं। इनकी परिभाषा नहीं है। इनकी परिभाषा देते हुए धवलाटीका में इन शब्दों को ज्ञान प्रक्रिया में नहीं समझाया है। उनके अनुसार घटादि अर्थों का अवग्रहण अवग्रह है। जो अन्य वस्तु से उस वस्तु को अलग करके विवक्षित अर्थ जानता है, वह अवदान है। अनध्यवसाय का नाश करना सान है। जो स्वयं की उत्पत्ति के लिए इन्द्रियों का अवलम्बन लेता है वह अवलंबना है और जिससे पदार्थ जाना जाता है, वह मेधा है।³⁵⁵

ईहा का स्वरूप

मतिज्ञान के भेदों में अवग्रह के बाद ईहा का स्थान है। अवग्रह के द्वारा अव्यक्त रूप में जाने हुए पदार्थ की यथार्थ सम्यग् विचारणा करना-‘ईहा’ है। जैसे अंधकार में सर्प के सदृश रस्सी का स्पर्श होने पर-‘यह रस्सी होनी चाहिए सर्प नहीं’-ऐसी यथार्थ सम्यग् विचारणा होना ईहा है। आवश्यकनिर्युक्ति और नंदी के टीकाकार निर्णय की भूमिका के रूप में ईहा को स्वीकार करते हैं। स्पष्ट रूप से ईहा की परिभाषा सर्वप्रथम तत्त्वार्थभाष्य में मिलती है।

उमास्वाति के अनुसार-अवग्रह के द्वारा ग्रहण किये हुए सामान्य विषय को विशेष रूप से निश्चित करने लिए जो विचारणा होती है, वह ईहा है।³⁵⁶

जिनभद्रगणि के मन्तव्यानुसार - 1. सद्भूत अर्थविषय की ग्रहणाभिमुख और असद्भूत अर्थविशेष की त्यागाभिमुख विचारणा ईहा है।³⁵⁷

2. सामान्य ग्रहण के अनन्तर सत् अर्थ की मीमांसा करना ईहा है। नैश्चयिक अर्थावग्रह के अनन्तर यह मीमांसा होती है कि यह शब्द है अथवा यह अशब्द? व्यावहारिक अर्थावग्रह के अनन्तर यह मीमांसा होती है कि यह शब्द शंख का है अथवा शृंगी वाद्य का? यह मीमांसा ईहा कहलाती है।³⁵⁸

अकलंक ने राजवार्तिक में उल्लेख किया है कि ‘अवगृहीतेऽर्थे तद्विशेषाकांक्षणमीहा’ अवगृहीत अर्थ को विशेष जानने की आकांक्षा ईहा है।³⁵⁹ **हेमचन्द्राचार्य** ने भी ऐसा ही उल्लेख किया है।³⁶⁰

वादिदेवसूरि के अनुसार - “अवगृहीतार्थविशेषाकांक्षणमीहा” अर्थात् अवग्रह से जाने हुए पदार्थ में विशेष जानने की इच्छा ईहा है। ‘यह मनुष्य है’ ऐसा अवग्रह ज्ञान से जाना गया था। इससे भी अधिक ‘यह दक्षिणी है या पूर्वी’ इस प्रकार विशेष को जानने की इच्छा होना ईहा ज्ञान कहलाता है। उसके मस्तक पर तिलक लगाया हुआ है और लंगोट धारण की हुई है यह देखकर ईहा ज्ञान ‘यह दक्षिणी होना चाहिए’ यहां तक पहुँच पाता है।³⁶¹

वीरसेनाचार्य ने धवला में कहा है कि अवग्रह के द्वारा ग्रहण किये पदार्थ में उसके विशेष को जानने की इच्छा होना ईहा है। अथवा संशय के बाद और अवाय के पहले बीच की अवस्था में विद्यमान तथा हेतु के अवलम्बन से उत्पन्न हुए विमर्शरूप प्रत्यय को ईहा कहते हैं।³⁶²

354. अवग्रहो ग्रहो ग्रहणमालोचनमवधारणमित्यनर्थान्तरम्। तत्त्वार्थभाष्य 1.15

355. ओगगहे वोदाणे साणे अवलंबणा मेधा। धवला पु. 13, सू. 5.5.37, पृ. 242

356. अवगृहीतम्। विषयार्थैकदेशाच्छेषानुगमनं निश्चयविशेषजिज्ञासा चेष्टा ईहा। तत्त्वार्थभाष्य 1.15 पृ. 81

357. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 184

358. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 289

359. राजवार्तिक 1.15.2

360. प्रमाणमीमांसा 1.1.27

361. प्रमाणनयतत्त्वालोक, सूत्र 2.8

362. धवला पु. 13, सू. 5.5.23 पृ. 217

मलधारी हेमचन्द्र बृहद्वृत्ति³⁶³ के अनुसार - 1. अवग्रह से गृहीत (ज्ञात) अर्थ के भेद के सम्बन्ध में होने वाली भेद विचारणा अर्थात् विशेष अन्वेषण को ईहा कहते हैं।

भेद अर्थात् वस्तुगत धर्म की मार्गणा (विचारणा) ईहा है, यथा अवग्रह से आगे बढ़कर तथा अपाय से पूर्व विद्यमान पदार्थ के सम्बन्ध में विशेष ग्रहण करना तथा अविद्यमान पदार्थ का विशेष रूप से त्याग करते हुए जानना ईहा है। उदाहरणार्थ कौओं के घोंसले आदि स्थाणु (वृक्ष) सम्बन्धी धर्म तो दिखाई दे रहे हैं, किन्तु सिर खुजलाने आदि पुरुषगत धर्म दिखाई नहीं दे रहे हैं, इस प्रकार का मतिज्ञान ईहा कहलाता है।

ईहा का स्वरूप स्पष्ट करते हुए सर्वप्रथम उदाहरण नंदीसूत्र में प्राप्त होता है। जैसेकि किसी व्यक्ति ने अव्यक्त (अस्पष्ट) शब्द को सुन कर, यह कोई 'शब्द है' इस प्रकार ग्रहण किया, परन्तु वह यह नहीं जान पाया कि 'यह क्या, किसका शब्द है?' तब वह ईहा में प्रविष्ट होता है तथा छानबीन करके यह 'अमुक शब्द है' इस प्रकार जानता है।³⁶⁴

जिनभद्रगणि ने भी शब्द का ही उदाहरण दिया है।³⁶⁵ डॉ. हरिनारयण पड्ड्या³⁶⁶ का मत है कि जिनभद्रगणि के काल तक 'यह शब्द शंख का है कि धनुष का' इसको ईहा रूप माना जाता था। क्योंकि यह शब्द शंख का होना चाहिए, क्योंकि इसमें माधुर्य है, कर्कशता नहीं है। अतः इससे पूर्व संशय के अस्तित्व को स्वीकार नहीं किया गया है। ऐसा उल्लेख जिनदासगणी, हरिभद्र, मलयगिरि और यशोविजयजी ने भी किया है।³⁶⁷

मतान्तर - अकलंक ने 'यह शब्द शंख का है कि धनुष का' इस विचार में संशय का अस्तित्व स्वीकार किया है। इसके बाद 'शंख के विशेष धर्मों की आकांक्षा को ईहा माना है।' इस प्रकार ईहा से पहले नियमतः संशय के अस्तित्व को स्वीकार किया गया है। लेकिन उसको ईहा से भिन्न माना है। इसका समर्थन धवलाटीकाकार और हेमचन्द्र ने भी किया है।³⁶⁸

ईहा अज्ञान रूप नहीं है

कुछ आचार्य ईहा को संशय रूप मानते हैं। जैसेकि 'यह स्थाणु है या कोई पुरुष' इस प्रकार का अनिश्चयात्मक ज्ञान संशय से उत्पन्न हुआ है और वह ईहा है। लेकिन संशय अज्ञान रूप होता है और ईहा को संशय रूप मानने पर ईहा भी अज्ञान रूप होगी, जो कि सही नहीं है क्योंकि ईहा मतिज्ञान का अंश है तथा वह ज्ञान रूप है। जो ज्ञान का भेद होता है, उसकी अज्ञानरूपता मानना संगत नहीं है।³⁶⁹

ईहा और संशय में अन्तर

मलधारी हेमचन्द्र ने इन दोनों को विशेष रूप से स्पष्ट करने के लिए उदाहरण दिया है कि सूर्यास्त के समय जब अन्धकार होने लगा तब कोई व्यक्ति जंगल में गया। उसे दूर स्थित वृक्ष जैसा

363. तेनाऽवगृहीतस्यार्थस्य भेदविचारणं वक्ष्यमाणगत्या विशेषान्वेषणमीहा।- विशेषा०भाष्य बृहद्वृत्ति, गाथा 178-179, पृ. 90

364. से जहाणामए केई पुरिसे अव्वत्तं सद्दं सुणिज्जा, तेणं सद्दोत्ति उग्गहिए, णो चेव णं जाणइ के वेस सद्दाइ तओ ईहं पविसइ, तओ जाणइ अमुगे एस सद्दे। - नंदीसूत्र पृ. 138-139

365. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 256-257, मलयगिरि पृ. 175

366. जैन सम्मत ज्ञान चर्चा, पृ. 102

367. नंदीचूर्णि पृ. 64, "नन्वीहापि किमयं शांखः किंवा शांर्ग।" - मलयगिरि पृ. 182, जैनतर्कभाषा पृ. 16-17

368. तत्त्वार्थराजवार्तिक 1.15.12, धवला पु. 13, पृ. 217, प्रमाणमीमांसा 1.1.27

369. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 182

कुछ दिखाई दिया तो उसके मन में विचार उत्पन्न हुआ कि यह वृक्ष है कि पुरुष है। यह स्थिति संशय युक्त है, जो कि अज्ञान रूप है। जब उसने और ध्यान से देखा तो उस वृक्ष पर लताएं चढ़ी हुई हैं, पक्षियों के घोंसले बने हुए हैं, कोई हलन-चलन की क्रिया प्रतीत नहीं हो रही है, अतः यह सद्भूत पदार्थ वृक्ष ही होना चाहिए न कि पुरुष। उक्त विचार ईहा युक्त है, क्योंकि यह ज्ञान निश्चय की ओर अभिमुख है, संशय की कोटि से ऊपर उठ गया है। अतः यह स्थाणु है या पुरुष, इस प्रकार का संशयात्मक ज्ञान ईहा नहीं है। अन्वय धर्मों को स्वीकार करने तथा व्यतिरेक धर्मों का निराकरण करने पर जो निश्चयाभिमुखी बोध होता है, वह ईहा है। निश्चय के अभिमुख होने के कारण वह संशय नहीं है तथा निश्चय के प्रत्यासन्न होने मात्र से वह निश्चय भी नहीं है।³⁷⁰

संशय और ईहा में अन्तर निम्न प्रकार से है –

संशय

1. जो मन अनेकार्थ अवलंबन करने वाला होता है।
2. अपर्युदास (निषेध का अभाव) परिकुंठित (जड़ीभूत) अर्थात् सर्वथा वस्तु सम्बन्धी निश्चय के अभाव को प्राप्त अर्थात् अनिर्णय की अवस्था होती है।
3. चित्त की जड़ीभूत अवस्था वस्तु की अनिश्चायकता होती है।
4. सुप्त की भांति सर्वात्मना वस्तु का अनवबोध है।
5. संशय अज्ञान रूप है,
6. संशय में स्थाणु-पुरुष आदि अनेक विशेष अर्थ का अवलम्बन होता है, परन्तु एक भी अर्थ का निषेध नहीं होता है।
7. संशय में कुंठित हुआ चित्त सो जाता है।

ईहा

1. चित्त सदर्थ विवक्षित अर्थ के हेतु और उपपत्ति (संभाव्य व्यवस्थापन) की प्रवृत्ति में संलग्न (आलम्बन) होता है
2. पर्युदास (निषेध युक्त) अर्थात् निर्णय की अवस्था अमिथ्या, अमोघ चित्त होता है,
3. यथार्थ के ग्रहण और अयथार्थ के परित्याग में सामर्थ्ययुक्त होता है,
4. निश्चयाभिमुखता होती है
5. ईहा ज्ञान रूप है,
6. ईहा में इन धर्मों का निषेध हो कर परिणाम निश्चयाभिमुखी होता है,
7. ईहा में साधन (हेतु) समर्थन (उपपत्ति) और अन्वेषण परायण होता है।

अनुमान और ईहा

ध्वलाटीकार ने ईहा और अनुमान में भेद स्पष्ट किया है। ईहा हेतु से होती है, अनुमान से नहीं। क्योंकि ईहा अवगृहीत अर्थ को विषय करती है, अतः इसका लिंग स्वविषय से भिन्न नहीं होता है। जबकि अनुमान जिसका अवग्रह नहीं हुआ (अनवगृहीत) ऐसे अर्थ को विषय करता है, अतः इसका लिंग स्वविषय से भिन्न होता है।³⁷¹

ईहा और ऊह

उमास्वाति ऊह और तर्क को ईहा के पर्यायवाची मानकर इनका सम्बन्ध मतिज्ञान से जोड़ते हैं। इस प्रकार आगमिक परम्परा में तर्क, ऊह और चिन्ता ईहा के पर्यायवाची हैं।³⁷² अतः तत्त्वार्थभाष्य के काल में ऊहा और तर्क, ईहा के विशेष अर्थ को प्रकट करते हैं। पंडित सुखलालजी के अनुसार आगम, पिटक और दर्शनसूत्रों में विविध प्रसंगों में थोड़े-बहुत भेद के साथ इन दोनों शब्दों का विविध अर्थों में प्रयोग हुआ है।³⁷³

370. मलधारी हेमचन्द्र, विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 183-184, पृ. 92

371. ध्वला पु. 13, सू. 5.5.23 पृ. 217

372. ईहा ऊहा तर्कः परीक्षा विचारणा जिज्ञासासेत्यनर्थान्तरम्। तत्त्वार्थभाष्य 1.15 पृ. 81, षट्खण्डागम पु. 13 सू. 5.5.38

373. प्रमाणमीमांसा टिप्पण पृ. 76

तार्किक परम्परा के आचार्य अकलंक आदि ने ऊह को अनुमान उपयोगी होने से व्याप्तिज्ञान के रूप में स्वीकार करते हुए परोक्षज्ञान रूप में मान्य किया है।³⁷⁴ इन दोनों मतों का समन्वय करते हुए आचार्य हेमचन्द्र कहते हैं कि ऊह त्रिकालगोचर और परोक्ष है, जबकि ईहा वर्तमानकालिक अर्थविषयक और व्यवहारप्रत्यक्ष है।³⁷⁵ यशोविजय ने भी समन्वय का प्रयास करते हुए कहा है कि जो श्रुतज्ञान मूलक ऊह है वह श्रुत है और मतिज्ञान रूप जो ऊह है, वह मति रूप है।³⁷⁶ मीमांसक तर्क को प्रमाण रूप में स्वीकार करते हैं। जबकि न्याय, बौद्ध दर्शन आदि तर्क को प्रमाण रूप नहीं मानते हैं।³⁷⁷

ईहा का प्रामाण्य

उमास्वाति के अनुसार मतिज्ञान और श्रुतज्ञान परोक्ष प्रमाण है।³⁷⁸ जिनभद्रगणि, अकलंक, प्रभाचन्द्र, हेमचन्द्र आदि ने भी ईहा को प्रमाण रूप में स्वीकार किया है।³⁷⁹ धवलाटीकाकार इसको विशेष स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि - 1. ईहा वस्तु को ग्रहण करके प्रवृत्त होती है और उसका लिंग ज्ञान होता है, इसलिए वह ज्ञान रूप है।

2. ईहा वस्तु विशेष के ज्ञान का कारण है, यह वस्तु के एकदेश को जान चुकी है और वह संशय और विपर्यय से भिन्न है।

3. अनध्यवसाय रूप होने से ईहा अप्रमाण है, यह मानना उचित नहीं है, क्योंकि यह तीन लोक की सभी वस्तुओं में शुक्ल आदि के बीच में एक वस्तु की स्थापना करती है।³⁸⁰

ईहा के भेद

ईहा के छह भेद होते हैं, यथा 1. श्रोत्रेन्द्रिय ईहा, 2. चक्षुरिन्द्रिय ईहा, 3. घ्राणेन्द्रिय ईहा, 4. जिह्वेन्द्रिय ईहा, 5. स्पर्शनेन्द्रिय ईहा तथा 6. अनिन्द्रिय ईहा।³⁸¹

प्रश्न - ईहा मन से की जाती है या श्रोत्र आदि भावेन्द्रिय से?

उत्तर - जो मन रहित असंज्ञी जीव हैं, वे ही मात्र उस उस श्रोत्र आदि भाव इंद्रियों के द्वारा शब्द आदि की ईहा करते हैं, परन्तु जो मन सहित संज्ञी जीव हैं, वे तो उस उस श्रोत्र आदि भावेन्द्रियों के साथ-साथ भावमन से भी शब्द आदि की ईहा आदि करते हैं।

ईहा के पर्यायवाची नाम

विशेष अपेक्षा से ईहा की विभिन्न पाँच अवस्थाएं होती हैं - आभोगनता, मार्गणा, गवेषणा, चिन्ता, विमर्श।³⁸² पांचों पर्यायवाची शब्दों के अर्थ की व्याख्या नंदीचूर्णि, हारिभद्रीय वृत्ति और मलयगिरि वृत्ति³⁸³ के आधार पर निम्न प्रकार से है -

१. आभोगनता - अर्थावग्रह से पदार्थ को अव्यक्त रूप में ग्रहण करने के पश्चात् निरन्तर गृहीत पदार्थ की विशेष अर्थाभिमुखी आलोचना प्रारंभ हो जाना 'आभोगनता' है। जैसे-किसी ने सूर्यास्त के समय वन में पुरुष के समान स्थाणु को देखा, उस समय उसका उस देखे हुए स्थाणु के प्रति यह विचार होना कि 'क्या यह स्थाणु है?' - आभोगनता है। यह ईहा की पहली अवस्था है।

374. राजवार्तिक 1.13.12, श्लोकवार्तिक 1.13.2

375. प्रमाणमीमांसा 1.1.27

376. श्रुतज्ञानमूलोहादेश्च श्रुतत्वं मतिज्ञानमूलोहादेः मतिज्ञानत्ववदेवाभ्युपेयम्। - ज्ञानबिन्दुप्रकरणम् पृ. 8

377. प्रमाणमीमांसा टिप्पण पृ. 77

378. तत्त्वार्थसूत्र 1.11

379. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 182, राजवार्तिक 1.15.6-7, न्यायकुमुदचन्द्र पृ. 173, 'अवग्रहादीनां वा क्रमोपजनधर्माणां पूर्व पूर्व प्रमाणमुत्तरमुत्तर फलम्' प्रमाणमीमांसा 1.1.39

380. धवला पु. 13, सू. 5.5.23 पृ. 218-19

381. नंदीसूत्र, पृ. 131

382. नंदीसूत्र, पृ. 131

383. नंदीचूर्णि, पृ. 59, हारिभद्रीय, पृ. 59 मलयगिरि, पृ. 175-176

२. मार्गणता - अवग्रह से जाने हुए पदार्थ में पाये जाने वाले अन्वय धर्म और नहीं पाये जाने वाले व्यतिरेक धर्मों का विचार करना-‘मार्गणता’ है। जैसे उक्त स्थाणु के विषय में यह विचार होना कि ‘जो स्थाणु होता है, उसमें निश्चलता, लताओं का चढ़ना, कौओं का बैठना, मँडराना आदि धर्म पाये जाते हैं और जो पुरुष होता है, उसमें चलमानता, अंगोपांगता, सिर खुजालना आदि धर्म पाये जाते हैं, यह विचार होना मार्गणता है। यह ईहा की दूसरी अवस्था है।

३. गवेषणता - अवग्रह से जाने हुए पदार्थ में, न पाये जाने वाले व्यतिरेक धर्मों को त्यागते हुए उसमें पाये जाने वाले अन्वय धर्मों का विचार करना-‘गवेषणता’ है। जैसे-उक्त स्थाणु के प्रति यह विचार होना कि इस स्थाणु में पुरुष में पाये जाने वाले लक्षण जैसे हलन-चलन होना, सिर खुजलाना आदि कोई धर्म नहीं पाया जाता, परन्तु स्थाणु में पाये जाने वाले हलन-चलन रहित, लताओं का चढ़ना, कौओं का मँडराना आदि धर्म पाये जाते हैं-‘गवेषणता’ है। यह ईहा की तीसरी अवस्था है।

४. चिन्ता - अवग्रह से जाने हुए पदार्थ में पाये जाने वाले अन्वय धर्मों का बारंबार चिन्तन करना-‘चिन्ता’ है। जैसे-उक्त स्थाणु के निर्णय के लिए आँखें मलकर, आँख को पुनः-पुनः खोलते बन्द करते हुए, सिर को ऊँचा-नीचा कर देखते हुए, बार-बार इसका विचार करना कि ‘मैं जो स्थाणु में पाये जाने वाले धर्म देख रहा हूँ, क्या वह यथार्थ हैं अथवा कहीं कुछ भ्रम है?’-चिन्ता है। यह ईहा की चौथी अवस्था है।

५. विमर्श - अवग्रह से जाने हुए पदार्थ (अर्थ) में पाये जाने वाले नित्य और अनित्य धर्मों का स्पष्ट विचार करना-‘विमर्श’ है। जैसे-स्थाणु के कुछ समीप जाकर, उसे देखकर, यह चिन्तन करना कि इसमें स्पष्टतः स्थाणु में पाये जाने वाले धर्म दिखाई देते हैं-विमर्श है। यह ईहा की पांचवी अवस्था है।

गवेषणा और विमर्श में अन्तर - हरिभद्र और मलयगिरि के अनुसार गवेषणा और विमर्श में व्यतिरेक धर्म के त्यागपूर्वक अन्वय धर्म का विचार करना, यह दोनों में समान है, लेकिन गवेषणा में अभ्यास का तत्त्व है, जो विमर्श में नहीं पाया जाता है।³⁸⁴ अतः गवेषणा करते हुए विमर्श में हुआ ज्ञान स्पष्टतर और निर्णयात्मक होता है।

तत्त्वार्थभाष्य में ईहा, ऊहा, तर्क, परीक्षा, विचारणा और जिज्ञासा इन छह शब्दों का उल्लेख मिलता है।³⁸⁵ लेकिन इनकी परिभाषा नहीं मिलती है। नंदीसूत्र और तत्त्वार्थसूत्र में एक भी भेद समान नहीं है।

षट्खण्डागम में ईहा, ऊहा, अपोह, मार्गणा, गवेषणा और मीमांसा इन छह शब्दों का उल्लेख मिलता है।³⁸⁶ षट्खण्डागम और नंदीसूत्र के उपर्युक्त भेदों में मार्गणा और गवेषणा भेद समान हैं। तत्त्वार्थसूत्र और षट्खण्डागम में ईहा और ऊहा ये दो भेद समान हैं। नंदी में वर्णित पर्यायवाची शब्द ईहा ज्ञान की क्रमिक अवस्था का सूचक है जबकि षट्खण्डागम में दिये गये क्रम से ऐसा प्रतीत नहीं होता है।

आवश्यकनिर्युक्ति आदि में अपोह का अर्थ अवाय है जबकि षट्खण्डागम और धवलाटीका में इसका अर्थ ईहा है, क्योंकि आगमकालीन युग में ईहा के बाद अपोह का प्रयोग हुआ है।³⁸⁷

384. हारिभद्रीय 59, मलयगिरि 176

385. ईहा ऊहा तर्कः परीक्षा विचारणा जिज्ञासेत्यनर्थान्तरम्। - तत्त्वार्थभाष्य 1.15 पृ. 81

386. षट्खण्डागम, पु. 13., सू. 5.5.38 पृ. 242

387. ईहापोहमगणगवेषणं करमाणस्स विब्भंगे नामं अण्णाणे समुप्पन्ने। भवतीसूत्र श. 11. उ. 9 पृ. 41

आवश्यकनिर्युक्ति में 'अपोह' एक अपेक्षा से मतिज्ञान सामान्य की पर्याय के रूप में और दूसरी ओर अवाय अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।³⁸⁸ जिनभद्रगणि ने अपोह का अर्थ अवाय किया है।³⁸⁹ जबकि षट्खण्डागम में ईहा के पर्यायवाची नामों में 'अपोह' शब्द प्रयुक्त हुआ है। इससे प्रतीत होता है कि अपोह ईहा के उत्तरवर्ती ज्ञान रूप था।

षट्खण्डागम में इन पर्यायवाची शब्दों का अर्थ प्राप्त नहीं होता है, लेकिन धवलाटीका में अर्थ को स्पष्ट किया गया है, जो निम्न प्रकार से है - धवलाटीका के अनुसार जिस बुद्धि से संशय का नाश हो वह ईहा है, अप्राप्त अर्थ को विशेष जानने वाला तर्कज्ञान ऊह है। संशय सम्बन्धी विकल्प का निराकरण हो वह अपोह है। अर्थविशेष का अन्वेषण (खोज) करना मार्गणा है, जिसके द्वारा गवेषणा की जाती है, वह गवेषणा है और अर्थ की विशेष रूप से विचारणा करना मीमांसा है।³⁹⁰

अवाय का स्वरूप

मतिज्ञान के तीसरे भेद के स्वरूप का निरूपण करते हुए कहा गया है कि ईहा के द्वारा सम्यग् विचार किये गये पदार्थ का सम्यग् निर्णय करना-अवाय है।

आवश्यकनिर्युक्ति के अनुसार जिसमें में निर्णय (व्यवसाय) होता है, वह अवाय है।³⁹¹ अतः इसकी परिभाषा स्पष्ट रूप से तत्त्वार्थभाष्य में प्राप्त होती है।

उमास्वाति के अनुसार - "अवगृहीते विषये सम्यगसम्यगिति गुणदोषविचारणा अध्यवसायापनोदोऽपायः" अर्थात् अवग्रह की विषयभूत वस्तु सम्यक् है कि असम्यक्, इस सम्बन्ध में गुणदोष का विचार करके एक विकल्प का त्याग करना अपाय है।³⁹²

पूज्यपाद ने सर्वार्थसिद्धि में कहा है कि विशेष के निर्णय द्वारा जो यथार्थ ज्ञान होता है, उसे अवाय कहते हैं।³⁹³

जिनभद्रगणि के अनुसार - 1. 'तस्मावगमोऽवाओ' अर्थात् ईहित पदार्थ का निश्चयात्मक अवगमन अपाय है।³⁹⁴

2. यह शब्द मधुर है, स्निग्ध है, इसलिए यह शंख का ही होना चाहिए, शृंगी वाद्य का नहीं, इस प्रकार अन्वय धर्मों और व्यतिरेक धर्मों के आधार पर किया जाने वाला निश्चयात्मक ज्ञान अवाय है।³⁹⁵

वादिदेवसूरि के मन्तव्यानुसार - "ईहितविशेषनिर्णयोऽवायः"³⁹⁶ अर्थात् जाने हुए पदार्थ में विशेष का निर्णय हो जाना अवाय है। 'यह मनुष्य दक्षिणी होना चाहिए' इतना ज्ञान ईहा द्वारा हो चुका था, उसमें विशेष का निश्चय हो जाना अवाय है। जैसे 'यह मनुष्य दक्षिणी ही है।'

मलधारी हेमचन्द्र ने बृहद्वृत्ति में उल्लेख किया है कि विशिष्ट अवसाय, व्यवसाय या निश्चय हो जाना अवाय है, यह निश्चय पदार्थों का होता है, जैसे कि ईहा के बाद ईहा से विचारित पदार्थ का निर्णय होना कि यह वृक्ष ही है, यह अपाय और अवाय कहलाता है।³⁹⁷

388. आवश्यकनिर्युक्ति गाथा 12 21, विशेषावश्यकभाष्य गाथा 396, 561

389. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 397, 563

390. धवला पु. 13, सू. 5.5.28 पृ. 242

391. आवश्यकनिर्युक्ति गाथा 3, विशेषावश्यकभाष्य गाथा 179

392. तत्त्वार्थभाष्य 1.15

393. विशेषनिर्ज्ञानाद्या-थात्स्यावगमनमवायः। -सर्वार्थसिद्धि 1.15

394. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 180

395. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 290

396. प्रमाणनयतत्त्वालोक, सूत्र 2.9

397. तयेहितस्यैवाऽर्थस्याऽर्थस्य व्यवसायस्तद्विशेषनिश्चयोऽपायः। -मलधारीहेमचन्द्र बृहद्वृत्ति, गा० 178-180, पृ. 90-91

वीरसेनाचार्य के अनुसार – संशय का निराकरण होने के बाद स्वगत लिंग का जो निर्णयात्मक ज्ञान होता है, वह अवाय कहलाता है।³⁹⁸

अवाय के लिए प्रयुक्त शब्द

जैनागम और अन्य ग्रन्थों में अवाय के लिए विभिन्न शब्दों का प्रयोग हुआ है, यथा आगम में ‘अपोह’³⁹⁹ और ‘अवाओ, अवाए’⁴⁰⁰ तथा आवश्यकनिर्युक्ति में दोनों शब्द मिलते हैं।⁴⁰¹ नंदीसूत्र⁴⁰² में ‘अवाय’ और ‘अपाय’ इन दो शब्दों का प्रयोग, तत्त्वार्थसूत्र, षट्खण्डागम में ‘अवाय’ का प्रयोग हुआ है।⁴⁰³ जिनदासगणी आदि ने ‘अवाय’ का और हरिभद्र ने ‘अपाय’ का⁴⁰⁴ और जिनभद्रगणि, अकलंक, मलयगिरि, यशोविजय⁴⁰⁵ आदि आचार्यों ने दोनों शब्दों का प्रयोग किया है। परन्तु मुख्य रूप से ज्ञान चर्चा में ‘अवाय’ का ही प्रयोग हुआ है।

अकलंक ने दोनों शब्दों के उपयोग का कारण बताते हुए कहा है कि ‘यह पुरुष दक्षिणी नहीं है’ जिस समय ऐसा अपाय अर्थात् निषेध किया है, उस समय ‘उत्तरी है’ इस अर्थ से अवाय का ग्रहण होता है और जिस समय ‘यह उत्तरी है’ इसका ग्रहण होता है, उस समय ‘यह दक्षिणी नहीं है’ इसका निषेध हो जाता है अर्थात् ‘अपाय’ में त्यागात्मक अंश मुख्य है और विध्यात्मक अंश गौण है। जबकि ‘अवाय’ में विध्यात्मक अंश मुख्य और त्यागात्मक अंश गौण रूप से है। अतः एक का ग्रहण करने से दूसरे का ग्रहण अपने आप हो जाता है।⁴⁰⁶

अवाय औपचारिक अर्थावग्रह

भाष्यकार और टीकाकार के अनुसार निश्चय रूप से विषय का एक बार अवाय ज्ञान हो जाने पर, सर्वत्र अन्तिम विशेष तक बारबार ईहा और अपाय होते रहते हैं, अर्थावग्रह नहीं होता। प्रथम एक समय के अव्यक्त सामान्य मात्र ज्ञान में अर्थावग्रह होता है, ईहा और अपाय नहीं होते हैं। सांख्यवहारिक दृष्टि के अनुसार उत्तरोत्तर ईहा और अपाय की अपेक्षा तथा भावी विशेष बोध की अपेक्षा से अपाय को भी औपचारिक अर्थावग्रह कहा जा सकता है।⁴⁰⁷

अवग्रह व अवाय में अन्तर

अवग्रह और अवाय इन दोनों ज्ञानों के निर्णयत्व के सम्बन्ध में कोई भेद न होने से दोनों समान हो सकते हैं? इस प्रकार दोनों में समानता होने पर भी विषय और विषयी के सन्निपात के अनन्तर उत्पन्न होने वाला प्रथम ज्ञानविशेष अवग्रह है और ईहा के अनन्तर काल में उत्पन्न होने वाला सन्देह रहित ज्ञान अवाय ज्ञान होता है, इसलिए अवग्रह और अवाय, इन दोनों ज्ञानों में एकता नहीं है।⁴⁰⁸

अवाय के सम्बन्ध में मतान्तर

कतिपय आचार्य सद्भूत पदार्थ से भिन्न वस्तु में रहने वाले विशेषों के निषेध (अपनयन) मात्र को अपाय कहते हैं तथा सद्भूत पदार्थ के विशेषों के अवधारण को धारणा कहते हैं। जैसे की ईहा

398. धवला पु. 13, सू. 5.5.23 पृ. 218

399. ‘ईहापोह-मगण-गवेसणं करमाणस्स’ भगवतीसूत्र श. 11 उ. 11 पृ. 97

400. नंदीसूत्र, पृ. 126, 132

401. आवश्यकनिर्युक्ति गाथा 2, 21

402. युवाचार्य मधुकरमुनि, नंदीसूत्र, ‘अवाओ’ (पृ. 126) ‘अपोह’ (पृ. 144)

403. तत्त्वार्थसूत्र 1.15, षट्खण्डागम पु. 13, सू. 5.5.23, पृ. 216

404. नंदीचूर्णि पृ. 56, हरिभद्रीय पृ. 57

405. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 178, 561, राजवार्तिक 1.15.13, मलयगिरि पृ. 168, जैनतर्कभाषा पृ. 7, 17

406. राजवार्तिक 1.15.13

407. मलधारी हेमचन्द्र वृत्ति, गाथा 285 पृ. 142

408. षट्खण्डागम (धवला टीका), पु. 9 सू. 4.1.45 पृ. 144

द्वारा वृक्ष और पुरुष में से पक्षियों के घोंसले आदि को देखकर वृक्ष का निश्चय करना अपाय है, परन्तु जो सद्भूतपदार्थ (वृक्ष) से अन्य है अथवा उसका विपक्षी (पुरुष) जो वहाँ पर विद्यमान नहीं है, उसके विशेष धर्म जैसे कि सिर खुजलाना, चलना, हिलना आदि का सन्मुख स्थित पदार्थ (वृक्ष) में अपनयन अर्थात् निषेध करने को अपाय मानते हैं। उनके अनुसार 'अपनयनम् अपायः' अर्थात् अन्य वस्तु का निषेध ही अपाय है।

जिनभद्रगणि के अनुसार किसी को तो सद्भूत पदार्थ में तद्भिन्न के व्यतिरेक (अभाव) मात्र से निश्चय होता है, किसी को सद्भूत पदार्थ में रहने वाले अन्वय धर्मों (सहभावी धर्मों) का समन्वय (घटित) होने मात्र से, तो किसी को अन्वय और व्यतिरेक दोनों से अपाय (निश्चय) हो सकता है। किन्तु अन्य आचार्यों के मत से 'तदन्यविशेष-अपनयन मात्र' को अपाय स्वीकार करना और 'सद्भूतपदार्थविशेष-अवधारण' को 'अपाय' नहीं मानकर 'धारणा' मानना उचित नहीं है।⁴⁰⁹ उपर्युक्त कथन का तात्पर्य यह है कि कुछ आचार्य केवल अन्वय धर्म, कुछ केवल व्यतिरेक धर्म से और कुछ अन्वय और व्यतिरेक दोनों धर्मों से अवाय ज्ञान होना स्वीकार करते हैं। जो कि स्याद्वाद सिद्धान्त के अनुसार सही है, किन्तु जो एकांत रूप से कथन करते हैं, उनका मत अनुचित है।

अवाय का प्रामाण्य

ईहा का प्रामाण्य स्वीकार करने से अवाय का प्रामाण्य स्वतः स्वीकृत हो जाता है।⁴⁰⁹ विद्यानंद के अनुसार अवाय और धारणा गृहीतग्राही होने से अप्रमाण रूप नहीं हैं, अन्यथा अनुमान भी अप्रमाण की श्रेणी में आ जायेगा, जो उचित नहीं है। अवग्रह, ईहा आदि उत्तरोत्तर विशेष ज्ञान के सूचक हैं, इसलिए ये अप्रमाण रूप नहीं हो सकते हैं।⁴¹⁰

अवाय के भेद

अवाय के छह भेद हैं - 1. श्रोत्रेन्द्रिय अवाय, 2. चक्षुरिन्द्रिय अवाय 3. घ्राणेन्द्रिय अवाय 4. जिह्वेन्द्रिय अवाय, 5. स्पर्शनेन्द्रिय अवाय तथा 6. अनिन्द्रिय अवाय।⁴¹¹

अवाय के पर्यायवाची नाम

नंदीसूत्र में अवाय के पाँच पर्यायवाची नामों का उल्लेख है, यथा आवर्तनता, प्रत्यावर्तनता, अवाय, बुद्धि और विज्ञान। विशेष अपेक्षा से ये पाँचों अवाय की विभिन्न अवस्थाएँ हैं।⁴¹² पाँचों पर्यायवाची शब्दों के अर्थ की व्याख्या नंदीचूर्णि, हारिभद्रीय वृत्ति और मलयगिरि वृत्ति⁴¹³ के आधार पर निम्न प्रकार से है -

1. आवर्तनता - ईहा से अवाय की ओर मुड़ना अर्थात् अर्थ के स्वरूप का ज्ञान (परिच्छेद) होना आवर्तनता है। जैसे स्थाणु के प्रति यह निर्णय होना कि इसमें स्थाणु में पाये जाने वाले धर्म मिलते हैं, अतएव यह स्थाणु होना चाहिए। यह अवाय की पहली अवस्था है।

2. प्रत्यावर्तनता - ईहा से अवाय के सन्निकट पहुँच जाना अर्थात् निश्चित किये गये अर्थ के स्वरूप की बार-बार आलोचना करना प्रत्यावर्तनता है। जैसे स्थाणु के प्रति यह निर्णय होना कि 'यह स्थाणु ही होना चाहिए।' यह अवाय की दूसरी अवस्था है।

409. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 185-186-187

409. तत्त्वार्थराजवार्तिक 1.15.6-7, न्यायकुमुदचन्द्र पृ. 173, 'अवग्रहादीनां वा क्रमोपजनधर्माणां पूर्व पूर्व प्रमाणमुत्तरमुत्तर फलम्' - प्रमाणमीमांसा 1.1.39

410. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक 1.15.66

411. नंदीसूत्र, पृ. 132

412. नंदीसूत्र, पृ. 132

413. नंदीचूर्णि, पृ. 60, हारिभद्रीय, पृ. 60, मलयगिरि, पृ. 176

3. **अवाय** – ईहा की सर्वथा निवृत्ति हो जाना और ज्ञेय वस्तु अवधारण के योग्य हो जाना अवाय है। जैसे स्थाणु के प्रति यह निर्णय होना कि ‘यह स्थाणु है।’ यह अवाय की तीसरी अवस्था है।

4. **बुद्धि** – भगवती सूत्र में मति और बुद्धि का प्रयोग एक साथ हुआ है, अतः उस काल में दोनों का प्रयोग अलग-अलग अर्थ में होता होगा।⁴¹⁴ नंदीसूत्र और षट्खण्डागम में बुद्धि को अवाय के पर्यायवाची के रूप में स्वीकार किया गया है।⁴¹⁵ जिनभद्रगणी ने आभिनिबोध, मति, बुद्धि और प्रज्ञा को वचन-पर्याय के रूप में स्वीकार किया है।⁴¹⁶ जिनदासगणि के अनुसार जब बुद्धि मनोद्रव्य का अनुसरण करे तब वह मति रूप होती है। इसलिए बुद्धि अवग्रह और मति ईहा रूप है। जबकि हरिभद्र के अनुसार बुद्धि अवग्रह और ईहा रूप तथा मति अवाय और धारणा रूप होती है।⁴¹⁷ नंदीसूत्र में अवाय के रूप में प्रयुक्त बुद्धि का अर्थ स्पष्टतर बोध किया है।⁴¹⁸ इस प्रकार बुद्धि मतिज्ञान के अवान्तर भेद के रूप में स्थापित है।

निर्णय किये हुए पदार्थ को स्थिरता पूर्वक बार-बार स्पष्ट रूप में जानना, बुद्धि है। जैसे स्थाणु को यों जानना कि-‘यह स्थाणु ही है।’ यह अवाय की चौथी अवस्था है।⁴¹⁹

5. **विज्ञान** – निर्णय किये हुए पदार्थ का विशिष्ट ज्ञान होना, ‘विज्ञान’ है। जैसे-उक्त स्थाणु के प्रति यह ज्ञान होना कि-यह अवश्यमेव स्थाणु ही है। यह अवाय की पांचवी अवस्था है। विज्ञान में अनुभव ज्ञान भी समझना चाहिए। जैसे कि अमुक नौकरी के लिए अमुक योग्यता के साथ इतने वर्ष के अनुभव की भी आवश्यकता होती है। वर्षों तक नहीं फेरने पर भी अनुभवज्ञान विस्मृत नहीं होता है। जैसे वृक्ष की ऊंचाई जानकर बीज की श्रेष्ठता जानना। जिनदासगणि ने विज्ञान का अर्थ अवधारित ज्ञान किया है।⁴²⁰ हरिभद्र के अनुसार यह तीव्रतर धारणा का कारण है, अतः इससे विज्ञान अवाय का पर्याय घटित नहीं होता है, इसलिए मलयगिरि ने इसका अर्थ तीव्रतर धारणा का हेतु किया है।⁴²¹ धवला टीका के अनुसार यह मीमांसित अर्थ का संकोच है।⁴²²

अवाय में हुए निश्चय ज्ञान के उपर्युक्त पांच भाग करें तो वह क्रमशः उत्तरोत्तर स्पष्ट, स्पष्टतर और स्पष्टतम बढ़ता ही जाता है। अवग्रह और ईहा दर्शनोपयोग रूप होने से अनाकारोपयोग में तथा अवाय और धारणा ज्ञानोपयोग रूप होने से साकारोपयोग में गर्भित हो जाते हैं। पदार्थों का सम्यक् निर्णय बुद्धि और विज्ञान से ही होता है। नंदी के टीकाकारों के अनुसार आवर्तनता और प्रत्यावर्तनता दोनों ज्ञान ईहा और अपाय के बीच की कड़ी हैं। दोनों में ईहा का सद्भाव पूर्ण रूप से नष्ट नहीं हुआ है और अवाय का सद्भाव पूर्ण रूप से उत्पन्न नहीं हुआ है। इन दोनों में यह भेद है कि आवर्तनता ईहा के और प्रत्यावर्तना अवाय के अधिक नजदीक है।

414. ‘...अप्यणो साभाविएणं मतिपुव्वएणं बुद्धिविण्णाणेणं तस्य सुविणस्स अत्थोग्गहणं..’-भगवतीसूत्र, भाग 3, श. 11 उ. 11 पृ. 75

415. नंदीसूत्र, पृ. 132, षट्खण्डागम 5.5.39

416. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 398

417. सा बुद्धिः अवग्रहमात्रम्, उत्तरत्र इहादिविकपार सव्वं मती - नंदीचूर्णि

तत्रावग्रहे हेतु बुद्धिः, अपायधारणे मतिः - हरिभद्रीय नंदीवृत्ति

418. हारीभद्रीय पृ. 60, मलयगिरि पृ. 176

419. नंदीचूर्णि पृ. 52, हरिभद्रीय पृ. 53, मलयगिरि पृ. 179

420. तम्मि चेवावधारितमत्थे विसेसे पेरकतो अवधारयतो य विण्णाणे। नंदीचूर्णि पृ. 60

421. विशिष्टं ज्ञानं विज्ञानं क्षयोपशमविशेषादवधारितार्थविषयमेव तीव्रतरधारणाकारणमित्यर्थः।-हरिभद्रीय पृ. 60, मलयगिरि पृ. 179

422. षट्खण्डागम, पृ. 13, सू. 5.5.39, पृ. 243

तत्त्वार्थभाष्य में अपाय, अपगम, अपनोद, अपव्याध, अपेत, अपगत, अपविद्ध और अपनुति इन आठ शब्दों का उल्लेख मिलता है।⁴²³ लेकिन इनकी परिभाषा नहीं मिलती है। नंदीसूत्र और तत्त्वार्थसूत्र में एक भी भेद का नाम समान नहीं है।

षट्खण्डागम में अवाय, व्यवसाय, बुद्धि, विज्ञप्ति, आमुंडा और प्रत्यामुंडा इन छह शब्दों का उल्लेख मिलता है।⁴²⁴ षट्खण्डागम और नंदीसूत्र के उपर्युक्त भेदों में बुद्धि भेद समान है। तत्त्वार्थसूत्र और षट्खण्डागम में एक भी भेद समान नहीं है।

धवला टीका के अनुसार मीमांसित अर्थ का निश्चय होना अवाय है, अन्वेष्टित अर्थ के निश्चय का हेतु व्यवसाय है, ऊहित अर्थ को जाना बुद्धि है, विशेषरूप से जिसके द्वारा तर्कसंगत अर्थ को जाना जाता है, वह विज्ञप्ति है, वितर्कित अर्थ को संकोचित करना आमुंडा है और मीमांसित अर्थ को अलग-अलग संकोचित करना प्रत्यामुंडा है।⁴²⁵ प्रत्यामुंडा यह अभ्रम है। नंदी के टीकाकारों के अनुसार आवर्तनता आदि पांचों भेद ईहा के बाद क्रमिक विचार प्रक्रिया के सूचक हैं, जबकि धवला टीका में प्रदत्त अर्थ के अनुसार ऐसा प्रतीत नहीं होता है।

धारणा का स्वरूप

मतिज्ञान का चौथा भेद धारणा है। इसका उल्लेख निम्न प्रकार से है।

आवश्यकनिर्युक्ति के अनुसार - ‘**धरणं पुन धारणं वेति**’ अर्थात् धारण करना धारणा है।⁴²⁶

उमास्वाति ने कहा है कि स्वप्रतिपत्ति के अनुसार मति का अवस्थान और अवधारण धारणा है।⁴²⁷

जिनभद्रगणि के अनुसार - अपाय के अनन्तर उस निर्णीत अर्थ का नाश (च्युति) अविच्युति, तदावरण कर्म के क्षयोपशम से वासना रूप में अर्थ का उपयोग और कालान्तर में पुनः उसका स्मृति हो जाना अर्थात् अविच्युति, वासना और स्मृति रूप जो होता है वही धारणा है।⁴²⁸

वीरसेनाचार्य ने धवलाटीका में उल्लेख किया है कि अवाय के द्वारा जाने हुए पदार्थ के कालान्तर में विस्मरण नहीं होने का कारणभूत ज्ञान धारणा है।⁴²⁹

वादिदेवसूरि के अनुसार - “**स एव दृढतमावस्थापन्नो धारणा**”⁴³⁰ अर्थात् अवाय ज्ञान जब अत्यन्त दृढ़ हो जाता है तब वही अवाय ज्ञान, धारणा कहलाता है। धारणा का अर्थ संस्कार है। हृदय-पटल पर यह ज्ञान इस प्रकार अंकित हो जाता है कि कालान्तर में भी वह जागृत हो सकता है। इसी ज्ञान से स्मरण होता है।

मलधारी हेमचन्द्र ने बृहद्वृत्ति में कहा है कि निश्चित रूप से ज्ञात वस्तु की अविच्युति आदि रूप से धारण करना धारणा कहलाती है।⁴³¹ पदार्थों की धृति, या उनका धरण होता है, अर्थात् अपाय द्वारा निश्चित की गई वस्तु के ही अविच्छिन्न रूप से स्मृति - वासना रूप धारण को ही धारणा कहते हैं।⁴³²

423. अपायोऽपगमः, अपनोदः अपव्याधः अपेतमपगतमपविद्धमपनुत्यमित्यनर्थान्तरम् - तत्त्वार्थभाष्य 1.15 पृ. 82

424. षट्खण्डागम, पु. 13., सू. 5.5.39 पृ. 243

425. धवला पु. 13 पृ. 243

426. आवश्यकनिर्युक्ति गाथा 3

427. धारणा प्रतिपत्तिर्यथास्वं मत्यवस्थानमवधारणं च। - तत्त्वार्थभाष्य 1.15 पृ. 82

428. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 291

429. धवला पु. 13, सू. 5.5.23 पृ. 218

430. प्रमाणनयतत्त्वालोक, सूत्र 2.10

431. निश्चितस्यैव वस्तुनोऽविच्युत्यादिरूपेण धरणं धारणा। - मलधारी हेमचन्द्र बृहद्वृत्ति, गाथा 178, पृ. 80

432. मलधारी हेमचन्द्र बृहद्वृत्ति, गाथा 179, पृ. 80

धारणा की प्राचीनता

प्राचीन आगमों में 'धितिमंता' (धृतिमान्)⁴³³ 'धिई' (धृति)⁴³⁴ 'सति' (सतिविष्णूणा - स्मृति विहीन)⁴³⁵ 'उवहारणयाए' (उपधारणता)⁴³⁶ भगवतीसूत्र में पांच व्यवहारों के उल्लेख में धारणा व्यवहार⁴³⁷ तथा मतिज्ञान के अवग्रहादि चार भेदों में भी धारणा का उल्लेख है।⁴³⁸ धवलाटीकाकार वीरसेनाचार्य ने कोष्ठबुद्धि का सम्बन्ध धारणा के साथ जोड़ा है।⁴³⁹

धारणा के प्रकार

धारणा के तीन प्रकार होते हैं -

1. **अविच्युति** - जिनभद्रगणि के अनुसार अपाय द्वारा निर्णीत अर्थ में उपयोग की धारा का सातत्य रहता है, उससे निवृत्ति नहीं होना अविच्युति है अर्थात् उपयोग (ज्ञान की प्रवृत्ति) की धारा का अविच्छिन्न रहना अविच्युति है। इसका काल अन्तर्मुहूर्त का है।⁴⁴⁰ यशोविजय कहते हैं कि गृहीतग्राही होने पर भी यह प्रमाण रूप ही है, क्योंकि स्पष्टता, स्पष्टतम ऐसे भिन्न धर्म वाली वासना इससे उत्पन्न होती है, अतः यह अन्य-अन्य वस्तु की ग्राहकता है।⁴⁴¹

2. **वासना** - जिनभद्रगणि के अनुसार अर्थोपयोग के आवारक कर्म के क्षयोपशम से जीव उस उपयोग से युक्त होता है। इससे कालान्तर में इन्द्रिय-प्रवृत्ति के अनुकूल सामग्री मिलने पर वह अर्थोपयोग पुनः स्मृति के रूप में व्यक्त होता है अर्थात् अविच्युति से आत्मा में ज्ञान के संस्कार संख्यात-असंख्यात काल तक बने रहना वासना है। वर्तमान में इसका उपयोग नहीं होने पर भी कालान्तर में पुनः स्मृति में यह संस्कार रूप वासना कारण बनती है।⁴⁴² न्याय-वैशेषिक दार्शनिक संस्कार को ज्ञान से भिन्न मानते हैं। जबकि जैन दर्शन उसको ज्ञान रूप मानता है।⁴⁴³ इसमें भी दो मान्यताएं हैं - अकलंक और हेमचन्द्र वासना को ज्ञान रूप मानते हैं, जबकि यशोविजयजी इसको औपचारिक रूप से ज्ञान रूप मानते हैं।⁴⁴⁴

3. **स्मृति** - जिनभद्रगणि के अनुसार कालान्तर में वासना के कारण इन्द्रियों के द्वारा उपलब्ध अनुपलब्ध उस अर्थ की मानस-पटल पर स्मृति उभरती है अर्थात् कालान्तर में कहीं पहले जैसा पदार्थ देखने से संस्कार जागृत होने पर 'इदं तदेव' (यह वही है) जिसे मैंने पहले देखा था, ऐसा ज्ञान स्मृति है।⁴⁴⁵ मलयगिरि ने भी ऐसा ही उल्लेख किया है।⁴⁴⁶ अकलंक आदि तार्किक परम्परा के आचार्य 'इदं तदेव' इस ज्ञान को प्रत्यभिज्ञान कहते हैं, जिसका तत्त्व अंश स्मृति है।⁴⁴⁷ स्मृति के ही दो रूप होते हैं - 1. अविच्युति 2. वासना। स्मृति के द्वारा याद आयी हुई बात में जब तक उपयोग रहता है, तब तक अविच्युति और जब उपयोग चला जाता है, तब वासना। अविच्युति धारणा ही वासना को दृढ़ करती है, वासना जितनी दृढ़ होती है, निमित्त मिलने पर वह स्मृति को उद्बुद्ध करने में उतनी ही सबल कारण बनती है।

433. सूत्रकृतांग श्रु. 1. अ. 9 गाथा 33

435. सूत्रकृतांगसूत्र, श्रु. 1 अ. 5 उ. 1 गाथा 9

437. पंचविहे व्यवहारे पण्णत्ते, तं जहा - आगम-सुत-आणा-धारणा-जीए। भगवतीसूत्र श. 8 उ. 8 पृ. 337

438. भगवतीसूत्र श. 8 उ. 2 पृ. 152

440. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 290

442. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 291, मलयगिरि पृ. 168

444. प्रमाणमीमांसा, भाषा टिप्पण, पृ. 48, जैनतर्कभाषा पृ. 20

446. मलयगिरि, नंदीवृत्ति, पृ. 168

434. उत्तराध्ययन अ. 32 गाथा 3, सूत्रकृतांग 1.9.33

436. सूत्रकृतांगसूत्र श्रु. 2 अ. 7

439. षट्खण्डागम (धवला) पु. 9 सू. 4.1.6 पृ. 53-54

441. जैनतर्कभाषा पृ. 19-20

443. प्रमाणमीमांसा, भाषा टिप्पण, पृ. 47

445. मलधारी हेमचन्द्र वृत्ति गाथा 189 पृ. 95

447. लघीयस्रय 3.10-11, प्रमाणमीमांसा 1.2.2 से 4

नंदी की हारिभद्रीय⁴⁴⁸ टीका के अनुसार अविच्युति का उपयोग काल अन्तर्मुहूर्त और स्मृति का उपयोग काल अन्तर्मुहूर्त के बाद स्वीकार किया गया है। जैसे किसी का वर्तमान में दशवैकालिक सूत्र में उपयोग नहीं है, किन्तु स्मृति में है। इस व्याख्या से स्मृति का काल संख्यात काल और असंख्यात काल का हो सकता है। स्मृति जब धूमिल हो जाए और कुछ-कुछ संस्कार रहे, जैसे कोई परिचित सा व्यक्ति लगता है, किन्तु याद नहीं आ रहा है, वह वासना है। कोई प्रसंग निमित्त से याद दिलाने पर वह वासना तेज हो कर याद आ जाता है, वह स्मृति हो गई। वासना लब्धि रूप है, किन्तु स्मृति रूप नहीं है। जबकि मलयगिरि ने वासना रूप धारणा की स्थिति संख्यात, असंख्यात काल की तथा अविच्युति स्मृति की स्थिति अन्तर्मुहूर्त की स्वीकार की है।⁴⁴⁹

यदि किसी को जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न होता है, तो वह भी धारणा (स्मृति) की प्रबलता से हो सकता है। प्रत्यभिज्ञान भी इसी की देन है। अवाय हो जाने के पश्चात् फिर भी उपयोग यदि उसी में लगा हुआ हो, तो उसे अवाय नहीं, अपितु अविच्युति धारणा कहते हैं।

स्मृति का प्रामाण्य

वैदिकदर्शन में स्मृति गृहीतग्राही होने से प्रमाण नहीं है।⁴⁵⁰ बौद्धदर्शन के अनुसार प्रत्यक्ष और अनुमान दो ही प्रमाण होते हैं, इसलिए स्मृति प्रमाण नहीं है। अकलंक, विद्यानंद आदि जैनाचार्यों ने इन मतों का खण्डन करते हुए स्मृति का प्रामाण्य सिद्ध किया है। यदि स्मृति को प्रमाण रूप में स्वीकार नहीं करेंगे तो उसके बाद होने वाले संज्ञा (प्रत्यभिज्ञान), चिन्ता, तर्क और अनुमान के उपरांत प्रत्यक्ष भी अप्रमाण रूप हो जाएगा।⁴⁵¹ अतः स्मृति के गृहीतग्राही होने से इसका प्रामाण्य नहीं मानेंगे तो प्रत्यभिज्ञान, अनुमान और अनुमानोत्तर प्रमाण भी अप्रमाण मानने होंगे, क्योंकि वे भी आंशिक रूप से गृहीतग्राही हैं।⁴⁵²

धारणा के सम्बन्ध में मतान्तर

धारणा के स्वरूप के सम्बन्ध में दो मत मिलते हैं -

1. पूज्यपाद के अनुसार - अवाय द्वारा वस्तु के निश्चित ज्ञान का कालान्तर में विस्मरण नहीं होता है, धारणा है।⁴⁵³ ऐसा ही उल्लेख अकलंक⁴⁵⁴ ने भी किया है। अकलंक आदि के अनुसार स्मृति का कारण संस्कार है, जो ज्ञानरूप है, उसी को धारणा के रूप में स्वीकार किया गया है अर्थात् धारणा को वासना (संस्कार) रूप में स्वीकार करते हैं, इस प्रकार दिगम्बर परम्परा में वासना को ही धारणा के रूप में स्वीकार किया गया है। जिसका विद्यानंद⁴⁵⁵ अन्तर्वीर्य, प्रभाचन्द्र आदि ने समर्थन किया है। जबकि श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार संस्कार कर्म-क्षयोपशमरूप होने से आत्मा की शक्ति विशेष मात्र है, ज्ञान रूप नहीं है।

2. जिनभद्रगणिक्षमाश्रमण के अनुसार - 'अविच्युर्ध धारणा तस्स' अर्थात् निर्णयात्मक ज्ञान की अविच्छिन्न रूप से स्थिति धारणा कहलाती है।⁴⁵⁶ यहाँ अविच्युति को उपलक्षण से मानते हुए

448. धारणासंख्येयवाऽकालं स्मृतिवासनारूपा। - हारिभद्रीय, नंदीवृत्ति, पृ. 65

449. सा च धारणा संख्येयमसंख्येयं वा फालं यावद्वासनारूपा द्रष्टव्या, अविच्युतिस्मृत्योरजघन्योत्कर्षेणान्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वात्।

- मलयगिरि, नंदीवृत्ति, पृ. 178

450. प्रमाणमीमांसा भाषा टिप्पण पृ. 73-74

451. श्लोकवार्तिक 1.13.9.10,15

452. न्यायकुमुद पृ. 408

453. अवेतस्यकालान्तरेऽविस्मरणकारणं धारणा। - सर्वार्थसिद्धि, 1.15 पृ. 79

454. निर्ज्ञातार्थऽविस्मृतिधारणा। राजावार्तिक 1.15.4

455. स्मृतिहेतुः सा धारणा। श्लोकवार्तिक 1.15.4

456. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 180

अविच्युति, वासना (संस्कार) और स्मृति इन तीनों को धारणा रूप स्वीकार किया गया है। इस प्रकार जिनभद्रगणि धारणा के तीन अर्थों का प्रतिपादन करते हैं। प्रथम अर्थ के अनुसार अवाय के पश्चात् तत्सम्बद्ध अर्थ के उपयोग का नाश नहीं होना, धारणा है, जिसे अविच्युति भी कहा गया है। द्वितीय अर्थ में ज्ञात विषय का जीव के साथ वासना रूप संस्कार को धारणा कहा गया है। तीसरे अर्थ के अनुसार जिससे कालान्तर में स्मृति होती है, उसे भी धारणा स्वीकार किया गया है।⁴⁵⁷ ऐसा ही उल्लेख जिनदासगणि, हरिभद्र, वादिदेवसूरि, मलधारी हेमचन्द्र, मलयगिरि, यशोविजय आदि ने किया है।⁴⁵⁸

श्वेताम्बराचार्य हेमचन्द्र ने अकलंक का अनुसरण करते हुए जिनभद्रगणिकक्षमाश्रमण के मन्तव्य का समन्वय करने का प्रयास किया है।⁴⁵⁹ हेमचन्द्र कहते हैं कि स्मृति अतीत का अनुसंधान करने वाली होती है, उसका कारण धारणा है जो संस्कार रूप है और वह प्रत्यक्ष का भेद होने से ज्ञान रूप है। वैशेषिक संस्कार को अज्ञान रूप मानते हैं, लेकिन यह उचित नहीं है, क्योंकि संस्कार को अज्ञान रूप मानने पर वह आत्मा (चेतन) का अर्थ नहीं हो सकेगा। इसलिए पूर्वाचार्यों ने जो अविच्युति को धारणा रूप में स्वीकार किया है, वह सही है। लेकिन अविच्युति का समावेश अवाय में हो सकता है, क्योंकि अवायज्ञान उत्पन्न होने के बाद दीर्घ-दीर्घतर काल तक रहता है, इसलिए वह अवाय अविच्युति रूप है, इसलिए उसका पृथक् से कथन नहीं किया है। अथवा अविच्युति भी स्मृति का हेतु होने से उसका अन्तर्भाव धारणा में किया है। क्योंकि बिना अविच्युति के अवाय मात्र से स्मृति उत्पन्न नहीं हो सकती है। अतः स्मृति के हेतु रूप में अविच्युति और संस्कार दोनों का ग्रहण हो जाता है।⁴⁶⁰ इस प्रकार हेमचन्द्र ने अविच्युति को भी अप्रत्यक्ष रूप से स्वीकार करके जिनभद्रगणिकक्षमाश्रमण के साथ समन्वय करने का प्रयास किया है।

पूज्यपाद की परम्परा के आचार्यों ने उसको श्रुतज्ञान के रूप और जिनभद्रगणिकक्षमाश्रमण की परम्परा के आचार्यों ने स्मृति को मतिज्ञान रूप में स्वीकार किया है।⁴⁶¹ विद्यानंद ने शब्दानुयोजना रहित मति को स्मृति रूप और शब्दानुयोजना सहित स्मृति को श्रुत रूप मानकर दोनों को समन्वय करने का प्रयास किया है।

धारणा के सम्बन्ध में प्राप्त मतान्तर का जिनभद्रगणि द्वारा समाधान-

जिनभद्रगणि ने अन्य दर्शनों की ओर से प्रश्न उठाते हुए कहा है कि अविच्युति, स्मृति गृहीतग्राही होने से तथा वासना संख्यात/असंख्यात काल की होने से धारणा रूप नहीं हो सकती है, अतः मतिज्ञान का धारणा रूपी भेद घटित नहीं होने से मतिज्ञान के तीन ही भेद प्राप्त होंगे, चार नहीं। इसके सम्बन्ध में जिनभद्रगणि के उत्तर का सारांश निम्न प्रकार से है-

1. अविच्युति में प्रथम, द्वितीय आदि बार अपाय द्वारा जो वस्तु गृहीत है, उनका काल भिन्न है, उनमें गृहीतग्राहिता का दोष नहीं आता है। अविच्युति रूप से द्वितीया, तृतीया आदि अपाय का विषय बनने वाली वस्तुएं भिन्न-भिन्न धर्मवाली होती हैं। वह अलग-अलग वासना रूप होती है, इसलिए अविच्युति गृहीतग्राही नहीं है।

2. स्मृति भी गृहीतग्राही नहीं है, क्योंकि पूर्वसमय और उत्तर समय में अविषयकृत वस्तु के एकत्व को ग्रहण करती है।

457. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 290

458. नंदीचूर्णि पृ. 56, हरिभद्रीय पृ. 57, प्रमाणनयतत्वालोक 2.10, मलधारी हेमचन्द्र वृत्ति गाथा 180 पृ. 81, मलयगिरि पृ. 168

459. स्मृतिहेतुदर्धारणा। - प्रमाणमीमांसा 1.1.29

460. प्रमाणमीमांसा, 1.1.29

461. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 188-189, प्रमाणमीमांसा, 1.2.2

3. वासना भी उपचार से ज्ञान रूप है, अतः जिनभद्रगणि के मतानुसार अविच्युति, स्मृति और वासना रूप धारणा का स्वरूप सिद्ध है।

4. धारणा के सम्बन्ध में कतिपय आचार्यों का मत है कि 'अवधारणमेव धारणा' अर्थात् अवधारण ही धारणा है। सद्भूतार्थ-विशेषावधारण ही धारणा है। सद्भूत यानी विवक्षित प्रदेश में विद्यमान वृक्ष आदि पदार्थ विशेष 'यह वृक्ष ही है' इस रूप में अवधारण करना धारणा है। जिनभद्रगणिकमाश्रमण के मन्तव्यानुसार यह उचित नहीं है, क्योंकि व्यतिरेक 'अपाय' और अन्वय 'धारणा' रूप है। इस प्रकार अपाय के दो भेद होने से मतिज्ञान के पाँच भेद प्राप्त होंगे। अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा और पाँचवें भेद के रूप में स्मृति को स्वीकार करना होगा। अन्यवादी कहते हैं कि हमारे कथन के अनुसार तो व्यतिरेक से होने वाला निश्चय अपाय और अन्वय के आधार पर होने वाला निश्चय धारणा है, इससे मतिज्ञान के चार ही भेद होंगे। अथवा अन्वय और व्यतिरेक का समन्वय अपाय में ही कर लिया जाता है, तो धारणा की आवश्यकता नहीं होने से मतिज्ञान के अवग्रह, ईहा और अपाय ये तीन ही भेद प्राप्त होंगे।

जिनभद्रगणि कहते हैं कि जिस समय 'यह वृक्ष ही है' इस प्रकार का निश्चयात्मक 'अपाय' हुआ उसके बाद भी, अन्तर्मुहूर्त तक 'यह वृक्ष ही है' इस प्रकार अविच्युति (निरन्तरता) रूप अपाय की प्रवृत्ति होती रहती है, वह भी प्रथम प्रवृत्त अपाय के अलावा धारणा है। अतः हमारे मत से भी अविच्युति, वासना और स्मृति रूप धारणा का सद्भाव सिद्ध होता है, इससे मतिज्ञान के चार ही भेद प्राप्त होंगे।⁴⁶²

5. धारणा को भी भाव रूप मानना ही होगा, अतः अन्वय और व्यतिरेक के अलावा किया गया सारा निश्चय अपाय रूप ही है, इस अपेक्षा से अविच्युति, स्मृति और वासना रूप धारणा उस अपाय से भिन्न ही है।⁴⁶³

6. अवग्रह के सम्बन्ध में परपक्षी को जाति-भेद इष्ट नहीं है अर्थात् व्यंजनावग्रह और अर्थावग्रह का आपने सामान्य रूप से अवग्रह में ही ग्रहण किया है, वैसे ही हमको (स्वपक्षी) भी धारणा अविच्युति, वासना और स्मृति के रूप से भिन्न स्वीकार नहीं है। हमने भी इन तीनों का समावेश धारणा में ही कर लिया है, इसलिए मतिज्ञान के अवग्रहादि चार भेद ही होंगे। अतः आपके द्वारा मति के छह भेदों (अवग्रह, ईहा, अवाय, अविच्युति, वासना और स्मृति) की जो शंका उठाई है, उसका स्वतः निराकरण हो जाता है।⁴⁶⁴

धारणा के भेद

अवाय के द्वारा निर्णय किये गये पदार्थ-ज्ञान को ज्ञान में धारण करना, 'धारणा' है। धारणा के छह भेद हैं - १. श्रोत्रेन्द्रिय धारणा, २. चक्षुरिन्द्रिय धारणा, ३. घ्राणेन्द्रिय धारणा, ४. जिह्वेन्द्रिय धारणा, ५. स्पर्शनेन्द्रिय धारणा तथा ६. अनिन्द्रिय धारणा।⁴⁶⁵

धारणा के पर्यायवाची नाम

धारणा के पर्यायवाची पाँच नाम हैं। यथा - 1. धरणा, 2. धारणा, 3. स्थापना, 4. प्रतिष्ठा और 5. कोष्ठ।⁴⁶⁶ इन पाँचों नामों में से पहला नाम अविच्युति स्वरूप है, दूसरा नाम स्मृति स्वरूप

462. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 185-189 एवं बृहद्वृत्ति का भावार्थ

463. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 190

464. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 191-192 एवं बृहद्वृत्ति का भावार्थ

465. नंदीसूत्र, पृ. 132

466. नंदीसूत्र, पृ. 132

का है और अन्तिम तीन नाम वासना स्वरूप के हैं। पांचों पर्यायवाची शब्दों के अर्थ नंदीचूर्णि, हारिभद्रीय वृत्ति और मलयगिरि वृत्ति⁴⁶⁷ के आधार पर निम्न प्रकार से हैं -

1. धरणा - जाने हुए पदार्थ ज्ञान को अन्तर्मुहूर्त तक दृढ़तापूर्वक उपयोग में धारण किये रहना-‘धरणा’ है। यह अविच्युति रूप है। यह धारणा की प्रथम अवस्था है।

2. धारणा - जघन्य अन्तर्मुहूर्त एवं उत्कृष्ट असंख्यात काल के बाद भी उस पदार्थ के ज्ञान का स्मरण होना ‘धारणा’ है। यह धारणा की दूसरी अवस्था है। जिनभद्रगणि ने इसका एक अर्थ अवाय की अविच्युति किया है।⁴⁶⁸

3. स्थापना - उस पदार्थ ज्ञान को पूर्वापर होने पर भी आलोचनापूर्वक हृदय में जघन्य अन्तर्मुहूर्त उत्कृष्ट असंख्यात काल तक स्थापित किये रखना ‘स्थापना’ है। यह धारणा की तीसरी अवस्था है।

जिनदासगणि के अनुसार अवाय में ज्ञात अर्थ को हृदय में स्थापित करना स्थापना है। हरिभद्र और मलयगिरि ने इस स्थापना को वासना रूप माना है। हरिभद्र ने इस सम्बन्ध में मतान्तर का उल्लेख करते हुए कहा है कि कुछ आचार्यों के मत से धारणा वासना रूप और स्थापना स्मृति रूप है।⁴⁶⁹

4. प्रतिष्ठा - उस पदार्थ ज्ञान को भेद-प्रभेद पूर्वक हृदय में रखना-‘प्रतिष्ठा’ है। जैसे कि जल में पत्थर नीचे जाकर प्रतिष्ठित होता है। यह धारणा की चौथी अवस्था है।

5. कोष्ठ - जैसे कोठे में रखा हुआ धान पूर्णतः सुरक्षित रहता है, वैसे ही पदार्थ ज्ञान का पूर्णतया हृदय में रहना अर्थात् अवधारित अर्थ का विनष्ट नहीं होना ‘कोष्ठ’ है। यह धारणा की पांचवी अवस्था है।

जिनदासगणि, हरिभद्र और मलयगिरि के अनुसार धरण, धारणा और स्थापना अनुक्रम से अविच्युति, स्मृति और वासना रूप हैं।

षट्खण्डागम में भी नंदी के समान पांच ही शब्द हैं, लेकिन अन्तर इतना है कि नंदीसूत्र में पहला भेद धरणा है और षट्खण्डागम में धरणी है। दूसरा अन्तर नंदी में चौथा भेद प्रतिष्ठा और पांचवां भेद कोष्ठ है जबकि षट्खण्डागम में चौथा भेद कोष्ठ और पांचवां भेद प्रतिष्ठा है।⁴⁷⁰ तत्त्वार्थभाष्य में धारणा, प्रतिपत्ति, अवधारण, अवस्थान, निश्चय, अवगम और अवबोध शब्द मिलते हैं, लेकिन वहाँ इनके अर्थों को स्पष्ट नहीं किया है।⁴⁷¹ धवलाटीका के अनुसार जो बुद्धि निर्णीत अर्थ को धारण करे वह धरणी है। जिससे निर्णीत रूप अर्थ धारण किया जाता है वह धारणा है। जिससे निर्णीत रूप से अर्थ की स्थापना होती है, वह स्थापना है। जो निर्णीत अर्थ को धारण करती है, वह बुद्धि कोष्ठा है। जिसमें विनाश के बिना पदार्थ प्रतिष्ठित रहे वह बुद्धि प्रतिष्ठा है।⁴⁷²

जिनदासगणी आदि आचार्यों के अनुसार निर्णीत अर्थ को भेद-प्रभेद सहित हृदय में स्थापना करना प्रतिष्ठा है, जबकि धवलाटीका के अनुसार विनाश के बिना अर्थ की प्रतिष्ठा को प्रतिष्ठा कहा है। कोष्ठ में दोनों का अर्थ समान है, लेकिन नंदी टीका में अविनाश को कोष्ठ की व्याख्या में और धवलाटीका में इसे प्रतिष्ठा की व्याख्या में आधार बनाया गया है। इस प्रकार नंदी के टीकाकारों ने धरणा आदि तीन को धारणा के तीन भेदों के रूप में समझाया है। जबकि धवलाटीका में इनका व्युत्पत्ति परक अर्थ किया है।

467. नंदीचूर्णि, पृ. 60, हारिभद्रीय, पृ. 60, मलयगिरि, पृ. 177

468. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 180

469. नंदीचूर्णि पृ. 60, हारिभद्रीय पृ. 60, मलयगिरि पृ. 177

470. धरणी धारणाट्ठवणा कोट्ठा पविट्ठा। - षट्खण्डागम पु. 13 सू. 5.5.40 पृ. 243

471. धारणा प्रतिपत्तिरवधारणावस्थानं निश्चयः अवगमः अवबोध इत्यनर्थान्तरम्। - तत्त्वार्थभाष्य 1.15 पृ. 82

472. षट्खण्डागम (धवला) पु. 13 सू. 5.5.40 पृ. 243

जातिस्मरणज्ञान भी मतिज्ञान का ही एक रूप

जातिस्मरण ज्ञान का अर्थ है-‘पूर्व भव में जो शब्द आदि रूपी-अरूपी पदार्थों का ज्ञान किया था, उनका वर्तमान भव में स्मरण में आना।’ लेकिन इसमें पूर्वभवों की सब बातों का स्मरण होना आवश्यक नहीं है। जो गहराई से स्मृति में अंकित होती है, वही बातें याद आती हैं। जैसे हम अनेक स्थानों पर घूमने जाते हैं, सब स्थानों की सब बातें याद नहीं रहती हैं। किन्तु मुख्य-मुख्य बातें याद रहती हैं। इस जन्म की स्मृति आना स्मृति मात्र है जातिस्मरण नहीं है, क्योंकि वह ज्ञान अन्य जन्म का नहीं है। आगमकारों ने जातिस्मरण का समावेश धारणा के तीसरे भेद-स्मृति के अन्तर्गत किया है।

पूर्व भव स्मरण रूप जातिस्मरण ज्ञान, केवल पर्याप्त संज्ञी जीवों को ही होता है। जातिस्मरण से पिछले संज्ञी भव ही स्मरण में आते हैं। यदि पिछले लगातार सैकड़ों भव संज्ञी के किये हों और क्षयोपशम तीव्र हो तो जाति स्मरण से वे सैकड़ों भव भी स्मरण में आ सकते हैं। ‘वे भव 900 तक हो सकते हैं’ ऐसी एक धारणा है, अन्य धारणा से 900 से ऊपर भी संभव है।

जैसे-जैसे जातिस्मरण से पूर्वभव को देखेगा वैसे-वैसे स्मृति में मन्दता आने के कारण जातिस्मरण का विषय कम होता जायेगा। जातिस्मरणज्ञान परभव में साथ नहीं जाता है, क्योंकि जातिस्मरण में स्मृति का विषय कम होने से भवान्तर में जाते हुए जीव में स्मृतिभंग हो जाने से साथ नहीं चलता है। किन्तु पुनः निमित्त मिलने से जातिस्मरण हो सकता है। कितने भवों तक लगातार हो सकता है, इसका स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता है। लेकिन ज्ञातार्थकथांग सूत्र के प्रथम अध्ययन में दो भवों में होने का उल्लेख है।

आचारांगसूत्र की टीका में जातिस्मरण ज्ञान को प्रत्यक्ष माना है, जबकि नन्दीसूत्र की टीका में इसको परोक्ष ज्ञान कहा है। नन्दीसूत्र में मति के पर्यायवाची नामों में ईहा, अपोह, मार्गणा, स्मृति आदि के नाम आये हैं और ईहा, अपोह, मार्गणा से पूर्व अनुभूत भवों का स्मरण होना ही जातिस्मरण है। अतः स्मरण होना मतिज्ञान है। इसलिए जातिस्मरण को मति के अन्दर अर्थात् परोक्षज्ञान में लिया है। जातिस्मरण से पूर्वभव की स्मृति होकर वैराग्यादि बढ़ाने में साधक होने से उसे भी प्रत्यक्ष के समान कह दिया गया है। जैसे कि नन्दीसूत्र में मतिज्ञान को इन्द्रिय प्रत्यक्ष के रूप में बताया ही है। अतः सांख्यावहारिक प्रत्यक्ष होने से जातिस्मरण को आचारांग की टीका में प्रत्यक्ष कहा गया है।

षट्खण्डागम, तत्त्वार्थभाष्य और नन्दीसूत्र में अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा के पर्यायवाची नामों में जो भिन्नता है, उसको चार्ट द्वारा दर्शाया गया है -

अवग्रह

नन्दी सूत्र	अवग्रहण	उपाधारण	श्रवण	अवलंबन	मेधा
षट्खण्डागम	अवग्रह	अवदान(अवधान)	सान	अवलम्बता	मेधा
तत्त्वार्थ भाष्य	अवग्रह	ग्रह	ग्रहण	आलोचन	अवधारण

ईहा

नन्दी सूत्र	आभोग	मार्गणा	गवेषणा	चिन्ता	विमर्श
षट्खण्डागम	ईहा	ऊहा	अपोहा	मार्गणा	गवेषणा
तत्त्वार्थ भाष्य	ईहा	ऊहा	तर्क	परीक्षा	विचारणा

अवाय

नन्दी सूत्र	आवर्तन	प्रत्यावर्तन	अपाय	बुद्धि	विज्ञान
षट्खण्डागम	अवाय	व्यवसाय	बुद्धि	विज्ञप्ति	आमुंडा
तत्त्वार्थ भाष्य	अपाय	अपगम	अपनोद	अपव्याध	अपेत

धारणा

नन्दी सूत्र	धरणा	धारणा	स्थापना	प्रतिष्ठा	कोष्ठ
षट्खण्डागम	धारणी	धारणा	स्थापना	कोष्ठा	प्रतिष्ठा
तत्त्वार्थ भाष्य	प्रतिपत्ति	अवधारणा	अवस्थान	निश्चय	अवगम

अवबोध

अवग्रह आदि का काल

नंदीसूत्र के अनुसार - १. अवग्रह (अर्थावग्रह) का काल 'एक समय' है। २. ईहा का काल 'अन्तर्मुहूर्त' है। ३. अवाय का काल भी 'अन्तर्मुहूर्त' है। ४. वासनारूप धारणा का काल एक भव आश्रित संख्यात वर्ष की आयुष्य वालों के लिए संख्यात काल और असंख्यात वर्ष की आयुष्य वालों के लिए असंख्यात काल है।⁴⁷³

जिनभद्रगणिक्षमाश्रमण के अनुसार - नैश्चयिक अर्थावग्रह का काल एक समय, व्यंजनावग्रह तथा व्यावहारिक अर्थावग्रह का काल अन्तर्मुहूर्त, ईहा और अपाय का काल अन्तर्मुहूर्त, अविच्युति और स्मृति रूप धारणा का काल भी अन्तर्मुहूर्त, वासना रूप धारणा का काल संख्यात, असंख्यात काल तक का है।⁴⁷⁴ हरिभद्रसूरि नैश्चयिक अर्थावग्रह का कालमान एक समय और सांख्यव्यावहारिक अर्थावग्रह का समय अन्तर्मुहूर्त मानते हैं।⁴⁷⁵

अवग्रह - नंदीसूत्र में अवग्रह के लिए "असंखेज्ज समय पविट्ठा पुग्गला गहणमागच्छन्ति।" तथा 'उग्गह इक्क समयं' दोनों प्रकार के पाठ मिलते हैं। इनमें प्रथम पाठ व्यंजनावग्रह के लिए है तथा द्वितीय पाठ अर्थावग्रह के लिए है। जीव को जब चार इन्द्रियों (चक्षु रहित) द्वारा पदार्थ का सामान्य ज्ञान (दर्शन) होता है, तो पहले असंख्यात समय तक व्यंजन अवग्रह, फिर एक समय का अर्थावग्रह फिर ईहा आदि होती है। इसी प्रकार आवश्यकनिर्युक्ति के अनुसार अवग्रह का काल एक समय है।⁴⁷⁶ परंतु अवग्रह के अंत में अनेक समय व्यतीत होते हैं, इसकी संगति बैठाने के लिए आचार्यों ने अवग्रह के दो भेद करके परंपरा से प्राप्त (निर्युक्तिगत) कालमान के एक समय को नैश्चयिक अर्थावग्रह, बाकी के काल (अंतर्मुहूर्त) को व्यंजनावग्रह रूप स्वीकार किया है।⁴⁷⁷

विशेषावश्यकभाष्य और नंदीसूत्र के टीकाकारों ने व्यंजनावग्रह के जघन्य और उत्कृष्ट काल का उल्लेख किया है। जैसेकि व्यंजनावग्रह का जघन्य काल - आवलिका का असंख्यातवां भाग, उत्कृष्ट काल - संख्यात आवलिका है। संख्यात आवलिका का काल भी पृथक्त्व अर्थात् 2 से 9 श्वासोच्छ्वास जितना है। हरिभद्रसूरि स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि वैसे तो अंतिम समय में स्पृष्ट पुद्गल ही ज्ञान के उत्पादक बनते हैं और शेष स्पृष्ट पुद्गल सहयोगी होते हैं, इसलिए असंख्यात समय के स्पृष्ट या प्रविष्ट पुद्गलों का ज्ञान होता है। मलयगिरि ने भी इसका अनुमोदन किया है।⁴⁷⁸ ऐसा ही उल्लेख पं. सुखलालजी ने कर्मग्रंथ भाग एक की चौथी गाथा के विवेचन में किया है। परन्तु उपर्युक्त वर्णित जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति में असंख्यात गुणा का अन्तर हो जाता है, जो कि उचित नहीं लगता है, क्योंकि प्रज्ञापना सूत्र के पन्द्रहवें पद में पांच इन्द्रियों के उपयोग काल में विशेषाधिक का ही अन्तर बताया है।

व्यंजनावग्रह में असंख्य समय क्यों लगते हैं और अर्थावग्रह एक समय में क्यों होता है'-यह समझाने के लिये नंदीसूत्र में वर्णित मल्लक के दृष्टांत में जैसे शकोरा भर जाने के पश्चात् उसके

473. पारसमुनि, नंदीसूत्र, पृ. 191

474. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 333

475. हरिभद्रीय, नंदीवृत्ति पृ. 69

476. आवश्यकनिर्युक्ति गाथा 4

477. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 333, मलयगिरि पृ. 169

478. नंदीचूर्ण पृ. 63, हरिभद्रीय पृ. 65, मलयगिरि पृ. 179

बहने में मात्र एक जलबिन्दु चाहिए, वैसे ही श्रोत्रेन्द्रिय का व्यंजनावग्रह पूरा होने के पश्चात् श्रोत्रेन्द्रिय का अर्थावग्रह होने में एक समय लगता है।⁴⁷⁹

प्रश्न - एक समय के अर्थावग्रह में उपयोग कैसे लेगेगा?

उत्तर - अर्थावग्रह का जो एक समय है वह ज्ञान तंतुओं में झंकृत होने वाले समयों में अंतिम समय है अथवा असंख्य समयों में उपयोग लगे उसका पहला समय है।

प्रश्न - अर्थावग्रह के लिए नंदीसूत्र में जो मल्लकादि के दृष्टान्त दिये हैं, वे नैश्चयिक अर्थावग्रह के हैं अथवा **व्यावहारिक** अर्थावग्रह के हैं?

उत्तर - अर्थावग्रह के लिए जो भी दृष्टान्त दिये गए हैं, वे व्यावहारिक अर्थावग्रह के हैं, क्योंकि दृष्टान्त वही दिया जाता है - जो कि अनुभव गम्य हो और शब्द द्वारा प्रकट किया जा सकता हो। नैश्चयिक अर्थावग्रह एक समय का होने से उसका ज्ञान इतना अव्यक्त है कि 'छद्मस्थ' उसका अनुभव नहीं कर सकते हैं और केवली उसे जानते हुए भी प्रकट नहीं कर सकते हैं।¹ व्यावहारिक अर्थावग्रह ही ऐसा है, जो छद्मस्थ के लिए अनुभव गम्य है और वाणी द्वारा प्रकट किया जा सकता है। इसीलिए उसका नाम व्यावहारिक रखा गया है। ईहा आदि के जो दृष्टान्त होंगे, वे भी व्यावहारिक अर्थावग्रह के बाद ही घटित होंगे।

ईहा और अवाय - आवश्यकनिर्युक्ति में ईहा और अवाय के कालमान के सम्बन्ध में पाठभेद है। जिनभद्रगणि स्वोपज्ञ, हरिभद्रीय आवश्यकटीका, आवश्यकनिर्युक्ति दीपिका और मलयगिरि आवश्यकवृत्ति में 'ईहावाया मुहुत्तमन्त तु'⁴⁸⁰ पाठ है, जिनभद्रगणि ने इसका अर्थ अन्तर्मुहूर्त किया है। जबकि नंदीसूत्र में 'ईहावाया मुहुत्तमद्धं तु'⁴⁸¹ पाठ है, जिसका अर्थ है कि ईहा और अवाय का काल अर्द्धमुहूर्त का है। इसी प्रकार नंदीसूत्र में ही उल्लेख है कि 'अंतोमुहुत्तिया ईहा, अंतोमुहुत्तिए अवाय'⁴⁸² जिसका अर्थ है कि ईहा अवाय का अन्तर्मुहूर्त है, यह मतान्तर है। नंदी के टीकाकार हरिभद्र और मलयगिरि दूसरे पाठ का अनुसरण करके इसका अर्थ अर्द्धमुहूर्त (24 मिनट) करते हैं। जिनभद्रगणिकक्षमाश्रमण के मत को पाठान्तर से स्वीकार करते हैं एवं हरिभद्रसूरि दोनों पाठों में सम्बन्ध स्थापित करते हुए कहते हैं कि ईहा का मुहूर्तार्द्ध काल व्यवहार की अपेक्षा से है।⁴⁸³ वास्तवः में ईहा और अवाय का कालमान अन्तर्मुहूर्त का ही है।⁴⁸⁴ कोट्याचार्य कृत विशेषावश्यकभाष्य की टीका में भी 'मुहुत्तमन्तं' को पाठभेद के रूप में स्वीकार किया गया है।⁴⁸⁵ इससे ऐसी संभावना की जा सकती है कि उस समय में 'मुहुत्तमद्धं' पाठ विशेष प्रचलित रहा होगा। इसीलिए नंदीसूत्र का स्पष्ट पाठ होते हुए भी हरिभद्र एवं मलयगिरि ने 'मुहुत्तमद्धं' को महत्त्व दिया है।

धारणा - धारणा जघन्य अन्तर्मुहूर्त तथा उत्कृष्ट संख्यात / असंख्यात काल की होती है।

479. पारसमुनि, नंदीसूत्र, पृ. 194

480 उगहो एवकं समयं ईहावाया मुहुत्तमन्तं तु। कालमसंखं संखं च धारणा होति णातव्या। - आ० निर्युक्ति 4, वि० भाष्य 333

481. युवाचार्य मधुकरमुनि, नंदीसूत्र पृ. 143

482. युवाचार्य मधुकरमुनि, नंदीसूत्र पृ. 134

483. तावीहापायौ मुहूर्तार्द्धं ज्ञातव्यौ भवतः, तत्र मुहूर्तशब्देन घटिकाद्वयपरिणामः कालोऽभिधीयते तस्यार्धं मुहूर्तार्धं।.....

व्यवहारापेक्षयैतन्मुहूर्तार्धमुक्तं, तत्त्वतस्त्वन्तर्मुहूर्तमवसेयमिति। - हरिभद्रीय नंदीवृत्ति, पृ. 69

484. आवश्यकनिर्युक्ति 4, नंदीसूत्र 60, विशेषावश्यकभाष्य गाथा 333

485. कोट्याचार्यवृत्ति, विशेषावश्यकभाष्य गाथा 333

अवग्रह आदि का निश्चित क्रम और परस्पर भिन्नता

जीव का लक्षण उपयोग है। उसी उपयोग की भिन्न-भिन्न अवस्थाएं होती हैं और वही अवस्थाएं यहाँ दर्शन, अवग्रह, ईहा आदि भिन्न-भिन्न नामों से बताई गई हैं। इन अवस्थाओं से उपयोग की उत्पत्ति और उत्तरोत्तर विकास का क्रम जाना जाता है। जैसे प्रत्येक मनुष्य शिशु, बालक, कुमार, युवक, प्रौढ़ आदि अवस्थाओं को क्रम-पूर्वक ही प्राप्त करता है, उसी प्रकार उपयोग भी दर्शन, अवग्रह आदि अवस्थाओं को क्रम से पार करता हुआ ही धारणा की अवस्था प्राप्त करता है। शिशु आदि अवस्थाओं में मनुष्य एक ही है, फिर भी परिणमन के भेद से अवस्थाएं भिन्न-भिन्न कहलाती हैं, उसी प्रकार उपयोग एक होने पर भी परिणमन (विकास) की दृष्टि से अवग्रह आदि भिन्न-भिन्न कहलाते हैं। जैन परिभाषा में इसी को द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा अभेद और पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा भेद कहते हैं।

अवग्रहादि चारों का निश्चित क्रम है, इसका उल्लेख भाष्यकार ने निम्न प्रकार से किया है –

अवग्रह आदि चारों का क्रम नियमित है। इनका उत्क्रम या व्युत्क्रम होने पर अथवा एक का भी अभाव होने पर वस्तु के स्वभाव का अवबोध नहीं होता। अवग्रह से अगृहीत वस्तु में ईहा प्रवृत्त नहीं होती। बिना ईहा (अविचारित) के अवाय (निश्चय) नहीं होता। अनिश्चित अथवा अज्ञात अर्थ की धारणा नहीं होती। इसलिए अवग्रह आदि क्रमशः होते हैं। अवग्रहादि चार उत्तरोत्तर वस्तु की विशेष पर्याय को ग्रहण करते हैं, अतः ये परस्पर भिन्न-भिन्न होते हैं। ये चारों युगपत् (समकालीन) नहीं होते, क्योंकि इनका उत्पत्ति समय अलग-अलग है। इनका व्युत्क्रम (या उत्क्रम) भी नहीं होता। ज्ञेय का स्वभाव ऐसा ही है, जो केवल अवग्रह, केवल ईहा, केवल अवाय या केवल धारणा का विषय नहीं होता है।⁴⁸⁶

इसी प्रकार असमस्त रूप से भी उत्पन्न होने के कारण अवग्रहादि भिन्न-भिन्न स्वभाव वाले मालूम होते हैं, वस्तु की नवीन-नवीन पर्याय को प्रकाशित करते हैं और क्रम से उत्पन्न होते हैं, अतः अवग्रह आदि भिन्न-भिन्न हैं। इसके लिए वादिदेवसूरि ने प्रमाणनयतत्त्वालोक में तीन हेतु दिये हैं –

1. कभी मात्र दर्शन ही होता है, कभी दर्शन और अवग्रह दो ही उत्पन्न होते हैं, इसी प्रकार कभी तीन, कभी चार ज्ञान भी उत्पन्न होते हैं। इससे प्रतीत होता है कि दर्शन, अवग्रह आदि भिन्न-भिन्न हैं। यदि ये अभिन्न होते तो एक साथ पांचों ज्ञान उत्पन्न होते अथवा एक भी न होता।

2. पदार्थ की नई-नई पर्याय को प्रकाशित करने के कारण भी दर्शन आदि भिन्न-भिन्न सिद्ध होते हैं। तात्पर्य यह है कि सर्वप्रथम दर्शन पदार्थ में रहने वाले महा सामान्य को जानता है, फिर अवग्रह अवान्तर सामान्य को जानता है, ईहा विशेष की ओर झुकता है, अवाय विशेष का निश्चय कर देता है और धारणा में यह निश्चय दृढ़ बन जाता है। इस प्रकार प्रत्येक ज्ञान नवीन-नवीन धर्म को जानता है और इससे, उनमें भेद सिद्ध होता है।

3. पहले दर्शन फिर अवग्रह आदि इस प्रकार क्रम से ही ये ज्ञान उत्पन्न होते हैं, अतः भिन्न-भिन्न हैं। इस प्रकार वादिदेवसूरि ने भाष्यकार का ही अनुकरण किया है।⁴⁸⁷

शंका – कभी परिचित (अभ्यस्त) विषय में जैसे कि कभी (देखने सम्बन्धी) ‘यह पुरुष है’ इस प्रकार अवग्रह और ईहा को छोड़कर सीधा अपाय होना भी प्रतीत होता है, इसी प्रकार कभी-

486. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 295-297

487. प्रमाणनयतत्त्वालोक, पृष्ठ 19-20

कभी पूर्वज्ञात वस्तु के सामने आने पर 'यह वह है' ऐसी धारणा भी होती है, अतः आपने जो क्रम से चारों की प्रवृत्ति होने का कथन किया है, वह संगत प्रतीत नहीं होता है।

समाधान - जिनभद्रगणि इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि आपका कथन युक्त नहीं है, क्योंकि अवग्रहादि के दुर्लक्ष्य होने से, जैसे कि कोई जवान व्यक्ति सैकड़ों कमलपत्रों को सूई आदि से बीधता हुआ यह विचार करता है कि मैंने एक साथ सौ पत्तों को छेद दिया है, लेकिन उसका यह कथन उचित नहीं है, क्योंकि प्रत्येक पत्ते के बीधने का समय अलग अलग है। किन्तु वह काल अतिसूक्ष्म होने से अलग-अलग रूप से प्रतीत नहीं होता है अर्थात् जो वस्तु अत्यन्त परिचित होती है, उसमें पहले दर्शन होता है, फिर अवग्रहादि ज्ञान क्रम से होते हैं लेकिन यह सूक्ष्म प्रक्रिया होने से ज्ञाता जान नहीं पाता है। ज्ञाता को लगता है कि उसे सीधा अवाय या धारणा का ज्ञान हुआ है। चाहे कोई भी वस्तु ज्ञाता के कितनी ही परिचित हो, लेकिन जब भी उस वस्तुका ज्ञान होगा तो वह दर्शन, अवग्रहादि के क्रम से होता हुआ अवाय या धारणा तक पहुँचता है। जैसे एक-दूसरे के ऊपर कमल के सौ पत्ते रखकर उनमें नुकीला भाला घुसेड़ा जाए तो वे सब पत्ते क्रम से ही छिदेंगे पर यह मालूम नहीं पड़ पाता कि भाला कब पहले पत्ते में घुसा, कब उससे बाहर निकला, कब दूसरे पत्ते में घुसा आदि। जिसका कारण शीघ्रता ही है। जब भाले का वेग इतना तीव्र हो सकता है तो सूक्ष्मतर ज्ञान का वेग उससे भी अधिक तीव्र क्यों न होगा? अतः अवग्रह आदि का काल भी अतिसूक्ष्म होता है जो कि प्रतीत नहीं होता है, लेकिन अवग्रहादि क्रम से ही सम्पन्न होते हैं।⁴⁸⁸ जिनदासगणी, मलयगिरि, यशोविजयजी ने भी ऐसा ही उल्लेख किया है।⁴⁸⁹

अवग्रहादि के बहु-बहुविध आदि भेद

जिनभद्रगणि ने श्रुतनिश्चित मति के अन्तर्गत अवग्रह आदि के बहु-अबहु, बहुविध-अबहुविध, क्षिप्र-अक्षिप्र, अनिश्रित-निश्चित, निश्चित-अनिश्चित, ध्रुव-अध्रुव इन बारह भेदों का उल्लेख किया है।⁴⁹⁰

इन बारह भेदों का सर्वप्रथम नामोल्लेख तत्त्वार्थसूत्र में मिलता है। लेकिन इनको परिभाषित पूज्यपाद ने किया है। उक्त बारह भेदों में से कुछ भेदों के नाम तथा अर्थ में भी कालक्रम से परिवर्तन हुआ है। जिनभद्रगणि ने इनका अर्थ स्पष्ट करते हुए आवश्यकता अनुसार उदाहरण भी दिये हैं तथा हरिभद्र, अकलंक ने सोदाहरण इनकी व्याख्या की है। तत्त्वार्थभाष्य, सर्वार्थसिद्धि, विशेषावश्यकभाष्य और धवलाटीका में बहु आदि के नामों में प्राप्त भिन्नता का उल्लेख निम्न सारणी द्वारा किया गया है।⁴⁹¹

उमास्वाति	पूज्यपाद	जिनभद्रगणि	वीरसेनाचार्य
बहु-अल्प	बहु-अल्प	बहु-अबहु	बहु-एक
बहुविध-एकविध	बहुविध-एकविध	बहुविध-अबहुविध	बहुविध-एकविध
क्षिप्र-चिर	क्षिप्र-अक्षिप्र	क्षिप्र-अक्षिप्र	क्षिप्र-अक्षिप्र
निश्चित-अनिश्चित	अनिःसृत-निःसृत	अनिश्चित-निश्चित	अनिःसृत-निःसृत
असंदिग्ध-संदिग्ध	अनुक्त-उक्त	निश्चित-अनिश्चित	अनुक्त-उक्त
ध्रुव-अध्रुव	ध्रुव-अध्रुव	ध्रुव-अध्रुव	ध्रुव-अध्रुव

488. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 298-299

489. नंदीचूर्णि पृ. 64, हरिभद्रीय पृ. 66, मलयगिरि पृ. 183, जैनतर्कभाषा पृ. 20

490. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 307

491. सर्वार्थसिद्धि 1.16, विशेषावश्यकभाष्य गाथा 307, राजवार्तिक 1.16.15, षट्खण्डागम पु. 13, सू. 5.5.34, पृ. 235-236, मलयगिरि पृ. 183, जैनतर्कभाषा पृ. 21

इनका स्वरूप निम्न प्रकार से है -

1. **बहु** - एक काल में एक साथ बहुत पदार्थ जानना बहु है। पूज्यपाद के अनुसार बहु शब्द संख्यावाची (एक, दो, बहुत) और विपुलतावाची (बहुत भात, बहुत दाल) है। दोनों का यहाँ ग्रहण किया गया है। **जिनभद्रगणि** के अनुसार एक साथ शंख, मृदंग आदि अनेक वाद्य यंत्र बजते हैं तो उसमें से यह शब्द शंख का है, यह मृदंग का है, इस प्रकार अलग-अलग पहचान करना बहु है। अकलंक ने पूज्यपाद का अनुसरण करते हुए कहा है कि बहु भेद से बौद्ध जो ज्ञान को प्रत्यर्थवशवर्ति (एक समय में एक ही पदार्थ को विषय करने वाला) मानते हैं, उसका खण्डन होता है। अकलंक ने इस चर्चा का विस्तार से वर्णन किया है, धवलाटीका में भी अकलंक का ही अनुसरण किया गया है।⁴⁹²

2. **अल्प (अबहु)** - अल्प ग्रहण को अल्प कहते हैं अर्थात् किसी एक ही विषय या एक ही पर्याय को स्वल्पमात्रा में जानना। विशेषावश्यकभाष्य के अनुसार श्रोता को अल्प क्षयोपशम के कारण शंख, मृदंग आदि अनेक वाद्य यंत्र बजते हैं तो सामान्य रूप से उनकी आवाज का ज्ञान होना अल्प है अर्थात् एक काल में एक पदार्थ जानना। अर्थ की समानता होते हुए भी 'अल्प'⁴⁹³ 'अबहु'⁴⁹⁴ और 'एक' (धवलाटीका) इन तीन शब्दों का उपयोग होता है, लेकिन अर्थ भेद नहीं है।

3. **बहुविध** - पूज्यपाद और अकलंक के अनुसार विध शब्द प्रकारवाची है। जिनभद्रगणि मन्तव्यानुसार एक काल में एक या अनेक पदार्थों को अनेक गुण और पर्यायों से जानना बहुविध भेद है। जैसे शंख, भेरी आदि के एक-एक शब्द के स्निग्धत्व, मधुरत्व आदि अनेक धर्मों को एक साथ ग्रहण करना। धवला टीका में जातिगत बहुत संख्या विशिष्ट अर्थों का ज्ञान बहुविधज्ञान है।⁴⁹⁵ पूज्यपाद ने बहु और बहुविध में अन्तर बताये हुए कहा है कि बहु तो एक प्रकार और बहुविध अनेक प्रकार रूप है।⁴⁹⁶

4. **एकविध (अबहुविध)** - जिनभद्रगणि के मतानुसार अनेक वस्तुओं में प्रत्येक की एक-एक पर्याय का ज्ञान होना एकविध है। जैसे शंख, मृदंग आदि अनेक वाद्य यंत्र की तीव्र, मधुर आदि एक दो पर्यायों का ज्ञान होना एकविध है अर्थात् एक काल में एक या अनेक पदार्थों के एक गुण पर्याय को जानना। जिनभद्रगणि, मलयगिरि आदि के अनुसार एक पर्याय का ज्ञान होता है, जबकि विद्यानन्द के अनुसार एक-दो पर्याय का ज्ञान होता है।⁴⁹⁷ वीरसेन कहते हैं कि एक जातिविषयक एकविध है। 'एकविध' और 'एक' समान नहीं है, जैसे कि जाति और व्यक्ति एक नहीं होने से उनके विषय करने वाले भी एक समान नहीं हो सकते हैं। अल्प, बहु, एकविध, बहुविध ये चार भेद उत्तरोत्तर सूक्ष्म, सूक्ष्मतर हैं।

5. **क्षिप्र** - भाष्यकार के कथनानुसार एक काल में एक या अनेक पदार्थों के एक या अनेक गुण पर्यायों को शीघ्र जानना अर्थात् शीघ्र ग्रहण करना। स्पर्शनेन्द्रिय के द्वारा अन्धकार में भी व्यक्ति या वस्तु को पहचान लेना।

6. **अक्षिप्र (चिर)** - क्षयोपशम की मन्दता से या विक्षिप्त उपयोग से किसी भी इन्द्रिय या मन के विषय को अनभ्यस्तावस्था में विलम्ब से जानना अर्थात् अधिक समय लगना। धवला में

492. सर्वार्थसिद्धि सूत्र 1.16, विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 308, राजवार्तिक 1.16.1-8, धवला पु. 13, सू. 5.5.35 पृ. 235

493. तत्त्वार्थभाष्य 1.16, सर्वार्थसिद्धि 1.16, राजवार्तिक 1.16

494. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 310, मलयगिरि पृ. 183 जैनतर्कभाषा पृ. 21

495. सर्वार्थसिद्धि सूत्र 1.16, विशेषावश्यकभाष्य गाथा 308, राजवार्तिक 1.16.9, धवला पु. 13, सू. 5.5.35 पृ. 237

496. सर्वार्थसिद्धि 1.16

497. श्लोकवार्तिक पृ. 1.16.4522. धवला पु. 13 पृ. 237

उदाहरण देते हुए कहा है कि जिस प्रकार नूतन सकोरे को प्राप्त हुआ जल उसे धीरे-धीरे गीला करता है, उसी प्रकार पदार्थ को धीरे-धीरे जानने वाला प्रत्यय अक्षिप्र प्रत्यय है।⁴⁹⁸ कूटस्थनित्यवादी क्षिप्र को और क्षणभंगवादी अक्षिप्र को स्वीकार नहीं करते हैं। लेकिन वस्तु में उत्पाद, ध्रौव्य, नाश तीनों धर्म होते हैं, इसलिए दोनों भेद युक्ति संगत हैं।⁴⁹⁹ इसके लिए 'चिर'⁵⁰⁰ और 'अक्षिप्र'⁵⁰¹ इन दो शब्दों का प्रयोग किया है। लेकिन अर्थ भेद नहीं है।

7. अनिश्रित - उमास्वाति, जिनभद्र, मलयगिरि आदि आचार्य इसका उल्लेख किया है। विशेषावश्यकभाष्य के अनुसार बिना किसी हेतु (लिंग) के, पर धर्मों से मिश्र वस्तु को ग्रहण नहीं करे, लेकिन यथावस्थित रूप से जाने अर्थात् बिना किसी निमित्त के शब्द समूह की पर्याय और गुण से उसके स्वरूप को जानना। संकेत आदि की सहायता के बिना उन्हें स्वरूप से जानना। गायानादि को गायानादि के रूप में ही ग्रहण करना अर्थात् जो अविपरीत ज्ञान है, वह अनिश्रित है। व्यक्ति के मस्तिष्क में ऐसी सूझ-बूझ पैदा होना जो कि किसी शास्त्र या पुस्तक में भी लिखी हुई मिल जाए।

इस प्रकार जिनभद्रगणि ने इसको दो प्रकार से परिभाषित किया है - 1. अन्यलिंग की मदद के बिना स्वरूप से होने वाला ज्ञान अनिश्रित है। जैसेकि मेघ शब्द की अपेक्षा के अलावा भेरी शब्द का ज्ञान। 2. परमधर्म से अनिश्रित ज्ञान अनिश्रित है। जैसेकि गाय को गाय रूप में जानना।⁵⁰²

8. निश्चित - जिनभद्रगणि ने इसके दो अर्थ किये हैं - 1. अन्यलिंग अर्थात् किसी हेतु, युक्ति, निमित्त, लिंग आदि के सहयोग से होने वाला ज्ञान निश्चित है। जैसेकि ध्वजा से देव का ज्ञान 2. परधर्मों से मिश्रित (विपर्यय) ज्ञान निश्चित है। जैसे अश्वादि के पर धर्मों से मिश्रित, गाय आदि वस्तु को ग्रहण करते समय निश्चित ज्ञान होता है अर्थात् गाय को अश्वरूप ग्रहण किया जाता है, जो विपरीत ज्ञान है। यह निश्चित कहलाता है। एक ने शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा को ही उपयोग की एकाग्रता से अकस्मात् चन्द्र दर्शन कर लिए, दूसरे ने किसी बाह्य निमित्त से चन्द्रदर्शन किए, इन में पहला, पहली कोटिक में और दूसरा, दूसरी कोटी में समाविष्ट हो जाता है।⁵⁰³

अनिश्चित-निश्चित के उपर्युक्त दो अर्थों में से यशोविजयजी ने प्रथम अर्थ ही उल्लेख किया है।

निश्चित-अनिश्चित के लिए मिश्रित-अमिश्रित और निःसृत-अनिःसृत का भी प्रयोग हुआ है। इन शब्दों का अर्थ निम्न प्रकार से है।

निःसृत और अनिःसृत - पूज्यपाद, अकलंक, धवलाटीकाकार आदि आचार्यों ने इन का प्रयोग किया है।⁵⁰⁴ पूज्यपाद के अनुसार जब तक वस्तु का पूरा भाग प्रकट नहीं होता है, तब तक वह अनिःसृत होता है अर्थात् सभी पुद्गलों के बाहर निकलने से पहले ही वस्तु का ज्ञान होना अनिःसृत है। अकलंक कहते हैं कि पदार्थ के एक अवयव को देखने मात्र से ही उस समस्त पदार्थ के अवग्रह का आदि ज्ञान हो जाना निःसृत है। इसके लिए उदाहरण दिया है कि तालाब आदि में समस्त शरीर के डूब जाने पर भी एक सूँढ़ मात्र अवयव को देखकर हाथी के विषय में अवग्रहादि ज्ञान होते हैं।⁵⁰⁵ वीरसेनाचार्य ने अनुसंधान और प्रत्यभिज्ञान को अनिःसृत कहा है। जैसेकि घड़े के नीचे का भाग देखकर ही घड़े का ज्ञान होता है। गवय गाय के समान होता है, इस प्रकार उपमा के साथ उपमेय

498. धवला पु. 13 पृ. 237

499. श्लोकवार्तिक 1.16.34-36

500. तत्त्वार्थभाष्य 1.16, सर्वार्थसिद्धि 1.16, राजावार्तिक 1.16

501. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 309, धवला पु. 13 पृ.237, श्लोकवार्तिक 1.16.34, मलयगिरि पृ. 183, जैनतर्कभाषा पृ. 21

502. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 308-310, मलयगिरि पृ. 183

503. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 308-310, मलयगिरि पृ. 183

504. सर्वार्थसिद्धि 1.16, राजवार्तिक 1.16.11, धवला, पु. 13, पृ. 238

505. सर्वार्थसिद्धि 1.16, राजवार्तिक 1.16.11

के ज्ञान की उपलब्धि होना प्रत्यभिज्ञान (यह वही है) है। कदाचित् बहुत अर्थों का जाति द्वारा खोज करना अनुसंधान प्रत्यय है। धवलाटीकाकार ने मतान्तर का उल्लेख करते हुए कहा है कि कुछ आचार्य अनिःसृत के स्थान पर निःसृत का प्रयोग करते हैं, लेकिन यह उचित नहीं है, क्योंकि इससे तो मात्र उपमा का ज्ञान ही होता है। वस्तु के एक देश का ज्ञान होना निःसृत है।⁵⁰⁶

पूज्यपाद के समकालीन कुछ आचार्य 'अपरेषां क्षिप्रनिःसृत इति।'⁵⁰⁷ इस सूत्र में क्षिप्र के बाद में निःसृत को स्वीकार करते हैं, क्योंकि शब्द सामान्य का ग्रहण अनिःसृत है, जबकि यह शब्द मयूर का है, ऐसा विशिष्ट ज्ञान निःसृत है। इस प्रकार उन्होंने अनिःसृत से निःसृत को श्रेष्ठ माना है। लेकिन बाद वाले आचार्यों ने इसका समर्थन नहीं किया है।

मिश्रित-अमिश्रित - जिनभद्रगणिक्रमाश्रमण ने मिश्रित और अमिश्रित का जो दूसरा अर्थ किया है, उसी को मलयगिरि ने मिश्रित और अमिश्रित कहा है।⁵⁰⁸

9-10. निश्चित (उक्त)-अनिश्चित (अनुक्त) - उमास्वाति, पूज्यपाद, अकलंक, वीरसेनाचार्य⁵⁰⁹ आदि आचार्यों ने उक्त-अनुक्त का, जबकि जिनभद्रगणि और उसके बाद के आचार्यों ने निश्चित और अनिश्चित शब्दों का उल्लेख किया है। अतः दोनों परम्पराओं में नाम और अर्थ भिन्न हैं।

1. उक्त-अनुक्त - पूज्यपाद के अनुसार अन्य के द्वारा कथन किया अथवा नहीं किया, ऐसी वस्तु को अभिप्राय से जानना अनुक्त है जबकि अन्य के उपदेश से ग्रहण उक्त है। अकलंक के अनुसार 'अनुक्त' का अर्थ बिना कहा हुआ है। जैसेकि यह गाय का शब्द है इस प्रकार परोपदेश से होने वाला ज्ञान उक्त है। दो प्रकार के द्रव्यों के मिश्रण को बिना कहे ही जान लेना कि यह मिश्रण अमुक द्रव्यों से तैयार किया है, यह अनुक्त ज्ञान है। धवलाटीकाकार के अनुसार विशिष्ट वस्तु के ग्रहण के समय ही जो गुण इन्द्रिय का विषय नहीं है, ऐसे गुणों से युक्त वस्तु को जानना अनुक्त ज्ञान है। चक्षु के द्वारा लवण, शर्करा आदि के ग्रहण के समय कदाचित् उसके रस का ज्ञान होना अनुक्त है।⁵¹⁰ अनुक्त का विपरीत उक्त है।

पूज्यपाद ने उक्त और निःसृत में अन्तर बताते हुए कहा है कि सभी पुद्गलों का निस्सरण समान होने से एक होते हुए भी उक्त में परोपदेश पूर्वक ग्रहण होता है, जबकि निःसृत में स्वतः ग्रहण होता है।⁵¹¹ इस कथन का समर्थन अकलंक ने भी किया है। धवलाटीका के अनुसार उक्त में निःसृत और अनिःसृत दोनों का समावेश होने से उक्त और निःसृत भिन्न हैं।

अनिःसृत में वस्तु के अल्पभाग का ज्ञान आवश्यक है, जबकि अनुक्त में वस्तु के अल्पभाग का ज्ञान आवश्यक नहीं है। धवलाटीका के अनुसार अदृष्ट, अश्रुत और अननुभूत वस्तु अनुक्त का विषय है।

2. निश्चित-अनिश्चित - जिनभद्रगणि के कथनानुसार किसी व्यक्ति ने जिस पर्याय को जाना, वह भी बिना ही संदेह के जाना, जैसे यह गन्ने का रस है, वह नीम का है। स्पर्श से तथा गन्ध से अन्धकार में भी उन्हें पहचान लेना। अपने अभीष्ट व्यक्ति को दूर से आते हुए ही पहचान लेना। यह सोना है, यह पीतल है आदि को संदेह रहित जानना। निश्चित रूप में जानना अर्थात् असंदिग्ध रूप में जानना, निश्चित है। शंका युक्त जानना अर्थात् हेतु का सहारा लिए बिना स्वरूप को जान लेना, अनिश्चित है। हरिभद्र, मलयगिरि और यशोविजय ने ऐसा ही उल्लेख किया है।⁵¹²

506. धवला, पु. 13, पृ. 238

507. सर्वार्थसिद्धि 1.16, पृ. 81

508. अथवा परधर्मैर्विमिश्रितं यद्ग्रहणं तन्मिश्रितावग्रहः, यत्पुनः परधर्मैर्मिश्रितस्य ग्रहणं तदमिश्रितावग्रहः। - मलयगिरि पृ. 183

509. तत्त्वार्थसूत्र 1.16, सर्वार्थसिद्धि 1.16 राजवार्तिक 1.16.12, धवला पु. 13 पृ. 239

510. राजवार्तिक 1.16.12, धवला पु. 13 पृ. 239

511. सर्वार्थसिद्धि 1.16 पृ. 81

512. विशेषावश्यकभाष्य 308-310, मलयगिरि पृ. 183, जैनतर्कभाषा पृ. 21

कतिपय आचार्यों का ऐसा मानना कि अनिःसृत और अनुक्त में बाहर नहीं निकले हुए पुद्गलों का ज्ञान होने से यह भेद चार प्राप्यकारी इन्द्रियों में संभव नहीं है। विद्यानंद ने इसका समाधान करते हुए कहा है कि चींटी को दूर से ही गुड़ का ज्ञान होता है, यह ज्ञान प्राप्यकारी इन्द्रिय से ही सम्भव है तथा अनिःसृत और अनुक्त ज्ञान श्रुतज्ञानापेक्षी है। श्रुतज्ञान के श्रोत्रेन्द्रिय लब्ध्यक्षर आदि छह भेद हैं इनसे उक्त छह इन्द्रियों से दोनों ज्ञान संभव हैं ^{§13}

11-12. ध्रुव-अध्रुव - इन दोनों के तीन अर्थ प्राप्त होते हैं -

1. पूज्यपाद, अकलंक, मलधारी हेमचन्द्रसूरि⁵¹⁴ यशोविजयजी आदि के अनुसार प्रथम समय में जैसा ज्ञान हुआ है, वैसा ही ज्ञान द्वितीयादि समय में होना ध्रुव है तथा नियम से कभी बहु, कभी अबहु, कभी बहुविध, और कभी एकविध आदि से होने वाला ज्ञान अध्रुव है।

2. जिनभद्रगणि और मलयगिरि के वचनानुसार - जैसे पहले बहु-बहुविध आदि का ज्ञान किया, वैसे सर्वदा (निश्चित) जानना ध्रुव कहलाता है। सामान्य रूप से कभी बहु, कभी अबहु, कभी बहुविध, और कभी एकविध आदि रूप से जानना अध्रुव है ^{§15}

हरिभद्र ने पूज्यपाद और जिनभद्रगणि के द्वारा किये गये अर्थ का समन्वय करते हुए कहा है कि स्थिर बोध ध्रुव और अस्थिर बोध अध्रुव है ^{§16}

3. वीरसेनाचार्य कहते हैं कि नित्यत्वविशिष्ट स्तंभ आदि का स्थिर ज्ञान ध्रुव है। उत्पत्ति और विनाश विशिष्ट अर्थात् बिजली और दीपक की लौ आदि का ज्ञान अध्रुव है तथा उत्पाद, ध्रौव्य और व्यय युक्त विशिष्ट वस्तु का ज्ञान भी अध्रुव है, ⁵¹⁷ क्योंकि वह ज्ञान ध्रुव से भिन्न है।

पूज्यपाद के अनुसार धारणा गृहीत अर्थ का अविस्मरण होने से वह ध्रुव से भिन्न है।

जिनभद्रगणि के अनुसार बहु आदि भेद व्यावहारिक अर्थावग्रह के होते हैं, नैश्चयिक अर्थावग्रह के नहीं, क्योंकि नैश्चयिक अवग्रह का काल एक समय का होने से उसमें ये भेद संभव नहीं है। मलयगिरि और यशोविजय भी ऐसा ही उल्लेख करते हैं⁵¹⁸ जबकि बृहद्वृत्तिकार **मलधारी हेमचन्द्रसूरि** ने कारण में कार्य का उपचार करके नैश्चयिक अवग्रह में भी बहु आदि भेदों को स्वीकार किया है ⁵¹⁹

अकलंक के अनुसार व्यंजनावग्रह में बहु आदि भेद अव्यक्त रूप से रहते हैं, अर्थावग्रह में ये भेद स्पष्ट घटित होते हैं ⁵²⁰

बहु, बहुविध, क्षिप्र, अनिश्रित, असंदिग्ध और ध्रुव में विशिष्ट क्षयोपशम. उपयोग की एकाग्रता, अभ्यस्तता ये असाधारण कारण हैं तथा अल्प, अल्पविध, अक्षिप्र, निश्चित, संदिग्ध और अध्रुव इन से होने वाले ज्ञान में क्षयोपशम की मन्दता, उपयोग की विक्षिप्तता, अनभ्यस्तता, ये अंतरंग असाधारण कारण हैं।

पूज्यपाद ने ध्रुवावग्रह और धारणा में अन्तर बताते हुए कहा है कि ध्रुवावग्रह में कम ज्यादा भाव होते हैं जबकि धारणा में गृहीत अर्थ नहीं भूलने के कारण वह ज्ञान धारणा कहलाता है ⁵²¹

513. श्लोकवार्तिक 1.16.38-39

514. सर्वार्थसिद्धि 1.16, राजवार्तिक 1.16.13-14, मलधारी हेमचन्द्र टीका गाथा 309

515. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 309, मलयगिरि पृ. 183

516. तत्त्वार्थ हरिभद्रीय वृत्ति 1.16

517. ध्वला पु. 13, पृ. 239, श्लोकवार्तिक 1.16.40

518. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 287,332, मलयगिरि पृ. 182, जैनतर्कभाषा पृ. 20

519. कारणे कार्यधर्मोपरचारान् पुनर्निश्चयावग्रहेऽपि युज्यते। विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 288

520. राजवार्तिक 1.16

521. सर्वार्थसिद्धि 1.16 पृ. 81

मतिज्ञान के द्वारा द्रव्यादि चतुष्क का ज्ञान

आभिनिबोधक ज्ञान का विषय संक्षेप से चार प्रकार का है। वह इस प्रकार है-१. द्रव्य से, २. क्षेत्र से, ३. काल से, और ४. भाव से।⁵²²

द्रव्य से - आभिनिबोधक ज्ञानी, आदेश से सर्व द्रव्यों को जानता है, देखता नहीं है अर्थात् जो आभिनिबोधक ज्ञानी हैं, वे आदेश से अर्थात् जातिस्मरणादि से या गुरुदेव के वचन श्रवण, शास्त्र-पठन आदि से आगमिक श्रुतज्ञान जानते हैं, वे उस श्रुतज्ञान से सम्बन्धित-श्रुतनिश्चित मतिज्ञान से छहों द्रव्यों को जाति रूप सामान्य प्रकार से जानते हैं। जैसे द्रव्य छह हैं - १. धर्म, २. अधर्म, ३. आकाश, ४. जीव, ५. पुद्गल और ६. काल। कोई इन छह द्रव्यों को विशेष प्रकार से भी जानते हैं। जैसे-१. धर्म, २. अधर्म, ३. आकाश-ये तीन द्रव्य, द्रव्य से एक-एक है। शेष तीन द्रव्य, द्रव्य से अनन्त-अनन्त हैं। धर्म, अधर्म और आकाश, ये तीन स्कन्ध से एक-एक हैं तथा जीव और पुद्गल-ये दो स्कन्ध से अनन्त हैं। धर्म और अधर्म-ये दोनों प्रदेश से असंख्य-असंख्य प्रदेशी हैं। आकाश अनन्त प्रदेशी है। लोकाकाश असंख्य प्रदेशी है, अलोक-आकाश अनन्त प्रदेशी है। जीव प्रत्येक असंख्य प्रदेशी है। पुद्गल अप्रदेशी, संख्यात प्रदेशी, असंख्य प्रदेशी और अनन्त प्रदेशी है, काल अप्रदेशी है, इत्यादि। परन्तु केवली के समान वे सम्पूर्ण को विशेष प्रकार से नहीं देखते हैं।

जिनभद्रगणिकक्षमाश्रमण का मन्तव्य - मतिज्ञानी द्रव्य की अपेक्षा सामान्य प्रकार से जीव और पुद्गलों के गति आश्रय के कारणभूत धर्मास्तिकाय आदि सब द्रव्यों को जानता है, उनकी सब पर्यायों को नहीं जानता है, कुछ अंशों में विशेष रूप से भी जानता है, जैसेकि धर्मास्तिकाय गतिसहायक द्रव्य है। वह अमूर्त और लोकाकाशप्रमाण है। किन्तु धर्मास्तिकाय आदि को सर्वात्मना नहीं देखता। लेकिन उचित देश में अवस्थित घट आदि को देखता भी है। इसी प्रकार क्षेत्र से वह लोकालोक क्षेत्र, काल से अतीत-वर्तमान-अनागत काल तथा भाव से उदय आदि पांच भाव को जानता है।⁵²³ उपर्युक्त वर्णन में मतिज्ञानी सर्व द्रव्य को जानते और देखते हैं, ऐसा उल्लेख किया है। तो यहाँ सर्व शब्द आदेश की अपेक्षा से प्रयुक्त हुआ है। आदेश सामान्य और विशेष दोनों प्रकार से प्रयुक्त होता है।⁵²⁴ मतिज्ञानी सूत्रादेश के द्वारा धर्मास्तिकाय आदि सर्व द्रव्यों को जानता है, यह कथन द्रव्य सामान्य की अपेक्षा से है। सूक्ष्म परिणत द्रव्यों को वह नहीं जानता, यह कथन विशेष आदेश की अपेक्षा से है। मतिज्ञानी सर्व द्रव्य से नहीं देखता है, यह वर्णन भी सापेक्ष है। नंदीचूर्णिकार इस सम्बन्ध में कहते हैं कि यह निषेध सामान्य आदेश की अपेक्षा से है, विशेष आदेश की अपेक्षा से वह देखता है, जैसे चक्षु से रूप को देखता है।⁵²⁵

प्रश्न - उपर्युक्त वर्णन में जो सूत्र के आदेश से द्रव्यों का ज्ञान उत्पन्न होता है, वह तो श्रुतज्ञान हुआ, किन्तु यहाँ विषय मतिज्ञान का चल रहा है।

उत्तर - जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण के अनुसार यह श्रुत है, लेकिन श्रुतज्ञान नहीं है। क्योंकि श्रुतनिश्चित को भी मतिज्ञान प्रतिपादित किया गया है।⁵²⁶ अतः यह मतिज्ञान रूप ही है, श्रुतज्ञान रूप

522. पारसमुनि, नंदीसूत्र, पृ. 201

523. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 403-405

524. नंदीचूर्ण पृ. 68, हरिभद्रीया, पृ. 68, मलयगिरि पृ.184-185

525. नंदीचूर्ण पृ. 68

526. आएसो त्ति व सुत्तं, सुउवल्लङ्गसु तस्स मङ्गणं। पसरइ तब्भावणया विणा वि सुत्ताणुसारेण।-विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 405

नहीं अथवा सूत्र से उपलब्ध पदार्थों का अनुसरण करते हुए सूत्र से भावित बुद्धि से पदार्थों को जानने के लिए अवग्रहादि होता है, इसलिए वह मति ही है। क्षेत्र में ऊर्ध्व, अधो, तिर्यक् रूप तीनों लोकों के विषय को जानने में तो सर्वक्षेत्र आ जाता है। काल से अतीत, अनागत, सर्वकाल हो और भाव में सर्वभाव-क्षयोपशम, उपशमादि अथवा वर्णादि 20 में एक गुण से अनन्तगुण होते हैं। इसलिए सर्वभाव जानना चाहिए।

भगवतीसूत्र में 'द्व्वओ णं अभिणिबोहियनाणी आएसेणं सव्व दव्वाइं जाणइ, पासइ'⁵²⁷ जबकि नंदीसूत्र के पाठ में 'आएसेणं सव्वाइं दव्वाइं जाणइ ण पासइ' अर्थात् भगवती में तो 'पासइ' और नंदीसूत्र में 'ण पासइ' क्रिया का प्रयोग किया है। भगवतीसूत्र के टीकाकार अभयदेवसूरि⁵²⁸ इसको वाचनान्तर मानते हुए इस विसंगति का समन्वय करते हुए कहते हैं कि यद्यपि आदेश पद का श्रुत अर्थ करके श्रुतनिश्चित मतिज्ञान से मतिज्ञानी अवाय और धारणा की अपेक्षा से धर्मास्तिकाय आदि द्रव्यों को जानता है और अवग्रह तथा ईहा की अपेक्षा से देखता है, क्योंकि अवाय और धारणा ज्ञान के बोधक हैं और अवग्रह व ईहा ये दोनों दर्शन के बोधक हैं।⁵²⁹ अतः 'पासइ' क्रिया का प्रयोग सही है। लेकिन नंदीसूत्र के टीकाकारों के अनुसार 'ण पासइ' के प्रयोग कारण यह है कि यहां प्रयुक्त आदेश का अर्थ है दो प्रकार का है - सामान्य और विशेष। उनमें द्रव्यजाति इस सामान्य प्रकार से धर्मास्तिकाय आदि सब द्रव्यों को मतिज्ञानी जानता है और धर्मास्तिकाय, धर्मास्तिकाय का देश इस विशेष रूप से भी जानता है, किन्तु धर्मास्तिकाय आदि सब द्रव्यों को नहीं देखता है, केवल योग्य देश में स्थित रूपी पदार्थों को देखता है,⁵³⁰ इसलिए दोनों क्रियाओं का प्रयोग सही है। इसी प्रकार क्षेत्र, काल और भाव में प्रयुक्त सर्व शब्द का अर्थ समझना चाहिए।

क्षेत्र से - आभिनिबोधिक ज्ञानी, आदेश से सभी क्षेत्र को जानते हैं, देखते नहीं अर्थात् जो आभिनिबोधिक ज्ञानी श्रुतज्ञान से जानते हैं, वे श्रुतनिश्चित मतिज्ञान से सर्व लोकाकाश और सर्व अलोकाकाश रूप सब क्षेत्र को, जातिरूप सामान्य प्रकार से जानते हैं। कुछ विशेष प्रकार से भी जानते हैं। जैसे आकाश स्कंध, आकाश देश, आकाश प्रदेश आदि। परन्तु सर्व-विशेष प्रकार से नहीं देखते हैं। वैसा मात्र केवली ही देख सकते हैं।

काल से - आभिनिबोधिक ज्ञानी, आदेश से समस्त काल को जानते हैं, देखते नहीं अर्थात् जो आभिनिबोधिक ज्ञानी, श्रुतज्ञान से जानते हैं, वे उस श्रुत से निश्चित मतिज्ञान से, सर्व भूतकाल, सर्व वर्तमान काल और सर्व भविष्यकाल रूप सभी काल को जातिरूप सामान्य प्रकार से जानते हैं। समय, आवलिका, प्राण, स्तोक, लव, मुहूर्त आदि कुछ विशेष प्रकार से भी जानते हैं, पर सर्व विशेष प्रकार से देखते नहीं हैं।

भाव से - आभिनिबोधिक ज्ञानी, आदेश से सभी भावों को जानते हैं, देखते नहीं अर्थात् जो आभिनिबोधिक ज्ञानी, श्रुतज्ञान जानते हैं, वे उस श्रुत से निश्चित मतिज्ञान से सभी भावों को जातिरूप सामान्य प्रकार से जानते हैं। जैसे-भाव छह हैं- 1. औदयिक, 2. औपशमिक,

527. भगवतीसूत्र, शतक 8, उद्देशक 2

528. भगवती वृत्ति, श. 8, उ. 2 पृ. 380-381

529. अभयदेवसूरि ने यह उल्लेख जिनभद्रगणि के आधार से ही किया है। 'नाणमवायधिईओ दंसणमिट्ठं जहोग्गहेहाओ'

- विशेषावश्यकभाष्य गाथा 536

530. मलयगिरि नंदीवृत्ति, पृ. 184

3. क्षायिक, 4. क्षायोपशमिक, 5. पारिणामिक और 6. सान्निपातिक। कुछ विशेष प्रकार से भी जानते हैं। जैसे औदयिक और क्षायिक भाव आठ कर्मों का होता है। औपशमिक भाव मात्र एक मोहनीय कर्म का ही होता है। क्षायोपशमिक भाव चार घाति कर्मों का होता है। पारिणामिक भाव छहों द्रव्यों में होता है। सान्निपातिक भाव मात्र जीव द्रव्य में ही होता है, क्योंकि अजीव में पारिणामिक के सिवाय कोई भाव नहीं होता, इत्यादि, परन्तु सर्व विशेष प्रकार से नहीं देखते।

जो आभिनिबोधिक ज्ञानी हैं, वे आगमिक श्रुतज्ञान से निश्चित मतिज्ञान द्वारा कुछ क्षेत्र और कालवर्ती ज्ञान से अभिन्न आत्म-द्रव्य को और घड़ा, कपड़ा आदि कुछ रूपी पुद्गल द्रव्य को ही जानते हैं तथा आत्म द्रव्य के ज्ञान गुण की कुछ पर्यायों को और घड़ा, कपड़ा आदि के वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श आदि गुण की कुछ पर्यायों को ही जानते हैं।

सत्पदप्ररूपणादि नौ अनुयोग द्वारा मतिज्ञान की प्ररूपणा

जिनभद्रगणि ने मतिज्ञान के आगमिक दृष्टिकोण को महत्त्व देते हुए सत्पदप्ररूपणा, द्रव्यप्रमाण, क्षेत्र, स्पर्शना, काल, अन्तर, भाग, भाव और अल्पबहुत्व इन नौ द्वारों के माध्यम से मतिज्ञान का उल्लेख किया है।

1. सत्पदप्ररूपणा

विद्यमान अर्थ की प्ररूपणा (विचारणा) करना सत्पदप्ररूपणा कहलाता है। यहाँ 'मतिज्ञान' यह जो सत्पद है, उसका गति आदि 20 द्वारों के माध्यम से उल्लेख (प्ररूपण) किया है, जिनको आवश्यकनिर्युक्ति और विशेषावश्यकभाष्य में निम्न प्रकार से कहा है -

गड़ इंदिए य काय जोए वेए कसाय लेसा य॥

सम्मत्त-णाण-दंसण-संजममुवयोग-माहारे ।।409।।

भासग-परित्त-पज्जत्त-सुहुम-सण्णी य भव्व चरिमे य॥

पुव्व पडिवन्नए या पडिवज्जंते य मग्गणया ।।410।।⁵³¹

अर्थात् गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, लेश्या, सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन, संयम, उपयोग, आहार, भाषक, प्रत्येक, पर्याप्त, सूक्ष्म, संज्ञी, भव्य और चरिम इन द्वारों में पहले प्राप्त और वर्तमान की अपेक्षा वर्णन किया है। इस वर्णन में प्रमुख रूप से चार शब्दों का प्रयोग हुआ है, जिनका अर्थ इस प्रकार से हैं - 1. पूर्वप्रतिपन्न (भूतकाल का ज्ञान) 2. प्रतिपद्यमान (वर्तमान के एक समय का ज्ञान) 3. नियमा (नियम से मिलना) 4. भजना (कदाचित् हो सकता है कदाचित् नहीं भी हो सकता है)। पूर्वप्रतिपन्न में पूर्व में प्राप्त मतिज्ञान की विवक्षा है और प्रतिपद्यमान में वर्तमान के एक समय में नवीन मतिज्ञान उत्पन्न हो रहा है अथवा नहीं, इसकी विवक्षा है।⁵³²

उल्लेखनीय है कि मतिज्ञान सम्यग्दृष्टि जीवों में होता है, मिथ्यादृष्टि एकेन्द्रियादि जीवों में मति-अज्ञान होता है। सिद्धों में मात्र केवलज्ञान होता है, अतः उनमें भी मतिज्ञान नहीं माना गया है। प्रस्तुत द्वारों में जो विवेचना की गई है, वह मात्र मतिज्ञान की अपेक्षा से की गई है, मति अज्ञान की अपेक्षा से नहीं। दूसरी बात यह है कि निम्नांकित द्वारों में मतिज्ञान का जो कथन किया है, वह जीव समूह की अपेक्षा से किया गया है, एक जीव की अपेक्षा से नहीं।

531. आवश्यकनिर्युक्ति गाथा 14-15 विशेषावश्यकभाष्य गाथा 409-410

532. आभिनिबोधिकप्रतिपत्तिप्रथमये प्रतिपद्यमानका उच्चन्ते, द्वितीयादिसमयेषु तु पूर्वप्रतिपन्ना इत्यनयोर्विशेषः।

1. **गति द्वार** - गति की अपेक्षा से चारों गतियों - नारक, तिर्यच, मनुष्य और देवगति के जीव मतिज्ञान के अधिकारी हैं। चारों गतियों में पूर्वप्रतिपन्न की अपेक्षा से मतिज्ञान की नियमा और प्रतिपद्यमान की अपेक्षा से मतिज्ञान की भजना है। सिद्ध गति में मतिज्ञान नहीं होता है।

2. **इन्द्रिय द्वार** - द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चउरिन्द्रिय में पूर्वप्रतिपन्न की अपेक्षा से मतिज्ञान की भजना है और प्रतिपद्यमान की अपेक्षा से मतिज्ञान नहीं होता है। क्योंकि जो विकलेन्द्रिय सास्वादन समकित सहित पूर्वभव से आये हुए हो सकते हैं इसलिए पूर्वप्रतिपन्न की अपेक्षा मतिज्ञान की भजना, किन्तु प्रतिपद्यमान में वैसी विशुद्धि नहीं होने से उसको मतिज्ञान नहीं होता है, मति अज्ञान होता है। पंचेन्द्रिय में पूर्वप्रतिपन्न की अपेक्षा से मतिज्ञान की नियमा और प्रतिपद्यमान की अपेक्षा से मतिज्ञान की भजना है। अनिन्द्रिय और सिद्धों में नियम से केवलज्ञान होता है, अतः इनमें मतिज्ञान नहीं होता है।

सिद्धान्त के अनुसार एकेन्द्रिय में मतिज्ञान नहीं होकर मति-अज्ञान होता है, किन्तु कर्मग्रन्थ के अनुसार लब्धिपर्याप्त एकेन्द्रिय (बादर पृथ्वी, अप्काय और वनस्पतिकाय) में जो करण अपर्याप्त हैं, उनमें पूर्वप्रतिपन्न की अपेक्षा से मतिज्ञान की भजना है, क्योंकि इनमें पूर्व भव से लाई हुई सास्वादन समकित हो होती है।

3. **काय द्वार** - पृथ्वी आदि पांच कायों के जीवों में पूर्वप्रतिपन्न और प्रतिपद्यमान की अपेक्षा से मतिज्ञान नहीं होता है। त्रसकाय में पूर्वप्रतिपन्न की अपेक्षा से मतिज्ञान की नियमा और प्रतिपद्यमान की अपेक्षा से मतिज्ञान की भजना है। यह मान्यता आगम की है। अकाय में मतिज्ञान नहीं होता है।

कर्मग्रन्थानुसार लब्धि-पर्याप्त बादर पृथ्वी, पानी, वनस्पति में तथा करण से अपर्याप्त जीव (सास्वादन सम्यक्त्व की अपेक्षा से) में पूर्वप्रतिपन्न की अपेक्षा मतिज्ञान की भजना है और प्रतिपद्यमान की अपेक्षा से मतिज्ञान नहीं होता है। तेजस्काय और वायुकाय में पूर्वप्रतिपन्न और प्रतिपद्यमान की अपेक्षा से मतिज्ञान नहीं होता है।

4. **योग द्वार** - मनयोग सहित वचन और काया से युक्त सयोगी में पूर्वप्रतिपन्न की अपेक्षा से मतिज्ञान की नियमा और प्रतिपद्यमान की अपेक्षा से मतिज्ञान की भजना है। वचन और काययोग इन दो योगों से युक्त जीवों को विकलेन्द्रिय के समान समझना चाहिए। एक काययोग वाले जीवों को एकेन्द्रिय के समान समझना चाहिए। अयोगी में भी मतिज्ञान नहीं होता है।

5. **वेद द्वार** - स्त्रीवेद, पुरुष और नपुसंक वेद इन तीन वेदों में मतिज्ञान पंचेन्द्रिय के समान मान्य है, अवेदी में पूर्वप्रतिपन्न की अपेक्षा से मतिज्ञान की भजना है क्योंकि जो छद्मस्थ होता है, उसमें मतिज्ञान होता है और जो केवली होता है, उसमें मतिज्ञान नहीं होता है। प्रतिपद्यमान की अपेक्षा से मतिज्ञान नहीं होता है, क्योंकि जिन्होंने पहले मतिज्ञान प्राप्त किया है, वे ही उपशम और क्षपक श्रेणी को प्राप्त करके अवेदी होते हैं।

6. **कषाय द्वार** - अनन्तानुबंधी चतुष्क में सास्वादन समकित की अपेक्षा से पूर्वप्रतिपन्न में मतिज्ञान की नियमा है और प्रतिपद्यमान में मतिज्ञान नहीं होता है। अप्रत्याख्यानी चतुष्क, प्रत्याख्यानावरण चतुष्क और संज्वलन चतुष्क में पूर्वप्रतिपन्न की अपेक्षा से मतिज्ञान की नियमा और प्रतिपद्यमान की अपेक्षा से मतिज्ञान की भजना है। अकषायी में पूर्वप्रतिपन्न की अपेक्षा से मतिज्ञान की भजना है, क्योंकि जो छद्मस्थ होता है, उसमें मतिज्ञान तथा जो केवली होता है,

उसमें मतिज्ञान नहीं होता है। प्रतिपद्यमान की अपेक्षा से मतिज्ञान नहीं होता है, क्योंकि जिसको पहले मतिज्ञान प्राप्त हुआ है, वही उपशम और क्षपक श्रेणी को प्राप्त करके अकषायी होता है।

7. लेश्या द्वार - कृष्ण, नील और कापोत लेश्या में पूर्वप्रतिपन्न की अपेक्षा से मतिज्ञान की भजना है और प्रतिपद्यमान की अपेक्षा से मतिज्ञान नहीं होता है, क्योंकि प्रतिपद्यमान की अपेक्षा विशुद्ध लेश्या वाले को ही मतिज्ञान होता है, अविशुद्ध लेश्या वाले को नहीं, इसलिए कृष्णादि तीन अविशुद्ध लेश्या में प्रतिपद्यमान में मतिज्ञान नहीं होता है। तेजो, पद्म और शुक्ल इन तीन शुभलेश्याओं में पूर्वप्रतिपन्न की अपेक्षा से मतिज्ञान की नियमा और प्रतिपद्यमान की अपेक्षा से मतिज्ञान की भजना है। अलेश्यी में भी मतिज्ञान नहीं होता है।

8. सम्यक्त्व द्वार - इस द्वार की व्याख्या निश्चयनय और व्यवहारनय के माध्यम से की गई है, यह **जिनभद्रगणि** का वैष्ट्य है। व्यवहारनय की अपेक्षा से मिथ्यादृष्टि अज्ञानी है, वह सम्यक्त्व का और ज्ञान का प्रतिपद्यमानक होता है। निश्चयनय की अपेक्षा से सम्यग्दृष्टि ज्ञानी सम्यक्त्व तथा ज्ञान को प्राप्त करते हैं, मिथ्यादृष्टि नहीं। इसकी विस्तार से चर्चा जिनभद्रगणि ने गाथा 414-426 में की है। उसका सारांश यह है कि व्यवहारनयवादी के मत से सम्यग्दृष्टि मतिज्ञान का पूर्वप्रतिपन्न होता है, प्रतिपद्यमान नहीं। क्योंकि सम्यक्त्व और ज्ञान युगपद् प्राप्त होते हैं, उस समय क्रिया का अभाव होता है। क्रिया के अभाव में प्रतिपद्यमान घटित नहीं होता है। जबकि निश्चयनयवादी के मत से सम्यग्दृष्टि ही मतिज्ञान का पूर्वप्रतिपन्न और प्रतिपद्यमान होता है, क्योंकि क्रिया और कार्यनिष्ठा का काल एक साथ विद्यमान रहता है।

9. ज्ञान द्वार - ज्ञान पांच प्रकार का होता है, यथा मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान और केवलज्ञान। व्यवहारनय के मत से मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्यवज्ञान में पूर्वप्रतिपन्न की अपेक्षा मतिज्ञान होता है और प्रतिपद्यमान की अपेक्षा से नहीं होता है। ज्ञानी को पुनः ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती है। केवलज्ञानी में दोनों अपेक्षाओं से मतिज्ञान नहीं होता है। क्योंकि मतिज्ञान क्षयोपशमिक है, जबकि केवलज्ञान क्षायिक है। मति अज्ञान, श्रुत अज्ञान, विभंगज्ञान वाले में पूर्वप्रतिपन्न की अपेक्षा मतिज्ञान नहीं होता है और प्रतिपद्यमान की अपेक्षा से भजना (विकल्प) है।

निश्चयनय के मत से मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान में पूर्वप्रतिपन्न की अपेक्षा मतिज्ञान की नियमा और प्रतिपद्यमान की अपेक्षा से भजना होती है। मनःपर्यवज्ञानी में पूर्वप्रतिपन्न की अपेक्षा से मतिज्ञान हो सकता है और प्रतिपद्यमान की अपेक्षा से मतिज्ञान नहीं होता है। क्योंकि सम्यक्त्व के साथ ही मतिज्ञान होता है और उसके बाद ही अप्रमत्त अवस्था में मनःपर्यवज्ञान की उत्पत्ति होती है। लेकिन किसी जीव को सम्यक्त्व सहित चारित्र की प्राप्ति होने पर मतिज्ञान के साथ मनःपर्यवज्ञान की प्राप्ति भी नहीं होती है। यदि ऐसा नहीं हो तो अवधिज्ञानी के समान मनःपर्यवज्ञानी भी प्रतिपद्यमान होता। केवलज्ञानी में दोनों अपेक्षाओं से मतिज्ञान नहीं होता है। मति अज्ञान, श्रुत अज्ञान, विभंगज्ञान वाले में पूर्वप्रतिपन्न और प्रतिपद्यमान की अपेक्षा से मतिज्ञान नहीं होता है। क्योंकि ज्ञानी को ही ज्ञान की प्राप्ति होती है।

10. दर्शन द्वार - चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन। लब्धि की अपेक्षा से प्रथम तीन दर्शनों में पूर्वप्रतिपन्न की अपेक्षा मतिज्ञान की नियमा और प्रतिपद्यमान की अपेक्षा से भजना होती है। उपयोग की अपेक्षा से पूर्वप्रतिपन्न में मतिज्ञान की नियमा और प्रतिपद्यमान की

अपेक्षा से यह नहीं होता है। मतिज्ञान लब्धि रूप है, लब्धि की प्राप्ति दर्शनोपयोग में नहीं होती है। केवलदर्शन में दोनों अपेक्षा से मतिज्ञान नहीं होता है।

11. संयत द्वार - संयत में पूर्वप्रतिपन्न की अपेक्षा मतिज्ञान की नियमा और प्रतिपद्यमान की अपेक्षा से भजना होती है। यहाँ यह शंका होती है कि संयमी को सम्यक्त्व प्राप्ति की अवस्था में मतिज्ञान की प्राप्ति होती है तो उसकी प्रतिपद्यमान की अपेक्षा कैसे प्राप्ति होती है, यह शंका सही है, लेकिन किसी को अतिविशुद्धि से सम्यक्त्व के साथ ही चारित्र की प्राप्ति होती है, इस अवस्था में संयम प्राप्त होते ही मतिज्ञान भी प्राप्त होता है। नो संयत नो असंयत नो संयतासंयत में भी मतिज्ञान नहीं होता है।

12. उपयोग द्वार - उपयोग के दो प्रकार होते हैं - साकारोपयोग और अनाकारोपयोग। पांच ज्ञान और तीन अज्ञान साकारोपयोग और चार दर्शन अनाकारोपयोग रूप होता है। साकारोपयोग में पूर्वप्रतिपन्न की अपेक्षा मतिज्ञान की नियमा और प्रतिपद्यमान की अपेक्षा से भजना होती है।

अनाकारोपयोग में पूर्वप्रतिपन्न की अपेक्षा से मतिज्ञान हो सकता है और प्रतिपद्यमान की अपेक्षा से मतिज्ञान नहीं होता है। क्योंकि कतिपय अनाकार उपयोग वाले जीव पूर्व में मतिज्ञान को प्राप्त किये हुए हो सकते हैं, लेकिन प्रतिपद्यमान में मतिज्ञान लब्धिस्वरूप होने से उसकी उत्पत्ति अनाकार उपयोग में नहीं हो सकती है।

13. आहार द्वार - आहारक में पूर्वप्रतिपन्न की अपेक्षा मतिज्ञान की नियमा और प्रतिपद्यमान की अपेक्षा से भजना होती है। अनाहारक (विग्रह गति) में पूर्वप्रतिपन्न की अपेक्षा से मतिज्ञान की भजना है और प्रतिपद्यमान की अपेक्षा से मतिज्ञान नहीं होता है। जो अनाहारी देव आदि पूर्वभव में समकित आदि प्राप्त करके मनुष्य गति में आते हैं, तो उनको पूर्वप्रतिपन्न की अपेक्षा से मतिज्ञान होता है, लेकिन प्रतिपद्यमान की अपेक्षा से नहीं होता है, क्योंकि अनाहारक अवस्था में तथाप्रकार की विशुद्धि नहीं होती है।

14. भाषक द्वार - भाषक (बोलने वाले) और अभाषक ये दो प्रकार होता है। भाषालब्धि वाले पंचेन्द्रियादि जाति की अपेक्षा से भाषक में पूर्वप्रतिपन्न की अपेक्षा मतिज्ञान की नियमा और प्रतिपद्यमान की अपेक्षा से भजना होती है। अभाषक (एकेन्द्रिय की अपेक्षा) मतिज्ञान दोनों अवस्थाओं में नहीं होता है।

15. परित्त द्वार - इसके तीन प्रकार हैं - **1. परित्त** - इसके दो अर्थ होते हैं - 1. शुक्लपाक्षिक (संसार काल अर्द्ध पुद्गल परावर्तन जितना शेष रहा) बनने के बाद जिन्होंने एक बार समकित प्राप्त कर ली है। 2. अथवा प्रत्येक शरीरी जीव। यहाँ प्रथम अर्थ ग्रहण किया गया है। **2. अपरित्त** - इसके दो अर्थ होते हैं - 1. जिनका संसार काल अर्द्ध पुद्गल परावर्तन से अधिक शेष है अर्थात् जिन्होंने एक बार भी समकित प्राप्त नहीं की है। 2. अथवा साधारण शरीरी (अनन्तकायिक वनस्पति) जीव। यहाँ प्रथम अर्थ ग्रहण किया गया है।⁵³³ **3. नो परित्त नो अपरित्त** - उपर्युक्त दोनों लक्षणों से भिन्न सिद्ध भगवान्।

परित्त के दोनों अर्थ में पूर्वप्रतिपन्न की अपेक्षा मतिज्ञान की नियमा और प्रतिपद्यमान की अपेक्षा से भजना होती है। अपरित्त और नो परित्त नो अपरित्त (सिद्ध) में दोनों अवस्थाओं में मतिज्ञान नहीं होता है।

16. पर्याप्त द्वार - पर्याप्त (छह पर्याप्ति पर्याप्त) में पूर्वप्रतिपन्न की अपेक्षा मतिज्ञान की नियमा और प्रतिपद्यमान की अपेक्षा से भजना होती है। अपर्याप्त में पूर्वप्रतिपन्न की अपेक्षा मतिज्ञान की भजना है तथा प्रतिपद्यमान की अपेक्षा से मतिज्ञान नहीं होता है। नो अपर्याप्त नो पर्याप्त में भी मतिज्ञान नहीं होता है।

17. सूक्ष्म द्वार - सूक्ष्म में दोनों अपेक्षा से मतिज्ञान नहीं होता है। बादर में पूर्वप्रतिपन्न की अपेक्षा मतिज्ञान की नियमा और प्रतिपद्यमान की अपेक्षा से भजना होती है। नो सूक्ष्म नो बादर में भी मतिज्ञान नहीं होता है।

18. संज्ञी द्वार - दीर्घकालिक संज्ञा की अपेक्षा जो संज्ञी है, उनमें पूर्वप्रतिपन्न की अपेक्षा मतिज्ञान की नियमा और प्रतिपद्यमान की अपेक्षा से भजना होती है। असंज्ञी में पूर्वप्रतिपन्न की अपेक्षा से मतिज्ञान हो सकता है और प्रतिपद्यमान की अपेक्षा से मतिज्ञान नहीं होता है। क्योंकि जो असंज्ञी सास्वादन समकित सहित पूर्वभव से आता है तो उसमें पूर्वप्रतिपन्न की अपेक्षा मतिज्ञान हो सकता है, लेकिन प्रतिपद्यमान में वैसी विशुद्धि नहीं होने से उसको मतिज्ञान नहीं होता है। नो संज्ञी नो असंज्ञी में भी मतिज्ञान नहीं होता है।

19. भव्य द्वार - जिनमें मुक्त होने की योग्यता नहीं होती, वे जीव अभवी और जिनमें मोक्षगमन की योग्यता होती है। वे जीव भव्य कहलाते हैं। नो भवी और नो अभवी उपर्युक्त दोनों लक्षणों से रहित होते हैं।

भवी में पूर्वप्रतिपन्न की अपेक्षा मतिज्ञान की नियमा और प्रतिपद्यमान की अपेक्षा से भजना होती है। अभवी और नो भवी नो अभवी में दोनों अपेक्षा से मतिज्ञान नहीं होता है।

20. चरमद्वार-चरम में भवी के समान होता है। अचरम में दोनों अपेक्षाओं से मतिज्ञान नहीं होता है।

संसार का अन्त करने वाले और मोक्षगमन के योग्य भवी जीव चरम कहलाते हैं। संसार का अन्त नहीं करने वाले और मोक्षगमन के अयोग्य अभवी जीव अचरम कहलाते हैं तथा सिद्ध भी अचरम कहलाते हैं, क्योंकि उन्होंने सिद्धत्व को प्राप्त किया है, अब उसका कभी अन्त नहीं होने वाला है। इसलिए सिद्ध भी अचरम है।

मलधारी हेमचन्द्र ने नो चरम नो अचरम से सिद्धों का कथन किया है,⁵³⁴ लेकिन आगमों में चरम, अचरम ये दो ही भेद प्राप्त होते हैं, नो चरम नो अचरम ऐसा उल्लेख नहीं मिलता है। प्रज्ञापनावृत्ति में मलयगिरि ने सिद्धों का ग्रहण अचरम में ही किया है।

2. द्रव्य प्रमाण द्वार

लोक में किसी भी एक समय में आभिनिबोधक ज्ञान वाले का प्रमाण कितना होता है, यह द्रव्य प्रमाण कहलाता है। इसे जीव प्रमाण भी कहते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि एक समय में मतिज्ञान को कितने जीव जानते हैं? सब जानते हैं या कुछ जानते हैं?

पूर्वप्रतिपन्न की अपेक्षा से जघन्य और उत्कृष्ट मतिज्ञानी क्षेत्र पल्योपम के अंख्यातवें भाग प्रदेश राशि प्रमाण होते हैं, लेकिन जघन्य से उत्कृष्ट विशेषाधिक होते हैं। प्रतिपद्यमान की अपेक्षा एक समय में मतिज्ञान वाले होते हैं अथवा नहीं भी होते हैं, जो होते हैं, तो एक समय में जघन्य एक और उत्कृष्ट क्षेत्र पल्योपम के असंख्यातवें भाग के प्रदेशों की संख्या प्रमाण होते हैं।

534. नो चरमा-ऽचरमाणां च सिद्धानां केवलज्ञानं प्राप्यते। - मलधारी हेमचन्द्र, विशेषावश्यकभाष्य बृहद्वृत्ति, पृ. 339

3. क्षेत्र द्वार

यहाँ क्षेत्र का अर्थ अवगाहना क्षेत्र है। मतिज्ञानी का शरीर लोक के कितने भाग को अवगाहित करता है। सभी जीवों की अपेक्षा आभिनिबोधक ज्ञान वाले लोक के असंख्यातवें भाग में व्याप्त होते हैं। उससे उनका क्षेत्र भी लोक के असंख्यातवें भाग जितना है। लेकिन एक जीव की अपेक्षा से मतिज्ञान का क्षेत्र सात रज्जु प्रमाण है। क्योंकि ऊर्ध्वलोक में विग्रहगति (ईलिका गति की अपेक्षा से) निरन्तर और अपान्तर स्पर्श करता हुआ जीव अनुत्तर विमान में जाता है अथवा वहाँ से आता है, इस प्रकार सात रज्जु प्रमाण क्षेत्र होता है। इसी प्रकार अधोलोक में इसी गति से छठी नारकी में जीव जाते हैं अथवा वहाँ से आते हैं, इसकी अपेक्षा पांच रज्जु प्रमाण क्षेत्र मतिज्ञानी का होता है। सिद्धान्तवादियों का मत है कि सम्यक्त्व प्राप्त करके जिन्होंने सम्यक्त्व की विराधना की है, वे ही छठी नारकी में जाते हैं, लेकिन क्षयोपशम सम्यक्त्व ग्रहण करके कोई छठी नारक में उत्पन्न नहीं होते हैं। कर्मग्रन्थ के अनुसार वैमानिक देव को छोड़कर मनुष्य अथवा तिर्यच क्षयोपशम सम्यक्त्व का वमन करके छठी नारक में उत्पन्न होते हैं, किन्तु सम्यक्त्व को ग्रहण करके नहीं होते हैं। सातवीं नारकी में दोनों के मत से सम्यक्त्व का त्याग करके ही जीव उत्पन्न होते हैं। जिन्होंने सम्यक्त्व ग्रहण की है, ऐसे जीव न तो सातवीं नारकी में जाते हैं और नहीं वहाँ से आते हैं। यह सिद्धान्त का मत है। क्योंकि सातवीं नारकी से निकले हुए जीव नियमा तिर्यच पंचेन्द्रिय में ही उत्पन्न होते हैं, मनुष्य में नहीं। इसका आगम में स्पष्ट उल्लेख है। (प्रज्ञापना सूत्र पद 6, छोटी गतागत) इसलिए सातवीं नारकी में जाते और आते समय जीव नियमा मिथ्यात्वी होते हैं। देव और नारकी सम्यक्त्व सहित मनुष्यगति में ही आते हैं।⁵³⁵

4. स्पर्शन द्वार

स्पर्शन द्वार भी क्षेत्र द्वार के समान है। प्रश्न - दोनों का अलग कहने का क्या कारण है? उत्तर - जितने प्रदेशों को शरीर अवगाहित करके रहता है, उतने क्षेत्र को क्षेत्रावगाहना कहते हैं तथा अवगाह्य क्षेत्र (अर्थात् शरीर जितने क्षेत्र को अवगाहित करके रहा हुआ है, वह क्षेत्र) और उसका पार्श्ववर्ती क्षेत्र जिसके साथ शरीर प्रदेशों का स्पर्श हो रहा है, वह स्पर्शनाक्षेत्र कहलाता है। यह दोनों में अन्तर है।⁵³⁶

आगम में एक प्रदेश को अवगाहित करके रहने वाले परमाणु की अवगाहना एकप्रदेश की और सात प्रदेश की उसकी स्पर्शना कही गई है। क्योंकि जो एक प्रदेश को अवगाहित करके रहता है, एक प्रदेश और शेष छह दिशाओं के छह आकाश प्रदेशों को मिलाकर परमाणु की सात प्रदेश की स्पर्शना होती है।

दूसरी अपेक्षा जितना अवगाहित करके रहता है, वह क्षेत्र कहलता है और विग्रहगति में जितना क्षेत्र स्पर्श करता है, वह स्पर्शना कहलाती है।

आभिनिबोधक ज्ञान वाले एक जीव की जो क्षेत्र स्पर्शना है, उसकी अपेक्षा सभी आभिनिबोधक ज्ञान वाले जीवों की क्षेत्र-स्पर्शना असंख्यातगुणी अधिक है, क्योंकि सभी आभिनिबोधकज्ञान वाले असंख्यातगुणा अधिक हैं।⁵³⁷

535. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 430-431

536. युवाचार्य मधुकरमुनि, भगवतीसूत्र भाग 4, पृ. 442

537. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 432-434

5. काल द्वार

मतिज्ञान का काल दो प्रकार का होता है - उपयोगकाल और लब्धिकाल। मतिज्ञान की अपेक्षा एक जीव का उपयोग काल जघन्य और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त का है, उसके बाद उपयोगान्तर होता है। सम्पूर्ण लोक रूप सभी आभिनिबोधिक ज्ञानोपयोगकाल भी जघन्य और उत्कृष्ट की अपेक्षा से अन्तर्मुहूर्त प्रमाण हैं, लेकिन यह काल एक जीव की अपेक्षा से बड़ा है।

लब्धि की अपेक्षा से मतिज्ञान का कालमान - जिसने सम्यक्त्व प्राप्त किया है, ऐसे एक जीव के मतिज्ञानावरण के क्षयोपशम रूप आभिनिबोधिक ज्ञान की लब्धि का काल जघन्य से अन्तर्मुहूर्त का है। इसके बाद मिथ्यात्व अथवा केवलज्ञान की प्राप्ति होती है। उत्कृष्ट की अपेक्षा से मतिज्ञान का लब्धि काल छासठ सागरोपम का होता है।

मतिज्ञानावरण के क्षयोपशम रूप को लब्धि कहते हैं। वह लब्धि द्रव्यादि उपयोग वाले के अथवा बिना उपयोग वाले के उस क्षेत्र में अथवा अन्य क्षेत्र में होती है। इस प्रकार क्षयोपशम रूप लब्धि 66 सागरोपम साधिक निरंतर अवस्थित रहती है। जैसे कोई साधु करोड़पूर्व तक संयम का पालन करके मतिज्ञान सहित चार अनुत्तर विमान में से किसी विमान में देव के रूप में 33 सागरोपम की स्थिति में उत्पन्न हुआ है, वहाँ से च्यव कर पुनः मनुष्य में आकर करोड़पूर्व तक संयम का पालन करता है, पुनः चार अनुत्तर विमान में देव के रूप में 33 सागरोपम की स्थिति में उत्पन्न होता है। पुनः मनुष्य में आकर करोड़ पूर्व का संयम पालन करके वह मोक्ष गति को प्राप्त करता है। इस प्रकार दो देवभव के $33+33=66$ सागरोपम और मनुष्य भव की स्थिति जितना अधिक काल मिलाकर कुल 66 सागरोपम साधिक काल होता है। अथवा अच्युत नामक बारहवें देवलोक में 22-22 सागरोपम के तीन भव करता है, तो भी इतना काल घटित होता है। अतः 66 सागरोपम काल तक मतिज्ञान साथ में रहता है, इसलिए लब्धिरूप मतिज्ञान का अवस्थित काल 66 सागरोपम साधिक होता है। उपर्युक्त मतिज्ञान के उपयोग और लब्धि का जो अवस्थान काल बताया है, वह उत्कृष्ट अवस्थान काल है, जघन्य अवस्थान काल तो एक समय का होता है। अनेक मतिज्ञानी जीवों की अपेक्षा मतिज्ञान का कालमान सर्वकाल है।⁵³⁸

6. अन्तर द्वार

एक जीव की अपेक्षा से - एक जीव सम्यक्त्व प्राप्त कर के मतिज्ञानी हुआ और पुनः सम्यक्त्व से भ्रष्ट होकर अन्तर्मुहूर्त तक मिथ्यात्व में रहकर पुनः सम्यक्त्व प्राप्त करके मतिज्ञानी हो सकता है, इस प्रकार मतिज्ञान का जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त का है। आशातना आदि दोषों की बहुलता के कारण सम्यक्त्व से भ्रष्ट जीव उत्कृष्ट कुछ कम अर्द्धपुद्गलपरावर्तन तक सम्यक्त्व को प्राप्त नहीं करता है। इस प्रकार मतिज्ञान का उत्कृष्ट अन्तर देशोन अर्द्धपुद्गल परावर्तन का है। इसके बाद तो वह जीव पुनः सम्यक्त्व प्राप्त कर मतिज्ञानी होता ही है। बहुत जीवों की अपेक्षा से मतिज्ञान का अन्तर नहीं है, क्योंकि सम्पूर्ण लोक में सर्वदा कोई जीव मतिज्ञानी होता ही है।⁵³⁹

7. भाग द्वार

मतिज्ञानवाले जीव शेष ज्ञान और अज्ञान वाले जीवों की अपेक्षा अनन्तवें भाग है, क्योंकि शेष ज्ञान वाले केवलज्ञानी सहित अनन्त हैं और अज्ञानियों में वनस्पति सहित अनन्त अज्ञानी होते हैं। मतिज्ञान वाले तो सर्वलोक में भी असंख्याता ही है।⁵⁴⁰

538. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 436

539. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 437

540. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 438

8. भाव द्वार

औदयिक आदि पांच भावों में से मतिज्ञान क्षायोपशमिक भाव में ही होता है।

9. अल्पबहुत्व द्वार

मति आदि पांच ज्ञानों में किस ज्ञान वाले मतिज्ञान से कम ज्यादा हैं, इसका उल्लेख अल्पबहुत्व द्वार में आगे किया है। मतिज्ञान वाले कम से कम 1-2-3 अथवा उत्कृष्ट असंख्याता होते हैं। यह उनसे प्रतिपद्यमान की अपेक्षा से सर्व जीव से थोड़े ही है। उनसे पूर्वप्रतिपन्न मतिज्ञानी जघन्य पदवाले प्रतिपद्यमान मतिज्ञानी से असंख्यातगुणा उनसे उत्कृष्ट पदवला पूर्वप्रतिपन्न विशेषाधिक होते हैं।⁵⁴¹

दूसरी अपेक्षा से अल्पबहुत्व - दूसरे ज्ञान वालों की अपेक्षा मतिज्ञानी जीव अनन्तवां भाग जितने है। शेष ज्ञान रहित जीवों की अपेक्षा प्रतिपद्यमानी मतिज्ञानी थोड़े हैं और पूर्वप्रतिपन्न की अपेक्षा से असंख्यातगुणा हैं।

पांचों ज्ञानों की अपेक्षा से अल्पबहुत्व - सबसे थोड़े मनः पर्यवज्ञानी, उनसे अवधिज्ञानी असंख्यात गुणा, उनसे मति श्रुत ज्ञानी परस्पर तुल्य विशेषाधिक, उनसे केवलज्ञानी अनन्तगुणा। उनसे समुच्चय ज्ञानी विशेषाधिक। **अज्ञान**-सब से थोड़े विभंगज्ञानी, उनसे मति श्रुत अज्ञानी परस्पर तुल्य अनन्तगुणा। **ज्ञान व अज्ञान दोनों**-सबसे थोड़े मनः पर्यवज्ञानी, उनसे अवधिज्ञानी असंख्यात गुणा, उनसे मति श्रुतज्ञानी परस्पर तुल्य विशेषाधिक, उनसे विभंगज्ञानी असंख्यातगुणा, उनसे केवलज्ञानी अनन्तगुणा। उनसे समुच्चय ज्ञानी विशेषाधिक। उनसे मति, श्रुत अज्ञानी परस्पर तुल्य अनन्तगुणा।

गति आदि के भेद से अल्पबहुत्व - सबसे थोड़े मतिज्ञानवाले मनुष्य, उनसे असंख्यातगुणा नारकी, उनसे तिर्यच असंख्यात गुणा और उनसे देव मतिज्ञानी असंख्यात गुणा अधिक हैं। इस प्रकार सभी जगह अल्पबहुत्व का विचार कर लेना चाहिए।⁵⁴²

समीक्षण

इन्द्रिय और मन की सहायता से होने वाला ज्ञान मतिज्ञान है। **जिनभद्रगणि** ने मतिज्ञान के पर्यायवाची शब्दों में से मति, प्रज्ञा, आभिनिबोधिक और बुद्धि को वचनपर्याय के रूप में तथा ईहा, अपोह, विमर्श, मार्गणा, गवेषणा, संख्या और स्मृति को अर्थपर्याय के रूप में स्वीकार किया है। दूसरी अपेक्षा से मति, प्रज्ञा, अवग्रह, ईहा, अपोह आदि सभी मतिज्ञान की वचनपर्याय रूप हैं और इन शब्दों से मतिज्ञान के कहने योग्य भेद अर्थपर्याय रूप हैं। इस प्रकार का उल्लेख **जिनभद्रगणि** का वैशिष्ट्य है।

जिनभद्रगणि ने अवग्रह में ही सम्पूर्ण मतिज्ञान का ग्रहण कर लिया है। जैसे कि अवग्रह अर्थात् अर्थ को ग्रहण करना है, वैसे ही ईहा, अवाय और धारणा भी किसी न किसी अर्थ को ग्रहण करते हैं इसलिए वे सब सामान्य रूप से अवग्रह ही हैं। इसी प्रकार ईहा, अपाय और धारणा में सम्पूर्ण मतिज्ञान का समावेश हो जाता है। यह उल्लेख **जिनभद्रगणि** की विशिष्टता को दर्शाता है।

541. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 441

542. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 442

मति और श्रुतज्ञान में भिन्नता को **जिनभद्रगणि** ने सात प्रकारों से सिद्ध करते हुए इनका विस्तार से उल्लेख किया है। **जिनभद्रगणि** ने हेतु और फल की अपेक्षा मति और श्रुत में भेद स्पष्ट करते हुए कहा है कि भावश्रुत मतिपूर्वक होता है न कि द्रव्यश्रुत। द्रव्यश्रुत को भावश्रुत का कारण सिद्ध किया है। मतिज्ञान के पूर्व द्रव्यश्रुत हो सकता है। अतः नंदी सूत्र में '**ण मति सुयपुव्विया**' में भावश्रुत का निषेध किया गया है। जन सामान्य में यह धारणा प्रचलित है कि श्रोत्रेन्द्रिय से सम्बन्धित ज्ञान श्रुतज्ञान तथा शेष इन्द्रियों से सम्बन्धित ज्ञान मतिज्ञान है। इसका समाधान करते हुए **जिनभद्रगणि** ने कहा है कि श्रुतानुसारी से होने वाला अक्षरलाभ ही श्रुत है, शेष मतिज्ञान है। उन्होंने द्रव्यश्रुत और भावश्रुत का विस्तार से वर्णन किया है। वक्ता श्रुतोपयोग रहित जिन पदार्थों का कथन करता है, वह शब्दमात्र होने से द्रव्यश्रुत है, और जिन्हें श्रुत-बुद्धि से केवल पर्यालोचित ही करता है, कथन नहीं करता है, वह भावश्रुत है। कुछ आचार्यों ने मतिज्ञान कारण होने से वल्कल (छाल) और श्रुतज्ञान कार्य होने से शुम्ब रूप स्वीकार किया है। **जिनभद्रगणि** कहते हैं कि इससे भावश्रुत का अभाव प्राप्त होता है। अतः मति वल्कल और भावश्रुत शुम्ब के समान है। इस प्रकार का उल्लेख **जिनभद्रगणि** की विद्वत्ता और सूक्ष्मदृष्टि को प्रकट करता है।

कुछ आचार्य मतिज्ञान को अनक्षर और श्रुत को अक्षर एवं अनक्षर रूप उभयात्मक स्वीकार करते हैं। **जिनभद्रगणि** के अनुसार मति और श्रुत दोनों उभयात्मक हैं, लेकिन द्रव्याक्षर की अपेक्षा श्रुतज्ञान साक्षर है, मतिज्ञान अनक्षर है और इसी अपेक्षा से दोनों में अन्तर घटित हो सकता है। जबकि जिनदासगणि श्रुत को साक्षर और मति को अनक्षर मानते हैं, हरिभद्र और मलयगिरि ने श्रुत को साक्षर और मति को उभयात्मक माना है। मूक और अमूक की अपेक्षा मति-श्रुत में प्रमाण सहित अन्तर स्पष्ट किया है। उमास्वाति ने मतिज्ञान को इन्द्रिय और मन के निमित्त तथा श्रुतज्ञान को मनोनिमित्तक माना है, जबकि **जिनभद्रगणि** ने उमास्वाति के विपरीत मति और श्रुत दोनों में इन्द्रिय और मन का निमित्त स्वीकार किया है। प्रस्तुत अध्याय में दोनों के मतों का समन्वय विद्यानंद के अनुसार किया गया है कि मति साक्षात् इन्द्रिय मनोनिमित्त है, जबकि श्रुत साक्षात् मनोनिमित्त है और परम्परा से इन्द्रियमनोनिमित्तक है।

प्रायः विद्वानों का मत है कि श्रुतज्ञान अनिन्द्रिय अर्थात् मन से सम्बन्धित है, लेकिन अर्वाचीन विद्वान् पं. कन्हैयालाल लोढ़ा ने इसका निषेध किया है कि एकेन्द्रिय में मन नहीं होता है, लेकिन वहाँ श्रुत अज्ञान का सद्भाव माना गया है। इसलिए यह उचित नहीं है, **जिनभद्रगणि** के अनुसार मतिज्ञान द्रव्यश्रुत में परिवर्तित होता है, इसको स्वीकार किया गया है। श्रुतज्ञान, मतिपूर्वक होता है किन्तु मतिज्ञान, श्रुतपूर्वक नहीं होता है, इसके निम्नलिखित कारण ध्यान में आते हैं -

1. **ग्रहण** - पहले जीव, वाचक शब्द को या वाच्य पदार्थ को ग्रहण करता है। फिर उन दोनों में जो वाच्य वाचक संबंध है, उसकी पर्यालोचना पूर्वक शब्द व अर्थ को जानता है। वाच्य पदार्थ या वाचक शब्द को ग्रहण करना-मतिज्ञान है और वाच्य वाचक सम्बन्ध पर्यालोचना पूर्वक शब्द व अर्थ को जानना-श्रुतज्ञान है। अतः श्रुतज्ञान होने के लिए पहले मतिज्ञान का होना अनिवार्य है। इसलिए मतिज्ञान, श्रुतज्ञान का कारण है, परन्तु मतिज्ञान होने के लिए, पहले श्रुतज्ञान का होना अनिवार्य नहीं है। अतएव श्रुतज्ञान, मतिज्ञान का कारण नहीं है।

2. **तीक्ष्णता एवं विकास** - यदि किसी को श्रुतज्ञान को तीक्ष्ण एवं विकसित करना है, तो उसका मतिज्ञान तीक्ष्ण एवं विकसित होना आवश्यक है। अनुप्रेक्षा, चिन्तन, तर्कणा शक्ति का

तीक्ष्ण एवं विकसित होना आवश्यक है। यदि ऐसा नहीं हुआ, तो उसका श्रुतज्ञान तीक्ष्ण एवं विकसित नहीं होगा। अतः मतिज्ञान, श्रुतज्ञान की तीक्ष्णता एवं विकास का कारण है, पर श्रुतज्ञान मतिज्ञान की तीक्ष्णता एवं विकास का एकान्त कारण नहीं, क्योंकि कइयों में श्रुतज्ञान तीक्ष्ण एवं विकसित न होते हुए भी मतिज्ञान तीक्ष्ण एवं विकसित होता है।

3. स्थिरीकरण - यदि किसी को प्राप्त श्रुतज्ञान टिकाना है, तो उसमें स्मृतिरूप मतिज्ञान होना आवश्यक है। यदि उसमें स्मृति रूप मतिज्ञान नहीं हुआ, तो श्रुतज्ञान टिक नहीं सकता। अतः मतिज्ञान, श्रुतज्ञान के टिकाव का कारण है, पर श्रुतज्ञान, मतिज्ञान के टिकाव का कारण नहीं है, क्योंकि मतिज्ञान स्वतः टिकता है, श्रुतज्ञान के कारण नहीं।

इस प्रकार श्रुतज्ञान के ग्रहण, तीक्ष्णता, विकास और स्थिरीकरण में मतिज्ञान पूर्व सहायक है। अतएव श्रुतज्ञान, मतिपूर्वक है। पर मतिज्ञान के ग्रहण आदि में श्रुतज्ञान सहायक नहीं होने से मतिज्ञान, श्रुतपूर्वक नहीं है। इस कारण मति और श्रुत, ये दोनों ज्ञान भिन्न-भिन्न हैं, एक नहीं।

मति-श्रुत को अभिन्न सिद्ध करने का प्रयास सिद्धसेन दिवाकर ने किया है, परन्तु दिगम्बर साहित्य में ऐसा उल्लेख प्राप्त नहीं होता है। यशोविजय जैन वाङ्मय में एक ऐसे विद्वान् थे, जिन्होंने मति और श्रुत की आगमसिद्ध युक्ति को स्वीकार करते हुए भी सिद्धसेन के मत का तार्किक शैली से समर्थन किया है।

सामान्य रूप से मतिज्ञान के 28 भेद हैं, लेकिन इस सम्बन्ध में प्राप्त मतान्तर का उल्लेख करते हुए उसका निराकरण किया गया है। साथ ही अन्य ग्रंथों के आधार से मतिज्ञान के 2 से 384 तक के भेदों का उल्लेख किया गया है।

श्रुतनिश्चित एवं अश्रुतनिश्चित मतिज्ञान का वर्णन करते हुए जिनभद्रगणि ने स्पष्ट किया है कि श्रुत निश्चित में श्रुतस्पर्श की बहुलता होती है, जबकि अश्रुतनिश्चित में श्रुत का स्पर्श अल्प होता है। श्रुत का अल्प और बहुत्व स्पर्श ही दोनों में भेद का व्यावर्तक लक्षण है।

जिनभद्रगणि ने औत्पत्तिकी आदि चार बुद्धियों को अवग्रहादि से अभिन्न माना है। औत्पत्तिकी आदि चार बुद्धियों का मतिज्ञान के भेद के रूप में सर्वप्रथम उल्लेख नंदीसूत्र में प्राप्त होता है।

1. औत्पत्तिकी - नटपुत्र रोह की बुद्धि की तरह जो बुद्धि बिना देखे सुने और सोचे हुये पदार्थों को सहसा ग्रहण के कार्य को सिद्ध कर देती है। उसे औत्पत्तिकी बुद्धि कहते हैं।

2. वैनयिकी - नैमित्तिक सिद्ध पुत्र के शिष्यों की तरह गुरुओं की सेवा शुश्रूषा करने से प्राप्त होने वाली बुद्धि वैनयिकी है।

3. कार्मिकी - कर्म अर्थात् सतत अभ्यास और विचार से विस्तार को प्राप्त होने वाली बुद्धि कार्मिकी है। जैसे सुनार, किसान आदि कर्म करते करते अपने धन्धे में उत्तरोत्तर विशेष दक्ष हो जाते हैं।

4. पारिणामिकी - अति दीर्घ काल तक पूर्वापर पदार्थों के देखने आदि से उत्पन्न होने वाला आत्मा का धर्म परिणाम कहलाता है। उस परिणाम कारणक बुद्धि को पारिणामिकी कहते हैं। अर्थात् वयोवृद्ध व्यक्ति को बहुत काल तक संसार के अनुभव से प्राप्त होने वाली बुद्धि पारिणामिकी बुद्धि कहलाती है। इन चार बुद्धियों के हिन्दी में चार दोहे हैं, वे इस प्रकार हैं-

औत्पत्तिकी बुद्धि - बिन देखी बिन सांभली, जो कोई पूछे बात।

उसका उत्तर तुरन्त दे, सो बुद्धि उत्पात ॥

वैनयिकी बुद्धि - गुरुजनों का विनय करे, तीनों योगधर ध्यान।

बुद्धि विनयजा वह लहे, अन्तिम पद निर्वाण॥

कार्मिकी बुद्धि - जो करता जिस काम को, वह उसमें प्रवीण।

बुद्धि कर्मजा होती वह, विज्ञ जन तुम लो जान॥

पारिणामिकी बुद्धि- उम्र अनुभव ज्यों ज्यों बढे, त्यों-त्यों ज्ञान विस्तार।

बुद्धि परिणामी कहात वह, करत कार्य निस्तार॥

नंदीसूत्र में तो अवग्रहादि चार को श्रुतनिश्चित के भेद के रूप में स्वीकार किया गया है, जबकि स्थानांग सूत्र में श्रुतनिश्चित और अश्रुतनिश्चित दोनों में अवग्रहादि चार भेद बताये हैं। प्रस्तुत अध्याय में शंका समाधान करते हुए कहा है कि नंदीसूत्र में अश्रुतनिश्चित के अवग्रहादि भेदों की मुख्यता नहीं होने से उपेक्षित कर दिया गया है तथा स्थानांगसूत्र में गौण रूप से होने पर भी उनका अस्तित्व तो है ही, इसलिए बताये गए हैं।

अवग्रह के सम्बन्ध में कुछ आचार्यों का मानना है कि 'यह वह है' ऐसा सामान्य विशेषात्मक ज्ञान अवग्रह रूप है। **जिनभद्रगणि** कहते हैं कि यह ज्ञान तो निश्चय रूप है, जिसको स्वीकार करने पर ईहा, अपाय की प्रवृत्ति नहीं हो सकेगी, इसलिए यह उचित नहीं है।

अवग्रह के अर्थावग्रह और व्यंजनावग्रह ये दो भेद हैं। इनका सर्वप्रथम उल्लेख नंदीसूत्र में प्राप्त होता है। 1. व्यंजनावग्रह - अर्थ और इन्द्रिय का संयोग होना व्यंजनावग्रह है और 2. अर्थावग्रह - इन्द्रिय और अर्थ का सम्बन्ध होने पर नाम आदि की विशेष कल्पना से रहित सामान्य मात्र का ज्ञान अवग्रह है।

व्यंजावग्रह के पूर्व पूज्यपाद आदि आचार्य दर्शन को स्वीकार करते हैं, जबकि **जिनभद्रगणि** इसका निषेध करते हैं। इस प्रकार दोनों मतों में से **जिनभद्रगणि** का मत अधिक पुष्ट लगता है, क्योंकि व्यंजनावग्रह में विषय और इन्द्रिय संयोग नहीं होने से इन्द्रियों का प्राप्य-अप्राप्यकारित्व के साथ संबन्ध नहीं रहता है। अतः व्यंजनावग्रह के चार भेदों की संगति के लिए जो प्राप्यकारी का तर्क दिया है, वह संगत नहीं रहता है। लेकिन **जिनभद्रगणि** का मत स्वीकार करने से यह विसंगति नहीं रहती है। **जिनभद्रगणि** ने विस्तार से उल्लेख करते हुए व्यंजनावग्रह को ज्ञान रूप सिद्ध किया है। व्यंजनावग्रह का विषय इन्द्रिय और इन्द्रिय विषय का जो परस्पर संपर्क होना है।

व्यंजनावग्रह के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए पुरुष और मल्लक का दृष्टांत दिया गया है। **जिनभद्रगणि** ने अर्थावग्रह के सम्बन्ध में प्राप्त चार मतान्तरों (1. अवग्रह में विशेष ग्रहण होता है 2. परिचित को प्रथम समय में ही विशेष ज्ञान होता है 3. अर्थावग्रह आलोचन पूर्वक होता है 4. अर्थावग्रह एक समय का नहीं हो सकता है) का उल्लेख करते हुए युक्तियुक्त समाधान किया है। बहु, बहुविध आदि बारह भेद एक समय वाले अवग्रह में घटित नहीं होते हैं, इसके लिए **जिनभद्रगणि** ने **सांव्यवहारिक अवग्रह** की कल्पना करके इन भेदों का घटित किया है।

जिनभद्रगणि ने व्यंजनावग्रह और अर्थावग्रह के स्वरूप में मतभेद को स्पष्ट किया है। पूज्यपाद आदि के अनुसार अव्यक्त ग्रहण व्यंजनावग्रह तथा व्यक्त ग्रहण अर्थावग्रह है, **जिनभद्रगणि** का मन्तव्य है कि व्यंजनावग्रह में विषय और विषयी के सन्निपात से दर्शन नहीं होता है। अर्थावग्रह में सामान्य, अनिर्देश्य एवं नाम, स्वरूप जाति से रहित ज्ञान होता है, जिसे अपेक्षा विशेष से दर्शन की श्रेणी में रख सकते हैं। जबकि वीरसेनाचार्य ने प्राप्त अर्थ का ग्रहण व्यंजनावग्रह

और अप्राप्त अर्थ का ग्रहण अर्थावग्रह कहा है। इस प्रकार तीनों ने अपना-अपना मत पुष्ट किया है। लेकिन सूक्ष्म चिंतन करें तो इन तीनों मतों से व्यंजनावग्रह का विशिष्ट स्वरूप प्रकट होता है।

अवग्रह और संशय में भिन्नता है, तथा **जिनभद्रगणि** ने संशय को ज्ञान रूप स्वीकार किया है, किन्तु उसे प्रमाण नहीं माना है। जैनदर्शन में अवग्रह ज्ञान को प्रमाण की कोटि में माना गया है। इस तथ्य की सिद्धि आगमिक परम्परा और प्रमाणमीमांसीय परम्परा के आधार पर की गई है।

अवग्रह के दोनों भेदों में से व्यंजनावग्रह निर्णयात्मक नहीं होने तथा अनध्यवसायात्मक रूप होने के कारण वह प्रमाण की कोटि में नहीं आता है। जैसेकि **जिनभद्रगणि** के मत में उपचरित अर्थावग्रह अकलंक, विद्यानन्द आदि के मत में वर्णित अर्थावग्रह और वीरसेनाचार्य के मत में विशदावग्रह स्वरूप जो अर्थावग्रह है, वह प्रत्यक्ष-प्रमाण सिद्ध होता है।

अवग्रह के पर्यायवाची भेदों का मैं से अवग्रहणता और उपधारणता व्यंजनावग्रह से सम्बन्धित है, श्रवणता केवल श्रोत्रेन्द्रिय के अवग्रह से सम्बन्धित है अर्थात् अर्थावग्रह है तथा अवलम्बनता और मेधा भेद सांख्यवहारिक अर्थावग्रह रूप है, जो नियम से ईहा, अवाय और धारणा तक पहुँचने वाले हैं। कुछ ज्ञानाधारा सिर्फ अवग्रह तक ही रह जाती है और कुछ आगे बढ़ने वाली होती है। इन पांच नामों में से आलम्बता तो नाम भेद की अपेक्षा से और शेष चार काल भेद की अपेक्षा से है। साथ ही नंदीसूत्र में वर्णित पर्यायवाची शब्दों की षट्खण्डागम और तत्त्वार्थ सूत्र में वर्णित अवग्रह के पर्यायवाची शब्द के साथ समानता भिन्नता को स्पष्ट किया गया है।

अवग्रह के द्वारा अव्यक्त रूप में जाने हुए पदार्थ की यथार्थ सम्यग् विचारणा करना 'ईहा' है। अकलंकादि आचार्यों ने ईहा के पूर्व संशय को स्वीकार किया है। जबकि **जिनभद्रगणि** आदि आचार्यों ने अवग्रह और ईहा के मध्य में संशय को स्थान नहीं दिया है। बृहद्वृत्ति में **मलधारी हेमचन्द्र** ने उदाहरण सहित ईहा और संशय में अन्तर को स्पष्ट किया है। ईहा हेतु से होती है अनुमान से नहीं। ईहा और ऊह में समानता को दर्शाते हुए उमास्वाति ईहा (ऊह) को मतिज्ञान रूप तथा अकलंक ऊहा को श्रुतज्ञान रूप स्वीकार करते हैं। ईहा प्रमाण रूप है। ईहा के पर्यायवाची शब्दों की तुलना नंदीसूत्र, षट्खण्डागम और तत्त्वार्थसूत्र के आधार पर की गई है।

ईहा के द्वारा सम्यग् विचार किये गये पदार्थ का सम्यग् निर्णय करना अवाय है। आगमों और ग्रंथों में 'अवाय' और 'अपाय' दोनों शब्दों का प्रयोग हुआ है। अवाय को औपचारिक रूप से अर्थावग्रह रूप स्वीकार किया गया है। मतान्तर का खण्डन करते हुए स्पष्ट किया गया है कि अवाय में सद्भूत और असद्भूत दोनों प्रकार के पदार्थों का धारण किया जाता है। अवाय के पर्यायवाची को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि जिनदासगणि के अनुसार जब बुद्धि मनोद्रव्य का अनुसरण करे तब वह मति रूप होती है। इसलिए बुद्धि अवग्रह और मति ईहा रूप है। जबकि हरिभद्र और मलयगिरि के अनुसार बुद्धि अवग्रह और ईहा रूप तथा मति अवाय और धारणा रूप होती है। नंदीसूत्र में अवाय के रूप में प्रयुक्त बुद्धि का अर्थ स्पष्टतर बोध किया है।

धारणा अविच्युति, वासना रूप से तीन प्रकार की होती है। पूज्यपाद के अनुसार अवाय द्वारा निश्चित हुई वस्तु का जिसके कारण कालान्तर में विस्मरण नहीं होता है, वह धारणा है। अकलंक आदि के अनुसार स्मृति का कारण संस्कार है, जो ज्ञानरूप है, उसी को धारणा के रूप में स्वीकार किया गया है। धारणा का यह स्वरूप वासना (संस्कार) रूप में दिगम्बर परम्परा में स्वीकार किया गया है। **जिनभद्रगणि** क्षमाश्रमण के अनुसार - 'अविच्युर्ध धारणा तस्स' अर्थात् निर्णयात्मक

ज्ञान की अविच्छिन्न रूप से स्थिति धारणा कहलाती है। यहाँ अविच्युति को उपलक्षण से मानते हुए अविच्युति, वासना (संस्कार) और स्मृति इन तीनों को धारणा रूप स्वीकार किया गया है। धारणा के सम्बन्ध में अन्य दर्शनों की ओर से शंका प्रस्तुत की है कि अविच्युति, स्मृति गृहीतग्राही होने से तथा वासना संख्यात/असंख्यात काल की होने से धारणा रूप नहीं हो सकती है, अतः मतिज्ञान का धारणा रूपी भेद घटित नहीं होने से मतिज्ञान के तीन ही भेद प्राप्त होंगे, चार नहीं। **जिनभद्रगणि** ने इसका युक्तियुक्त समाधान करते हुए मतिज्ञान के चार भेदों की सिद्धि की है। पूर्व भव में जो शब्द आदि रूपी-अरूपी पदार्थों का ज्ञान किया था, उसका वर्तमान भव में स्मरण में आना जातिस्मरण ज्ञान है। यह धारणा के तीसरे भेद स्मृति में समाविष्ट होता है।

अवग्रह आदि के काल के सम्बन्ध में उल्लेख करते हुए अवग्रहादि का काल निर्धारित करते हुए **जिनभद्रगणि** ने नैश्चयिक अर्थावग्रह का काल एक समय, व्यंजनावग्रह तथा व्यावहारिक अर्थावग्रह का काल अन्तर्मुहूर्त, ईहा और अपाय का काल अन्तर्मुहूर्त, अविच्युति और स्मृति रूप धारणा का काल भी अन्तर्मुहूर्त, वासना रूप धारणा का काल संख्यात, असंख्यात काल तक माना है। हरिभद्रसूरि नैश्चयिक अर्थावग्रह का कालमान एक समय और सांख्यव्यावहारिक अर्थावग्रह का समय अन्तर्मुहूर्त मानते हैं। कमल के सौ पत्ते छेदन का उदाहरण देते हुए **जिनभद्रगणि** ने अवग्रह आदि के निश्चित क्रम को समझाया है।

अवग्रह, ईहा, अपाय एवं धारणा ज्ञान में प्रत्येक के बहु, अल्प, बहुविध, अल्पविध आदि बारह भेद होते हैं। आचार्यों ने जो इनकी भांति-भांति से चर्चा की है, उसे भी शोध-प्रबन्ध में स्थान दिया गया है।

द्रव्यादि की अपेक्षा मतिज्ञान के विषय का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि मतिज्ञानी सर्व द्रव्यों को जानते और देखते हैं। यहाँ सर्व शब्द आदेश की अपेक्षा से प्रयुक्त हुआ है। आदेश सामान्य और विशेष दोनों प्रकार से प्रयुक्त होता है। भगवतीसूत्र में 'आएसेणं सव्वदव्वाइं जाणइ, पासइ' जबकि नंदीसूत्र के पाठ में 'आएसेणं सव्वाइं दव्वाइं जाणइ ण पासइ' अर्थात् भगवती में तो 'पासइ' और नंदीसूत्र में 'ण पासइ' क्रिया का प्रयोग हुआ है। इस विसंगति का समाधान भगवतीसूत्र के टीकाकार अभयदेवसूरि के अनुसार करते हुए दोनों क्रियाओं के प्रयोग को अपेक्षा विशेष से सही ठहराया गया है। इसी प्रकार क्षेत्र, काल और भाव में प्रयुक्त सर्व शब्द का अर्थ समझना चाहिए।

सत्पदप्ररूपणा, द्रव्यप्रमाण, क्षेत्र, स्पर्शना, काल, अन्तर, भाग, भाव और अल्पबहुत्व इन नौ द्वारों के माध्यम से मतिज्ञान का वर्णन किया गया है। सत्पदप्ररूपणा के अन्तर्गत गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय आदि 20 द्वारों के माध्यम से मतिज्ञान की चर्चा की गई है। यह उल्लेख पूर्वप्रतिपन्न (भूतकाल का ज्ञान की अपेक्षा से) और प्रतिपद्यमान (वर्तमान के एक समय का ज्ञान) की अपेक्षा से किया गया है। पूर्वप्रतिपन्न में पूर्व में प्राप्त मतिज्ञान की विवक्षा है और प्रतिपद्यमान में वर्तमान के एक समय में नवीन मतिज्ञान उत्पन्न हो रहा है अथवा नहीं, इसकी विवक्षा है।

मतिज्ञान के सम्बन्ध में विशिष्ट उल्लेख -

1. ज्ञान के अवग्रहादि भेद विषय-ग्रहण की एक प्रक्रिया है, जो निम्न प्रकार से हैं - सर्वप्रथम इंद्रिय और अर्थ का योग्य देश में अवस्थान -> **दर्शन** (सत्ता मात्र का ग्रहण) -> **व्यंजनावग्रह** (इंद्रिय और अर्थ के सम्बन्ध का ज्ञान) -> **अर्थावग्रह** (अर्थ का ग्रहण, जैसे की

कुछ हैं) -> **ईहा** (पर्यालोचनात्मक ज्ञान, जैसे यह स्थाणु होना चाहिए) -> **अवाय** (निश्चयात्मक ज्ञान, जैसे यह स्थाणु ही है) -> **धारणा** (अविच्युति, जैसे स्थाणु का ज्ञान संस्कार रूप में स्थिर रहना)

पूज्यापाद के मत से व्यंजनावग्रह से पूर्व दर्शन होता है, इसलिए उक्त प्रक्रिया में व्यंजनावग्रह से पूर्व दर्शन का उल्लेख किया एवं **जिनभद्रगणि** के मत से व्यंजनावग्रह से पूर्व दर्शन नहीं होता है, अतः उनके अनुसार उक्त प्रक्रिया सीधे व्यंजनावग्रह से प्रारंभ होगी।

2. एक जीव अनन्त जीवों को और अनन्त पुद्गलों को तथा उनकी पर्यायों को मतिज्ञान द्वारा जानता है। इसलिए एक जीव की अपेक्षा भी मतिज्ञान की अनन्त पर्यायें होती हैं।

3. **शंका** - जिस प्रकार परम (सर्वोत्कृष्ट) अवधिज्ञान होते ही अन्तर्मुहूर्त में केवलज्ञान हो जाता है, वैसे ही सर्वोत्कृष्ट मतिज्ञान होने पर केवलज्ञान होता है या नहीं। **समाधान** - नहीं, क्योंकि प्रज्ञापना सूत्र के पांचवें पद (जीवपर्याय) में उत्कृष्ट मतिज्ञान में अवगाहना चतुःस्थानपतित बताई है। जो कि मारणांतिक समुद्घात की अपेक्षा से घटित होती है। अतः सर्वोत्कृष्ट मतिज्ञानी का चरमशरीर होना आवश्यक नहीं है एवं जीव उत्कृष्ट मतिज्ञान पूरे संसार काल में कितनी ही बार हो सकता है।

4. जातिस्मरण ज्ञान तो ज्ञानावरणीय के क्षयोपशम से होता है, लेकिन उत्तराध्ययन सूत्र के नववें अध्ययन की पहली गाथा के अनुसार मोहनीय-कर्म की उपशान्ति से जातिस्मरण ज्ञान होता है। इसका यह कारण हो सकता है कि मोहनीय कर्म की उपशान्ति से होने वाला जातिस्मरण ज्ञान, ज्ञान रूप होता है, अनुपशान्ति से होने वाला जाति स्मरण ज्ञान अज्ञान रूप होता है। क्योंकि जातिस्मरणज्ञान ज्ञान और अज्ञान दोनों तरह का होता है। सम्यग्दृष्टि मतिज्ञानी का जातिस्मरण ज्ञान रूप तथा मिथ्यादृष्टि मतिअज्ञानी का जातिस्मरण अज्ञान रूप है, अतः यहाँ सम्यग्ज्ञान उत्पन्न हुआ, यह बताने के लिए मोहनीय कर्म की उपशान्ति बताई गई।

श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्परा में मतिज्ञान के स्वरूप में अन्तर -

प्रस्तुत अध्याय का अध्ययन करने पर श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्परा में मतिज्ञान के स्वरूप में निम्न अन्तर प्रतीत हुए जो निम्न प्रकार से हैं -

1. श्वेताम्बर परम्परा में मतिज्ञान के श्रुतनिःसृत और अश्रुतनिःसृत भेद प्राप्त होते हैं, जबकि दिगम्बर परम्परा में ये भेद प्राप्त नहीं होते हैं।

2. श्वेताम्बर परम्परा में अश्रुतनिःसृत मति के औत्पतिकी आदि चार भेद हैं, जबकि धवला टीका में औत्पतिकी आदि चार बुद्धि का वर्णन प्रज्ञात्रयि के अन्तर्गत किया गया है।

3. श्वेताम्बर में परम्परा श्रुतनिःसृत मतिज्ञान के अवग्रहादि चार भेद किये गये हैं, जबकि दिगम्बर परम्परा में अवग्रह आदि चार का उल्लेख सामान्य रूप में ही किया गया है।

4. श्वेताम्बर परम्परा में प्रज्ञा का सम्बन्ध श्रुतनिश्चित मति के साथ जोड़ा है, जबकि दिगम्बर परम्परा में इसका सम्बन्ध अश्रुतनिश्चित के साथ जोड़ा गया है।

5. औत्पातिकी बुद्धि के लिए श्वेताम्बर साहित्य में पूर्वजन्म में सीखे हुए चौदह पूर्व की विस्मृति और उत्तरवर्ती मनुष्य भव में पुनः प्रकट होने का उल्लेख नहीं मिलता है, जबकि दिगम्बर साहित्य में ऐसा उल्लेख प्राप्त होता है।

6. श्वेताम्बर साहित्य में कर्मजा बुद्धि की प्राप्ति में आचार्य के उपेदश के तत्त्व को स्वीकार किया गया है, जबकि धवलाटीकार ने कर्मजा बुद्धि की प्राप्ति में आचार्य के उपेदश के तत्त्व को स्वीकार नहीं किया गया है।

7. श्वेताम्बर साहित्य में औत्पत्तिकी, वैनयिकी और कर्मजा बुद्धि का अंतर्भाव पारिणामिक बुद्धि में नहीं माना गया है, जबकि धवलाटीका के अनुसार जातिविशेष से उत्पन्न हुई बुद्धि पारिणामिक है। इसलिए औत्पत्तिकी, वैनयिकी और कर्मजा से भिन्न बुद्धि का अंतर्भाव पारिणामिक प्रज्ञा में किया गया है।

8. श्वेताम्बर ग्रंथों में औत्पात्तिकी आदि चार बुद्धियों का सम्बन्ध मतिज्ञान से माना गया है, दिगम्बर ग्रंथों में औत्पात्तिकी आदि चार बुद्धियों का सम्बन्ध श्रुतज्ञान से किया गया है।

9. नंदी टीका में मेधा का अर्थ प्रथम विशेष सामान्य अर्थावग्रह के बाद प्राप्त 'विशेष सामान्य अर्थावग्रह' किया है। धवलाटीका में मेधा का अर्थ अर्थज्ञान के हेतु के रूप में स्वीकृत किया है।

10. आवश्यकनिर्युक्ति आदि में अपोह का अर्थ अवाय परक किया है, जबकि षट्खण्डागम और धवलाटीका में इसका अर्थ ईहा परक किया है।

11. श्वेताम्बर परम्परा में स्मृति को मतिज्ञान रूप में स्वीकार किया है, जबकि दिगम्बर परम्परा में स्मृति को श्रुतज्ञान के रूप में स्वीकार किया गया है।

12. यशोविजय वासना को औपचारिक रूप से ज्ञान रूप मानते हैं, जबकि अकलंक और हेमचन्द्र वासना को ज्ञान रूप मानते हैं।

13. श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार संस्कार कर्म-क्षयोपशमरूप होने से आत्मा की शक्ति विशेष मात्र है, ज्ञान रूप नहीं है, जबकि दिगम्बर परम्परा में वासना (संस्कार) को ही धारणा के रूप में स्वीकार किया गया है।

14. जिनभद्रगणि ने संशयादि को ज्ञान रूप स्वीकार किया है, जबकि अकलंक ने संशयादि को ज्ञान रूप स्वीकार नहीं किया है।



चर्तुथ अध्याय

विशेषावश्यकभाष्य में श्रुतज्ञान

पांच ज्ञानों में दूसरा ज्ञान श्रुतज्ञान है। श्रुतज्ञान सम्पूर्ण चारित्र का आधारभूत है। श्रुत शब्द 'श्रु' (श्रवणे) धातु से बना है, जिसका व्युत्पत्तिजन्य अर्थ सुनना है और विशिष्ट अर्थ आप्त के वचन सुनकर उसके अनुसार शब्दानुविद्ध ज्ञान होना श्रुतज्ञान है। श्रवण के आधार पर ही वैदिक परम्परा में वेदों को श्रुति, जैन परम्परा के आगमों को श्रुत और बौद्ध परम्परा में त्रिपिटक को श्रुत, आगम अथवा पालि कहा जाता है। यहाँ सुनने का अर्थ है - रूपी अरूपी पदार्थ को मतिज्ञान से ग्रहण कर या स्मरण कर उसे और उसके वाचक शब्द को, उस वाच्य अर्थ और उसके वाचक शब्द में जो परस्पर वाच्य-वाचक संबंध रहा हुआ है, उसकी पर्यालोचना पूर्वक शब्द उल्लेख सहित जानना श्रुतज्ञान है।¹ जैसे 'घट' पदार्थ के वाचक शब्द 'घट' शब्द को सुन कर, 'घट' पदार्थ को जानना 'घट' विषयक श्रुतज्ञान है। अथवा सामान्यतया गुरु के शब्द सुनने से या ग्रंथ पढ़ने से अथवा उनमें उपयोग लगाने से जो ज्ञान होता है, उसे- 'श्रुतज्ञान' कहते हैं।² इसका विस्तार से वर्णन निम्न प्रकार से है।

आगमों में श्रुतशब्द का उपयोग - जैनागमों में श्रुत शब्द 'सुनना'³ 'शास्त्र'⁴ 'आगम'⁵ 'श्रुतज्ञान'⁶ और मिथ्याश्रुत के लिए जैनागमों में पापश्रुत का भी प्रयोग हुआ है।⁷ आदि अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। इसके अलावा आगमों में प्रयुक्त 'बहुस्सुया' (बहुश्रुत)⁸ 'अनुश्रुत'⁹ 'महाश्रुत'¹⁰ 'श्रुतधर्म'¹¹ 'सूत्रश्रुत'¹² 'अर्थश्रुत'¹³ आदि शब्द श्रुत के साथ संबंध रखते हैं।

श्रुतज्ञान का लक्षण

श्रुतज्ञान श्रोत्रेन्द्रिय से सम्बन्धित है अर्थात् जो दिया लिया जाता है, बोला जाता है, शब्दों से जो जाना जाता है, वाच्य वाचक भाव से जो जाना जाता है, वह श्रुतज्ञान है।

श्वेताम्बर आचार्यों की दृष्टि में श्रुतज्ञान का लक्षण -

उमास्वाति (तृतीय शती) ने तत्त्वार्थभाष्य उल्लेख किया है कि श्रुतज्ञान मतिपूर्वक होता है। श्रुत, आप्तवचन, आगम, उपदेश, ऐतिह्य, आमनाय प्रवचन और जिनवचन ये शब्द एक ही अर्थ के वाचक हैं।¹⁴

1. श्रुणोति वाच्यवाचकभावपुरस्सरं श्रवणविषयेन शब्देन सह संस्पृष्टमर्थं परिच्छिनत्त्यात्मा येन परिणामविशेषेण स परिणामविशेषः श्रुतम्। - मलयगिरि वृत्ति, पृ. 140
2. पारसमुनि, नंदीसूत्र, पृ. 205
3. आचारांगसूत्र 4.1.8, सूयगडांगसूत्र 1.15.16, भगवतीसूत्र 3.7.1
4. उत्तराध्ययनसूत्र अ. 17 गाथा 2, 4
5. भगवतीसूत्र 1.1.3, 15.1, स्थानांगसूत्र 2.1.24
6. सूयगडांगसूत्र 1.2.2.25, 31, 16.2, 1.15.16, भगवतीसूत्र 8.2.6, स्थानांगसूत्र 5.3.12
7. सूयगडांगसूत्र 1.3.3.3
8. भगवती सूत्र श. 2 उ. 5, 15.1.15, उत्तराध्ययनसूत्र अ. 5 गाथा 29, अ. 11 गाथा 15
9. उत्तराध्ययनसूत्र अ. 5 गाथा 18
10. उत्तराध्ययनसूत्र अ. 20 गाथा 53
11. स्थानांगसूत्र 2.4.14
12. स्थानांगसूत्र 2.1.25
13. सूयगडांगसूत्र 2.2.10, स्थानांगसूत्र 8.14, समवायांगसूत्र 28
14. श्रुतज्ञानं मतिज्ञानपूर्वकं भवति। श्रुतमाप्तवचनं आगम उपदेश ऐतिह्यमाम्नायः प्रवचनं जिनवचनमित्यनर्थान्तरम्।

जिनभद्रगणिक्षमाश्रमण (सप्तम शती) का कथन है कि 'तं तेण तओ तम्मि व सुणेइ सो वा सुअं तेण' अर्थात् उसको, उसके द्वारा, उससे होने से या उसके होने पर आत्मा द्वारा सुना जाता है या आत्मा सुनता है, उससे वह 'श्रुत' कहा जाता है।¹⁵ जिनदासगणि ने भी श्रुतज्ञान की ऐसी व्युत्पत्ति दी है।¹⁶

मलधारी हेमचन्द्र (द्वादश शती) ने श्रुतज्ञान का अर्थ किया है - 'तं तेण' जो आत्मा द्वारा सुना जाए, उस शब्द को श्रुत कहते हैं अथवा जिससे सुना जाय, या जिसके होने से अर्थात् श्रुतज्ञानावरण का क्षयोपशम होने से सुना जाय, वह श्रुत कहलाता है। अथवा 'सुणेइ सो वा' जो सुनता है, वह आत्मा श्रुत है। शब्द श्रुत-ज्ञान का कारण है और श्रुतज्ञानावरणीय का क्षयोपशम भी ज्ञान में हेतु है तथा ज्ञान व आत्मा का कथंचित् अभेद होने से ज्ञान को श्रुत कह दिया जाता है, वह श्रुतज्ञान कहलाता है।¹⁷

शांत्याचार्य के अनुसार - जो सुना जाता है वह श्रुत-शब्द है। शब्द द्रव्य श्रुत ही है। जब शब्द को सुना जाता है, बोला जाता है, पुस्तक आदि में अक्षर के रूप में चक्षु इन्द्रिय से पढ़ा जाता है अथवा शेष इन्द्रियों से अवगृहीत अर्थ का पर्यालोचन किया जाता है, उस समय जो अक्षरानुसारी/श्रुतानुसारी विज्ञान उत्पन्न होता है, वह भावश्रुत है और वही यहाँ श्रुत शब्द से अभिहित है।¹⁸

मलयगिरि (त्रयोदश शती) ने श्रुतज्ञान का अर्थ करते हुए कहा है कि - वाच्य-वाचक के सम्बन्धज्ञान पूर्वक शब्द से सम्बद्ध अर्थ को जानने का जो हेतु है, वह श्रुतज्ञान है। जैसे अमुक आकार वाली वस्तु है, जो जलधारण आदि अर्थक्रिया में समर्थ है। वह घट (वाचक) शब्द के द्वारा वाच्य है, इत्यादि। जिस ज्ञान में त्रैकालिक-साधारण, समान परिणाम मुख्य होता है, जो शब्द और अर्थ के पर्यालोचन के अनुसार होता है, जो इन्द्रिय और मन के निमित्त से होता है, वह श्रुतज्ञान है।¹⁹

उपाध्याय यशोविजय (अष्टादश शती) के अनुसार - जो ज्ञान इन्द्रिय और मनोजन्य होते हुए श्रुत का अनुसरण करे वह श्रुतज्ञान कहलाता है।²⁰

दिगम्बर आचार्यों की दृष्टि में श्रुतज्ञान का लक्षण -

आचार्य गुणधरानुसार (द्वितीय-तृतीय शती) - मतिज्ञान से जाने हुए पदार्थ का अवलंबन लेकर जो अन्य अर्थ का ज्ञान होता है, वह श्रुतज्ञान कहलाता है।²¹

अमृतचन्द्रसूरि के वचनानुसार - मतिज्ञान के बाद अस्पष्ट अर्थ की तर्कणा को लिये हुए जो ज्ञान होता है, उसे श्रुतज्ञान कहते हैं।²²

पूज्यपाद (पंचम-षष्ठ शती) के अनुसार - पदार्थ जिसके द्वारा सुना जाता है, जो सुनता है या सुनना मात्र श्रुत कहलाता है।²³ 'श्रुत' शब्द सुनने रूप अर्थ में मुख्यता से निष्पादित है तो भी रूढ़ि से उसका वाच्य कोई ज्ञानविशेष है, वही श्रुतज्ञान है।²⁴

15. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 81

16. तहा तच्छृणोति, तेण वा सुणेति, तम्हा वा सुणेति, तम्हि वा सुणेतीति सुतं। - नंदीचूर्ण पृ. 20

17. मलधारी हेमचन्द्र, विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 81 की बृहद्वृत्ति, पृ. 46

18. उत्तराध्ययन शांत्याचार्य बृहद्वृत्ति, पृ. 556-557

19. मलयगिरि, नंदीवृत्ति, पृ. 65

20. तत्रेन्द्रियमनोनिमित्तं श्रुतानुसारि च श्रुतज्ञानम्। - जैनतर्कभाषा पृ. 6

21. मदिणाणपुव्वं सुदणाणं होदि मदिणाणविसयकयअट्ठादो पुधभूदट्ठविसयं। कसायपाहुडं, पृ. 38

22. मतिपूर्व श्रुतं प्रोक्तमविस्पष्टार्थतर्कणम्। तत्त्वार्थसार, प्रथम अधिकार, गाथा 24 पृ. 9

23. सर्वार्थसिद्धि 1.9 पृ. 67

24. सर्वार्थसिद्धि 1.20 पृ. 85

योगीन्दुदेव (षष्ठ-सप्तम शती) ने श्रुतज्ञान की परिभाषा देते हुए कहा है कि जो अनेक अर्थों का प्ररूपण करने में समर्थ है, ऐसा अस्पष्ट ज्ञान रूढ़िवश-शब्द की व्युत्पत्तिवश श्रवण श्रुत कहलाता है, यह श्रुत का लक्षण है।²⁵

अकलंक (अष्टम शती) के कथनानुसार - यह श्रुत शब्द सुनने रूप अर्थ की मुख्यता से निष्पादित है तो भी रूढ़ि से उसका वाच्य कोई ज्ञान विशेष है। जैसे कुशल शब्द का व्युत्पत्ति अर्थ कुशका छेदना है। तो भी रूढ़ि से उसका अर्थ पर्यवदात अर्थात् विमल या मनोज्ञ लिया जाता है।²⁶ श्रुतज्ञान का विषयभूत अर्थ श्रुत है।²⁷ विशेष रूप से तर्कणा करना अर्थात् ऊहा करना, वितर्क करना श्रुतज्ञान कहलाता है।²⁸

आचार्य शुभचन्द्र के अनुसार - जो श्रुतज्ञान अनेक अंग, पूर्व और प्रकीर्णकरूप शाखाभेदों के द्वारा बहुत प्रकार से विस्तृत है तथा स्याद्वादन्याय से व्याप्त है, अनेकान्त का अनुसरण करता है, वह अनेक प्रकार का है।²⁹

वीरसेनाचार्य (नवम शती) के अनुसार - 1. जिस ज्ञान में मतिज्ञान कारण है, जो मतिज्ञान से ग्रहण किये गये पदार्थ को छोड़कर तत्संबन्धित दूसरे पदार्थ में व्यापार करता है और श्रुतज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होता है, उसे श्रुतज्ञान कहते हैं।³⁰

2. अवग्रह से लेकर धारणा पर्यन्त मतिज्ञान के द्वारा जाने गये अर्थ के निमित्त से अन्य अर्थ का ज्ञान होना श्रुतज्ञान है।³¹

विद्यानंद (नवम शती) के कथनानुसार - जिस पदार्थ को पहले चक्षुरादि इन्द्रियों तथा मन का अवलम्बन लेकर जान लिया गया है, उस पदार्थ का अवलम्बन लेकर उससे सजातीय विजातीय अन्य पदार्थ को मात्र मन द्वारा परामर्श स्वभावतया (विचार पूर्वक) जानने वाला ज्ञान श्रुतज्ञान कहलाता है।³²

नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती (एकादश शती) के कथनानुसार - मतिज्ञान के द्वारा निश्चित अर्थ का अवलम्बन लेकर उससे सम्बद्ध अन्य अर्थ को जानने वाले जीव के ज्ञान को, जो श्रुतज्ञानावरण और वीर्यान्तराय के क्षयोपशम से उत्पन्न होता है, उसे श्रुतज्ञान कहते हैं। अथवा जो सुना जाता है, उसको शब्द कहते हैं, उससे उत्पन्न अर्थज्ञान को श्रुतज्ञान कहते हैं। इस अर्थ में अक्षरात्मक श्रुतज्ञान ही प्रधान हुआ, अथवा श्रुत ऐसा रूढ़ि शब्द है।³³ पंचसंग्रह में भी यही परिभाषा मिलती है।³⁴

अभयचन्द्रसिद्धान्त चक्रवर्ती के अनुसार - मतिज्ञान द्वारा ग्रहण किये गये अर्थ से भिन्न अर्थ का ज्ञान श्रुतज्ञान है।³⁵

स्वामी कार्तिकेय के अनुसार - जो ज्ञान सब वस्तुओं को अनेकांत, परोक्ष रूप से प्रकाशित करता (कहता) है और जो संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय से रहित है उसको श्रुतज्ञान कहते हैं।³⁶

25. तत्त्वार्थवृत्ति सूत्र 1.20, पृ. 42

26. तत्त्वार्थराजवार्तिक, 1.20.1

27. तत्त्वार्थराजवार्तिक, 2.21

28. तत्त्वार्थराजवार्तिक, 9.43

29. प्रसूतं बहुधा नेकैरंगपूर्वैः प्रकीर्णकैः। स्याद्वादन्यायसंकीर्णं श्रुतज्ञानमनेकधा। ज्ञानार्णव, प्र. 7 गाथा 5, पृ. 160

30. षट्खण्डागम पुस्तक 1 पृ. 93 एवं षट्खण्डागम पुस्तक 6 पृ. 21

31. षट्खण्डागम (धवला) पृ. 13 पृ. 245

32. श्रुतस्य साक्षात् श्वमनिमित्तत्वासिद्धेः तस्यानिन्द्रियवत्त्वाद्दृष्टार्थं, सजातीयविजातीयनानार्थं परामर्शनस्वभावतया प्रसिद्धत्वात्।

- तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, 1.9.32, पृ. 165

33. गोमटसार (जीवकांड), भाग 2, गाथा 315 पृ. 523-524

34. पंचसंग्रह, गाथा 122, पृ. 26

35. मतिज्ञानगृहीतार्थादन्यस्यार्थस्यज्ञानं श्रुतज्ञानं। - कर्मप्रकृति, पृ. 5

36. सर्वं पि अण्येयंतं, परोक्षरूपेण जं पसासेदि। तं सुयणाणं भण्णदि, संसयपहुदीहि परिचल्लं।-कार्तिकेयानुपेक्षा, गा०262, पृ.116

जयसेनाचार्य के अनुसार – जिस आत्मा ने मतिज्ञान से पदार्थ जाना था, वह श्रुतज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम होने पर जब मूर्त और अमूर्त पदार्थ को जानता है, तो वह श्रुतज्ञान कहलाता है।³⁷

श्रुतज्ञान का अन्य ज्ञानों से वैशिष्ट्य

चार ज्ञान (श्रुतज्ञान को छोड़कर) वस्तु तत्त्व के प्रतिपादन में सक्षम नहीं होने के कारण स्थापनीय है। इसलिए इनके उद्देश (अध्ययन का निर्देश), समुद्देश (स्थिरीकरण का निर्देश) और अनुज्ञा (अध्यापन का निर्देश) नहीं होते इसलिए इन चार ज्ञानों को स्वार्थ कहा गया है। जबकि श्रुतज्ञान के उद्देश, समद्देश, अनुज्ञा और अनुयोग होते हैं, इसलिए श्रुतज्ञान को परार्थ कहते हैं। श्रुतज्ञान के अलावा शेष मति आदि चार ज्ञान शब्दातीत है। अतः वे अपने स्वरूप का विश्लेषण करने में समर्थ नहीं हैं। इस असमर्थता के कारण ही मति आदि चार ज्ञान स्थाप्य है। नंदीचूर्णिकार और नंदीटीकाकार के अनुसार स्थाप्य का अर्थ है, असंव्यवहार्य है। जिसका दूसरों के लिए उपयोग हो सके वह व्यवहार्य होता है। एक व्यक्ति के मतिज्ञानादि दूसरे व्यक्ति के लिए उपयोगी नहीं हो सकते हैं, इसलिए ये चार ज्ञान असंव्यवहार्य हैं। मतिज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्यवज्ञान ये तीन ज्ञान ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम तथा केवलज्ञान ज्ञानावरणीय कर्म के क्षय से होता है। श्रुतज्ञान श्रुतज्ञानवरण के क्षयोपशम से होता है साथ ही यह भी आवश्यक है कि वह मतिपूर्वक तथा परोपदेश से होता है। अतः सामान्यतः पराधीन (गुरु आदि के अधीन) होने पर भी वह वस्तु के स्वरूप का बोध कराने में समर्थ है। जिनभद्रगणि का कहना है कि दीपक अपनी उत्पत्ति में पराधीन होते हुए भी वह स्व और पर के स्वरूप को प्रकाशित करता है। इसी प्रकार श्रुतज्ञान भी स्व और पर के स्वरूप का प्रकाशन और विश्लेषण करने में समर्थ है। पर-प्रबोधक होने से ही वह शिक्षा अथवा व्याख्या के लिए अधिकृत है। श्रुतज्ञान गुरु से प्राप्त होता है, इसलिए वह प्रायः पराधीन है। यहाँ प्रायः शब्द का प्रयोग सूचित करता है कि प्रत्येकबुद्ध आदि का श्रुतज्ञान स्वायत्त होता है, परायत्त नहीं।³⁸

श्रुतज्ञान एवं केवलज्ञान की तुलना

1. केवलज्ञान के विषयभूत अनन्त अर्थ को श्रुतज्ञान परोक्ष रूप से ग्रहण कर लेता है।
2. केवलज्ञान की भांति श्रुतज्ञान भी नय के द्वारा त्रिकालिक पदार्थों को ग्रहण कर लेता है।
3. बारह अंग (द्वादशांग) चौदहपूर्व रूप ज्ञान को परमागम कहते हैं और यह द्रव्य श्रुत है। इस श्रुतज्ञान से मूर्त और अमूर्त दोनों प्रकार के द्रव्यों को जाना जा सकता है। यह ज्ञान व्याप्ति ज्ञान की अपेक्षा से परोक्ष है, तो भी केवलज्ञान के सदृश है। कहा भी है कि ज्ञान की अपेक्षा श्रुतज्ञान और केवलज्ञान दोनों ही समान होते हैं, तो भी श्रुतज्ञान परोक्ष है, तथा केवलज्ञान प्रत्यक्ष है।³⁹
4. स्याद्वाद और केवलज्ञान दोनों सर्व तत्त्वों का प्रकाशन करने वाले हैं। केवलज्ञान और श्रुतज्ञान इन दोनों में मात्र परोक्ष व प्रत्यक्ष रूप से जानने मात्र का भेद है।⁴⁰

आत्मा के लिए श्रुतज्ञान का महत्त्व

1. आवश्यकचूर्ण के अनुसार श्रुतज्ञान से मति आदि चारों ज्ञान जाने जाते हैं तथा उनकी प्ररूपणा होती है। चार ज्ञान स्वसमुत्थ तथा श्रुतज्ञान परसमुत्थ है।⁴¹

37. पंचास्तिकाय, तात्पर्य वृत्ति, पृ. 143

38. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 839, मलधारी हेमचन्द्र, बृहद् वृत्ति पृ. 341

39. पंचास्तिकाय, तात्पर्य वृत्ति गाथा 99 पृ. 261-262

40. आप्तमीमांसा परिच्छेद 10, गाथा 105, गोम्मटसार जीवकांड गाथा 369

41. आवश्यक चूर्ण भाग 1, पृ. 77

2. आत्म सिद्धि के लिए मति के साथ श्रुतज्ञान निश्चित कारण है, क्योंकि इन दो ज्ञानों के बिना जीव को केवलज्ञान नहीं हो सकता है। जबकि केवलज्ञान के पूर्व अवधिज्ञान और मनःपर्यवज्ञान होना आवश्यक नहीं हैं, किसी जीव को हो भी सकते हैं और नहीं भी हो सकते हैं अर्थात् अन्त में अवधिज्ञान और मनःपर्यवज्ञान के बिना जीव केवलज्ञान प्राप्त करके मोक्ष जा सकता है, किन्तु मति, श्रुतज्ञान के बिना केवलज्ञान नहीं होता है और केवलज्ञान के अभाव में मोक्ष का भी अभाव होता है।

3. श्रुतज्ञान समस्त क्रियाओं का आधार है, चाहे वे क्रियाएं चरण सन्बन्धी हों अथवा करण सन्बन्धी हो।

4. श्रुत की आराधना से जीव के अज्ञान का क्षय होता है और राग-द्वेष आदि से उत्पन्न होने वाले मानसिक संक्लेशों से जीवों बचता है।⁴²

5. सामायिक आवश्यक से चौदहवें पूर्व बिन्दुसार पर्यन्त शास्त्र श्रुतज्ञान है। श्रुतज्ञान का सार चारित्र है। चारित्र का सार निर्वाण है।⁴³

श्रुतज्ञान मात्र शब्द रूप नहीं

प्रश्न - श्रुतज्ञान, श्रोत्रेन्द्रिय के अतिरिक्त अन्य इन्द्रियों से भी संभव है, तब श्रुतज्ञान में सुनने की और श्रोत्र इन्द्रिय की मुख्यता क्यों हैं? **उत्तर** - यद्यपि श्रुतज्ञान अन्य सभी इन्द्रियों से संभव है, पर सुनना और श्रोत्रेन्द्रिय, ये दोनों श्रुतज्ञान की उत्पत्ति में प्रमुख कारण हैं। अतएव इसको मुख्यता दी गई है। इस सम्बन्ध में **जिनभद्रगणि** ने शंका उठाते हुए कहा है कि श्रुतज्ञान आत्म परिणाम रूप नहीं है, क्योंकि श्रुत के लक्षण के अनुसार जिसे आत्मा सुनता है, वह श्रुत है, जीव शब्द को ही सुनता है, अतः शब्द ही श्रुत रूप हुआ, जो कि सही नहीं है, क्योंकि शब्द तो पौद्गलिक होने से मूर्त है और आत्मा तो अमूर्त है, मूर्त वस्तु अमूर्त का परिणाम नहीं होती है। लेकिन तीर्थकरों ने श्रुतज्ञान को आत्म-परिणाम रूप माना है। **समाधान** - श्रुत और शब्द परस्पर एक दूसरे के कारण होते हैं, इसलिए उपचार से शब्द को श्रुतरूप कहा है, जैसेकि वक्ता द्वारा बोला गया शब्द श्रोता के श्रुतज्ञान का कारण होता है, वक्ता का श्रुत उपयोग युक्त श्रुत बोलते समय शब्द का कारण होता है, इस प्रकार श्रुतज्ञान के कारणभूत या कार्यभूत उस शब्द को उपचार से श्रुत कहा गया है। वास्तव में (परमार्थ से) जीव ही श्रुत है, क्योंकि ज्ञान और ज्ञानी में अभिन्नता है।⁴⁴

अकलंक इसको स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि कुछेक आचार्य श्रवणजन्य ज्ञान को श्रुत मानते हैं। लेकिन यह उचित नहीं है क्योंकि श्रवण जन्य ज्ञान मति है और उसके बाद में हुआ ज्ञान श्रुत है। जैसे कि गो शब्द की बहुत सी पर्यायें होती हैं। शब्द को सुन कर 'यह गो शब्द है' यह मतिज्ञान का विषय है, उसके बाद पीली गो को कहने वाला शब्द, काली गो को कहने वाला शब्द इत्यादि जो इन्द्रिय और मन के द्वारा गृहीत अथवा अगृहीत की हुई गोशब्द की अनेक पर्याय हैं, उन्हें श्रोत्र इन्द्रिय की सहायता के बिना श्रुतज्ञान जानता है एवं गो शब्द के वाच्य का अर्थ गाय है, उसे भी श्रुतज्ञान जानता है, इसलिए जब श्रोत्र इन्द्रिय की अपेक्षा किये बिना भी श्रुतज्ञान नयादि ज्ञानों के द्वारा अपने विषय को जानता है, तब श्रवणजन्य ज्ञान ही श्रुत होता है, यह कथन सही नहीं है।⁴⁵

विद्यानंद के अनुसार शब्द की अनुयोजना से ही श्रुत होता है, इस प्रकार नियम किया जायेगा तब तो श्रोत्र इन्द्रियजन्य मतिज्ञान स्वरूप निमित्त से ही श्रुतज्ञान हो सकेगा। चक्षु आदि इन्द्रियों से

42. उत्तराध्ययनसूत्र अ. 29.25

44. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 98-99

43. आवश्यकनिर्युक्ति गाथा 93

45. तत्त्वार्थराजवार्तिक 1.9.33, 2.21.1

श्रुतज्ञान नहीं हो सकेगा तथा इससे सिद्धान्त से विरोध उत्पन्न होगा। अतः सांख्यवहारिक रूप से शब्द ज्ञान श्रुत है। इस अपेक्षा से नियम किया जायेगा, तब तो इष्ट सिद्धान्त से कोई बाधा नहीं आती है। क्योंकि चक्षु आदि से उत्पन्न हुए मतिज्ञान को पूर्ववर्ती कारण मानकर उत्पन्न हुए भी श्रुतों को परमार्थ रूप से अकलंक ने स्वीकार किया है। अतः सम्पूर्ण मतिज्ञान को पूर्ववर्ती कारण मानने से श्रुत का अक्षरज्ञान घटित होता है।⁴⁶

श्रुत ज्ञान के भेद

श्रुतज्ञान की उत्पत्ति में मतिज्ञान को कारण माना है। परन्तु मतिज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम अनेक प्रकार का है, इसी प्रकार श्रुतज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम भी अनेक प्रकार का है। अतः सभी प्राणियों के अपने-अपने क्षयोपशम के भेद से, बाह्य निमित्त के भेद से, श्रुतज्ञान का प्रकर्षापकर्ष होता है, अतः कारण भेद से कार्य के भेद का नियम स्वतः सिद्ध है, अतः मतिपूर्वक होने पर भी सभी के श्रुतज्ञानों में विशेषता बनी रहती है।⁴⁷

श्रुत ज्ञान के भेदों पर सभी आचार्यों ने विचार किया है। आचार्यों द्वारा विभिन्न दृष्टिकोणों से चिन्तन किया गया जिसके फलस्वरूप भेदों की संख्या के सम्बन्ध में मतभेद प्राप्त होते हैं। इन मतान्तरों को चार विभागों में विभक्त कर सकते हैं, यथा - अनुयोगद्वारसूत्र, आवश्यकनिर्युक्ति, षट्खण्डागम और तत्त्वार्थसूत्र।

1. अनुयोगद्वार के अनुसार

अनुयोगद्वार में श्रुत के चार भेद प्राप्त होते हैं - नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव। नाम आदि चार निक्षेप हैं, प्राचीनकाल में नामादि चार निक्षेपों से वस्तु का स्वरूप समझाया जाता था।⁴⁸ जैसे कि आवश्यकनिर्युक्ति में अवधि को नाम स्थापना आदि से समझाया है।⁴⁹ अतः अनुयोगद्वार में श्रुत के उपर्युक्त चार भेद प्राप्त होते हैं। अनुयोगद्वार सूत्र में द्रव्यश्रुत और भावश्रुत के मुख्य दो भेद किए हैं - आगमतः और नोआगमतः। ये भेद आदि निर्युक्ति, षट्खण्डागम और तत्त्वार्थसूत्र में प्राप्त नहीं होते हैं। अनुयोगद्वार में नोआगम भावश्रुत के दो भेद हैं - 1. लौकिक श्रुत (महाभारत आदि) और 2. लोकोत्तर श्रुत (आचारांग आदि)। नंदीसूत्र में इन दोनों भेदों को अनुक्रम से मिथ्याश्रुत और अंगप्रविष्ट के रूप में उल्लेखित किया गया है।⁵⁰ अनुयोगद्वार में श्रुतशब्द के अग्रांकित पर्यायवाची शब्द प्राप्त होते हैं - श्रुत, सूत्र, ग्रंथ, सिद्धान्त, शासन, आज्ञा, वचन, उपदेश, प्रज्ञापना और आगम ये सभी श्रुत के एकार्थक (पर्यायवाची) शब्द हैं।⁵¹

2. आवश्यकनिर्युक्ति के अनुसार

आवश्यक निर्युक्ति में अक्षर की दृष्टि और अक्षर, संज्ञी आदि की अपेक्षा से दो प्रकार से विचार किया गया है -

1. अक्षरों के संयोग असंख्यात होने से तथा अभिधेय अनंत होने से श्रुतज्ञान के अनन्त प्रकार हैं अर्थात् लोक में जितने अक्षर हैं और उनके जितने विविध संयोग हैं, उतने ही श्रुतज्ञान के भेद हैं अर्थात् इतनी ही श्रुतज्ञान की प्रकृतियाँ हैं। सब प्रकृतियों को कथन करने की मेरी शक्ति नहीं है।⁵²

46. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक 3.1.20

47. मतिपूर्वकत्वाविशेषाच्छ्रुताविशेष इति चेन्न, कारणभेदात्तद्भेदसिद्धेः। -राजवार्तिक 1.20.9, षट्खण्डागम पु. 9, 4.1.45 पु. 161

48. अनुयोगद्वार सूत्र, पृ. 29-38

49. आवश्यकनिर्युक्ति 28, विशेषावश्यकभाष्य 578

51. अनुयोगद्वार सूत्र, पृ. 38-39

50. अनुयोगद्वार सूत्र, पृ. 36-38, नंदीसूत्र पृ. 155

52. आवश्यकनिर्युक्ति गाथा 17-18

जिनभद्रगणि ने कहा है कि संयुक्त और असंयुक्त वर्णों के अनन्त संयोग होते हैं और प्रत्येक संयोग के स्व और पर पर्याय अनन्त होते हैं। श्रुतग्रंथों का अनुसरण करने वाले जितने वचन हैं, वे सब श्रुतज्ञान हैं। वे श्रुतानुसारी मतिविशेष के ही भेद हैं और वे अनन्त हैं।⁵³

2. आवश्यकनिर्युक्ति में श्रुतज्ञान के अक्षरश्रुत आदि चौदह भेदों का उल्लेख है, यथा 1. अक्षरश्रुत 2. अनक्षरश्रुत 3. संज्ञीश्रुत 4. असंज्ञीश्रुत 5. सम्यक्श्रुत 6. मिथ्याश्रुत 7. सादिश्रुत 8. अनादिश्रुत 9. सपर्यवसितश्रुत 10. अपर्यवसितश्रुत 11. गमिकश्रुत 12. अगमिकश्रुत 13. अंगप्रविष्टश्रुत 14. अंगबाह्यश्रुत।⁵⁴ नन्दीचूर्ण जिनदासगणि कहते हैं कि श्रुतज्ञानावरण के क्षयोपशम की अपेक्षा श्रुतज्ञान एक प्रकार का ही है। अक्षर आदि भावों की अपेक्षा वह चौदह प्रकार का है।⁵⁵ बाद वाले हरिभद्रादि आचार्यों ने भी चौदह भेदों का ही उल्लेख किया है।⁵⁶ निर्युक्ति में अनक्षर श्रुत के ही उदाहरण मिलते हैं, जबकि बाकी के भेदों के नामोल्लेख मात्र हैं। अनक्षर के सिवाय श्रुत भेदों का विचार नन्दीसूत्र, विशेषावश्यकभाष्य आदि में किया गया है।

3. षट्खण्डागम के अनुसार

षट्खण्डागम में श्रुतज्ञानावरण की संख्यात प्रकृतियाँ हैं अर्थात् जितने अक्षर हैं और जितने अक्षर के संयोग हैं, उतनी श्रुतज्ञानावरणीय कर्म की प्रकृतियाँ (भेद) हैं।⁵⁷ धवलाटीकाकार ने अक्षरों की संख्या का विस्तार से वर्णन किया है।⁵⁸ मुख्य रूप से श्रुतज्ञान के बीस भेद किये हैं - पर्याय, पर्यायसमास, अक्षर, अक्षरसमास, पद, पदसमास, संघात, संघातसमास, प्रतिपत्ति, प्रतिपत्तिसमास, अनुयोगद्वार, अनुयोगद्वारसमास, प्राभृतप्राभृत, प्राभृतप्राभृतसमास, प्राभृत, प्राभृतसमास, वस्तु, वस्तुसमास, पूर्व और पूर्वसमास।⁵⁹ यहाँ शंका होती है कि पूर्व में तो श्रुतज्ञान के संख्यात भेद बताये और पुनः श्रुत ज्ञान के भेदों की निश्चित संख्या बीस बता दी, इस भिन्नता का क्या कारण है। इसके समाधान में धवलाटीकाकार कहते हैं कि श्रुतज्ञान की जो संख्यात प्रकृतियाँ बताई हैं, वह अक्षरनिमित्तक भेदों की अपेक्षा से हैं, जबकि ये बीस भेद क्षयोपशम की अपेक्षा से आवरण के भेद हैं।

षट्खण्डागम में श्रुत के 41 पर्यायवाची शब्दों का उल्लेख है, यथा प्रावचन, प्रावचनीय, प्रवचनार्थ, गतियों में मार्गणता, आत्मा, परम्परा लब्धि, अनुत्तर, प्रवचन, प्रवचनी, प्रवचनाद्धा, प्रवचनसंनिकर्ष, नयविधि, नयान्तरविधि, भंगविधि, भंगविधिविशेष, पृच्छाविधि, पृच्छाविधिविशेष, तत्त्व, भूत, भव्य, भविष्यत्, अवितथ, अविहत, वेद, न्याय्य, शुद्ध, सम्यग्दृष्टि, हेतुवाद, नयवाद, प्रवरवाद, मार्गवाद, श्रुतवाद, परवाद, लौकिकवाद, लोकोत्तरीयवाद, अग्रय, मार्ग, यथानुमार्ग, पूर्व, यथानुपूर्व और पूर्वातिपूर्व।⁶⁰ संभवतया षट्खण्डागम काल में श्रुत के लिए उपर्युक्त शब्दों का प्रयोग होता हो, क्योंकि ये शब्द श्रुत की विशेषता के सूचक हैं। जिनकी स्पष्टता धवलाटीकाकार ने की है।

तुलना - आवश्यकनिर्युक्ति और षट्खण्डागम में श्रुतज्ञान के भेदों का विचार दो अपेक्षाओं से हुआ है - 1. **अक्षर की अपेक्षा से** - अक्षर की अपेक्षा से दोनों परम्पराओं में प्राप्त विचारणा में भेद है, निर्युक्तिकार अक्षर की अपेक्षा असंख्यात भेद मानते हैं, जबकि षट्खण्डागम में संख्यात भेद माने गये हैं।⁶¹

53. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 444-448, 451

54. आवश्यकनिर्युक्ति गाथा 18-19, विशेषावश्यकभाष्य 449, नन्दीसूत्र पृ. 146

55. सुतावरणखयोवसमत्तणतो एगविहं पि तं अक्खरादिभावे पडुच्च जाव अंगबाहिरं ति चोदसविधं भण्णति। -नन्दीचूर्ण पृ. 70-71

56. हरिभद्रीय नन्दीवृत्ति, पृ. 71, मलयगिरि पृ. 187, जैनतर्कभाषा पृ. 22

57. षट्खण्डागम, पु. 13 सू. 5.5.44-45, पृ. 247

58. षट्खण्डागम पु. 13 पृ. 249-260

59. षट्खण्डागम, पु. 13 सू. 5.5.47, पृ. 260

60. षट्खण्डागम, पु. 13, सू. 5.5.50 पृ. 280

61. आवश्यकनिर्युक्ति गाथा 17, विशेषावश्यकभाष्य गाथा 444, षट्खण्डागम, पु. 13, सू. 5.5.45, पृ. 247

2. अक्षरभिन्न की अपेक्षा से - आवश्यकनिर्युक्ति में अक्षर, संज्ञा आदि चौदह भेदों का वर्णन है, जबकि षट्खण्डागम में प्रमाण की अपेक्षा पर्याय आदि बीस भेदों का उल्लेख मिलता है।⁶²

श्वेताम्बराचार्य देवेन्द्रसूरि ने दोनों परम्पराओं का समन्वय करते हुए कर्मग्रंथ में आवश्यकनिर्युक्ति के आधार पर चौदह और षट्खण्डागम के आधार पर बीस भेदों का उल्लेख किया है।⁶³

4. तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार

तत्त्वार्थसूत्र की परंपरा में आवश्यकनिर्युक्ति के अक्षरश्रुतादि चौदह भेदों में से अंतिम दो भेदों अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य का उल्लेख है। अंगबाह्य के अनेक भेद (कालिक-उत्कालिक की अपेक्षा से) और अंगप्रविष्ट के बारह (आचारांग आदि) भेदों का वर्णन है।⁶⁴ तत्त्वार्थसूत्र में श्रुतज्ञान के मात्र दो भेदों के उल्लेख का कारण यह हो सकता है कि सूत्रकार ने संक्षिप्त शैली की प्रयोग किया अथवा आगमों का महत्त्व प्रतिपादन करने के लिए अक्षरश्रुत आदि भेदों की उपेक्षा करके दो ही भेदों का उल्लेख किया हो। लेकिन अकलंक ने अक्षर-अनक्षर का भी उल्लेख किया है।⁶⁵

नंदीकार और जिनदासगणि, हरिभद्र, मलयगिरि आदि नंदी के टीकाकार तथा यशोविजयजी ने निर्युक्तिगत चौदह भेदों, वीरसेचानाचार्य ने षट्खण्डागमगत भेदों एवं पूज्यपाद, अकलंक, विद्यानंद आदि आचार्यों ने तत्त्वार्थगत भेदों का समर्थन किया है। इस प्रकार एक ओर तो श्रुत के भेदों की चर्चा भिन्न-भिन्न प्रकार से हुई है, जबकि दूसरी ओर सिद्धसेन दिवाकर आदि आचार्यों ने मति और श्रुत को अभिन्न स्वीकार किया है।⁶⁶

समीक्षा - उपर्युक्त वर्णन में आवश्यकनिर्युक्ति के भेद अधिक उचित प्रतीत होते हैं, क्योंकि अनुयोगद्वार में जो श्रुत के भेद कहे गये हैं, वे तो एक प्राचीन कालीन निक्षेप पद्धति हैं, अतः वे श्रुत के वास्तविक भेद नहीं हो सकते हैं। षट्खण्डागमगत बीस भेद विस्तार पूर्वक हैं। जिनका संक्षिप्तिकरण निर्युक्ति के भेदों में हो सकता है। तत्त्वार्थसूत्र में जो दो भेद किये हैं, वह अतिसंक्षिप्त हैं, उनको कुशाग्रबुद्धि (व्युत्पन्नमति) वाले शिष्य ही समझ सकते हैं। सामान्यबुद्धि (अव्युत्पन्नमति) वाले शिष्य नहीं समझ सकते हैं। अतः आवश्यकनिर्युक्ति के अक्षरादि चौदह भेद ही अधिक तर्कसंगत और उचित प्रतीत होते हैं। जिभद्रगणि ने भी विशेषावश्यकभाष्य में भी इन्हीं चौदह भेदों का विस्तार से वर्णन किया है, जो कि निम्न प्रकार से हैं।

1. अक्षर श्रुत

अक्षर शब्द 'क्षर संचलने' धातु से बना है। जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण के अनुसार अनुपयोग काल में भी जिसका क्षरण (नाश) नहीं होता है, वह अक्षर है। अक्षर का सामान्य अर्थ ज्ञान (चेतना) है। अक्षर नैगमादि अशुद्ध नय से जीव के ज्ञान परिणाम रूप है और ऋजुसूत्रादि शुद्ध नय से ज्ञान क्षर (चलना) है, इसलिए वह अक्षर नहीं है, क्योंकि उपयोग अवस्था में ही ज्ञान होता है।⁶⁷ अनुपयोग अवस्था में ज्ञान नहीं होता है। इसको बृहद्वृत्ति में मलधारी हेमचन्द्र स्पष्ट करते हुए कहा है कि यदि अनुपयोगावस्था में ज्ञान स्वीकार करेंगे तो घटादि में भी ज्ञान मानना पड़ेगा। ऋजुसूत्रादि शुद्धनय की दृष्टि में मिट्टी आदि सभी पर्याय और घटादि सभी पदार्थ उत्पाद और व्यय स्वभाव वाले हैं, अतः क्षर

62. आवश्यकनिर्युक्ति गाथा 18, विशेषावश्यकभाष्य 449, षट्खण्डागम, पृ. 13 सू. 5.5.47, पृ. 260

63. कर्मग्रंथ भाग 1, गाथा 6-7

64. तत्त्वार्थसूत्र 1.20, तत्त्वार्थभाष्य 1.20

65. तत्त्वार्थराजवार्तिक 1.20.15

66. ज्ञानबिन्दुप्रकरणम्, पृ. 16-17

67. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 455

हैं। ज्ञान भी उत्पाद-नाश शील होने से क्षर (चलित) है, लेकिन नैगमादि अशुद्ध नय के मत से सभी भाव अवस्थित होने से ज्ञान भी अवस्थित अर्थात् अक्षर (अचलित) है। अभिलाप (कहने योग्य) विज्ञान की अपेक्षा से यह अक्षरता-अनक्षरता प्रतिपादित है।⁶⁸ जिनदासगणि, हरिभद्र और मलयगिरि का भी ऐसा ही मानना है।⁶⁹ घट व्योम आदि अभिलाष्य पदार्थ द्रव्यास्तिक नय की अपेक्षा से नित्य है, अतः अक्षर हैं और पर्यायास्तिक नय की अपेक्षा से अनित्य होने से क्षर (चलित) हैं।⁷⁰

इसका समर्थन अर्वाचीन विद्वान कन्हैयालाल लोढ़ा ने भी किया है। उनके अनुसार वर्तमान में अक्षर का अर्थ लिपि में आये वर्णमाला के अक्षर है, क्योंकि इस अक्षर के टुकड़े होने पर यह अर्थहीन, व्यर्थ हो जाता है। जैसा कि हम टेपरिकोर्डर में देखते हैं। जो निगोद का जीव अक्षर सुनता ही नहीं हैं, तो उसमें अक्षर ज्ञान कैसे हो सकता है? नहीं हो सकता। इससे स्पष्ट है कि आगम में अक्षर शब्द का प्रयोग हुआ है, वह अमरत्व, ध्रुवत्व अर्थ के रूप में ही हुआ है।⁷¹

जिनदासगणि ने नंदीचूर्ण में अक्षर की परिभाषा बताते हुए कहा है कि - जिसका कभी भी क्षरण नहीं होता, वह अक्षर है। ज्ञान अनुपयोग अवस्था में (विषय के प्रति एकाग्रता नहीं होने पर) भी नष्ट नहीं होता है, वह अक्षर है।⁷²

मलधारी हेमचन्द्र के अनुसार - अलग-अलग वर्णों के संयोग से जो अनन्त अर्थ प्रतिपादन करते हैं, लेकिन स्वयं क्षीण नहीं होते हैं, वे अक्षर कहलाते हैं।⁷³

आचार्य नेमीचन्द्र कहते हैं कि वाचक शब्द से वाच्यार्थ का ग्रहण अक्षरात्मक श्रुत है, और शीतादि स्पर्श में इष्टानिष्ट का होना अनक्षरात्मक श्रुत है।⁷⁴

श्रुतज्ञान के अक्षर-अनक्षर भेद क्यों?

प्रश्न - जो चलित नहीं होता है, वह अक्षर कहलाता है, इस अपेक्षा से मतिज्ञानादि पांचों ज्ञान अशुद्ध नय से अक्षर हैं, क्योंकि पांचों ज्ञान अपने स्वरूप से चलित नहीं होते हैं और नंदीसूत्र के अनुसार भी “सव्वजीवाणं पि य णं अक्खरस्स अणंतभागो, णिच्चुग्घाडिओ।” अर्थात् सभी जीवों के अक्षर का अनन्तवाँ भाग नित्य खुला रहता है। यहाँ भी सामान्य रूप से अक्षर शब्द से ज्ञान का ही ग्रहण किया गया है, श्रुतज्ञान का नहीं। इस प्रकार अशुद्धनय से तो ज्ञान ही अक्षर है, फिर श्रुतज्ञान के अक्षर-अनक्षर भेद क्यों किये हैं?

उत्तर - जिनभद्रगणि कहते हैं कि नैगमादि अशुद्धनय से भी ज्ञान और सभी भाव अक्षर (नित्य) हैं, अतः सम्पूर्ण ज्ञान सामान्य रूप से अक्षर हैं, फिर भी यहां श्रुतज्ञान का प्रसंग होने से श्रुतज्ञान को ही अक्षर कहा है अर्थात् रूढि (परम्परा) के अनुसार वर्ण को अक्षर कहते हैं, शेष ज्ञान को नहीं। बृहद्वृत्ति में मलधारी हेमचन्द्र ने दृष्टान्त के माध्यम से समझाया है कि जिस प्रकार ‘गच्छतीति गौः’ जो गमन करे वह गाय है, ‘पंके जातं पंकजं’ कीचड़ में जो उत्पन्न होता है, वह पंकज है। इस प्रकार सामान्य अर्थ का प्रतिपादन करते हुए शब्द भी रूढ़ि के वश विशेष अर्थ को प्रकट करते हैं। उसी प्रकार अक्षर शब्द से वर्ण का ही कथन होता है और वर्ण श्रुतरूप है। उसी को

68. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 456 की बृहद्वृत्ति, पृ. 215

69. नंदीचूर्ण पृ. 71, हरिभद्रीय नंदीवृत्ति, पृ. 71, मलयगिरि नंदीवृत्ति, पृ. 187

70. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 457

71. बन्ध तत्त्व, पृ. 11

72. नंदीचूर्ण, पृ. 71

73. अन्यान्यवर्णसंयोगेऽनन्तानर्थान् प्रतिपादयति, न च स्वयं क्षीयते येन, तेनाऽक्षरमिति।-वि०भाष्य गाथा 461 की बृहद्वृत्ति, पृ. 216

74. गोम्मटसार जीवकांड गाथा 316

अक्षर-अनक्षर रूप कहा जाता है। अन्यथा अशुद्ध नय के मत से सभी वस्तुएं स्वभाव से चलित नहीं होती हैं। इसलिए वे अक्षर रूप हैं। जिनभद्रगणिकक्षमाश्रमण के अनुसार अक्षर का सर्वद्रव्य पर्याय परिणाम वाला होने से अक्षर का विशेष अर्थ केवलज्ञान होता है। जिसका रूढ़ अर्थ श्रुतज्ञान होता है। क्योंकि रूढ़िवश अक्षर का अर्थ वर्ण है।⁷⁵ हरिभद्र और मलयगिरि ने इसका समर्थन किया है।⁷⁶

वर्ण का स्वरूप

वर्ण शब्द 'वर्ण' धातु से बना है। उसकी व्युत्पत्ति दो प्रकार से होती है - 1. 'वर्णिज्जइ जेणत्थो चित्तं विण्णेण वा (वर्ण्यते प्रकाश्यते: अर्थ: अनेन)' अर्थात् जैसे काला, नीला, लाल, पीला रंग (वर्ण) के चित्र का दीवार आदि पर प्रकाशन होता है, वैसे ही अकारादि वर्ण से घट-पट आदि अभिधेय अर्थ का प्रकाशन होता है। 2. 'वर्णिज्जइ दाइज्जइ भण्णइ तेणक्खरं वर्णो (वर्ण्यते दृश्यतेऽभिलप्यतेऽसौ इति वर्ण)' अर्थात् जो द्रव्य का वर्णन करता है, जो दिखता और बोलता है, वह वर्ण अक्षर कहलाता है। जिस प्रकार सफेद आदि गुण (वर्ण) से गाय आदि द्रव्य जैसे दिखाई देते हैं, वैसे ही अकारादि वर्णों से उस द्रव्य का निर्देश होता है, उससे भी उसे वर्ण कहते हैं।⁷⁷

वर्ण के भेद

वर्ण दो प्रकार के होते हैं - स्वर और व्यंजन।

1. स्वर

जिनभद्रगणिकक्षमाश्रमण के अनुसार 'अक्खरसरणेण सरा (अक्षरस्वरणेन स्वरा)' अर्थात् जो अक्षर का अनुसरण करे उसे स्वर कहते हैं। मलधारी हेमचन्द्र के अनुसार स्वर शब्द 'स्वृ शब्दोपतापयोः' धातु से बना है, अक्षरों के अनुसरण करण रूप स्वरण से अकारादि स्वर कहलाते हैं अथवा अक्षर, चैतन्य के अनुसरण से अकारादि स्वर कहलाते हैं। जो स्वतंत्र प्रकार से विष्णु आदि वस्तुओं का ज्ञान करते हैं, व्यंजनों के साथ संयुक्त होकर उनको उच्चारण के योग्य बनाते हैं⁷⁸ और शब्द के उच्चारण से अंतर्विज्ञान की अभिव्यक्ति को समर्थ बनाते हैं,⁷⁹ वे अकारादि स्वर कहलाते हैं। स्वर के बिना व्यंजनों के उच्चारण अर्थ का प्रतिपादन नहीं करते हैं। अथवा स्वर के बिना व्यंजन का उच्चारण नहीं होता है, अतः व्यंजन को उच्चारण योग्य बनाने वाले अकार आदि स्वर कहलाते हैं।

2. व्यंजन

व्यंजन शब्द वि+अज् धातु से बना है। जिनभद्र के अनुसार 'वंजणमवि वंजणेण अत्थस्स (व्यंजनमपि व्यंजनेनाऽर्थस्य)' अर्थात् अर्थ (पदार्थ) को प्रकट करने वाले को व्यंजन कहते हैं। जिस प्रकार दीपक से घट आदि बाह्य अर्थ की अभिव्यक्ति होती है, वैसे ही जो शब्द अर्थ वस्तु को प्रकट करे वह व्यंजन कहलाता है। व्यंजन के संयोग के बिना स्वर स्वतन्त्र रूप से बाह्य अर्थ को प्रायः प्रकट नहीं करते हैं। क्योंकि वाक्य में से व्यंजनों को निकाल देने पर शेष रहे स्वर विवक्षित अर्थ की अभिव्यक्ति नहीं करा सकते हैं।⁸⁰ मलयगिरि ने अक्षरश्रुत के प्रसंग में स्वर और व्यंजन का उल्लेख नहीं किया है। जो 'अ' 'क' आदि वर्णात्मक श्रुत है, उसे 'अक्षरश्रुत' कहते हैं।⁸¹

75. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 458-459 एवं बृहद्वृत्ति

76. हरिभद्रीय नंदीवृत्ति पृ. 74, मलयगिरि नंदीवृत्ति पृ. 201

77. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 460

78. स्वयमेव स्वरन्ति शब्दयन्ति विष्णुप्रमुखं वस्तु, व्यंजनानि चैते संयुक्ताः सन्तः स्वरयन्ति इति स्वराः।

- विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 461 की बृहद्वृत्ति

79. शब्दोच्चारणमन्तेरणाऽन्तर्विज्ञानस्य बोद्धुमशक्यत्वात्। - विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 460 की बृहद्वृत्ति

80. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 461-463

81. पारसमुनि, नंदीसूत्र पृ. 206

अक्षरश्रुत के प्रकार

नंदीसूत्र⁸² में अक्षरश्रुत के तीन भेद हैं - १. संज्ञाक्षर (लिपि) २. व्यंजनाक्षर (अक्षर-भाषा) तथा ३. लब्ध्याक्षर (लिपि, भाषा और वाच्यपदार्थ का ज्ञान)। **जिनभद्रगणि**, हरिभद्र, मलयगिरि और यशोविजयजी ने नंदीसूत्र के समान ही उल्लेख किया है।⁸³ जबकि जिनदासगणि ने अक्षर श्रुत के १. ज्ञानाक्षर, २. अभिलापाक्षर ३. वर्णाक्षर ये तीन भेद किये हैं।⁸⁴ मलयगिरि ने अक्षर श्रुत के लब्ध्याक्षर और वर्णाक्षर ये दो भेद करके संज्ञाक्षर और व्यंजनाक्षर का समावेश वर्णाक्षर में किया है। लब्ध्याक्षर भावश्रुत रूप है तथा संज्ञाक्षर और व्यंजनाक्षर द्रव्यश्रुत रूप होने से नंदीचूर्णिगत भेद भी उचित है।⁸⁵

१. संज्ञा अक्षरश्रुत

नियत अक्षर के आकार को संज्ञाक्षर कहते हैं।⁸⁶ अक्षरों के संस्थान-आकृति को अर्थात् लिपि को 'संज्ञाक्षर' कहते हैं।⁸⁷

संज्ञा शब्द के अनेक अर्थ होते हुए भी यहाँ संकेत अर्थ में संज्ञा शब्द का ग्रहण किया गया है। अक्षर के जिस संस्थान (आकृति) में जिस अर्थ के संकेत की स्थापना की जाती है, वह अक्षर उसी संकेत के अनुसार अर्थ का ज्ञान करता है अर्थात् पट्टी, पत्र, पुस्तक, पत्थर, धातु आदि पर लिखित निर्मित 'अ' 'क' आदि अक्षरों की आकृति को 'संज्ञाक्षर' कहते हैं, क्योंकि वह आकृति 'अ' 'क' आदि के जानने में निमित्तभूत है। लोग भी उसे 'अ' 'क' आदि रूप में ही व्यवहार में लाते हैं। इसलिए अकार आदि अक्षरों को संज्ञाक्षर कहा गया है।⁸⁸ हंसलिपि आदि अठारह प्रकार की लिपियों से सम्बद्ध अक्षरों का आकार संज्ञाक्षर है। जैसे अर्धचन्द्राकार टकार, घटाकार ठकार, वज्राकार वकार।⁸⁹

मलयगिरि ने नंदीवृत्ति में कहा है कि - पट्टिका आदि पर संस्थापित अक्षर की संस्थानाकृति संज्ञाक्षर कहलाती है। वह संस्थान ब्राह्मीलिपि आदि से अनेक प्रकार का है। जैसे नागरी लिपि में मध्य में स्फटित चूल्हे के समान रेखा वाला णकार। कुत्ते की टेढ़ी पूंछ की आकृति वाला ढकार।⁹⁰

संज्ञा अक्षर अर्थात् लिपियों के प्राचीन काल में अनेक भेद थे। जैसे-१. ब्राह्मी लिपि, २. यवन लिपि, ३. अंक लिपि, ४. गणित लिपि आदि। वर्तमान में भी हिन्दी, गुजराती, पंजाबी, तमिल आदि कई भेद पाये जाते हैं।

लिपि के अठारह प्रकार

मलधारी हेमचन्द्र ने बृहद्वृत्ति में मुख्य रूप से लिपि के अठारह भेद बताये हैं - १. हंसलिपि २. भूतलिपि ३. यक्षी ४. राक्षसी ५. उड़िया ६. यवनानी ७. तुरुष्की ८. कीरी ९. द्राविडी १०. सैन्धवी ११. मालविनी १२. नटी १३. नागरी १४. लाट १५. पारसी १६. अनिमित्ती १७. चाणक्यी १८. मूलदेवी। उक्त अठारह प्रकार की लिपि के भेद से नियत अक्षराकार रूप संज्ञा अक्षर है। वैसे संज्ञाक्षर लिपि के अनेक भेद होते हैं। जैसे कि अर्द्धचन्द्राकार टकार होता है, किसी लिपि में घटाकार ठकार होता है, इस

82. नंदीसूत्र पृ. 146

83. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 464, हरिभद्रीय पृ. 71, मलयगिरि पृ. 187, जैनतर्कभाषा पृ. 22

84. वत्थ अक्खरं तिविहं-नाणक्खरं, अभिलावक्खरं, वण्णक्खरं च। - नंदीचूर्णि, पृ. 71

85. मलयगिरि पृ. 188

86. '...निययं सण्णक्खरमक्खरागारो। (निययं संज्ञाक्षरमक्षराकारः।)' - विशेषावश्यकभाष्य गाथा 464

87. सण्णक्खरं अक्खरस्स संठाणागिई। - नंदीसूत्र पृ. 146

88. नंदीचूर्णि, पृ. 71

89. आवश्यकचूर्णि भाग 1 पृ. 26

90. मलयगिरि, नंदीवृत्ति, पृ. 188

प्रकार लिपि के अनेक प्रकार होते हैं।^१ समवायांग, प्रज्ञापना आदि में इन अठारह लिपियों के नाम कुछ प्रकार भेद से मिलते हैं। सभी लिपियों के अक्षर घुनाक्षरन्याय से संज्ञाक्षर होते हैं।

2. व्यञ्जन अक्षरश्रुत

जिस प्रकार दीपक घट को प्रकाशित करता है। उसी प्रकार जिससे अर्थ की अभिव्यक्ति हो उसे व्यंजन कहते हैं। अकार से हकार तक के भाष्यमाण शब्द उच्चारणकाल में व्यंजनाक्षर कहलाते हैं अर्थात् बोलते समय शब्द व्यंजनाक्षर है, क्योंकि वह शब्द के अर्थ को प्रकट करने वाला है।^२ अर्थात् श्रोता को अर्थ का ज्ञान हो सके, इस प्रकार अक्षरों के स्पष्ट उच्चारण को 'व्यंजन अक्षर' कहते हैं। जैसे दीपक से घट, पट आदि पदार्थ दृश्य होते हैं, वैसे ही भाषा से वक्ता के अभिप्राय ज्ञात होते हैं, इसलिए भाषा को 'व्यंजन अक्षर' कहते हैं। अर्द्धमागधी, संस्कृत आदि प्राचीन काल में भाषा के कई भेद थे। आज भी लोकभाषा, साहित्यभाषा आदि कई भेद पाये जाते हैं।

नंदीसूत्र के अनुसार – अक्षरों के स्पष्ट उच्चारण को अर्थात् भाषा को 'व्यंजनाक्षर' कहते हैं।^३ जिससे अर्थ की अभिव्यंजना हो, उसे व्यंजनाक्षर कहते हैं।^४

व्यंजनाक्षर अभिधेय से भिन्न भी है, अभिन्न भी है। 'मोदक' शब्द कहने से मुंह नहीं भरता, इस दृष्टि से वाच्य वाचक से भिन्न है। मोदक कहने से मोदक का ही संप्रत्यय होता है, तद्व्यतिरिक्त घट आदि का नहीं अतः वाच्य वाचक से अभिन्न भी है।^५

इस प्रकार संक्षेप में वर्ण के दो प्रकार होते हैं – संज्ञाक्षर और व्यंजनाक्षर। लिपि के रूप में आकार संज्ञाक्षर है और उसका उच्चारण व्यंजनाक्षर है।^६ चित्र से घट आदि का ज्ञान होता है, उससे चित्र को भी संज्ञाक्षर मानना पड़ता है, क्योंकि प्राचीन काल में प्रयुक्त हुई चित्र लिपि इस कथन का समर्थन करती है।

3. लब्धि अक्षरश्रुत

जिनभद्रगणि ने लब्ध्यक्षर के दो भेद किये हैं – 1. इन्द्रिय और मन के निमित्त से श्रुतग्रंथ के अनुसार ज्ञान और 2. तदावरणक्षयोपशम। इन्द्रिय और मन के निमित्त से होने वाला श्रुतग्रन्थानुसारी विज्ञान (श्रुतज्ञान का उपयोग) और श्रुतज्ञानावरण का क्षयोपशम ये दोनों लब्ध्यक्षर हैं।^७

जिनदासगणि और मलयगिरि ने प्रथम अर्थ और हरिभद्र और यशोविजयजी ने उपर्युक्त दोनों अर्थों का उल्लेख किया है।^८

नंदीसूत्र के अनुसार – अक्षर लब्धि वाले जीव को लब्धि, अक्षर उत्पन्न होता है।^९ शब्दार्थ को मतिज्ञान से ग्रहण कर या स्मरण कर, शब्द और अर्थगत वाच्य-वाचक सम्बन्ध की पर्यालोचनापूर्वक (शब्द उल्लेख सहित) शब्द व अर्थ (पदार्थ) जानना अर्थात् भावश्रुत को 'लब्धि अक्षर' कहते हैं।

91. मलधारी हेमचन्द्र गाथा 464 की बृहद्वृत्ति, भाग 1, पृ. 217

92. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 465

93. वंजणक्खरं — अक्खरस्स वंजणाभिलावो। - नंदीसूत्र पृ. 146

94. नंदीचूर्णि, पृ. 71

95. आवश्यकचूर्णि 1 पृ. 27

96. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 462-463, नंदीचूर्णि 72, हरिभद्रीय पृ. 72, मलयगिरि पृ. 188 जैनतर्कभाषा पृ. 22

97. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 466

98. नंदीचूर्णि, पृ. 71, हरिभद्रीय नंदीवृत्ति पृ. 72, मलयगिरि नंदीवृत्ति पृ. 188, जैनतर्कभाषा पृ. 22

99. लब्धिअक्खरं अक्खरलब्धियस्स लब्धिअक्खरं समुप्पज्जइ। - नंदीसूत्र, पृ. 146

धवला में अक्षरश्रुत के प्रकार

षट्खण्डागम में 'अक्खरावरणीयं, अक्खरसमासावरणीयं' का वर्णन है। अक्षरों के तीन प्रकारों का वर्णन धवलाटीका में प्राप्त होता है, जो निम्न प्रकार से हैं - लब्धि अक्षर, निर्वृत्यक्षर और संस्थान अक्षर।¹⁰⁰

1. लब्धि अक्षर - सूक्ष्म निगोद लब्धि अपर्याप्त से श्रुतकेवली तक के जीवों के ज्ञानावरण के क्षयोपशम से होने वाला ज्ञान लब्धि अक्षर है। जघन्य लब्ध्यक्षर सूक्ष्म निगोद लब्ध्यपर्याप्त और उत्कृष्ट लब्ध्यक्षर चौदह पूर्वी (श्रुतकेवली) के होता है।¹⁰¹ जिनभद्रगणि ने भी ऐसा ही उल्लेख किया है।¹⁰²

2. निर्वृत्यक्षर - जीवों के मुख से निकले हुए शब्द को निर्वृत्यक्षर कहते हैं। निर्वृत्ति अक्षर दो प्रकार के हैं - 1. व्यक्त निर्वृत्यक्षर और 2. अव्यक्त निर्वृत्यक्षर। व्यक्त निर्वृत्यक्षर संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीवों के और अव्यक्त निर्वृत्यक्षर द्वीन्द्रिय से संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीवों के होता है। यह व्यंजनाक्षर के समान है।

3. संस्थान अक्षर - 'यह वह अक्षर है' इस प्रकार अभेद रूप से बुद्धि में जो स्थापना होती है, या जो लिखा जाता है, उसे संस्थान अक्षर कहते हैं। संस्थानाक्षर को स्थापना अक्षर भी कहते हैं। इसके दो भेद हैं 1. 'यह वह अक्षर है' इस प्रकार अभेद रूप से बुद्धि में स्थापना होती है। इस भेद को भाव अक्षर रूप मान सकते हैं। 2. आकृतिविशेष, अर्थात् जो लिखने में आते हैं। आकृति विशेष संस्थान अक्षर जो कि विशेषावश्यकभाष्य में वर्णित संज्ञाक्षर के समान है। यहाँ श्रुतज्ञान के प्रसंग में धवलाटीकार के अनुसार केवल लब्ध्यक्षर ही ज्ञानाक्षर है।¹⁰³ इसकी न्यूनतम मात्र सूक्ष्म निगोद लब्धि अपर्याप्तक में मिलती है। इसका उत्कर्ष चतुर्दश पूर्वधर में मिलता है। धवला टीका में उपर्युक्त निर्वृत्यक्षर और संस्थान अक्षर के प्रभेदों का भी उल्लेख मिलता है। लेकिन श्वेताम्बर परम्परा में इनके प्रभेदों का स्पष्ट उल्लेख प्राप्त नहीं होता है।

द्रव्यश्रुत-भावश्रुत

संज्ञा अक्षर और व्यंजन अक्षर अर्थात् लिखी हुई लिपियाँ और उच्चरित भाषाएँ-'द्रव्य श्रुत' हैं, क्योंकि ये ज्ञान रूप नहीं हैं, परन्तु ज्ञान के लिए कारणभूत हैं तथा लब्धि अक्षर-'भावश्रुत' है, क्योंकि वह स्वयं ज्ञान रूप है, क्षयोपशमरूप है।¹⁰⁴ संज्ञाक्षर, व्यंजनाक्षर ये दोनों लब्ध्यक्षर से उत्पन्न होते हैं।

द्रव्यश्रुत और भावश्रुत के स्वरूप का वर्णन मतिज्ञान के प्रसंग पर विस्तार पूर्वक कर दिया गया है।¹⁰⁵

प्रमाता को लब्ध्यक्षर की प्राप्ति

किसी को इन्द्रिय और मन के निमित्त से व्यवहार प्रत्यक्ष होता है। किसी को धूमादि लिंग से होता है। जैसे धूमादि लिंग देखकर जो अग्नि आदि का ज्ञान होता है, उसको लिंग अनुमान समझना।

प्रश्न - लिंग ग्रहण और पूर्व सम्बन्ध के स्मरण के बाद लिंग का ज्ञान अनुमान कहलाता है और आपने लिंग को ही अनुमान कह दिया है, क्यों? उत्तर - यह शंका उचित है, लेकिन यहाँ कारण में कार्य का उपचार करके कथन किया है। जिस प्रकार प्रत्यक्ष ज्ञान के जनक घट को भी प्रत्यक्ष कहते हैं, वैसे ही लिंग अनुमान ज्ञान का कारण होने से लिंग को ही अनुमान मान लिया है। लब्ध्यक्षर ही

100. षट्खण्डागम, पुस्तक 13, सू. 5.5.42 पृ. 261-262

102. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 500

104. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 467-468

101. षट्खण्डागम, पु. 13, सू. 5.5.48, पृ. 265

103. षट्खण्डागम, पु. 13, सू. 5.5.48, पृ. 263-264

105. द्रष्टव्य - तृतीय अध्याय (मतिज्ञान), पृ. 134

श्रुतज्ञान है और वह इन्द्रिय और मन के निमित्त से व्यवहार प्रत्यक्ष है, आत्मप्रत्यक्ष नहीं है। वह दूसरे के सादृश्य होने से अनुमान है।¹⁰⁶

इस प्रसंग पर **जिनभद्रगणि** ने अनुमान के पांच प्रकारों का उल्लेख किया है - सादृश्य, विसदृश्य, उभयात्मक, उपमा और आगम।

1. सादृश्य अनुमान - प्रत्यक्ष पदार्थ में भी सादृश्य की अपेक्षा स्मृतिज्ञान उत्पन्न होता है। एक स्थान पर व्यक्ति को देखा, पुनः दूसरे स्थान पर उसका हमशक्ल देखने पर पहले वाले व्यक्ति की स्मृति होना सादृश्य अनुमान है।

2. विसदृश्य अनुमान - विपक्ष से भी स्मृति ज्ञान होता है। जैसे नकुल (नोलिया) को देखकर उसके विपक्ष भूत सर्प की स्मृति होना विसदृश्य अनुमान है।

3. उभय अनुमान - एक पदार्थ आदि को देखकर उससे दो अथवा अधिक पदार्थों की स्मृति होना उभय अनुमान है। जैसे खच्चर को देखकर गधे और घोड़े की स्मृति होना उभय अनुमान है।

4. उपमा अनुमान - उपमेय को देखकर उपमान की स्मृति होना उपमा अनुमान है। जैसे गवय (नीलगाय) को देखकर गाय की स्मृति होना उपमा अनुमान है।

5. आगम अनुमान - आगम वाक्यों से स्वर्गादि का ज्ञान होना आगम अनुमान है।

अनुमान के उपर्युक्त पांच भेद अनुमान से भिन्न नहीं हैं, क्योंकि अन्य सम्बन्ध से विवक्षित अर्थ का ज्ञान होता है। लेकिन किंचित् भेद से अनुमान के पांच ही नहीं और अधिक भेद हो जाते हैं।¹⁰⁷

इन्द्रिय ज्ञान अनुमान है

प्रत्यक्ष रहे हुए घटादि को साक्षात् देखकर जो ज्ञान होता है, धुएँ से जिस प्रकार अग्नि का ज्ञान होता है, उसी प्रकार इन्द्रिय और मन से होने वाला ज्ञान भी अनुमान ज्ञान ही है। क्योंकि इन्द्रिय और मन से होने वाला वह ज्ञान आत्मा की अपेक्षा से परोक्ष ही है। अतः यह ज्ञान अनुमान से भिन्न नहीं है। लेकिन इन्द्रिय और मन के निमित्त से साक्षात् अर्थ को देख कर जो ज्ञान होता है, उस ज्ञान को तो लोक में प्रत्यक्ष कहा जाता है, फिर आपने उसे अनुमान कैसे कहा है? **समाधान** - इन्द्रिय और मन के निमित्त से उत्पन्न होने से उसमें धूमादि अन्य लिंग की अपेक्षा नहीं होती है। इसलिए उस ज्ञान को उपचार से प्रत्यक्ष कहा जाता है। परमार्थ से तो वह अनुमान ही है।¹⁰⁸

अक्षरश्रुत के अधिकारी

जिनभद्रगणिकक्षमाश्रमण ने संज्ञी जीव के अलावा एकेन्द्रिय जीवों को भी लब्ध्यक्षर का स्वामी स्वीकार किया है। जिस प्रकार असंज्ञी के आहारादि संज्ञा, चैतन्य (जीवपना) स्वाभाविक ही प्रतीत होता है, उसी प्रकार एकेन्द्रिय में भी लब्ध्यक्षरात्मक बोधज्ञान है, परन्तु वह ज्ञान अल्प होने से प्रकट नहीं होता है। **जिनभद्रगणि** के अनुसार जैसे पृथ्वी आदि एकेन्द्रिय जीवों में पौद्गलिक इन्द्रियों का अभाव होने पर भी भावेन्द्रियाँ होती हैं, उसी प्रकार उनमें शब्दात्मक ज्ञान नहीं होने पर भी भावश्रुत होता है।¹⁰⁹ लेकिन भावश्रुत शब्द और अर्थ की पर्यालोचना से उत्पन्न होता है। शब्द और अर्थ की पर्यालोचना बिना अक्षर के संभव नहीं होती है। अक्षरलाभ परोपदेशजन्य है, अतः यह एकेन्द्रियों में कैसे होगा? **समाधान** - परोपदेश संज्ञाक्षर और व्यंजनाक्षर में आवश्यक है, लब्ध्यक्षर में नहीं, क्योंकि लब्ध्यक्षर क्षयोपशम और इन्द्रिय निमित्त से होता है, अतः असंज्ञी में भी पाया जाता है। अतः

106. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 469

107. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 470

108. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 471

109. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 103

ज्ञानावरण के किंचित् क्षयोपशम के कारण एकेन्द्रिय जीवों को अल्पतम अव्यक्त अक्षर लाभ होता है। जिस प्रकार मंदबुद्धि वाले व्यक्ति, बालक, गोपाल, गाय आदि को अक्षरों का ज्ञान नहीं होता है, तो भी उनके लब्ध्यक्षर हैं, जैसे गाय आदि के शबला, बहुला आदि नाम रखे जाते हैं और जब वे इन नामों को सुनते हैं, तो उनकी प्रवृत्ति और निवृत्ति होती है। इस प्रकार गाय आदि का ज्ञान परोपदेश नहीं, वह स्वयं का ही लब्ध्यक्षर है। इसी प्रकार असंज्ञी में भी लब्ध्यक्षर पाया जाता है।¹¹⁰ यशोविजयजी ने भी ऐसा ही उल्लेख किया है।¹¹¹ प्रसंगानुसार एकेन्द्रिय में श्रुतज्ञान कैसे होता है, इसका उल्लेख जिनभद्रगणि के अनुसार निम्न प्रकार से है।

एकेन्द्रिय में श्रुत

मतिज्ञान के वर्णन में विशेषावश्यक भाष्य की गाथा में श्रुतज्ञान का लक्षण करते हुए कहा है कि “इंद्रिय मणोनिमित्तं जं, विण्णाणं सुयाणुसारेणं। निययत्थुत्तिसमत्थं, तं भावसुयं मई इयरा।।”¹¹² अर्थात् श्रुत का अनुसरण कर इन्द्रिय और मन से उत्पन्न होने वाले ज्ञान जिसमें अपने निहित अर्थ को कहने का सामर्थ्य होता है, वह भावश्रुत है अर्थात् शब्दोल्लेख सहित ज्ञान ही श्रुतज्ञान है, इसके अलावा इन्द्रिय और मन से होने वाला शेष ज्ञान मति रूप ही होता है। इस लक्षण से एकेन्द्रिय में श्रुत ज्ञान नहीं हो सकता है, ऐसी शंका की गई है, जिसका युक्तियुक्त समाधान जिनभद्रगणि निम्न प्रकार से दिया है कि एकेन्द्रिय में भले ही द्रव्यश्रुत (शब्द) न हो, किन्तु भावश्रुत तो उसी प्रकार होता है, जिस प्रकार सोये हुए यति (मुनि) में होता है, केवली भगवान् ने सोये हुए मुनि के शब्द का अभाव होने पर भी श्रुतज्ञानावरण का क्षयोपशम होने से भावश्रुत का सद्भाव माना है, वैसे ही एकेन्द्रिय में भी मानना चाहिए। सोया हुआ साधु न तो किसी भी प्रकार का शब्द सुनता है और उसे तद्विषयक किसी भी प्रकार का विकल्प भी नहीं होता है, फिर भी उसमें श्रुत का अभाव नहीं मान सकते हैं, क्योंकि निद्रा से जागृत होने के बाद उसकी भावश्रुत में प्रवृत्ति होती है, इस आधार से व्यवहार में ऐसा माना जाता है कि निद्रावस्था में उसके भावश्रुत था, इसी प्रकार एकेन्द्रियों में द्रव्यश्रुत का अभाव होते हुए आवरण का क्षयोपशम होने से उनमें भावश्रुत का सद्भाव होता है, यथा लता, वृक्षादि में आहार-भयादि संज्ञाओं के चिह्न प्रत्यक्ष देखे जाते हैं।¹¹³

शंका - भाषालब्धि (बोलने की शक्ति) और श्रोत्रलब्धि (सुनने की शक्ति) वाले के ही भावश्रुत हो सकता है, अन्य के नहीं। इस अपेक्षा से सोए हुए साधु में तो भाषालब्धि और श्रोत्रलब्धि होती है क्योंकि नींद से जाग्रत होने के बाद उसकी प्रवृत्ति देखी जाती है, लेकिन यह एकेन्द्रिय में घटित नहीं हो सकता है, इसलिए उनमें भावश्रुत नहीं हो सकता है।¹¹⁴

समाधान - केवली भगवान् को छोड़कर शेष सभी संसारी जीवों में द्रव्येन्द्रियों का अभाव होते हुए भी तारतम्य भाव से (कम-ज्यादा) भावेन्द्रियाँ पाई जाती हैं, उसी प्रकार द्रव्यश्रुत का अभाव होते हुए भी पृथ्वीकाय आदि जीवों में भावश्रुत होता है। जैसे एकेन्द्रिय जीवों में पांच द्रव्येन्द्रियों में से मात्र एक द्रव्येन्द्रिय (स्पर्शनेन्द्रिय) पाई जाती है, शेष चार द्रव्येन्द्रियों के प्रतिबन्धक कर्मों का आवरण होने से अभाव होता है, लेकिन सूक्ष्म अव्यक्त लब्धि उपयोग रूप श्रोत्र आदि भावेन्द्रिय रूप कर्मों का क्षयोपशम होने से सूक्ष्म और अव्यक्त रूप से ज्ञान का सद्भाव होता है। उसी प्रकार पृथ्वी

110. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 474-476 टीका सहित

111. जैनतर्कभाषा पृ. 23

112. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 100

113. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 101

114. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 102

आदि एकेन्द्रिय जीवों में द्रव्येन्द्रिय तुल्य द्रव्यश्रुत के अभाव होने पर भी भावेन्द्रिय तुल्य भावश्रुत होता है, ऐसा मानना ही पड़ेगा। क्योंकि वनस्पति आदि एकेन्द्रिय में तो इसके स्पष्ट चिह्न प्राप्त होते हैं, यथा **श्रोत्रेन्द्रिय** – सुन्दर कण्ठ एवं मधुर पंचम स्वर से उद्गीत गीत-श्रवण से विरहक वृक्ष पर पुष्प उगजाते हैं। इससे उसमें श्रोत्रेन्द्रिय ज्ञान का स्पष्ट बोध होता है। **चक्षुरिन्द्रिय** – सुन्दर स्त्री की आंखों के कटाक्ष से तिलक वृक्ष पर फूल खिल जाते हैं। इससे चक्षुरिन्द्रिय ज्ञान का स्पष्ट अवरोध होता है। **घ्राणेन्द्रिय** – विविध सुगन्धित पदार्थों से मिश्रित निर्मल शीतल जल के सिंचन से चम्पक वृक्ष पर फूल प्रकट हो जाते हैं। इससे उसमें घ्राणेन्द्रिय-ज्ञान की स्पष्ट पुष्टि होती है। **रसनेन्द्रिय** – अतिशय रूप वाली तरुण स्त्री के मुख से प्रदत्त स्वच्छ सुस्वादु शराब के कुल्ले का आस्वादन करने से बकुल वृक्ष पर फूल निकल आते हैं। इससे उसमें रसनेन्द्रिय ज्ञान का स्पष्ट भान होता है।

इसी प्रकार **मलधारी हेमचन्द्र** बृहद्वृत्ति में एकेन्द्रिय जीवों में पांचों भावेन्द्रिय को घटित किया है। अतः एकेन्द्रिय जीवों में द्रव्येन्द्रियों का अभाव होते हुए भी भावेन्द्रिय जनित ज्ञान होता है। इसी प्रकार द्रव्यश्रुत के अभाव में भावश्रुत भी होता है जैसेकि वनस्पति के जीवों में आहारसंज्ञा है, खाद-पानी बराबर मिलने पर वह पल्लवित होती है और नहीं मिलने पर वह नष्ट हो जाती है। इसी प्रकार छुईमुई आदि को छूने से उसमें संकोच होता है, यह भयसंज्ञा, इसी प्रकार चम्पक, केशर, अशोक आदि वृक्षों में मैथुनसंज्ञा, बिल्व, पलाश आदि में परिग्रह संज्ञा भी होती है, क्योंकि उनकी जड़े गड़े हुए धन पर फैलती हैं। ये सभी संज्ञाएं भावश्रुत के बिना नहीं हो सकती हैं। अतः उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट होता है कि एकेन्द्रिय में द्रव्यश्रुत के अभाव में भी भावश्रुत पाया जाता है।¹¹⁵

शंका – भाषालब्धि और श्रोत्रलब्धि के अभाव में भी पृथ्वी आदि एकेन्द्रियों में स्पष्ट अनुपलब्ध ज्ञान का आपने सद्भाव सिद्ध किया है, तो इससे उनमें पांचों ज्ञानों के सद्भाव का प्रसंग उपस्थित होगा।

समाधान – आपका कथन सही नहीं क्योंकि एकेन्द्रिय में अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान, केवलज्ञान के आवरण का क्षयोपशम या क्षय नहीं होने से उनका सद्भाव नहीं होता है।¹¹⁶

सभी जीव एकेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय

जिनभद्रगणि के अनुसार एक समय में एक इन्द्रिय का ही उपयोग होता है, इसलिए उपयोग की दृष्टि से सभी जीव एकेन्द्रिय हैं। एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय आदि का भेद निर्वृत्ति, उपकरण और लब्धि इन्द्रिय की अपेक्षा से है तथा लब्धि इन्द्रिय की अपेक्षा सभी जीव पंचेन्द्रिय हैं।¹¹⁷ एकेन्द्रिय में पांचों भावेन्द्रियाँ पाई जाती हैं, ‘**पंचेदिउ व्व वउलो, नरो व्व सव्व-विसओवलंभाओ**’ अर्थात् सब विषयों का ज्ञान होने की योग्यता के कारण बकुश वृक्ष मनुष्य की तरह पांच इन्द्रियों वाला है।¹¹⁸ इसी प्रकार नंदी के टीकाकार मलयगिरि ने एकेन्द्रिय जीवों को भावेन्द्रियों की अपेक्षा पंचेन्द्रिय बताया है अर्थात् टीकाकारों और भाष्यकारों ने एकेन्द्रियों में एक द्रव्येन्द्रिय तथा पाँच भावेन्द्रियाँ मानी हैं।

आगमिक मत

यह कथन आगमानुकूल नहीं है। क्योंकि प्रज्ञापना सूत्र के पद 15 उद्देशक 2 के मूलपाठ “**एवं जस्स जति इंदिया तस्स तत्तिया भाणियव्वा जाव वेमाणियाणं।**” में एकेन्द्रिय में एक ही

115. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 103 एवं बृहद्वृत्ति

116. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 104

117. जो सविसयवावरो सो उवओगो से चेगकालम्मि। एणेण चेय तम्हा उवओगेगिंदिओ सव्वो।।

एगिंदियाइभेया पडुच्च सेसंदियाइ जीवाणं। अहवा पडुच्च लद्धिंदियं पि पंचिंदिया सव्वे।।- विशेषभाष्य, गाथा 2998-2999

118. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 3000-3001

भावेन्द्रिय बताई है, इसलिए एकेन्द्रिय में एक ही भावेन्द्रिय समझनी चाहिए। शब्दादि का स्पर्श होने से जो कार्य होते हैं। ये सभी कार्य स्पर्शनेन्द्रिय से ही हो सकते हैं। जैसे श्वास लेना नाक का कार्य है, भोजन करना जीभ का कार्य है, परन्तु एकेन्द्रिय जीव स्पर्शनेन्द्रिय से ही शेष चार इन्द्रियों के कार्यों को करते हैं और यह कार्य संज्ञा के अन्तर्गत हैं। प्रज्ञापनासूत्र के 8वें संज्ञा पद में एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के जीवों में आहारसंज्ञा से लेकर ओषसंज्ञा, लोकसंज्ञा तक दसों ही संज्ञाएं पाई जाती हैं। अतः आगमिक दृष्टि से तो एकेन्द्रिय में एक ही भावेन्द्रिय मानना उचित प्रतीत होता है।

प्रश्न - क्या एकेन्द्रियों को भी श्रुत (अ)ज्ञान होता है?

उत्तर - हाँ, पर वह सोये हुए या मद्य में मत्त मूर्च्छित प्राणी के श्रुत ज्ञान के सदृश अव्यक्त होता है। जब वे ऐकेन्द्रियादि जीव, क्षुधा-वेदन आदि के समय 'क्षुधा' शब्द और 'क्षुधा वेदना' इनमें निहित वाच्य-वाचक सम्बन्ध पर्यालोचना पूर्वक और 'मुझे भूख लगी है'-यों अन्तरंग शब्द उल्लेख सहित क्षुधा का वेदन करते हैं, तब उन्हें श्रुतज्ञान होता है, ऐसा समझना चाहिए।

आवश्यकचूर्णि के अनुसार असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीव घट, पट आदि पदार्थों को देखता हुआ भी नहीं जानता कि 'यह कुछ है।' अतः लब्ध्यक्षर प्रायः संज्ञी के होता है, असंज्ञी के नहीं।¹¹⁹ हरिभद्र आदि कुछेक आचार्यों ने विकलेन्द्रिय जीवों में लब्ध्यक्षर नहीं मानता है।¹²⁰ जबकि मलयगिरि ने दोनों मतों का उल्लेख किया है - 1. लब्ध्यक्षर अक्षरानुविद्ध ज्ञान है, इसलिए वह समनस्क जीवों के ही हो सकता है, अमनस्क जीव अक्षर को पढ़ नहीं सकते और उसके उच्चारण को समझ नहीं सकते हैं। अतः उनके लब्ध्यक्षर संभव नहीं है। 2. एकेन्द्रियादि जीवों में आहार आदि की अभिलाषा होती है। अभिलाषा प्रार्थना है और प्रार्थना अक्षरानुविद्ध होती है। इससे एकेन्द्रिय जीवों के भी लब्ध्यक्षर हो सकते हैं। अन्तर यह है कि वह अव्यक्त होता है।¹²¹ जिनदासगणि ने नंदीचूर्णि में इस विषय में किसी भी प्रकार का उल्लेख नहीं किया है। इस प्रकार लब्धि अक्षर के स्वामी के सम्बन्ध में पूर्वाचार्यों में मतभेद है।

एक अकार आदि की पर्याय

जिनभद्रगणि के अनुसार संयुक्त अक्षर जैसे व्याधि, सिद्धि और असंयुक्त अक्षर जैसे घट, पट आदि अक्षरों के संयोग अनन्त हैं, प्रत्येक संयोग अनन्त पर्याय वाला होता है। एक-एक अक्षर स्व-पर-पर्याय के भेद से भिन्न है। प्रत्येक अक्षर की स्व-पर्याय और पर-पर्याय धर्मास्ताकायादि सभी द्रव्यों की पर्यायरशि के समान है।¹²² इस त्रिलोक (ऊँचा, नीचा और तिर्यक् लोक) में जितने परमाणु, द्वयणुकादि और एक आकाशप्रदेशादि जो द्रव्य हैं, इन सभी को इकट्ठा करने पर जितनी राशि प्राप्त होती है, वह राशि एक अकारादि अक्षर की पर्याय के तुल्य है। उसमें अल्प रूप स्व-पर्याय (राशि से वह भी अनन्त है) और अधिक मात्रा में पर पर्याय है। स्व-पर्याय से पर-पर्याय अनन्त गुणा अधिक है।

बृहद्वृत्ति में मलधारी हेमचन्द्र ने दृष्टांत द्वारा समझाते हुए कहा है कि असत् कल्पना से सर्व द्रव्यों की पर्याय जो अनन्तानन्त है, उसको एक लाख प्रमाण तथा अकार इकार आदि वाच्य पदार्थों की संख्या एक हजार मानले। सर्व द्रव्यों की पर्याय संख्या में अकार आदि सभी वाच्य पर्यायों की संख्या का भाग देने पर एक अकार अक्षर की सम्बद्ध स्वपर्याय का प्रमाण सौ प्राप्त होता है।

119. आवश्यकचूर्णि भाग 1, पृ. 28

120. अनेन विकलेन्द्रियादिव्यवच्छेदमाह। हरिभद्रीय नंदीवृत्ति, पृ. 72

121. मलयगिरि, नंदीवृत्ति, पृ. 188

122. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 445, 477

(100000/1000=100) इस प्रकार स्व-पर्याय तो 100 तथा शेष 99900 पर-पर्याय होती है। वह उस अकार से अविद्यमान से सम्बद्ध है। यही प्रमाण इकारादि, परमाणु आदि की पर्याय का भी समझ लेना चाहिए।¹²³

अक्षर की स्व-पर पर्याय

अभिलाष्य वस्तु का कथन वर्णों के द्वारा होता है। अतः अभिलाष्य भाव अकार आदि वर्णों (अक्षर) की स्वपर्याय है। शेष अनभिलाष्य भाव अक्षर की पर-पर्याय है। अक्षर की स्व-पर्याय अल्प होने से परपर्याय के अनन्तवें भाग जितनी हैं और पर-पर्याय, स्व-पर्याय से अनन्तगुणा अधिक होती है।¹²⁴ अनभिलाष्य (अप्रज्ञापनीय) भावों का अनन्तवां भाग अभिलाष्य (प्रज्ञाननीय) भाव है। प्रज्ञापनीय भावों का अनन्तवां भाग श्रुतिनिबद्ध है।¹²⁵

अकार की स्व-पर्याय और पर-पर्याय - अन्य वर्णों से असंयुक्त अथवा संयुक्त अकार की उदात्त-अनुदात्त, सानुनासिक-निरनुनासिक आदि अस्तित्व से सम्बद्ध होने के कारण स्वपर्याय है और यह अनन्त है। शेष इकार, घट आदि की पर्याय नास्तित्व से सम्बद्ध होने के कारण अकार की पर-पर्याय है।¹²⁶ अर्थात् स्वपर्याय से भिन्न सभी पर्याय परपर्याय है। जैसे कि अकार वर्ण की अपेक्षा आकार, ककार आदि वर्णों की पर्याय और घट आदि वस्तु के रूप आदि पर्याय परपर्याय है। वह स्वपर्याय से अनन्तगुणा अधिक है। जिनदासगणि ने इसका समर्थन किया है।¹²⁷ मलयगिरि ने उदाहरण द्वारा समझाते हुए कहा है कि कर का अर्थ किरण होता है यह कर की एक प्रकार की पर्याय होती है। परन्तु जहां कर का अर्थ हाथ होता है यह कर की दूसरे प्रकार की पर्याय है। ऐसे कर, घट, पट आदि वाच्य अनन्त होने से अकार वर्ण की स्वपर्याय अनन्त है।¹²⁸ इसी प्रकार आकार, इकार आदि प्रत्येक अक्षर की पर्याय अनन्त है।¹²⁹ आवश्यकचूर्णि में स्व-पर्याय और परपर्याय के भी दो-दो भेद किए हैं - सम्बद्ध और असम्बद्ध। जैसे अकार की स्वपर्याय अपने अस्तित्व से सम्बद्ध है और नास्तित्व से असम्बद्ध है। अकार की वही स्वपर्याय अन्य अक्षरों के अस्तित्व से असंबद्ध है और उनके नास्तित्व से संबद्ध है। इसी प्रकार अकार की जो परपर्याय है, वह उसके नास्तित्व से संबद्ध है और अस्तित्व से असंबद्ध है तथा यह अन्य अक्षरों के अस्तित्व से सम्बद्ध और नास्तित्व से असंबद्ध है।¹³⁰

अकारादि की स्वपर्याय मूल वस्तु के साथ संबंधित हो सकती हैं, लेकिन परपर्याय किस प्रकार संबंधित हो सकती है? इस शंका का समाधान करते हुए **जिनभद्रगणि** कहते हैं कि -

1. अकार-इकारादि में स्वपर्याय अस्तित्व रूप से सम्बद्ध और उसकी परपर्याय नास्तित्व रूप से सम्बद्ध है। जैसेकि घट के साथ घट के अतिरिक्त द्रव्यों की पर्याय नास्तित्व धर्म से संयुक्त है।

2. घटादि पर्याय विद्यमान रूप से अक्षर से असम्बद्ध है, तो भी वह पर्याय अक्षर की है, क्योंकि अभाव रूप में वह उससे संयुक्त है। जैसे पुरुष के साथ चैतन्य संबंधित है वैसे ही धन संबंधित नहीं है। लेकिन स्वयं उपयोग आदि के कारण धन उसके साथ संबंधित माना जाता है।

3. जिस प्रकार सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र पर्यायों के गोचर स्वकार्य निष्पादक सर्वद्रव्य-पर्याय-स्वधन की अपेक्षा से भिन्न होते हुए भी श्रद्धा करने योग्य, जानने योग्य और क्रियाफल में उपयोगी

123. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 477 की बृहद्वृत्ति, पृ. 222

125. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 141

127. नंदीचूर्णि पृ. 83

129. नंदीचूर्णि पृ. 83

124. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 487-488

126. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 478

128. मलयगिरि पृ. 199

130. आवश्यकचूर्णि 1, पृ. 28-29

होने से वे सभी पर्यायें मुनि (यति) की ही मानी जाती हैं। उसी प्रकार ग्रहण करने रूप और त्याग करने रूप फल वाली प्रत्येक पर्याय अक्षर की है और उपलक्षण से घटादि की भी है।¹³¹

एक का ज्ञान सर्व का ज्ञान

जो स्व और पर समग्र पर्यायों से युक्त किसी एक भी वस्तु को जानता है, वह सम्पूर्ण लोक और अलोक में विद्यमान स्व-पर-पर्यायों से युक्त सर्व वस्तु को जानता है। क्योंकि एक वस्तु का परिज्ञान सर्व वस्तु के परिज्ञान का अविनाभावी है। जो समस्त पर्यायों से युक्त सर्व वस्तु को जानता है, वह सर्व पर्यायों से युक्त एक वस्तु को भी जानता है। क्योंकि सर्व वस्तु का परिज्ञान एक वस्तु के परिज्ञान का अविनाभावी है। आचारांग सूत्र के अनुसार 'जो एक को जानता है, वह सभी को जानता है और जो सभी को जानता है, वह एक को भी जानता है।'¹³² यह आगम वचन उपर्युक्त कथन का समर्थन करता है। अतः सर्वपर्याय सहित वस्तु नहीं जानने वाला एक अकार अक्षर को भी पूर्ण रूप से नहीं जानता है, तथा जिसको सभी वस्तुओं का ज्ञान होता है तभी वह एक अक्षर को सर्व प्रकार से जान सकता है।¹³³ मलयगिरि ने भी ऐसा ही उल्लेख किया है।¹³⁴ यहाँ श्रुतज्ञान का अधिकार होने से अक्षर की पर्याय का ही उल्लेख किया है, इसी प्रकार अन्य सभी वस्तु का भी अधिकार जान लेना चाहिए।¹³⁵

बृहद्वृत्ति के अनुसार आकाश के अलावा शेष सभी पदार्थों में स्व-पर्याय थोड़ी है और पर-पर्याय उससे अनन्त गुणा है। परन्तु आकाश लोक और अलोक में होने के कारण शेष सभी पदार्थों के समूह से अनन्त गुणा है और शेष सभी पदार्थ उसके अनन्तवें भाग जितने हैं। इसलिए आकाश की पर-पर्याय अल्प और स्वपर्याय उससे अनन्त गुणा अधिक है।¹³⁶

सारांश यह है कि अकार के उदात्तादि 18 भेद स्वपर्याय रूप हैं, शेष सब पर पर्याय हैं। आकाश को छोड़कर सब द्रव्यों के परपर्याय अनन्तगुणा होते हैं। आकाश के स्वपर्याय से पर पर्याय अनन्तवें भाग प्रमाण होते हैं।

इस प्रकार **जिनभद्रगणिकक्षमाश्रमण** के अनुसार श्रुत (अक्षर) का भी सर्वद्रव्यपर्यायपरिमाणत्व है। क्योंकि नंदीसूत्र¹³⁷ में अक्षर को शब्दतः आकाश-प्रदेश पर्याय परिणाम कहा है। परंतु धर्मास्तिकाय आदि द्रव्यों की पर्याय आकाशप्रदेश की अपेक्षा कम होने से उनका समावेश भी अर्थतः समझ लेना चाहिए। इससे अक्षर की सर्वद्रव्यपर्यायपरिमाणता में कोई बाधा प्राप्त नहीं होती है। सर्वद्रव्यपर्यायपरिमाणत्व का नियम एक वर्ण पर भी लागू होगा क्योंकि वर्ण की स्वपर्याय और परपर्याय मिलकर ही वर्ण सर्वद्रव्यपर्यायपरिमाण मय होता है। नंदीसूत्र में अक्षर की पर्याय के वर्णन में धर्मास्तिकाय आदि द्रव्य की पर्याय अल्प होने का उल्लेख नहीं किया गया है। वीतराग देव ने एक-एक आकाश प्रदेश में अगुरुलघु पर्याय अनन्त कही है, इस अपेक्षा से आकाश की पर्याय अनन्त है।¹³⁸

नंदीचूर्णिकार के अनुसार ज्ञानाक्षर, वर्णाक्षर और ज्ञेयाक्षर तीनों अनन्त हैं।¹³⁹ प्रस्तुत संदर्भ में ज्ञानात्मक अक्षर ही विवक्षित है। उसका अनन्तवां भाग सदा अनावृत्त रहता है। यही जीव और अजीव की भेद रेखा का निर्माण करता है।

131. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 479-483

132. आचारांग श्रु. 1, अ. 3, उ. 4

133. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 484-485, मलधारी हेमचन्द्र बृहद्वृत्ति पृ. 225

134. मलगिरि, नंदीवृत्ति, पृ. 200

135. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 486-486

136. मलधारी हेमचन्द्र, बृहद्वृत्ति, पृ. 227

137. सव्वागासपएसगं सव्वागासपएसेहिं अणंतगुणियं पज्जवक्खरं णिप्फज्जइ। - नंदीसूत्र, पृ. 157

138. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 489-491

139. नंदीचूर्णि पृ. 83-84

शंका - नंदीसूत्र में सामान्य रूप से ही ज्ञानाक्षर का प्रतिपादन किया गया है। लेकिन विशेषावश्यकभाष्य की गाथा 497 और नंदीसूत्र के अनुसार “सभी जीवों में पर्यवाक्षर का अनन्तवाँ भाग नित्य खुला रहता है।”¹⁴⁰ विशेषावश्यकभाष्य गाथा 496 में अक्षर का सम्बन्ध श्रुतज्ञान और केवलज्ञान दोनों से बतलाया गया है। यह पर्यवाक्षर श्रुताक्षर नहीं हो सकता है, क्योंकि सम्पूर्ण द्वादशांगी जानने वाले के सम्पूर्ण श्रुताक्षर होता है। उसकी अपेक्षा सभी जीवों के अक्षर का अनन्तवाँ भाग नित्य अनावृत्त रहता है, ऐसा अर्थ प्राप्त नहीं होता है। अतः यह कथन केवलाक्षर की अपेक्षा से होना चाहिए। क्योंकि अनन्त पर्याय युक्त होने से अक्षर शब्द से केवलज्ञान ग्रहण किया जाता है। अतः श्रुताक्षर केवलज्ञान की पर्याय के समान कैसे है? क्योंकि श्रुतज्ञान का विषय केवलज्ञान के अनन्तवें भाग जितना होता है। अतः केवलज्ञान की पर्याय के तुल्य श्रुताक्षर की पर्याय का प्रमाण कैसे हो सकता है।

समाधान - **जिनभद्रगणि** कहते हैं कि यह सही नहीं है। क्योंकि केवलाक्षर में भी उपर्युक्त अर्थ घटित नहीं होता है। अथवा यहाँ सामान्य से सभी जीवों का कथन करने के बाद अपि¹⁴¹ शब्द से केवली के सिवाय के दूसरे सभी जीवों के अक्षर का अनन्तवाँ भाग खुला रहता है, ऐसा अर्थ करने पर केवलाक्षर मानने में कोई विरोध नहीं है। इस न्याय से तो जिस प्रकार केवलाक्षर का अर्थ घटित किया गया है, उसी प्रकार श्रुताक्षर का भी अर्थ घटित हो जाता है। जैसे सामान्य कथन में अपि शब्द से केवली को छोड़कर शेष जीवों का कथन कर रहे हैं, उसी प्रकार सामान्य से सभी जीवों का कथन करके अपि शब्द से सम्पूर्ण द्वादशांगी जानने के अलावा शेष जीवों के अक्षर का अनन्तवाँ भाग नित्य अनावृत्त रहता है, ऐसा कह सकते हैं। अतः यहाँ पर अकारादि से श्रुताक्षर ही कहा है, लेकिन केवलाक्षर नहीं।¹⁴²

श्रुतज्ञान और केवलज्ञान की पर्याय

श्रुताक्षर की मात्र स्व-पर्याय अथवा पर-पर्याय केवलज्ञानी की पर्याय के बराबर नहीं है। जबकि श्रुताक्षर की स्व और पर पर्याय उभय रूप से मिलाकर ही केवलज्ञान की पर्याय के तुल्य है अर्थात् केवलज्ञान की पर्याय की अपेक्षा से श्रुत की स्व-पर पर्याय सर्वद्रव्य की पर्याय राशि के बराबर है।¹⁴³ श्रुतज्ञान या प्रत्येक अक्षर के द्वारा जितना जाना जाता है, वह उसकी स्वपर्याय होती है। केवलज्ञान के द्वारा जानी जाने वाली शेष सभी पर्याय उस श्रुत या अक्षर की पर पर्याय होती है। इस प्रकार श्रुतज्ञान की स्व-पर पर्याय मिलकर केवलज्ञान की स्वपर्याय के तुल्य होती है। श्रुत की स्वपर्याय सर्व पर्यायों के अनन्तवें भाग जितनी होने से श्रुतज्ञान की पर्याय से केवलज्ञान की पर्याय अनन्त गुण अधिक होती है।

स्व-पर पर्याय रूप विशेष रहित सामान्य से अनन्तपर्याय युक्त केवलज्ञान अविशेष है। ऐसा अविशेष केवलज्ञान मात्र स्व-पर्याय से ही सर्वद्रव्य पर्याय की राशि के प्रमाण जितना है। जबकि श्रुतज्ञान तो स्व-पर पर्याय मिलाकर सर्वद्रव्य पर्याय की राशि जितना होता है, यह केवलज्ञान और श्रुतज्ञान में अन्तर है। वास्तव में तो केवलज्ञान की स्व-पर्याय पर-पर्याय युक्त ही है। लेकिन वस्तु स्वभाव से तो केवलज्ञान स्व-पर पर्याय के भेद से भिन्न है, क्योंकि केवलज्ञान जीव का स्वभाव है और घटादि उससे भिन्न है।¹⁴⁴

140. सव्वजीवा णं पि य णं अक्खरस्स अणंतभागो, णिच्चुग्घाडिओ। - नदीसूत्र, पृ. 157

141. ...केवलिवज्जाणं तिविहभेओऽवि। - विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 497

142. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 492

143. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 493

144. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 494-495

अक्षर का पर्यवपरिमाण

जिनभद्रगणि कहते हैं कि सभी जीवों के जघन्य अक्षर का अनन्तवां भाग खुला रहना उसके चैतन्य का कारण है, यदि यह भाग भी आवरित हो जाए तो जीव अजीववत् हो जाएगा। जिस प्रकार सूर्य के आगे मेघों का प्रगाढ़ आवरण आने पर भी दिवस और रात्रि का भेद स्पष्ट होता है। उसी प्रकार अक्षर का अनन्तवां भाग जीव के अनावृत्त रहता है।¹⁴⁵

सर्व आकाश के जितने प्रदेश हैं, उन्हें सर्व आकाश के प्रदेशों से अर्थात् उन्हें उतने ही प्रदेशों से अनन्तवार गुणा करने पर जितना परिमाण प्राप्त होता है, उतने ही परिमाण में 'पर्यवाक्षर' (अक्षर के पर्यव) होते हैं¹⁴⁶ अर्थात् ज्ञान का परिमाण लोकाकाश और अलोकाकाश, यों सर्व आकाश के जितने प्रदेश हैं, उन्हें सर्व आकाश के समस्त प्रदेशों के द्वारा अनन्तवार गुणित किया जाये तथा उपलक्षण से धर्मास्तिकाय आदि शेष द्रव्यों के प्रदेशों को भी उनके उतने ही प्रदेशों से अनन्तवार गुणित किया जाये तब जितना गुणनफल होगा उतने अक्षर के अर्थात् केवलज्ञान के पर्यव हैं, या श्रुतज्ञान के स्व-पर पर्यव हैं। नंदीसूत्र के उपर्युक्त पाठ से अक्षर अथवा केवलज्ञान का प्रमाण ज्ञेय के आधार पर समझाया गया है। अक्षर अथवा केवलज्ञान का परिमाण इतना ही होता है।¹⁴⁷

कौनसे ज्ञान का अनन्तवां भाग अनावृत्त रहता है ?

उपर्युक्त वर्णन के अनुसार सभी जीवों को पर्यवाक्षर का अनन्तवां भाग नित्य खुला रहता है।¹⁴⁸ श्रुत की अनादिता-सभी जीवों को-जिन्हें ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय का उत्कृष्ट उदय है, जिसके कारण जो पूर्वोक्त तीनों प्रकार की संज्ञा से रहित हैं और स्त्यानगृद्धि निद्रा में हैं-ऐसे निगोद जीवों को भी अक्षर का (केवलज्ञान का) या श्रुतज्ञान का अनन्तवां भाग नित्य (अनादिकाल से) खुला (उघड़ा) रहता है।

जिनभद्रगणिकक्षमाश्रमण के अनुसार जघन्य अक्षर का अनन्तवां भाग पृथ्वीकाय आदि एकेन्द्रिय जीवों में होता है। उत्कृष्ट अक्षर का अनन्तवां भाग उत्कृष्ट श्रुतज्ञानी के होता है। जघन्य और उत्कृष्ट के स्वामियों को छोड़कर शेष द्वीन्द्रियादि जीवों के षट्स्थानपतित मध्यम रूप से अक्षर का अनन्तवां भाग होता है, जो कि द्वीन्द्रियादि जीवों में क्रमशः विशुद्ध होता है।¹⁴⁹ जबकि जिनदासगणि, हरिभद्र¹⁵⁰ और मलयगिरि ने जघन्य और मध्यम इन दो प्रकारों का ही उल्लेख किया है।¹⁵¹ अतः यहाँ अक्षर का तात्पर्य श्रुताक्षर है।

केवलज्ञान का कोई विभाग नहीं होता है, इसलिए ज्ञान के विकास का अनन्तवां भाग उससे सम्बद्ध नहीं है। अवधिज्ञान की प्रकृति अंसख्यात है। इसलिए ज्ञान का अनन्तवां भाग अविधिज्ञान से सम्बद्ध नहीं हो सकता है। मनःपर्यवज्ञान की प्रकृति अवधिज्ञान से भी कम है। अवधिज्ञान और मनःपर्यवज्ञान नित्य अनावृत्त नहीं रहते हैं। शेष दो ज्ञान मति और श्रुत ये दोनों ज्ञान सहचारी हैं। इसलिए श्रुतज्ञानात्मक अक्षर का अनन्तवां भाग अनावृत्त रहता है। अतः जिनभद्रगणिकक्षमाश्रमण के अनुसार अक्षर का अर्थ श्रुताक्षर है।

145. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 497-498

146. सव्वागासपएसगं सव्वागासपएसेहिं अणंतगुणियं पज्जवक्खरं णिप्फज्जइ। - नंदीसूत्र, पृ. 157

147. नंदीचूर्णि पृ. 82-83

148. सव्वजीवाणं पि अ णं अक्खरस्स अणंतभागो, णिच्चुग्घाडिओ। - नंदीसूत्र पृ. 157

149. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 499-500

150. नंदीचूर्णि, पृ. 84, हरिभद्रीय, नंदीवृत्ति पृ. 87

151. 'श्रुतस्य जन्तूनां जघन्यो मध्यमो वा द्रष्टव्यो, न तूत्कृष्ट इति स्थितम्।' - मलयगिरि नंदीवृत्ति पृ. 201

जिनभद्रगणिक्षमाश्रमण ने मतान्तर का उल्लेख करते हुए कहा है कि अक्षर का सम्बन्ध केवलज्ञान और श्रुतज्ञान दोनों से है। अक्षर की पर्याय का परिमाण सामान्य रूप से निरूपित है। यहाँ अक्षर का सम्बन्ध श्रुत-अक्षर और केवल-अक्षर दोनों के साथ जोड़ा जा सकता है। श्रुत-अक्षर के जितने स्व-पर पर्याय हैं, उतने ही पर्याय केवल-अक्षर के हैं।¹⁵² ऐसा ही उल्लेख षट्खण्डागम में भी प्राप्त होता है, उनके अनुसार लब्ध्यक्षर ज्ञान अक्षरसंज्ञक केवल का अनन्तवां भाग है।¹⁵³ अतएव सिद्ध हुआ कि जीव के (केवलज्ञान या) श्रुतज्ञान का अनन्तवाँ भाग नित्य उघड़ा रहता है।

आचार्य महाप्रज्ञजी ने उपर्युक्त चर्चा में प्राप्त दो मतों का समन्वय इस प्रकार से किया है कि ज्ञान की भेद सहित विवक्षा करेंगे तब तो लब्ध्यक्षर का सम्बन्ध मतिज्ञान और श्रुतज्ञान से करना होगा एवं ज्ञान से सामान्य रूप से केवलज्ञान का ग्रहण करते हैं तो लब्ध्यक्षर को केवलज्ञान का अनन्तवां भाग स्वीकार करने में बाधा नहीं होगी।¹⁵⁴

दिगम्बर परम्परा के अनुसार

वीरसेनाचार्य के अनुसार सूक्ष्म निगोदिया जीव के ज्ञान को अक्षर कहा जाता है, क्योंकि यह ज्ञान नाश के बिना एक स्वरूप से अवस्थित रहता है अथवा केवलज्ञान अक्षर है, क्योंकि उसमें वृद्धि और हानि नहीं होती है। द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा चूंकि सूक्ष्म निगोद लब्ध्यपर्याप्तक का ज्ञान भी वही है, इसलिए भी इस ज्ञान को अक्षर कहते हैं।¹⁵⁵

अक्षर ज्ञान में कौन सा अक्षर इष्ट है

अक्षर ज्ञान में लब्ध्यक्षर, निर्वृत्यक्षर और संस्थानाक्षर में से लब्धि अक्षर उपयोगी होता है। जबकि निर्वृत्यक्षर और संस्थानाक्षर से नहीं, क्योंकि वे जड़ स्वरूप हैं।¹⁵⁶ लब्ध्यक्षर का प्रमाण केवलज्ञान का अनन्तवां भाग है। लब्ध्यक्षर ज्ञान निरावरण है, क्योंकि अक्षर का अनन्तवां भाग हमेशा अनावृत्त रहा है। लब्ध्यक्षर ज्ञान में सब जीव राशि का भाग देने पर सब जीव राशि से अनन्तवें गुण ज्ञानाविभाग प्रतिच्छेदक होते हैं।¹⁵⁷ सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीव के उत्पन्न होने के प्रथम समय में सबसे जघन्य ज्ञान होता है, इसी को प्रायः लब्ध्यक्षर ज्ञान कहते हैं। इतना ज्ञान हमेशा निरावरण तथा प्रकाशमान रहता है।

श्रुत की अनादिता

उपर्युक्त वर्णन के अनुसार जीव के (केवलज्ञान या) श्रुतज्ञान का अनन्तवाँ भाग नित्य उघड़ा रहता है अर्थात् जीव में ज्ञान रहता है। ज्ञान का यह अनन्तवाँ भाग ही जीव और अजीव में भेद करता है। इससे सिद्ध होता है कि जब से जीव है तब से ही उसमें ज्ञान है। जैन दर्शन के अनुसार जीव अनादि अनन्त है। इसलिए श्रुत भी अनादि है। श्रुत सादि सपर्यवसित और अनादि अपर्यवसित है।¹⁵⁸ श्रुत के समान मति को भी अनादि समझना चाहिए, क्योंकि जहाँ श्रुतज्ञान है, वहाँ नियम से मतिज्ञान है।

लब्ध्यक्षर के भेद

नंदीसूत्र में लब्ध्यक्षर के श्रोत्र आदि पांच ज्ञानेन्द्रिय जन्य और मनोजन्य रूप छह भेद होते हैं, यथा— 1. श्रोत्रेन्द्रिय लब्ध्यक्षर, 2. चक्षुरिन्द्रिय लब्ध्यक्षर, 3. घ्राणेन्द्रिय लब्ध्यक्षर, 4. जिह्वेन्द्रिय

152. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 496

153. तं पुण लद्धिअक्खरं अक्खरसण्णिदस्स केवलणाणस्स अणंतिमभागो। - षट्खण्डागम पु. 13 पृ. 263

154. आचार्य महाप्रज्ञ, नंदीसूत्र पृ. 126

155. षट्खण्डागम, पु. 13, सू. 5.5.48 पृ. 262

156. षट्खण्डागम, पु. 5.5.48 पृ. 265

157. षट्खण्डागम, पु. 13, सू. 5.5.48 पृ. 262

158. से तं साइअं सपज्जवसिअं, से तं अणाइअं अपज्जवसिअं। - नंदीसूत्र, पृ. 158

लब्ध्यक्षर, 5. स्पर्शनेन्द्रिय लब्ध्यक्षर तथा 6. अनिन्द्रिय लब्ध्यक्षर।¹⁵⁹ नंदीसूत्र के बाद के व्याख्याकारों ने भी इन भेदों का उल्लेख किया है। विशेषावश्यकभाष्य में इन भेदों का स्पष्ट रूप से उल्लेख प्राप्त नहीं होता है।

विशेषावश्यकभाष्य की गाथा 117 'सोइंदिओवलद्धी होई सुयं सेसयं तु मइनाणं। मोत्तूण दव्वसुयं अक्खरलंभो य सेसेसु।' के अनुसार यह मान सकते हैं कि **जिनभद्रगणि** ने पूर्व में श्रुत को श्रोत्रेन्द्रियोपलब्धिरूप माना है। नंदी में लब्ध्यक्षर के छह भेदों का उल्लेख है, इससे **जिनभद्रगणि** श्रोत्रेन्द्रियोपलब्धि में अन्य इन्द्रियजन्य अक्षरलाभ को समाविष्ट करके उक्त भेदों की संगति बैठाते हैं।¹⁶⁰ जिनदासगणि ने लब्ध्यक्षर को पंचविध माना है।¹⁶¹ उन्होंने मनोजन्य अक्षरलाभ को स्वीकार नहीं किया है। नंदी के टीकाकारों ने उक्त भेदों को समझाते हुए बताया है कि श्रोत्रेन्द्रिय से शब्द सुनने पर 'यह शंख का शब्द है' इत्यादि अक्षरमय शब्दार्थपर्यालोचन से जो ज्ञान होता है, वह श्रोत्रेन्द्रियलब्ध्यक्षर है, क्योंकि वह श्रोत्रेन्द्रिय के निमित्त से हुआ है।¹⁶² आंख से आम्रफल देखने पर 'आम्रफल' इस प्रकार जो अक्षरानुविद्धज्ञान है, वह शब्दार्थपर्यालोचनात्मक ज्ञान होता है, वह चक्षुइन्द्रिय लब्ध्यक्षर है, इत्यादि।¹⁶³

अकलंक के अनुसार ईहा आदि में शब्दोल्लेख होता है, तो वह श्रुतज्ञान नहीं है। क्योंकि अवग्रह आदि में संकेत के समय में श्रुतानुसारित्व होता है, लेकिन व्यवहार काल श्रुतानुसारित्व नहीं होता है। अभ्यास के कारण श्रुत के अनुसरण के बिना भी ज्ञप्ति होती है। इससे श्रुत का अनुसरण किये बिना इन्द्रियमनोनिमित्त ज्ञप्ति मति है, जबकि श्रुतानुसारी ज्ञप्ति श्रुत है। शब्दानुयोजना पूर्व की ज्ञप्ति मति है, जबकि शब्दानुयोजनायुक्त ज्ञप्ति श्रुत है।¹⁶⁴

2. अनक्षर श्रुत

श्रुतज्ञान के प्रथम भेद अक्षर श्रुत के विपरीत द्वितीय अनक्षरश्रुत का स्वरूप निम्न प्रकार से है। भाषा अक्षरात्मक और अनक्षरात्मक दोनों प्रकार की होती है। जहां जीव का बोलने का प्रयत्न हो और भाषा वर्णात्मक न हो, वह नो अक्षरात्मक बन जाती है। उच्छ्वास-निःश्वास बोलने रूप प्रयत्न से उत्पन्न नहीं है। अतः भाषात्मक नहीं है। फिर भी श्रुतज्ञान का कारण है। इसलिए इन्हें अनक्षर श्रुत माना गया है अर्थात् जो ध्वनिमय अभिप्राय से युक्त हो और जिसे अक्षर रूप में लिपिबद्ध नहीं किया जा सकता है, वह अनक्षर श्रुत है।

नंदीसूत्र के अनुसार जो 'अ' 'क' आदि वर्ण रहित श्रुत है, उसे 'अनक्षर श्रुत' कहते हैं। अनक्षरश्रुत के अनेक भेद हैं।.....1. श्वास लेना, 2. श्वास छोड़ना, 3. थूकना 4. खांसना, 5. छींकना, 6. 'गूं-गूं' करना 7. अधोवायु करना, 8. सुड़सुड़ाना।¹⁶⁵ इसी प्रकार सभी संकेतादि भी अनक्षर श्रुत रूप ही हैं। यहाँ शाब्दिक अर्थ ही दिया है। '**सुणिति इति सुयं**' - जो सुना जाता है, वह श्रुत है। इसलिए यहाँ छींकादि के उदाहरण दिये गये हैं। किन्तु पांचों इन्द्रियों से भी किये गये संकेत द्रव्यश्रुत रूप ही हैं।

159. नंदीसूत्र, पृ. 146

160. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 124

161. तंच पंचविहं सोइंदियादि। - नंदीचूर्णि, पृ. 71

162. नंदीचूर्णि पृ. 71, हारिभद्रीय पृ. 72, मलयगिरि पृ. 188

163. मलयगिरि, नंदीवृत्ति, पृ. 188-189

164. तत्त्वार्थश्वोलवार्तिक 1.20. 123 से 126

165. अणक्खरसुयं अणेगविहं पण्णत्तं, तं जहा- ऊससियं णीससियं, णिच्छूढं खासियं च छीयं च। णिस्सिंघियमणुसारं, अणक्खरं छेलियाईयं। - नंदीसूत्र, पृ. 147

जिनभद्रगणि और मलधारी हेमचन्द्र के अनुसार श्रुत शब्द में श्रवण से श्रोत्रेन्द्रिय मुख्य है। उच्छ्वास-निःश्वास, थुंकना, खांसी, छींक, सुंघना, अनुस्वार आदि से जो ज्ञान है, वह अनक्षर श्रुत है। यह श्रुतज्ञान का कारण है, अतः द्रव्य श्रुत है। विशिष्ट अभिप्राय पूर्वक उच्छ्वास, आदि का प्रयोग होता है, तब वह श्रुतज्ञान का कारण बनता है। अथवा श्रुत में उपर्युक्त व्यक्ति का सारा व्यापार ही श्रुत है, किन्तु सिर घुनना आदि चेष्टाएं श्रुत नहीं हैं। जैसेकि पुत्र जन्म पर किसी ने थाली बजाई वह अभिप्राय युक्त तथा अनक्षर श्रुत है। निष्प्रयोजन थाली बजाई वह ध्वनि मात्र है, अभिप्राय युक्त नहीं है। अतः वह अनक्षर श्रुत रूप नहीं है। उच्छ्वास आदि ही श्रुत के रूप में रूढ है। जो सुना जाता है, वह श्रुत है। उच्छ्वास आदि श्रवण के विषय हैं। सिर, हाथ आदि की चेष्टा दृश्य है, श्रव्य नहीं है, अतः वह श्रुत नहीं है। अनुस्वार आकार आदि वर्णों की तरह अर्थ का ज्ञापक है, अतः श्रुत है।¹⁶⁶ हरिभद्र और मलयगिरि ने भी ऐसा ही उल्लेख किया है।¹⁶⁷

आवश्यकनिर्युक्ति में श्रुतज्ञान के वर्णन में मात्र अनक्षर श्रुत के उदाहरण प्राप्त होते हैं। जैसेकि उच्छ्वसितं (उच्छ्वास), निःश्वसित (निःश्वास), निष्ठूतं, (थुंकना) कासितं (खांसी), क्षुतं (छींक) निःसंधित (ताली) अनुस्वार (सानुस्वार उच्चारण), सेण्टित (नाक छींकना) आदि।¹⁶⁸ डॉ. हरनारयण पंड्या¹⁶⁹ का अनुमान है कि निर्युक्ति के समय में श्रुतज्ञान के भेदों में से अनक्षरश्रुत मुख्यतः चर्चा का विषय रहा होगा, इसलिए निर्युक्तिकार ने अनक्षरश्रुत का ही विशेष उल्लेख किया है। लेकिन जिनभद्रगणिकक्षमाश्रमण के समय तक सभी भेदों की चर्चा होने लगी होगी, इसीलिए उन्होंने सभी भेदों को विस्तार से समझाया है।

उच्छ्वास-निःश्वास आदि मात्र ध्वनि रूप ही हैं। लेकिन यह ध्वनि भावश्रुत का कारण रूप होने से द्रव्यश्रुत है। अथवा श्रुतज्ञान के उपयोगवाले व्यक्ति के उच्छ्वासादि सभी व्यापार श्रुत ही हैं। यहाँ शंका होती है कि जब श्रुतोपयोग वाले के सभी व्यापार श्रुत ही हैं तो फिर उसका गमन-आगमन, हस्तादि की चेष्टाएं भी द्रव्यश्रुत होनी चाहिए। जिनभद्रगणिकक्षमाश्रमण ने इसका समाधान दो प्रकार से दिया है - 1. उच्छ्वास-निःश्वास आदि को ही अनक्षर श्रुत कहने की रूढि है, लेकिन हस्तादि के व्यापार को श्रुत नहीं कहते हैं। 2. जो सुना जाता है, वह श्रुत है। हस्तादि की चेष्टाओं नहीं सुना जाता है, इसलिए वे श्रुत नहीं हैं। हरिभद्र, मलयगिरि और यशोविजय ने भी जिनभद्रगणि का समर्थन किया है।¹⁷⁰

मलधारी हेमचन्द्र ने बृहद्वृत्ति में हस्तादि चेष्टाओं को श्रुत का हेतु माना है, क्योंकि वह भी उच्छ्वास-निःश्वास आदि के समान मनोगत अभिप्राय को व्यक्त करते हुए अक्षरात्मक ज्ञान है। क्योंकि अभिनय आदि में जो हस्तादि की चेष्टाएं की जाती हैं, वे भी द्रव्यश्रुत का रूप ही हैं।¹⁷¹

जिनभद्रगणि के अनुसार अनुस्वार भी अर्थ का ज्ञान कराने के कारण श्रुत है अर्थात् अकारादि वर्णों के समान ही अर्थ का ज्ञान कराने वाला होने से अनुस्वार श्रुत रूप है। ऐसा ही उल्लेख हरिभद्र, मलधारी हेमचन्द्र और मलयगिरि ने भी किया है।¹⁷² मतिज्ञान के ईहादि भेदों में शब्दोल्लेख होते हैं।

166. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 502-503 एवं बृहद्वृत्ति

167. हरिभद्रीय नंदीवृत्ति, पृ. 72, मलयगिरि नंदीवृत्ति पृ. 189

168. आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा 20 विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 501, नंदीसूत्र, पृ. 147

169. जैनसंमत ज्ञानचर्चा, पृ. 168

170. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 501-503, नंदीसूत्र पृ. 147, मलयगिरि पृ. 189, जैनतर्कभाषा पृ. 23

171. करादिचेष्टास्तुमतिज्ञानस्याऽसाधारणकारणं न भवन्ति, श्रुतज्ञानहेतुत्वादपि। - विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 174 की बृहद्वृत्ति

172. हरिभद्रीय पृ. 72, अनुस्वारादयस्त्वकारादिवर्णा इवाऽर्थस्याऽधिगमका एवेति। - विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 503 की बृहद्वृत्ति, पृ. 233-234, मलयगिरि पृ. 189

वह श्रुत से किस प्रकार भिन्न है। इसकी स्पष्टता यशोविजय ने लब्ध्यक्षर के भेदों का उल्लेख करते समय की है।¹⁷³

प्रश्न - श्वास लेना, श्वास छोड़ना इत्यादि शाब्दिक क्रियाएँ द्रव्य-श्रुत के अन्तर्गत कब समझनी चाहिए?

उत्तर - जब इन शाब्दिक क्रियाओं का प्रयोग करने वाले किसी अन्य जन को, किसी पदार्थ विशेष का ज्ञान कराने के अभिप्राय से, इन शाब्दिक क्रियाओं का प्रयोग करता है, तभी इन्हें द्रव्य श्रुतज्ञान के अन्तर्गत समझना चाहिए। जैसे मल त्याग करने के स्थान में मल त्याग करता हुआ पुरुष, अपनी उपस्थिति और उस अवस्था का, अन्य अनभिज्ञ पुरुष को ज्ञान कराने के अभिप्राय से, कंठ के द्वारा अवर्णात्मक विचित्र स्वर करता (खँखारता) है, तो वह स्वर, द्रव्य श्रुतज्ञान के अन्तर्गत है, क्योंकि वह शब्द अन्य अनभिज्ञ पुरुष को उक्त पुरुष की स्थिति जानने रूप भाव श्रुतज्ञान में कारण बनता है। ऐसा ही उल्लेख हरिभद्र, मलयगिरि ने भी किया है।¹⁷⁴

अनक्षर श्रुत के भेद

जैसे अक्षर श्रुत के तीन भेद हैं - १. संज्ञा अक्षर श्रुत, २. व्यंजन अक्षर श्रुत, और ३. लब्धि अक्षर श्रुत, वैसे ही अनक्षर श्रुत के तीन भेद होते हैं - १. संज्ञा अनक्षर श्रुत, २. व्यंजन अनक्षर श्रुत और ३. लब्धि अनक्षर श्रुत। जो हाथ की चेष्टा विशेष आदि 'संज्ञा अनक्षर श्रुत' है, क्योंकि वे चेष्टाएँ संज्ञात्मक हैं। शब्दात्मक अनक्षर श्रुत उसे 'व्यंजन अनक्षर श्रुत' के अन्तर्गत समझना चाहिए तथा जो इन दोनों से सुन कर व देखकर उत्पन्न श्रुतज्ञान को 'लब्धि अनक्षर श्रुत' समझना चाहिए, क्योंकि वह ज्ञानात्मक है। इन दोनों भेदों को यहाँ नहीं कहा है, परन्तु उन्हें उपलक्षण से समझ लेना चाहिए।¹⁷⁵

3-4. संज्ञी श्रुत-असंज्ञी श्रुत

जो जीव संज्ञा सहित हैं, उनके श्रुत को 'संज्ञीश्रुत' कहते हैं तथा जो जीव संज्ञा रहित हैं, उनके श्रुत को 'असंज्ञीश्रुत' कहते हैं। अतः संज्ञी श्रुत के स्वरूप को समझने के लिए पहले संज्ञा और संज्ञी का क्या स्वरूप है, इसको समझना आवश्यक है। जैनदर्शन में संज्ञा शब्द विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त हुआ है, जैसेकि सामान्य ज्ञान रूप आहारादि दस संज्ञा, प्रत्यभिज्ञान, मनोव्यापार, अभिसंधारण शक्ति, मतिज्ञान और भूत-भविष्यत्कालीन सम्यक् चिंतन इत्यादि। बौद्धदर्शन में संज्ञा के दो अर्थ हैं - ज्ञान और निमित्तोद्ग्रहण।

संज्ञा का स्वरूप

अर्धमागधी भाषा का शब्द 'सण्णा' है जिसकी संस्कृत छाया होती है 'संज्ञा,' संज्ञा शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार की गयी है- 'संज्ञानं संज्ञा आभोग इत्यर्थः यदिवा सज्जायतेऽनयाऽयं जीव इति संज्ञा।' अर्थात् - 'सम्' पूर्वक 'ज्ञा अवबोधने' धातु से संज्ञा शब्द बनता है। जिसका अर्थ है ज्ञान करना तथा यह 'जीव' है ऐसा जिस ज्ञान से जाना जाय, उसे संज्ञा कहते हैं।¹⁷⁶ वेदनीय और मोहनीय कर्म के उदय से तथा ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम से पैदा होने वाली आहारादि की प्राप्ति के लिए आत्मा की क्रिया विशेष को संज्ञा कहते हैं।¹⁷⁷ अथवा जिन बातों से यह जाना जाय कि जीव आहार आदि को चाहता है, उसे संज्ञा कहते हैं। किसी के मत से मानसिक ज्ञान ही संज्ञा है अथवा जीव का आहारादि विषयक चिन्तन संज्ञा है।

173. ज्ञानबिन्दुप्रकरणम्, पृ. 9

174. अनक्षरशब्दकारणकार्य-मनक्षरश्रुतम्। - हरिभद्रीय नंदीवृत्ति, पृ. 72, मलयगिरि, नंदीवृत्ति पृ. 189

175. पारसमुनि, नंदीसूत्र, पृ. 210

176. प्रज्ञापनावृत्ति, पृ. 233

177. वेदनीयमोहोदयाश्रिता ज्ञानावरणदर्शनावरणक्षयोपमाश्रिता च विचित्राऽऽहारादिप्राप्तिक्रिया। - प्रज्ञापनावृत्ति, पृ. 233

संज्ञा के प्रकार

आवश्यकचूर्णि में मुख्य रूप से संज्ञा के दो प्रकार बताये हैं - 1. क्षयोपशमिक संज्ञा - कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न, जैसे ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से होने वाली आभिनिबोधिक संज्ञा है।

2. कर्मोदयिक संज्ञा - कर्म की भिन्न-भिन्न प्रकृतियों के उदय से होने वाली आहार आदि संज्ञाएं।¹⁷⁸

कर्मोदय से निष्पन्न संज्ञा के चार प्रकार हैं - आहार संज्ञा, भयसंज्ञा, मैथुनसंज्ञा और परिग्रहसंज्ञा।¹⁷⁹

प्रज्ञापना सूत्र में संज्ञा के दस प्रकार बताये हैं - 1. आहार संज्ञा 2. भय संज्ञा 3. मैथुन संज्ञा 4. परिग्रह संज्ञा 5. क्रोध संज्ञा 6. मान संज्ञा 7. माया संज्ञा 8. लोभ संज्ञा 9. लोक संज्ञा और 10. ओघ संज्ञा।¹⁸⁰ भगवतीसूत्र शतक 7 उद्देशक 8 में भी ऐसा ही उल्लेख है।

आचारांगनिर्युक्ति¹⁸¹ में आहारादि दस संज्ञाओं के अतिरिक्त मोह, धर्म, सुख, दुःख, जुगुप्सा और शोक इन छह संज्ञाओं का उल्लेख प्राप्त होता है।

ये संज्ञायें सब जीवों में न्यूनाधिक प्रमाण में पाई जाती हैं। इसलिये ये संज्ञी-असंज्ञी व्यवहार की नियामक नहीं हैं। आगमों में संज्ञी और असंज्ञी का भेद अन्य संज्ञाओं की अपेक्षा से हैं।

संज्ञी का स्वरूप

ईहा, अपाय आदि के द्वारा आगे-पीछे का भूत-भविष्य और वर्तमान को सोचकर निर्णय ले वह संज्ञी कहलाता है। सामान्य रूप से जिस जीव के संज्ञा होती है, वे संज्ञी हैं और जिसके संज्ञा नहीं, वे असंज्ञी कहलाते हैं। बौद्ध परम्परा के अभिधर्मकोश भाष्य में भी संज्ञी और असंज्ञी का उल्लेख मिलता है।¹⁸²

भगवतीसूत्र में पृथ्वीकायिक आदि पांच स्थावर और अनेक प्रकार के त्रस जीव को असंज्ञी बताया है।¹⁸³ जीवाजीवाभिगम सूत्र की तीसरी प्रतिपत्ति के अनुसार पृथ्वीकायिक पांच स्थावर, तीन विकलेन्द्रिय और सम्मूर्च्छिम मनुष्य असंज्ञी ही होते हैं, अन्य गर्भज मनुष्य, ज्योतिष्क और वैमानिक के देव संज्ञी ही होते हैं। नारक, भवनपति, वाणव्यन्तर और तिर्यच पंचेन्द्रिय संज्ञी और असंज्ञी होते हैं। सिद्ध भगवान् नो संज्ञी नो असंज्ञी होते हैं। ऐसा ही वर्णन प्रज्ञापना सूत्र के संज्ञीपद (31वें) में भी प्राप्त होता है। लेकिन उपर्युक्त वर्णन से संज्ञा का अर्थ स्पष्ट नहीं होता है।

दशाश्रुतस्कंध¹⁸⁴ में दस चित्त समाधि के स्थानों में पूर्वजन्म को स्मरण करने के अर्थ में संज्ञा शब्द प्रयुक्त हुआ है। आचारांगसूत्र¹⁸⁵ के प्रारंभ में पूर्वभव के ज्ञान के प्रसंग में अर्थात् विशेष प्रकार के मतिज्ञान के अर्थ में संज्ञा शब्द प्रयुक्त हुआ है। आवश्यकनिर्युक्ति में भी संज्ञा को अभिनिबोध (मतिज्ञान) कहा है।¹⁸⁶ इसका कारण यह हो सकता है कि संज्ञा शब्द पहले मतिज्ञान के विशेष अर्थ में प्रयुक्त होता होगा। बाद वाले काल में इसका सम्बन्ध श्रुतज्ञान से होगा हो।

षट्खण्डागम में भी संज्ञा का वास्तविक अर्थ स्पष्ट नहीं किया है।¹⁸⁷ धवला में संज्ञी शब्द के

178. आवश्यकचूर्णि, भाग 2, पृ. 80

179. आवश्यक (नवसुत्ताणि) 4.8

180. तंजहा-आहार सण्णा, भय सण्णा, मेहुण सण्णा, परिग्रह सण्णा, कोह सण्णा, माण सण्णा, माया सण्णा, लोह सण्णा, लोय सण्णा, ओघ सण्णा। - प्रज्ञापनासूत्र पद 8

181. आहार भय परिग्रह मेहुण सुख दुःख मोह वितिगिच्छा। कोह मान माय लोहे सोगे लोगे य धम्मोहे। - आचारांगनिर्युक्ति गा० 39

182. अभिधर्मकोश भाष्य 2.41, 42

183. भगवतीसूत्र शतक 7, उद्देशक 7, पृ. 171

184. सण्णिजाइसरणेणं सण्णिणाणं वा से असमुप्पण्णपुव्वे समुप्पज्जेजा.....। - दशाश्रुतस्कंध, पांचवी दशा, पृ. 34

185. इहमेगेंसि णो सण्णा भवति। आचारांग सूत्र, 1.1.1 पृ. 1

186. आवश्यकनिर्युक्ति गाथा 12, विशेषावश्यकभाष्य गाथा 396

187. षट्खण्डागम, पु. 1, सू. 1.1.172, पृ. 408, पु. 7 पृ. 111-112

अर्थ निम्न प्रकार से किए हैं - 1. जो भली प्रकार से जानता है, उसको संज्ञा अर्थात् मन कहते हैं। वह मन जिसके पाया जाता है, उसको संज्ञी कहते हैं। (सम्यग् जानातीति संज्ञं मनः, तदस्यास्तीति संज्ञी) अथवा 2. जो जीव मन के अवलम्बन से शिक्षा, क्रिया, उपदेश और आलाप को ग्रहण करता है, उसे संज्ञी कहते हैं और जो इन शिक्षादि को ग्रहण नहीं कर सकता है, उसको असंज्ञी कहते हैं। दूसरी व्याख्या में भी मन का आलम्बन तो स्वीकार किया ही है। इससे दोनों में अन्तर स्पष्ट नहीं होता है।¹⁸⁸

तत्त्वार्थसूत्र में 'संज्ञिनः समनस्काः' (संज्ञी जीव मन वाले होते हैं) ऐसा कह कर भाष्य में इसका स्पष्टीकरण किया है कि यहाँ संज्ञी शब्द से वे ही जीव विवक्षित हैं, जिनमें संप्रधारण संज्ञा हो। सम्प्रधारण संज्ञा का अर्थ है - ईहा और अपोह से युक्त गुण-दोष का विचार करने वाली संज्ञा। सम्प्रधारण संज्ञा मन वाले जीवों के ही होती है।¹⁸⁹

आवश्यकनिर्युक्ति में संज्ञी-असंज्ञीश्रुत के नामोल्लेख के अलावा कोई विशेष स्पष्टता मिलती नहीं है।¹⁹⁰ परन्तु बाद के काल में जो विचार हुआ वह नंदी और तत्त्वार्थ सूत्र में मिलता है। तत्त्वार्थसूत्र में एक प्रकार का वर्गीकरण मिलता है, जबकि नंदी सूत्र में तीन प्रकार का मिलता है - दीर्घकालिकोपदेशिकी आदि। इन्हीं का उल्लेख भाष्यकार ने किया है।

विशेषावश्यकभाष्य के अनुसार संज्ञी-असंज्ञी का स्वरूप - जिसके संज्ञा होती है, वह संज्ञी कहलाता है। संज्ञा तीन प्रकार की होती है - दीर्घकालिकोपदेशिकी, हेतुवादोपदेशिकी और दृष्टिवादोपदेशिकी।¹⁹¹ संज्ञा की उपस्थिति में जीव संज्ञी है, तो एकेन्द्रियादि जीवों में भी आहारादि दसों संज्ञाएँ होती हैं। उनको संज्ञी मानना चाहिए, लेकिन आगमों में अनेक स्थालों पर इन जीवों को असंज्ञी माना है।¹⁹² जिनभद्रगणिकक्षमाश्रमण ने इसका समाधान देते हुए कहा है कि अल्प धन और रूप से व्यक्ति धनवान और रूपवान नहीं कहलाता है अर्थात् बहुत धन और रूप होने पर ही व्यक्ति धनवान् और रूपवान् कहलाता है। वैसे ही आहारादि दस संज्ञाओं में अल्पता युक्त होता है, तो वह संज्ञी नहीं कहलाता है। परन्तु ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से हुए मनोज्ञान संज्ञा से ही जीव संज्ञी कहलाता है।¹⁹³

संज्ञी-असंज्ञी श्रुत का स्वरूप

संज्ञी (और असंज्ञी) श्रुत तीन प्रकार के हैं - 1. काल की अपेक्षा, 2. हेतु की अपेक्षा तथा 3. दृष्टि की अपेक्षा।¹⁹⁴ अतएव इन त्रिविध संज्ञाओं की विवक्षा से संज्ञी जीव और असंज्ञी जीव भी तीन-तीन प्रकार के हैं और इस कारण संज्ञीश्रुत और असंज्ञीश्रुत भी तीन-तीन प्रकार का हैं।

दीर्घकालिकोपदेशिकी आदि तीन संज्ञाओं का स्वरूप निम्न प्रकार से है।

1. दीर्घकालिकोपदेशिकी संज्ञा

जिससे जीवों में ईहा, अपोह, मार्गणा, गवेषणा, चिन्ता और विमर्श करने की योग्यता हो वह दीर्घकालिकी संज्ञा कहलाती है।¹⁹⁵ अथवा जिस संज्ञा में भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों कालों का ज्ञान हो अर्थात् मैं यह कार्य कर चुका हूँ, यह कार्य कर रहा हूँ और यह कार्य करूँगा, इस प्रकार

188. षट्खण्डागम (धवला) पु. 1. पृ. 152

190. आवश्यकनिर्युक्ति गाथा 19, विशेषावश्यकभाष्य गाथा 454

192. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 505

194. सण्णिसुयं तिविहं पण्णत्तं, तं जहा-कालिओवएसेणं, हेऊवएसेणं, दिट्ठिवाओवएसेणं। - नंदीसूत्र, पृ. 149

195. नंदीसूत्र, पृ. 150

189. तत्त्वार्थभाष्य 2.25

191. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 504

193. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 506-507

का चिन्तन दीर्घकालिकी संज्ञा है। यही मन है। मनोलब्धि सम्पन्न जीव मनोवर्गणा के अनन्त स्कंधों को ग्रहण कर मनन करता है, वह दीर्घकालिकी संज्ञा है। यह संज्ञा मनोज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से निष्पन्न होती है।¹⁹⁶

जीवों के अर्थोपलब्धि का स्तर - दीपकादि के प्रकाश से जाने हुए घटादि के संबंध में चक्षुष्मान् को स्पष्ट अर्थ का ज्ञान होता है। इसी प्रकार मनोज्ञानावरणकर्म के क्षयोपशम से युक्त जीव को चिंताप्रवर्तक मनोद्रव्य के प्रकाश में अर्थ का ज्ञान स्पष्ट होता है। यह पांच इन्द्रिय और मन के भेद से त्रिकाल विषय रूप छह प्रकार का उपयोग होता है। जिस प्रकार अविशुद्ध चक्षुवाले जीव को मन्द प्रकाश में अस्पष्ट ज्ञान होता है, उसी प्रकार असंज्ञी के स्वल्प मनोविज्ञान क्षयोपशम के कारण अल्प मनोद्रव्य ग्रहण की शक्ति होने से शब्दादि अर्थ की अस्पष्ट उपलब्धि होती है। जैसे कि मूर्च्छा प्राप्त हुए व्यक्ति को सभी विषयों का अव्यक्त ज्ञान होता है वैसे ही प्रकृष्ट ज्ञानावरण के उदय से एकेन्द्रिय जीवों को भी अव्यक्त ज्ञान होता है। द्वीन्द्रियादि का उससे अधिक स्पष्ट, असंज्ञी पंचेन्द्रिय का और अधिक एवं संज्ञी पंचेन्द्रिय को एकदम स्पष्ट रूप से ज्ञान होता है। मानसिक प्रकाश के अभाव में अर्थ की उपलब्धि मंद, मंदतर होती चली जाती है।¹⁹⁷ **शंका** - सभी जीवों में चैतन्य समान होते हुए भी विविध प्रकार की उपलब्धि क्यों होती है? **समाधान** - जिस प्रकार चक्ररत्न, तलवार, दात्र, बाण आदि में छेदक गुण समान रूप से पाया जाता है फिर भी चक्ररत्न की छेदक क्षमता से तलवार की कम, उससे दात्र की, उससे बाण आदि की छेदक क्षमता हीन होती जाती है, उसी प्रकार सभी जीवों में चैतन्य समान रूप से होने पर भी ज्ञानावरणीय कर्म के विचित्र क्षयोपशम के कारण एकेन्द्रिय से संज्ञी पंचेन्द्रिय तक के जीवों में विविध प्रकार की ज्ञानोपलब्धि होती है। संज्ञीपंचेन्द्रिय की अर्थोपलब्धि (ज्ञान) की पटुता विशुद्धतर, असंज्ञी पंचेन्द्रिय के अविशुद्ध, विकलेन्द्रिय के अविशुद्धतर और एकेन्द्रिय के अविशुद्धतम होती है।¹⁹⁸ जिनदासगणि ने भी लगभग ऐसा ही उल्लेख किया है।¹⁹⁹

दीर्घकालिकोपदेशिकी संज्ञा के कार्य

दीर्घकालिकोपदेशिकी संज्ञा में लम्बे भूतकाल और लम्बे भविष्यकाल विषयक निम्न छह कार्यों का उल्लेख नंदीसूत्र में हुआ है, यथा 1. **ईहा करना** - सत्पदार्थ के धर्मों का अन्वय और व्यतिरेक से विचार करना, जैसे कि यह क्या है? 2. **अपोह करना** - निश्चय, अवाय करना अर्थात् व्यतिरेक का त्याग कर अन्वय को समझना। जैसे - यह रस्सी है। 3. **मार्गणा करना** - सत्पदार्थ में पाये जाने वाले गुण धर्म का विचार करना, मधुरता के कारण यह शब्द शंख का है। 4. **गवेषणा करना** - सत्पदार्थ में नहीं पाये जाने वाले गुण धर्म का विचार करना, इस शब्द में कर्कशता नहीं है इसलिए यह शंख का शब्द है। 5. **चिंता करना** - भूत में यह कैसे हुआ? वर्तमान में क्या करना है? भविष्य में क्या होगा? इसका चिंतन करना। 6. **विमर्श करना** - यह इसी प्रकार घटित होता है, यह इसी प्रकार हुआ, यह इसी प्रकार होगा, इत्यादि, पदार्थ का सम्यक्-यथार्थ निर्णय करना आदि- 'दीर्घकालिक संज्ञा' कहलाती है।²⁰⁰ चूर्णिकार ने ईहा के वैकल्पिक अर्थ भी बताये हैं।²⁰¹ हरिभद्र और मलयगिरि²⁰² का वर्णन चूर्णिकार से भिन्न है।

196. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 508-509

197. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 510-512

198. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 513-514

199. नंदीचूर्णि, पृ. 73

200. पारसमुनि, नंदीसूत्र पृ. 210-211

201. नंदीचूर्णि पृ. 73

202. हरिभद्रीय नंदीवृत्ति, पृ. 75, मलयगिरि नंदीवृत्ति पृ. 190

दीर्घकालिक संज्ञा की अपेक्षा संज्ञी असंज्ञी जीव

जिन जीवों में यह दीर्घकालिक संज्ञा पायी जाती है, वे इस दीर्घकालिक संज्ञा की अपेक्षा 'संज्ञी जीव' हैं तथा जिनमें ये नहीं पायी जाती, वे 'असंज्ञी जीव' हैं।

भाष्यकार के अनुसार दीर्घकालिक संज्ञा जितने भी मन वाले प्राणी हैं, उनमें पाई जाती है, यथा - नारक, गर्भज तिर्यच, गर्भज मनुष्य और देव।²⁰³ जिनदासगणि ने भी ऐसा ही उल्लेख किया है।²⁰⁴ जितने भी मन रहित प्राणी हैं-सम्मूर्च्छिम एक इन्द्रिय से लेकर पाँच इन्द्रिय वाले तिर्यच और सम्मूर्च्छिम मनुष्यों में यह संज्ञा नहीं पायी जाती, क्योंकि जैसे अंधा प्राणी नेत्र और दीपक के अभाव में किसी भी पदार्थ का स्पष्ट ज्ञान करने में असमर्थ होता है, वैसे ही ये भी मन के अभाव में (अल्पता में) दीर्घ विचारपूर्वक पदार्थ का स्पष्ट विचार करने में असमर्थ रहते हैं।²⁰⁵

दीर्घकालिकोपदेशिकी संज्ञा की अपेक्षा संज्ञी असंज्ञी श्रुत

जिन जीवों में यह दीर्घकालिक संज्ञा पायी जाती है, उन जीवों का श्रुत, दीर्घकालिक संज्ञा की अपेक्षा 'संज्ञी श्रुत' है तथा जिन जीवों में यह संज्ञा नहीं पायी जाती, उन जीवों का श्रुत, दीर्घकालिक संज्ञा की अपेक्षा 'असंज्ञी श्रुत' है।

2. हेतुवादोपदेशिकी संज्ञा

जो प्रायः वर्तमान के हेतु का विचार है अर्थात् निकट भूत एवं निकट भविष्य के हेतु का विचार हैं, उसे 'हेतु संज्ञा' कहते हैं। जिनमें अभिसंधारण=बुद्धिपूर्वक कार्य करने की क्षमता हो, वे हेतु की अपेक्षा संज्ञी तथा जिनमें ऐसी क्षमता नहीं हो, वे असंज्ञी हैं।²⁰⁶

विशेषावश्यकभाष्य के अनुसार - जिसमें प्रायः वर्तमान कालिक ज्ञान हो उसे हेतुवादोपदेशिकी संज्ञा कहते हैं अर्थात् अपने शरीर की रक्षा के लिए इष्ट वस्तुओं को ग्रहण करने तथा अनिष्ट वस्तुओं का त्याग करने रूप जो उपयोगी वर्तमानकालिक ज्ञान होता है, उसे हेतुवादोपदेशिकी संज्ञा कहते हैं।²⁰⁷

आवश्यकचूर्णि में अर्थ किया है कि - अभिसंधारणपूर्वक करणशक्ति का अर्थ है, मन से पूर्वापर का विमर्श कर प्रवृत्ति निवृत्ति करना। जिन जीवों में यह शक्ति होती है, वे जिस शब्द को सुनकर ज्ञान करते हैं, वह हेतुवादोपदेशिक संज्ञीश्रुत है।²⁰⁸

हेतुवादोपदेशिक संज्ञा के सम्बन्ध में नंदी के टीकाकारों का मत

जिस संज्ञा में हेतु और कारण निमित्त हो वह हेतुवादोपदेशिक संज्ञा है। जिनदासगणि और हरिभद्र के अनुसार आलोचन (अभिसन्धारण) व्यक्त विज्ञान से प्राप्त होता है। जबकि मलयगिरि के अनुसार व्यक्त और अव्यक्त दोनों प्रकार के विज्ञान से प्राप्त होता है,²⁰⁹ शक्ति अर्थात् कारण शक्ति। जिसके तीन अर्थ हैं - क्रिया के लिए सामर्थ्य, क्रिया में प्रवृत्ति और कारण शक्ति। जिनदासगणि²¹⁰ तीनों अर्थ करते हैं। हरिभद्र²¹¹ प्रथम अर्थ करते हुए शक्ति का अर्थ सामर्थ्य करते हैं और मलयगिरि²¹²

203. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 509

204. जस्स सण्णा भवति सो आदिपदलोवातो कालिओवदेसेणं सण्णीत्यर्थ। - नंदीचूर्णि, पृ. 73

205. नंदीचूर्णि, पृ. 74

206. हेऊवएसेणं जस्सणं अत्थि अभिसंधारणपुव्विया करणसत्ती से णं सण्णीति लब्भइ। जस्स णं णत्थि अभिसंधारणपुव्विया करणसत्ती से णं असण्णीति लब्भइ। से तं हेऊवएसेणं। - नंदीसूत्र, पृ. 149

207. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 515-516

208. आवश्यकचूर्णि भाग 1, पृ. 31

209. अव्यक्तेन व्यक्तेन वा विज्ञानेनालोचनं। - मलयगिरि पृ. 190

210. ततः विज्ञानस्यैव करणशक्तिः करणं-क्रिया शक्तिः सामर्थ्यम्, अथवा करण एवं शक्तिः करणशक्तिः। - नंदीचूर्णि पृ. 74

211. करणं क्रिया, शक्तिः सामर्थ्यम्। - हरिभद्रीय, नंदीवृत्ति, पृ. 75

212. करणशक्तिः करणं क्रिया तस्यां शक्तिः-प्रवृत्तिः। - मलयगिरि, नंदीवृत्ति, पृ. 190

शक्ति का द्वितीय अर्थ प्रवृत्ति करते हुए कहते हैं कि जो जीव स्वयं के शरीर का पालन करने में समर्थ होता है, वह कारण शक्ति से विचार करके आहार आदि इष्ट वस्तु में प्रवृत्ति करता है तथा अनिष्ट वस्तु में प्रवृत्ति नहीं करता है, वह जीव संज्ञी है, जबकि जिसमें यह कारण शक्ति नहीं, वह जीव असंज्ञी है। क्योंकि द्वीन्द्रिय से सम्मूर्च्छिम पंचेन्द्रिय तक के जीव संज्ञी है। जबकि पृथ्वी आदि एकेन्द्रिय जीव असंज्ञी है।

हेतु की अपेक्षा संज्ञी असंज्ञी जीव

यह संज्ञा जो दीर्घकालिक संज्ञा की अपेक्षा असंज्ञी हैं—मन रहित हैं, उनमें से भी जो द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और सम्मूर्च्छिम पाँच इंद्रिय वाले त्रस जीव हैं, उन्हीं में पायी जाती है, क्योंकि वे स्पर्शन इंद्रिय द्वारा शीत-उष्ण आदि का अनुभव कर उसे दूर करने के विचारपूर्वक धूप-छाँव आदि में गमन आगमन करते हैं। रहने के लिए स्थान, घर आदि बनाते हैं। भूख लगने पर उसे मिटाने की विचारणापूर्वक इष्ट आहार पाकर उसे खाने की प्रवृत्ति करते हैं, अनिष्ट आहार देख कर उससे निवृत्त होते हैं, जैसे—लट आदि। सुगंध की इच्छापूर्वक शक्कर आदि इष्ट गंध वाले पदार्थों के निकट पहुँचते हैं, अनिष्ट गंध वाले पदार्थों से हटते हैं, जैसे—चींटियाँ आदि। रूप की इच्छापूर्वक रूपवान, गंधवान, रसवान पुष्प आदि पर पहुँचते हैं, अनिष्ट रूप, गंध, रसवान पुष्प आदि पर नहीं पहुँचते हैं, जैसे भ्रमर आदि। जो एक इंद्रिय वाले स्थावर जीव हैं, उनमें यह संज्ञा नहीं पायी जाती, क्योंकि उनमें वर्तमान का विचार बोध भी अत्यन्त मन्द होता है और तत्पूर्वक गमन आगमन की वीर्य शक्ति भी नहीं होती। अतः संज्ञा की अपेक्षा द्वीन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के जीव संज्ञी और एकेन्द्रिय असंज्ञी हैं।²¹³ निष्कर्ष यह है कि हेतुवाद की दृष्टि से जो जीव संज्ञी है। वह जीव कालिकवादकी दृष्टि में असंज्ञी है।

हेतु की अपेक्षा संज्ञी असंज्ञी श्रुत

जिन जीवों में यह हेतु संज्ञा पायी जाती है, उन जीवों का श्रुत, हेतु संज्ञा की अपेक्षा 'संज्ञी श्रुत' है तथा जिन जीवों में यह संज्ञा नहीं पायी जाती, उन जीवों का श्रुत, हेतु संज्ञा की अपेक्षा असंज्ञी श्रुत है।

दीर्घकालिकी और हेतुवाद संज्ञा में अन्तर

दीर्घकालिकी संज्ञा त्रैकालिक होती है। हेतुपदेशिकी संज्ञा वर्तमान कालिक होती है। इस संज्ञा में कहीं कहीं अतीत और अनागत का चिंतन भी होता है, परंतु इस विषय में वर्तमानकाल के समीप होती है, किन्तु दीर्घकालिक चिंतन नहीं होता है। जबकि दीर्घकालिक संज्ञा के जीवों के विचार सुदीर्घ भूत-भविष्यकालीन होते हैं।²¹⁴ इसलिए नंदी में टीकाकारों के कालिक शब्द के पूर्व दीर्घ विशेषण सहेतुक दिया है। इससे संज्ञी-असंज्ञी के तीन प्रकार के निरूपण में सम्मूर्च्छिम पंचेन्द्रियादि हेतुवादसंज्ञी जीव कालिक संज्ञा की अपेक्षा से असंज्ञी हैं और कालिक संज्ञी जीवों में सम्यक्त्व का अभाव होता है, तो वे जीव दृष्टिवाद संज्ञा की अपेक्षा से असंज्ञी है।

3. दृष्टिवादोपदेशिकी संज्ञा

दृष्टिवाद की अपेक्षा जिनके संज्ञीश्रुत-सम्यक् श्रुत का क्षयोपशम हो, वे संज्ञी और जिनके असंज्ञीश्रुत-मिथ्याश्रुत का क्षयोपशम हो, वे असंज्ञी हैं।²¹⁵

213. नंदीचूर्णि पृ. 74

214. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 516 मलयगिरि पृ. 190

215. दिट्ठिवाओवएसेणं सण्णिसुयस्स खओवसमेणं सण्णी लब्भइ, असण्णिसुयस्स खओवसमेणं असण्णी लब्भइ। से तं दिट्ठिवाओवएसेणं। से तं सण्णिसुयं। से तं असण्णिसुयं। - नंदीसूत्र, पृ. 150

विशेषावश्यकभाष्य के अनुसार - जीव-अजीव, पुण्य-पाप, आस्रव-संवर-निर्जरा, बंध, मोक्ष, इन नव तत्त्वों का सम्यग् यथार्थज्ञान और रुचि रूप जो सम्यग्दर्शन है, वह दृष्टिवाद (सम्यग्दर्शन) की अपेक्षा संज्ञा है। जिन जीवों में यह दृष्टिवाद संज्ञा पायी जाती, उन जीवों का सम्यग् श्रुत, दृष्टिवाद संज्ञा की अपेक्षा संज्ञीश्रुत है तथा जिन जीवों में यह दृष्टिवाद संज्ञा नहीं पायी जाती, उन जीवों का मिथ्याश्रुत, दृष्टिवाद संज्ञा की अपेक्षा असंज्ञीश्रुत है।²¹⁶

केवली संज्ञी क्यों नहीं?

आगमों में क्षायिक ज्ञान के धारक केवली को नो संज्ञी नो असंज्ञी बताया है। जबकि क्षायोपशमिक ज्ञान वाले को संज्ञी कहा है, इसका क्या कारण है? **जिनभद्रगणि** इसका समाधान देते हुए कहते हैं कि संज्ञा में अतीत अर्थ का स्मरण और अनागत अर्थ का चिन्तन होता है। लेकिन क्षायिक ज्ञान के धारी केवली में इस प्रकार की प्रवृत्ति नहीं पाई जाती है। क्योंकि वे प्रत्येक पदार्थ को साक्षात् और सर्वदा जानते हैं। उसमें उन्हें चिन्तन, स्मरण की आवश्यकता नहीं होती है। इस संदर्भ में केवली जीव संज्ञी नहीं अर्थात् संज्ञातीत हैं, अतः क्षायोपशमिक ज्ञानी को ही संज्ञी माना गया है।²¹⁷

मिथ्यादृष्टि असंज्ञी क्यों?

सम्यग्दृष्टि जीव संज्ञी और मिथ्यादृष्टि जीव असंज्ञी होते हैं। मिथ्यात्व मोहनीय और श्रुतज्ञानावरण के क्षयोपशम से संज्ञीश्रुत की प्राप्ति होती है।²¹⁸ मिथ्यादृष्टि भी हिताहित के विभाग रूप से ज्ञानात्मक संज्ञायुक्त हो कर जानता है, तो वह दृष्टिवादोपदेशिकी संज्ञा से असंज्ञी कैसे है? वे असंज्ञी इसलिए होते हैं कि उनकी संज्ञा मिथ्यादर्शन के कारण अशुभ होती है। का परिग्रह किया है। उनमें असत् और सत् का विवेक नहीं होता है। उनका ज्ञान संसार का कारण बनता है और उनको ज्ञान का फल नहीं मिलता, जैसे व्यवहार में कुत्सित शील को अशील कहा जाता है, कुत्सित वचन अवचन कहलाता है, वैसे ही मिथ्यात्व के कारण कुत्सित ज्ञान होने से संज्ञी को असंज्ञी कहा गया है। ज्ञान के फल रूप चारित्र का भी उसके अभाव होता है।²¹⁹ लेकिन दीर्घकालिक संज्ञा की अपेक्षा से देवादि चारों गतियों के मिथ्यादृष्टि जीवों को संज्ञी माना है, तो फिर दृष्टिवाद की अपेक्षा से भी वे संज्ञी होना चाहिए। इसका समाधान देते हुए **जिनभद्रगणि** कहते हैं कि जैसे पृथ्वी आदि जीवों में ओघसंज्ञा होते हुए भी उन्हें हेतुवादोपदेशिकी की अपेक्षा से असंज्ञी माना है। क्योंकि ओघसंज्ञा आदि हेतुवादोपदेशिकी संज्ञा की अपेक्षा अशुभ है। दीर्घकालिकोपदेशिकी संज्ञा की अपेक्षा से हेतुवादोपदेशिकी संज्ञा अशुभ होने से हेतुवादोपदेशिकी संज्ञा के स्वामियों के दीर्घकालिकोपदेशिकी संज्ञा की अपेक्षा से असंज्ञी कहा है। उसी प्रकार दृष्टिवादोपदेशिकी संज्ञा की अपेक्षा से दीर्घकालिकोपदेशिकी संज्ञा अशुभ है, इसलिए दीर्घकालिकोपदेशिकी संज्ञा से जिन्हें संज्ञी माना है, वे भी दृष्टिवादोपदेशिकी संज्ञा की अपेक्षा से असंज्ञी है।²²⁰

दृष्टिवाद की अपेक्षा संज्ञीश्रुत-असंज्ञीश्रुत

जिन जीवों में यह दृष्टिवाद संज्ञा पायी जाती है, उन जीवों का सम्यक् श्रुत, दृष्टिवाद संज्ञा की अपेक्षा 'संज्ञीश्रुत' है तथा जिन जीवों में यह दृष्टिवाद संज्ञा नहीं पायी जाती, उन जीवों का मिथ्याश्रुत, दृष्टिवाद संज्ञा की अपेक्षा 'असंज्ञीश्रुत' है। मिथ्यात्व मोहनीय और श्रुतज्ञानावरण के

216. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 517

217. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 518

218. मिच्छतत्स सुतावरणस्य य खयोवसमेणं कतेणं सण्णिसुतस्स लंभो भवति। - नंदीचूर्णि, पृ. 74

219. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 519-521

220. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 522

क्षयोपशम से संज्ञीश्रुत की प्राप्ति होती है। मिथ्यात्व मोहनीय के उदय और श्रुताज्ञानावरण के क्षयोपशम से असंज्ञीश्रुत की प्राप्ति होती है।²²¹

आवश्यकचूर्णि में कहा है कि – जिन कर्मों से संज्ञीभाव आवृत्त है, उनमें से कुछ का क्षय और कुछ का उपशम अर्थात् क्षयोपशम होने से संज्ञी-भाव प्राप्त होता है। वह संज्ञी जीव शब्द को सुनकर पूर्वापर का बोध करता है, वह दृष्टिवादोपदेश संज्ञीश्रुत है।²²²

पं. सुखलाल संघवी ने कर्मग्रंथ भाग चार के पृ. 38-39 पर संज्ञा के चार विभाग किये हैं – 1. पहले विभाग के अनुसार जिनका ज्ञान अत्यन्त अल्प विकसित है। यह विकास, इतना अल्प है कि इस विकास से युक्त जीव, मूर्च्छित के समान चेष्टारहित होते हैं। इस अव्यक्ततर चैतन्य की ओघसंज्ञा कही गई है। एकेन्द्रिय जीव ओघसंज्ञा वाले ही होते हैं। शेष तीन विभाग उपर्युक्तानुसार ही है। आगमों में जहाँ कही पर संज्ञी-असंज्ञी का उल्लेख हुआ है, वहाँ पर असंज्ञी का अर्थ ओघसंज्ञावाले और हेतुवादोपदेशिकी संज्ञावाले जीवों से है तथा संज्ञी का अर्थ दीर्घकालोपदेशिकी संज्ञा वाले जीवों से है।

संज्ञाओं के स्वामी

पृथ्वी, अप, तेजस्, वायु और वनस्पति – इन पांचों के ओघ संज्ञा होती है। द्वीन्द्रिय आदि में हेतु (हेतुपदेश) संज्ञा तथा देव, नारक और गर्भज प्राणियों में दीर्घकालिकी संज्ञा होती है। सम्यक्दृष्टि छद्मस्थ के दृष्टिवाद संज्ञा होती है। अतः उसके श्रुतज्ञान को संज्ञीश्रुत कहा गया है। मति-श्रुत के व्यापार से विमुक्त होने से केवली संज्ञातीत होते हैं।²²³

संज्ञाओं का क्रम

उपर्युक्त तीन संज्ञाओं में हेतुवादोपदेशिकी संज्ञा अविशुद्ध होती है। उससे विशुद्ध दीर्घकालोपदेशिका संज्ञा और उससे विशुद्धतम दृष्टिवादोपदेशिकी संज्ञा होती है। नंदीसूत्र में दीर्घकालोपदेशिकी, हेतुवादोपदेशिकी और दृष्टिवादोपदेशिकी ऐसा विपरीत क्रम क्यों दिया है? **जिनभद्रगणि** इसके समाधान में कहते हैं कि आगमों में जो संज्ञी और असंज्ञी जीवों का वर्णन प्राप्त होता है, वह दीर्घकालिक संज्ञा के आधार पर किया गया है। जिस जीव में यह संज्ञा विकसित होती है, वे संज्ञी और जिसमें यह संज्ञा विकसित नहीं हो वे असंज्ञी जीव कहलाते हैं। जबकि दृष्टिवादोपदेशिकी को अंत में रखने का कारण यह है कि वह तीनों संज्ञाओं में प्रधान है। इसलिए उपर्युक्त विशुद्धि का क्रम छोड़कर नंदीसूत्र में दीर्घकालोपदेशिकी, हेतुवादोपदेशिकी और दृष्टिवादोपदेशिकी संज्ञा का क्रम दिया गया है।²²⁴

तत्त्वार्थसूत्र की परंपरा

तत्त्वार्थसूत्र की परंपरा में संज्ञी और असंज्ञी श्रुत का उल्लेख नहीं है। किन्तु संज्ञी के सम्बन्ध में विचार किया गया है। उमास्वाति के अनुसार समनस्क जीव संज्ञी और अमनस्क जीव असंज्ञी होते हैं। उमास्वाति संज्ञा का अर्थ ईहा-अपोह युक्त, गुणदोष की विचारणा करते हुए सम्प्रधारण करते हैं और सभी नारक, देव, गर्भज मनुष्य और तिर्यच को संज्ञी कहते हैं। यह संज्ञा नंदीसूत्र में वर्णित दीर्घकालिकी संज्ञा के समान है।²²⁵

221. नंदीचूर्णि, पृ. 74

222. आवश्यकचूर्णि भाग 1, पृ. 31

223. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 523-524

224. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 525

225. सम्प्रधारणसंज्ञायां संज्ञिनो जीवाः समनस्का भवन्ति।-तत्त्वार्थभाष्य 2.25

पूज्यपाद के मत में संज्ञा का अर्थ - 1. हित प्राप्ति और अहित के त्याग की परीक्षा, 2. नाम 3. ज्ञान 4. आहारादिसंज्ञा की अभिलाषा। नाम, ज्ञान और आहारादि संज्ञा से युक्त जीवों का संज्ञी में ग्रहण नहीं हो, इसके लिए समनस्क को ही संज्ञी कहा है। इससे गर्भज, अंडज, मूर्च्छित और सुषुप्ति आदि अवस्थाओं में हित-अहित की परीक्षा का अभाव होने पर भी मन की उपस्थिति के कारण इन जीवों को भी संज्ञी माना है।²²⁶ पूज्यपाद के विचार नंदीसूत्र में वर्णित हेतुवादोपदेशिकी संज्ञा के अनुरूप प्रतीत होते हैं।

विद्यानंद कहते हैं कि अमनस्क जीवों के भी सामान्य स्मरण, सामान्य धारणा, सामान्य अवाय और सामान्य अवग्रह आदि होते हैं। इस प्रकरण में विशेष रूप से शिक्षा, क्रिया कलाप का ही ग्रहण संज्ञा में किया है। अतः संज्ञा में सामान्य रूप से हुए ईहा-अपोह का समावेश नहीं हो सकता है।²²⁷ इस परिस्थिति में भाव मन ही इसका व्यावर्तक लक्षण है। यह व्याख्या भी नंदीसूत्र की हेतुवादोपदेशिकी संज्ञा के अनुरूप है।

इस प्रकार जैनाचार्यों के द्वारा किये गये विचार के अनुसार संज्ञी और असंज्ञी के संदर्भ में संज्ञा शब्द अर्थ नाम, ज्ञान, आहारादि संज्ञा²²⁸ सम्प्रधारण संज्ञा रूप मनोव्यापार²²⁹ आदि अर्थों में प्रयुक्त हुआ और अन्त में मन सहित जीव संज्ञी और मन रहित जीव असंज्ञी इस अर्थ में संज्ञा का अर्थ स्थिर हो गया है।

सारांश - उक्त व्याख्याओं से संज्ञी जीव तीन प्रकार के होते हैं, किन्तु यहां पर मन का जो अधिकारी है, वह दीर्घकालिकीसंज्ञा की अपेक्षा से है। दीर्घकालिकीसंज्ञा ही मन है। मनोलब्धि सम्पन्न जीव मनोवर्गणा के अनन्त स्कन्धों को ग्रहण कर मनन करता है, वह दीर्घकालिकी संज्ञा है। यह संज्ञा मनोज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से निष्पन्न होती है।²³⁰ अतः जिस जीव में दीर्घकालिकी संज्ञा का विकास होता है, वह संज्ञी (समनस्क) और जिसमें इसका विकास नहीं होता, वह असंज्ञी (अमनस्क) है।²³¹

संज्ञा	संज्ञा का अर्थ	संज्ञी	असंज्ञी
हेतुवादोपदेशिकी	इष्ट में प्रवृत्ति और अनिष्ट से निवृत्ति की शक्ति	द्वीन्द्रिय से समूर्च्छिम पंचेन्द्रिय	एकेन्द्रिय
दीर्घकालोपदेशिकी	वर्तमान काल के बाद सुदीर्घ भूतभविष्य कालीन विचार	संज्ञी पंचेन्द्रिय	द्वीन्द्रिय से असंज्ञी पंचेन्द्रिय
दृष्टिवादोपदेशिका	भूतकालिक स्मरण और भविष्यकालिकचिंतनयुक्त सम्यग्ज्ञान	सम्यग्दृष्टि	मिथ्यादृष्टि

दिगम्बर परम्परा में श्वेताम्बर परम्परा से भेद है। उसमें गर्भज-तिर्यचों को संज्ञी नहीं मानकर संज्ञी और असंज्ञी माना गया है। इसी प्रकार सम्मूर्च्छिम तिर्यच को केवल असंज्ञी नहीं मानकर संज्ञी-असंज्ञी उभय रूप में स्वीकार किया गया है।²³² इसके अलावा श्वेताम्बर परम्परा में हेतुवादोपदेशिकी आदि संज्ञा के तीन भेद दिगम्बर परम्परा के प्रमुख ग्रंथों में दृष्टिगोचर नहीं होते हैं।²³³

226. सवार्थसिद्धि 2.24, तत्त्वार्थराजवार्तिक 2.24.5

227. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक 2.24.2

228. सवार्थसिद्धि 2.24

229. तत्त्वार्थभाष्य 2.25

230. इह दीर्घकालिगी कालिगिति सण्णा जया सुदीहंपि। संभरइ भूयमिस्सं चिंतेइ य किह णु कायव्वं।।

कालियसण्णित्ति तओ जस्स तई सो य जो मणोजोगे। खंधेऽणंते घेत्तुं मन्नइ तल्लद्धिसंपण्णो।।-विश० भाष्य, गाथा 508-509

231. श्री भिक्षु आगम शब्द कोश भाग 1, पृ. 509

232. 'गम्भभवे सम्मुच्छे दुतिगं भोगथलखचरगे दोद्दी' - गोम्मटसार (जीवकांड) भाग 1, गाथा 79

233. कर्मग्रंथ भाग 4, पृ. 39

5-6. सम्यक् श्रुत-मिथ्या श्रुत

ज्ञाता एवं उपदेष्टा के सम्यक्त्वी होने पर उनका श्रुत सम्यक् श्रुत होता है तथा उनके मिथ्यात्वी होने पर वह श्रुत मिथ्याश्रुत कहलाता है।

नंदीसूत्र के अनुसार - 1. केवलज्ञान, केवलदर्शन के धारक, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, भूत, भविष्य एवं वर्तमान के ज्ञाता अरिहंत प्रभु से प्रणीत गणिपिटक रूप द्वादशांगी सम्यक्श्रुत है।²³⁴ जो देव, गुरु और धर्म का, नवतत्त्व का, षड्व्य का सम्यग् अनेकान्तवाद पूर्वक, पूर्वापर अविरुद्ध यथार्थ सम्यग्ज्ञान है, जो शम संवेगादि को उत्पन्न करने वाला, सम्यक् अहिंसा, सम्यक् तप की प्रेरणा करने वाला, भव-भ्रमण का नाश करने वाला और मोक्ष पहुँचाने वाला है, वह 'सम्यक्श्रुत' है

2. कुत्सित ज्ञानियों एवं मिथ्यादृष्टियों द्वारा अपनी स्वच्छंद-आधारहीन बुद्धि की कल्पना के द्वारा रचे गये शास्त्र मिथ्याश्रुत हैं।²³⁵

विशेषावश्यकभाष्य के अनुसार - आचारांगादि अंगप्रविष्ट और आवश्यकादि अंगप्रविष्ट (अंगबाह्य) रूप श्रुत के स्वामी की अपेक्षा के बिना स्वाभाविक रूप से सम्यक् श्रुत और लौकिक महाभारतादि स्वाभाविक रूप से मिथ्या श्रुत हैं। किन्तु सम्यग्दृष्टि मिथ्याश्रुत को सम्यक् प्रकार से ग्रहण करता है तो वह उसके लिए सम्यक् श्रुत होता है। इसी प्रकार मिथ्यादृष्टि सम्यक् श्रुत को मिथ्या प्रकार से ग्रहण करता है तो वह उसके लिए मिथ्याश्रुत होता है।²³⁶

सम्यक् श्रुत के प्रकार

तीर्थंकर के प्रवचनों को सुनकर गणधरों द्वारा ग्रथित बारह अंगों वाला गणिपिटक 'सम्यक्श्रुत' है। वह इस प्रकार से है - 1. आचारांग, 2. सूत्रकृतांग, 3. स्थानांग, 4. समवायांग, 5. व्याख्याप्रज्ञप्ति (उपनाम-भगवती), 6. ज्ञाताधर्मकथा, 7. उपासकदसा, 8. अन्तकृद्दशा, 9. अनुत्तरौपपातिकदशा, 10. प्रश्नव्याकरण, 11. विपाक, 12. दृष्टिवाद।²³⁷

प्रश्न - क्या अंगसूत्र ही सम्यक्श्रुत हैं, शेष नहीं?

उत्तर - ये बारह सूत्र, अंग के अन्तर्गत होने से मूलभूत एवं प्रधान हैं, अतः इनका यहाँ उल्लेख किया है। वैसे अंगबाह्य जो आवश्यक आदि आगम हैं, वे भी 'सम्यक्श्रुत' हैं। जिनभद्रगणि आदि आचार्यों ने अंगबाह्य को भी सम्यक् श्रुत स्वीकार किया है।²³⁸

मिथ्याश्रुत के प्रकार

नंदीसूत्र में अपेक्षा विशेष से व्यास रचित भारत, वाल्मीकि रचित रामायण, भीमासुर रचित शास्त्र, त्रैराशिक-गोशालक मत के ग्रंथ, चार्वाक मत के ग्रंथ आदि को 'कुप्रावचनिक शास्त्र' या मिथ्याश्रुत कहा है।²³⁹

सम्यक् श्रुत के रचयिता

छद्मस्थ की अपेक्षा - चौदह पूर्व के ज्ञाता अथवा कम से कम अभिन्न-पूर्ण, दस पूर्व के ज्ञाता की रचना सम्यक् श्रुत में परिणत होती है तथा दस पूर्व से कम ज्ञानियों की रचना सम्यक्श्रुत में परिणत हो भी सकती और नहीं भी।²⁴⁰

234. पारसमुनि, नंदीसूत्र, पृ. 214

235. से किं तं मिच्छासुयं? मिच्छासुयं जं इमं अण्णाणि एहिं मिच्छादिट्ठि एहिं सच्छंदबुद्धिमइविगप्पियं। - पारसमुनि, नंदीसूत्र, पृ. 216

236. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 527

237. नंदीसूत्र, पृ. 152

238. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 527, नंदीचूर्ण पृ. 77, हारिभद्रीय पृ. 78, मलयगिरि पृ. 193, जैनतर्कभाषा पृ. 23

239. नंदीसूत्र, पृ. 155

240. इच्चेयं दुवालसंगं गणिपिडगं चोदसपुव्विस्स सम्मसुयं, अभिण्णदसपुव्विस्स सम्मसुयं, तेण परं भिण्णसु भयणा। - नंदीसूत्र, पृ. 152

परिणति की अपेक्षा - इस प्रकार का यह बारह अंगों वाला गणिपिटक, चौदह पूर्वियों के लिए सम्यक्श्रुत है, उनसे उतरते-उतरते यावत् अभिन्न-पूर्ण दस पूर्वियों के लिए भी सम्यक्श्रुत है, क्योंकि ऐसे ज्ञानी जीव, नियम से सम्यग्दृष्टि ही होते हैं। अतएव वे इस श्रुत को सम्यक् रूप में ही परिणत करते हैं।²⁴¹ जिनदासगणि, मलयगिरि ने तेरहपूर्वी, बारहपूर्वी, ग्यारहपूर्वी आदि पूर्वधरों का भी उल्लेख किया है।²⁴² जो दस पूर्व से कम के पाठी होते हैं, उनके लिए यह सम्यक्श्रुत भी हो सकता है और मिथ्याश्रुत भी हो सकता है।

जो मिथ्यादृष्टि होते हैं, वे मिथ्यादृष्टि रहते हुए कभी पूर्ण दस पूर्व नहीं सीख पाते, क्योंकि मिथ्यादृष्टि अवस्था का स्वभाव ही ऐसा है। जैसे अभव्यजीव, ग्रंथिदेश के निकट आकर भी ग्रंथि-भेद नहीं कर पाता, वैसे ही मिथ्यादृष्टि जीव, श्रुत सीखते-सीखते कुछ कम दस पूर्व तक ही सीख पाता है, पूरे दस पूर्व आदि नहीं सीख पाता।

सम्यग्दृष्टि के लिए आचारांग से लेकर अभिन्न दशपूर्वधर के सभी श्रुत स्थान सम्यक् श्रुत और मिथ्यादृष्टि के लिए मिथ्याश्रुत हैं।²⁴³

प्रश्न - श्रुत सीखना तो ज्ञानावरणीय के क्षयोपशम से होता है, तो मिथ्यादृष्टि नववें पूर्व की तीसरी आचार वस्तु से आगे क्यों नहीं सीख पाता है?

उत्तर - ज्ञान सीखने में मुख्य कारण तो ज्ञानावरणीय का क्षयोपशम ही है, लेकिन मिथ्यात्वमोहनीय उसे शुद्ध नहीं होने देता। जैसे पानी में दूध मिला हुआ हो तो उसमें धुन्धलापन रहता है, अतः अमुक पदार्थ उस पानी के नीचे रहते हुए धुन्धले दिखते हैं। इसी प्रकार दशपूर्वों तक का ज्ञान तो उसे धुन्धला दिखता है। मिथ्यात्व हटे बिना दस पूर्वों के ऊपर का ज्ञान होना सम्भव नहीं है। अभवी और भवी के पारिणामिक भावों में अन्तर होने से क्षयोपशम में भी अन्तर होता है। अभवी के पारिणामिक भावों में नववें पूर्व की तीसरी आचार वस्तु से अधिक क्षयोपशम का विकास नहीं होता है एवं मिथ्यात्वी भवी के अपूर्ण दशपूर्वों से अधिक क्षयोपशम का विकास नहीं होता है।

मिथ्याश्रुत सम्यग्दृष्टि के किस रूप में होते हैं

मिथ्यादृष्टि मिथ्याश्रुत को मिथ्यारूप से ही ग्रहण करते हैं, अतः उनके लिए ये मिथ्याश्रुत ही हैं। किन्तु सम्यग्दृष्टि मिथ्याश्रुत को सम्यक्श्रुत रूप में ग्रहण करे तो उनके लिए ये भी सम्यक्श्रुत हैं। बहत्तर कलाएं आदि मिथ्यादृष्टि के मिथ्यारूप में परिणत होने के कारण मिथ्याश्रुत होते हैं और सम्यक्त्वी के सम्यक् रूप में परिणत होने के कारण सम्यक् श्रुत होते हैं। कुछेक मिथ्यादृष्टि उन्हीं शास्त्रों से प्रेरित होकर अपने आग्रह को छोड़ते हैं।²⁴⁴ इसलिए मिथ्यादृष्टि के भी ये सम्यक् श्रुत हो सकते हैं, क्योंकि उनकी सम्यक्त्व प्राप्ति में ये हेतु बनते हैं।

नंदीचूर्ण²⁴⁵ में इस सम्बन्ध में चार भंग प्राप्त होते हैं -

1. सम्यक्श्रुत सम्यक्श्रुत रूप - “सम्मसुतं सम्मदिट्ठिणो सम्मसुतं चेव” सम्यग्दृष्टि के लिए सम्यक्श्रुत सम्यक्श्रुत रूप है अर्थात् जीव अपने सम्यक्त्व गुण के कारण पढे श्रुत को सम्यक् रूप में ग्रहण करता है।

241. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 534

242. नंदीचूर्ण, पृ. 77, मलयगिरि, नंदीवृत्ति, पृ. 193

243. तेणं परं ति अभिण्णदसपुव्वेहिंतो.....मिच्छसुतं भवति। - नंदीचूर्ण पृ. 77, मलयगिरि नंदीवृत्ति, पृ. 193

244. एयाइं मिच्छादिट्ठिस्स मिच्छत्तपरिगहियाइं मिच्छासुयं। एयाइं चेव सम्मदिट्ठिस्स सम्मत्तपरिगहियाइं सम्मसुयं। अहवा मिच्छदिट्ठिस्स वि एयाइं चेव सम्मसुयं कम्हा? सम्मत्तहेउत्तणओ, जम्हा ते मिच्छदिट्ठिया तेहिं चेव समएहिं चोइया समाणा केइ सपक्खदिट्ठिओ चर्यति। - नंदीसूत्र, पृ. 155

245. नंदीचूर्ण, पृ. 79

2. **सम्यक्श्रुत मिथ्याश्रुत रूप** - “सम्मसुतं मिच्छदिट्ठणो मिच्छसुतं” मिथ्यादृष्टि के लिए सम्यक्श्रुत मिथ्याश्रुत रूप है अर्थात् जीव के मिथ्यादृष्टि के कारण सम्यक् श्रुत भी मिथ्यारूप में परिणत होते हैं।

3. **मिथ्याश्रुत सम्यक्श्रुत रूप** - “मिच्छसुतं सम्मदिट्ठणो सम्मसुतं” सम्यग्दृष्टि के लिए मिथ्याश्रुत सम्यक्श्रुत रूप है अर्थात् जीव के सम्यक्त्व गुण के कारण मिथ्या श्रुत भी सम्यक् रूप में परिणत होते हैं।

4. **मिथ्याश्रुत मिथ्याश्रुत रूप** - “मिच्छसुतं मिच्छदिट्ठणो मिच्छसुतं” मिथ्यादृष्टि के लिए मिथ्याश्रुत मिथ्याश्रुत रूप है अर्थात् जीव अपने मिथ्या गुण के कारण पढे श्रुत को मिथ्या रूप में ग्रहण करता है।

सम्यक्त्व के भेदों का स्वरूप

जिनभद्रगणिकक्षमाश्रमण ने सम्यक् श्रुत के प्रसंग पर ही औपशमिक, सास्वादन, क्षायोपशमिक, वेदक और क्षायिक, इन पांचों सम्यक्त्व का उल्लेख किया है। **मलधारी हेमचन्द्र** ने बृहद्वृत्ति में इनके स्वरूप का विस्तार से वर्णन किया है, जो कि निम्न प्रकार से है।

1. औपशमिक समकित

मिथ्यात्वमोहनीयकर्म का उपशम अन्तर्मुहूर्त काल तक रहने से जो तत्त्व रुचि होती है, वह औपशमिक समकित है।²⁴⁶

उपशम समकित तीन प्रकार के जीवों को प्राप्त होती है - 1. उपशम श्रेणि प्राप्त जीव को, 2. अनादि मिथ्यात्वी जिसने मिथ्यात्वमोहनीय के तीन पुंज नहीं किये (जिसने मिथ्यात्व मोहनीय कर्म को शुद्ध, अशुद्ध और मिश्र रूप में विभाजित नहीं किया है) उसको, 3. जिसने मिथ्यात्व का क्षय नहीं किया उसको उपशम समकित की प्राप्ति होती है।

त्रिपुंज - अनादि मिथ्यादृष्टि जीव विशुद्धि प्राप्त करके अपूर्वकरण में मिथ्यात्व मोहनीय के दलिकों को शुद्ध, अशुद्ध और अर्द्धशुद्ध रूप में विभाजित करता है, यह विभाजन ही त्रिपुंज कहलाता है। इनमें से शुद्धपुंज सम्यक्त्वपुंज, अशुद्धपुंज मिथ्यात्वपुंज और अर्द्धशुद्धपुंज मिश्रपुंज कहलाता है। ये तीन पुंज करके जो सम्यक्त्व पुंज का विपाकोदय से अनुभव करता है, वह क्षायोपशमिक सम्यक्त्वी कहलाता है। जिसने ये तीन पुंज किये हैं वह सम्यक्त्वी है, (अत्र त्रिपुंजी दर्शनी सम्यग्दर्शनीत्यर्थः) क्योंकि वह सम्यक्त्व पुद्गल का वेदन करता है। इन तीनों में से कोई जीव सम्यक्त्वपुंज की उद्वेलना करता है, तो मिश्रपुंज का वेदन करते हुए वह मिश्रदृष्टि कहलाता है। जिसने मिश्रपुंज की भी उद्वेलना कर दी है, वह मिथ्यात्वपुंज का वेदन करते हुए मिथ्यादृष्टि कहलाता है।²⁴⁷

उपशम समकित की प्राप्ति - कोई अनादि मिथ्यादृष्टि जीव यथाप्रवृत्तिकरण से आयु कर्म को छोड़कर शेष सात कर्मों की दीर्घ स्थिति को क्षय करते हुए कर्मों की स्थिति को अन्तः कोटाकोटी प्रमाण करता है। अपूर्वकरण से ग्रंथि भेद करता हुआ अनिवृत्तिकरण करता है। अनिवृत्तिकरण में वह उदयगत मिथ्यात्व का क्षय करता है और सत्ता में रहे हुए मिथ्यात्व के दलिकों को विशुद्धि से अन्तर्मुहूर्त तक उदय के अयोग्य बना देता है। इस अन्तर्मुहूर्त में जीव को उपशम समकित की प्राप्ति होती है। अन्तर्मुहूर्त का काल पूरा होने पर त्रिपुंज नहीं किये होने के कारण जीव पुनः मिथ्यात्व के उदय के कारण उपशम समकित से भ्रष्ट होकर मिथ्यात्व में चला जाता है।

सिद्धान्तवादी के मत से अनादि मिथ्यादृष्टि जीव तथाविध सामग्री मिलने पर अपूर्वकरण में तीनपुंज करके समकित मोहनीय रूप शुद्ध पुद्गल को वेदते हुए उपशम समकित को प्राप्त करने से पहले क्षयोपशम समकिती होता है।²⁴⁸ कुछ आचार्यों का मानना है कि यथाप्रवृत्त्यादि तीन करण करता हुआ जीव अन्तरकरण में उपशमसमकित प्राप्त करता है, लेकिन तीन पुंज नहीं करता है। उपशम समकित से भ्रष्ट हुआ जीव मिथ्यात्व को ही प्राप्त करता है। इसका समर्थन कल्पभाष्य ने भी किया है। कर्मग्रंथ के अनुसार अनादि मिथ्यादृष्टि जीव यथाप्रवृत्त्यादि तीन करण और तीन पुंज करता हुआ उपशम समकित प्राप्त करता है। उपशम समकित की स्थिति अन्तर्मुहूर्त है। उसके पूर्ण होने पर जीव या तो क्षायोपशम समकित प्राप्त करता है, या मिश्रदृष्टि अथवा मिथ्यादृष्टि बन जाता है।²⁴⁹

2. सास्वादन समकित

मिथ्यात्व का उदय नहीं होते हुए अनन्तानुबन्धी कषाय के उदय मात्र से कलुषित हुए आत्मपरिणाम तत्त्वश्रद्धानरूप रस के आस्वादन से सास्वादन सम्यक्त्व रूप है। अथवा जो समस्त प्रकार से (मुक्तिमार्ग से) भ्रष्ट करती है, वह आशातन (अनन्तानुबन्धीकषाय का वेदन), सहित होती है, वह साशातना (सासादण) सम्यक्त्व कहलाती है। इसका काल छह आवलिका का है।²⁵⁰ उपशम समकित के अन्तर्मुहूर्त काल में जघन्य एक समय और उत्कृष्ट छह आवलिका शेष रहने पर अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय होने से औपशमिकसम्यक्त्व से गिरे हुए जीव को जब तक मिथ्यात्व की प्राप्ति नहीं हो तब तक रहने वाली सम्यक्त्व सास्वादन है।²⁵¹

3. क्षायोपशमिक समकित

उदय प्राप्त मिथ्यात्वमोहनीय का क्षय और अनुदय का उपशम, ऐसे मिथ्यात्व का क्षय और उपशम उभय रूप होने पर जो तत्त्वश्रद्धान होता है, वह क्षयोपशम समकित रूप है। जिसमें सम्यक्त्व मोहनीय का वेदन होता है।²⁵² **शंका** - क्षायोपशमसमकित में उदय प्राप्त मिथ्यात्व का क्षय और अनुदय प्राप्त का उपशम बताया है। ऐसा ही लक्षण उपशम समकित में भी किया गया है, तो दोनों में क्या अन्तर है? **समाधान** - क्षयोपशमिक समकित में सम्यक्त्व मोहनीय रूप शुद्ध पुंज के पुद्गलों का वेदन होता है। जबकि उपशम समकित में किसी भी पुंज का वेदन नहीं होता है। उपशम समकित में मिथ्यात्व के दलिकों का प्रदेशोदय नहीं होता है, लेकिन क्षायोपशमिक समकित में मिथ्यात्व के दलिकों का प्रदेशोदय होता है। यह दोनों में अन्तर है।²⁵³

4. वेदक समकित

दर्शन सप्तक (अन्तानुबन्धी चौक, मिथ्यात्व, मिश्र और समकित मोहनीय) का बहुत भाग क्षय किये हुए जीव के जब दर्शन मोहनीय का अंतिम अंश अनुभव (वेदन) होता है तो वह वेदक समकित कहलाती है।²⁵⁴ **शंका** - क्षायोपशमसमकित में भी सम्यक्त्व मोहनीय का वेदन होता है, तो दोनों में क्या अन्तर है? **समाधान** - क्षायोपशमसमकित में तो समस्त शुद्ध पुंज के उदय का अनुभव

248. सैद्धांतिकानां तावदेतद् मतं यदुत-अनादिमिथ्यादृष्टिः कोऽपि तथाविध सामग्रीसद्भावेऽपूर्वकरणेन पुंजत्रयं कृत्वा शुद्धपुंजपुद्गलान् वेदयन्नौपशमिकं सम्यक्त्वमलब्धैव प्रथमत एव क्षायोपशमिकसम्यग्दृष्टिर्भवति।

- मलधारी हेमचन्द्र, बृहद्वृत्ति, गाथा 530, पृ. 242

249. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 530 एवं बृहद्वृत्ति

250. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 528 एवं बृहद्वृत्ति

251. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 531 एवं बृहद्वृत्ति

252. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 528 एवं बृहद्वृत्ति

253. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 532 एवं बृहद्वृत्ति

254. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 528 एवं बृहद्वृत्ति

(वेदन) होता है और वेदक समकित में शुद्ध पुंज के अंतिम अंश का अनुभव होता है। यही दोनों में अन्तर है। वास्तविक रूप से तो वेदक समकित भी क्षयोपशम समकित ही है। अन्य स्थलों पर सम्यक्त्व के तीन ही प्रकार प्राप्त होते हैं – क्षायिक, औपशमिक और क्षायोपशमिक। वहाँ पर वेदक का समावेश क्षयोपशम समकित में किया जाता है।²⁵⁵

5. क्षायिक समकित

दर्शन मोहनीय की सातों प्रकृतियों (अन्तानुबन्धी चौक, मिथ्यात्व, मिश्र और समकित मोहनीय) का क्षय होने पर जो तत्त्वश्रद्धान होता है, वह क्षायिक समकित है।²⁵⁶

इस प्रकार पांच प्रकार के सम्यक्त्वों में से किसी भी सम्यक्त्व वाले द्वारा ग्रहण किया हुआ श्रुत सम्यक् श्रुत और मिथ्यात्व से ग्रहण किया हुआ श्रुत मिथ्याश्रुत है।²⁵⁷

मत्यादि पांच ज्ञानों में कितने ज्ञान मिथ्यारूप होते हैं

शंका – जिस प्रकार श्रुत में कुछ सम्यक्श्रुत है और कुछ मिथ्याश्रुत है, इसी प्रकार शेष चार ज्ञानों में मिथ्यात्व के उदय से किसमें विपर्यास (विपरीत, अज्ञान रूप) होता है और किसमें नहीं? **समाधान** – चौदहपूर्वी से सम्पूर्ण दशपूर्वी तक का श्रुत नियम से सम्यक् श्रुत है। भिन्न दशपूर्वी (सम्पूर्ण दशपूर्व से कम) से सामायिक पर्यन्त सभी श्रुतस्थान सम्यग्दृष्टि के लिए सम्यक् श्रुत और मिथ्यादृष्टि के लिए मिथ्याश्रुत है। श्रुत के अलावा चार ज्ञानों में से मति और अवधिज्ञान मिथ्यात्व के उदय से विपरीतपने अर्थात् अज्ञान (मिथ्या) रूप होते हैं, इनको मति अज्ञान और विभंगज्ञान कहा जाता है। लेकिन मनःपर्याय और केवलज्ञान का कभी भी विपर्यास नहीं होता है। क्योंकि मनःपर्यवज्ञान अप्रमत्त साधु और केवलज्ञान चार घातिकर्म नष्ट केवली के होता है। अतः मनःपर्यवज्ञानी और केवलज्ञानी के मिथ्यात्व का उदय नहीं होता है।²⁵⁸

सम्यक्त्व और श्रुतज्ञान में अन्तर

सम्यक्त्वपूर्वक ग्रहण किया हुआ श्रुत सम्यक् श्रुत है। अतः यहाँ सम्यक्त्व और सम्यक्त्व श्रुत में अन्तर स्पष्ट करना आवश्यक है। जिस प्रकार ज्ञान और दर्शन में थोड़ा-सा भेद है, अपाय और धारणा बोधात्मक होने से ज्ञान रूप हैं और अवग्रह तथा ईहा सामान्य बोधात्मक होने से दर्शन रूप हैं। उसी प्रकार जीवादितत्त्वों में श्रद्धा (रुचि) सम्यक्त्व है और जिससे जीवादि तत्त्व की श्रद्धा होती है, वह श्रुतज्ञान है अर्थात् दर्शनमोहनीय कर्म के क्षयोपशम से तत्त्व श्रद्धात्मक रुचि उत्पन्न होती है और उस रुचि से जीवादि तत्त्व श्रद्धात्मक विशिष्ट श्रुत होता है। **शंका** – इससे तो फिर विशिष्ट तत्त्वावबोध श्रुत ही सम्यक्त्व होगा, अन्य नहीं। **समाधान** – ज्ञान और दर्शन में वस्तु अवबोध रूप जानना समान होते हुए भी विशेष ग्राहक और सामान्य ग्राहक से भेद है। उसी प्रकार शुद्धतत्त्वावबोध रूप श्रुत में तत्त्व श्रद्धान अंश सम्यक्त्व है और यह सम्यक्त्व श्रुत तत्त्वबोध श्रुत ज्ञान है। यही दोनों में अन्तर है। दूसरा अन्तर इनमें कार्य और कारण की अपेक्षा से है, जैसे कि दीपक और प्रकाश एक साथ ही उत्पन्न होते हुए भी उनमें कार्य और कारण से भेद है, वैसे ही सम्यक्त्व और श्रुतज्ञान एक साथ होते हैं फिर भी सम्यक्त्व श्रुतज्ञान का कारण है।²⁵⁹

255. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 533 एवं बृहद्वृत्ति

257. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 533 एवं बृहद्वृत्ति

259. विशेषावश्यकभाष्या गाथा 535-536 एवं बृहद्वृत्ति

256. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 528 एवं बृहद्वृत्ति

258. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 534 एवं बृहद्वृत्ति

7-10. सादि श्रुत, अनादि श्रुत, सादि सपर्यवसित श्रुत और अनादि अपर्यवसित श्रुत

जो श्रुत आदि सहित है, वह सादिश्रुत है। जो श्रुत अन्त सहित है, वह सपर्यवसित श्रुत है। जो श्रुत आदि रहित है, वह अनादिश्रुत है। जो श्रुत अन्त रहित है, वह अपर्यवसित श्रुत है। नंदीसूत्र और विशेषावश्यकभाष्य में सादि-सपर्यवसितश्रुत और अनादि-अपर्यवसितश्रुत का निरूपण नय, द्रव्यादि और भव्यजीव की अपेक्षा से हुआ है।

नय की अपेक्षा से

सादि-सपर्यवसितश्रुत और अनादि-अपर्यवसितश्रुत को नय की अपेक्षा से समझाते हुए जिनभद्रगणि कहते हैं कि द्रव्यास्तिक (नित्यवादी) नय की अपेक्षा से द्वादशांगी श्रुत पंचास्तिकाय के समान अनादि-अनन्त है। क्योंकि जीवद्रव्य ने श्रुत जाना था, जानता है और जानेगा, उस जीवद्रव्य का कभी नाश नहीं होगा। इस अपेक्षा से श्रुत अनादि अनन्त है। पर्यायास्तिक (अनित्यवादी) नय की अपेक्षा से यह द्वादशांगी श्रुत जीव की नारकादि पर्याय की अपेक्षा से अनित्य होने से सादि-सान्त है।²⁶⁰ नंदीसूत्र के टीकाकारों ने भी ऐसा ही उल्लेख किया है।²⁶¹

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से

नंदीसूत्र को आधार बनाते हुए जिनभद्रगणि ने सादि-सपर्यवसितश्रुत और अनादि-अपर्यवसितश्रुत का द्रव्यादि की अपेक्षा से भी वर्णन किया है।²⁶² यह वर्णन एक जीव और बहुत जीवों की अपेक्षा से है।

द्रव्य से - 1. एक पुरुष की अपेक्षा श्रुत सादि सपर्यवसित है²⁶³ श्रुत एक पुरुष की अपेक्षा सादि सपर्यवसित है, क्योंकि एक पुरुष की अपेक्षा सम्यक्श्रुत का आरंभ और व्यवच्छेद होता है अर्थात् एक पुरुष को सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है, तब उसके आचारांग आदि सम्यक्श्रुत का आरंभ होता है और पुनः यदि वह मिथ्यात्व में चला जाता है अथवा उसे केवलज्ञान हो जाता है, तो उसके सम्यक्श्रुत का व्यवच्छेद हो जाता है अथवा जब सम्यक्त्वी पुरुष, आचारांग आदि सम्यक्श्रुत सीखता है, तब उसके सम्यक्श्रुत का आरंभ होता है और जब वह प्रमाद, रोग, मृत्यु आदि कारणों से उसे भूल जाता है, तो उसके उस सीखे हुए सम्यक्श्रुत का व्यवच्छेद हो जाता है। इसके लिए **जिनभद्रगणि** ने मुख्य रूप से पांच हेतु दिये हैं - 1. मिथ्यादर्शन में गमन 2. भवान्तर में गमन 3. केवलज्ञान की उत्पत्ति 4. रोग 5. प्रमाद अथवा विस्मृति।²⁶⁴ ऐसा ही उल्लेख नंदीचूर्णि आदि में भी प्राप्त होता है। जिनदासगणि आदि आचार्य सपर्यवसित के उपरांत श्रुत के आदित्व की भी स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि पुरुष के संदर्भ में सर्वप्रथम श्रुत सीखने से श्रुत सादि होता है। हरिभद्र कहते हैं कि इसके बाद सम्यक्त्व प्राप्ति से भी श्रुत सादि बनता है। मलयगिरि का भी लगभग ऐसा ही मत है।²⁶⁵

2. बहुत पुरुषों की अपेक्षा सम्यक्श्रुत अनादि अपर्यवसित है, क्योंकि बहुत पुरुषों की अपेक्षा अर्थात् नारक, तिर्यच, मनुष्य और देवगति में विविध सम्यग्दृष्टि जीवों के सम्यक्श्रुत तीनों काल में

260. से किं तं साइयं सपज्जवसियं, अणाइयं अपज्जवसियं च? इच्चेइयं दुवालसंगं गणिपिडगं वुच्चित्तिणयट्ठयाए साइयं सपज्जवसियं अवुच्चित्तिणयट्ठयाए अणाइयं अपज्जवसियं। - नंदीसूत्र, पृ. 157, विशेषावश्यकभाष्य गाथा 537

261. नंदीचूर्णि पृ. 81, हरिभद्रीय, नंदीवृत्ति, पृ. 84, मलयगिरि, नंदीवृत्ति, पृ. 195

262. तं समासओ चउत्विहं पण्णत्तं, तं जहा-दव्वओ, खित्तओ, कालओ, भावओ। - नंदीसूत्र, पृ. 157

263. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 538

264. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 539-540

265. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 540, नंदीचूर्णि पृ. 81, हरिभद्रीय, नंदीवृत्ति, पृ. 84, मलयगिरि, नंदीवृत्ति, पृ. 196

होता है। उसका आरंभ और व्यवच्छेद नहीं होता, कारण कि अनादि भूतकाल में अनेक जीव सम्यक्त्व, शिक्षण आदि से आचारांग आदि सम्यक्श्रुत प्राप्त करते ही आये हैं और अनन्त भविष्यकाल तक प्राप्त करते ही रहेंगे।

शंका - श्रुत को सादि-सान्त बताया है, तो श्रुत का नाश कैसे होता है? श्रुत जीव से भिन्न है या अभिन्न। यदि भिन्न हो तो श्रुत का नाश हो सकता है। आप श्रुत को जीव से भिन्न मान रहे हैं तो जैसे कि अंधा मनुष्य दीपक के प्रकाश से भी पदार्थ (अर्थ) को देख नहीं सकता है। उसी प्रकार श्रुतज्ञान होते हुए भी जीव श्रुतस्वभाव से रहित होने से नित्य अज्ञानी ही होता है अर्थात् श्रुत की उपस्थिति में भी अज्ञान का प्रसंग आ जाएगा।²⁶⁶

समाधान - श्रुतज्ञान अजीव स्वभाव वाला नहीं है। लेकिन जीव स्वभाव वाला होने से अवश्य ही जीव है, लेकिन जीव श्रुत ही है, ऐसा नहीं। क्योंकि जीव को श्रुतज्ञान होता है, श्रुतअज्ञान होता है, मति-अवधि-मनःपर्यव, केवलज्ञान अथवा मतिअज्ञान और विभंगज्ञान होता है।²⁶⁷

शंका - श्रुत जीव का स्वभाव होने से जीव है। तब श्रुत का नाश होने पर जीव का भी नाश प्राप्त होगा। **समाधान** - जीव उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य धर्मवाला होने से उसका सर्वथा नाश नहीं होता है। क्योंकि एक ओर से श्रुतज्ञानपर्याय का नाश होते हुए भी दूसरी ओर से श्रुतअज्ञानपर्याय का उद्भव होता है। जीव अन्य अनन्त पर्यायों से भी युक्त होने से नित्य ध्रुव रहता है।²⁶⁸

केवल आत्मा ही उत्पाद, व्यय और ध्रुव स्वभाव वाली है, ऐसा नहीं, लेकिन संसार में घट, पट, स्तम्भ आदि सभी वस्तुएं ऐसे ही स्वभाव वाली हैं। क्योंकि सभी वस्तुएं प्रत्येक समय उत्पन्न होती हैं, नाश को प्राप्त होती हैं और ध्रुवपने से नित्य भी रहती हैं। इस प्रकार से वस्तुस्वभाव होने से ही सुख-दुःख, बंध, मोक्ष आदि का सद्भाव घटित होता है, इसके अलावा घटित नहीं होता है।²⁶⁹ इस प्रसंग पर टीकाकार मलधारी हेमचन्द्र ने वस्तु को एकांत नित्य, सहकारी और एकांत अनित्य मानने वालों का विस्तार के खंडन किया है।²⁷⁰

क्षेत्र से - 1. पाँच भरत, पाँच ऐरवत की अपेक्षा सम्यक्श्रुत सादि सपर्यवसित है, क्योंकि इन क्षेत्रों में सम्यक्श्रुत का आरंभ और व्यवच्छेद होता है। इसका कारण यह है कि इन क्षेत्रों में उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी रूप कालचक्र सदा घूमता रहता है। जिससे उन-उन आरों में श्रुत की आदि होकर उन-उन आरों में श्रुत का व्यवच्छेद हो जाता है। जैसे कि इन क्षेत्रों में प्रथम तीर्थकर के समय में द्वादशांगी रूप श्रुत की आदि होती है और अंतिम तीर्थकर का शासन विच्छेद होते ही श्रुत का भी अन्त हो जाता है।

2. पाँच महाविदेह क्षेत्र की अपेक्षा सम्यक्श्रुत अनादि अपर्यवसित है, क्योंकि इन क्षेत्रों में सम्यक्श्रुत का आरंभ और व्यवच्छेद नहीं होता, क्योंकि इन क्षेत्रों में उत्सर्पिणी अवसर्पिणी रूप कालचक्र भी नहीं घूमता। वहाँ सदा चौथे दुःषम-सुषमा आरे के समान अवस्थित काल रहता है। जिससे श्रुत का शाश्वत प्रवर्तन चालू रहता है।

काल से - 1. भरत ऐरवत क्षेत्र में काल की अपेक्षा सम्यक्श्रुत सादि सपर्यवसित है, क्योंकि इन कालों में सम्यक्श्रुत का आरंभ और व्यवच्छेद होता है। यथा-उत्सर्पिणी में जब

266. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 540-541

267. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 542

268. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 543

269. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 544

270. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 544 की बृहद्वृत्ति

दुःषम-सुषमा नामक तीसरा आरा होता है तब से तीर्थकर जन्म लेते हैं और आचारांग आदि श्रुतज्ञान का प्रवर्तन करते हैं, तब सम्यक्श्रुत का आरंभ होता है और जब सुषम-दुःषमा नामक चौथा आरा कुछ बीत जाता है और तीर्थकरादि का अभाव हो जाता है, तब आचारांग आदि श्रुतज्ञान का व्यवच्छेद हो जाता है तथा अवसर्पिणी में जब सुषम-दुःषमा नामक तीसरा आरा कुछ शेष रहता है, तब से तीर्थकर जन्म लेते हैं और आचारांग आदि श्रुतज्ञान का प्रवर्तन करते हैं, तब सम्यक्श्रुत का आरंभ होता है तथा दुषमा नामक पाँचवें आरे में जब साधु आदि का अभाव हो जाता है, तब आचारांग आदि श्रुतज्ञान का विच्छेद हो जाता है।

2. 'नहीं-उत्सर्पिणी, नहीं-अवसर्पिणी' रूप महाविदेह क्षेत्र के काल की अपेक्षा सम्यक्श्रुत अनादि अपर्यवसित है, क्योंकि इसमें सम्यक्श्रुत का आरंभ और व्यवच्छेद नहीं होता। महाविदेह क्षेत्र में सदा चौथे दुःषम-सुषमा आरे के समान काल रहता है, अतएव वहाँ सदा श्रुतप्रदाता तीर्थकरादि का सद्भाव रहता है और श्रुत सीखने वाले साधु आदि की विद्यमानता रहती है।

भाव से - 1. अरिहंत कथित भावों का जब-जब निरूपण आरंभ किया जाता है, तब-तब उन-उन प्रारंभिक तथा अन्तिम भावों की अपेक्षा सम्यक्श्रुत सादि सपर्यवसित है अर्थात् उपयोग की अपेक्षा सम्यक्श्रुत सादि सपर्यवसित है, क्योंकि उपयोग का आरंभ और व्यवच्छेद होता है। जैसे-जब जिनेश्वर प्रज्ञप्त भावों का कथन आरंभ किया जाता है, तब उन भावों के प्रति उपयोग का आरंभ होता है और जब उन भावों का कथन समाप्त किया जाता है, तब उन भावों के प्रति उपयोग का व्यवच्छेद हो जाता है।²⁷¹

जिनभद्रगणि के अनुसार प्रज्ञापक की अपेक्षा द्वादशांग सादि सपर्यवसित होता है। इसके चार हेतु बताये हैं - 1. श्रुत का उपयोग 2. स्वर, ध्वनि, 3. प्रयत्न - तालु आदि का व्यापार 4. आसन (अंगविन्यास) ये धर्म प्ररूपक गुरु में होते हैं। प्रज्ञापक के भाव की पर्याय बदलते रहते हैं। इस परिवर्तन की अपेक्षा द्वादशांग को सादि सपर्यवसित कहा जाता है। प्रज्ञापनीय भाव की अपेक्षा से भी द्वादशांग सादि सपर्यवसित होता है। इसके अनेक हेतु बताये हैं, यथा गति, स्थिति, भेद, संघात वर्ण आदि शब्दादि धर्म प्ररूपणीय पदार्थों में होते हैं। ये सभी धर्म अनित्य होते हैं क्योंकि प्ररूपणीय पदार्थ पर्याय की दृष्टि से उत्पन्न और विनष्ट होते रहते हैं और अभिधेय अर्थ की गति, स्थिति. एक प्रदेशादि अवगाह और एक वर्ण आदि पर्याय में बदलता रहता है, इससे श्रुत सादि-सपर्यवसित है।²⁷² ऐसा ही उल्लेख नंदीचूर्णि (पृ.81), हारिभद्रीय नंदीवृत्ति (पृ.84), मलयगिरि वृत्ति (पृ.193) में प्राप्त होता है।

2. क्षायोपशमिक भाव की अपेक्षा श्रुत अनादि-अपर्यवसित है। क्योंकि विविध जीवों की अपेक्षा से कोई न कोई जीव श्रुतज्ञान में होता ही है। महाविदेह में प्रवाह की अपेक्षा से श्रुत नित्य होने से और आकाशादि अभिधेय नित्य होने से श्रुत अनादि-अपर्यवसित है। नंदी के टीकाकारों ने आकाशादि अभिधेय के सिवाय शेष वर्णन जिनभद्रगणिकक्षमाश्रमण के अनुसार ही किया है।²⁷³

श्रुत के पहले मति होता है इस नियम से तो मति के बाद श्रुत की प्राप्ति होने से वह हमेशा सादि बना रहता है और जिसकी आदि है उसका अंत होने से उसका अनादि-अपर्यवसित भंग

271. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 546 एवं टीका

272. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 546 एवं टीका

273. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 548, नंदीचूर्णि पृ. 82, हारिभद्रीय, नंदीवृत्ति, पृ. 86, मलयगिरि, नंदीवृत्ति, पृ. 198

घटित नहीं होगा? इसका उत्तर पूज्यपाद देते हैं कि द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की दृष्टि से सामान्य के संदर्भ में श्रुत अनादि-अपर्यवसित है। और विशेष की अपेक्षा वह सादि-सपर्यवसित है। अकलंक ने भी इसका समर्थन किया है।²⁷⁴

भवी-अभवी जीव की अपेक्षा से

जिनभद्रगणि ने भवी और अभवी जीव की अपेक्षा से भी श्रुत की आदि और अंत की विचारणा का उल्लेख किया है। सम्यक्श्रुत और मिथ्याश्रुत दोनों की अपेक्षा श्रुत के चार भंग निम्न प्रकार से है – 1. सादि-सपर्यवसित, 2. सादि-अपर्यवसित 3. अनादि-सपर्यवसित और 4. अनादि-अपर्यवसित।²⁷⁵

1. **सादि-सपर्यवसित** – द्रव्य से एक पुरुष की अपेक्षा से उपर्युक्त जो वर्णन किया गया है, वह प्रथम भंग के अनुसार ही है।

2. **सादि-असपर्यवसित** – श्रुत का सादि अपर्यवसित भंग शून्य है, क्योंकि वह मिथ्याश्रुत या सम्यक्श्रुत किसी में भी घटित नहीं होता। मलयगिरि ने इस का कारण बताते हुए कहा है कि आदि युक्त सम्यक्श्रुत अथवा मिथ्याश्रुत का कालान्तर में भी अवश्य अंत होता ही है।²⁷⁶

3. **अनादि-सपर्यवसित** – भवसिद्धिक अनादि मिथ्यादृष्टि जीव के मिथ्याश्रुत का कभी आरंभ नहीं हुआ और भवी होने से अवश्य सम्यक्त्व और केवलज्ञान पायेगा। अतएव उसके मिथ्याश्रुत का विच्छेद अवश्य होगा।

4. **अनादि-अपर्यवसित** – यह चौथा भंग अभवी जीव की अपेक्षा से है। कभी भी मोक्ष में न जाने वाले (मिथ्यादृष्टि) जीव का मिथ्याश्रुत अनादि अपर्यवसित है, क्योंकि वह अनादि मिथ्यादृष्टि होने से उसके मिथ्याश्रुत का कभी आरंभ नहीं हुआ (सदा से साथ लगा है) और वह सदाकाल मिथ्यादृष्टि ही रहेगा, अतएव उसके मिथ्याश्रुत का कभी व्यवच्छेद नहीं होता। यह भंग एक और अनेक अभवी जीवों की अपेक्षा से घटित होता है।

नंदीसूत्र²⁷⁷ में सादि-सपर्यवसित और अनादि अपर्यवसित इन दो ही भंगों का उल्लेख है, जबकि भाष्यकार जिनभद्रगणि ने चार भंगों का उल्लेख किया है तथा बाद वाले आचार्यों ने भी जिनभद्रगणि का अनुसरण किया है।²⁷⁸ यशोविजयजी ने द्रव्यादि की अपेक्षा से विचार किया है। भव्य जीव और नय की अपेक्षा से नहीं।²⁷⁹

सादि सपर्यवसित भंग सम्यक्श्रुत की अपेक्षा से तथा शेष दो भंग मिथ्याश्रुत की अपेक्षा से हैं अथवा अनादि अपर्यवसित भंग अभवी जीव की अपेक्षा से तथा शेष दो भंग भवी जीव की अपेक्षा से हैं।

द्वादशांगी गणिपटिक को नंदीसूत्र में ध्रुव, नित्य, शाश्वत बताया है। इसी अपेक्षा से हरिभद्रादि आचार्यों ने द्वादशांगी को अनादि-अपर्यवसित कहा है²⁸⁰ तथा जिनभद्रगणि आदि आचार्यों ने सम्यक्-मिथ्याश्रुत की विचारणा में अंगप्रविष्ट के साथ अंगबाह्य का ग्रहण किया है।²⁸¹ इससे स्पष्ट होता है कि अंगप्रविष्ट अंगबाह्य अनादि-अपर्यवसित तथा शेष श्रुत सादि-सपर्यवसित है।

274. सर्वार्थसिद्धि 1.20, तत्त्वार्थराजवार्तिक 1.20.7

275. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 544 की बृहद्वृत्ति, पृ. 251

276. मलयगिरि पृ. 198

277. अहवा भवसिद्धियस्स सुयं साइयं सपज्जवसियं च, अभवसिद्धियस्स सुयं अणाइयं अपज्जवसियं च।-नंदीसूत्र, पृ. 157

278. नंदीचूर्ण पृ. 81, हारिभद्रीय, नंदीवृत्ति, पृ. 86, मलयगिरि, नंदीवृत्ति, पृ. 198

279. जैनतर्कभाषा पृ. 24

280. नंदीसूत्र पृ. 204, हारिभद्रीय, नंदीवृत्ति, पृ. 120, मलयगिरि, नंदीवृत्ति, पृ. 248

281. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 527, नंदीचूर्ण पृ. 77, हारिभद्रीय, नंदीवृत्ति, पृ. 78, मलयगिरि पृ. 193, जैनतर्कभाषा पृ. 23

11-12. गमिक श्रुत-अगमिक श्रुत

पाठ रचना शैली के आधार पर श्रुत के दो भेद किये गये हैं - गमिक और अगमिक। अर्थपरिज्ञान के प्रकार को गम कहते हैं।²⁸²

नंदीसूत्र के अनुसार - आदि, मध्य और अन्त में किंचित् विशेषता के साथ पुनः-पुनः उसी सदृश सूत्रपाठ का उच्चारण गम कहलाता है। जिसमें गम/सदृश पाठ हो, वह गमिक है। दृष्टिवाद गमिक श्रुत है।²⁸³ दृष्टिवाद का बहुभाग प्रायः सदृश गमक (सरीखे सूत्रपाठ) वाला है। जिस श्रुत में बहुत भिन्नता लिए नये असदृश गमक (सूत्रपाठ) आते हैं, उस श्रुत को 'अगमिक' कहते हैं। कालिक सूत्र अगमिक है, क्योंकि आचारांग आदि सूत्रों का बहुभाग असदृश गमक वाला है।

विशेषावश्यकभाष्य के अनुसार - जिस श्रुत में भंग और गणित बहुलता से हो अथवा जिसमें समान पाठ बहुत अधिक हो वह गमिक श्रुत है, ऐसा प्रायः दृष्टिवाद में होता है। जिसमें प्रायः गाथा, श्लोक, वेष्टक आदि अथवा असमान पाठ होते हैं, वह अगमिक श्रुत है। ऐसा प्रायः कालिक श्रुत में होता है। **जिनभद्रगणि** ने गम के तीन अर्थ किए हैं - भंग, गणितादि विषय और सदृश पाठ,²⁸⁴ आवश्यकचूर्णि में इन तीनों के अर्थ को स्पष्ट किया गया है - **1. भंग गमिक** - एक भंग, दो भंग, तीन भंग आदि। **2. गणित गमिक** - एक जीवा और धनुपृष्ठ के गणित के अनुसार अन्य जीवा और धनुपृष्ठ का भी गणित कर लेना चाहिए। **3. सदृश गमिक** - क्रोध के उदय का निरोध करना चाहिए और उदय प्राप्त क्रोध का विफलीकरण करना चाहिए। इसी प्रकार मान, माया, लोभ का निरोध और विफलीकरण करना चाहिए।²⁸⁵ इनमें से तीसरे अर्थ को जिनदासगणि, हरिभद्र, मलयगिरि और यशोविजय ने स्वीकार किया है। उनके अनुसार गमिक का अर्थ सदृश पाठ रचना शैली किया है।²⁸⁶

नंदीसूत्र में आचारांगादि के लिए भी अणंत गमा का उल्लेख किया है। उन ग्रंथों में भी गम तो हैं ही, लेकिन दृष्टिवाद की शैली गमप्रधान होने से वह गमिक है। जबिक आचारांगादि में गम का प्रमाण दृष्टिवाद की अपेक्षा से अल्प होने से अगमिक है।

13-14. अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य

नंदीसूत्र के अनुसार श्रुतज्ञान के संक्षेप में दो भेद हैं - 1. अंगप्रविष्ट और 2. अंगबाह्य।²⁸⁷ तत्त्वार्थसूत्र में भी इन्हीं दो भेदों का उल्लेख है। इनमें अंगबाह्य के अनेक भेद और अंगप्रविष्ट के बारह भेद हैं।²⁸⁸ श्रुतज्ञान के इन दोनों भेदों का भाष्यकार ने क्रम से उल्लेख किया है।

अंग शब्द की व्युत्पत्ति

अंगश्रुत यह गुणनाम है, क्योंकि, जो तीनों कालों के समस्त द्रव्यों और पर्यायों को 'अंगति' अर्थात् प्राप्त होता है या व्याप्त करता है, वह अंग है।²⁸⁹ 'अङ्गयते' अर्थात् मध्यम पदों के द्वारा जो लक्षित होता है, वह अंग है, अथवा समस्त श्रुत के आचारादि रूप एक-एक अवयव को अंग कहते हैं।²⁹⁰

282. गमाः - अर्थपरिच्छितिप्रकाराः। - उत्तराध्ययन वृत्ति

283. से किं तं गमियं? गमियं दिद्विवाओ। - नंदीसूत्र, पृ. 160

284. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 549

285. आवश्यकचूर्णि भाग 1, पृ. 34

286. नंदीचूर्णि पृ. 88, हरिभद्रीय, नंदीवृत्ति, पृ. 91, मलयगिरि, नंदीवृत्ति, पृ. 203, जैन तर्क पृ. 23

287. अहवा तं समासओ दुविहं पण्णत्तं, तं जहा-अंगपविट्ठं अंगबाहिरं च। - नंदीसूत्र पृ. 160

288. तत्त्वार्थसूत्र 1.20, सर्वार्थसिद्ध 1.20

289. अंगसुदमिदि गुणणामं, अंगति गच्छति व्याप्नोति त्रिकालगोचराशेषद्रव्य-पर्यायानित्यंगशब्दनिष्पत्तेः।

- षट्खण्डागम पु. 9, सूत्र 4.1.45, पृ. 193-194

290. गोम्मटसार जीवकांड भाग 2, गाथा 350

अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य का स्वरूप

उमास्वाति ने अंगबाह्य के कर्ता और उद्देश्य दोनों का निरूपण किया है। उनके अनुसार अंगबाह्य के रचनाकार आचार्य होते हैं, उनका आगम ज्ञान अत्यंत विशुद्ध होता है। वे परम प्रकृष्ट वाक्, मति, बुद्धि और शक्ति से युक्त होते हैं। वे काल, संहनन, आयु की दृष्टि से अल्पबुद्धि वाले शिष्यों को बोध देने के लिए अंगबाह्य की रचना करते हैं।²⁹¹

विशेषावश्यकभाष्य में जिनभद्रगणि कहते हैं कि जो गणधरकृत है, आदेश -त्रिपदी से निष्पन्न है तथा नियत है, वह अंगप्रविष्टश्रुत है। अथवा जो आगम गणधरों द्वारा प्रश्न करने पर तीर्थकर द्वारा उपदिष्ट है और गणधरों द्वारा सूत्रबद्ध है, वे अंगप्रविष्ट श्रुत हैं। जो स्थविरकृत है, मुक्त प्रतिपादन से गृहीत है तथा अनियत है, वह अंगबाह्य (अनंगप्रविष्ट) श्रुत है अथवा जो आगम बिना प्रश्न किये ही तीर्थकर द्वारा उपदिष्ट होते हैं और जिनकी रचना स्थविरों आदि के द्वारा की गई होती है, वे अनंगप्रविष्ट हैं।²⁹² नंदीचूर्ण में भी ऐसा ही उल्लेख मिलता है।²⁹³

जो बारह अंग वाले श्रुत-पुरुष से बाहर श्रुत है, वह 'अंगबाह्य' श्रुत है अथवा जिस श्रुत-विभाग का कोई श्रुत, गणधर रचित भी हो सकता है, जैसे निरयावलिका आदि तथा कोई श्रुत, संकलन आदि की दृष्टि से (शब्द से तो गणधर रचित ही होता है) पूर्वधर श्रुत-स्थविर रचित भी हो सकता है, जैसे-प्रज्ञापना आदि, उस श्रुत-विभाग को 'अंगबाह्य' कहते हैं अथवा जिस श्रुत-विभाग का कोई श्रुत, सर्व क्षेत्र और सर्व काल में नियम से रचित होता है, जैसे-आवश्यक आदि और कोई नियत नहीं होता, जैसे पइन्ना विशेष आदि, उस श्रुत विभाग को 'अंगबाह्य' कहते हैं।²⁹⁴

बृहत्कल्पभाष्य के अनुसार गणधर द्वारा रचित आगमों से स्थविरों द्वारा निर्यूढ आगम अंगबाह्य (अनंगप्रविष्ट) तथा इसके अलावा वृद्धपरम्परा से प्राणाणिक रूप से प्राप्त जिन-उपदेश व पारम्परिक मान्यताएं आदि जिनमें वर्णित है, वे भी अंगबाह्य (अनंगप्रविष्ट) आगम हैं।²⁹⁵

आवश्यकचूर्ण के अनुसार अतीत, अनागत और वर्तमान के द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के यथार्थद्रष्टा अर्हंतों ने जिन अर्थों की प्ररूपणा की, उन्हीं अर्थों को अर्हंतों से साक्षात् प्राप्त कर परम बुद्धि सम्पन्न तथा सर्वाक्षरसन्निपातलब्धि से युक्त गणधरों ने सब प्राणियों के हित के लिए सूत्र रूप में उपनिबद्ध किया। यही आचार आदि द्वादशांग अंगप्रविष्ट कहलाता है।²⁹⁶ अंगबाह्य आगम को अनंगप्रविष्ट भी कहा गया है, क्योंकि इसका समावेश अंग आगम में नहीं होता है।

मलयगिरि के अनुसार सब तीर्थकरों के तीर्थों में जो अनियत श्रुत है, वह भी अनंगप्रविष्ट है।²⁹⁷ नियत-अनियत अंग को स्पष्ट करते हुए मलयगिरि कहते हैं कि आचारांग आदि श्रुत सर्वक्षेत्र काल में अर्थ और क्रम के संदर्भ में इसी प्रकार व्यवस्थित है, इसलिए वह नियत है। जबकि अंगबाह्य में ऐसा नहीं होने से वह अनियत है। ऐसा भी मान सकते हैं कि गणधर सर्वोत्कृष्ट श्रुतलब्धि से संपन्न होने के कारण मूलश्रुत रचना करने में समर्थ होते हैं, इसलिए अंगप्रविष्ट का अर्थ मूल श्रुत है। जबकि स्थविर श्रुत को एक भाग में केन्द्रित रख कर रचना करते हैं, इससे उनकी रचना अंगबाह्य कहलाती है।²⁹⁸

291. तत्त्वार्थभाष्य 1.20

292. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 550

293. गणधरथेरकयं वा आएसा, मुक्कवागरणओ वा। धुव-चलविसेसओ वा अंगाणंगेसु नाणत्तं। - नंदीचूर्ण पृ. 88

294. पारसमुनि, नंदीसूत्र, पृ. 224-225

295. बृहत्कल्पभाष्य, गाथा 144 एवं चूर्ण

296. आवश्यक चूर्ण 1 पृ. 8

297. मलयगिरि आवश्यक वृत्ति, पृ. 48

298. मलयगिरि, नंदीवृत्ति, पृ. 203

दिगम्बर परम्परा के अनुसार - पूज्यपाद के कथनानुसार आगम वक्ता तीन प्रकार के होते हैं - 1. सर्वज्ञ (तीर्थकर, केवली) 2. श्रुतकेवली 3. आरातीय (उत्तरवर्ती)। इन तीनों के द्वारा रचित आगमों को प्रमाण माना गया है। इनमें से तीर्थकर अर्थ रूप से आगम का उपदेश देते हैं। गणधर श्रुत केवली उस अर्थ से अंग और पूर्वग्रन्थों की रचना करते हैं और आरातीय आचार्यों द्वारा रचित एवं अंग आगमों से अर्थतया जुड़े हुए ग्रन्थों को अंगबाह्य आगम कहा गया है। यहाँ उत्तरवर्ती (आरातीय) का अर्थ है गणधरों के शिष्य-प्रशिष्य, जिनका श्रुत परम्परा से निकटतम या घनिष्ठ सम्बन्ध है। ये आरातीय आचार्य उन शिष्यों के लिए अंगबाह्य आगमों की रचना करते हैं, जिसमें कालदोष से आयु, मति और बल में हीनता आयी है।²⁹⁹ अकलंक के भी ऐसे ही विचार हैं।³⁰⁰ वीरसेनाचार्य अंगबाह्य आगमों को इन्द्रभूतिगणधर की रचना मानते हैं।³⁰¹ जयसेन के मतानुसार अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य के अर्थ की भगवान् महावीर ने और दोनों की सूत्ररूप में रचना गौतम गणधर ने की है।³⁰²

पं. दलसुख मालवणिया का कथन है कि उपर्युक्त वर्णन से यह स्पष्ट है कि अंगप्रविष्ट की रचना गणधरों ने की है, इसमें कोई विरोध नहीं है। जबकि अंगबाह्य के रचनाकर के सम्बन्ध में दो मत हैं - एक मत तो गणधर रचित मानता है जबकि दूसरे मत वाले उनको स्थविरकृत मानते हैं। उक्त दो मतों में प्रथम मत प्राचीन परम्परा से संबंधित हो सकता है, क्योंकि भद्रबाहु स्वामी ने अंगबाह्य के प्रकार बताते हुए आवश्यकसूत्र को गणधरकृत माना है और जिनभद्रगणि ने भी इसका समर्थन किया है।³⁰³ प्रस्तुत मान्यता भद्रबाहु स्वामी को भी पूर्वपरम्परा से प्राप्त हुई थी, इसीलिए उन्होंने आवश्यक निर्युक्ति में कहा है कि मैं परम्परा के अनुसार सामायिक के विषय में विवरण करता हूँ।³⁰⁴ बाद के काल में उमास्वाति ने अंगबाह्य को आचार्यकृत माना है।³⁰⁵ उमास्वाति और जिनभद्रगणि के मध्य वाले काल में उमास्वाति की मान्यता में शिथिलता आने से जिनभद्रगणि ने तीन प्रकार से इसका उल्लेख किया है। जिनभद्रगणि के बाद वाले काल में दोनों परम्पराएं समान रूप से प्रचलित थीं। इसी कारण से हरिभद्र और मलयगिरि एक ओर अंगबाह्य को स्थविरकृत स्वीकार करते हैं³⁰⁶ तो दूसरी ओर द्वादशांगी के साथ गणधर की भलावण दी है।³⁰⁷ ऐसा भी हो सकता है कि अंगबाह्य को गणधरकृत मानने की परम्परा श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्परा में मतभेद के कारण प्रबल हुई हो, क्योंकि गणधर विशिष्ट ऋद्धि युक्त होने से उन्होंने भगवान् के उपदेश को साक्षात् ग्रहण किया था। इसलिए इनकी रचना अन्य की अपेक्षा से अधिक प्रामाणिक मानी जाती है। इसलिए पीछे के आचार्यों ने आगम में समावेश हो जाए ऐसे समस्त साहित्य को गणधरकृत कह दिया जिससे उनकी प्रामाणिकता स्वतः सिद्ध हो जाए। इस प्रवृत्ति से आगम-साहित्य से लेकर पुराण साहित्य तक समस्त अंगबाह्य साहित्य गणधरकृत माना जाने लगा।³⁰⁸ पुराणों को भी प्रामाणिक सिद्ध करने के लिए जैन पुराणकारों ने पद्मपुराण³⁰⁹ में कहा है

299. सर्वार्थसिद्धि, 1.20, पृ. 87

300. आरातीयाचार्यकृतागार्थ-प्रत्यासन्नरूपमंगबाह्य। तत्त्वार्थराजवार्तिक, 1.20.13

301. षट्खण्डागम पु. 13, पृ. 279

302. हरिवंश पुराण, सर्ग 2 गाथा 101,111

303. गणधरवाद, प्रस्तावना पृ. 9-11

304. आवश्यकनिर्युक्ति गाथा 87, विशेषावश्यकभाष्य गाथा 1080

305. आचार्यः कालसंहननायु-दोषादल्पशक्तीनां शिष्याणामनुग्रहाय यत्प्रोक्तं तद्ङगबाहयमिति।-तत्त्वार्थभाष्य 1.20, पृ. 92

306. हरिभद्रीय, नंदीवृत्ति, पृ. 91, मलयगिरि, नंदीवृत्ति, पृ. 203

307. अंगप्रविष्टमावश्यकदि, ततोऽर्हत्प्रणीतत्वात्। - हरिभद्रीय, नंदीवृत्ति, पृ. 78, मलयगिरि, नंदीवृत्ति, पृ. 193

308. गणधरवाद प्रस्तावना प्रस्तावना पृ. 9

कि पुराण मूल में गणधर कृत हैं। हमको तो ये वस्तुतः परम्परा से प्राप्त हुए हैं। महापुराण में भी ऐसा ही उल्लेख हुआ है।³¹⁰ यशोविजय ने अंगबाह्य को स्थविरकृत माना है।³¹¹ अतः अन्त में अंगबाह्य स्थविर कृत हैं यह मत स्थिर हुआ है।

वर्तमान में उपलब्ध दशवैकालिक, प्रज्ञापना, अनुयोगद्वार आदि अंगबाह्य के रचनाकार श्रुतकेवली है। इससे जिनभद्रगणि, पूज्यपाद, अकलंक का मत उचित प्रतीत होता है। कहीं-कहीं अंगबाह्य आगम की रचना के साथ तीर्थकर और गणधर का भी उल्लेख प्राप्त होता है।

उत्तरकालीन आगम विभाजन

धारणा शक्ति के हास का ध्यान में रखकर, भावी अल्पमेधावी जनों के अनुग्रह हेतु आर्यरक्षित ने विषयवस्तु की अपेक्षा से स्थूल रूप से आगम साहित्य को चार भागों में विभाजित किया है³¹², यथा - 1. धर्मकथानुयोग (कथासाहित्य) 2. चरणकरणानुयोग (आचारविषयक) 3. गणितानुयोग (लोक-रचना, खगोलभूगोलविषयक) 4. द्रव्यानुयोग (द्रव्य-स्वरूप विषयक)। इन्हीं चार विभागों को निम्न प्रकार से कहते हैं - प्रथमानुयोग (धर्मकथा), चरणानुयोग (आचार), करणानुयोग (लोकस्वरूपादि), द्रव्यानुयोग (तत्त्वस्वरूप)।

अंगबाह्य की रचना का उद्देश्य

परम्परा से प्राप्त आचारांग आदि श्रुतज्ञानादि राशि अर्थतः और ग्रन्थतः बहुत विशाल है। वह अल्प आयुष्य अल्पमति और अल्पशक्ति वाले मनुष्यों के लिए दुर्ग्राह्य है। यह जानकर उनकी अनुकम्पा के लिए गणधरों से अतिरिक्त विशुद्ध आगमज्ञान से सम्पन्न स्थविरों ने दशवैकालिक आदि अनेक अंगप्रविष्ट आगमग्रन्थों की रचना की है।³¹³

अंगप्रविष्ट की रचना का उद्देश्य

गणधर महाराज पूर्वी की रचना करते हैं, और उन पूर्वी में सम्पूर्ण वाङ्मय का समावेश हो जाता है अर्थात् भूतवाद (दृष्टिवाद) में समस्त वाङ्मय का समावेश हो जाता है। फिर मन्दबुद्धि उपासक और स्त्रियों पर अनुग्रह के लिए शेष श्रुत ग्यारह अंगों आदि की रचना की जाती है।³¹⁴ मलधारी हेमचन्द्र ने भूतवाद का अर्थ स्पष्ट करते हुए कहा है कि जिसमें सम्पूर्ण विषय युक्त सभी वस्तु समूह का प्रतिपादन किया गया है अथवा जिसमें सामान्य विशेषादि सभी धर्म युक्त जीवों के भेद-प्रभेदों का उल्लेख है, वह भूतवाद (दृष्टिवाद) कहलाता है।³¹⁵ स्त्रियाँ तुच्छ स्वभाववाली, बहुत अभिमान युक्त, चपलेन्द्रिय और बुद्धि से मन्द होती हैं इसलिए स्त्रियों को अतिशययुक्त अध्ययन और भूतवाद देने की जिनेश्वरों की आज्ञा नहीं है।³¹⁶ जिसकी विस्तार से चर्चा पं. सुखलाल संघवी ने कर्मग्रंथ के विवेचन में की है।³¹⁷

मलधारी हेमचन्द्र³¹⁸ ने अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य में अन्तर के निम्न कारण उल्लेखित किये हैं -

309. वर्द्धमानजिनेन्द्रोक्तः सोऽयमर्थो गणेश्वरम्। इन्द्रभूतिं परिप्राप्त सुधर्म धारणीभवम्॥

प्रभवं क्रमतः कीर्तिं ततोऽनु (नू) त्तरवाग्मिनम्। लिखितं तस्य संप्राप्य खेयत्तोऽयमुद्गतः॥-पद्मपुराण, पर्व 1, गाथा 41-42

310. महापुराण (आदिपुराण) पर्व 1, गाथा 198-201

311. जैनतर्कभाषा पृ. 24

312. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 2286-2291, 2511 एवं बृहद्वृत्ति

313. आवश्यक चूर्णि, 1 पृ. 8

314. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 551

315. मलधारी हेमचन्द्र, पृ. 253

316. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 552

317. कर्मग्रंथ, भाग 4, परिशिष्ट, 'त' पृ. 149-153

318. अंगबाहिरं दुविहं पण्णत्तं, तं जहा-आवस्सयं च, आवस्सय वइरित्तं च। - नंदीसूत्र, पृ. 160

1. अंगप्रविष्ट आगम गणधर के द्वारा रचित होते हैं, जबकि अंगबाह्य आगम स्थविर के द्वारा रचित होते हैं।

2. गणधर द्वारा प्रश्न किए जाने पर तीर्थकर द्वारा उपदिष्ट त्रिपदी (उत्पाद, व्यय, ध्रुव) के आधार पर गणधर द्वादशांगी की रचना करते हैं, वह श्रुत अंगप्रविष्ट कहलाता है, किन्तु बिना प्रश्न पूछे तीर्थकर द्वारा जो श्रुत प्रतिपादित होता है, वह अंगबाह्य कहलाता है।

3. शाश्वत (नियत-ध्रुव) श्रुत अर्थात् जो श्रुत सभी तीर्थकरों के तीर्थ में अवश्य होता है वह अंगप्रविष्ट एवं अशाश्वत (अनियत-अध्रुव) श्रुत अर्थात् जो श्रुत सभी तीर्थकरों के तीर्थ में नहीं होता है, वह अंगबाह्य श्रुत कहलाता है।

जिनभद्रगणि ने अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य के स्वरूप मात्र के उल्लेख किया है, लेकिन इनके भेद-प्रभेदों का उल्लेख नहीं किया है। इसका कारण यह हो सकता है कि नंदीसूत्र आदि में इसका विस्तार से वर्णन प्राप्त होता है, अतः ग्रंथ का अनावश्यक कलेवर नहीं बढ़े इस कारण भाष्यकार ने उल्लेख नहीं किया हो। लेकिन इस शोधग्रंथ में अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य के भेद-प्रभेद प्रसंगानुकूल हैं, अतः नंदीसूत्र आदि में जो उल्लेख प्राप्त होता है, उन्हीं की यहाँ समीक्षा प्रस्तुत की जा रही है।

अंगबाह्य के दो भेद

अंगबाह्य के दो भेद हैं, यथा - 1. आवश्यक - नियमित कर्तव्य, 2. आवश्यक व्यतिरिक्त - आवश्यक से भिन्न।³¹⁸ उक्त विभाजन से यह स्पष्ट होता है कि अंगबाह्य आगमों में आवश्यक सूत्र का प्रथम स्थान है।

आवश्यक का स्वरूप और भेद

आवश्यक क्या है, इसके रचनाकार कौन हैं इसके कितने भेद हैं इत्यादि का विस्तार से उल्लेख प्रथम अध्याय में किया जा चुका है।³¹⁹

आवश्यक व्यतिरिक्त के भेद

आवश्यक व्यतिरिक्त के दो भेद हैं - 1. कालिक-काल में ही पढ़ने योग्य 2. उत्कालिक-काल उपरान्त में भी पढ़ने योग्य।³²⁰ कालिक और उत्कालिक सूत्र का विभाग सर्वप्रथम नंदी सूत्र में प्राप्त होता है। स्थानांग सूत्र में कालिक और उत्कालिक का उल्लेख मात्र मिलता है।³²¹

जिनभद्रगणि के अनुसार - जिनके स्वाध्याय का काल नियत हो वह कालिक है, शेष उत्कालिक है।³²²

नंदीचूर्णिकार के अनुसार - जो श्रुत दिन और रात के प्रथम और अन्तिम प्रहर में पढ़ा जाता है, वह कालिकश्रुत है। जिस सूत्र का पठन-पाठन/अध्ययन-अध्यापन काल की मर्यादा में बंधा हुआ नहीं है, वह उत्कालिक सूत्र है।³²³

मलधारी हेमचन्द्र के अनुसार - ग्यारह अंग काल-ग्रहण आदि की दृष्टि से पढ़े जाते थे, इसलिए उनकी संज्ञा कालिक है। कालिकश्रुत में प्रायः चरणकरणानुयोग का प्रतिपादन है, इसलिए भाष्यकार ने चरणकरणानुयोग के स्थान पर कालिकश्रुत का प्रयोग किया है।³²⁴ इसका कारण पूर्व

319. प्रथम अध्याय - विशेषावश्यकभाष्य एवं बृहद्वृत्ति : एक परिचय, पृ. 1-9

320. आवस्सयवइरित्तं दुविहं पण्णत्तं, तं जहा-कालियं च, उक्कालियं च। - पारसमुनि, नंदीसूत्र, पृ. 226

321. स्थानांगसूत्र स्था. 2 उ. 1, सू. 106, पृ. 37

322. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 2294-95

323. कालियं जं दिणरातीणं पढमचरिमपोरिसीसु पढिज्जति। जं पुण कालवेलवज्जं पढिज्जति तं उक्कालियं। - नंदीचूर्णि, पृ. 88

324. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 2294-2295 की बृहद्वृत्ति

परम्परा रही है। आवश्यकनिर्युक्ति के अनुसार आर्यरक्षितसूरि ने अनुयोग के समय कालिकश्रुत की व्यवस्था की थी। प्रथम अनुयोग चरणकरनाणुयोग है। उसके लिए निर्युक्तिकार ने कालिक श्रुत शब्द का प्रयोग किया है।³²⁵

अकलंक ने अंगबाह्य के कालिक और उत्कालिक के अनेक विकल्पों का कथन किया है। उनके अनुसार स्वाध्याय काल में जिसका काल नियत है, वह कालिक है, अनियत काल वाला उत्कालिक है।³²⁶ उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि स्वाध्याय काल की मर्यादा के आधार पर यह विभाग किया गया है।

कालिक सूत्र के भेद

कालिक सूत्र के अनेक भेद हैं, उनमें से प्रमुख नाम नंदीसूत्र और व्यवहार सूत्र में प्राप्त होते हैं, जो इस प्रकार है – 1. उत्तराध्ययन 2. दशाश्रुतस्कन्ध 3. बृहत्कल्प 4. व्यवहार 5. निशीथ 6. महानिशीथ 7. ऋषिभाषित 8. जंबूद्वीपप्रज्ञप्ति 9. द्वीपसागरप्रज्ञप्ति 10. चन्द्रप्रज्ञप्ति 11. लघुविमानप्रविभक्ति 12. महाविमानप्रविभक्ति 13. अंगचूलिका 14. वर्गचूलिका 15. व्याख्याचूलिका 16. अरुणोपपात 17. वरुणोपपात 18. गरुडोपपात 19. धरणोपपात 20. वैश्रमणोपपात 21. वेलंधरोपपात 22. देवेन्द्रोपपात 23. उत्थानश्रुत 24. समुत्थानश्रुत 25. नागपरिज्ञापनिका 26. निरयावलिकाएँ, 27. कल्पिका, 28. कल्पावतंसिका, 29. पुष्पिता, 30. पुष्पचूलिका तथा 31. वृष्णिदशा।³²⁷ व्यवहारसूत्र में नंदीसूत्र में आए हुए आगमों के अतिरिक्त अन्य कालिक आगमों के नाम का भी उल्लेख है, यथा स्वप्नभावना, चारणभावना, तेजनिर्गम, आशीविषभावना, दृष्टिविषभावना।³²⁸ इन पाँचों को गिनने पर कालिक सूत्रों की संख्या 36 होती है।

नंदीसूत्र³²⁹ में उपलब्ध कालिक सूत्र के वर्णन में देवर्द्धिगणि सामने और भी कालिक सूत्र रहे हो लेकिन सभी को लिपिबद्ध नहीं किया हो, ऐसा ‘एवमाइयाइं’ (इत्यादि) शब्द से प्रतीत होता है।

आचार्य महाप्रज्ञ द्वारा सम्पादित नंदी सूत्र में कालिक सूत्र के अन्तर्गत ‘कल्पिका’ का नाम नहीं है।³³⁰ जबकि युवाचार्यमधुकरमुनि के नंदी सूत्र में यह नाम प्राप्त होता है।³³¹

उत्कालिक सूत्र के भेद

उत्कालिक शास्त्र अनेक हैं, लेकिन नंदीसूत्र के अनुसार मुख्य रूप से उसके 29 नाम गिनाये हैं, यथा-1. दशवैकालिक, 2. कल्पाकल्प, 3. लघुकल्प, 4. महाकल्प, 5. औपपातिक, 6. राजप्रश्नीय, 7. जीवाभिगम, 8. प्रज्ञापना, 9. महाप्रज्ञापना, 10. प्रमादाप्रमाद, 11. नन्दी, 12. अनुयोगद्वार, 13. देवेन्द्रस्तव, 14. तंदुलवैचारिक, 15. चन्द्रवेध्यक, 16. सूर्यप्रज्ञप्ति, 17. पौरुषीमण्डल, 18. मण्डप्रवेश, 19. विद्याचरणविनिश्चय, 20. गणिविद्या, 21. ध्यान विभक्ति, 22. मरण विभक्ति, 23. आत्मविशुद्धि, 24. वीतरागश्रुत, 25. संलेखनाश्रुत, 26. विहारकल्प, 27. चरणविधि, 28. आतुरप्रत्याख्यान, 29. महाप्रत्याख्यान इत्यादि।³³²

तत्त्वार्थसूत्र में नंदीसूत्र के समान उत्कालिक के नामों का उल्लेख नहीं है। पूज्यपाद ने कालिक उत्कालिक भेद का नामनिर्देश नहीं किया है। लेकिन दोनों भेदों के एक-एक ग्रंथ का उल्लेख अवश्य किया है, यथा कालिक – उत्तराध्ययन, उत्कालिक – दशवैकालिक।³³³ जबकि अकलंक ने आवश्यक-

325. आवश्यक निर्युक्ति गाथा 776-777

326. स्वाध्यायकाले नियतकालं कालिकम्। अनियतकालमुत्कालिकम्। – तत्त्वार्थवार्तिक 1.10.14

327. नंदीसूत्र पृ. 163

328. त्रीणिछेदसूत्राणि (व्यवहारसूत्र) उ. 10 पृ. 452-453

329. नंदीसूत्र, पृ. 163

330. आ० महाप्रज्ञ, नंदी, पृ. 136

331. नंदीसूत्र, पृ. 163

332. नंदीसूत्र पृ. 161-162

333. सर्वार्थसिद्धि 1.20

आवश्यकव्यतिरिक्त ऐसे भेदों का नामनिर्देश करने के अलावा अंगबाह्य के कालिक उत्कालिक भेदों का उल्लेख किया है।³³⁴

बारह अंग सूत्र भी कालिक हैं। आवश्यक सूत्र 1, उत्कालिक सूत्र 29, कालिक सूत्र 35/36, अंग सूत्र 12, इन सबको मिलाने पर 76/77 आगमों के नाम प्राप्त होते हैं।

दिगम्बर परम्परा में अंगबाह्य के भेद

जयधवला के अनुसार आवश्यक एक श्रुतस्कंध नहीं है। उसमें अंगबाह्य के चौदह प्रकार बताये हैं, यथा सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, वैयनिक, कृतिकर्म, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, कल्प्यव्यवहार, कल्प्याकल्प्य, महाकल्प्य, पुण्डरीक, महापुण्डरीक और निषिद्धका। इनके स्वरूप का वर्णन कषायपाहुड, धवला, गोम्मटसार³³⁵ आदि में विस्तार से है। इस प्रकार दिगम्बर परम्परा में अंगबाह्य के चौदह भेदों का उल्लेख है। तत्त्वार्थभाष्य में अंगबाह्य के तेरह (सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, कायव्युत्सर्ग, प्रत्याख्यान, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, दशा, कल्प्य, व्यवहार, निशीथ, ऋषिभाषित) ग्रन्थों का उल्लेख है।³³⁶ नंदीसूत्र में अधिक भेदों का उल्लेख है। तत्त्वार्थसूत्र में आवश्यक के भेदों का नामनिर्देश किया गया है।

प्रकीर्णक ग्रन्थ

नंदीचूर्णिकार के अनुसार अर्हत् के द्वारा उपदिष्ट श्रुत का अनुसरण कर श्रमण जिनका निर्यूहण करते हैं, वे प्रकीर्णक कहलाते हैं। अथवा श्रुत का अनुसरण कर अपने वाणी कौशल से धर्मोपदेश आदि में जिस विषय का प्रतिपादन करते हैं, वह प्रकीर्णक है।³³⁷ इस प्रकार चूर्णि में प्रकीर्णक को दो प्रकार से परिभाषित किया गया है।

प्रकीर्णककार अपरिमित हैं, इसलिए प्रकीर्णक अपरिमित हैं, किन्तु इस सूत्र में प्रकीर्णकों के परिमाण के आधार पर प्रत्येकबुद्धों की संख्या का नियमन किया गया है, अतः यहाँ प्रत्येक बुद्धों द्वारा प्रणीत अध्यन ही प्रकीर्णक के रूप में ग्राह्य हैं।³³⁸ चूर्णि के अनुसार प्रकीर्णकों के रचनाकार प्रत्येक बुद्ध होते हैं। इस प्रकार प्रकीर्णक के सम्बन्ध में विभिन्न प्रकार की परम्पराएं प्राप्त होती हैं।

नंदीसूत्र में प्रकीर्णक की संख्या के विषय में दो मत

1. उत्कृष्ट श्रमण संख्या की अपेक्षा-अर्हन्त भगवन्त श्री ऋषभदेव स्वामी के 84 हजार प्रकीर्णक ग्रन्थ थे, क्योंकि उनकी विद्यमानता में उनके शासन में एक समय में उत्कृष्ट 84 हजार साधु रहे। दूसरे अजितनाथ से लेकर तेईसवें पार्श्वनाथ तक के बाईस तीर्थकरों के संख्यात संख्यात प्रकीर्णक ग्रन्थ थे, क्योंकि उनकी विद्यमानता में उनके शासन में एक समय में उत्कृष्ट संख्यात-संख्यात साधु रहे थे। भगवान् वर्द्धमान स्वामी की विद्यमानता में उनके शासन में एक समय में उत्कृष्ट 14 हजार साधु रहे अतः उनके समय 14 हजार प्रकीर्णक थे।

प्रत्येक तीर्थकर के शिष्य तीर्थकर का उपदेश सुनकर उनके आशयों को ग्रहण करके व्यवस्थित रूप में अपनी बुद्धि पर अंकित कर देते हैं, उन्हीं अंकों को यहाँ प्रकीर्णक कहा गया है। तीर्थकर की

334. तदनेकविधं कालिकोत्कालिकादिविकल्पात्। - राजवार्तिक 1.20.14

335. कसायपाहुड 1.1.1 पृ. 89-111, धवला पु. 1, सू. 1.1.2, पृ. 96-98, धवला पु. 9, सू. 4.1.45, पृ. 188, गोम्मटसार जीवकांड भाग 2, गाथा 367-368

336. तत्त्वार्थधिगमसूत्र 1.20 पृ. 90

337. जतो ते चतुरासीति समणसहस्सा अरहंतमग्गउवदिट्ठे जं सुतमणुसारित्ता किंचि णिज्जूहंते ते सव्वे पइण्णगा, अहवा सुत्तमणुस्सरतो अप्पणो वयणकोसल्लेण जं धम्मदेसणादिसु भासंते तं सव्वं पइण्णगं। - नंदीचूर्णि पृ. 90, मलयगिरि, नंदीवृत्ति, पृ. 208

338. नंदीचूर्णि, पृ. 90

विद्यमानता में हजारों लाखों शिष्य होने पर भी उनकी संख्या के तुल्य प्रकीर्णक नहीं बताकर साधुओं की उत्कृष्ट सम्पदा के तुल्य बताये गये हैं। इससे यह प्रतीत होता है कि व्यक्ति की विद्यमानता में ही उनका संग्रह बुद्धि पर माना गया है। देहावसान के बाद उनकी विद्यमानता नहीं होने से उनका प्रकीर्णक भी नहीं रहता है। उत्कृष्ट सम्पदा जितने ही प्रकीर्णक बताये गये हैं। तीर्थकर के द्वारा मान्यता प्राप्त होने जाने से उन्हें कालिक ही कहा गया है। टीका में अलग-अलग प्रकार के अर्थ मिलते हैं।

2. दूसरे मत के अनुसार जिन तीर्थकरों के जितने शिष्य औत्पत्तिकी, वैनेयिकी, कार्मिकी और पारिणामिकी-इन चार बुद्धि सहित थे, उन तीर्थकरों के उतने ही प्रकीर्णक ग्रन्थ थे।³³⁹ यहाँ पर चार बुद्धियों से युक्त इस विशेषण से प्रत्येक बुद्ध का ग्रहण हुआ है। यहाँ पर मात्र प्रत्येक बुद्धों के रचितों को ही प्रकीर्णक समझना चाहिए। इसका कारण प्रत्येक बुद्धों का परिमाण प्रकीर्णक के परिमाण से ही प्रतिपादित किया गया है।

आगमकालीन मत

आगमकालीन युग में अंगों के सिवाय सभी प्रकीर्णक ही माने जाते थे। वर्तमान में जो आगम श्रेणी में नहीं आते हैं, उन्हीं को प्रकीर्णक कहा जाता है। किन्तु आगमकालीन युग में ऐसा नहीं था। क्योंकि उत्तराध्ययनसूत्र अध्ययन 28 गाथा 23 में 'इक्कारस अंगाइं पइण्णगं दिट्ठिवाओ य' अर्थात् ग्यारह अंग, प्रकीर्णक सूत्र और दृष्टिवाद श्रुतज्ञान है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि बारह अंगों के सिवाय सभी प्रकीर्णक हैं। स्थानांगसूत्र³⁴⁰ के चौथे स्थान के पहले उद्देशक में चार अंगबाह्य प्रज्ञप्तियां बताई गयी हैं, यथा चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति और द्वीपसागरप्रज्ञप्ति। इनमें सूर्यप्रज्ञप्ति और जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति पंचम और षष्ठ अंग के उपांग रूप हैं और शेष दोनों प्रकीर्णक रूप कही गई हैं। नवांगी टीकाकार अभयदेवसूरि के समय तक प्रकीर्णक ही थे।³⁴¹ उपर्युक्त पाठों से यह सिद्ध होता है कि आगम हो या प्रकीर्णक, सभी अंगबाह्य रूप एक ही नाम से कहे जाते हैं। आगे जाकर अमुक-अमुक शब्द अमुक के लिए रूढ़ हो गये। नंदीचूर्णिकार के अनुसार प्रकीर्णक कालिकश्रुत और उत्कालिक श्रुत दोनों प्रकार के होते हैं।³⁴²

नंदी सूत्र में छह प्रकीर्णकों के नाम प्राप्त होते हैं - देवेन्द्रस्तव, तंदुलवैचारिक, चंद्रवेध्यक, गणिविद्या, आतुरप्रत्याख्यान और महाप्रत्याख्यान। चूर्णिकार ने कुछेक प्रकीर्णकों का विवेचन किया है।³⁴³

वर्तमान में प्रकीर्णकों की संख्या

प्रकीर्णक की सूचि भिन्न-भिन्न ग्रंथों में भिन्न-भिन्न प्रकार की मिलती है। इस विषय में मुनि पुण्यविजयजी ने विस्तार से लिखा है।³⁴⁴ समान्यतया प्रकीर्णक दस माने जाते हैं, किन्तु इनकी कोई निश्चित नामावली नहीं होने के कारण ये नाम कई प्रकार के होते हैं। इन सबका समावेश किया जाये, तो कुल बाईस प्रकीर्णकों के नाम प्राप्त होते हैं।³⁴⁵ निम्न ग्रंथों में प्रकीर्णकों को के दस-दस नाम प्राप्त होते हैं, यथा आगमयुग का जैन दर्शन³⁴⁶, तंदुलवेयालियपइण्णयं³⁴⁷, जैन साहित्य का बृहद् इतिहास की पीठिका में³⁴⁸ तथा जैन साहित्य का बृहद् इतिहास³⁴⁹ में 11 प्रकीर्णकों के नाम प्राप्त होते हैं। लेकिन इन सभी ग्रंथों में संख्या समान होते हुए भी प्रकीर्णकों के नामों में भिन्नता है।

339. नंदीसूत्र, पृ. 164

340. स्थानांगसूत्र, पृ. 255

341. तत्र सूरप्रज्ञप्तिजम्बूद्वीपप्रज्ञप्ती पंचमषष्ठंगयोरूपांगभूते, इतरे तु प्रकीर्णक रूप इति। स्थानांगवृत्ति, पृ. 224

342. पइण्णगज्झयणा वि सव्वे कालियउक्कालिया। - नंदीचूर्णि पृ. 90

343. महाप्रज्ञ, नंदी परिशिष्ट 2, जोग नंदी सूत्र 8

344. पइण्णयसुत्ताइं, पृ. 18

345. आचार्य महाप्रज्ञ, नंदीसूत्र पृ. 160

346. आगमयुग का जैन दर्शन, पृ. 26

347. तंदुलवेयालियपइण्णयं, भूमिका, पृ. 4

348. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, पीठिका, पृ. 710-712

349. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग 2, पृ. 345-363

अंगप्रविष्ट के भेद

अंगप्रविष्ट के लिए द्वादशांग के साथ गणिपिटक और श्रुतपुरुष शब्दों का प्रयोग प्राप्त होता है। गणिपिटक में बारह अंग हैं। जो गण या गच्छ का अधिपति होता है, वह गणी या गणधर कहलाता है। तीर्थंकरों की अर्थरूप वाणी के आधार पर गणधरों द्वारा ग्रंथित होने से इन्हें गणिपिटक कहा जाता है। गणिपिटक का अन्य अर्थ है - परिच्छेदों का समूह।³⁵⁰ इन अंग आगमों में अनेक परिच्छेद हैं। बारह अंगों का न्यास किया जाता है।³⁵¹ श्रुतपुरुष के अंगस्थानीय आचारांग आदि बारह अंग हैं, यही द्वादशांगी है।³⁵² जैसे पुरुष के हाथ-पैर आदि बारह अंग होते हैं, वैसे ही श्रुत रूप परम पुरुष के आचार आदि बारह अंग हैं। जो श्रुतपुरुष के अंगरूप में व्यवस्थित हैं, वे अंगप्रविष्ट हैं।³⁵³

पुरुष के अंग	श्रुतपुरुष के अंग
दो चरण	आचारांग (दाहिना पैर), सूत्रकृतांग (बायाँ पैर)
दो जंघा	स्थानांग (दाहिनी जंघा), समवायांग (बायी जंघा)
दो ऊरु	भगवती (दाहिनी उरु), ज्ञाताधर्मकथा (बायी उरु)
उदर, पीठ	उपासकदशा (नाभि), अन्तकृद्दशा (वक्षस्थल)
दो भुजा	अनुत्तरौपपातिकदशा (दाहिना बाहु), प्रश्नव्याकरण (बायाँ बाहु)
ग्रीवा	विपाकश्रुत
सिर	दृष्टिवाद (मस्तक)

इस प्रकार अंगप्रविष्ट के बारह भेद होते हैं - 1. आचारांग 2. सूत्रकृतांग 3. स्थानांग 4. समवायांग 5. व्याख्याप्रज्ञप्ति अथवा भगवती 6. ज्ञाताधर्मकथांग (नाथधर्मकथा) 7. उपासकदशांग (उपासकाध्ययन) 8. अन्तकृद्दशांग (अन्तकृद्दशा) 9. अनुत्तरौपपातिकदशा (अनुत्तरौपपातिकदशा) 10. प्रश्नव्याकरण 11. विपाकश्रुत और 12. दृष्टिवाद। इस प्रकार श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्परा में अंगों के क्रम में कोई भिन्नता नहीं है, किन्तु नामों में भिन्नता है, दिगम्बर परम्परा में जिस अंग के नाम में अन्तर है उस नाम को ऊपर कोष्ठक में दिया गया है।

श्वेताम्बर परम्परा में उमास्वाति ने द्वादशांगी के नाम की सूचि मात्र दी है। नंदी में अंगप्रविष्ट के बारह भेदों का विस्तार से वर्णन है। समवायांग में अंगप्रविष्ट का वर्णन है, लेकिन अंगबाह्य का वर्णन नहीं है।³⁵⁴ स्थानांगसूत्र³⁵⁵ में अंगबाह्य का उल्लेख मिलता है। दिगम्बर परम्परा में पूज्यपाद ने भी अंगों की सूचि दी है। परंतु दृष्टिवाद के विभाग का और 14 पूर्वों के नामों का उल्लेख किया है। जबकि अकलंक ने अंगों का संक्षिप्त वर्णन करते हुए दृष्टिवाद का विस्तार से वर्णन किया है।³⁵⁶

श्वेताम्बर एवं दिगम्बर परम्परा में मान्य द्वादशांगों के स्वरूप का संक्षिप्त परिचय

यहाँ पहले श्वेताम्बर परम्परा का वर्णन समवायांगसूत्र और नंदीसूत्र³⁵⁷ के आधार से तथा

350. मलयगिरि, नंदीवृत्ति, पृ. 193

351. पायदुग जंघोरु गातदुगद्धं तु दो य बाहूयो। गीवा सिंर च पुरिसो बारस अंगो सुतविसिट्ठो॥ - नंदीचूर्ण पृ. 88

352. मलयगिरि, नंदीवृत्ति, पृ. 193

353. मलयगिरि, नंदीवृत्ति, पृ. 203

354. समवायांगसूत्र, पृ. 171-191

355. सुयणाणे दुविहे पण्णत्ते तं जहा - अंगपविट्ठे चेव, अंगबाहिरे चेव। - स्थानांगसूत्र पृ. 37

356. तत्त्वार्थभाष्य 1.20, सर्वार्थसिद्धि 1.20, कसायपाहुड पृ. 111, राजवार्तिक 1.20.12, धवला पु.1, सूत्र 1.1.2 पृ. 99,

धवला पुस्तक 9, सू. 4.1.45, पृ. 197, गोम्मटसार जीवकांड गाथा 356-357 पृ. 592

357. समवायांगसूत्र, पृ. 171-191, पारसमुनि, नंदीसूत्र, पृ. 231-258

दिगम्बर परम्परा का कसायपाहुड, राजवार्तिक, गोम्मटसार³⁵⁸ और धवला³⁵⁹ के आधार पर देकर उसकी समीक्षा प्रस्तुत की जा रही है।

1. आचारांग

तीर्थकरों द्वारा कही हुई और पहले के सत्पुरुषों द्वारा आचरित ज्ञान आदि की आराधना की विधि को 'आचार' कहते हैं तथा उसके प्रतिपादक ग्रंथ को भी उपचार से 'आचार' कहते हैं। आचारांग में श्रमण निर्ग्रन्थों का आचार, गोचर, विनय, वैनयिक, शिक्षा, भाषा, अभाषा, चरण, करण, यात्रा-मात्रा—इत्यादि वृत्तियों का निरूपण किया गया है। वह संक्षेप में पाँच प्रकार का है, यथा ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार। इसके दो श्रुतस्कंध हैं। पहले श्रुतस्कंध का नाम ब्रह्मचर्य है और दूसरे श्रुतस्कंध का नाम 'आचारांग' या 'सदाचार' है। पहले श्रुतस्कंध में नौ अध्ययन (1. शस्त्र परिज्ञा 2. लोक विजय 3. शीतोष्णीय 4. सम्यक्त्व 5. आवंती 6. धूत 7. विमोक्ष 8. महापरिज्ञा 9. उपधानश्रुत) और दूसरे श्रुतस्कंध में सोलह अध्ययन (1. पिण्डैषणा 2. शय्या 3. ईर्या 4. भाषा 5. वस्त्रैषणा 6. पात्रैषणा 7. अवग्रह प्रतिमा 8-14. सप्त सप्तिका 15. भावना 16. विमुक्ति) हैं। आचारांग में अठारह हजार पद हैं। यह पद संख्या ब्रह्मचर्याध्ययनात्मक प्रथम श्रुतस्कंध की समझी जाती है। आचारांग में चरण करण की प्ररूपणा है। समवायांग में वर्णित आचारांग की विषय वस्तु नंदीसूत्र में वर्णित विषय वस्तु से विस्तृत है। समवायांग में विनय का फल, विहार, चंक्रमण (शरीर के श्रम को दूर करने के लिए इधर-उधर टहलना), आहार-पानी ग्रहण की विधि सहित समिति-गुप्ति आदि विषय का उल्लेख हुआ है।

आचाराङ्ग को स्थापना की अपेक्षा से प्रथम अङ्ग कहा है अन्यथा रचना की अपेक्षा तो यह बारहवाँ अङ्ग है। क्योंकि रचना की अपेक्षा 14 पूर्वों की रचना सर्व प्रथम होती है। इसीलिये उनको पूर्व (पहला) कहा है।

दिगम्बर परम्परा के ग्रंथ गोम्मटसार में आचार की परिभाषा देते हुए कहा है कि जिसमें या जिसके द्वारा अच्छी प्रकार से आचरण किया जाता है, मोक्ष मार्ग की आराधना की जाती है, वह आचार है। आचारांग में चारित्र का विधान है। आठ प्रकार की शुद्धि, ईर्या, भाषा आदि पांच समिति, मनोगुप्ति आदि तीन गुप्ति के रूप में आचार का वर्णन है अर्थात् मुनि को यतनापूर्वक चलना चाहिए, यतना पूर्वक बैठना, सोना, भोजन करना और बोलना चाहिए। इस प्रकार आचरण करने से पापकर्म का बंध नहीं होता है। इसमें 18000 पद हैं।

समीक्षा - दोनों परम्पराओं में आचारांग की विषय वस्तु साधु के आचार से सम्बन्धित है। दिगम्बर ग्रन्थों में केवल सामान्य कथन है, जबकि श्वेताम्बर ग्रन्थों में आचारांग के अध्ययन आदि का विशेष वर्णन है। स्थानांग में केवल प्रथम श्रुतस्कंध के नौ अध्ययनों का उल्लेख मिलने से तथा समवायांग में ब्रह्मचर्य के अध्ययनों का पृथक् उल्लेख होने से प्रथम श्रुतस्कंध की प्राचीनता और महत्ता की पुष्टि होती है।

धवला के अनुसार अंगों तथा पूर्वों के पद का परिमाण मध्यम पद के द्वारा होता है।³⁶⁰ आचार्य महाप्रज्ञ ने उल्लेख किया है कि मध्यम पद के आधार पर पदों की गणना करने पर आचारांग का

358. कसायपाहुड पृ. 111-120, राजवार्तिक 1.20.12, गोम्मटसार जीवकांड गाथा 356-357 पृ. 592-598

359. धवला पु.1, सूत्र 1.1.2 पृ. 99-107, धवला पुस्तक 9, सू. 4.1.45, पृ. 197-203

360. षट्खण्डागम, पु. 13, पृ. 266

आकार बहुत विशाल हो जाता है। उसका वर्तमान आकार छोटा है। देवर्धिगणी के समय में संभवतः यही आकार रहा, जो आज उपलब्ध है। उन्होंने अठारह हजार पदों का उल्लेख परम्परा से प्राप्त अवधारणा के आधार पर किया है, ऐसा प्रतीत होता है।³⁶¹

2. सूत्रकृतांग

सूत्रकृताङ्ग सूत्र में स्वसमय (स्वसिद्धान्त), परसमय (अन्यतीर्थियों का सिद्धान्त), जीव का स्वरूप, अजीव का स्वरूप, लोक का स्वरूप, अलोक का स्वरूप इत्यादि के साथ ही जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष इन तत्त्वों का वर्णन किया गया है। नवदीक्षित साधु जिसकी बुद्धि कुदर्शनियों के मत को सुन कर भ्रान्त बन गई है तथा जिसको सहज-स्वाभाविक सन्देह उत्पन्न हो गया है, उन नवदीक्षित साधुओं की पापकारी मलिन बुद्धि को शुद्ध करने के लिए क्रियावादी के 180, अक्रियावादी के 84, अज्ञानवादी के 67 और विनयवादी के 32, ये सब मिला कर 363 पाखण्ड मत का खण्डन करके स्वसिद्धान्त की स्थापना की गई है। अनेक हेतु और दृष्टान्तों द्वारा परमत की निःसारता बतलाई गई है। इसके दो श्रुतस्कन्ध और तेईस अध्ययन हैं। इसमें 36 हजार पद हैं। वर्तमान सूत्रकृतांग 2100 श्लोक परिमाण अक्षर का है।

दिगम्बर परम्परा के गोम्मटसार में 'सूत्रयति' अर्थात् जो संक्षेप से अर्थ को सूचित करता है, उसे सूत्रकृतांग कहा है। सूत्रकृतांग में ज्ञान के लिए विनय आदि का तथा प्रज्ञापना, कल्य अकल्य, छेदोपस्थापना, व्यवहार धर्म आदि क्रियाओं सहित स्वसमय और परसमय का निरूपण है। अथवा सूत्रों के द्वारा कृत क्रिया विशेष का जिसमें वर्णन है, वह सूत्रकृतांग है। जयधवला के अनुसार उपर्युक्त विषय के अलावा स्त्रीसबन्धी परिणाम, क्लीबता, अस्फुटत्व अर्थात् मन की बातों को स्पष्ट नहीं कहना, काम का आवेश, विलास, आस्फालन-सुख और पुरुष की इच्छा करना आदि स्त्री के लक्षणों का वर्णन है। इसमें 36000 पद हैं।

समीक्षा - दोनों परम्पराओं में सूत्रकृतांग सूत्र की वर्णित विषय वस्तु में मुख्य रूप से पर सिद्धान्त का खण्डन करते हुए स्व-सिद्धान्त का मण्डन किया गया है।

3. स्थानांग

जिस सूत्र में जीव आदि तत्त्वों का संख्या पूर्वक प्रतिपादन या स्थापन किया जाता है, उसे 'स्थानांग' कहते हैं। स्थानांग में टंक, कूट, शैल, शिखरी, प्राग्भार, कुंड, गुफा, आकर, द्रह, महा नदियाँ, समुद्र, देव, असुरकुमार आदि के भवन, विमान, आकर-खान, सामान्य नदियाँ, निधियाँ, पुरुषों के भेद, स्वर, गोत्र, ज्योतिषी देवों का चलना इत्यादि का निरूपण किया गया है। इस सूत्र में एक-एक की वृद्धि से दस भेदों तक का वर्णन किया गया है। इसका एक ही श्रुतस्कन्ध है, दस अध्ययन हैं। इसके 72 हजार पद हैं। इसमें वर्तमान में 783 सूत्र तथा 3700 श्लोक प्रमाण अक्षर हैं।

दिगम्बर परम्परा के अनुसार जिसमें एक से लेकर एक-एक बढ़ते हुए स्थान रहते हैं, वह स्थानांग है। उसमें संग्रहनय से आत्मा एक है तथा व्यवहारनय से आत्मा के संसारी एवं मुक्त दो प्रकार हैं, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य युक्त होने से त्रिलक्षण है, कर्मवश चारों गतियों में संक्रमण करने से चार संक्रमण से युक्त है। जीव औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक आदि पांच भावों से युक्त है। पूर्व आदि के भेद से संसार अवस्था में छह उपक्रमों से युक्त है, स्याद् अस्ति आदि सप्तभंगी के सद्भाव में सप्तविध है, आठ प्रकार के कर्म आस्रवों से युक्त होने से आठ आस्रवरूप है, जीव-

अजीव-आस्रवादि नौ पदार्थ उसके विषय होने से नौ अर्थ रूप हैं, पृथिवी-अप्-तेज-वायु-प्रत्येक-साधारण-द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय के भेद से दस स्थान वाला है, इस प्रकार जीव का विवेचन हुआ है। सामान्य से पुद्गल एक है, विशेष की अपेक्षा अणु और स्कन्ध के भेद से दो प्रकार हैं। इस प्रकार पुद्गल आदि के एक से लेकर एक-एक अधिक स्थानों का वर्णन रहता है। इसमें 42 हजार पद हैं। अकलंक ने इसके दो अर्थ किये हैं, पहला अर्थ उपर्युक्तानुसार ही है। दूसरे अर्थ में स्थानाग में एक से लेकर दश तक की गणित का वर्णन है, जैसेकि एक केवलज्ञान, एक मोक्ष, एक आकाश, दो दर्शन, दो ज्ञान इत्यादि।

समीक्षा - श्वेताम्बर परम्परा में इसके 10 अध्ययन हैं, ऐसा उल्लेख प्राप्त होता है, लेकिन दिगम्बर परम्परा के ग्रंथों में ऐसा उल्लेख नहीं है। धवला में जीवादि की 1 से 10 तक संख्या का स्पष्ट उल्लेख होने से ऐसी सम्भावना कर सकते हैं कि इसके 10 अध्ययन रहे होंगे। दोनों परम्पराओं की विषय वस्तु में भिन्नता है।

4. समवायांग

जिसके द्वारा जीवादि पदार्थों का सम्यक् निर्णय हो, उसे समवाय (सम्+अवाय) कहते हैं। समवायांग में जीव, अजीव, जीवाजीव, स्व-समय, पर-समय, स्व-पर-समय, लोक, अलोक, लोकालोक, इनका जैसा स्वरूप है, वैसा ही स्वरूप स्वीकार किया गया है। समवायाङ्ग सूत्र में एक दो तीन यावत् एक एक की वृद्धि करते हुए सौ तक और फिर हजार लाख यावत् कोटि पर्यन्त पदार्थों का कथन किया गया है। द्वादशांग गणिपिटक अर्थात् आचाराङ्ग आदि बारह अङ्गसूत्रों का संक्षिप्त विषय का परिचय दिया गया है और परिमाण बताया गया है। इसका एक ही श्रुतस्कंध है, एक ही अध्ययन है। इसमें 1 लाख 44 हजार पद हैं तथा वर्तमान में इसमें 1667 श्लोक प्रमाण अक्षर हैं।

दिगम्बर परम्परा के अनुसार सामान्यरूप संग्रहनय से द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव को लेकर जीवादि पदार्थ जिसमें जाने जाते हैं, वह समवायांग है। उसमें द्रव्य की अपेक्षा धर्मास्तिकाय से अधर्मास्तिकाय समान है, संसारी जीव से संसारी जीव समान है, मुक्त जीव से मुक्त जीव समान है, इत्यादि द्रव्यसमवाय है। क्षेत्र की अपेक्षा सीमन्त नरक, मनुष्यलोक, ऋजुनामक इन्द्रक विमान, सिद्धक्षेत्र प्रदेश से समान हैं। सातवीं नरक का अवधिस्थान नामक इन्द्रकविला, जम्बूद्वीप, सर्वार्थसिद्धि विमान समान है, इत्यादि क्षेत्रसमवाय है। एक समय एक समय के समान है, आवली (आवलिका) आवली के समान है, प्रथम पृथिवी के नारकी, भवनवासी और व्यन्तरों की जघन्य आयु समान है, सातवें नरक के नारकी और सर्वार्थसिद्धि के देवों की उत्कृष्ट आयु समान है, इत्यादि काल समवाय है। केवलज्ञान केवलदर्शन के समान है, इत्यादि भाव समवाय है। इसमें एक लाख चौंसठ हजार पद हैं।

समीक्षा - दिगम्बर ग्रंथों में 100 समवाय तथा श्रुतावतार का उल्लेख नहीं है। वहाँ द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से चार प्रकार के समवाय द्वारा सभी पदार्थों के विवेचन का निर्देश है। इस तरह का उल्लेख श्वेताम्बर समवायांग में नहीं मिलता है तथा द्रव्यों की समानता का निरूपण करने वाली शैली वर्तमान समवायांग में उपलब्ध नहीं होती है। पं. कैलाशचन्द्र ने समवायांग और नन्दी की तुलना करते हुए कहा है कि समवायांग में द्वादशांग का वर्णन नन्दी से प्रायः अक्षरशः मेल खाला है। अतः डॉ. बेबर का कहना था कि हमें यह विश्वास करने के लिए बाध्य होना पड़ता है कि नन्दी और समवायांग में पाये जाने वाले समान वर्णनों का मूल आधार नन्दी है और यह कार्य समवाय के संग्राहक का या लेखक का होना चाहिए। किन्तु हमारे इस अनुमान में यह कठिनाई है कि नन्दी और समवाय की

शैली में अन्तर है। किन्तु समवाय से नंदी की विषयसूची बहुत संक्षिप्त है। इससे यह प्रमाणित होता है कि नन्दी में दत्त विषयसूची प्राचीन है। इसके सिवाय नंदी की द्वादशांग की विषयसूची को लेकर जो पाठभेद पाये जाते हैं, निश्चय ही समवायांग के पाठों में उत्तम एवं प्राचीन है।³⁶²

5. व्याख्या प्रज्ञप्ति (भगवती)

जिसके द्वारा जीवादि पदार्थों का विवेचन किया जाये, वह 'व्याख्या' है। जिसमें व्याख्या करके जीव आदि पदार्थों को समझाया जाता हो, वह 'व्याख्याप्रज्ञप्ति' है। व्याख्यात्मक कथन होने से इसे व्याख्याप्रज्ञप्ति कहते हैं तथा पूज्य और विशाल होने से यह भगवती के नाम से प्रसिद्ध हैं। भगवती सूत्र में स्वसिद्धान्त, परसिद्धान्त, जीव, अजीव, लोक, अलोक आदि का वर्णन किया गया है साथ ही इसमें अनेक देव, राजा, राजर्षियों द्वारा पूछे गये प्रश्नों का श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने द्रव्य, गुण, क्षेत्र, पर्याय, प्रदेश, परिणाम, यथातथ्यभाव, अनुगम, निक्षेप, नय, प्रमाण, सूक्ष्म उपक्रम आदि विविध प्रकार से प्रकाशित तथा लोकालोक के स्वरूप को प्रकाशित करने वाले विस्तृत संसार समुद्र को पार करवाने में समर्थ, भव्यजनों के चित्त को आनन्दित करने वाले, अज्ञान रूपी अन्धकार को नष्ट करने वाले, दीपक के समान पदार्थों को प्रकाशित करके बुद्धि को बढ़ाने वाले, छत्तीस हजार प्रश्नों का उत्तर दिया है। जो कि अनेक प्रकार से श्रुतार्थ को प्रकाशित करने वाले महान् गुणों से युक्त शिष्यों के लिए हितकारी हैं। नंदीसूत्र के अनुसार इसके एक श्रुतस्कंध और एक सौ से कुछ अधिक शतक (अध्ययन) हैं। 36000 प्रश्नोत्तर हैं। 2 लाख 88 हजार पद हैं तथा वर्तमान में 1575 श्लोक परिमाण अक्षर हैं। आचारांग से लेकर समवायांग तक पदों का परिमाण दुगुना-दुगुना बताया गया है, किन्तु समवायांग सूत्र में व्याख्याप्रज्ञप्ति के पदों में द्विगुणता नहीं बतायी गई है, क्योंकि वहां पर चौरासी हजार पदों का स्पष्ट उल्लेख है, जो कि वर्तमान में उपलब्ध है। जबकि नन्दी में दो लाख 88 हजार पदों का उल्लेख करते हुए द्विगुणता का आश्रय लिया गया है।

दिगम्बर परम्परा के जयधवला ग्रन्थ के अनुसार जीव है या नहीं है? जीव एक है या अनेक है? जीव नित्य है या अनित्य है? जीव वक्तव्य है या अवक्तव्य है, तीर्थकर के पास में पूछे गये इस प्रकार के गणधर के साठ हजार प्रश्नों के उत्तर इस आगम में हैं तथा छियानवे हजार ज्ञापनीय शुभ और अशुभ का वर्णन है। इसमें दो लाख अठाई हजार पद हैं।

समीक्षा - दोनों परम्पराओं में भगवती की विषय वस्तु लगभग समान है। श्वेताम्बर परम्परा में छत्तीस हजार और दिगम्बर परम्परा में तत्त्वार्थवार्तिक में साठ हजार प्रश्नों के उत्तरों का उल्लेख है, जबकि जयधवला में साठ हजार प्रश्नोत्तरों के साथ 96 हजार छिन्नच्छेद³⁶³ नयों का भी वर्णन है।

भगवती सूत्र में वर्णित 36000 प्रश्नों के समाधान को प्राप्त कर नर से नारायण, पुरुष से पुरुषोत्तम, भक्त से भगवान् बन सकते हैं। ज्ञानादि सम्पूर्ण ऐश्वर्य से जो युक्त हो उसे भगवान् कहते हैं। इस सूत्र का अध्ययन करने से आत्मा ज्ञाता, विज्ञाता बनकर भक्त से भगवान् बन जाता है। यह सूत्र भक्त से भगवान् बनाता है इसलिये इसे भगवती सूत्र भी कहते हैं। आचाराङ्ग से लेकर दृष्टिवाद तक बारह अङ्ग सूत्र हैं उनमें दृष्टिवाद सबसे बड़ा अङ्ग सूत्र है। परन्तु वह तो प्रत्येक तीर्थङ्कर के दो पाट तक ही चलता है। फिर विच्छिन्न हो जाता है। इस समय दृष्टिवाद का विच्छेद हो जाने से विपाक सूत्र तक 11 अङ्ग ही उपलब्ध होते हैं। इन 11 अङ्गों में यह व्याख्या प्रज्ञप्ति अङ्ग सबसे बड़ा है। इसलिये भी इसे भगवती सूत्र कहते हैं।

362. जैन साहित्य का इतिहास, पूर्व पीठिका, पृ. 653-654

363. छिन्नो द्विधाकृतः पृथक्कृतः छेदः पर्यन्तो येन से छिन्नच्छेदः प्रत्येकं विकल्पित पर्यन्तः इत्यर्थः। - मलयगिरि, नंदीवृत्ति, पृ. 56

6. ज्ञाताधर्मकथा

ज्ञात का अर्थ है - उदाहरण और धर्मकथा का अर्थ है - अहिंसादि का प्रतिपादन करने वाली कथा। ऐसे ज्ञात और धर्मकथाएँ जिस सूत्र में हों, उसे 'ज्ञाता-धर्मकथा' कहते हैं। ज्ञाता धर्मकथा के ज्ञाता विभाग में नायकों के नगर, नगर के उद्यान, चैत्य, वनखण्ड, नगर में धर्माचार्य का पदार्पण, सेवा में राजा, माता-पिता आदि का गमन, धर्माचार्य की धर्मकथा, नायक की इहलौकिक-पारलौकिक विशिष्ट ऋद्धि, भोगों का परित्याग, दीक्षा का ग्रहण, दीक्षा पर्याय का काल, शास्त्राभ्यास, तपाराधना, संलेखना, भक्तप्रत्याख्यान, पादपोषगमन, देवलोक प्राप्ति, उच्च मनुष्य कुल में पुनर्जन्म, पुनः बोधि-लाभ और अन्तक्रिया आदि का वर्णन किया गया है। तीर्थङ्कर भगवान् के विनय मूलक धर्म में दीक्षित होने वाले, संयम की प्रतिज्ञा को पालने में दुर्बल बने हुए, तप नियम तथा उपधान तप रूपी रण में संयम के भार से भग्न चित्त बने हुए घोर परीषहों से पराजित बने हुए ज्ञान, दर्शन, चारित्र रूप मोक्ष मार्ग से पराङ्मुख बने हुए, तुच्छ विषय सुखों की आशा के वशीभूत एवं मूर्च्छित बने हुए साधु के विविध प्रकार के आचार से शून्य और ज्ञान दर्शन चारित्र की विराधना करने वाले व्यक्तियों का वर्णन किया गया है और यह बतलाया गया है कि वे इस अपार संसार में नाना दुर्गतियों में अनेक प्रकार का दुःख भोगते हुए बहुत काल तक भव भ्रमण करते रहेंगे। इसके विपरीत जो संयम में स्थिर रहते हैं, उसमें पराक्रम करते हैं, विषयों को तुच्छ समझते हैं, घोर उपसर्ग-परीषहों को जीतते हैं। वे आत्म का कल्याण करके मोक्ष को प्राप्त होते हैं। इस प्रकार ज्ञान दर्शन चारित्र की आराधना करने वाले व्यक्तियों का ज्ञाताधर्मकथा सूत्र में वर्णन किया गया है।

इसमें दो श्रुतस्कन्ध हैं, पहले श्रुतस्कन्ध में 19 अध्ययन हैं। संख्यात हजार पद (अर्थात् 576000 पद) हैं, संख्येय अक्षर हैं तथा वर्तमान में 5450 श्लोक परिणाम हैं। वर्तमान में जो दूसरा श्रुतस्कन्ध उपलब्ध होता है उसमें धर्मकथाओं के द्वारा धर्म का स्वरूप बतलाया गया है। तेईसवें तीर्थङ्कर पुरुषादानीय भगवान् पार्श्वनाथ के पास दीक्षा ली हुई 206 आर्यिकाओं (साध्वियों) का वर्णन है। वे सब चारित्र की विराधक बन गयी थी। अन्तिम समय में उसकी आलोचना और प्रतिक्रमण किये बिना ही काल धर्म को प्राप्त हो गयी थी। भवनपतियों के उत्तर और दक्षिण के बीस इन्द्रों के तथा वाणव्यन्तर देवों के दक्षिण और उत्तर दिशा के बत्तीस इन्द्रों की एवं चन्द्र, सूर्य, प्रथम देवलोक के इन्द्र, सौधर्मेन्द्र (शक्रेन्द्र) तथा दूसरे देवलोक के इन्द्र ईशानेन्द्र की अग्रमहिषियाँ हुई हैं। वहाँ से च्यव कर महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेकर सिद्ध बुद्ध मुक्त हो जायेंगी। दूसरे श्रुतस्कन्ध के दस वर्ग हैं। उनमें एक-एक धर्मकथा में पाँच सौ-पाँच सौ आख्यायिकाएं हैं। एक-एक आख्यायिका में पाँच सौ-पाँच सौ उपाख्यायिकाएं हैं। एक-एक उपाख्यायिका में पाँच सौ-पाँच सौ आख्यायिका+उपाख्यायिका हैं, इस प्रकार एक अरब पच्चीस करोड़ कथाएं हैं। परन्तु अपुनरक्त मात्र सब मिलाकर साढ़े तीन करोड़ कथाएं हैं, ऐसा कहा है। लेकिन वर्तमान में इतनी कथाओं का वर्णन उपलब्ध नहीं है।

दिगम्बर परम्परा के अनुसार इसमें नाथ अर्थात् तीनों लोकों के ईश्वरों के स्वामी तीर्थकर परम भट्टारक की धर्मकथा है। इसमें जीवादि वस्तुओं के स्वभाव का कथन है, घातिकर्मों के क्षय के अनन्तर केवलज्ञान के साथ उत्पन्न तीर्थकर नामक पुण्यातिशय से जिनकी महिमा बढ़ गयी है, उन तीर्थकरों की पूर्वाह्न, मध्याह्न, अपराह्न और अर्धरात्रि में छह-छह घड़ी काल पर्यन्त बारह गणों की सभा के मध्य स्वभाव से दिव्यध्वनि की वागरणा होती है, अन्य समय में भी गणधर, इन्द्र और चक्रवर्ती के प्रश्न करने पर वागरणा सुनने को मिलती है। इस प्रकार उत्पन्न हुई दिव्यध्वनि समस्त

निकटवर्ती श्रोतागणों के उत्तम क्षमादि लक्षण रूप रत्नत्रयात्मक धर्म का कथन करती है। अथवा ज्ञाता जिज्ञासु गणधर देव के प्रश्न के अनुसार उत्तर वाक्यरूप धर्मकथा, पूछे गये अस्तित्व-नास्तित्व आदि के स्वरूप का कथन अथवा ज्ञाता तीर्थंकर गणधर, इन्द्र, चक्रवर्ती आदि के धर्मानुबन्धी कथोपकथन जिसमें हों, वह ज्ञातृधर्मकथा नामक छठा अंग है। इसमें पांच लाख छप्पन्न हजार पद होते हैं।

समीक्षा - दोनों परम्पराओं में विषय वस्तु की कुछ समानता है। यद्यपि तत्त्वार्थवार्तिक में अनेक आख्यान-उपाख्यान कहे हैं, परन्तु जयधवला में ज्ञाताधर्म की 19 धर्मकथाओं के कथन का ही उल्लेख मिलता है जो संभवतः 19 अध्ययनों का द्योतक है। इस अंगसूत्र के शब्दार्थ पर विचार करते हैं तो दिगम्बर परम्परा में इसे नाथधर्मकथा (णाहधम्मकहा) कहते हैं और श्वेताम्बर ज्ञातृधर्मकथा (णायाधम्मकहा) 'नाथ' से दिगम्बर परम्परा के अनुसार नाथवंशीय महावीर का और 'ज्ञातृ' से श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार ज्ञातृवंशीय महावीर का ही बोध होता है।

7. उपासकदशा

'उपासक' का अर्थ है - श्रमण निर्ग्रन्थ की उपासना करने वाला। ऐसे उपासक गृहस्थों के जिसमें चरित्र हों, उसे - 'उपासकदसा' कहते हैं। उपासकदसा में श्रमणोपासकों के नगरादि का वर्णन ज्ञाताधर्मकथांग के समान ही है। विशेष रूप से चार शिक्षाव्रत, तीन गुणव्रत, पांच अणुव्रत, दस प्रकार के प्रत्याख्यान आदि, अष्टमी चतुर्दशी अमावस्या पूर्णिमा को पौषधोपवास, श्रावक की 11 प्रतिमाएं, देवादि कष्ट, संलेखना, भक्तप्रत्याख्यान, पादपोषगमन, देवलोक प्राप्ति, उच्च मनुष्यकुल में पुनर्जन्म, पुनः बोधिलाभ और अन्तक्रिया आदि का उल्लेख किया गया है। इसका एक श्रुतस्कंध है, दस अध्ययन हैं। संख्यात हजार पद (अर्थात् ग्यारह लाख बावन हजार पद) हैं तथा वर्तमान में 812 श्लोक परिमाण हैं। उपासकदसा में चरण करण की प्ररूपणा है।

दिगम्बर परम्परा के अनुसार 'उपासते' जो आहार आदि दान के द्वारा पूजाविधान के द्वारा संघ की आराधना करते हैं, वे उपासक हैं। वे उपासक दर्शनिक, व्रतिक, सामायिक, पौषधोपवास, सचित्तविरत, रात्रिभक्तव्रत, ब्रह्मचर्य, आरम्भविरत, परिग्रहविरत, अनुमतविरत, उद्दिष्टविरत श्रावकों ने इन ग्यारह भेदों (श्रावक की ग्यारह प्रतिमा) से सम्बद्ध व्रत, गुण, शील, आचार, क्रिया, मन्त्र आदि विस्तार से जिममें 'अधीयन्ते' पढ़े जाते हैं, वह उपासकाध्ययन नामक सातवां अंग है। इसमें ग्यारह लाख सत्तर हजार पद हैं।

समीक्षा - दोनों परम्पराओं में उपासकों के आचार आदि के वर्णन की अपेक्षा से विषयवस्तु लगभग समान है। दशा शब्द 10 संख्या का बोधक है। इस प्रकार यह अंग-ग्रन्थ स्वनामानुरूप है। धवला और जयधवला में उपासकों की ग्यारह प्रतिमाओं का भी उल्लेख है, परन्तु तत्त्वार्थवार्तिक में ऐसा उल्लेख नहीं है। वर्तमान उपासकदसांग में जिन दस श्रावकों का वर्णन है, वही नाम स्थानांगसूत्र में प्राप्त होते हैं। लेकिन समवायांग और नंदी में आनन्द आदि 10 उपासकों के नामों का उल्लेख तो नहीं है, परन्तु 10 अध्ययन संख्या से 10 उपासकों की पुष्टि होती है। दिगम्बर साहित्य में इस विषय में कोई उल्लेख नहीं है।

8. अन्तकृद्दशा

अन्तकृत् का अर्थ है-जिन्होंने कर्म या संसार का अन्त किया, ऐसे साधुओं का जिसमें चरित्र हो, उसे 'अन्तकृद्दसा' कहते हैं। अन्तकृद्दसा में संसार का अन्त करने वाले मुनियों के नगर इत्यादि का वर्णन ज्ञाताधर्मकथांग के समान है। इसके एक श्रुतस्कंध में आठ वर्ग हैं। अन आठ वर्गों में 90

अध्ययन हैं। संख्येय हजार (अर्थात् 23 लाख 4 हजार) पद हैं तथा वर्तमान में 850 श्लोक परिमाण हैं। अंतगडदसा में चरण करण की प्ररूपणा है।

दिगम्बर परम्परा के अनुसार जिन्होंने संसार का अन्त कर दिया है, वे अन्तकृत् कहे जाते हैं। प्रत्येक तीर्थ में दस-दस मुनि चार प्रकार के तीव्र उपसर्ग को सहकर इन्द्रादि के द्वारा रचित पूजादि प्रतिहार्यों की सम्भावना को प्राप्त करके कर्मों के क्षय के अनन्तर संसार का अन्त करते हैं, इसलिए उन्हें 'अन्तकृत्' कहते हैं। श्री वर्धमान तीर्थकर के तीर्थ में नमि, मतंग, सोमिल, रामपुत्र, सुदर्शन, यमलीक, वलीक, किष्कंबिल, पालम्ब, अष्टपुत्र ये दश अन्तकृत् हुए। राजवार्तिक में इन दस नामों में भिन्नता है। (नमि, मतंग, सोमिल, रामपुत्र, सुदर्शन, यम, वाल्मीक, वलीक, निष्कंबल, पालांबष्ठ) इसी प्रकार ऋषभदेव आदि के भी तीर्थ में हुए। एक-एक तीर्थकर के तीर्थ में नानाप्रकार के दारुण उपसर्गों को सहनकर और प्रातिहार्य अर्थात् अतिशय विशेषों को प्राप्तकर निर्वाण को प्राप्त दस-दस अन्तकृतों का वर्णन हो, वह अंग अन्तकृद्दशांग है। इसमें 23 लाख 28 हजार पद है।

समीक्षा - अन्तकृतदशा शब्द का अर्थ टीकाकार श्री अभयदेव सूरि ने इस प्रकार किया है - 'अन्तो-भवान्तःकृतो-विहितो यैस्तेऽन्तकृतास्तद् वक्तव्यता प्रतिबद्धा दशाः। दशाध्ययनरूपा ग्रन्थपद्धतय इति अन्तकृतदशाः।' अर्थात् जिन महापुरुषों ने भव का अन्त कर दिया है, वे 'अन्तकृत' कहलाते हैं। उन महापुरुषों का वर्णन जिन दशा अर्थात् अध्ययनों में किया हो, उन अध्ययनों से युक्त शास्त्र को 'अन्तकृत दशा' कहते हैं। इस सूत्र के प्रथम और अन्तिम वर्ग के दस-दस अध्ययन होने से इसको "दशा" कहा है।

कोई कोई 'अन्तकृत्' शब्द का ऐसा अर्थ करते हैं कि- 'जो महापुरुष अन्तिम श्वासोच्छ्वास में केवलज्ञान प्राप्त कर मोक्ष में गये हैं उन्हें अन्तकृत् कहते हैं।' किन्तु यह अर्थ शास्त्र-सम्मत नहीं है। क्योंकि केवलज्ञान होते ही तेरहवाँ गुणस्थान प्राप्त होता है। 13 वें गुणस्थान का नाम 'सयोगी केवली गुणस्थान' है। इस गुणस्थान में योगों की प्रवृत्ति रहती है। इसकी स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त उत्कृष्ट देशोन करोड़ पूर्व की है। तेरहवें गुणस्थान के अन्त में सब योगों का निरोध कर देते हैं। इसके बाद साधक 14वें गुणस्थान में जाते हैं। इसलिये इस गुणस्थान का नाम अयोगी केवली गुणस्थान है। इसकी स्थिति अ, इ, उ, ऋ, लृ ये पांच ह्रस्व अक्षर उच्चारण करने जितनी है। इसलिये अन्तिम श्वासोच्छ्वास में केवलज्ञान उत्पन्न होने की बात कहना ठीक नहीं है। केवलज्ञान होने के बाद 13वें गुणस्थान में कुछ ठहर कर उसके बाद 'अयोगी-केवली' नामक 14वाँ गुणस्थान प्राप्त होता है। अतः टीकाकार ने जो अर्थ किया है, वही ठीक है। इस प्रकार भव (चतुर्गति रूप संसार) का अन्त करने वाली महान् आत्माओं में से कुछ महान् आत्माओं के जीवन का वर्णन इस सूत्र में दिया गया है इसलिये इसे अन्तकृत दशा सूत्र कहते हैं। नंदीचूर्णिकार के अनुसार प्रथम वर्ग में दस अध्ययन हैं, इसलिए यह अंतकृत्दशा है।³⁶⁴

स्थानांग, तत्त्वार्थवार्तिक, धवला, जयधवला आदि में नमि आदि भगवान् महावीर के समय में हुए दस अन्तकृतों के नाम प्रायः एक समान मिलते हैं। समवायांग, नंदी में इन नामों का उल्लेख नहीं है। दिगम्बर ग्रन्थों के अनुसार इसमें न केवल भगवान् महावीर के समय के 10 अन्तकृतों का वर्णन रहा है, अपितु चौबीसों तीर्थकरों के समय में हुए 10-10 अन्तकृतों का वर्णन रहा है। वर्तमान में इसमें न तो 10 अध्ययन हैं और न नमि आदि अन्तकृतों का वर्णन है। स्थानांग में इसके 10

अध्ययन, समवायांग में 10 अध्ययनों के अलावा सात वर्गों का तथा नन्दी में केवल आठ वर्गों का उल्लेख है। वर्तमान अंतगडदसा के प्रथम वर्ग में जिन दस अध्ययनों का उल्लेख है, वे दस अध्ययन स्थानांग में वर्णित दस नामों से भिन्न है।³⁶⁵

9. अनुत्तरौपपातिक

अनुत्तरौपपातिक का अर्थ है-जिससे बढ़कर श्रेष्ठ एवं प्रधान अन्य कोई देवलोक नहीं है, ऐसे सर्वोत्तम देवलोक में जो उत्पन्न हुए हैं, ऐसे साधुओं का जिसमें चरित्र हो, उसे 'अनुत्तर औपपातिक दसा' कहते हैं। अनुत्तर विमान पांच हैं, यथा - विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और सर्वार्थसिद्ध। यहाँ दशा शब्द का अर्थ अध्ययन विशेष है। अनुत्तर औपपातिकदशा में अनुत्तर औपपातिकों के नगरादि का वर्णन ज्ञाताधर्मकथांग के समान है। इसके एक श्रुतस्कंध में तीन वर्ग हैं, पहले वर्ग में दस, दूसरे वर्ग में तेरह और तीसरे वर्ग में दस अध्ययन हैं। इस प्रकार इसमें तैंतीस अध्ययन हैं। संख्येय हजार (अर्थात् 46 लाख 8 हजार) पद हैं तथा वर्तमान में 192 श्लोक परिमाण हैं।

दिगम्बर परम्परा के अनुसार उपपाद जिनका प्रयोजन है, वे औपपातिक हैं। विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और सर्वार्थसिद्धि नामक अनुत्तरों में उपपाद जन्म लेने वाले अनुत्तरौपपादिक होते हैं। प्रत्येक तीर्थ में दस-दस मुनि दारुण महान् उपसर्गों को सहकर प्रतिहार्य प्राप्त करके समाधिपूर्वक प्राणों को त्यागकर विजयादि अनुत्तर विमानों में उत्पन्न हुए हैं, उनका वर्णन अनुत्तरौपपादिकदशा नामक नौवें अंग में है। ऋषिदास, धन्य, सुनक्षत्र, कार्तिक, नन्द नन्दन शालिभद्र, अभय, वारिषेण, चिलातपुत्र ये दस भगवान् महावीर स्वामी के तीर्थ में अनुत्तरौपपादिक हुए हैं। इसमें 92 लाख 44 हजार पद हैं।

समीक्षा - दिगम्बर साहित्य के वर्णन से यह ज्ञात होता है कि अन्तकृद्दशा के समान 24 तीर्थकरों के तीर्थ में होने वाले 10-10 अनुत्तरौपपातिकों का वर्णन अनुत्तरौपपातिकदशा सूत्र में है। लेकिन ऐसा उल्लेख श्वेताम्बर साहित्य में ऐसा वर्णन नहीं है। भगवान् महावीर के समय में जो 10 अनुत्तरौपपातिक हुए उनके नामों का स्थानांग में उल्लेख है, उसमें से पांच नाम दिगम्बर ग्रन्थों में भी मिलते हैं। स्थानांग और समवायांग में इसके 10 अध्ययनों का उल्लेख है। नन्दी में अध्ययनों का उल्लेख ही नहीं है। वर्तमान ग्रन्थ में वर्णित केवल तीन नाम ऐसे हैं जो स्थानांग और दिगम्बर ग्रन्थों में समानता रखते हैं। वर्तमान अनुत्तरौपपातिक में जिन दस अध्ययनों का उल्लेख है, वे दस अध्ययन स्थानांग में वर्णित दस अध्ययनों के नामों से भिन्न है।³⁶⁶

10. प्रश्नव्याकरण

जिसमें प्रश्न का व्याकरण अर्थात् उत्तर हो, उसे 'प्रश्नव्याकरण' कहते हैं। प्राचीन प्रश्नव्याकरण में 108 प्रश्नों, 108 अप्रश्नों तथा 108 प्रश्न-अप्रश्नों के माध्यम से तीनों कालों के शुभ-अशुभ कहने वाली विद्याओं का निरूपण है, इसमें 1. अंगूठे से ही प्रश्न के शुभाशुभ फल का सुनाई देना 2. बाहुप्रश्न - बाहु से ही प्रश्न के शुभाशुभ फल का सुनाई देना 3. आदर्श प्रश्न - दर्पण में शुभाशुभ फल का दृश्य दिखाई देना आदि सैकड़ों विचित्र विद्याएँ और विद्याओं के अतिशय का तथा मुनियों के जो नागकुमार, स्वर्णकुमार आदि के साथ दिव्य संवाद हुए उनका वर्णन था। इसका एक श्रुतस्कंध है। 45 अध्ययन हैं। अध्ययन हैं। संख्यात हजार (अर्थात् 92 लाख 16 हजार) पद हैं तथा वर्तमान में 1300 श्लोक परिमाण हैं। किन्तु यह प्रश्नव्याकरण वर्तमान में अनुपलब्ध है।

वर्तमान उपलब्ध प्रश्नव्याकरण सूत्र में दो श्रुतस्कन्ध हैं। पहले श्रुतस्कन्ध का नाम आस्रव द्वार

है, इसमें 1. प्राणातिपात 2. मृषावाद 3. अदत्तादान 4. अब्रह्म और 5. परिग्रह, ये पाँच अध्ययन हैं। जिनका 1. स्वरूप 2. नाम 3. क्रिया 4. फल और 5. कर्ता, इन पाँच के माध्यम से वर्णन किया गया है। जैसेकि हिंसा का महादुःखकारी फल जीव को भोगना पड़ता है। इसलिये सुखार्थी पुरुष को हिंसा का सर्वथा त्याग कर देना चाहिए। असत्यवादी पुरुष को नरक, तिर्यञ्च गतियों में जन्म लेकर अनेक दुःख भोगने पड़ते हैं। अदत्तादान (चोरी) करने वाले प्राणियों को इस लोक में राज्य की तरफ से मृत्यु दण्ड तक दिया जाता है और परलोक में नरक-तिर्यच गति में जन्म लेकर अनेक दुःख भोगने पड़ते हैं। अब्रह्म (मैथुन) का सेवन कायर पुरुष ही करते हैं, शूरवीर नहीं। इसका सेवन कितने ही समय तक किया जाय, किन्तु तृप्ति नहीं होती। जो राजा, महाराजा, वासुदेव, चक्रवर्ती, इन्द्र, नरेन्द्र आदि इसमें फँसे हुये हैं वे अतृप्त अवस्था में ही काल धर्म को प्राप्त हो जाते हैं और दुर्गति में जाकर वहाँ अनेक प्रकार के दुःख भोगते हैं। परिग्रह जो पाप का बाप है उसमें अधिक फंसने से सुख प्राप्त नहीं होता। किन्तु सन्तोष से ही सुख की प्राप्ति होती है। इन आस्रवों का पापकारी फल बताकर इन से निवृत्त होने की शास्त्रकार ने प्रेरणा दी है।

दूसरे श्रुतस्कन्ध का नाम संवर द्वार है। इसमें 1. अहिंसा 2. सत्य 3. दत्त 4. ब्रह्मचर्य और 5. अपरिग्रह, ये पाँच अध्ययन हैं। जिनका स्वरूप आदि से वर्णन किया गया है। इस प्रकार इसमें अहिंसा आदि का बहुत सुन्दर शब्दों में वर्णन किया है तथा यह बतलाया गया है कि संवर द्वारों की सम्यक् प्रकार से आराधना करने से जीव को मोक्ष की प्राप्ति होती है।

दिगम्बर परम्परा के अनुसार प्रश्न अर्थात् दूतवाक्य, नष्ट, मुष्टि, चिन्तादि विषयक प्रश्न का त्रिकाल गोचर अर्थ, जो धनधान्य आदि की लाभ-हानि, सुख-दुःख, जीवन-मरण, जय-पराजय आदि से सम्बद्ध है, वह जिसमें व्याक्रियते अर्थात् उत्तरित किया गया हो, वह प्रश्नव्याकरण है। जिसमें अंग हेतु और नयों के आश्रित प्रश्नों का खंडन और मंडन द्वारा विचार करने का वर्णन है तथा लौकिक और शास्त्रसंबंधी दोनों प्रकार के पदार्थों का भी वर्णन है। अथवा शिष्यों के प्रश्न के अनुसार आक्षेपणी (जिस कथा में पक्ष का स्थापन है), विक्षेपिणी (जिसमें खंडन है), संवेदिनी (जिसमें यथावत् पक्ष आदि का ज्ञान हो) और निर्वेदिनी (जिसमें संसार से भय हो) ये चार कथाएं जिसमें वर्णित हो, वह प्रश्नव्याकरण है। इसमें तिरानवें लाख सोलह हजार पद हैं।

समीक्षा – श्वेताम्बर परम्परा के प्राचीन प्रश्नव्याकरण की विषयवस्तु दिगम्बर परम्परा में वर्णित प्रश्नव्याकरण से मिलती है। लेकिन वर्तमान में प्राप्त प्रश्नव्याकरण से कोई समानता नहीं है।

वर्तमान प्रश्नव्याकरण में जिन पांच आश्रव और संवर द्वारों का उल्लेख है उसके विपरीत स्थानांग में वर्णित दस अध्ययनों के नाम भिन्न हैं, यथा उपमा, संख्या, ऋषिभाषित, आचार्यभाषित, महावीरभाषित, क्षौमकप्रश्न, कोमलप्रश्न, आदर्शप्रश्न, अंगुष्ठप्रश्न और बाहुप्रश्न।³⁶⁷

आचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार यदि नंदीसूत्रकार के सम्मुख पांच आश्रव तथा संवर द्वारों का निरूपण होता तो वे उनका उल्लेख अवश्य करते हैं। उन्होंने उल्लेख नहीं किया इसका यह अर्थ है कि वर्तमान में प्राप्त प्रश्नव्याकरण के स्वरूप की रचना देवर्धिगणि के उत्तरकाल में हुई है।³⁶⁸

11. विपाक सूत्र

ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्मों के शुभ और अशुभ परिणामों को विपाक कहते हैं। ऐसे कर्म विपाक का वर्णन जिस सूत्र में हो वह विपाक सूत्र कहलाता है। विपाक का अर्थ है-शुभ-अशुभ

कर्मों की स्थिति पकने पर उनका उदय में आया हुआ परिणाम (फल)। विपाकश्रुत में सुकृत और दुष्कृत कर्मों के फलस्वरूप होने वाला परिणाम कहा जाता है। इसके दो श्रुतस्कंध हैं, पहले श्रुतस्कन्ध का नाम दुःख विपाक है और दूसरे का नाम सुख विपाक है। दुःख का स्वरूप समझ लेने पर सुख का स्वरूप सरलता से समझ में आ सकता है। इसीलिये पहले दुःख विपाक का उल्लेख किया गया है। दुःख विपाक में हिंसादि दुष्कृत कर्मों के फलस्वरूप दुःख परिणाम पाने वाले दस जीवों के नगर, माता-पिता, नायक की इहलौकिक पारलौकिक विशिष्ट ऋद्धि, नरकादि गति में गमन तथा से एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय के जो अनेक जन्म किये, करेंगे इत्यादि का विस्तार से वर्णन है।

सुख विपाक में धर्मदान आदि सुकृत कर्मों के फलस्वरूप सुखद परिणाम पाने वाले दस जीवों के नगर, माता पिता, भोगों का परित्याग, दीक्षा ग्रहण, तपाराधन, संलेखना, देवलोक प्राप्ति, पुनः बोधिलाभ और अंतक्रिया आदि का विस्तार से वर्णन है। सुख विपाक में वर्णित व्यक्तियों ने पूर्वभव में सुपात्र को दान दिया था। जिसके फल स्वरूप इस भव में उत्कृष्ट ऋद्धि की प्राप्ति हुई और संसार परित्त (हलका) किया। ऋद्धि का त्याग करके इन सभी ने संयम अङ्गीकार किया और देवलोक में गये। आगे मनुष्य और देवता के शुभ भव करते हुए महाविदेह क्षेत्र से मोक्ष प्राप्त करेंगे। सुपात्र दान का माहात्म्य इन कथाओं से भली प्रकार ज्ञात होता है। इसके दो श्रुतस्कंध हैं। बीस अध्ययन हैं। संख्येय सहस्र (अर्थात् 1 करोड़ 84 लाख 32 हजार) पद हैं। संख्येय अक्षर हैं तथा वर्तमान में 1250 श्लोक परिमाण हैं।

दिगम्बर परम्परा के अनुसार द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के आश्रय से शुभ और अशुभ कर्मों के तीव्र-मन्द-मध्यम विकल्प शक्ति रूप अनुभाग (फलदान) के उदय को विपाक कहते हैं। उसका जिस सूत्र में वर्णन है, उसको विपाक सूत्र कहते हैं।

समीक्षा - विपाक सूत्र की विषय वस्तु का विस्तार से जितना वर्णन श्वेताम्बर साहित्य में उपलब्ध है। उतना दिगम्बर साहित्य में नहीं है। फिर भी यह निश्चित है कि दोनों परम्परा में वर्णित विपाक सूत्र की विषय वस्तु लगभग समान है।

ग्यारह अंगों के पदों का योग दुगुने-दुगुने की गिनती से 3 करोड़ 68 लाख 46 सहस्र है। वर्तमान में मात्र 35 सहस्र 6 सौ 26 श्लोक परिमाण अक्षर रहे हैं।³⁶⁹

श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्परा में मान्य पदों की संख्या का चार्ट

निम्न चार्ट में ग्यारह अंगों के पदों की संख्या श्वेताम्बर परम्परा के नंदीसूत्र एवं उसकी वृत्ति (कोष्ठक में) तथा समवायांग सूत्र और उसकी वृत्ति (कोष्ठक में) के आधार से एवं दिगम्बर परम्परा के कसायपाहुड के आधार से दी गई है। प्रवचनसारोद्धार में नंदीसूत्र की टीका के अनुसार ही ग्यारह अंगों के पदों की संख्या प्राप्त होती है।³⁷⁰

अंगप्रविष्ट	श्वे० परम्परा में पदों की संख्या		दि० परम्परा में पदों की संख्या	
	नंदीसूत्र एवं वृत्ति	समवायांगसूत्र एवं वृत्ति	कसायपाहुड	
1. आचारांग	18000	18000	18000	
2. सूत्रकृतांग	36000	36000	36000	
3. स्थानांग	72000	72000	42000	
4. समवायांग	144000	144000	164000	

369. पारसमुनि, नंदीसूत्र, पृ. 230

370. प्रवचनसारोद्धार भाग 1, पृ. 395

5. व्याख्याप्रज्ञप्ति	288000	84000	228000
6. ज्ञाताधर्म कथांग	संख्यात हजार (576000)	संख्यात हजार (576000)	556000
7. उपासकदसांग	संख्यात हजार (1152000)	संख्यात हजार (1152000)	1170000
8. अंतकृतदसांग	संख्यात हजार (2304000)	संख्यात हजार (2304000)	2328000
9. अनुत्तरौपपात्तिकदसांग	संख्यात हजार (4608000)	संख्यात हजार (4608000)	9244000
10. प्रश्नव्याकरण	संख्यात हजार (9216000)	संख्यात हजार (9216000)	9316000
11. विपाकश्रुत	संख्यात हजार (18432000)	संख्यात हजार (18432000)	18400000

दृष्टिवाद

अनेक दृष्टियों (दर्शनों) का जहाँ कथन (वाद) है, अथवा सभी दृष्टियाँ जहाँ आकर गिरे (पात) वह दृष्टिवाद है। किसी भी द्रव्य या पदार्थ में रहे हुए द्रव्यत्व, अनन्तगुण तथा अनन्तपर्याय में से किसी एक को मुख्य करके तथा अन्य को गौण करके जानना, देखना, समझना, कहना 'नय' है। जैसे - जीव के जन्ममरणादि को मुख्य करके जीव को 'अनित्य' अथवा भवभवान्तर में अविनाशीपन को मुख्य करके नित्य कहना नय है। जिसमें सभी नय-दृष्टियों का कथन हो, उसे 'दृष्टिवाद' कहते हैं।

स्थानांग सूत्र (स्थान 10) में दृष्टिवाद के दस नाम बताये हैं, यथा - 1. **दृष्टिवाद** - जिसमें भिन्न भिन्न दर्शनों का स्वरूप बताया गया हो, 2. **हेतुवाद** - जिसमें अनुमान के पांच अवयवों का स्वरूप बताया गया हो। 3. **भूतवाद** - जिसमें सद्भूत पदार्थों का वर्णन किया गया हो। 4. **तत्त्ववाद** - जिसमें तत्त्वों का वर्णन हो अथवा तथ्यवाद - जिसमें तथ्य यानी सत्य पदार्थों का वर्णन हो। 5. **सम्यग्वाद** - जिसमें वस्तुओं का सम्यग् स्वरूप बतलाया गया हो। 6. **धर्मवाद** - जिसमें वस्तु के पर्यायों का अथवा चारित्र का वर्णन किया गया हो। 7. **भाषाविजयवाद** - जिसमें सत्य, असत्य आदि भाषाओं का वर्णन किया गया हो। 8. **पूर्वगत वाद** - जिसमें उत्पाद आदि चौदह पूर्वों का वर्णन किया गया हो। 9. **अनुयोगगतवाद** - अनुयोग दो तरह का है - प्रथमानुयोग और गण्डिकानुयोग। इन दोनों अनुयोगों का जिसमें वर्णन हो उसे अनुयोगगतवाद कहते हैं। 10. **सर्व प्राणभूतजीव सत्त्व सुखावह** - द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय को प्राण कहते हैं। वनस्पति को भूत कहते हैं। पञ्चेन्द्रिय प्राणियों को जीव कहते हैं। पृथ्वीकाय, अप्काय, तेउकाय और वायुकाय को सत्त्व कहते हैं। इन सब प्राणियों को सुख का देने वाला वाद सर्व प्राण भूत जीव सत्त्व सुखावह वाद कहते हैं।

दिगम्बर साहित्य के अनुसार इस बारहवें अंग में 363 मिथ्यादृष्टियों के स्वरूप का विस्तार से निरूपण करते हुए खंडन किया गया है। मिथ्यादृष्टियों के 363 भेदों में मूल रूप से चार भेद हैं - क्रियावादी (180), अक्रियावादी (84), अज्ञानवादी (67) और विनयवादी (32)। इनके उत्तर भेदों को मिलाने पर कुल 363 पांखंड मत होते हैं। इस अंग के पदों का प्रमाण एक सौ आठ करोड़ अडसठ लाख छप्पन हजार पांच है। अकलंक ने राजवार्तिक में इनका विस्तार से वर्णन किया है, मुख्य रूप से उसी को आधार बनाते हुए ध्वलाटीका और गोम्मटसार के विषय को ध्यान में रखते हुए यहाँ उल्लेख किया जा रहा है।

दृष्टिवाद के भेद

दृष्टिवाद के संक्षेप में पांच भेद इस प्रकार हैं - 1. **परिकर्म**-योग्यता संपादन की भूमिका 2. **सूत्र**-विषय सूचना अनुक्रमणिका 3. **पूर्वगत** - मुख्य प्रतिपाद्य विषय 4. **अनुयोग** - अनुकूल दृष्टान्त कथानक 5. **चूलिका** - उक्त अनुक्त संग्रह।³⁷¹

दिगम्बर साहित्य में भी दृष्टिवाद के पांच भेद किये हैं - परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत और चूलिका।³⁷²

1. परिकर्म

दृष्टिवाद के चार भेदों सूत्र, पूर्वगत, अनुयोग और चूलिका के सूत्रार्थ को ग्रहण करने की योग्यता संपादन करने में कारणभूत भूमिका रूप शास्त्र को 'परिकर्म' कहते हैं अर्थात् पूर्वों का ज्ञान सीखने के लिए योग्यमति उत्पन्न करना। इससे बुद्धि विषय को ग्रहण कर सके ऐसा परिकर्मित किया जाता है। जैसे अंक, गिनती, पहाड़े, जोड़, बाकी, गुणा, भाग आदि सीखे बिना गणित शास्त्र सीखा नहीं जा सकता है, वैसे ही दृष्टिवाद में पहले परिकर्म शास्त्र को सीखे बिना दृष्टिवाद के शेष भेदों को नहीं सीखा जा सकता, परिकर्म शास्त्र सीखने पर ही आगे सीखा जा सकता है।³⁷³

परिकर्म के मूल भेद सात हैं। वे इस प्रकार हैं - 1. सिद्ध-श्रेणिका परिकर्म 2. मनुष्य-श्रेणिका परिकर्म 3. पृष्ट-श्रेणिका परिकर्म 4. अवगाढ-श्रेणिका परिकर्म 5. उपसंपादन-श्रेणिका परिकर्म 6. विप्रजहन-श्रेणिका परिकर्म 7. च्युत-अच्युत-श्रेणिका परिकर्म।

नदीसूत्र में परिकर्म के इन मूल भेदों के भी उत्तरभेदों का कथन नमोल्लेख सहित किया गया है, यथा, सिद्धश्रेणिका परिकर्म के 14 भेद, मनुष्यश्रेणिका परिकर्म के 14 भेद, पृष्टश्रेणिका परिकर्म के 11 भेद, अवगाढश्रेणिका परिकर्म के 11 भेद, उपसंपादन-श्रेणिका परिकर्म के 11 भेद, विप्रजहन-श्रेणिका परिकर्म के 11 भेद और च्युत-अच्युत-श्रेणिका परिकर्म के 11 भेद हैं, यों परिकर्म के सब उत्तरभेद 83 हुए।³⁷⁴

दिगम्बर साहित्य के अनुसार परिकर्म के पांच भेद हैं - 1. चन्द्रप्रज्ञप्ति 2. सूर्यप्रज्ञप्ति 3. जम्बद्वीपप्रज्ञप्ति 4. द्वीपसागरप्रज्ञप्ति 5. व्याख्याप्रज्ञप्ति। इनकी पद संख्या और विषय का वर्णन धवला³⁷⁵, गोम्मटसार³⁷⁶ आदि ग्रन्थों में किया गया है। इन पांचों के पदों को मिलाने पर कुल एक करोड़ इक्यासी लाख पांच हजार (18105000) पद हैं।³⁷⁷

2. सूत्र

सभी द्रव्य, सभी पर्याय, सभी नय, सभी भंग विकल्पों को बताने का वर्णन सूत्रों में होता है। पूर्वों में रहे अर्थ को जो सूचित करे वह सूत्र, क्योंकि सूत्र संक्षेप में होता है, किन्तु अर्थ विशाल होता है। जैसेकि तत्त्वार्थ सूत्र अर्थ से बहुत विशाल है।

सूत्रों के बाईस भेद हैं। वे इस प्रकार हैं - 1. ऋजु सूत्र 2. परिणत 3. बहुभंगिक 4. विजय चरित 5. अनन्तर 6. परंपर 7. आसान 8. संयूथ 9. संभिन्न 10. यथावाद 11. स्वस्तिक आवर्त 12. नन्दावर्त 13. बहुल 14. पृष्ट-अपृष्ट 15. व्यावर्त 16. एवंभूत 17. द्विक आवर्त 18. वर्तमान पद 19. समभिरूढ 20. सर्वतोभद्र 21. प्रशिष्य 22. दुष्प्रतिग्रह।

दिगम्बर साहित्य में - 'सूत्रयति' अर्थात् जो मिथ्यादृष्टि दर्शनों को सूचित करता है, वह सूत्र है। जीव अबन्धक है, अकर्ता है, निर्गुण है, अभोक्ता है, स्वप्रकाशक नहीं है, परप्रकाशक है, जीव अस्ति ही है या नास्ति ही है, इत्यादि क्रियावादी, अक्रियावादी, अज्ञानी और वैयक्तिक मिथ्यादृष्टि के 363 मतों

372. सवार्थसिद्धि 1.20, राजवार्तिक 1.20.12, धवला पु. 1, सू. 1.1.2, पु. 109, धवला पु. 9, सू. 4.1.40, पु. 205, गोम्मटसार जीवकांड गाथा 361-362 पृ. 600

373. पारसमुनि, नदीसूत्र, पृ. 259

374. नदीसूत्र, पृ. 192-196

375. धवला पु.1, सू. 1.1.2 पृ. 109-110, धवला पु. 9, सू. 4.1.45 पृ. 206-207

376. गोम्मटसार जीवकांड गाथा 361-362 पृ. 601

377. गोम्मटसार जीवकांड गाथा 363-364 पृ. 604

को पूर्वपक्ष के रूप में कहा गया है। धवला पुस्तक 1 में कहा है कि इस सूत्र नामक अर्थाकार के 88 अधिकारों में से चार अधिकारों का नाम निर्देश मिलता है - 1. अबन्धकों का 2. त्रैराशिकवादियों का 3. नियतिवाद का 4. स्वसमय प्ररूपक का।³⁷⁸ सूत्र में कुल पद अठासी लाख (8800000) पद है।³⁷⁹

3. पूर्वगत

तीर्थकर, तीर्थप्रवर्तन के समय गणधरों के लिए सबसे पहले जो महान् अर्थ कहते हैं, उन महान् अर्थों को जिस सूत्र में गणधर गूँथते हैं, उसे 'पूर्वगत' कहते हैं।

आवश्यकनिर्युक्ति गाथा 292-293 के अनुसार गणधरों के द्वारा इनकी रचना द्वादशांगी से पूर्व की गई थी और इसका आधार तीर्थकर द्वारा फरमाये गये तीन मातृका पद (उष्पन्नेइ वा, विगमेइ वा, धुवेइ वा) थे। पूर्वों का ज्ञान विशिष्ट विद्वानों के लिए ही बोध्यगम्य है। इसलिए साधारण लोगों के लिए पूर्व की रचना के बाद द्वादशांगी की रचना की जाती है।³⁸⁰ दशवैकालिकवृत्ति और प्रभावक चरित्र³⁸¹ के अनुसार पूर्वों की भाषा संस्कृत थी। गणधर जब द्वादशांगी की रचना करते हैं, तब आचार आदि के क्रम से उनकी रचना और स्थापना होती है।

दूसरा मत यह है कि तीर्थकरों ने सर्वप्रथम पूर्वगत को व्याकृत किया और गणधरों ने भी सबसे पहले पूर्वगत की ही रचना की और बाद में आचार आदि की रचना हुई। यह मत अक्षर रचना की अपेक्षा से है, किन्तु स्थापना की अपेक्षा और पाठ्यक्रम की अपेक्षा आचारांग पहले है।³⁸² पंडित बेचरदासजी पूर्व का अर्थ पूर्व परम्परा से चला आया हुआ ज्ञान अर्थात् तेवीसवें तीर्थकर से चौवीसवें तीर्थकर की परम्परा में आगत अर्थ करते हैं। लेकिन यह अर्थ उचित प्रतीत नहीं होता है।

पूर्वधरों को श्रुतकेवली भी कहा जाता है। वे जिन नहीं होते हुए भी जिन (तीर्थकर) के समान होते हैं।³⁸³ चतुर्दशपूर्वधारी (श्रुतकेवली) जो कुछ भी कहते हैं, वह किसी भी तरह द्वादशांगी से विरुद्ध नहीं होता। उनमें और केवली में इतना ही अन्तर होता है कि जहाँ केवली समग्र तत्त्व को प्रत्यक्ष जानते हैं किन्तु श्रुतकेवली परोक्ष रूप से श्रुतज्ञान द्वारा जानते हैं।³⁸⁴ इसके अलावा दशपूर्वधारी आदि भी नियमतः सम्यग्दृष्टि होते हैं।³⁸⁵ अतः इनके ग्रंथों को भी आगम की संज्ञा दी जाती है।

पूर्वगत के प्रकार

पूर्वगत (पूर्व) के चौदह प्रकार हैं - 1. उत्पाद पूर्व 2. अग्रायणीय पूर्व 3. वीर्यप्रवाद पूर्व 4. अस्तिनास्ति-प्रवाद पूर्व 5. ज्ञानप्रवाद पूर्व 6. सत्यप्रवाद पूर्व 7. आत्मप्रवाद पूर्व 8. कर्मप्रवाद पूर्व 9. प्रत्याख्यानप्रवाद पूर्व 10. विद्यानुप्रवाद पूर्व 11. अवन्ध्य (कल्याणनामधेय) पूर्व 12. प्राणायु (प्राणावायु) पूर्व 13. क्रियाविशाल पूर्व और 14. लोक-बिन्दुसार पूर्व।

378. धवला पु.1, सू. 1.1.2 पृ. 110-112, धवला पु. 9, सू. 4.1.45 पृ. 207-208, गोम्मटसार जीवकांड गाथा 361-362

379. गोम्मटसार जीवकांड गाथा 363-364 पृ. 603

380. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 551

381. प्रभावक चरित्र श्लोक 113-114

382. जम्हा तित्थपवत्तणकाले गणधराण सव्वसुत्ताधारत्तणतो पुव्वं पुव्वगतसुत्तत्थं भासति तम्हा पुव्वंति भणिता, गणधरा पुण सुत्तरयणं करेन्ता आयाराइकमेण एंति ठवेंति य, अण्णयरियमतेण पुव पुव्वगतसुत्तत्थो पुव्वं अरहता भासितो गणहरे वि पुव्वगतं सुत्तं चेव पुव्वं रइत्तं पच्छा आयाराए। - नंदीचूर्णि पृ. 111

383. समणस्स भगवओ महावीरस्स तिन्नि सया चोद्दसपुव्वीणं अजिणाणंजिणसंकासाणं सव्वक्खरसन्निवाईणं जिणो विव अवितहं वागरमाणाणं उक्कोसिया चोद्दसपुव्वीणं संपया होत्था। - दसाओ (दशाश्रुतस्कंध) परिशिष्ट, सू. 97

384. केवलविन्नयत्थे, सुयनाणेणं जिणो पगासेइ। सुयनाणकेवली वि हु, तेणवत्थे पगासेइ। - बृहत्कल्पभाष्य, गाथा 966

385. चोद्दस दस य अभिन्ने, नियमा सम्मं तु सेसए भयणा।

मति-ओहिविवच्चासो, वि होति मिच्छे ण उण सेसे। - बृहत्कल्पभाष्य गाथा 132

दिगम्बर साहित्य में पूर्व को दृष्टिवाद का चौथा भेद माना गया है। चौदहपूर्व के नाम दोनों परम्पराओं में लगभग समान हैं। जहाँ नामान्तर है वहाँ कोष्ठक में दिगम्बर साहित्य में मान्य नाम दिया गया है।³⁸⁶

चौदह पूर्वों की विषयवस्तु

नंदीसूत्र³⁸⁷ और तत्त्वार्थराजवार्तिक³⁸⁸ में पूर्व के भेदों का लक्षण इस प्रकार से दिया है। इसमें (अ) श्वेताम्बर परम्परा का सूचक है तथा (ब) दिगम्बर परम्परा का सूचक है।

1. **उत्पाद पूर्व (अ)** सर्व द्रव्यों के और सर्व पर्यायों के उत्पाद (उत्पत्ति) उपलक्षण से विनाश तथा ध्रुवत्व का विस्तार से कथन था। (ब) द्रव्य के उत्पाद-व्यय आदि अनेक धर्मों का पूरक उत्पादपूर्व है। जीवादि द्रव्यों के नाना नय विषयक क्रम और युगपत् होने वाले तीन काल के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप नौ धर्म होते हैं। अतः उन धर्मरूप परिणत द्रव्य भी नौ प्रकार के होते हैं, इनका जिसमें वर्णन है, वह उत्पाद पूर्व है। अकलंक के अनुसार काल पुद्गल जीव आदि के जहाँ जैसे पर्याय उत्पन्न हो, उनका उसी रूप से वर्णन करना उत्पाद पूर्व है।

2. **अग्रायणीय पूर्व (अ)** इसमें सर्व द्रव्यों सर्व पर्यायों और सर्व जीव विशेषों के परिणाम और अल्प-बहुत्व का विस्तृत ज्ञान था। (ब) अग्र अर्थात् द्वादशांग में प्रधानभूत वस्तु का अयन अर्थात् ज्ञान अग्रायण है। अथवा जिन क्रियावाद आदि में किस रूप से कौन-कौन क्रियावाद आदि होते हैं, ऐसी प्रक्रिया का नाम अग्रायणी है। जिसमें आचार आदि बारह अंगों के समवाय और विषय का वर्णन हो वह अग्रायणीय पूर्व है। इसमें सात सौ सुनयों, दुर्नयों, पांच अस्तिकाय, छह द्रव्य, सात तत्त्व, नौ पदार्थ आदि का वर्णन मिलता है।

3. **वीर्यप्रवाद पूर्व (अ)** संसारी जीवों के वीर्य का तथा उपलक्षण से सिद्धों के अवीर्य का एवं धर्मास्तिकायादि की गति-सहायादि शक्तियों का विस्तार से कथन था। (ब) वीर्य अर्थात् जीवादि वस्तु की सामर्थ्य का अनुप्रवाद अर्थ का वर्णन जिसमें होता है, वह वीर्यानुप्रवाद नामक तीसरा पूर्व है। वह अपने वीर्य, पराये वीर्य, उभयवीर्य, क्षेत्रवीर्य, काल वीर्य, भाववीर्य, तपवीर्य आदि समस्त द्रव्य-गुण-पर्यायों के वीर्य का कथन करता है। अकलंक के अनुसार छद्मस्थ (अल्पज्ञानी) और केवलियों की शक्ति, सुरेन्द्र, दैत्येन्द्र, नरेन्द्र, चक्रवर्ती और बलदेवों की ऋद्धि का जहाँ पर वर्णन हो एवं सम्यक्त्व के लक्षण का जहाँ पर कथन हो वह वीर्यप्रवाद है।

4. **अस्तिनास्तिप्रवाद पूर्व (अ)** लोक में धर्मास्तिकाय आदि जो वस्तुएँ हैं तथा गधे का सींग आदि जो वस्तुएँ नहीं हैं, इसी प्रकार जिन गुण पर्यायों की अस्ति है तथा नास्ति है, उनका इसमें विस्तार से कथन था। (ब) अस्ति-नास्ति आदि धर्मों का प्रवाद अर्थात् प्ररूपण जिसमें है, वह अस्ति-नास्ति प्रवाद नामक चतुर्थ पूर्व है। जीवादि वस्तु स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव की अपेक्षा स्यादस्ति है। परद्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा स्यात् नास्ति है। इस प्रकार सप्तभंगी रूप है। अकलंक के अनुसार पाँचों अस्तिकायों के विषय पदार्थ और नयों के विषय पदार्थों का जहाँ पर अनेक पर्यायों के द्वारा यह है, यह नहीं है, इत्यादि रूप से वर्णन हो वह अस्तिनास्तिप्रवाद है। अथवा पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा अथवा द्रव्यार्थिक पयायार्थिक दोनों नयों की अपेक्षा मुख्य और गौण रूप से जहाँ पर छहो द्रव्यों के स्व और पर पर्यायों के भाव और अभाव का निरूपण हो वह अस्तिनास्तिप्रवाद पूर्व है।

386. सवार्थसिद्धि 1.20, राजवार्तिक 1.20.12, धवला, पु. 1, सू. 1.1.2, पु. 114-122, धवला पु. 9, सू. 4.1.40, पु. 212-224, गोमटसार जीवकांड गाथा 365-366 पु. 604 से 612

387. नंदीसूत्र पृ. 264-265

388. तत्त्वार्थराजवार्तिक, 1.20.12

5. ज्ञानप्रवाद पूर्व - (अ) इसमें मतिज्ञान आदि पाँच ज्ञानों का, उपलक्षण से तीन अज्ञानों का एवं चार दर्शनों का स्वामी, भेद, विषय तथा चूलिकादि द्वारों से विस्तार से कथन था। **(ब)** दिगम्बर परम्परा में भी ऐसा ही उल्लेख है।

6. सत्यप्रवाद पूर्व (अ) सत्यभाषा आदि चार भाषाओं का या सतरह प्रकार के संयम और असंयम का स्वरूप भेद, उदाहरण कल्प अकल्प आदि से विस्तार से कथन था। **(ब)** जहाँ पर वचनों की गुप्ति, वचनों के संस्कार के कारण, वचनों के प्रयोग, बारह प्रकार की भाषा, उनके बोलने वाले, अनेक प्रकार के असत्यों का उल्लेख और दश प्रकार के सत्यों का स्वरूप वर्णन हो वह सत्यप्रवाद है। इन सभी का राजवार्तिक, धवला और गोम्मटसार में विस्तार से वर्णन है।

7. आत्मप्रवाद पूर्व (अ) द्रव्य आत्मा आदि आठ आत्माओं का स्वरूप भेद, स्वामी, नियमा, भजना आदि से विस्तार से कथन था। **(ब)** अकलंक के अनुसार आत्मा के अस्तित्व-नास्तित्व नित्यत्व-अनित्यत्व कर्तृत्व भोक्तृत्व आदि गुणों का युक्तिपूर्वक वर्णन हो और षट् जीव निकाय के भेदों का भी युक्तिपूर्वक वर्णन हो वह आत्मप्रवाद पूर्व है। गोम्मटसार के अनुसार इसमें निश्चयनय और व्यवहार नय से आत्मा का विस्तार से वर्णन हुआ है।

8. कर्मप्रवाद पूर्व - दोनों परम्पराओं के अनुसार इसमें ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्मों की प्रकृति, स्थिति, अनुभाग, प्रदेश, उत्तर प्रकृतियाँ, अबाधाकाल, संक्रमण आदि का विस्तार से कथन था।

9. प्रत्याख्यानप्रवाद पूर्व (अ) मूलगुण प्रत्याख्यान, उत्तरगुण प्रत्याख्यान, सर्वफल, देशफल आदि का विस्तार से कथन था। **(ब)** जिस पूर्व में व्रत, नियम, प्रतिक्रमण, प्रतिलेखन, तप, कल्प, उपसर्ग, आचार, प्रतिमा, विराधना, आराधना विशुद्धि का क्रम मुनि लिंग का कारण परिमित और अपरिमित द्रव्य और भावों का प्रत्याख्यान त्याग का वर्णन किया गया है, वह प्रत्याख्याखन पूर्व है।

10. विद्यानुप्रवाद पूर्व (अ) अनेक अतिशय संपन्न विद्याओं की साधना प्रयोग, आराधना-विराधना आदि का विस्तार से कथन था। **(ब)** जिसमें समस्त प्रकार की विद्या, आठ महानिमित्त उनका विषय राजू और राशि की विधि क्षेत्र श्रेणी लोक का आधार संस्थान-आकार और समुद्घात का निरूपण हो वह विद्यानुवाद पूर्व है। अकलंक ने विद्या, लोक, समुद्घात आदि का विस्तार से वर्णन किया है।

11. अवन्ध्य पूर्व (अ) इसमें ज्ञान, तप, संयम आदि सुकृत तथा प्रमाद, कषाय आदि दुष्कृत, नियम से शुभ-अशुभ फल देते हैं, कभी विफल नहीं होते, इसका विस्तार से कथन था। **(ब)** सूर्य, चंद्रमा, ग्रह, नक्षत्र और तारागण के संचार, उपपाद गति और विपरीत फलों का जहाँ पर वर्णन है, शकुनों का निरूपण है और अर्हत बलदेव, वासुदेव, चक्रवर्ती आदि के गर्भ जन्म तप आदि महा कल्याणों का पर वर्णन है, वह कल्याणनामधेय पूर्व है।

12. प्राणायु पूर्व (अ) इसमें श्रोत्रबल प्राण आदि प्राणों का तथा नरकायु आदि आयुओं का विस्तार से कथन था। **(ब)** जिस पूर्व में कायचिकित्सादि अष्टांग आयुर्वेद, पृथ्वी, जल आदि भूतों का कार्य सर्प आदि जंगम जीवों के गति आदि का वर्णन और श्वासोच्छ्वास का विभाग विस्तार से वर्णित है, वह प्राणावायु पूर्व है।

13. क्रियाविशाल पूर्व (अ) तेरह क्रिया, पच्चीस क्रिया, छेद क्रिया आदि का विस्तार से कथन था। **(ब)** जिसमें 72 प्रकार की लेखन आदि कला, 64 प्रकार के स्त्रियों के गुण, शिल्प, काव्य के गुण दोष, छन्दों की रचना एवं क्रिया तथा उन क्रियाओं के फलों के उपयोग करने वालों का निरूपण है, वह क्रियाविशाल पूर्व है।

14. लोकबिन्दुसार पूर्व (अ) इसमें सर्वाक्षर सन्निपात लब्धि उत्पन्न हो, ऐसा सर्वोत्तम ज्ञान था। **(ब)** जिसमें आठ प्रकार के व्यवहार, चार प्रकार के बीज, परिकर्मराशि का विभाग और समस्त श्रुत की संपत्ति का निरूपण है, वह लोकबिन्दुसार है।

चौदह पूर्वों की पद संख्या एवं वस्तुएँ

श्वेताम्बर साहित्य में चौदह पूर्व जो की वस्तु है, उन्हीं को दिगम्बर साहित्य में अर्थाधिकार कहा जाता है।³⁸⁹ दोनों परम्परा में मान्य पूर्वों के पदों का परिमाण निम्न प्रकार से है।

पूर्व का नाम	श्वेताम्बर में पदों की संख्या	दिगम्बर में पदों की संख्या	श्वे० में वस्तु की संख्या	दि० में अर्थाधिकार की संख्या
1. उत्पाद पूर्व	1 करोड़ पद	1 करोड़ पद	10	10
2. अग्रायणीय पूर्व	96 लाख	96 लाख	14	14
3. वीर्यप्रवाद पूर्व	70 लाख	70 लाख	8	8
4. अस्तित्नास्तित्प्रवादपूर्व	60 लाख	60 लाख	18	18
5. ज्ञानप्रवाद पूर्व	एक कम 1 करोड़	एक कम 1 करोड़	12	12
6. सत्यप्रवाद पूर्व	छह अधिक 1 करोड़	छह अधिक 1 करोड़	2	12
7. आत्मप्रवाद पूर्व	26 करोड़	26 करोड़	16	16
8. कर्मप्रवाद पूर्व	1 करोड़ 80 सहस्र	1 करोड़ 80 सहस्र	30	20
9. प्रत्याख्यान प्रवाद पूर्व	84 लाख	84 लाख	20	30
10. विद्यानुप्रवाद पूर्व	1 करोड़ 10 लाख	1 करोड़ 10 लाख	15	15
11. अवन्ध्य पूर्व	26 करोड़	26 करोड़	12	10
12. प्राणायु पूर्व	1 करोड़ 56 लाख	13 करोड़	13	10
13. क्रियाविशाल पूर्व	9 करोड़	9 करोड़	30	10
14. लोकबिन्दुसार पूर्व	12 करोड़ 50 लाख	12 करोड़ 50 लाख	25	10
कुल पद/ वस्तुएँ	83,28,80,005	95,50,00,005	225	195

(83 करोड़ 28 लाख 80 हजार 5) (95 करोड़ 50 लाख 5)

श्वेताम्बर परम्परा मान्य पूर्वों के पदों की संख्या को अभिधान राजेन्द्र कोष³⁹⁰ के आधार पर उल्लिखित किया गया है। प्रवचनसारोद्धार³⁹¹ में वर्णित पूर्व के पदों की संख्या में जो-जो अन्तर है, वह इस प्रकार है - पहले पूर्व के ग्यारह करोड़, सातवें पूर्व के छत्तीस करोड़ तथा दसवें पूर्व के पदों की संख्या एक करोड़ पन्द्रह लाख बताई है, शेष पूर्वों के पदों की संख्या अभिधान राजेन्द्र कोष और प्रवचनसारोद्धार में समान है। नंदीचूर्णि में चूर्णि वर्णित पदों की संख्या अभिधान राजेन्द्र कोष के समान है।³⁹²

4. अनुयोग

मूल विषय के साथ अनुरूप या अनुकूल सम्बन्ध वाला विषय जिस शास्त्र में हो, उसे 'अनुयोग' कहते हैं। अनुयोग के दो भेद हैं - 1. मूल प्रथमानुयोग और 2. गंडिकानुयोग।³⁹³

मूल प्रथम अनुयोग

धर्म तीर्थ का प्रवर्तन करने वाले धर्म के 'मूल' तीर्थकरों ने जिस भव में सम्यक्त्व प्राप्त किया, उस प्रथम भव से लेकर यावत् मोक्ष प्राप्ति पर्यन्त का, पूर्वगत से सम्बन्ध रखने वाले चरित्र जिसमें हो, उसे 'मूल प्रथम अनुयोग' कहते हैं।

389. कसायपाहुड, पृ. 138

390. अभिधान राजेन्द्र कोष भाग 5. पृ. 1062

392. नंदीचूर्णि, पृ. 111-112

391. प्रवचनसारोद्धार भाग 1, पृ. 394

393. नंदिसूत्र पृ. 198-200

गण्डिकानुयोग

ईख आदि के शिखर भाग और मूलभाग को तोड़ कर, ऊपरी छिलकों को छीलकर, मध्य की गाँठों को हटाकर, जो छोटे-छोटे समान खण्ड बनाये जाते हैं, उन्हें 'गण्डिका' (गण्डेरी) कहते हैं। उस गण्डिका के समान जिस शास्त्र में अगले-पिछले विषम अधिकार से रहित, मध्य के समान अधिकार वाले विषय हों, उसे 'गण्डिका अनुयोग' कहते हैं।

दिगम्बर साहित्य में यह दृष्टिवाद का तीसरा भेद है। प्रथम अर्थात् मिथ्यादृष्टि, अव्रती या अव्युत्पन्न व्यक्ति के लिए जो अनुयोग रचा गया, वह प्रथमानुयोग है। इसमें चौबीस तीर्थकर, बारह चक्रवर्ती, नौ बलदेव, नौ वासुदेव, नौ प्रतिवासुदेव इन 63 शलाका प्राचीन पुरुषों का वर्णन किया जाता है। धवला पुस्तक 1 और 9 में बारह पुराणों का उल्लेख किया गया है - तीर्थकरों का, चक्रवर्तियों का, विद्याधरों का, नारायणों का, प्रतिनारायणों का, चारणों का, प्रज्ञाश्रमणों का वंश, कुरुवंश, हरिवंश, इक्ष्वाकुवंश, काश्यपवंश, वादियों का वंश और नाथवंश का वर्णन है।³⁹⁴ इसमें पांच हजार (5000) पद हैं।³⁹⁵

5. चूलिका

ग्रंथ के मूल प्रतिपाद्य विषय की समाप्ति के पश्चात् ग्रंथ के अन्त में जो ग्रंथित किया जाता है, उसे 'चूलिका' कहते हैं। इसमें या तो ग्रंथ में कही हुई बातें ही विशेष विधि से दोहरायी जाती हैं या मूल प्रतिपाद्य विषय के सम्बन्ध में जो कथन शेष रह गया हो, वह कहा जाता है। पहले उत्पाद पूर्व की 4, दूसरे अग्रायणीय पूर्व की 12, तीसरे वीर्यप्रवाद पूर्व की 8 और चौथे अस्तिनास्तिप्रवाद पूर्व की 10 चूलिका वस्तु कही है। इस प्रकार कुल चूलिका वस्तुएँ 34 होती हैं। शेष दस पूर्वों की चूलिका वस्तुएँ नहीं हैं।

दिगम्बर साहित्य में चूलिका के पांच भेद हैं-जलगता, स्थलगता, मायागता, आकाशगता और रूपगता। इनकी पदसंख्या और विषय का वर्णन धवला एवं गोम्मटसार में विस्तार से किया गया है।³⁹⁶

दृष्टिवाद के पांचों पदों को मिलाने पर कुल पद दस करोड़ उनचास लाख छियालीस हजार (104946000) है।³⁹⁷

श्वेताम्बर साहित्य में दृष्टिवाद के पाँच भेदों में से केवल पूर्व के पदों की संख्या का उल्लेख है, यथा दृष्टिवाद में 832680005 (83 करोड़ 26 लाख 80 हजार 5) पद हैं, लेकिन दिगम्बर साहित्य में परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत और चूलिका इन पांचों के पदों की संख्या का उल्लेख है, जो कि निम्न प्रकार से है - परिकर्म के पांचों भेदों की कुल पद संख्या एक करोड़ इक्यासी लाख पांच हजार (18105000), सूत्र में कुल पद अठ्ठासी लाख (8800000), प्रथमानुयोग के कुल पद पांच हजार (5000), पूर्वगत (चौदहपूर्वों में) के कुल पद पंचानवें करोड़ पचास लाख पांच (955000005), पांच चूलिका के कुल पद दस करोड़ उनचास लाख छियालीस हजार (104946000) है।³⁹⁸ इन पांचों के पदों को जोड़ने पर दिगम्बर परम्परा में दृष्टिवाद के कुल पदों की संख्या (1086856005) प्राप्त होती है। पूर्व में वर्णित आचारांग आदि ग्यारह अंगों के कुल पदों की 41502000 संख्या है। इन दोनों को मिलाने पर बारह अंगों में कुल पदों की 112835805 संख्या प्राप्त है।³⁹⁹

394. धवलापुस्तक पु.1, सू. 1.1.2 पृ. 112, धवला पु. 9, सू. 4.1.45 पृ. 209

395. गोम्मटसार जीवाकांड गाथा 363-364 पृ. 603

396. धवला पु. 1, सू. 1.1.2, पु. 113, धवला पु. 9, सू. 4.1.45, पु. 210, गोम्मटसार गाथा 361-362 पृ. 602

397. गोम्मटसार जीवाकांड गाथा 363-364 पृ. 604

398. गोम्मटसार जीवाकांड गाथा 363-364 पृ. 603-604

399. कसायपाहुड पृ. 85-87

द्वादशांगी की पौरुषेयता

शास्त्र वचनात्मक है। वचन तालु, ओष्ठ आदि के परिस्पंदन से उत्पन्न होता है। पुरुष की वाग्प्रवृत्ति के साथ उसका अन्वय और व्यतिरेक संबंध है। जब पुरुष में तालु, ओष्ठ आदि की प्रवृत्ति होती है, तब वचन उत्पन्न होता है, जब पुरुष की प्रवृत्ति नहीं होती, तब वह उत्पन्न नहीं होता है। पुरुष की प्रवृत्ति के बिना वचन आकाश में ध्वनित नहीं होता है।⁴⁰⁰

द्वादशांग के विषय

द्वादशांग गणिपिटक में अनन्त भावों, अनन्त अभावों, अनन्त हेतुओं, अनन्त अहेतुओं, अनन्त कारणों, अनन्त अकारणों, अनन्त जीवों, अनन्त अजीवों, अनन्त भवसिद्धि को, अनन्त अभवसिद्धि को, अनन्त सिद्धों, अनन्त असिद्धों का उल्लेख है।⁴⁰¹

द्वादशांगी ही श्रुतज्ञान

श्रुतज्ञान द्वादशांगात्मक है। वह क्षायोपशमिक भाव है। अर्हत् द्वारा प्रणीत प्रवचन के अर्थ को जो परिज्ञान है, वही परमार्थतः श्रुतज्ञान है, शेष नहीं।⁴⁰²

द्वादशांग की शाश्वतता

नंदीसूत्र में द्वादशांग गणिपिटक की त्रैकालिता को सिद्ध किया गया है। जैसे कि पांच अस्तिकाय (1. धर्म 2. अधर्म 3. आकाश 4. जीव और 5. पुद्गल) पहले कभी नहीं रहे हों-ऐसी बात नहीं है और कभी नहीं रहते हैं-ऐसा भी नहीं है तथा आगे कभी नहीं रहेंगे-ऐसा भी नहीं है। ये रहे हैं, रहते हैं और रहेंगे। क्योंकि ये ध्रुव हैं, नियत हैं, शाश्वत हैं, अक्षय हैं, अव्यय हैं, अवस्थित हैं, नित्य हैं। इसी प्रकार द्वादशांग गणिपिटक, ऐसा नहीं कि जो पहले कभी नहीं रहा हो, ऐसा भी नहीं कि यह कभी नहीं रहता हो और ऐसा भी नहीं कि कभी नहीं रहेगा। यह पहले भी रहा है, वर्तमान में भी रहता है और आगे भी रहेगा, क्योंकि आगमकारों ने इसके लिए ध्रुवादि⁴⁰³ सात विशेषण दिये हैं, जिससे द्वादशांग गणिपिटक की त्रैकालिकता स्वतः सिद्ध हो जाती है, यथा

1. **ध्रुव** - जैसे मेरु पर्वत निश्चल है, वैसे द्वादशांगी गणिपिटक में जीवादि पदार्थों का निश्चल प्रतिपादन होता है।

2. **नियत** - जैसे पाँच अस्तिकाय के लिए 'लोक' यह वचन नियत है, वैसे ही द्वादशांग गणिपिटक के वचन पक्के हैं, बदलते नहीं हैं।

3. **शाश्वत** - जैसे महाविदेह क्षेत्र में चौथा दुःषमसुषमा काल निरंतर विद्यमान रहता है, वैसे ही वहाँ यह द्वादशांगी सदा काल विद्यमान रहती है।

4. **अक्षय** - जैसे पौण्डरीक द्रव्य से गंगा नदी का प्रवाह निरंतर बहता है, पर कभी पौण्डरीक द्रव्य खाली नहीं होता वैसे ही द्वादशांग गणिपिटक की निरंतर वाचना आदि देने पर भी कभी इसका क्षय नहीं होता।

5. **अव्यय** - जैसे मनुष्य क्षेत्र के बाहर के समुद्र सदा पूरे भरे रहते हैं, उनका कुछ भाग भी व्यय नहीं होता, वैसे ही द्वादशांग गणिपिटक सदा पूरा भरा रहता है, उसमें से कुछ भाग भी व्यय नहीं होता।

400. सर्वाण्यपि श्रुतानि पौरुषेयाण्येव, न किमप्यपौरुषेयमस्ति, असम्भवात्, शास्त्रं वचनात्मकं, वचनं ताल्वोष्ठपुट-परिस्पन्दारूपपुरुषव्यापारान्वयव्यतिरेकानुविर्थाय,.....। - मलयगिरि नंदीवृत्ति पृ. 16

401. नंदीसूत्र पृ. 202

402. आवश्यकनिर्युक्ति गाथा 104, मलयगिरि, नंदीवृत्ति, पृ. 250

403. नंदीसूत्र पृ. 204

6. अवस्थित- जैसे जम्बूद्वीप का प्रमाण सदा एक ही रहता है, वैसे ही द्वादशांगी का प्रमाण सदा एक ही रहता है, उसके किसी अंग में न्यूनता अथवा अधिकता नहीं होती।

7. नित्य - जैसे आकाश त्रिकाल नित्य है, वैसे ही द्वादशांग गणिपिटक त्रिकाल नित्य है।

द्वादशांग की विराधना का कुफल-सुफल

नंदीचूर्ण के अनुसार पांच आचार की सम्पदा से सम्पन्न आचार्य का हितोपदेश वचन आज्ञा है। जो उससे विपरीत आचरण करता है, वह गणिपिटक की विराधना करता है।⁴⁰⁴ विराधना के फल का उल्लेख नंदीसूत्र में इस प्रकार से है कि इस द्वादशांग गणिपिटक की आज्ञा की विराधना करके भूतकाल में अनन्त जीवों ने चार गति वाली संसार अटवी में, अनन्तकाल परिभ्रमण किया है, वर्तमान काल में कर रहे हैं और भविष्यकाल में अनन्त जीव, चातुरन्त संसार कान्तार में परिभ्रमण करेंगे।⁴⁰⁵

नंदीचूर्ण के अनुसार द्वादशांग और आज्ञा एकार्थक है। फिर भी उनमें कुछ भेद है। जब द्वादशांग के आधार पर निर्देश दिया जाता है, तब उसे आज्ञा कहते हैं।⁴⁰⁶ आराधना के फल का उल्लेख नंदीसूत्र में करते हुए कहा गया है कि इस द्वादशांग गणिपिटक की आज्ञा की आराधना करके भूतकाल में अनन्त जीव, चातुरन्त संसार कान्तार को सदा के लिए पार कर गये, वर्तमान काल में पार कर रहे हैं और भविष्य काल में अनन्त जीव, चातुरन्त संसार कान्तार को सदा के लिए पार करेंगे।⁴⁰⁷ द्वादशांग गणिपिटक का यह त्रैकालिक फल तभी सत्य हो सकता है जब कि द्वादशांग गणिपिटक स्वयं नित्य हो।

श्रुतज्ञान के दो विशिष्ट प्रकार

दिगम्बर साहित्य में श्रुत ज्ञान के शब्दलिंगज और अर्थलिंगज ये दो भेद भी प्राप्त होते हैं। परोपदेश पूर्वक या अन्य व्यक्ति के वचनों के द्वारा उत्पन्न होने वाला पदार्थ का ज्ञान शब्दलिंगज श्रुतज्ञान कहलाता है। शब्दलिंगज श्रुतज्ञान लौकिक और लोकोत्तर के भेद से दो प्रकार का होता है। सामान्य पुरुष के मुख से निकले हुए वचन समुदाय से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह लौकिक शब्दलिंगज श्रुतज्ञान है। असत्य बोल के कारणों से रहित पुरुष के मुख से निकले हुए वचन समुदाय से जो श्रुतज्ञान उत्पन्न होता है, वह लोकोत्तर शब्द लिंगज श्रुतज्ञान है तथा धूमादिक पदार्थ रूप लिंग से जो श्रुतज्ञान उत्पन्न होता है, वह अर्थलिंगज श्रुतज्ञान है। इसका दूसरा नाम अनुमान भी है।⁴⁰⁸

श्रुतज्ञान के इन दो भेदों में से शब्द लिंगज अर्थात् अक्षर, वर्ण, पद, वाक्य, आदि रूप शब्द से उत्पन्न हुआ अक्षरात्मक श्रुतज्ञान प्रधान है, क्योंकि लेना, देना शास्त्र पढ़ना इत्यादि सर्व व्यवहारों का मूल अक्षरात्मक श्रुतज्ञान है और जो लिंग से अर्थात् चिह्न से उत्पन्न हुआ श्रुतज्ञान है। लिंग रूप श्रुतज्ञान एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के जीवों में होते हुए भी व्यवहार में उपयोगी नहीं होने से अप्रधान होता है।⁴⁰⁹ इन दो भेदों का उल्लेख श्वेताम्बर परम्परा में प्राप्त नहीं होता है।

षट्खण्डागम में श्रुतज्ञान के भेद

षट्खण्डागम में श्रुतज्ञान (शब्दलिंगज) के दो प्रकार से भेद किये गए हैं। - 1. अक्षर की अपेक्षा से संख्यात और 2. प्रमाण की अपेक्षा से बीस भेद।

404. नंदीचूर्ण पृ. 119

406. नंदीचूर्ण पृ. 119

405. नंदीसूत्र पृ. 203

407. नंदीसूत्र पृ. 203

408. कसायपाहुड, 1.1.15 पृ. 340-341, षट्खण्डागम, पु. 6, 1.9-1.14 पृ. 21, पुस्तक 13, सू. 5.5.43, पृ. 245

409. गोम्मटसार जीवकांड गाथा 315

(क) अक्षर की अपेक्षा से श्रुतज्ञान के भेद - षट्खंडागम के अनुसार श्रुतज्ञान की संख्यात प्रकृतियाँ हैं अर्थात् जितने अक्षर हैं उतने ही श्रुतज्ञान के भेद हैं, क्योंकि एक-एक अक्षर से एक-एक श्रुतज्ञान की उत्पत्ति होती है।⁴¹⁰ धवलाटीका में अक्षरों के प्रमाण की निम्न प्रकार से स्पष्टता की गई है।

1. अक्षरों की संख्या 64 अर्थात् तेतीस व्यंजन, सत्ताईस स्वर और चार अयोगवाह (उपध्मानीय क, प अं, अः) इस प्रकार कुल वर्ण चौंसठ होते हैं।⁴¹¹ इन चौंसठ अक्षरों की अपेक्षा से श्रुतज्ञान के एक संयोगी भंग (विकल्प) 64 होते हैं। अक्षरों के संयोग की विवक्षा न करके जब अक्षर ही केवल पृथक्-पृथक् विवक्षित होते हैं, तब श्रुतज्ञान के अक्षरों का प्रमाण चौंसठ होता है। क्योंकि संयुक्त और असंयुक्त रूप में स्थित श्रुतज्ञान के कारणभूत अक्षर चौंसठ ही है। श्रुतज्ञान एक अक्षर से भी उत्पन्न हो सकता है। क्योंकि जो समुदाय में होता है वह एक में भी होता है, जैसेकि संयोगाक्षर अनेक अर्थों में अक्षरों के उलट-फेर के बल से रहता है तो भी अक्षर एक ही है, क्योंकि एक दूसरे को देखते हुए ज्ञान रूप कार्य को उत्पन्न कराने की अपेक्षा उनमें कोई भेद नहीं पाया जाता।⁴¹²

2. एक वर्ण का अन्य वर्ण के साथ संयोग होता है, तब संयोगी भंग की संख्या बढ़ती है, जैसे कि एक अक्षर (अ) का एक संयोगी भंग, दो अक्षरों (अ, आ) के संयोग से तीन भंग, तीन अक्षरों (अ, आ, इ) के संयोग से सात भंग बनते हैं, यथा 1. अ 2. आ 3. इ 4. अ+आ, 5. अ+इ, 6. आ+इ और 7. अ+आ+इ, इस प्रकार अक्षरों के संयोग बढ़ने से भंगों की संख्या भी बढ़ती है। जिसकी कुल संख्या 1844674407309551616 होती है।⁴¹³ पदों की कुल संख्या को निकालने की विधि षट्खंडागम में दी है।⁴¹⁴ इस संख्या में एक कम करने पर संयोगाक्षरों का प्रमाण प्राप्त होता है, यथा 1844674407309551615 इतने मात्र संयोग अक्षर उत्पन्न होते हैं। उनसे इतने ही प्रकार का श्रुतज्ञान उत्पन्न होता है और श्रुतज्ञानावरण के विकल्प भी उतने ही होते हैं अर्थात् अभिधेय और उसमें जितने संयोग होते हैं, उन अक्षर संयोगों की संख्या निश्चित रहने योग्य है।⁴¹⁵ जबकि आवश्यकनिर्युक्ति के अनुसार जितने अभिधेय होते हैं, उतने ही श्रुत के भेद होते हैं।

यहां संयोग का अर्थ दो अक्षरों की एकता, अथवा दोनों का साथ में उच्चारण करना इस रूप में है। क्योंकि एकता (एकत्व) मानने पर द्वित्व का नाश होने से संयोग में बाधा आती है। साथ में उच्चारण करना भी संयोग नहीं है क्योंकि चौंसठ अक्षरों का उच्चारण एक साथ नहीं होता है, अतः यहाँ संयोग का अर्थ एकार्थता (एकार्थबोधकता) है।⁴¹⁶

3. यदि कोई ऐसी शंका करे कि बाह्य वर्ण क्षणभंगुर होने से बाह्यार्थ वर्णों का समुदाय नहीं हो सकता है, तो इसका समाधान यह है कि बाह्यार्थ वर्णों से अंतरंग वर्ण उत्पन्न होते हैं, जो जीव में देशभेद के बिना अंतर्मुहूर्त काल अवस्थित रहते हैं और बाह्यार्थविषयक विज्ञान को उत्पन्न करने में समर्थ हैं। इससे बाह्य वर्णों के अस्तित्व के सम्बन्ध में कोई विरोध नहीं है।⁴¹⁷

(ख) प्रमाण की अपेक्षा से श्रुतज्ञान के भेद - प्रमाण की दृष्टि में श्रुत के बीस भेद हैं, यथा पर्याय, पर्यायसमास, अक्षर, अक्षरसमास, पद, पदसमास, संघात, संघातसमास, प्रतिपत्ति, प्रतिपत्तिसमास,

410. षट्खंडागम, पु. 13 सूत्र 5.5.44-45 पृ. 247

411. तेतीसव्यंजणाई सत्तावीसं हवन्ति सव्वसरा। चत्तारि अजोगवाह एवं चउसट्ठि वण्णाओ।

-षट्खंडागम, पुस्तक 13, सूत्र 5.5.45, पृ. 248

412. षट्खंडागम, पु. 13 सू. 5.5.46, पृ. 259-260

413. षट्खंडागम, पु. 13, पृ. 249

414. षट्खंडागम, पु. 13, सू. 5.5.46, पृ. 248

415. षट्खंडागम, पु. 13, सू. 5.5.46, पृ. 254, 260

416. षट्खंडागम, पु. 13, सू. 5.5.46, पृ. 250

417. षट्खंडागम, पु. 13, सू. 5.5.46, पृ. 251

अनुयोगद्वार, अनुयोगद्वारसमास, प्राभृतप्राभृत, प्राभृतप्राभृतसमास, प्राभृत, प्राभृतसमास, वस्तु, वस्तुसमास, पूर्व और पूर्वसमास⁴¹⁸ तत्त्वार्थभाष्य में पूर्व, वस्तु, प्राभृत, प्राभृतप्राभृत का उल्लेख है।⁴¹⁹ लेकिन ये श्रुत के प्रकार नहीं हैं।

जितने संयोगाक्षर उतने श्रुतज्ञान के भेद बताये हैं, तथा षट्खण्डागम के सू. 5.5.47 में 20 भेद बताये हैं, तो इस भिन्नता का क्या कारण है? इसका समाधान देते हुए वीरसेनाचार्य ने कहा है कि पूर्व सूत्र में अक्षर निमित्त की अपेक्षा से श्रुत के भेदों का उल्लेख किया था, परन्तु इस सूत्र में क्षयोपशम का अवलम्बन लेकर आवरण के भेदों का कथन किया है, इसलिए कोई दोष नहीं है।⁴²⁰

षट्खण्डागम में श्रुतज्ञान के बीस भेदों मात्र नामोल्लेख ही मिलता है, इनके स्वरूप आदि की चर्चा नहीं की गई है। लेकिन धवलाटीका में इनका विस्तार से वर्णन किया गया है तथा श्वेताम्बराचार्य देवेन्द्रसूरि ने कर्मग्रंथ⁴²¹ में भी इनका उल्लेख किया है। उन्हीं का यहाँ निरूपण किया जा रहा है।

1. पर्याय - क्षरण अर्थात् विनाश का अभाव होने से केवलज्ञान अक्षर कहलाता है। उसका अनन्तवां भाग पर्याय नाम का श्रुतज्ञान है। वह पर्याय नाम का श्रुतज्ञान केवलज्ञान के समान निरावरण और अविनाशी है। सूक्ष्म-निगोद के लब्धि अक्षर से जो श्रुतज्ञान उत्पन्न होता है, वह भी कार्य में कारण के उपचार से पर्याय कहलाता है।⁴²² सूक्ष्म निगोद लब्धि अपर्याप्तक के जघन्य ज्ञान को लब्ध्यक्षर कहते हैं। यह केवलज्ञान के अनन्तवें भाग रूप होता है और यह कभी भी आवरित नहीं है।⁴²³ विशेषावश्यकभाष्य आदि में भी ऐसा ही वर्णन प्राप्त होता है, जिसका उल्लेख पूर्व में कर दिया गया है।

2. पर्याय समास - पर्याय श्रुत के समुदाय को पर्याय समासश्रुत कहते हैं। जब पर्याय ज्ञान पर्याय ज्ञान के अनन्तवें भाग के साथ मिल जाता है तब यह पर्यायसमास श्रुतज्ञान कहलाने लगता है। यह पर्याय समास-ज्ञान अनन्तभाग वृद्धि, असंख्यभाग वृद्धि, संख्यातभागवृद्धि तथा अनन्तभाग हानि, असंख्यातभाग हानि, संख्यातभाग हानि सहित होता है। पर्यायज्ञान के ऊपर अनन्तभाग वृद्धि, असंख्यातभाग वृद्धि, संख्यातभागवृद्धि, संख्यातगुणवृद्धि, असंख्यातगुणवृद्धि और अनन्तगुण वृद्धि के क्रम से वृद्धि होते-होते जब तक अक्षर ज्ञान की पूर्णता नहीं होती है तब तक का ज्ञान पर्यायसमास ज्ञान कहलाता है।

3. अक्षर - अन्तिम पर्याय समास ज्ञानस्थान में सब जीवराशि का भाग देने पर जो भाग फल आता है, उसे उसी में मिलाने पर अक्षर ज्ञान उत्पन्न होता है। (पर्यायसमास+पर्यायसमास स्थापन में सभी जीवराशि का भाग देते हुए प्राप्त हुई लब्धि = अक्षर) अथवा अकार आदि लब्धि अक्षरों में से किसी एक अक्षर का ज्ञान होना अक्षरश्रुत है।⁴²⁴ यह अक्षरज्ञान सूक्ष्म लब्ध्यपर्याप्तक के अनन्तानन्त लब्ध्यक्षरों के बराबर होता है। धवलाटीका के अनुसार अक्षर के प्रकार से हैं - लब्धि अक्षर, निर्वृत्यक्षर और संस्थान अक्षर। जिनका वर्णन इसी अध्याय में पृ. 225 पर कर दिया है। विशेषावश्यकभाष्य में अक्षरों के भेद में अन्तिम दो अक्षर व्यंजनाक्षर और संज्ञाक्षर हैं।

4. अक्षर समास - अक्षरश्रुत के ऊपर दूसरे अक्षर की वृद्धि होने पर अक्षर समास श्रुत होता है। यह इसका आरंभ बिन्दु है और यह वृद्धि संख्यात अक्षरों तक होती है। वहाँ तक उसका अधिकार चलता है। अथवा दो, तीन, चार आदि लब्धि अक्षरों का ज्ञान होना अक्षरसमास श्रुत है।⁴²⁵

418. षट्खण्डागम, पु. 13, सू. 5.5.47, पृ. 260

419. पूर्वाणि वस्तूनि प्राभृतानि प्राभृतप्राभृतानि।-तत्त्वार्थभाष्य 1.20 पृ. 94

420. षट्खण्डागम पृ. 13, सू. 5.5.47 पृ. 260

422. षट्खण्डागम, पु. 6, सू. 1.9.1.14 पृ. 21-22

424. कर्मग्रन्थ भाग 1 पृ. 20

421. कर्मग्रन्थ भाग 1, पृ. 19-21

423. षट्खण्डागम, पु. 13, सू. 5.5.48, पृ. 262

425. कर्मग्रन्थ भाग 1 पृ. 20

मतान्तर - अक्षर श्रुतज्ञान के ऊपर एक-एक अक्षर की वृद्धि होती है अर्थात् संख्यातभाग और संख्यातगुणा की वृद्धि होती है, शेष चार अन्य वृद्धियां नहीं होती हैं, क्योंकि अक्षरज्ञान सम्पूर्ण श्रुतज्ञान के संख्यातवें भाग जितना ही है, इसलिए अक्षर-ज्ञान में ऊपर वर्णित छह प्रकार की वृद्धियों का होना सम्भव नहीं है। इसलिए जो आचार्य ऐसा मानते हैं कि अक्षर श्रुतज्ञान से आगे भी श्रुतज्ञान छह प्रकार की वृद्धियों से बढ़ता है, उनका मानना सही नहीं है।⁴²⁶ जबकि दूसरे आचार्यों के मत से एक अक्षरज्ञान के आगे दूसरे अक्षरज्ञान की उत्पत्ति युगपत् होती है, उनके अनुसार भी अक्षरज्ञान से आगे संख्यातगुण वृद्धि और संख्यातभाग वृद्धि ही संभव है। क्योंकि एक अक्षर श्रुतज्ञान समस्त श्रुतज्ञान के संख्यातवें भाग प्रमाण होता है इस कारण यह है कि अक्षरश्रुतज्ञानावरणीय कर्म की संख्यात प्रकृतियाँ बताई हैं।⁴²⁷

5. पद - अक्षरश्रुत में संख्यात अक्षर मिलाने पर एक पद श्रुतज्ञान होता है। अथवा अक्षरों का वह समूह जिससे पूर्ण अर्थ का ज्ञान होता है, वह पद कहलाता है, ऐसे एक पद का ज्ञान होना पदश्रुत है।⁴²⁸ पद के तीन भेद हैं - अर्थपद, प्रमाण पद और मध्यम पद। **अर्थपद** - जितने पदों से अर्थ का ज्ञान होता है, वह अर्थपद है। यह अनवस्थित (अनित) है अर्थात् एक, दो, तीन, चार, पांच, छह व सात अक्षर तक का पद अर्थ पद कहलाता है। **प्रमाणपद** - आठ अक्षर से निष्पन्न हुआ पद प्रमाण पद है। यह अवस्थित (नियत) है। **मध्यमपद** - मध्यमपद में 16348307888 (सोलह अरब चौतीस करोड़ तिरासी लाख सात हजार आठ सौ अठासी) अक्षर होते हैं और यह भी अवस्थित है। यहाँ तीनों पदों में से मध्यम पद अभिप्रेत है। समस्त श्रुत में कुल 1128358005 (एक सौ बारह करोड़ तिरासी लाख अट्ठावन हजार और पांच) ही पद होते हैं। ध्वलाटीकार ने इसका विस्तार से वर्णन किया है।⁴²⁹

अक्षरज्ञान और पदज्ञान के मध्य का जितना भी ज्ञान है वह अक्षर समास है। इसी प्रकार पदज्ञान और संघातज्ञान के बीच का ज्ञान पदसमास ज्ञान है, ऐसा ही आगे भी समझ लेना चाहिए।

6. पद समास - मध्यमपद श्रुतज्ञान से एक अक्षर अधिक होने पर पदसमास श्रुतज्ञान है। अथवा पदों के समुदाय का ज्ञान होना पद समास श्रुत है।⁴³⁰ पद + एक अक्षर = पद समास, यह इसका प्रारंभबिन्दु है। यहाँ से शुरु करके संघात श्रुत में एक अक्षर कम रहे वहाँ तक पद समास अधिकार है, अतः पदसमास का क्षेत्र विशाल है। जबकि पद का क्षेत्र मर्यादित है, क्योंकि पद में एक भी अक्षर अधिक होते ही पद संज्ञा समाप्त हो जाती है।

7. संघात - पद समास श्रुतज्ञान के ऊपर एक-एक अक्षर की वृद्धि होने पर संघात श्रुतज्ञान होता है। इसमें संख्यात पद होते हैं। मार्गणा ज्ञान का अवयवभूत ज्ञान संघात श्रुतज्ञान है। अथवा इस संघात श्रुतज्ञान की उत्पत्ति के हेतुभूत पदों का नाम संघात है। अथवा गति, इन्द्रिय आदि चौदह मार्गणाओं में से किसी एक मार्गणा के एक अंश का ज्ञान होना संघातश्रुत है। जैसे नरकादि चार गतियाँ हैं, इसी प्रकार एकेन्द्रियादि जातियाँ पांच हैं। इनमें से एक अंश का ज्ञान होना जैसे गति में मनुष्य गति का, इन्द्रिय में पंचेन्द्रिय का ज्ञान होना संघातश्रुत है।⁴³¹

8. संघात समास - पुनः संघात श्रुतज्ञान के ऊपर एक अक्षर की वृद्धि होने पर संघात समास श्रुतज्ञान होता है। अथवा गति, इन्द्रिय आदि चौदह मार्गणाओं में से एक मार्गणा के सभी अंशों का

426. षट्खण्डागम, पु. 6, सू. 1.9.1.14, पृ. 22

428. कर्मग्रन्थ भाग 1 पृ. 20

430. कर्मग्रन्थ भाग 1 पृ. 20

427. षट्खंडागम, पु. 13, सू. 5.5.48, पृ. 268

429. षट्खंडागम, पु. 13, सू. 5.5.48, पृ. 263-266

431. कर्मग्रन्थ भाग 1 पृ. 20

ज्ञान होना संघात समासश्रुत है। जैसे गति मार्गणा में चारों गतियों का, इन्द्रिय मार्गणा में पांचों जातियों का ज्ञान होना संघात समासश्रुत है।⁴³²

9. प्रतिपत्ति - अनुयोगद्वार के जितने अधिकार होते हैं, उनमें से एक अधिकार को प्रतिपत्ति कहते हैं। संघातसमास ज्ञानपर एक अक्षर की वृद्धि होने पर प्रतिपत्ति श्रुतज्ञान होता है। अथवा गति, इन्द्रिय आदि चौदह मार्गणाओं में से एक मार्गणा के द्वारा समस्त संसारी जीवों का ज्ञान हो जाना प्रतिपत्तिश्रुत है। जैसे गति मार्गणा के नरकादि चार भेद हैं, इससे सभी संसारी जीवों का ज्ञान हो जाता है।

10. प्रतिपत्ति समास - अनुयोगद्वार के जितने अधिकार होते हैं, उनमें से एक अक्षर न्यून सब अधिकारों को प्रतिपत्ति समास कहते हैं। अथवा गति, इन्द्रिय आदि चौदह मार्गणाओं में से दो, तीन मार्गणाओं से संसारी जीवों का ज्ञान हो जाना प्रतिपत्ति समास है। जैसे गति मार्गणा में नरकादि चार गतियों से सभी संसारी जीवों का पांच इन्द्रियों से सभी संसारी जीवों का ज्ञान हो जाना प्रतिपत्तिसमास है।

11. अनुयोगद्वार - प्रतिपत्तिसमास में एक अक्षर की वृद्धि होना अनुयोगद्वार श्रुतज्ञान है। प्राभृत के जितने अधिकार होते हैं, उनमें से एक-एक अधिकार को अनुयोगद्वार कहते हैं। अथवा सत्पद प्ररूपणा, द्रव्य प्रमाण, क्षेत्र, स्पर्शना काल, अन्तर, भाग, भाव इन अनुयोगों में से किसी एक अनुयोग के द्वारा जीवादि पदार्थों को जानना अनुयोग श्रुत है।

12. अनुयोगद्वार समास - अनुयोगद्वार श्रुतज्ञान में एक अक्षर की वृद्धि होना अनुयोगद्वार समास श्रुतज्ञान है। अथवा सत्पद प्ररूपणा, द्रव्य प्रमाण, क्षेत्र, स्पर्शना, काल, आदि अनुयोगों में से दो-तीन अनुयोग के द्वारा जीवादि पदार्थों को जानना अनुयोग समास श्रुत है।

13. प्राभृत-प्राभृतश्रुत - संख्यात अनुयोगद्वारों को ग्रहण करना एक प्राभृतप्राभृत श्रुतज्ञान होता है। अथवा दृष्टिवाद नामक बारहवें अंग सूत्र में प्राभृत-प्राभृत नामक अधिकार हैं, उनमें से किसी एक का ज्ञान होना प्राभृत-प्राभृतश्रुत है।

14. प्राभृत-प्राभृत समास - प्राभृत-प्राभृत श्रुतज्ञान में एक अक्षर की वृद्धि होना प्राभृत-प्राभृतसमास श्रुतज्ञान है। अथवा दृष्टिवाद नामक बारहवें अंग सूत्र में प्राभृत-प्राभृत नामक अधिकार हैं, उसमें से दो-तीन का ज्ञान होना प्राभृत-प्राभृत समास श्रुत है।

15. प्राभृत श्रुत - संख्यात प्राभृत-प्राभृतों को ग्रहण करना एक प्राभृत श्रुतज्ञान होता है। अथवा जैसे कई उद्देशकों को या वर्ग को मिलाकर एक अध्ययन या शतक होता है, उसी प्रकार कई प्राभृत-प्राभृतों को मिलाकर एक प्राभृत होता है। एक प्राभृत का ज्ञान होना प्राभृतश्रुत है।

16. प्राभृत समास - प्राभृत श्रुतज्ञान में एक अक्षर की वृद्धि होना प्राभृत समास श्रुतज्ञान है। अथवा दो-तीन प्राभृतों का ज्ञान होना प्राभृत समास श्रुत है।

17. वस्तु श्रुत - संख्यात प्राभृत को ग्रहण करना एक वस्तु श्रुतज्ञान होता है। पूर्व में श्रुतज्ञान के जितने अधिकार हैं, उनकी अलग-अलग वस्तु है। अथवा जैसे कई प्राभृतों को मिलाकर एक वस्तु नामक अधिकार होता है, ऐसी वस्तु का ज्ञान होना वस्तुश्रुत है।

18. वस्तु समास - वस्तु श्रुतज्ञान में एक अक्षर की वृद्धि होना वस्तु समास श्रुतज्ञान है। अथवा दो-तीन वस्तुओं का ज्ञान होना वस्तु समास श्रुत है। पूर्व गत के उत्पाद पूर्व आदि चौदह अधिकारों को यहाँ पूर्व कहा है।

19. **पूर्व श्रुत** - संख्यात वस्तु को ग्रहण करना एक पूर्व श्रुतज्ञान होता है। अथवा अनेक वस्तुओं को मिलाकर एक पूर्व होता है, ऐसा पूर्व का ज्ञान होना पूर्व श्रुत है।

20. **पूर्व समास** - पूर्व श्रुतज्ञान में एक अक्षर की वृद्धि होना पूर्व समास श्रुतज्ञान है। इस प्रकार उत्तरोत्तर एक-एक अक्षर की वृद्धि होते हुए अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य रूप सम्पूर्ण श्रुतज्ञान के सब अक्षरों की वृद्धि होने तक पूर्व समास श्रुतज्ञान होता है। अथवा दो-तीन पूर्वों यावत् चौदह पूर्वों तक का ज्ञान होना पूर्व समास श्रुत है।

प्रतिसारी विशिष्ट बुद्धिवाले जीव के श्रुत का अंतिमपूर्व (लोकबिंदुसार) का जो अन्तिम भावाक्षर है, उसके अन्तानन्त खण्ड करके उनमें से एक खण्डप्रमाण से ही शुरु होता है।⁴³³ कर्मग्रंथ में भी उक्त 20 भेदों के निरूपण में समास वाले भेदों में एक अक्षर अधिक का कथन नहीं है।⁴³⁴

उपर्युक्त 20 भेदों में से प्रथम 19 भेदों का समावेश उत्पादपूर्व नामक प्रथम पूर्व में तथा शेष को समस्त अंगप्रविष्ट तथा अंगबाह्य रूप वाङ्मय का पूर्वसमास नामक 20वें भेद में अंतर्भाव किया जाता है। षट्खण्डागम में अंगप्रविष्ट-अंगबाह्य का विचार प्रमाण की अपेक्षा से हुआ है, स्वरूप की अपेक्षा से नहीं है।

षट्खण्डागम के अलावा श्रुतज्ञान के बीस भेदों का वर्णन हरिवंश पुराण एवं गोम्मटसार⁴³⁵ आदि में भी प्राप्त होता है।

श्रुतज्ञान का विषय

भाष्यकार ने विषय सम्बन्धी विशेष उल्लेख नहीं किया है। मात्र इतना ही कहा है कि रूप से श्रुतज्ञानी द्रव्यादि को यथार्थ जानते हैं, लेकिन इस प्रसंग पर श्रुतज्ञानी दर्शन से देखता है या नहीं, इसका वर्णन किया है। द्रव्यादि विषय का वर्णन जो नंदीसूत्र आदि में प्राप्त होता है, उसी का यहाँ उल्लेख किया जा रहा है।

नंदीसूत्र के अनुसार - श्रुतज्ञान का विषय संक्षेप से चार प्रकार का है, यथा - 1. द्रव्य से, 2. क्षेत्र से, 3. काल से और 4. भाव से।⁴³⁶

1. **द्रव्य से** - उत्कृष्ट श्रुतज्ञानी श्रुतज्ञान में उपयोग लगाने पर सभी रूपी-अरूपी छहों द्रव्यों को जानते हैं तथा मानों प्रत्यक्ष देख रहे हों, इस प्रकार स्पष्ट देखते हैं।⁴³⁷ यहाँ सर्व शब्द श्रुत अथवा ग्रंथ की अपेक्षा से प्रयुक्त हुआ है।

2. **क्षेत्र से** - उत्कृष्ट श्रुतज्ञानी श्रुतज्ञान में उपयोग लगाने पर सभी लोकाकाश व अलोकाकाश रूप क्षेत्र को जानते हैं तथा मानो प्रत्यक्ष देख रहे हों, इस प्रकार स्पष्ट देखते हैं।⁴³⁸

3. **काल से** - उत्कृष्ट श्रुतज्ञानी श्रुतज्ञान में उपयोग लगाने पर सभी पूर्ण भूत, भविष्य, वर्तमान काल को जानते हैं तथा मानों प्रत्यक्ष देख रहे हों इस प्रकार स्पष्ट देखते हैं।⁴³⁹

4. **भाव से** - उत्कृष्ट श्रुतज्ञानी श्रुतज्ञान में उपयोग लगाने पर सभी रूपी अरूपी छहों द्रव्यों की सब पर्यायों को जानते हैं तथा मानो प्रत्यक्ष देख रहे हों, इस प्रकार स्पष्ट देखते हैं।⁴⁴⁰

433. षट्खण्डागम, पु. 13, सू. 5.5.48, पृ. 265-71

434. कर्मग्रंथ पृ. 18-29

435. षट्खण्डागम पु. 13, 5.5.48 पृ. 260-272 एवं पुस्तक 6, सूत्र 1.9.1.14 पृ. 21-25, हरिवंश पुराण सर्ग 10 गाथा 14-26 पृ. 186-187, गोम्मटसार जीवकांड गाथा 319-349

436. से समासओ चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा - दव्वओ, खित्तओ, कालओ, भावओ। - नंदीसूत्र पृ. 204

437. तत्थ दव्वओ णं सुयणाणी उवउत्ते सव्वदव्वाइ जाणइ पासइ। - नंदीसूत्र पृ. 204

438. खित्तओ णं सुयणाणी उवउत्ते सव्वं खेतं जाणइ पासइ। - नंदीसूत्र पृ. 204

439. कालओ णं सुयणाणी उवउत्ते सव्वं कालं जाणइ पासइ। - नंदीसूत्र पृ. 204

440. भावओ णं सुयणाणी उवउत्ते सव्वे भावे जाणइ पासइ। - नंदीसूत्र पृ. 204

उत्कृष्ट श्रुतज्ञानी, सर्वद्रव्य, सर्वक्षेत्र, सर्वकाल और सर्वभावों को सामान्य प्रकार से जानते हैं, कुछ विशेष प्रकार से भी जानते हैं, पर सर्व विशेष प्रकारों से नहीं जानते, क्योंकि केवलज्ञान की पर्याय से श्रुतज्ञान की पर्याय अनन्तगुण हीन है।⁴⁴¹ जो उत्कृष्ट श्रुतज्ञानी नहीं है, उनमें से कोई सर्व द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से जानते हैं, कोई नहीं जानते।⁴⁴²

चूर्णिकार के कथनानुसार श्रुतज्ञान के विषय का निरूपण सभिन्न दशपूर्वी से चौदहपूर्वी (श्रुतकेवली) आदि की अपेक्षा से किया गया है।⁴⁴³ श्रुतज्ञानी सूक्ष्म से सूक्ष्म परमाणु स्कंध को भी जानता है, तो ग्रंथों के आधार पर जानता है।

श्रुतज्ञान के विषय में प्रयुक्त 'जाणइ' और 'पासइ' क्रिया का प्रयोग विचारणीय है, क्योंकि आगम-ग्रंथों के ज्ञान को जान सकते हैं, लेकिन देख नहीं सकते हैं। अतः 'पासइ' क्रिया के सम्बन्ध में यहाँ विरोधाभास उत्पन्न होता है। श्रुतज्ञानी इन्द्रियों के विषय से दूर रहे हुए मेरुपर्वत आदि को श्रुतज्ञान के आधार से चित्रित करता है, लेकिन वह अदृष्ट को चित्रित नहीं कर सकता है।⁴⁴⁴

विशेषावश्यकभाष्य का मत

भाष्यकार और टीकाकार के अनुसार जो श्रुतज्ञानी उपयोगवान् होता है तो वह पंचास्तिकाय रूप सभी द्रव्य, लोकालोक रूप सभी क्षेत्र, अतीतादि रूप सभी काल और औदारिक आदि सभी भावों को स्पष्ट रूप से यथार्थ जानता है, परन्तु सामान्यग्राही दर्शन से नहीं देखते हैं, क्योंकि जैसे मनःपर्यवज्ञान स्पष्टार्थ का ग्राहक होने से उसका दर्शन नहीं माना है, वैसे ही श्रुतज्ञान से भी स्पष्ट (विशेषरूप से) ज्ञान होता है, इसलिए उसका भी दर्शन नहीं होता है। नंदीसूत्र में जो द्रव्यादि की अपेक्षा से श्रुतज्ञान का विषय बताया है, उन द्रव्यादि की अपेक्षा से श्रुतज्ञानी जानता तो है, लेकिन देखता नहीं है। अर्थात् टीकाकार ने भाष्यकार के अनुसार नंदीसूत्र में 'जाणइ पासइ' के स्थान पर 'जाणइ न पासइ' (जानता है लेकिन देखता नहीं है) प्रयोग होना चाहिए, ऐसा कथन किया है।

भाष्यकार ने इस सम्बन्ध में मतान्तर देते हुए कहा कि कुछ आचार्य ऐसा मानते हैं कि श्रुतज्ञानी ज्ञान से जानते हैं, और अचक्षुदर्शन से देखते हैं। क्योंकि श्रुतज्ञानी के मतिज्ञान अवश्य होता है और मतिज्ञान और श्रुतज्ञान में चक्षु तथा अचक्षु यह दो दर्शन बताये हैं। मतिज्ञानी चक्षुदर्शन से और श्रुतज्ञानी अचक्षुदर्शन से देखते हैं। लेकिन ऐसा मानना अयोग्य है।⁴⁴⁵ क्योंकि मतिज्ञान और श्रुतज्ञान में इन्द्रिय मनोनिमित्त समान होने से अचक्षुदर्शन भी दोनों में समान है। तो फिर अचक्षुदर्शन से मतिज्ञानी क्यों नहीं देखता है अर्थात् दोनों अलग-अलग दर्शन से क्यों देखते हैं? इसलिए ऐसा कहना कदाग्रह है। वास्तव में तो यही सही है कि श्रुतज्ञानी जानते हैं लेकिन देखते नहीं है।⁴⁴⁶

आगम का मत

प्रज्ञापना सूत्र पद 30 में पश्यत्ता का वर्णन है। वहाँ पश्यत्ता का अर्थ किया है - देखने का भाव। उपयोग के समान पश्यत्ता के भी दो भेद होते हैं - साकार और अनाकार। दोनों में अन्तर बताते हुए आचार्य अभयदेवसूरि कहते हैं कि यों तो पश्यत्ता एक उपयोग विशेष ही है, किन्तु उपयोग और पश्यत्ता में थोड़ा सा अन्तर है। जिस बोध (ज्ञान) में त्रैकालिक (दीर्घकालिक) अवबोध हो वह पश्यत्ता है तथा जिस बोध (ज्ञान) में वर्तमान कालिक बोध हो, वह उपयोग है। इस प्रकार उपयोग और पश्यत्ता में अन्तर होने से पश्यत्ता को उपयोग से अलग बताया है।

441. भगवती सूत्र श. 8 उ. 2

443. नंदीचूर्ण, पृ. 119

445. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 553 टीका

442. नंदीचूर्ण, पृ. 120

444. नंदीचूर्ण, पृ. 120

446. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 554 टीका

साकार पश्यत्ता के छह भेद-श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान, केवलज्ञान, श्रुतअज्ञान और विभंग ज्ञान। अनाकार पश्यत्ता के तीन भेद - चक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन। साकार पश्यत्ता के भेदों में मतिज्ञान और मति अज्ञान, इन दोनों को नहीं लिया है, क्योंकि आभिनिबोधिक ज्ञान उसे कहते हैं जो अवग्रहादि रूप हो, इन्द्रिय तथा मन के निमित्त से उत्पन्न हो तथा वर्तमान कालिक वस्तु का ग्राहक हो। इस दृष्टि से मतिज्ञान और मत्यज्ञान दोनों में साकार पश्यत्ता नहीं है। जबकि श्रुतज्ञान आदि ज्ञान-अज्ञान अतीत और अनागत विषय के ग्राहक होने से साकार पश्यत्ता शब्द के वाच्य होते हैं। श्रुतज्ञान त्रिकाल विषयक होता है। अवधिज्ञान भी असंख्यात अतीत और अनागत कालिक उत्पत्ति-अवसर्पिणियों को जानने के कारण त्रिकाल विषयक है। मनः पर्यवज्ञान भी पल्योपम के असंख्यात भाग प्रमाण अतीत अनागत काल का परिच्छेदक होने से त्रिकाल विषयक है। केवलज्ञान की त्रिकालविषयता तो प्रसिद्ध ही है। श्रुत अज्ञान और विभंगज्ञान भी त्रिकाल विषयक होते हैं, क्योंकि ये दोनों यथायोग्य अतीत और अनागत भावों के परिच्छेदक होते हैं।

अनाकार पश्यत्ता में अचक्षुदर्शन का समावेश इसलिए नहीं किया गया है कि पश्यत्ता एक प्रकार का प्रकृष्ट ईक्षण (देखना) है, जो चक्षुरिन्द्रिय से ही संभव है तथा दूसरी इन्द्रियों से नहीं, क्योंकि अन्य इन्द्रियों की अपेक्षा चक्षुरिन्द्रिय का उपयोग अल्पकालिक और द्रुततर होता है, यही पश्यत्ता की प्रकृष्टता में कारण है, अतः अनाकार पश्यत्ता का लक्षण है - जिसमें विशिष्ट परिस्फुट रूप देखा जाए। यह लक्षण चक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन में ही घटित हो सकता है। वस्तुतः प्राचीन व्याख्याकारों के अनुसार पश्यत्ता और उपयोग के भेदों में अन्तर ही इनकी व्याख्या को ध्वनित कर देते हैं।⁴⁴⁷ उपर्युक्त पश्यत्ता के वर्णन में श्रुतज्ञान को पश्यत्ता के रूप में ग्रहण किया गया है। इस अपेक्षा से श्रुतज्ञानी भी जानता और देखता है, वह श्रुतज्ञान के उपयोग से नहीं श्रुतज्ञान की पश्यत्ता से जानता और देखता है, ऐसा कह सकते हैं।⁴⁴⁸

आवश्यकचूर्णि में कहा है कि श्रुतज्ञानी अदृष्ट द्वीपसमुद्रों और देवकुरु-उत्तरकुरु के भवनों की आकृतियों (संस्थानों) का इस रूप में आलेखन करता है कि मानो उन्हें साक्षात् देखा हो। अतः श्रुत ज्ञानी जानता है, देखता है - यह आलापक विपरीत नहीं है।⁴⁴⁹

आचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार 'पश्यति' का अर्थ चक्षु से देखना अथवा साक्षात्कार करना नहीं है। यहाँ 'पासइ' का प्रयोग पश्यत्ता के अर्थ में है। इसका तात्पर्य है, दीर्घकालिक उपयोग। श्रुतज्ञान का सम्बन्ध मन से है। मानसिक ज्ञान दीर्घकालिक अथवा त्रैकालिक होता है, इसलिए यहाँ 'पासइ' का प्रयोग संगत है।⁴⁵⁰

मलधारी हेमचन्द्र ने कहा है कि कुछ स्थानों पर 'तेण सुए पासणाऽजुत्त' का श्रुतज्ञान पश्यत्ता से अयुक्त है, ऐसा अर्थ किया जाता है। इसी अपेक्षा से 'पासइ य केइ सो पुण तमचक्खुदंसणेणं ति' गाथा 553 में इस पाठ से अचक्षुदर्शन की अपेक्षा से श्रुतज्ञान में पश्यत्ता कही है तो वह अयोग्य है। क्योंकि प्रज्ञापना सूत्र में मतिज्ञान, मति अज्ञान और अचक्षुदर्शन को छोड़कर नौ प्रकार की पश्यत्ता कही है, उसमें श्रुतज्ञानी जानते हैं, लेकिन देखते नहीं हैं, ऐसा अर्थ समझना चाहिए। (यह गाथा पूर्व टीकाकारों ने ग्रहण तो की, लेकिन कहीं पर भी उसकी व्याख्या नहीं की है। इसकी व्याख्या टीकाकार ने स्वबोध अर्थ से की है, किन्तु आगम से जो अर्थ अविरोधी हो उसका ग्रहण किया जा सकता है।⁴⁵¹

447. युवाचार्य मधुकरमुनि, प्रज्ञापनासूत्र, भाग 3, पद 30, पृ. 163

448. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 554 बृहद्वृत्ति

449. आवश्यक चूर्णि, भाग 1, पृ. 35-36

450. आचार्य महाप्रज्ञ, नंदीसूत्र, पृ. 189

451. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 555 बृहद्वृत्ति

श्रुत ज्ञान के विषय की तुलना मतिज्ञान और केवलज्ञान के विषय से निम्न प्रकार से कर सकते हैं।

	मतिज्ञान	श्रुतज्ञान	केवलज्ञान
द्रव्य	आदेशतः सर्व द्रव्यों को जानता-देखता है	श्रुतोपयोग अवस्था में सर्व द्रव्यों को जानता-देखता है	सर्व द्रव्यों को जानता-देखता है
क्षेत्र	आदेशतः सर्व क्षेत्रों को जानता-देखता है	श्रुतोपयोग अवस्था में सर्व क्षेत्रों को जानता-देखता है	सर्व क्षेत्रों को जानता-देखता है
काल	आदेशतः सर्व काल को जानता-देखता है	श्रुतोपयोग अवस्था में सर्व काल को जानता-देखता है	सर्व काल को जानता-देखता है
भाव	आदेशतः सर्व भावों को जानता-देखता है	श्रुतोपयोग अवस्था में सर्व भावों को जानता-देखता है	सर्व भावों को जानता-देखता है

मतिज्ञान के द्रव्यादि विषय की अपेक्षा से सर्व शब्द का प्रयोग किया गया है, वह आदेश की अपेक्षा है, जबकि श्रुतज्ञान के प्रसंग पर सर्व शब्द श्रुत अथवा ग्रंथ की अपेक्षा से प्रयुक्त हुआ है।

सत्पदप्ररूपणादि नौ अनुयोग द्वारा श्रुतज्ञान की प्ररूपणा

जिस प्रकार मतिज्ञान का सत्पदप्ररूपणा, द्रव्यप्रमाण, क्षेत्र, स्पर्शना, काल, अन्तर, भाग, भाव और अल्पबहुत्व इन नौ द्वारों के माध्यम से उल्लेख किया गया है। उसी प्रकार श्रुतज्ञान के लिए समझ लेना चाहिए, क्योंकि मतिज्ञान और श्रुतज्ञान दोनों के अधिकारी एक ही हैं।⁴⁵²

श्रुत का प्रामाण्य

चार्वाक को छोड़कर शेष भारतीय दर्शन में शब्द प्रमाण के महत्त्व को स्वीकार किया गया है। सांख्यदर्शन आप्त वचनों को शब्द प्रमाण मानता है।⁴⁵³ जैनपरम्परा में भी स्व-आगमों को प्रमाण माना जाता है। आप्तपुरुष के शब्दों को सुनकर श्रोता के चित्त में शब्द प्रतिपादित अर्थ की जो यथार्थवृत्ति उत्पन्न होती है, उसको योगदर्शन में आगम प्रमाण कहा गया है।⁴⁵⁴ योगदर्शन का आगम प्रमाण जैनदर्शन में सम्यग्दृष्टि के भावश्रुत के समान है। वैशेषिक दर्शन और बौद्धदर्शन में आगम का अन्तर्भाव अनुमान में किया गया है। जैनदर्शन ने इस मान्यता का खंडन करके आगम को स्वतंत्र प्रमाण सिद्ध किया है। इस प्रकार न्याय, मीमांसा, वेदान्त ने भी आगम को स्वतंत्र रूप से स्वीकार किया है।⁴⁵⁵

श्रुतज्ञान में अनुमानादि प्रमाणों का समावेश

अकलंक ने अक्षर श्रुत और अनक्षर श्रुत की संयोजना अनुमान, उपमान आदि के साथ की है। उनके अनुसार स्वार्थानुमान, स्वप्रतिपत्ति के काल में अनक्षर श्रुत होता है। परार्थानुमान - दूसरे के लिए प्रतिपादन के काल में अक्षर श्रुत होता है। इसी प्रकार उपमान प्रमाण भी अक्षर श्रुत होता है। इसी प्रकार उपमान प्रमाण भी अक्षर श्रुत और अनक्षर श्रुत दोनों प्रकार का होता है।⁴⁵⁶ पहले बताये हुए प्रमाण से अकलंक अनुमान आदि का अंतर्भाव स्वप्रतिपत्ति काल में अक्षरश्रुत में मानते हैं।⁴⁵⁷ इस प्रकार अकलंक के अनुसार वर्णजन्य श्रुत अक्षरश्रुत है और अवर्णजन्य श्रुत अनक्षरश्रुत है।

उमास्वाति ऐतिह्य और आगम को एकार्थक मानते हैं। जिनभद्रगणि श्रुत को (लब्ध्यक्षर) अनुमान रूप और उपचारतः प्रत्यक्ष मानते हैं⁴⁵⁸ और बाद के काल में न्यायदर्शन आदि के समान जैनाचार्यों ने अनुमान, उपमान आदि प्रमाणों को स्वीकार किया गया है। जैसेकि अकलंक ने त्रिविध

452. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 557

454. योगभाष्य 1.7

456. षट्खण्डागम पु. 13, पृ. 265

458. तत्त्वार्थभाष्य 1.20, विशेषावश्यकभाष्य 467, 469

453. सांख्यकारिका, गाथा 2

455. न्यायकुमुदचन्द्र, भाग 2, पृ. 530-539

457. तत्त्वार्थराजवार्तिक 1.20.15

अनुमान, उपमान, शब्द, ऐतिह्य, अर्थापत्ति, प्रतिपत्तिसंभव, अभाव,⁴⁵⁹ स्मृति, तर्क⁴⁶⁰ आदि का अंतर्भाव श्रुत में किया और विशेष स्पष्ट करते हुए कहा कि उपर्युक्त अनुमान आदि जो स्वप्रतिपत्ति कराते हैं, तो उनको अनक्षर श्रुत में और परप्रतिपत्ति कराते हैं तो उनको अक्षरश्रुत में ग्रहण करना चाहिए।⁴⁶¹ जबकि आचार्य विद्यानंद के अनुसार प्रतिभाज्ञान, संभव, अभाव, अर्थापत्ति और स्वार्थानुमान ये जब अशब्दात्मक होते हैं तब उनका ग्रहण मतिज्ञान में होता है तथा जब शब्द रूप होते हैं, तब उनका ग्रहण श्रुतज्ञान में करना चाहिए।⁴⁶²

समीक्षण

जो ज्ञान श्रोत्रेन्द्रिय से सम्बन्धित हो, वह श्रुतज्ञान है। लेकिन यहाँ श्रोत्रेन्द्रिय में प्रयुक्त इन्द्रिय शब्द के उपलक्षण से शेष इन्द्रियों से होने वाला ज्ञान भी श्रुतज्ञान से सम्बन्धित है, ऐसा समझना चाहिए। आत्मा जिस परिणामविशेष से वाच्यवाचक संबंधयुक्त शब्द से संस्पृष्ट अर्थ को सुनती-जानती है, वह परिणामविशेष श्रुतज्ञान है।

मलधारी हेमचन्द्र की बहद्वृत्ति के अनुसार जिसे आत्मा सुने वह श्रुत है, क्योंकि शब्द को जीव सुनता है, इसलिए श्रुतज्ञान शब्द रूप ही है। यदि ऐसा मानेंगे तो श्रुत आत्म-परिणाम रूप नहीं रहेगा, क्योंकि पूर्वपक्ष शब्द को ही श्रुत मान रहा है, लेकिन शब्द पौद्गलिक होने से मूर्त रूप होता है जबकि आत्मा अमूर्त है। किन्तु मूर्त वस्तु अमूर्त का परिणाम नहीं होती है और आगम में तो श्रुतज्ञान को आत्म-परिणाम रूप माना गया है। अतः वक्ता द्वारा बोला गया शब्द श्रुतज्ञान का निमित्त होता है। श्रुतज्ञान के इस निमित्तभूत शब्द में श्रुत का उपचार किया जाता है, लेकिन परमार्थ से जीव (आत्मा) ही श्रुत है। जब कर्मवाच्य का प्रयोग करके कहे कि 'जो सुना जाय, वह श्रुत है' तो इससे द्रव्यश्रुत का और जब कर्तृवाच्य का प्रयोग करके कहे कि 'जो सुनता है, वह श्रुत है' तो इससे भावश्रुत का ग्रहण होता है।

यदि शब्दोल्लेखज्ञान श्रुतज्ञान है तो इस लक्षण से एकेन्द्रिय जीवों में श्रुत ज्ञान नहीं हो सकता है, इस शंका का समाधान **जिनभद्रगणि** ने युक्तियुक्त दिया है कि एकेन्द्रिय जीवों में भी श्रुतज्ञान (अज्ञान) आहार संज्ञा आदि के समय होता है, पर वह अत्यन्त मन्द रूप होता है।

श्रुतज्ञान का अन्य ज्ञानों से वैशिष्ट्य है। चार ज्ञान अपने स्वरूप को स्वयं व्यक्त नहीं कर सकते हैं, अपने स्वरूप को प्रकट करने के लिए उन्हें श्रुतज्ञान का सहारा लेना पड़ता है, इसलिए श्रुतज्ञान अन्य ज्ञानों से विशिष्ट है। श्रुतज्ञान चरण करण की प्ररूपणा और आचरण में मुख्य होता है, इसके द्वारा ही आत्मा का उपकार होता है।

श्रुतज्ञान और केवलज्ञान की तुलना करने पर मात्र दोनों में इतना ही अन्तर है कि केवलज्ञानी जिस विषय को प्रत्यक्ष जानता है, श्रुतज्ञानी उसी विषय को परोक्ष रूप से जानता है। अतः श्रुतज्ञान परोक्ष है और केवलज्ञान प्रत्यक्ष है।

मतिज्ञान श्रुतज्ञान का आधार है। वही पदार्थ श्रुतज्ञान का विषय हो सकता है जिसे पहले मतिज्ञान द्वारा जान लिया गया है। कभी कोई ऐसा पदार्थ श्रुतज्ञान का विषय नहीं हो सकता जो व्यक्ति के मतिज्ञान की सीमा से पूर्णतया भिन्न हो। अतः श्रुतज्ञान की उत्पत्ति मतिज्ञान से होती है। फिर दोनों के आवरक कर्म अलग-अलग हैं, इसलिए दोनों भिन्न हैं।

मलधारी हेमचन्द्र ने बहद्वृत्ति में स्पष्ट किया है कि इन्द्रिय और मन के निमित्त से होने

459. तत्त्वार्थराजवार्तिक 1.20.15

460. लघीयस्रय 3.10, 11 उद्धृत न्याकुमुदचन्द्र पृ. 404-5

461. तत्त्वार्थराजवार्तिक 1.20.15

462. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक 1.20.124 से 126

वाला सारा ज्ञान मतिज्ञान ही है। परोपदेश और आगमवचन - इन दो विशेषताओं से विशिष्ट श्रुतज्ञान मतिज्ञान का ही एक भेद है, इससे भिन्न नहीं है।

आगमों में श्रुतज्ञान को मतिपूर्वक कहा गया है, लेकिन **श्रुतज्ञान श्रुतपूर्वक** भी होता है, जैसेकि परम्परागत रूप से वह भी मतिज्ञान पर ही आधारित है। अकलंक कहते हैं कि घट शब्द को सुनकर पहले घट वस्तु का ज्ञान तथा उस श्रुत से जलधाराणादि कार्यों का जो द्वितीय श्रुतज्ञान होता है वह श्रुतपूर्वक श्रुतज्ञान है। यहाँ प्रथम श्रुतज्ञान के मतिपूर्वक होने से द्वितीय श्रुतज्ञान में भी मतिपूर्वकत्व का उपचार कर लिया जाता है, अथवा पूर्व शब्द व्यवहित पूर्व को भी कहता है। अतः साक्षात् या परम्परा मतिपूर्वक उत्पन्न होने वाले ज्ञान श्रुतज्ञान कहा जाता है।

श्रुतज्ञान और मतिज्ञान में अन्तर -

1. श्रुतज्ञान में वाच्य पदार्थ और वाचक शब्द के परस्पर सम्बन्ध का ज्ञान नियम से और मुख्य रूप से रहता है तथा शब्द उल्लेख भी नियम से होता है। परन्तु मतिज्ञान में वाच्य वाचक सम्बन्ध की पर्यालोचना नहीं होती है। 2. श्रुतज्ञान त्रैकालिक वस्तु को विषय करता है, जबकि मतिज्ञान वर्तमान कालिक वस्तु में प्रवृत्त होता है अतः मतिज्ञान कारण है और श्रुतज्ञान कार्य है, इत्यादि हेतुओं से श्रुत और मति में भेद को स्पष्ट किया गया है।

श्रुतज्ञान के कितने भेद हैं, इसके सम्बन्ध में आचार्य एक मत नहीं हैं, सभी आचार्यों के मत का अध्ययन करने पर इस सम्बन्ध में मुख्य रूप से श्रुतज्ञान के भेदों को चार भागों में विभक्त कर सकते हैं - 1. **अनुयोगद्वार सूत्र** के अनुसार नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव ये चार भेद. 2. **आवश्यकनिर्युक्ति** के अनुसार अक्षर-अनक्षर, संज्ञी-असंज्ञी आदि चौदह भेद, 3. **षट्खण्डागम** के अनुसार पर्याय, पर्यायसमास, अक्षर, अक्षर समास आदि बीस भेद एवं 4. **तत्त्वार्थसूत्र** के अनुसार अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य ये दो भेद।

उपर्युक्त भेदों में अनुयोगद्वार कृत भेद प्राचीन निक्षेप पद्धति के आधार पर किये गये हैं, षट्खण्डागम में वर्णित भेद विस्तारशैली वाले हैं, जबकि तत्त्वार्थसूत्र में उल्लिखित भेद अति संक्षिप्त शैली से युक्त हैं। अतः आवश्यकनिर्युक्ति में श्रुतज्ञान के जो चौदह भेद किये गये हैं, वे न तो विस्तार युक्त हैं और नहीं संक्षिप्तशैली से वर्णित हैं। आवश्यकनिर्युक्ति कृत भेदों से श्रुतज्ञान के सम्बन्ध में विशिष्ट जानकारी मिलती है।

अक्षर-अनक्षर श्रुत - अक्षर शब्द का प्रयोग अमरत्व के रूप हुआ है अर्थात् जिसका कभी नाश नहीं हो वह अक्षर है। इस व्युत्पत्ति से तो पाँचों ज्ञान अक्षर रूप हैं, फिर भी श्रुतज्ञान की प्रमुखता होने से श्रुतज्ञान को ही अक्षर कहा गया है।

जो अकारादि घट, पट आदि अभिधेय पदार्थों के अर्थ को प्रकट करते हैं, वे वर्ण कहलाते हैं। वर्ण दो प्रकार के होते हैं - स्वर और व्यंजन। जो व्यंजन को उच्चारण के योग्य बनाते हैं, वे अकारादि स्वर कहलाते हैं, जो पदार्थ को प्रकट करते हैं, वे व्यंजन कहलाते हैं।

अक्षर श्रुत तीन प्रकार का होता है - 1. **संज्ञाक्षर** - नियत अक्षर के आकार को संज्ञाक्षर कहते हैं, जैसे अ, आ, क, ख, ट आदि अर्थात् संज्ञाक्षर आकृति रूप होता है। 2. **व्यंजनाक्षर** - शब्द के अर्थ को प्रकट करने वाले अक्षर बोलते समय व्यंजनाक्षर हैं। 3. **लब्ध्याक्षर** - श्रुतज्ञानावरण के क्षयोपशम के निमित्त से होने वाला ज्ञान लब्ध्याक्षर है।

ध्वलाटीका में इनको क्रम से संस्थान अक्षर, निर्वृत्यक्षर और लब्धि अक्षर कहा गया है।

संज्ञाक्षर और व्यंजनाक्षर द्रव्यश्रुत रूप और लब्ध्याक्षर भावश्रुत रूप होता है। **जिनभद्रगणि** ने इन्द्रियज्ञान को परमार्थ से अनुमान रूप ही स्वीकार किया है।

लब्ध्यक्षर की सत्ता एकेन्द्रिय जीवों में मानकर उनमें सोये हुए मुनि के उदाहरण से भावश्रुत की सत्ता स्वीकार की गई है। इस प्रसंग पर **जिनभद्रगणि** ने एकेन्द्रिय में एक द्रव्येन्द्रिय और पांचों भावेन्द्रिय मानी है। लेकिन यह आगमानुकूल नहीं है, क्योंकि प्रज्ञापना सूत्र के पन्द्रहवें पद में स्पष्ट रूप से एकेन्द्रिय में एक द्रव्येन्द्रिय और एक ही भावेन्द्रिय होने का उल्लेख है। एकेन्द्रिय में अन्य इन्द्रिय जनित जो कार्य होते हुए देखे जाते हैं, वे संज्ञा रूप हैं। क्योंकि प्रज्ञापना सूत्र के 8वें पद में एकेन्द्रिय जीवों में आहारादि दसों संज्ञाएं होती हैं।

अक्षरश्रुत के प्रसंग पर एक अक्षर आदि की पर्याय का प्रमाण बताते हुए उसकी स्व और पर पर्याय का उल्लेख किया गया है। जीव के अक्षर का अनन्तवां भाग नित्य खुला रहता है तो वह अक्षर का अनन्तवां भाग श्रुताक्षर है कि केवलाक्षर रूप? इस शंका का समाधान करते हुए उसको श्रुताक्षर रूप स्वीकार किया गया है।

अक्षरश्रुत के विपरीत अनक्षरश्रुत होता है, श्वास लेने, थूकने, खांसने आदि से जो शब्द उत्पन्न होता है, वह अनक्षर श्रुत है। जैसे अक्षर श्रुत के तीन भेद होते हैं, वैसे ही अनक्षर श्रुत के भी भेद होते हैं।

संज्ञी-असंज्ञी श्रुत - संज्ञा शब्द के अनेक अर्थ होते हैं, वेदनीय और मोहनीय कर्म के उदय से तथा ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम से पैदा होने वाली आहारादि की प्राप्ति के लिए आत्मा की क्रिया विशेष को संज्ञा कहते हैं। मुख्य रूप से संज्ञा के दो भेद होते हैं - प्रत्यभिज्ञान और अनुभूति। आचार्यों ने संज्ञी-असंज्ञी के प्रसंग पर संज्ञा को विभिन्न प्रकार से परिभाषित किया है। **जिनभद्रगणि** ने संज्ञी-असंज्ञी श्रुत के प्रसंग पर तीन संज्ञाओं का उल्लेख करते हुए उनके आधार पर संज्ञी और असंज्ञी को परिभाषित किया है।

1. दीर्घकालिकोपदेशिकी संज्ञा - इसमें भूत-भविष्य और वर्तमान कालिक चिंतन-मनन होता है, वह दीर्घकालिकोपदेशिकी संज्ञा कहलाती है। जिन जीवों में यह संज्ञा पाई जाती है, वे इस संज्ञा की अपेक्षा संज्ञी कहलाते हैं। ऐसे जीवों का श्रुत संज्ञी श्रुत और जिसमें यह संज्ञा नहीं होती उनका श्रुत असंज्ञी श्रुत कहलाता है। यह संज्ञा मन वाले संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों में ही पाई जाती है।

2. हेतुवादोपदेशिकी संज्ञा - इसमें वर्तमान कालिक चिंतन-मनन होता है, वह हेतुवादोपदेशिकी संज्ञा कहलाती है। जिन जीवों में यह संज्ञा पाई जाती है, वे इस संज्ञा की अपेक्षा संज्ञी कहलाते हैं। ऐसे जीवों का श्रुत संज्ञी श्रुत और जिसमें यह संज्ञा नहीं होती उनका श्रुत असंज्ञी श्रुत कहलाता है। यह संज्ञा द्वीन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक के जीवों में पाई जाती है।

3. दृष्टिवादोपदेशिकी संज्ञा - जिन जीवों में सम्यक्त्व होती है, वे जीव इस संज्ञा की अपेक्षा संज्ञी होते हैं। ऐसे जीवों का श्रुत संज्ञी श्रुत और जिसमें यह संज्ञा नहीं होती उनका श्रुत असंज्ञी श्रुत कहलाता है। यह संज्ञा चौदहपूर्वी में ही पाई जाती है।

तीनों संज्ञाओं में हेतुवादोपदेशिकी अशुभतर, दीर्घकालिकोपदेशिकी संज्ञा अशुभ, दृष्टिवादोपदेशिका संज्ञा शुभ है। मलयगिरि की नन्दवृत्ति के अनुसार उपर्युक्त वर्णन में निरूपित संज्ञा उत्तरोत्तर विशुद्ध-विशुद्धतर होने से सबसे पहल हेतुवाद का कथन करना चाहिए था। लेकिन नंदी ने दीर्घकालिकोपदेशिकी का कथन पहले किया है। अतः इन संज्ञाओं का क्रम विशुद्धि के आधार पर नहीं होकर जिस संज्ञा से संज्ञी-असंज्ञी का व्यवहार किया जाता है, उसको प्रथम स्थान पर रखा गया है। आगमों में जहां भी संज्ञी-असंज्ञी जीवों की चर्चा हुई है वह दीर्घकालिकोपदेशिकी की अपेक्षा से ही हुई है। दिगम्बर परम्परा में इन तीनों संज्ञाओं का वर्णन प्राप्त नहीं होता है।

सम्यक्-मिथ्या श्रुत - अर्हत् भगवान् द्वारा प्रणीत द्वादशांगी का ज्ञान जो नवतत्त्व का, षड्द्रव्य का सम्यग् अनेकान्तवाद पूर्वक, पूर्वापर अविरुद्ध यथार्थ सम्यग्ज्ञान है, जो शम संवेगादि को उत्पन्न

करने वाला, सम्यक् अहिंसा, सम्यक् तप की प्रेरणा करने वाला, भव-भ्रमण का नाश करने वाला और मोक्ष पहुँचाने वाला श्रुत है, वह 'सम्यक्श्रुत' है। अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य रूप सभी आगम सम्यक् श्रुत रूप हैं। जो प्रवचन और आगम की अपेक्षा अज्ञानी हैं और मिथ्यादृष्टि हैं, जो लोक दृष्टि वाले हैं, उनकी स्वच्छन्द मति और बुद्धि के द्वारा विकल्पित जो प्रवचन और आगम हैं, वे 'मिथ्याश्रुत' हैं। भारत, रामायण आदि ग्रंथ मिथ्याश्रुत रूप हैं।

छद्मस्थों में जघन्य दस पूर्वी और उत्कृष्ट चौदहपूर्वी की रचना को एकांत रूप से सम्यक् श्रुत माना गया है, जबकि दसपूर्वी से कम पूर्वधारी के द्वारा रचित ग्रंथ सम्यक्श्रुत और मिथ्याश्रुत दोनों रूप हो सकते हैं।

जिनभद्रगणि ने सम्यक्-मिथ्याश्रुत के प्रसंग में पांच सम्यक्त्वों का उल्लेख किया है, जिनका विस्तार से वर्णन मलधारी हेमचन्द्र ने बृहद्वृत्ति में किया है।

सम्यक्त्व और श्रुत में अन्तर स्पष्ट करते हुए कहा है कि शुद्धतत्त्वावबोध रूप श्रुत में तत्त्व श्रद्धान अंश सम्यक्त्व है और यह सम्यक्त्व श्रुत तत्त्वबोध श्रुतज्ञान है। सम्यक्त्व कारण और श्रुतज्ञान कार्य रूप होता है अतः यह दोनों में भिन्नता है।

नंदीसूत्र (पृ. 155) में श्रुत की परिणति की अपेक्षा चार भंगों का उल्लेख किया गया है -

1. जिस मिथ्यादृष्टि ने इन मिथ्याश्रुतों को 'ये सम्यक्श्रुत हैं', इस मिथ्याश्रद्धा के साथ ग्रहण किया है, उसके लिए ये मिथ्याश्रुत हैं, क्योंकि इससे वह मोक्ष के विपरीत मिथ्यात्व का आग्रही होता है।
2. जिस सम्यग्दृष्टि ने इन मिथ्याश्रुतों को 'ये मिथ्याश्रुत हैं'-इस सम्यग् श्रद्धा के साथ ग्रहण किया है, उसके लिए ये सम्यक्श्रुत हैं, क्योंकि सम्यग्दृष्टि इन्हें पढ़ सुन कर इनकी मोक्ष के प्रति असारता को जानकर सम्यक्त्व में स्थिर बनता है।
3. मिथ्यादृष्टि के लिए भी ये सम्यक्श्रुत हैं। 'क्योंकि यह उसकी सम्यक्त्व में निमित्त बनते हैं। जैसेकि मिथ्यादृष्टि, मिथ्यात्व मोहनीय के क्षयोपशम आदि के समय इन्हें पढ़-सुनकर सूक्ष्मार्थ समझ में आने के कारण या उत्पन्न शंका का निवारण हो जाने के कारण या दूसरों के द्वारा सम्यक् रूप में समझाए जाने के कारण इन सम्यक्श्रुतों को-'ये सम्यक्श्रुत हैं'-यों सम्यक्श्रद्धा के साथ ग्रहण करते हैं और अपनी पूर्व की मिथ्यादृष्टि छोड़ देते हैं।
4. सम्यग्दृष्टि के लिए भी ये ही मिथ्याश्रुत हैं। क्योंकि ये मिथ्यात्व में कारण बन जाते हैं। जैसेकि कई सम्यग्दृष्टि, मिथ्यात्व मोहनीय के उदय के समय इन्हें पढ़-सुनकर सूक्ष्मार्थ समझने में न आने के कारण या उत्पन्न हुई शंका का निवारण न होने के कारण या दूसरों के द्वारा भ्रांति उत्पन्न करने इत्यादि कारणों से, इन सम्यक्श्रुतों को-'ये मिथ्याश्रुत हैं'-यों मिथ्या श्रद्धापूर्वक ग्रहण कर लेते हैं और सम्यग्दृष्टि को छोड़ देते हैं।²⁶³

सादि-सपर्यवसित श्रुत तथा अनादि-अपर्यवसित श्रुत का वर्णन नय, द्रव्यादि और भवी जीव की अपेक्षा से किया गया है। द्रव्यास्तिक नय की अपेक्षा श्रुत अनादि-अपर्यवसित तथा पर्यायास्तिकाय नय की अपेक्षा सादि-सपर्यवसित है। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा श्रुत सादि-सपर्यवसित और अनादि-अपर्यवसित होता है। भवी-अभवी की अपेक्षा से वर्णन करते जिनभद्रगणि ने चार भंगों का उल्लेख किया है। गमिक-अगमिक श्रुत के प्रकार को समझाते हुए कहा है कि जिमसे भंग की बहुलता हो, गणित का विषय हो अथवा सदृश पाठ हो, वह गमिक श्रुत कहलाता है। जिसमें ऐसा उल्लेख नहीं हो वह अगमिक श्रुत कहलाता है।

263. अहवा मिच्छदिद्विस्स वि एयाइं चेव सम्मसुयं कम्हा? सम्मतहेउत्तणओ, जम्हा ते मिच्छदिद्विया तेहिं चेव समएहिं चोइया समाणा केइ सपक्खदिद्विओ चयंति। - नंदीसूत्र, पृ. 155

अंगप्रविष्ट-अंगबाह्य - जो आगम अर्थ रूप में तीर्थकर द्वारा प्रणीत और सूत्र रूप में गणधरकृत हैं, वे अंगप्रविष्ट कहलाते हैं। भगवान् की अर्थरूप वाणी के आधार पर गणधर के अलावा अन्य आचार्यों द्वारा रचित आगम अंगबाह्य कहलाते हैं। दिगम्बर परम्परा में भी गणधरकृत आगम अंग और आचार्य (आरातीय) द्वारा रचित आगम अंगबाह्य आगम माना गया है।

अंगबाह्य के भेद - इसके आवश्यक और आवश्यक व्यतिरिक्त रूप से दो भेद होते हैं। पुनः आवश्यकव्यतिरिक्त के दो भेद होते हैं - कालिक और उत्कालिक। जिनके स्वाध्याय का काल नियत होता है, वे कालिक सूत्र होते हैं तथा जिनके स्वाध्याय का काल अनियत होता है, वे उत्कालिक सूत्र कहलाते हैं।

नदीसूत्र में उत्तराध्ययन आदि 31 कालिक सूत्रों तथा दशवैकालिक आदि 29 उत्कालिक सूत्रों के नामों का उल्लेख है। दिगम्बर परम्परा में अंगबाह्य के सामायिक आदि चौदह प्रकार बताये हैं।

अर्हत् द्वारा कथित श्रुत के आधार पर आचार्य जिन सूत्रों की रचना करते हैं, वे प्रकीर्णक कहलाते हैं। प्रकीर्णक के सम्बन्ध में दो मत हैं प्रथम मत के अनुसार जिस तीर्थकर के शासन में जितनी उत्कृष्ट साधुओं की संख्या होती है, उसके उतने उत्कृष्ट प्रकीर्णक होते हैं। दूसरा मत है तीर्थकर के शासन में जितने प्रत्येक बुद्ध होते हैं उतने ही प्रकीर्णक होते हैं।

अंगप्रविष्ट के भेद - जिस प्रकार पुरुष के शरीर में मुख्य रूप से बारह अंग होते हैं, उसी प्रकार जिनशासन में बारह अंग होते हैं। इस प्रकार अंग के बारह भेद प्राप्त होते हैं। इनका सामान्य अर्थ निम्न प्रकार से हैं - 1. **आचार अंग** - इसमें आचार का वर्णन है। 2. **सूत्रकृत अंग** - इसमें जैन-अजैन मत सूत्रित है। 3. **स्थान अंग** - इसमें तत्त्वों की संख्या बताई है। 4. **समवाय अंग** - इसमें तत्त्वों का निर्णय किया है। 5. **व्याख्या प्रज्ञप्ति** - इसमें तत्त्वों की व्याख्या की गई है। 6. **ज्ञाता-धर्म-कथा अंग** - इसमें उन्नीस दृष्टान्त और दो सौ छह धर्मकथाएँ हैं। 7. **उपासकदसा अंग** - इसमें श्रमणों के उपासकों में से दस श्रावकों के चरित्र हैं। 8. **अन्तकृद्दसा अंग** - इसमें जिन्होंने कर्मों का अन्त किया-ऐसे में से नब्बे साधुओं के चरित्र हैं। 9. **अनुत्तर औपपातिक** - इसमें अनुत्तर विमान में उत्पन्न हुए तेतीस साधुओं के चरित्र हैं। 10. **प्रश्नव्याकरण** - इसमें पाँच आस्रव और पाँच संवर का वर्णन है। 11. **विपाक** - इसमें पाप और पुण्य के फल का वर्णन है। 12. **दृष्टिवाद** - इसमें नाना दृष्टियों का वाद था अर्थात् जिसमें विभिन्न नयों के माध्यम से विषय वस्तु का कथन किया गया है, वह दृष्टिवाद है। दिगम्बर साहित्य के अनुसार जिसमें 363 पांखड़ मतों का विस्तार से खण्डन मंडन किया गया है, वह दृष्टिवाद है। दृष्टिवाद पांच भागों में विभक्त है -

1. **परिकर्म** - यह दृष्टिवाद को सीखने की भूमिका है। जैसे किसी भी भाषा का गहन अध्ययन करना है, तो सर्वप्रथम उसकी बारहखड़ी सीखना आवश्यक है। प्रकार इसी दृष्टिवाद को सीखने के लिए परिकर्म का ज्ञान आवश्यक है।

2. **सूत्र** - जो शब्द में संक्षिप्त और अर्थ में विशाल हो वह सूत्र कहलाता है। दिगम्बर साहित्य के अनुसार जो मिथ्यादर्शन को सूचित करे वह सूत्र है।

3. **पूर्वगत** - तीर्थकर सर्वप्रथम गणधर को जिस महान् अर्थ का कथन करते हैं, उस महान् अर्थ को गणधर सूत्र रूप में गूँथते हैं, वह पूर्वगत कहलाता है। पूर्वगत चौदह प्रकार का होता है -

1. उत्पाद पूर्व
2. अग्रायणीय पूर्व
3. वीर्यप्रवाद पूर्व
4. अस्तिनास्ति-प्रवाद पूर्व
5. ज्ञानप्रवाद पूर्व
6. सत्यप्रवाद पूर्व
7. आत्मप्रवाद पूर्व
8. कर्मप्रवाद पूर्व
9. प्रत्याख्यानप्रवाद पूर्व
10. विद्यानुप्रवाद पूर्व
11. अवन्ध्य (कल्याणनामधेय) पूर्व
12. प्राणायु (प्राणावाय)पूर्व
13. क्रियाविशालपूर्व और
14. लोक-बिन्दुसार पूर्व।

4. अनुयोग - जिसमें मूल विषय को पुष्ट करने वाले विषय का वर्णन हो वह अनुयोग है। इसके दो भेद होते हैं- **१. मूल प्रथमानुयोग** - जिसमें तीर्थकरों के जीवन चारित्र का वर्णन है। **२. गण्डिकानुयोग**-जिसमें सामान्य और बोधगम्य तथा गन्ने के समान मधुर विषय का वर्णन हो वह गण्डिकानुयोग है।

5. चूलिका - मुख्य प्रतिपाद्य विषय के कथन के बाद विषय परिशिष्ट स्वरूप अथवा उपसंहार स्वरूप प्रतिपादन को चूलिका कहते हैं।

इस प्रकार दोनों परम्परा में मान्य बारह अंगों की विषय वस्तु की समीक्षा की गई है।

द्वादशांगी शब्द रूप है, इसलिए पुरुष ही इसका कर्त्ता है। जिस प्रकार धर्मास्तिकाय आदि पांच द्रव्य शाश्वत हैं, वैसे ही द्वादशांगी भी शाश्वत है। इसलिए ध्रुव आदि सात विशेषण दिये गए हैं। द्वादशांगी की विराधना करने वाला जीव अनन्त काल तक संसार में परिभ्रमण करता है तथा आराधना करने वाला शीघ्र ही मोक्ष को प्राप्त करता है।

षट्खण्डागम में श्रुतज्ञान के दो प्रकार से भेद किये गए हैं। -1. अक्षर की अपेक्षा से श्रुतज्ञान के संख्यात भेद हैं। 2. प्रमाण की अपेक्षा श्रुतज्ञान के पर्याय आदि बीस भेद होते हैं, जिनका विस्तार से वर्णन किया गया है।

श्रुतज्ञान के विषय का वर्णन द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के आधार पर किया गया है। इसमें जानने (जाणइ) और देखने (पासइ) रूप दो क्रियाओं का प्रयोग किया गया है। पासइ क्रिया के सम्बन्ध में **जिनभद्रगणि** का कहना है कि नंदीसूत्र में 'जाणइ न पासइ' होना चाहिए। क्योंकि श्रुतज्ञानी जानता है, लेकिन देखता नहीं है। आगम के अनुसार श्रुतज्ञान के विषय में प्रयुक्त पासइ क्रिया की सिद्धि पश्यत्ता के आधार पर की गई है।

श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्परा में श्रुतज्ञान के स्वरूप में अन्तर -

प्रस्तुत अध्याय को अध्ययन करने पर श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्परा में श्रुतज्ञान के स्वरूप में अन्तर प्रतीत हुए जो निम्न प्रकार से हैं -

1. आवश्यकनिर्युक्ति में श्रुतज्ञानावरण की असंख्यात प्रकृतियाँ बताई हैं। जबकि षट्खण्डागम में श्रुतज्ञानावरण की संख्यात प्रकृतियाँ बताई हैं।

2. आवश्यकनिर्युक्ति की परंपरा में अक्षर-अनक्षर, संज्ञी-असंज्ञी आदि चौदह भेदों का वर्णन है जबकि षट्खण्डागम की परम्परा में प्रमाण की अपेक्षा पर्याय आदि बीस भेदों का उल्लेख मिलता है।

3. श्वेताम्बर परम्परा में गर्भज तिर्यचों को संज्ञी तथा सम्मूर्च्छिम तिर्यच को असंज्ञी माना गया है जबकि दिगम्बर परम्परा में गर्भज-तिर्यचों को संज्ञी नहीं मानकर संज्ञी और असंज्ञी माना है। इसी प्रकार सम्मूर्च्छिम तिर्यच को केवल असंज्ञी नहीं मानकर संज्ञी-असंज्ञी उभय रूप में स्वीकार किया है।

4. श्वेताम्बर परम्परा में दीर्घकालोपदेशिकी आदि संज्ञा के तीन भेद दिगम्बर परम्परा के प्रमुख ग्रंथों में दृष्टिगोचर नहीं होते हैं।

5. श्वेताम्बर परम्परा में अंगबाह्य के तत्त्वार्थसूत्र में तेरह तथा नंदीसूत्र में अधिक भेदों का उल्लेख है। जबकि दिगम्बर परम्परा में अंगबाह्य के चौदह भेदों का ही उल्लेख प्राप्त होता है।

6. शब्दलिंगज और अर्थलिंगज श्रुतज्ञान के इन दो भेदों का उल्लेख दिगम्बर परम्परा में प्राप्त होता है, श्वेताम्बर परम्परा में नहीं।

7. श्वेताम्बर परम्परा में निर्वृत्यक्षर और संस्थान के प्रभेदों का स्पष्ट उल्लेख प्राप्त नहीं होता है, लेकिन घवला टीका में इनके प्रभेदों का उल्लेख प्राप्त होता है।

पंचम अध्याय

विशेषावश्यकभाष्य में अवधिज्ञान

भारतीय दार्शनिकों और पाश्चात्य दार्शनिकों ने अपने ग्रन्थों में अतीन्द्रियज्ञान की चर्चा की है। सामान्यतया लोग किसी ज्योतिषी, मन्त्र-तन्त्र या किसी देव-देवी के उपासक से भूत, भविष्य एवं वर्तमान आदि की घटनाओं के बारे में सुनकर आश्चर्यचकित हो जाते हैं तथा उसे चमत्कार मानकर उसका अनुगमन करने लग जाते हैं और कभी-कभी तो स्थिति यहाँ तक पहुँच जाती है कि वे अपनी धन-सम्पत्ति आदि का भारी नुकसान कर लेते हैं। यह सब उनके अज्ञान के कारण होता है कि वे उन व्यक्तियों के ज्ञान को अतीन्द्रिय ज्ञान समझ लेते हैं। वस्तुतः उनका ज्ञान अतीन्द्रिय नहीं होता, वह इन्द्रिय एवं मन से होने वाले मतिज्ञान का ही एक विशेष प्रकार है। पूर्वजन्म की बीती बातों को याद करने वाले जातिस्मरण को भी लोग अतीन्द्रिय अवधिज्ञान मान लेते हैं, लेकिन वास्तव में वह मतिज्ञान का ही एक विशेष भेद है।

अतीन्द्रिय ज्ञान के तीन भेद होते हैं - अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान और केवलज्ञान। इसमें से अंतिम दो संयमी जीव को होते हैं तथा अवधिज्ञान संयमी और असंयमी सभी जीवों को हो सकता है। अतः अतीन्द्रिय अवधिज्ञान का वास्तविक स्वरूप क्या है? अवधिज्ञान के कितने प्रकार हैं? यह कैसे उत्पन्न होता है? क्या यह उत्पन्न होने के बाद नष्ट हो सकता है? या घटता-बढ़ता रहता है। कौन-कौन से जीवों को अवधिज्ञान हो सकता है? इत्यादि प्रश्नों के समाधान के लिए अवधिज्ञान का अध्याय में विस्तार से वर्णन किया जाएगा।

अवधिज्ञान सीधा आत्मा से होने वाला ज्ञान है। इसमें इन्द्रिय एवं मन के सहयोग की आवश्यकता नहीं होती है, इसीलिए यह प्रत्यक्ष ज्ञान है। तत्त्वार्थसूत्र में इन्द्रिय एवं मन से होने वाले मतिज्ञान एवं श्रुतज्ञान को परोक्ष की श्रेणी में रखा गया है तथा जो ज्ञान सीधा आत्मा के द्वारा होता है उसे प्रत्यक्ष ज्ञान कहा है—‘आत्ममात्रसापेक्षं प्रत्यक्षम्’। अवधिज्ञान का उल्लेख स्थानांगसूत्र, व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र, प्रज्ञापनासूत्र आदि आगमों में मिलता है, किंतु वहाँ पर इसके स्वरूप के संबंध में कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं है। किन्तु नंदीसूत्र में प्रत्यक्ष ज्ञान के भेदों में अवधिज्ञान को स्थान दिया गया है। इसी से ज्ञात होता है कि अवधिज्ञान सीधा आत्मा से होने वाला ज्ञान है।

विशेषावश्यकभाष्य में भी पांच ज्ञानों को प्रत्यक्ष और परोक्ष में विभाजित किया गया है। मति और श्रुत इन दो परोक्ष ज्ञानों का कथन किया जा चुका है, अब प्रत्यक्ष ज्ञान में प्रथम अवधिज्ञान का वर्णन किया जा रहा है।¹

‘अवधि’ शब्द का प्राकृत-अर्द्धमागधी रूप ‘ओहि’ है। अवधिज्ञान के लिए प्राकृत में ‘ओहिणाण’ शब्द का प्रयोग होता है। अवधिज्ञान में इन्द्रिय और मन की अपेक्षा नहीं होती तथा आत्मा इस ज्ञान के द्वारा रूपी पदार्थों को जानता है। इसलिए इसे प्रत्यक्ष कहते हैं, लेकिन सभी पदार्थों को नहीं जान पाने के कारण यह देश प्रत्यक्ष है।

‘अवधि’ शब्द ‘अव’ और ‘धि’ से मिलकर बना है। इसमें ‘अव’ उपसर्ग है जिसके अनेक अर्थ होते हैं। यहाँ ‘अव’ उपसर्ग का अर्थ नीचे-नीचे, ‘धि’ का अर्थ जानना। पूज्यपाद,

मलयगिरि आदि आचार्यों ने 'अव' उपसर्ग का अर्थ अधः (नीचे) किया है।² अकलंक ने इसको स्पष्ट किया है कि अवधि का विषय नीचे की ओर बहुत प्रमाण में होता है।³ मलयगिरि के अनुसार 'अधो विस्तृतं वस्तु परिच्छिद्यते अनेन इति'⁴ अर्थात् नीचे (अधो) को विस्तृत रूप से जो जानता है वह अवधि ज्ञान है। यहाँ कहने का तात्पर्य यह है कि अवधिज्ञानी अधोलोक के रूपी पदार्थों को अधिक जानता है, साथ ही तिर्यक् लोक और ऊर्ध्वलोक के सारे रूपी पदार्थों का भी जानता है।

उमास्वाति, पूज्यपाद⁵, जिनभद्रगणि, हरिभद्र, मलयगिरि⁶ आदि आचार्यों के अनुसार अवधि शब्द का दूसरा अर्थ मर्यादा भी है। अवधिज्ञान की मर्यादा (सीमा) है कि इससे मात्र रूपी पदार्थों को ही जाना जाता है, पूज्यपाद कहते हैं कि रूपी का अर्थ पुद्गल द्रव्य के साथ संबंधित जीव समझना है।⁷ अवधिज्ञान के द्वारा अरूपी पदार्थों को नहीं जाना जाता है यही उसकी मर्यादा है। इसका उल्लेख जिनभद्रगणि आदि आचार्यों ने किया है।⁸

यहां सहज ही जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि जब मति आदि चारों ज्ञान ही मर्यादा वाले हैं तो अवधिज्ञान को ही अवधि अर्थात् मर्यादा वाला ज्ञान क्यों कहते हैं? इस प्रश्न का उत्तर अकलंक इस प्रकार देते हैं कि जैसे गतिशील सभी पदार्थ गो आदि हैं, लेकिन गो शब्द गाय के लिए ही रूढ़ हो गया है वैसे ही मति आदि चार ज्ञानों में इस ज्ञान के लिए ही अवधि शब्द रूढ़ हो गया है।⁹ वीरसेनाचार्य के अनुसार अवधि तक चारों ज्ञान मर्यादित हैं, परंतु अवधि के बाद केवलज्ञान अमर्यादित है, ऐसा बताने के लिए अवधि शब्द का प्रयोग किया गया है।¹⁰ धवला टीकाकार वीरसेनाचार्य ने यहाँ पर अवधि को चौथे ज्ञान के रूप में उल्लिखित किया है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि कतिपय प्राचीन आचार्यों ने मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, मनःपर्यवज्ञान के बाद अवधिज्ञान को रखा होगा, लेकिन अब यह मत प्रायः किसी भी ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं होता है। सभी आचार्य मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान और केवलज्ञान के क्रम में ही उल्लेख करते हैं।

धवला टीकाकार ने अवधि का एक अर्थ आत्मा भी किया है।¹¹ उपाध्याय यशोविजय ने पूर्वाचार्यों के भावों को ध्यान में रखते हुए अवधि का लक्षण इस प्रकार से किया है कि सकल रूपी द्रव्यों का जानने वाला और सिर्फ आत्मा से उत्पन्न होने वाला ज्ञान अवधिज्ञान कहलाता है।¹²

उपर्युक्त वर्णन का सार यह है कि अवधि शब्द के दोनों अर्थ – नीचे और मर्यादा लेना अधिक उचित हैं।

2. सर्वार्थसिद्धि 1.9, हारीभद्रीय नंदीवृत्ति, पृ. 8, मलयगिरि नंदीवृत्ति, पृ. 65, धवला पु. 9, सूत्र. 4.1.2, पृ.13

3. तत्त्वार्थराजवार्तिक 1.9.2

4. मलयगिरि, नंदीवृत्ति, पृ. 65

5. रूपिष्ववधेः। तत्त्वार्थ सूत्र 1.28, सर्वार्थसिद्धि 1.27, नंदीचूर्ण पृ.11,12

6. (अ) अवधानं वा अवधि मर्यादा इत्यर्थः। – विशेषावश्यकभाष्य गाथा 82,

(ब).....विषयपरिच्छेदनमित्यर्थः। – हारीभद्रीय नंदीवृत्ति पृ. 8, (स)यद्वा अवधानम् आत्मनोऽर्थ साक्षात्कारणव्यापारोऽवधिः।

–मलयगिरि, नंदीवृत्ति, पृ. 65

7. सर्वार्थसिद्धि, 1.27

8. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 82, सर्वार्थसिद्धि 1.9, तत्त्वार्थराजवार्तिक 1.9.3, धवला पु. 9, सूत्र 4.1.2, मलयगिरि नंदीवृत्ति, पृ. 65

9. तत्त्वार्थराजवार्तिक, 1.9.3

10. ओहिणाणादो हेट्ठिमसव्वणाणाणि सावहियाणि, उवरिम केवलणाणं णिरवहियमिदि जाणा वणट्ठ मेहिववहारो कदो।

– षट्खण्डागम (धवला), पु. 9, सूत्र 4.1.2 पृ. 13

11. षट्खण्डागम (धवला), पु. 9, सूत्र 4.1.2, पृ. 12

12. सकलरूपिद्रव्यविषयकजातीयम् आत्ममात्रापेक्षं ज्ञानमवधिज्ञानम्। – जैनतर्कभाषा, पृ. 24

अवधिज्ञान की परिभाषा

श्वेताम्बर आचार्यों की दृष्टि में

जिनभद्रगणि (सप्तम शती) के अनुसार - जो अवधान से जानता है, वह अवधिज्ञान है। अंगुल के असंख्येय भाग क्षेत्र को जानने वाला अवधिज्ञानी आवलिका के असंख्येय भाग तक जानता है। इस प्रकार जो परस्पर नियमित द्रव्य, क्षेत्र, काल आदि को जानता है, वह अवधिज्ञान है।¹³

जिनदासगणि (सप्तम शती) कहते हैं कि जो मर्यादित है वह अवधि है, उससे जो अवधान (मर्यादित) किया जाता है अथवा उसमें जो अवधान किया जाता है, वह अवधि है। अवधि मर्यादा अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। अथवा परम्परा कारण रूप से द्रव्यादि से अवधान किया जाता है, वह अवधि है।¹⁴ आचार्य पूज्यपाद ने भी सर्वार्थसिद्धि में अवधिज्ञान का यही स्वरूप बताया है।

वादिदेवसूरि (द्वादश शती) ने कहा है कि अवधिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाला भवप्रत्यय और गुणप्रत्यय, रूपी द्रव्यों को जानने वाला ज्ञान अवधिज्ञान कहलाता है।¹⁵

मलधारी हेमचन्द्र (द्वादश शती) ने बृहद्वृत्ति में कहा है कि मन और इन्द्रिय की सहायता के बिना साक्षात् आत्मा से जो अर्थ को जानता है वह अवधि है, वह अवधि मर्यादा रूप है। 'अवधि' में 'अव' शब्द अव्यय होने से अनेक अर्थवाची है। यहाँ 'अव' 'अधः-अधः' के रूप में प्रयुक्त हुआ है, जिसका अर्थ है कि जो ज्ञान नीचे-नीचे विस्तार से रूपी वस्तु को जानता है वह अवधि है अथवा 'अव' अव्यय को मर्यादा वाचक के रूप में प्रयुक्त करते हैं तो अर्थ के अनुसार इतने क्षेत्र में, इतने द्रव्यों को, इतने काल तक जानने योग्य द्रव्यों को जानता है और इतना काल, इतना द्रव्य जानता है, इस प्रकार मर्यादा पूर्वक रूपी वस्तु को जानने वाला ज्ञान अथवा जो ज्ञान स्वयं आत्मा से रूपी वस्तुओं को साक्षात् जानता है वह अवधिज्ञान है।¹⁶ मलयगिरि (त्रयोदश शती) भी ऐसा ही उल्लेख किया है।¹⁷

घासीलालजी महाराज के अनुसार - वीर्यान्तराय के क्षयोपशम सहकृत अवधिज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होकर जो रूप, रस, गन्ध एवं स्पर्श गुण वाले पुद्गल द्रव्य को स्पष्ट जानता है, वह अवधिज्ञान है।¹⁸ नंदीसूत्र की टीका में भी ऐसा ही उल्लेख किया है।¹⁹

कन्हैयालाल लोढ़ा का अभिमत है कि एकाग्र व शान्त चित्त से अंतर्मुखी हो कर आत्म-प्रदेशों से रूपी पदार्थों का अनुभव करना अवधि दर्शन और उन्हें जानना अवधिज्ञान है।²⁰

दिगम्बर आचार्यों की दृष्टि में

पूज्यपाद (पंचम-षष्ठ शती) के मन्तव्यानुसार - अधिकतर नीचे के विषय को जानने वाला होने से या परिमित विषय वाला होने से अवधि कहलाता है।²¹

13. तेणावहीयए तम्मि वाऽवहाणं तओऽवही सो य। मज्जाया जं तीए दव्वाइ परोप्परं मुणइ।-विशेषावश्यकभाष्य गाथा 82

14. अवधीयते इत्यवधिः, तेण वाऽवधीयते तम्हि वाऽवधीयते अवधानं वाऽवधिः मर्यादित्यर्थः, ताए परंपरोपणिबंधणातो दव्वादतो अवधीयते इत्यवधिः। - नंदीचूर्णि पृ. 20

15. अवधिज्ञानावरणविलयविशेषसमुद्भवं भवगुणप्रत्ययं रूपिद्रव्यगोचर-मवधिज्ञानम्। - प्रमाणनयतत्त्वलोक, अध्याय 2, सूत्र 21

15. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 82 बृहद्वृत्ति का भावार्थ

17. अव शब्दोऽधः शब्दार्थः। अव-अधोऽधो विस्तृतं वस्तु धीयते-परिच्छिद्यतेऽनेनेत्यवधिः। अवधिमर्यादा रूपिष्वेव द्रव्येषु परिच्छेदकतया प्रवृत्तिरूपा तदुपलक्षितं ज्ञानमप्यवधिः। अवधानम्-आत्मनोर्थासाक्षात्करणव्यापारोऽवधिः। - मलयगिरि, नंदीवृत्ति, पृ. 65

18. तत्र वीर्यान्तराय क्षयोपशम-सहकृतादवधिज्ञानावरण-क्षयोपशमाज्जातं रूपिद्रव्यविषयं भवगुणप्रत्ययमवधिज्ञानम्।

- न्यायरत्नसार, अध्याय 2 सूत्र. 14 पृ. 34

19. द्रव्याणि मूर्तिमन्त्येव, विषयो यस्य सर्वतः नैयत्यरहितं ज्ञानं, तत्स्यादवधिलक्षणम्। घासीलाल महाराज, नंदीसूत्र, पृ.15-17

20. बन्ध तत्त्व, पृ. 23

21. अवाग्धानादवच्छिन्नविषयाद्वा अवधिः। - सर्वार्थसिद्धि, पृ. 67

अकलंक (अष्टम शती) ने कहा है कि 'अव' पूर्वक 'धा' धातु से अवधि शब्द बनता है। 'अव' शब्द 'अध' वाची है जैसे अधःक्षेपण को अवक्षेपण कहते हैं, अवधिज्ञान भी नीचे की ओर बहुत पदार्थों को विषय करता है अथवा अवधि शब्द मर्यादार्थक है अर्थात् द्रव्य क्षेत्रादि की मर्यादा से सीमित ज्ञान अवधि ज्ञान है। यद्यपि केवलज्ञान के सिवाय सभी ज्ञान सीमित हैं फिर भी रूढ़िवश अवधिज्ञान को ही सीमित ज्ञान कहते हैं जैसे गतिशील सभी पदार्थ हैं फिर भी गाय को रूढ़िवश गौ (गच्छतीति गौः) कहा जाता है।²² यही परिभाषा **पंचसंग्रह**²³ और **गोम्मटसार** में भी मिलती है।²⁴

वीरसेनाचार्य (नवम शती) ने **षट्खण्डागम** की **धवलाटीका** में अवधिज्ञान का स्वरूप बताते हुए कहा है कि नीचे गौरव धर्मवाला होने से, पुद्गल की अवाग् संज्ञा है, उसे जो धारण करता है अर्थात् जानता है, वह अवधि है और अवधि रूप ही ज्ञान अवधिज्ञान है अथवा अवधि का अर्थ मर्यादा है, अवधि के साथ विद्यमान ज्ञान अवधिज्ञान है। यह अवधिज्ञान मूर्त पदार्थ को ही जानता है क्योंकि रूपिष्वधेः²⁵ ऐसा सूत्र वचन है।²⁶ धवला पुस्तक 6 में भी यही परिभाषा देते हुए कहा है कि द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा विषय संबंधी मर्यादा के ज्ञान को अवधि कहते हैं।²⁷ अवधिज्ञान के इस स्वरूप की पुष्टि कषायपाहुड,²⁸ तत्त्वार्थराजवार्तिक,²⁹ धवला पुस्तक एक³⁰ और कर्मप्रकृति³¹ में भी लगभग अवधिज्ञान का ऐसा ही स्वरूप प्रतिपादित किया है। षट्खण्डागम पु. 9, सूत्र 4.1.3 के अनुसार अवधिज्ञान में रूपी का अर्थ पुद्गल नहीं समझना चाहिए बल्कि कर्म व शरीर में बद्ध जीव द्रव्य और संयोगी भाव भी समझना चाहिए।

कसायपाहुड की **जयधवला** टीका के अनुसार महास्कंध से लेकर परमाणु पर्यंत समस्त पुद्गल द्रव्यों को, असंख्यात लोकप्रमाण क्षेत्र, काल और भावों को तथा कर्म के संबंध से पुद्गल भाव को प्राप्त हुए जीवों को प्रत्यक्ष रूप से जानता है, वह अवधि ज्ञान है।³²

आचार्य नेमिचन्द्र (एकादश शती) का अभिमत है कि विशिष्ट अवधिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से मन के सानिध्य में जो सूक्ष्म पुद्गलों को जानता है, स्व और पर के पूर्व जन्मांतरों को तथा भविष्य के जन्मांतरों को जानता है वह अवधिज्ञान है।³³

उपर्युक्त वर्णन के अनुसार दोनों परम्पराओं के आचार्यों ने अवधिज्ञान को लगभग समान रूप से अवधि में प्रयुक्त 'अव' अव्यय का अर्थ 'नीचे' और मर्यादा करते हुए दोनों प्रकार से अवधिज्ञान को परिभाषित किया है।

22. तत्त्वार्थराजवार्तिक (हिन्दीसार सहित), पृ. 293

23. अवहीयादि त्ति ओही सीमाणाणेति वणिण्यं समए। - पंचसंग्रह, गाथा 123, पृ. 26-27

24. गोम्मटसार (जीवकांड), भाग 2, पृ. 617-618

25. तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय 1.27

26. अवाग्धानादवधिः। अथवा गौरवधर्मत्वात् पुद्गलः अवाङ् नाम, तं दधाति परिच्छिन्नतीति अवधिः। अवधिरेव ज्ञानमवधिज्ञानम्। अथवा अवधिः मर्यादा, अवधिना सह वर्तमानं ज्ञानमवधिज्ञानम्। इदमवधिज्ञानं मूर्तस्यैव वस्तुनः परिच्छेदकम् रूपिष्वधे इति वचनात्। - षट्खण्डागम, पुस्तक 13, पृ. 210-211

27. अवाग्धानादवधिः अवधिश्च स ज्ञानं च तत् अवधिज्ञानम्। अथवा अवधि मर्यादा अवधिज्ञानमवधिज्ञानम्।

- षट्खण्डागम (धवला), पुस्तक 6, पृ. 25

28. कषायपाहुड (जयधवल/महाधवल) प्रथम भाग, पृ. 13

29. तत्त्वार्थराजवार्तिक, पृ. 319

30. ओहिणाणं णाम दव्वक्खेतकाल भाव वियप्पियं पोगलदव्वं पच्चक्खं जाणादि। - षट्खण्डागम, पुस्तक 1, पृ. 93 एवं साक्षान्मूर्ताशेषपदार्थपरिच्छेदकमवधिज्ञानम्, पृ. 358

31. अभयचन्द्रसिद्धान्त चक्रवर्तीकृत, कर्मप्रकृति, पृ. 18

32. कसायपाहुड (जयधवला), पृ. 38-39

33. विशिष्टावधिज्ञानावरणक्षयोपशमात् मनसोऽवष्टंभेन यत्सूक्ष्मान् पुद्गलान् परिच्छिन्नन्ति स्वपरयोश्च पूर्वजन्मान्तराणि जानाति, भविष्यजन्मान्तराणि च तदवधिज्ञानम्। - द्रव्यसंग्रह, गाथा 5 की टीका नं. 12

अवधिज्ञान के प्रकार

प्रज्ञापनासूत्र³⁴ उमास्वाति³⁵ नंदीसूत्र³⁶ पूज्यपाद³⁷ अकलंक³⁸ अमृतचन्द्र³⁹ पंचसंग्रह⁴⁰ योगीन्दुदेव⁴¹ आदि आचार्यों और ग्रंथों में अवधिज्ञान के मुख्य रूप से दो भेद किए हैं - 1. भवप्रत्यय, 2. क्षायोपशमिक। भवप्रत्यय अवधिज्ञान देवता और नारकी को एवं क्षायोपशमिक अवधिज्ञान मनुष्य और तिर्यच को होता है।

आचार्य भूतबलि,⁴² आचार्य गुणधर,⁴³ आचार्य पुष्पदंत,⁴⁴ आचार्य नेमिचन्द्र,⁴⁵ आचार्य वादिदेवसूरि⁴⁶ आदि आचार्यों ने मुख्य रूप से अवधिज्ञान के दो भेद किए हैं - भवप्रत्यय और गुणप्रत्यय एवं उनके स्वामियों का कथन उपर्युक्तानुसार किया है।

सारांश यह है कि उपर्युक्त वर्णन के आधार पर अवधिज्ञान के तीन भेद प्राप्त होते हैं- 1. भवप्रत्यय, 2. क्षायोपशमिक और 3. गुणप्रत्यय। अतः आचार्यों को मुख्य रूप से अवधिज्ञान के तीन भेदों का उल्लेख करना चाहिए था, लेकिन सभी आचार्यों ने दो ही भेदों का उल्लेख किया है। ऐसी शंका करना उचित नहीं है, क्योंकि उपर्युक्त आगमों और ग्रंथों में वर्णित क्षायोपशमिक और गुणप्रत्यय अवधिज्ञान एक ही प्रकार का हैं। यह आचार्यों की मात्र कथनशैली है, इनके लक्षण में किसी भी प्रकार का भेद नहीं है।

आचार्य भद्रबाहु,⁴⁷ और आचार्य पुष्पदंत⁴⁸ के अनुसार अवधिज्ञान के असंख्य प्रकार हैं। जिनभद्र ने विशेषावश्यकभाष्य में स्पष्ट रूप से कहा है कि विषयभूत क्षेत्र और काल की अपेक्षा से अवधिज्ञान के सभी भेद मिलाकर संख्यातीत (असंख्यात) हैं और द्रव्य और भाव की अपेक्षा से अवधिज्ञान के अनंत भेद होते हैं।⁴⁹ अवधिज्ञान के ज्ञेयपने के नियम से जितना अवधिज्ञान का विषयभूत उत्कृष्ट क्षेत्र, प्रदेश और उत्कृष्ट काल के समय के परिणाम है, इतना ही अवधिज्ञान के भेदों का परिणाम है। अवधिज्ञान के अनंत भेद हैं⁵⁰ उनमें से कुछ भेद तो भवप्रत्ययिक और कुछ भेद क्षायोपशमिकप्रत्ययिक हैं। इसलिए मुख्य रूप से अवधिज्ञान के दो ही भेद हैं। इन दो भेदों को समग्र जैन परम्परा स्वीकार करती है।⁵¹

भवप्रत्यय अवधिज्ञान का स्वरूप

विशेषावश्यकभाष्य के अनुसार-जिस प्रकार पक्षियों द्वारा आकाश में उड़ने की शक्ति में भव (जन्म) कारण है उसी प्रकार से नारकी और देवता में अवधिज्ञान का हेतु भव (जन्म) है, इसलिए इस अवधिज्ञान को भवप्रत्ययिक अवधिज्ञान कहते हैं।⁵²

34. युवाचार्य मधुकरमुनि, पृ. 183

36. युवाचार्य मधुकरमुनि, पृ. 29

38. तत्त्वार्थराजवार्तिक, पृ. 293

40. पंचसंग्रह, पृ. 27

42. महाबंध, पु. 1 पृ. 24

44. षट्खण्डागम (धवला), पु. 13 सूत्र. 5.5.52 पृ. 290

45. गोम्मटसार जीवकांड भाग 2, पृ. 618

47. आवश्यकनिर्युक्ति गाथा 25

49. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 568

51. आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा 24, षट्खण्डागम, पु. 13 सूत्र 5.5.43, तत्त्वार्थसूत्र, सूत्र 1.21

52. भवो नारकादिजन्म स पक्षिणां गगनोत्पतनलब्धिरिवोत्पत्तौ प्रत्ययः कारणं यासां ता भवप्रत्ययाः। ताश्च नारकाऽमरणामेव।

35. पं. सुखलालजी, तत्त्वार्थसूत्र, पृ. 38

37. सर्वार्थसिद्धि, पृ. 90

39. तत्त्वार्थसार, पृ. 12

41. तत्त्वार्थवृत्ति, पृ. 25

43. काषायपाहुड, पृ. 15

46. प्रमाणनयतत्त्वलोक, 2.21, पृ. 22-23

48. षट्खण्डागम, पु. 13 सूत्र 5-5-52 पृ. 289

50. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 570-571

- विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 568 की बृहद्वृत्ति, पृ. 260

भव अर्थात् आयु और नामकर्म के उदय का निमित्त पाकर जीव की जो पर्याय होती है उसे भव कहते हैं।⁵³ भव के निमित्त से अवधिज्ञानावरण का क्षयोपशम होने से जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसे भवप्रत्यय अवधिज्ञान कहते हैं क्योंकि कर्मों के उदय से द्रव्यादि चारों में प्रभाव तो होता ही है। ऐसा ही उल्लेख पुष्पदंत,⁵⁴ अकलंक⁵⁵ और मलयगिरि⁵⁶ आदि आचार्यों ने भी किया है।

भवप्रत्यय में प्रयुक्त प्रत्यय शब्द शपथ, ज्ञान, हेतु, विश्वास, निश्चय आदि अर्थों में प्रयुक्त होता है। यहाँ प्रत्यय शब्द 'कारण' (निमित्त) अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।⁵⁷

विशेषावश्यकभाष्य, नंदीसूत्र, षट्खण्डागम और तत्त्वार्थसूत्र आदि ग्रन्थों के अनुसार भवप्रत्यय अवधिज्ञान देवता और नारकी में ही होता है। मलयगिरि⁵⁸ ने देव और नारक की व्युत्पत्ति दी है।

देव और नारक में भी जो सम्यग्दृष्टि होते हैं उनको ही भवप्रत्यय अवधिज्ञान होता है। मिथ्यादृष्टि देव और नारक को विभंगज्ञान होता है।⁵⁹ ध्वलाटीकाकार ने यहाँ देव, नारकी के पर्याप्त भव का ही ग्रहण किया है।⁶⁰

अवधिज्ञान क्षयोपशमिक भाव और नरकादि भव औदयिक भाव है। परस्पर विरुद्ध होने से नरकादि भव अवधिज्ञान का हेतु कैसे हो सकता है? वास्तव में तो नारकी और देवता के भी अवधिज्ञान क्षयोपशम के निमित्त से होता है, परंतु नारकी और देव के भव में अवधिज्ञानावरण का क्षयोपशम नियम से होता है, इसलिए नारकी और देवता के अवधिज्ञान को भवप्रत्ययिक अवधिज्ञान कहते हैं।⁶¹ इसलिए भवप्रत्यय अवधिज्ञान में भी क्षयोपशम मुख्य कारण है। अकलंक ने भवप्रत्यय में भव को बाह्य कारण स्वीकार किया है।⁶²

जिनभद्रगणि⁶³ के अनुसार भवप्रत्यय अवधिज्ञान में क्षयोपशम अंतरंग कारण होते हुए भी इस ज्ञान को भवप्रत्यय इसलिए कहा है जैसे पक्षियों में जन्म से ही आकाश में उड़ने की शक्ति होती है वैसे ही देव और नारकी के भव में अवधिज्ञानावरण का क्षयोपशम सहज ही हो जाता है। ऐसा ही उल्लेख जिनदासगणि, हरिभद्रसूरि,⁶⁴ और मलयगिरि⁶⁵ ने भी किया है। प्रत्येक जीव का कोई न कोई वैशिष्ट्य होता है। मनुष्य सभी जीवों में श्रेष्ठ होते हुए भी सारी शक्तियाँ उसके पास नहीं होती हैं। जैसे पक्षी में उड़ने की शक्ति, कुत्ते में सूंघने की शक्ति, उल्लू में अंधेरे में देखने की शक्ति होती है। तिर्यंच नामकर्म के उदय से वीर्य का इतना क्षयोपशम हो जाता है कि गाय का बछड़ा उसी दिन चलने लगता है, जबकि मनुष्य इनसे श्रेष्ठ है, फिर भी मनुष्य गति में इतना क्षयोपशम नहीं होता है। इसी प्रकार

53. भवः प्रत्ययोऽस्य भवप्रत्ययोऽवधिर्देवनारकाणां वेदितव्यः। सर्वार्थसिद्धि, पृ. 89

54. षट्खण्डागम, पुस्तक 13, सूत्र 5.5.52

55. तत्त्वार्थराजवार्तिक 1.21.2

56. भव एव प्रत्ययः कारणं यस्य तद्भव प्रत्ययः। - मलयगिरि, नंदीवृत्ति, पृ. 76

57. प्रत्ययः कारणं निमित्तमित्यनर्थान्तरम्। - सर्वार्थसिद्धि 1.21 पृ.89

58. तत्र दिव्यन्ति निरूपमक्रीडामनुभवन्तीति देवाः। नरान् कायन्ति शब्दयन्ति योग्यताया अनतिक्रमेणाकारयन्ति जन्तून् स्वस्थाने इति नरकाः। - मलयगिरि, नंदीवृत्ति, पृ. 77

59. देवनारकाणाम् इत्यविशेषाभिधानेऽपि सम्यग्दृष्टीनामेय ग्रहणम्। कुतः। अवधिग्रहणात्। मिथ्यादृष्टीनां च विभंग इत्युच्यते।

- सर्वार्थसिद्धि सूत्र 1.21 पृ. 89

60. ओहिणाणुप्पत्तीए छहि पज्जत्तीहि पज्जत्तयदभवग्गहणादो। - षट्खण्डागम, पृ.13, सूत्र 5.5.43, पृ. 290

61. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 572-574

62. तस्मात्तत्र भव एव बाह्यसाधनमित्युच्यते। तत्त्वार्थराजवार्तिक 1.21.4

63. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 569, 571

64. नंदीचूर्णि, पृ. 25, हरिभद्रीय, नंदीवृत्ति, पृ. 25

65. केवलं स क्षयोपशमो देवनारकभवेष्वावश्यंभावी, पक्षिणो गमनागमनलब्धिरिव ततो भवप्रत्ययमिति व्यपदिश्यते।

- मलयगिरि, नंदीवृत्ति पृ. 77

नारकी और देव गति के जीवों को अवधिज्ञान की प्राप्ति होती है। भवप्रत्यय अवधिज्ञान में भी क्षयोपशम तो होता ही है। यदि ऐसा न हो तो सभी देव और नारकों के अवधिज्ञान में विभिन्नता क्यों होती है? इससे स्पष्ट होता है कि भवप्रत्यय अवधिज्ञान भी क्षयोपशम के अनुसार ही होता है।

आचार्य विद्यानन्दा के अनुसार भवप्रत्यय अवधिज्ञान की प्राप्ति के लिए भव और क्षयोपशम ये जो दो कारण बताये हैं, वे युक्तिसंगत हैं, क्योंकि क्षयोपशम को स्वीकार करने पर ही नारकी, देवता में जो कम-ज्यादा अवधि होता है, उसकी संगति बैठेगी।⁶⁶ यदि ऐसा स्वीकार नहीं करेंगे तो नारकी और देवता में एक समान अवधिज्ञान होना चाहिए था, लेकिन नहीं होता है। तथा इन दोनों कारणों के बीच में कोई विरोध नहीं है, क्योंकि एक बाह्य कारण है और दूसरा आभ्यन्तर कारण है।

सारांश रूप में हम कह सकते हैं कि कर्मों का जो क्षय, क्षयोपशम और उपशम होता है वह द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव रूप पांच प्रकार का होता है। इसलिए नारकी और देवता के भव का निमित्त मिलने पर जीव के अवधिज्ञानावरणीय कर्म का अवश्य क्षयोपशम होता है और भव के निमित्त से ही क्षयोपशम होता है इसलिए इसे भवप्रत्ययिक अवधिज्ञान कहते हैं।

प्रश्न - मनुष्य गति में भी तीर्थकरों को भव (जन्म) के साथ ही अवधिज्ञान होता है तो उसे भी भवप्रत्ययिक अवधिज्ञान कहना चाहिए?

उत्तर - तीर्थकर भव नाम का अलग भव नहीं है। वह मनुष्य गति में ही शामिल है। यदि सभी मनुष्यों को होता तो भवप्रत्यय कहलाता। अथवा इसका दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि ऐसे जीवों (तीर्थकरों) की संख्या अल्प होने से उसे यहाँ उल्लेखित नहीं किया हो।

प्रश्न - क्या मनुष्य में केवल तीर्थकर ही अवधिज्ञान साथ में लाते हैं अन्य मनुष्य नहीं?

उत्तर - तीर्थकर भगवान् के सिवाय कोई दूसरा मनुष्य अवधिज्ञान साथ ले कर गर्भ में आ सकता है, क्योंकि भगवती, प्रज्ञापना, जीवाजीवाभिगम आदि सूत्रों में अवधिज्ञान की कायस्थिति उत्कृष्ट 66 सागरोपम झाड़ेरी बताई है। यह कायस्थिति तीर्थकर के अतिरिक्त दूसरे मनुष्य परभव से अवधिज्ञान साथ ले कर आवे, तभी लागू हो सकती है, तीर्थकर की अपेक्षा नहीं। क्योंकि विजयादि अनुत्तर-विमान के दो भव अथवा बारहवें देवलोक या प्रथम ग्रैवेयक के तीन भव करे, तभी यह स्थिति घटित हो सकती है। ऐसे दो या तीन भव सामान्य मनुष्य ही करते हैं, तीर्थकर भगवान् तो मोक्ष पधार जाते हैं। इसलिए उनकी अपेक्षा उत्कृष्ट स्थिति नहीं होती। भगवती सूत्र श. 13 उ. 1 व 2 में नरक और देवों से संख्यात अवधिज्ञानी जीवों का आना बताया है। इससे भी उपर्युक्त बात सिद्ध होती है कि तीर्थकर के सिवाय दूसरे मनुष्य भी परभव से अवधिज्ञान लेकर आ सकते हैं। तीर्थकर का अवधिज्ञान चारित्र प्राप्ति के पूर्व भी अप्रतिपाती होता है।

गुणप्रत्यय (क्षायोपशमिकप्रत्यय) अवधिज्ञान का स्वरूप

विशेषावश्यकभाष्य के अनुसार तप आदि विशेष गुणों के परिणाम से उत्पन्न हुआ अवधिज्ञान क्षयोपशम प्रत्ययिक कहलाता है। यह ज्ञान संज्ञी तिर्यच पंचेन्द्रिय और मनुष्य में होता है।⁶⁷

नदीसूत्र के मूल पाठ में आया है 'को हेऊ खाओवसमियं?' अर्थात् क्षायोपशमिक अवधिज्ञान का हेतु क्या है? इसका उत्तर देते हुए गुरु कहते हैं कि अवधिज्ञानावरणीय कर्म के उदयगत कर्मदलिकों का क्षय होने से तथा अनुदित कर्मदलिकों का उपशम होने से जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह क्षायोपशमिक

66. प्रत्ययस्यान्तरस्यातस्तत्क्षयोपशमात्मनः। प्रत्यग्भेदोऽवधेर्युक्तो भवाभेदोऽपि चाङ्गिनाम्।-तत्त्वार्थश्रोलकवार्तिक, सू. 1.21, पृ. 244

67. तपःप्रभृतिगुणपरिणामाविर्भूतक्षयोपशमप्रत्यया इत्यर्थः एताश्च तिर्यङ्मनुष्याणामिति।

अवधिज्ञान कहलाता है अर्थात् अवधिज्ञानावरणीय कर्म के उदयावलिका में प्रविष्ट अंश का वेदन होकर पृथक् हो जाना क्षय है और जो उदयावस्था को प्राप्त नहीं है, उसके विपाकोदय को दूर कर देना (स्थगित कर देना) उपशम कहलाता है। जिस अवधिज्ञान का क्षयोपशम ही मुख्य कारण हो, वह क्षयोपशम प्रत्यय या क्षायोपशमिक-प्रत्यय या क्षायोपशमिक अवधिज्ञान कहलाता है।⁶⁸

अवधिज्ञानावरणीयकर्म के देशघाती स्पर्धकों⁶⁹ का उदय रहते हुए सर्वघाति स्पर्धकों का उदयाभावी क्षय और अनुदय प्राप्त इन्हीं का सदवस्थारूप उपशम, इन दोनों के निमित्त से जो होता है, वह क्षयोपशम निमित्तक अवधिज्ञान है।⁷⁰

पूज्यपाद⁷¹ और अकलंक के अनुसार मनुष्यों और तिर्यचों में अवधिज्ञान की प्राप्ति में क्षयोपशम ही निमित्त भूत है भव नहीं, इसलिए इसे क्षायोपशमिक अवधिज्ञान कहते हैं।⁷² सम्यक्त्व से अधिष्ठित अणुव्रत और महाव्रत गुण जिस अवधिज्ञान के कारण हैं वह गुणप्रत्यय अवधिज्ञान है।⁷³ गुणप्रत्यय अवधिज्ञान शंख आदि चिह्नों से उत्पन्न होता है अर्थात् नाभि के ऊपर शंख, पद्म, वज्र, स्वास्तिक, मच्छ, कलश आदि शुभ चिह्नों से युक्त आत्म प्रदेशों में स्थित अवधिज्ञानावरण और वीर्यातराय कर्मों के क्षयोपशम से उत्पन्न होता है।⁷⁴ गुणप्रत्यय अवधिज्ञान असंयमी सम्यग्दृष्टि के सम्यग्दर्शन गुण के निमित्त से और संयतासंयत के संयमासंयम (देश संयम) गुणपूर्वक तथा संयत के संयम गुण के होने से होता है।⁷⁵

‘क्षयोपशम’ शब्द ‘क्षय’ और ‘उपशम’ से बना है। क्षय का अर्थ है जो कर्म उदयावलिका में प्रविष्ट हो गये हैं, उनका क्षय अर्थात् नाश और उपशम का अर्थ – जो कर्म उदय में नहीं आये हैं उनका उपशम।

हरिभद्रसूरि के अनुसार उपशम का अर्थ उदय का निरोध है।⁷⁶ मलयगिरि के अनुसार जो कर्म उदयावलिका में प्रविष्ट नहीं हुए हैं ऐसे कर्मों के विपाकोदय का विष्कंभ करना (रोकना) उपशम कहलाता है।⁷⁷

क्षायोपशमिक अवधिज्ञान को गुणप्रत्यय अवधिज्ञान भी कहते हैं। गुणप्रत्यय अवधिज्ञान मनुष्यों और तिर्यच पंचेन्द्रियों के होता है। इसमें अवधिज्ञान की नियमा नहीं है, क्योंकि इन दोनों में भव कारण नहीं होता है, बल्कि जिन मनुष्यों और तिर्यच पंचेन्द्रियों के अवधिज्ञानावरण का क्षयोपशम होता है, उन्हीं के इस प्रकार का अवधिज्ञान होता है। इसलिए नंदीचूर्णिकार ने क्षयोपशम के दो अर्थ किए हैं – गुण के बिना होने वाला और गुण की प्रतिपत्ति से होने वाला क्षयोपशम।⁷⁸ गुण के बिना होने वाले क्षयोपशम से उत्पन्न अवधिज्ञान के लिए चूर्णिकार ने दृष्टान्त दिया कि आकाश बादलों से ढका हो, लेकिन हवा आदि से बीच में एक छिद्र हो गया, उस छिद्र में से सहज रूप से सूर्य की

68. खाओवसमियं तयावरणिज्जाणं कम्माणं उदिण्णाणं उवसमेणं ओहिणाणं समुप्पज्जति। – नंदीसूत्र, पृ. 30

69. आत्मगुण का आच्छादन करने वाली कर्म की शक्ति का नाम स्पर्धक है अथवा स्पर्धक अर्थात् जो गवाक्ष जाल आदि से बाहर निकलने वाली दीपक प्रभा के समान नियत विच्छेद विशेष रूप हैं। स्पर्धक दो प्रकार के होते हैं– देशघाती और सर्वघाती। आत्मा के गुणों को एक देश से आवरित करने वाले कर्मदलिक देशघाती स्पर्धक और आत्मा के सर्वगुणों को आच्छादित करने वाले कर्मदलिक सर्वघाती स्पर्धक कहलाते हैं।

70. सर्वार्थसिद्धि, सूत्र 1.22, पृ. 90, तत्त्वार्थवृत्ति पृ. 356

71. सर्वार्थसिद्धि, 1.22 पृ. 90

72. क्षयोपशमनिमित्त एव न भवनिमित्त। – तत्त्वार्थराजवार्तिक 1.22.3

73. षट्खण्डागम, पृ. 13 सूत्र 5.5.53, पृ. 290-291

74. गोम्मटसार जीवकांड भाग 2 पृ. 618

75. प्रमाणपरीक्षा, प्रस्तावना पृ. 73

76. उपशमेन उदयनिरोधेन। – हरिभद्रीय, नंदीवृत्ति, पृ. 26

77. अनुदीर्णानाम् उदयावलिकामप्राप्तानामुपशमेन-विपाकोदयविष्कम्भलक्षणे। – मलयगिरि, नंदीवृत्ति, पृ. 77

78. सो य खयोवसमो गुणमंतरेण गुणपडिवत्तितो वा भवति – नंदीचूर्णि पृ. 25

किरणें निकलती हैं और उससे द्रव्य (वस्तु) प्रकाशित होता है⁷⁹ वैसे ही अवधिज्ञानावरण का क्षयोपशम होने से सहज ही अवधिज्ञान की प्राप्ति होती है, वह गुण के बिना होने वाला क्षयोपशम है।

क्षयोपशम का दूसरा अर्थ है गुण की प्रतिपत्ति से होने वाला। क्षयोपशम अर्थात् उत्तरोत्तर चारित्र गुण की विशुद्धि होने से अवधिज्ञानावरण का क्षयोपशम होने से जो अवधिज्ञान उत्पन्न होता है वह गुण प्रतिपन्न अवधिज्ञान है⁸⁰ यहाँ गुण शब्द चारित्र का द्योतक है अर्थात् गुणप्रत्यय अवधिज्ञान के लिए मूलगुण कारणभूत है, इसका समर्थन जिनभद्रगणि⁸¹ हरिभद्र⁸² मलयगिरि⁸³ धवलाटीका⁸⁴ ने किया है। मूलगुण पर्याप्त मनुष्य और तिर्यच के ही होते हैं, अपर्याप्त मनुष्य और तिर्यच के नहीं⁸⁵

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट होता है कि गुणप्रत्यय अवधिज्ञान में गुण शब्द सम्यक्त्व से युक्त अणुव्रत और महाव्रतों को दर्शाने के लिए प्रयुक्त होता है। यदि हम क्षायोपशमिक अवधिज्ञान का प्रयोग करते हैं तो सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि दोनों प्रकार के जीवों के अवधिज्ञानावरण का क्षयोपशम होता है, जिसके फलस्वरूप सम्यग्दृष्टि के अवधिज्ञान और मिथ्यादृष्टि के विभंगज्ञान (अवधि अज्ञान) होता है। इस अपेक्षा से क्षायोपशमिक अवधिज्ञान व्यापक है। जबकि गुणप्रत्यय अवधिज्ञान में सम्यग्दृष्टि के अवधिज्ञान का ही ग्रहण किया जाता है, मिथ्यादृष्टि के विभंगज्ञान का नहीं।

प्रश्न - क्या मिथ्यादृष्टि से सम्यग्दृष्टि होने पर अवधिज्ञान में कुछ अन्तर हो सकता है?

उत्तर - भवप्रत्यय अवधिज्ञान में संक्लिशमान और असंक्लिशमान भेद नहीं हैं। जैसे रंगीन कांच और सफेद पारदर्शी कांच से देखने में अन्तर होता है, वैसे ही पहले मिथ्यादृष्टि था, तब रंगीन कांच से देखता था अर्थात् अस्पष्ट (अयथार्थ) देखता था और सम्यग्दृष्टि होने के बाद पारदर्शी कांच से देखता है अर्थात् स्पष्ट (यथार्थ) देखता है। मिथ्यादृष्टि से सम्यग्दृष्टि होने पर ज्ञेय द्रव्यों की वृद्धि नहीं होती, लेकिन ज्ञान पर्याय में विशुद्धि की वृद्धि होगी, क्योंकि जीव सही अर्थात् स्पष्ट (यथार्थ) देखने लगता है।

अवधिज्ञान के अन्य प्रकार / गुणप्रत्यय के प्रकार

जैन परंपरा में भवप्रत्यय और क्षायोपशमिक भेद के अलावा भगवती सूत्र आदि आगमों में आवश्यकनिर्युक्ति, षट्खण्डागम और तत्त्वार्थसूत्र में अवधिज्ञान के अन्य भेदों का उल्लेख प्राप्त होता है, जो निम्न प्रकार से हैं-

1. आगमों में प्राप्त प्रकार

भगवतीसूत्र में आधोऽवधिक और परमोवधिक का उल्लेख है। वहाँ छद्मस्थ की आधोवधिक से और केवली की परमोवधिक से तुलना की है। जैसे कि छद्मस्थ जीव परमाणु पुद्गल आदि को प्रमाण से जानता और देखता है उतने ही प्रमाण में आधोवधिक जानता और देखता है एवं जो परमावधिक

79. गुणमंतरेण जहा गणणब्भच्छादिते अहापवत्तितो छिद्देणं दिणकरकिरणव्व विणिस्सिता दव्वमुज्जोवति, तहाऽवधिमावरणखयोवसमे अवधिलंभो अधापवत्तितो विण्णेतो। - नंदीचूर्णि पृ. 25

80. उत्तरुत्तरचरणगुणविसुज्झमाणवेक्खातो अवधिणाणदंसणावरणाय खयोवसमो भवति, तक्खयोवसमेण अवधी उप्पज्जति।

- नंदीचूर्णि पृ. 26

81. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 568

82. नंदीवृत्ति पृ. 26

83. गुणाः मूलोत्तररूपाः तान् प्रतिपन्नो गुणप्रतिपन्नः। - मलयगिरि, नंदीवृत्ति, पृ. 81

84. धवलाटीका पु.13, सूत्र 5.5.45, पृ. 291

85. न ह्यसंज्ञिनामपर्याप्तकानां च तत्सामर्थ्यमस्ति। संज्ञिनां पर्याप्तकानां च न सर्वेषाम्। - सर्वार्थसिद्धि, 1.22, पृ. 90

जानता है वही केवली जानता देखता है।⁸⁶ इस प्रकार प्राचीन काल में अवधि ज्ञान के दो भेद मान्य हो सकते हैं – आघोऽवधि (सामान्य अवधिज्ञानी) और परमोवधिक।

प्रज्ञापनासूत्र के तैंतीसवें अवधिपद में वर्णित सात द्वारों के आधार पर अवधिज्ञान के चौदह भेद प्राप्त होते हैं। 1. भवप्रत्यय, 2. गुणप्रत्यय, 3. आभ्यन्तर 4. बाह्य 5. देशावधि 6. सर्वावधि 7. अनुगामी 8. अननुगामी 9. वर्द्धमान 10. हीयमान 11. प्रतिपाती 12. अप्रतिपाती 13. अवस्थित 14. अनवस्थित।⁸⁷ प्रज्ञापनासूत्र में अवधिज्ञान के भेदों को भिन्न द्वारों में कहने का संभवतया यह आशय हो सकता है कि सामान्य बुद्धि वाले शिष्यों को बोध देने के लिए यह आगमकारों की एक प्रकार की शैली हो सकती है।

नंदीसूत्र में अवधिज्ञान के छह भेद ही मिलते हैं – 1. आनुगामिक, 2. अनानुगामिक, 3. वर्द्धमान, 4. हीयमान, 5. प्रतिपाती और 6. अप्रतिपाती।

स्थानांगसूत्र में भवप्रत्यय एवं क्षायोपशमिक के साथ ही आनुगामिक, अनानुगामिक, वर्द्धमान, हीयमान, प्रतिपाती और अप्रतिपाती प्रकारों का उल्लेख मिलता है।

नंदीसूत्र में “अहवा गुणपडिवण्णस्स अणगारस्स ओहिणाणं समुपज्जइ.....” यह मूल पाठ आया है। गुण का सम्बन्ध मूलगुण और उत्तर गुण से है। “पडिवण्णस्स अणगारस्स” यह शब्द अन्य का निषेधक नहीं है, किन्तु यहाँ जो गुणप्रत्यय अवधिज्ञान के छह भेदों का वर्णन किया है, वह अनगार की अपेक्षा से ही है। क्योंकि अन्य का अवधिज्ञान अप्रतिपाति नहीं होता है अर्थात् अप्रतिपाति अवधिज्ञान अनगार को ही होता है।

प्रज्ञापना सूत्र में नंदीगत छह भेदों के अलावा अवस्थित और अनवस्थित का भी उल्लेख है, क्योंकि प्रज्ञापना सूत्र के अवधिपद (33वां पद) में 24 दण्डकों में प्राप्त अवधिज्ञान का वर्णन है। वहाँ देव, नारकी के आनुगामिक आदि अवधिज्ञान को अवस्थित, मनुष्य, तिर्यच के आनुगामिक आदि अवधिज्ञान को अवस्थित, अनवस्थित दोनों प्रकार का बताया है। अतः वहाँ छह भेदों के साथ इन दो भेदों का भी उल्लेख किया गया है। जबकि नंदीसूत्र में 24 दण्डकों में पाये जाने वाले अवधिज्ञान का वर्णन नहीं है। इसलिये उसमें छह ही भेद किये गये हैं।

2. आवश्यकनिर्युक्ति के अनुसार

आवश्यकनिर्युक्ति के अनुसार जिनभद्रगणि ने अवधिज्ञान के क्षेत्र एवं काल की अपेक्षा असंख्यात भेद और द्रव्य एवं भाव की अपेक्षा से अनंत भेद स्वीकार किये हैं। सभी भेदों को कहने में असमर्थता बताते हुए चौदह प्रकार के निक्षेप और ऋद्धि का वर्णन किया है।⁸⁸ इस अपेक्षा से अवधिज्ञान के चौदह भेद हैं – 1. अवधि, 2. क्षेत्रपरिमाण, 3. संस्थान, 4. आनुगामिक, 5. अवस्थित, 6. चल, 7. तीव्रमंद, 8. प्रतिपाति-उत्पाद, 9. ज्ञान, 10. दर्शन, 11. विभंग, 12. देश, 13. क्षेत्र और 14. गति।⁸⁹

86. आहोहिणं णं भंते! मणुस्से परमाणुपोग्गलं? जहा छउमत्थे एवं आहोहिणं वि जाव अणंतपएसियं। केवली णं भंते! मणूसे परमाणुपोग्गलं! जहा परमाहोहिणं तहा केवली वि जाव अणंतपएसियं। – भगवतीसूत्र, शतक 18, उद्देशक 8, पृ. 734

87. तंजहा भवपच्चइया य खओवसमिया य। गेरइया णं भंते! कि ओहिस्स किं अंतो बाहि? गेरइयाणं भंते! कि दिसोही सव्वोही। गेरइया णं भंते! ओही किं आणुगामिए अणणुगामिए वड्डमाणए हायमाणए पडिवाई अपडिवाई अवड्डिए अणवड्डिए?।

– युवाचार्य मधुकरमुनि, प्रज्ञापनासूत्र पद 33, पृ. 183-196

88. आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा 25, विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 568-569

89. आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा 27-28, विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 577-578

3. षट्खण्डागम के अनुसार

षट्खण्डागम में अवधिज्ञान के तेरह भेद प्राप्त होते हैं, यथा 1. देशावधि, 2. परमावधि, 3. सर्वावधि, 4. हीयमान, 5. वर्द्धमान, 6. अवस्थित, 7. अनवस्थित, 8. अनुगामी, 9. अननुगामी, 10. सप्रतिपाति, 11. अप्रतिपाति, 12. एक क्षेत्रावधि और 13. अनेक क्षेत्रावधि। इन भेदों में निर्युक्तिगत अवधि, संस्थान, ज्ञान, दर्शन, विभंग, देश और गति आदि कुछेक भेद स्वीकार नहीं किए हैं। षट्खण्डागमकार ने देशावधि, परमावधि, सर्वावधि ये तीन प्रकार नये बताये हैं। निर्युक्ति में आनुगामिक-अनानुगामिक, ऐसे व्यवस्थित भेद नहीं हैं, षट्खण्डागम में प्रथम तीन प्रकार का एक विभाग और बाद में शेष रहे दस प्रकारों को दो-दो के जोड़े रूप पांच युग्म के रूप में भेद प्राप्त होते हैं। निर्युक्ति में आनुगामिक, अनानुगामिक और इनका मिश्र, इसी प्रकार प्रतिपाती, अप्रतिपाती आदि और इनका मिश्र भेद निरूपित है।⁹⁰ मिश्र का यह भेद षट्खण्डागम में नहीं मिलता है।

आचार्य गुणधर⁹¹ के अनुसार विषय की प्रधानता से अवधिज्ञान तीन प्रकार का होता है - देशावधि, परमावधि और सर्वावधि। जिसमें से भवप्रत्यय अवधिज्ञान देशावधि और गुणप्रत्यय अवधिज्ञान तीनों प्रकार का होता है। वर्द्धमान, हीयमान, अवस्थित, अनवस्थित, अनुगामी, अननुगामी, प्रतिपाती, अप्रतिपाती, एकक्षेत्र और अनेकक्षेत्र। इन दस भेदों में से भवप्रत्यय अवधिज्ञान में अवस्थित, अनवस्थित, अनुगामी, अननुगामी और अनेकक्षेत्र ये पांच भेद, गुणप्रत्यय अवधिज्ञान में दसों भेद, देशावधि में दसों भेद, परमावधि में हीयमान, प्रतिपाती और एक क्षेत्र इनको छोड़कर शेष सात भेद और सर्वावधि में अनुगामी, अननुगामी, अवस्थित, अप्रतिपाती और अनेकक्षेत्र, ये पांच भेद पाये जाते हैं।

4. तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार

उमास्वाति के तत्त्वार्थसूत्र में अवधिज्ञान के छह भेद प्राप्त होते हैं - 1. अनुगामी, 2. अननुगामी, 3. वर्द्धमान, 4. हीयमान, 5. अवस्थित और 6. अनवस्थित।⁹² पूज्यपाद, विद्यानंद, आचार्यनेमिचन्द्र, अमृतचन्द्र और पंचसंग्रहकार⁹³ ने भी मुख्य रूप से अवधिज्ञान के उपर्युक्त छह भेदों का ही उल्लेख किया है।

नंदीसूत्र और तत्त्वार्थ सूत्र में प्रथम चार भेद समान हैं, लेकिन अंतिम दो भेदों में अंतर है। नंदी में प्रतिपाती, अप्रतिपाती और तत्त्वार्थ सूत्र में अवस्थित, अनवस्थित भेद हैं।⁹⁴ लेकिन एक अपेक्षा से विचार करें तो अवस्थित (जितना अवधिज्ञान उतना रहे, जैसे कि शरीर के किसी अंग पर उत्पत्ति से एक समान रहा हुआ मस्सा) का समावेश अप्रतिपाती में और अनवस्थित (उत्पन्न होने के बाद घटता, बढ़ता हो या नष्ट हो जाए, जैसे कि वायु से पानी में उठती तरंगों के समान) का समावेश प्रतिपाती में हो जाता है।

अकलंक ने तत्त्वार्थसूत्र के छह भेदों का उल्लेख करके नंदीसूत्र में वर्णित प्रतिपाती, अप्रतिपाती इन दो भेदों का भी उल्लेख देशावधि के आठ भेदों में किया है। तत्त्वार्थवार्तिक के अनुसार अवधिज्ञान

90. आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा 56, 61, विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 714, 739

91. कषायपाहुड, पृ. 16, 17

92. तत्त्वार्थसूत्र 1.23

93. सर्वार्थसिद्धि, 1.22 पृ. 90, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, 1.22, गोम्मटसार (जीवकांड) भाग 2, पृ. 619, तत्त्वार्थसार, गाथा 25-27, पृ. 12, पंचसंग्रह, अधिकार 1, गाथा 124, पृ. 27

94. अनवस्थितं हीयते वर्धते वर्धते हीयते च। प्रतिपतति चोत्पद्यते चेति। पुनः पुनरुर्मिवत्। अवस्थितं यावति क्षेत्रे उत्पन्नं भवति ततो न प्रतिपतत्याकेवलप्राप्तेरवतिष्ठते। - तत्त्वार्थधिगमसूत्र (भाष्य एवं टीका), सूत्र 1.23, पृ. 99-100

के तीन भेद – देशावधि, परमावधि, सर्वावधि हैं। जिनमें देशावधि के वर्धमान, हीयमान, अवस्थित, अनवस्थित, अनुगामी, अननुगामी, अप्रतिपाती, प्रतिपाती ये आठ भेद होते हैं। परमावधि के हीयमान और प्रतिपाती को छोड़कर शेष छह भेद पाये जाते हैं। सर्वावधि के अवस्थित, अनुगामिक, अननुगामिक और अप्रतिपाती ये चार भेद होते हैं।⁹⁵

अकलंक ने आगे वर्णन करते हुए कहा है कि परमावधिज्ञान, सर्वावधि से द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की दृष्टि से न्यून है इसलिए परमावधि भी वास्तव में देशावधि है।⁹⁶ अकलंक ने षट्खण्डागम में वर्णित एकक्षेत्र और अनेकक्षेत्र, इन दो भेदों का उल्लेख नहीं किया है। विद्यानंद ने प्रतिपाती और अप्रतिपाती इन दो भेदों को तत्त्वार्थ सूत्र के छह भेदों में उल्लेखित किया है।⁹⁷ यशोविजय ने भी नंदीसूत्र के समान ही छह भेदों का उल्लेख किया है।⁹⁸

इस प्रकार अवधिज्ञान के भेदों में विभिन्नमत थे, लेकिन अंत में नंदीसूत्र में वर्णित छह भेदों को ही मान्य किया गया है।

उपर्युक्त वर्णित सारे भेद गुणप्रत्यय अवधिज्ञान के ही प्रतीत होते हैं। इसको स्पष्ट करने के लिए आचार्य भद्रबाहु और **जिनभद्रगणि** ने क्षेत्र परिमाण, संस्थान, आनुगामिक, अनानुगामिक, अवस्थित और देश द्वार में कृत वर्णन को गुणप्रत्यय (मनुष्य और तिर्यच की अपेक्षा) में रखा है। षट्खण्डागम में गुणप्रत्यय के बाद देशावधि आदि तेरह प्रकार बताए हैं। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि ये भेद गुणप्रत्यय के हैं। तत्त्वार्थसूत्र में ये छह भेद क्षायोपशमिक (गुणप्रत्यय) अवधिज्ञान के विशेष प्रकार हैं।⁹⁹ आचार्य नेमिचन्द्र¹⁰⁰ और अमृतचन्द्र¹⁰¹ का भी ऐसा ही मानना है।

नंदीसूत्र में क्षायोपशमिक (गुणप्रत्यय) का कथन करने के बाद ही अनुगामी आदि छह भेदों का कथन किया है। मलयगिरि ने एक ही सूत्र में गुणप्रत्यय के साथ इन छह भेदों का उल्लेख किया है।¹⁰² इन आधारों से यह स्पष्ट होता है कि यह भेद गुणप्रत्यय अवधिज्ञान के ही हैं। लेकिन वीरसेनाचार्य का अभिमत है कि यह अवधिज्ञान के सामान्य रूप से भेद हैं क्योंकि अवस्थित, अनवस्थित, अनुगामी, अननुगामी आदि भेद भवप्रत्यय ज्ञान में भी घटित होते हैं।¹⁰³

उपर्युक्त वर्णन का सारांश यह है कि आवश्यकनिर्युक्ति और षट्खण्डागम में उपर्युक्त भेदों का वर्णन अवधिज्ञान के सामान्य भेदों के रूप में था। लेकिन नंदीसूत्र, और तत्त्वार्थसूत्र आदि के काल में इन भेदों को स्पष्ट रूप से गुणप्रत्यय अवधिज्ञान के भेद के रूप में स्वीकार कर लिया गया, क्योंकि

95. पुनरपरेऽवधेस्त्रयोभेदाः देशावधिः परमावधिः सर्वावधिश्चति। वर्धमानोः हीयमान अवस्थितः अनवस्थितः अनुगामी अननुगामी अप्रतिपाती प्रतिपातीत्येतेऽष्टौ भेदा देशावधेर्भवति। हीयमानप्रतिपातीभेदवर्जा इतरे षड्भेदा भवति परमावधेः।

अवस्थितोऽनुगाम्यननुगाम्यप्रतिपातीत्येते चत्वारो भेदाः सर्वावधेः। – तत्त्वार्थराजवार्तिक, 1.22.5 पृ. 56

96. सर्वशब्दस्स साकल्यवाचित्वाद्द्व्यक्षेत्रकालभावैः सर्वावधेरंतः पातिपरमावधिरतः परमावधिरति देशावधिरेवेति द्विविध एवावधिः सर्वावधिर्देशावधिश्च। – तत्त्वार्थराजवार्तिक 1.22.5 पृ.57

97. अनुगाम्यननुगामी वर्द्धमानो हीयमानोऽवस्थितोऽनवस्थित इति षड्विकल्पोऽवधिः संप्रतिपाताप्रतिपातयोस्त्रैवान्तर्भावात्।

–तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक 1.22 पृ. 245

98. जैनतर्कभाषा पृ. 24

99. क्षयोपशमिनिमित्तः षड्विकल्पः शेषाणां। – तत्त्वार्थ सूत्र 1.22

100. गोम्मटसार (जीवकांड) भाग 2, पृ. 619

101. तत्त्वार्थसार, गाथा 25–27, पृ. 12

102. अहवा गुण पडिवन्नस्स अणगारस्स ओहिणाणं समुप्पज्जइ, तं समासओ छव्विहं पन्नतं, तंजहा–आणुगामिअं अणाणुगामिअं वड्ढमाणयं हीयमाणयं पडिवाइयं अप्पडिवाइयं। – मलयगिरि नंदीवृत्ति, सूत्र 9, पृ. 81

103. अणंतरत्तादो गुणपच्चइ य ओहिणाणमणेयविहं ति किण्ण वुच्चदे? ण, भवपच्चइयओहिणाणे वि अवट्ठिद–अणवट्ठिद–अणुगामि–अणुगामिवियप्पुलंमादो। – षट्खण्डागम (धवला) पु.13, सूत्र 5–5–56, पृ. 293

भवप्रत्यय का संबंध नारकी, देवता से है जिसमें अननुगम, प्रतिपात आदि का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता है। उपर्युक्त वर्णन को हम निम्न चार्ट के आधार पर भी समझ सकते हैं।

क्र.सं.	भेद	आवश्यकनिर्युक्ति	षट्खण्डागम	नंदीसूत्र	तत्त्वार्थसूत्र
1.	भवप्रत्यय	हाँ	हाँ	हाँ	हाँ
2.	गुणप्रत्यय	हाँ	हाँ	हाँ	हाँ
3.	आनुगामिक	हाँ	हाँ	हाँ	हाँ
4.	अनानुगामिक	हाँ	हाँ	हाँ	हाँ
5.	वर्धमान	हाँ	हाँ	हाँ	हाँ
6.	हीयमान	हाँ	हाँ	हाँ	हाँ
7.	प्रतिपाती	हाँ	हाँ	हाँ	नहीं
8.	अप्रतिपाती	हाँ	हाँ	हाँ	नहीं
9.	अवस्थित	हाँ	हाँ	नहीं	हाँ
10.	अनवस्थित	नहीं	हाँ	नहीं	हाँ
11.	एकक्षेत्र	नहीं	हाँ	नहीं	नहीं
12.	अनेकक्षेत्र	नहीं	हाँ	नहीं	नहीं
13.	देशावधि	नहीं	हाँ	नहीं	नहीं
14.	परमावधि	हाँ	हाँ	नहीं	नहीं
15.	सर्वावधि	नहीं	हाँ	नहीं	नहीं

चौदह निक्षेपों के अनुसार अवधिज्ञान का वर्णन

विशेषावश्यकभाष्य में अवधिज्ञान के अनेक भेद बताए हैं और उनके भेदों का कथन 14 निक्षेपों के द्वारा किया गया है। प्रस्तुत शोधग्रन्थ में विशेषावश्यकभाष्य में कथित 14 निक्षेपों को आधार बनाते हुए अन्य आगम ग्रंथों में जो समानता और भिन्नता प्राप्त होती है उनका यहाँ समीक्षात्मक अध्ययन किया जाएगा। चौदह निक्षेप निम्न प्रकार से हैं - 1. अवधि, 2. क्षेत्रपरिमाण, 3. संस्थान, 4. आनुगामिक, 5. अवस्थित, 6. चल, 7. तीव्रमंद, 8. प्रतिपाति-उत्पाद, 9. ज्ञान, 10. दर्शन, 11. विभंग, 12. देश, 13. क्षेत्र और 14. गति। इन चौदह द्वारों के बाद ऋद्धि को पंद्रहवें द्वार के रूप में जिनभद्रगणि ने स्वीकार किया है।¹⁰⁴ जिनभद्रगणि ने चौदह निक्षेप के संबंध में प्राप्त मतांतरों का उल्लेख निम्न प्रकार से किया है -

आवश्यकनिर्युक्ति में उपर्युक्त चौदह द्वारों से अवधिज्ञान का वर्णन किया है, लेकिन बाद के कुछ आचार्यों का ऐसा मानना था कि यहाँ अवधि की विचारणा होने से अवधि पद मूल है। इसलिए उन्होंने पीछे के तेरह द्वारों को ही स्वीकार किया है और निर्युक्ति के 14 द्वारों की संगति बिठाने के लिए अनानुगामिक द्वार को अलग गिनकर 14 द्वार माने हैं एवं कुछ आचार्य अवधि नामक इस पहले निक्षेप को स्वीकार ही नहीं करते हैं - 1. क्षेत्र परिमाण 2. संस्थान 3. आनुगामिक 4. अननुगामी एवं 5 से 14 तक के निक्षेप उपर्युक्तानुसार ही स्वीकार करते हैं।¹⁰⁵ जिनभद्रगणि ने आवश्यकनिर्युक्ति में जो चौदह निक्षेप बताये हैं, उनके अनुसार ही अवधिज्ञान का वर्णन किया है।

104. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 577-578-579

105. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 579-580

निक्षेप का स्वरूप

शब्दों का अर्थों में और अर्थों का शब्दों में आरोप करना, अर्थात् जो किसी एक निश्चय या निर्णय में स्थापित करता है उसे निक्षेप कहते हैं।¹⁰⁶ निक्षेप का पर्यायवाची शब्द न्यास है। तत्त्वार्थसूत्र में इस शब्द का प्रयोग हुआ है।¹⁰⁷ अनुयोगद्वार की टीका में कहा है कि निक्षेपपूर्वक अर्थ का निरूपण करने से उसमें स्पष्टता आती है, इसलिए अर्थ की स्पष्टता निक्षेप का प्रकट फल है।¹⁰⁸

1. 'अवधि' शब्द का निक्षेप

अवधि निक्षेप की जिनभद्रगणि ने नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव इन सात प्रकारों से समझाया है।¹⁰⁹

(1) नाम अवधि - व्यवहार की सुविधा के लिए वस्तु को अपनी इच्छा के अनुसार जो संज्ञा प्रदान की जाती है, वह नाम निक्षेप है। जैसे लोक व्यवहार में मर्यादा (सीमा) को अवधि कहते हैं वैसे ही कोई जीवादि पदार्थ को अवधि नाम देने से वह मात्र नाम से अवधि कहलाता है अथवा अवधि ऐसे अक्षरों की पंक्ति रूप संज्ञा का नाम है अथवा यह अवधिज्ञान की वचन रूप स्वपर्याय है। इस नाम निक्षेप का सम्बन्ध वस्तु के अवधि नाम से ही है, गुण-अवगुण से नहीं और यह आयुपर्यन्त अथवा वस्तु की उसी रूप में स्थिति रहे-वहाँ तक रहता है। नाम निक्षेप में जो उसका मूल नाम है उसी से उसे पुकारा जाता है, किन्तु उस नाम के अन्य पर्यायवाची शब्दों से उसका कथन नहीं हो सकता है।

(2) स्थापना अवधि - किसी मूल वस्तु का, प्रतिकृति, मूर्ति अथवा चित्र में आरोप करना स्थापना निक्षेप है अर्थात् जो अर्थ तद्रूप नहीं है, उसे तद्रूप मान लेना स्थापना निक्षेप है। जैसे चावल आदि में किसी वस्तु आदि का निक्षेप किया जाता है वैसे ही किसी वस्तु में अवधि की स्थापना करना स्थापना अवधि है अथवा अवधिज्ञान के विषयभूत पृथ्वी, पर्वत आदि द्रव्य, भरतादि क्षेत्र और स्वामीपने का आधारभूत साधु आदि का आकार विशेष स्थापना अवधि है।

(3) द्रव्य अवधि - गुण के उस आधार (पात्र) को द्रव्य कहते हैं कि जिसमें भविष्य में गुण उत्पन्न होने वाला हो, अथवा भूतकाल में उत्पन्न होकर नष्ट हो चुका हो अर्थात् अतीत-व्यवस्था, भविष्यत् अवस्था और अनुयोग दशा ये तीनों विवक्षित क्रिया में परिणत नहीं होते हैं, इसलिए इन्हें द्रव्य निक्षेप कहते हैं। इस निक्षेप में किसी समय भूतकालीन स्थिति का वर्तमान काल में प्रयोग किया जाता है तो किसी समय भविष्यकालीन स्थिति का वर्तमान काल में प्रयोग होता है। इसके दो प्रकार होते हैं - 1. आगमतः और 2. नो आगमतः।

1. आगमतः - अवधिज्ञानी पदार्थ को जानता है लेकिन उस पदार्थ में उसका उपयोग नहीं हो, तो यह आगमतः अवधि द्रव्य है।

2. नो आगमतः - जिसमें अवधि की क्रिया नहीं हो रही है, वह नो आगमतः अवधि द्रव्य है। इसके दो भेद हैं - ज्ञशरीर द्रव्यावधि और भव्यशरीर द्रव्यावधि। अवधिज्ञानी का मुर्दा शरीर-नोआगम ज्ञायक शरीर द्रव्य है अथवा जिसमें भविष्य में अवधि होगा ऐसा द्रव्य भी नो आगम ज्ञायक शरीर द्रव्य है। इसके तीन भेद हैं, - १. ज्ञशरीर २. भव्य शरीर और ३. तद्व्यतिरिक्त।

106. णिच्छए णिण्णए खिवदि ति णिक्खेओ। - षट्खण्डागम (धवला), पु. 1, पृ. 10

107. नामस्थापनाद्रव्यभावतस्तन्यासः। - तत्त्वार्थ सूत्र 1.5

108. आवश्यकदिशब्दानामर्थो निरूपणीयः, स च निक्षेपपूर्वक एवं स्पष्टतया निरूपिता भवति।-अनुयोगद्वारवृत्ति

109. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 581

१. ज़शरीर नोआगम द्रव्य निक्षेप - अवधिज्ञानी के शरीर से आत्मा के निकल जाने पर शेष रहा मुर्दा शरीर-नोआगम ज्ञायक शरीर द्रव्य है। उसमें भूतकाल में अवधिज्ञानी की आत्मा निवास करती थी। अब वह गत-भाव होने से खाली पात्र रह गया है- घृत निकल जाने के बाद खाली रहे हुए घड़े के समान। तीर्थंकर भगवान् अथवा साधु या श्रावक का निर्जीव शरीर इसी भेद में आता है।

२. भव्य-शरीर नोआगम द्रव्य निक्षेप - भविष्य में अवधि का ज्ञाता होने वाला द्रव्य अर्थात् जिसने मनुष्य में रहते हुए नरक अथवा देव का आयुष्य बांध लिया है, तो वह भविष्य में अवधि का ज्ञाता होगा, उसे भव्यशरीर नो आगमत द्रव्य अवधि कहते हैं। जैसे किसी ने घृत भरने के लिए घड़ा बनाया या खरीदा, तो भविष्य में उसमें घृत भरा जाएगा, किन्तु अभी खाली है। वह घड़ा भी इस भेद में गिना जाता है।

३. ज्ञ-भव्य-व्यतिरिक्त नोआगम द्रव्य निक्षेप - इसके तीन भेद हैं - १. लौकिक, २. लोकोत्तर और ३. कुप्रावचनिक।

लौकिक - मिथ्यादृष्टि का विभंगज्ञान में उपयोग नहीं लगाना, वह लौकिक नोआगम द्रव्य निक्षेप है।

लोकोत्तर - निर्ग्रन्थ साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका, आत्म-कल्याण के लिए अवधि की अनुपयोगपूर्वक यथाकाल जो आराधना करते हैं, वह लोकोत्तर नोआगम द्रव्य निक्षेप है।

कुप्रावचनिक - अन्य मतावलम्बी चरक आदि अपने विभंग ज्ञान से जानकर इष्ट देव को अनुपयोगपूर्वक अर्घ्य देते हैं, प्रणाम करते हैं, हवन करते हैं और मन्त्र का जाप आदि अनेक क्रियाएँ करते हैं। ये सब कुप्रावचनिक नोआगम द्रव्य निक्षेप है।

(4) क्षेत्र अवधि - जिस क्षेत्र में अवधि उत्पन्न होता है या जिस क्षेत्र में अवधि ज्ञान की प्ररूपणा होती है, या अवधिज्ञानी जिस क्षेत्र में रहे हुए द्रव्यों को जानता है, यह सभी क्षेत्र अवधि कहलाता है।

(5) काल अवधि - जिस काल में अवधि उत्पन्न होता है या जिस काल में अवधि की प्ररूपणा होती है या अवधिज्ञानी जिस काल में रहे हुए द्रव्यों को जानता है, यह सभी काल अवधि कहलाता है।

(6) भव अवधि - जिस नारकी आदि में भव अवधिज्ञान होता है वह भव अवधि कहलाता है।

(7) भाव अवधि - जिस क्षायोपशमिक आदि भाव से जो अवधि होता है, वह भाव अवधि कहलाता है अर्थात् शब्द के द्वारा वर्तमान पर्याययुक्त वस्तु का ग्रहण होना भाव निक्षेप है। इसके दो भेद हैं -

१. आगमतः - जिसका अवधि में उपयोग लगा हुआ हो, अथवा जो अवधि की उपयोग पूर्वक क्रिया कर रहा हो वह आगमतः भाव निक्षेप है।

२. नोआगम से - इसके तीन भेद हैं।

(अ) लौकिक - मिथ्यादृष्टि का विभंगज्ञान में उपयोग लगाना, वह लौकिक नोआगम भाव निक्षेप है।

(ब) लोकोत्तर - निर्ग्रन्थ साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका, आत्म-कल्याण के लिए अवधि की उपयोगपूर्वक और यथाकाल जो जो आराधना करते हैं, वह लोकोत्तर नोआगम भाव निक्षेप है।

(स) कुप्रावचनिक - अन्य मतावलम्बी चरक आदि अपने विभंग ज्ञान से जानकर इष्ट देव को भावपूर्वक अर्घ्य देते हैं, प्रणाम करते हैं, हवन करते हैं और मन्त्र का जाप आदि अनेक क्रियाएँ करते हैं। ये सब कुप्रावचनिक नोआगम भाव निक्षेप है। इस प्रकार भाष्यकार ने सात निक्षेपों के द्वारा अवधि की व्याख्या की है। इसके बाद दूसरे निक्षेप का स्वरूप समझाया।¹¹⁰

2. क्षेत्र परिमाण निक्षेप

अवधिज्ञान का विषय जितने क्षेत्र में होता है अर्थात् जितने क्षेत्र में रहे हुए रूपी पदार्थों को अवधिज्ञानी जानता है वह अवधिज्ञान का क्षेत्र परिमाण कहलाता है। इसके तीन प्रकार हैं – जघन्य, उत्कृष्ट और मध्यम। अवधि का सबसे कम न्यूनतम परिमाण जघन्य अवधि, सर्वोत्कृष्ट परिमाण को उत्कृष्ट अवधि और दोनों के बीच में जो भी परिमाण होता, वह मध्यम अवधि कहलाता है।

अवधि का जघन्य क्षेत्र परिमाण

नंदीसूत्र, आवश्यकनिर्युक्ति और विशेषावश्यकभाष्य के अनुसार तीन समय के आहारक सूक्ष्म पनक जीव का जितना शरीर (अवगाहना) होता है उतना ही अवधिज्ञान का विषयभूत जघन्य क्षेत्र परिमाण होता है।¹¹¹ षट्खण्डागम में सूक्ष्म निगोद लब्धि अपर्याप्त जीव के आधार पर कथन किया गया है।¹¹²

जैन आगमों में ‘पनक’ शब्द प्रमुख रूप से निगोद (लीलन-फूलन) के लिए प्रयुक्त होता है। निगोद का अर्थ होता है एक शरीर में अनंत जीव होना अर्थात् अनंत जीवों का पिण्ड निगोद कहलाता है। निगोद का यह शरीर अत्यंत सूक्ष्म होता है जिसे हम चर्मचक्षु से नहीं देख सकते हैं। निगोद के जीव दो प्रकार के होते हैं – सूक्ष्म और बादर। विशेषावश्यकभाष्य गाथा 588 में ‘सुहुमस्स पणगजीवस्स’ से सूक्ष्म निगोद के जीव का ग्रहण किया गया है, बादर का नहीं। निगोद के जीव एक मुहूर्त में श्वेतांबर¹¹³ मान्यता से 65536 भव और दिगम्बर¹¹⁴ मान्यता से अंतर्मुहूर्त में 66336 भव पांच जातियों के लब्धि अपर्याप्ता के करते हैं।

मलधारी हेमचन्द्र की बृहद्वृत्ति के अनुसार एक हजार योजन की लम्बाई वाला मत्स्य मरकर स्व-शरीर के एक देश में उत्पन्न होने के लिए प्रथम समय में हजार योजन वाला मत्स्य जाड़ाई का संकोच कर अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण मोटा (जाड़ा) और लंबा होता है तो स्वयं के शरीर जितना प्रतर सामर्थ्य से करता है। दूसरे समय में उस प्रतर को भी संकुचित कर वह मत्स्य शरीर प्रमाण चौड़ाई वाले आत्मप्रदेशों की सूची (श्रेणी) बनाता है। उस सूची की मोटाई-चौड़ाई अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण होती है। इसके बाद तीसरे समय में सूची को भी संक्षेप कर के अंगुल के असंख्यातवें भाग जितनी अवगाहना बनाकर वर्तमान भव का मत्स्यायु क्षय होने से और नये भव (पनक) का आयुष्य उदय होने से अविग्रह गति से उस मत्स्य के शरीर के किसी एक देश में सूक्ष्म पनक के रूप में उत्पन्न होता है। उत्पत्ति के तीसरे समय में पनक के शरीर का जितना प्रमाण होता है उतना प्रमाण अवधिज्ञान का जघन्य क्षेत्र होता है। क्षेत्र में रहे हुए रूपी पदार्थ जघन्य अवधिज्ञानी के विषय बनते हैं। यह प्रमाण मुनिवृंदों द्वारा कथित है।¹¹⁵ ऐसा ही उल्लेख हरिभद्र और मलयगिरि ने नंदीवृत्ति में किया है।¹¹⁶

स्पष्टीकरण

यहाँ 1000 योजन का मत्स्य लेने का कारण यह है कि अधिक बड़े शरीर (अवगाहना) वाले मत्स्य को तीन समय में आत्मप्रदेशों को संकोच करने के लिए तीव्र प्रयत्न करना पड़ता है। स्व-शरीर

111. जावइया तिसमयाहारगस्स सुहुमस्स पणगजीवस्स। ओगाहणा जहण्णा ओही खेतं जहण्णं तु।

– आवश्यकनिर्युक्ति गाथा 30, नंदीसूत्र, पृ. 35, विशेषावश्यकभाष्य गाथा 588

112. षट्खण्डागम, पृ.13, सूत्र 5.5.59.3 पृ. 301

113. पं. सुखलाल, कर्मग्रन्थ, भाग 5, पृ.119

115. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 589-591

114. गोम्मटसार (जीवकांड) भाग 1, गाथा 123

116. हरिभद्रीयावृत्ति पृ. 26, मलयगिरि पृ. 91

अवगाहना में उत्पन्न होना इसलिए बताया है कि यदि वह जीव अन्यत्र दूर जाकर उत्पन्न होता है तो उत्पत्ति क्षेत्र में विग्रह गति से जायेगा, जिससे आत्मप्रदेशों का कुछ विस्तार होगा और उसकी अवगाहना मोटी हो जायेगी। इस कारण से जीव अविग्रहगति से स्वयं के शरीर में उत्पन्न होता है।¹¹⁷

सभी जीवों में सबसे छोटी से छोटी अवगाहना सूक्ष्म पनक के जीव की होती है इसलिए यहाँ पनक जीव लिया गया है। तीन समय का आहार ग्रहण किये हुए जीव को लेने का कारण यह है कि जीव पहले और दूसरे समय में अति सूक्ष्म तथा चौथे आदि समय में जघन्य अवधि क्षेत्र से बड़ा हो जाता है इसलिए तीसरे समय में जितनी अवगाहना उस जीव की होती है उतना ही जघन्य अवधिज्ञान का क्षेत्र होता है।¹¹⁸

समीक्षा

जिनभद्रगणि और मलधारी हेमचन्द्र के उपर्युक्त वर्णन से यह मन्तव्य प्रकट होता है कि सूक्ष्म पनक जीव की जघन्य अवधिज्ञान के क्षेत्र के योग्य जो जघन्य अवगाहना होती है, वह 1000 योजन वाले मत्स्य में उत्पन्न होने पर ही होती है, क्योंकि उसी जीव में तीव्र प्रयत्न से संकोच होता है। किन्तु यह कथन आगम के अनुकूल नहीं है, क्योंकि भगवती सूत्र शतक 1 उद्देशक 5 में क्रोधी, मानी के भंगों में वनस्पति के जीवों में जघन्य अवगाहना को भी शाश्वत बताया है। जबकि उत्पन्न होने वाला मत्स्य त्रस जीव है और प्रज्ञापना सूत्र के छठे पद में त्रस जीवों की उत्पत्ति का विरह (अन्तर) बताया है। इससे स्पष्ट होता है कि अन्य जीव भी आकर जघन्य अवगाहना बना सकते हैं। जैसे कि कोई जीव निगोद पनक के रूप में उत्पन्न होने के लिए तीन समय की विग्रहगति से आ रहा है तो उसकी भी उत्पत्ति के समय जघन्य अवगाहना हो सकती है अथवा तीसरे समय में पहुँचकर आहार ग्रहण करके पाँचवें समय में तो वह जीव तीन समय का आहारक बन जायेगा। उसकी अवगाहना भी जघन्य अवधि जितनी हो सकती है, ऐसी भी एक धारणा है। इसी प्रकार शरीर से बाहर ऋगुगति से उत्पन्न होने वाले के कुछ आत्मप्रदेश तो उत्पत्ति स्थान पर पहुँच गये, किन्तु अभी तक अवगाहना पूर्वभव के अनुसार ही रहती है। नये भव के अवगाह क्षेत्र में अवगाह नहीं हुआ है, आहारक भी हो गया है, किन्तु अभी तक आत्मप्रदेश विश्रेणी में हैं, अतः उत्पत्ति क्षेत्र में अवगाह होने से ऋगुगति वाले को भी तीन समय लग जायेंगे, क्योंकि पूर्वभव की अवगाहना के सारे प्रदेश एक सीध में नहीं होते हैं और संकोच अगले भव में होने के कारण तीसरे समय में जघन्य अवधि क्षेत्र जितनी अवगाहना हो सकती है।

मतान्तर

जिनभद्रगणि ने इस सम्बन्ध में प्राप्त दो मतों का उल्लेख करके खण्डन किया है।

प्रथम मत - कतिपय आचार्य सूक्ष्मपनक जीव अवगाहना संकोच की क्रिया मत्स्य के भव अर्थात् पूर्वभव में ही करता है अर्थात् पूर्वभव में दो समयों में मौटाई-चौड़ाई का संकोच मानकर तीसरे समय में अर्थात् नये भव के प्रथम समय में लम्बाई का संकोच और उत्पत्ति समय का आहार साथ होने से अविग्रह गति उत्पन्न पनक जीव तीन समय का आहारक कहलाता है।

समाधान - यहाँ अवगाहना संकोच की क्रिया वर्तमान भव (मत्स्य के भव) में करना बताया है, वह भी आगम से विरुद्ध है, क्योंकि भगवतीसूत्र शतक 5 उद्देशक 3 में एक साथ दो भव के आयुष्य वेदन (विपाकोदय) का निषेध किया है। इसलिए आगमानुसार जब तक वर्तमान भव का आयुष्य समाप्त नहीं होगा तब तक परभव (सूक्ष्म निगोद के भव) के आयुष्य का उदय नहीं होगा और आयुष्य के

उदय के बिना उस भव संबंधी अन्य कार्य कैसे होंगे? तथा प्रज्ञापना सूत्र के 36वें पद में मारणांतिक समुद्घात के दण्ड को विष्कंभ और बाहल्य से शरीर प्रमाण बताया है और जीव मारणांतिक समुद्घात में काल भी कर सकता है, इसलिए अन्तिम समय तक समुद्घात हो सकती है। अतः अवगाहना का संकोच परभव में ही मानना चाहिए।¹¹⁹ दिगम्बराचार्य का भी यही मत है।¹²⁰ मलधारी हेमचन्द्र ने भी टीका में इस मत का खण्डन किया है।

दूसरा मत - उत्पत्ति के प्रथम समय में जीव द्वितीयादि समय की अपेक्षा से अतिसूक्ष्म होता है। प्रति समय उसकी मोटाई बढ़ती जाती है इसलिए यहाँ प्रथम समय का सूक्ष्म जीव ही ग्रहण करना चाहिए और उतना ही अवधिज्ञान का जघन्य विषयभूत क्षेत्र मानना चाहिए।

समाधान - मलधारी हेमचन्द्र कहते हैं कि यहाँ अतिसूक्ष्म अथवा अति बड़ी अवगाहना के साथ कोई प्रयोजन नहीं, लेकिन योग्य अवगाहना के साथ प्रयोजन है। जितना अवधिज्ञान का जघन्य विषयभूत क्षेत्र होता है, उसके लिए जितनी योग्य अवगाहना होनी चाहिए वह पनक के तीन समय का आहार ग्रहण करने के बाद होती है। भले ही तीन समयों में आहार करने से अवगाहना बढ़ गई हो तो भी अवधि के प्रायोग्य जघन्यता ही इष्ट है। अतः प्रथम समय की जघन्य अवगाहना नहीं है। इसलिए दो समय भी नहीं कहा कारण कि वह अवगाहना अवधि प्रायोग्य जघन्यता से कम है और चार समयों में अधिक हो जाती है, अतः तीन समय के आहार को ग्रहण किये पनक जीव का ही ग्रहण किया गया है।

विशेषावश्यकभाष्य में जघन्य अवधिज्ञान के सम्बन्ध में जो वर्णन किया है, वह सम्प्रदाय के आधार पर किया गया है, लेकिन यह वर्णन आगमानुकूल प्रतीत नहीं होता है। अतः दोनों की तुलना निम्न प्रकार से है -

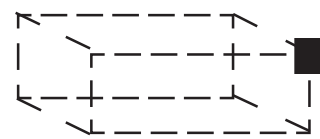
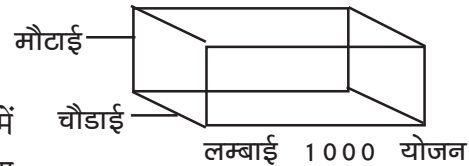
जिनभद्रगणि का मत

1000 योजन लम्बा मत्स्य (चित्र-1) पहले समय में अवगाहना संकोच करके लम्बाई अंगुल के असंख्यातवें भाग घन करके प्रतर और दूसरे समय में सूची बनाता है।

आगमानुसार

चित्र-2 (अ) प्रथम समय में मोटाई (जाड़ाई) को संकुचित करता है और निम्न प्रकार से चित्र-2 (ब) प्रतर बनाता है। फिर दूसरे समय में चौड़ाई को संकुचित करके श्रेणी (सूची) चित्र-2 (स) बनाता है। तीसरे समय में सूची (लम्बाई का घन) करके अंगुल के असंख्यातवें भाग चित्र-2 (द) घन जितना हो जाता है।

उपर्युक्त कथन का आशय है कि 1000 योजन का मत्स्य जब स्व-अवगाढ क्षेत्र में उत्पन्न होता है तो प्रथम समय में कुछ आत्मप्रदेश उत्पत्ति स्थान पर पहुँच कर आहार ग्रहण कर लेते हैं। जिससे वह प्रथम समय में आहारक हो जाता है। प्रथम समय में घन अर्थात् बाहल्य (मोटाई) का संकोच करके प्रतर बनाता है। उस प्रतर की मोटाई प्रथम समय प्रायोग्य जितनी चाहिए उतनी ही रखता है। दूसरे समय में प्रतर अर्थात् विष्कंभ (चौड़ाई) का संकोच करके सूची (श्रेणी) बनाता है। इसमें भी पूरा संकोच



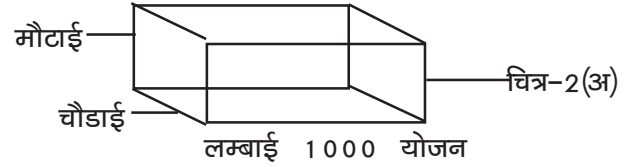
(चित्र-1-भाष्यकार मतानुसार)

119. जीवस्स णं भंते! मारणांतियसमुद्घाएणं समोहयस्स तेयासरीरस्स केमहालिया सरीरोगाहपण्णत्ता? गोयमा! सरीरपमाणमेत्ता

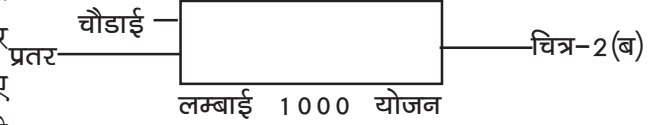
विक्खंभ-बाहल्लेणं, आयामेणं जहण्णेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागो उक्कोसेणं लोगंताओ लोगंतो।-प्रज्ञापना सूत्र भाग-2, पृ. 462

120. गोम्मटसार जीवकांड भाग 2 गाथा 584 पृ. 815

नहीं करके दूसरे समय में जितनी होती है, उतनी रखकर शेष का संकोच करता है और तीसरे समय में लम्बाई का संकोच करके अपने सूक्ष्म निगोद की अवगाहना में व्याप्त हो जाता है। सामान्यतः मोटाई, चौड़ाई और लम्बाई इस क्रम से संकोच करता है। इसलिए तीसरे समय वाले जीव सूक्ष्म निगोद की जघन्य अवगाहना समझी जाती है। वह तीन समय का आहारक भी होता है एवं जघन्य अवगाहना वाला भी होता है।



चित्र-2(अ)



चित्र-2(ब)



चित्र-2(स)



चित्र-2(द)

(चित्र-2-आगमानुसार)

षट्खण्डागम के अनुसार सूक्ष्म निगोद लब्ध्यपर्याप्तक जीव की जितनी जघन्य

अवगाहना होती है उतना ही अवधिज्ञान का जघन्य क्षेत्र है।¹²¹ अर्थात् उत्सेधांगुल को स्थापित कर उसमें पल्योपम के असंख्यातवें भाग का भाग देने पर जो एक खण्ड प्रमाण लब्ध आता है उतनी तीसरे समय में आहार ग्रहण करने वाले और तीसरे समय में तद्भवस्थ हुए सूक्ष्म निगोद लब्ध्यपर्याप्तक जीव की जघन्य अवगाहना होती है। ऐसा ही उल्लेख गोम्मटसार में भी मिलता है।¹²² यह जघन्य अवगाहना कितनी होती है, इसका प्रमाण नहीं मिलता, फिर भी क्षेत्र खण्डन के अनुसार समीकरण आदि करने पर ऊंचाई, चौड़ाई, लम्बाई प्रमाण उत्सेधांगुल असंख्यातवें भाग मात्र होता है। उनको परस्पर गुणा करने पर घनांगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण घन क्षेत्रफल होता है। इतना ही प्रमाण जघन्य अवगाहना का और इतना ही जघन्य अवधि का क्षेत्र होता है।

अवधिज्ञान का उत्कृष्ट क्षेत्र परिमाण

आवश्यकनिर्युक्ति में अवधिज्ञान का उत्कृष्ट क्षेत्र का निरूपण निम्न प्रकार से किया है -

सर्वबहु अगणिजीवा निरंतरं जत्तियं भरिज्जं सु।

खेत्तं सर्वदिसागं परमोही खेत णिद्धिद्वे।¹²³

अर्थात् जब सूक्ष्म अग्निकाय के जीव और बादर अग्निकाय के जीव उत्कृष्ट संख्या में होते हैं तब सभी अग्निकाय के जीवों को सम्मिलित करके ये सभी अग्निकायिक जीव सभी दिशाओं में जितने क्षेत्र को व्याप्त करते हैं वह परमावधि का उत्कृष्ट क्षेत्र है। इसे जिनभद्रगणि ने आवश्यकनिर्युक्ति के आधार पर एक कल्पना से समझाया है - अवसर्पिणी काल में दूसरे तीर्थंकर के समय जब अग्निकाय के जीवों की उत्कृष्ट संख्या होती है और जब बादर के साथ सूक्ष्म अग्निकाय के जीवों की भी उत्कृष्ट संख्या होती है तो उन उत्कृष्ट अग्निकाय के जीवों की छह प्रकार से स्थापना होती है। सर्वप्रथम अग्निकाय के एक एक जीव की एक-एक आकाश प्रदेश पर स्थापना करके घन, प्रतर और श्रेणी रूप तीन प्रकार की स्थापना प्राप्त होती है। दूसरे प्रकार से स्व-स्व अवगाहना में जितने आकाश प्रदेश होते हैं उन पर जीवों की स्थापना करके घन, प्रतर और श्रेणी रूप तीन प्रकार की स्थापना प्राप्त होती है। इस प्रकार कुल छह प्रकार की स्थापना प्राप्त होती है।

121. षट्खण्डागम, पृ.13, सूत्र 5.5.59 गाथा 3, पृ.301-302

122. गोम्मटसार (जीवकांड) भाग-2, गाथा 381, पृ. 625

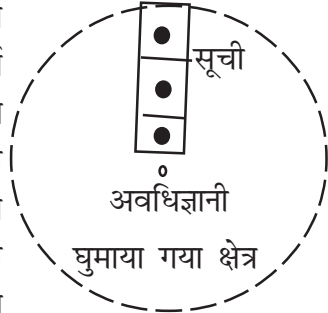
123. आवश्यकनिर्युक्ति गाथा 31, युवाचार्य मधुकरमुनि, नंदीसूत्र 15, पृ. 36, विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 598

इनमें प्रथम पांच स्थापनाएं (श्रुतादेश) ग्रहण करने योग्य नहीं हैं, क्योंकि इन को यदि ग्रहण करने पर दो दोषों की प्राप्ति होती है - 1. इन पांच प्रकार की स्थापनाओं को स्थापित करके अग्निकाय के जीवों को असत्कल्पना से छहों दिशाओं में घुमावें और वे जितने क्षेत्र का स्पर्श करें, वह क्षेत्र अवधिज्ञान के उत्कृष्ट क्षेत्र से अल्प होता है। 2. प्रत्येक आकाश प्रदेश में प्रत्येक जीव की स्थापना करना आगम विरुद्ध है। आगम में उल्लेख है कि जीव कम से कम स्व-स्व अवगाहना जितने आकाश प्रदेशों को अवगाहित करके ही रहता है। जैसेकि भगवतीसूत्र शतक 19 उद्देशक 3 में अवगाहना के 44 बोलों की अल्पबहुत्व में सूक्ष्म निगोद के अपर्याप्त की जघन्य अवगाहना से सूक्ष्म वायु के अपर्याप्तक जीव की जघन्य अवगाहना असंख्यातगुणी कही है। अतः प्रथम पाँच स्थापनाएँ अनादेश रूप होने से ग्रहण करने योग्य नहीं हैं।

छठी स्थापना (श्रुतादेश) में प्रत्येक अग्निजीव को अपने-अपने अवगाहन क्षेत्र अर्थात् स्व-स्व अवगाहना क्षेत्र में श्रेणी के रूप में स्थापित करना चाहिए। इस प्रकार असंख्य आकाश प्रदेशात्मक स्व-अवगाहना में पंक्ति में जीव स्थापना करने पर सूचि (श्रेणी) रूप छठे प्रकार का श्रुतादेश प्राप्त होता है। आगमानुसार यही श्रुतादेश ग्रहण करने योग्य है। यह क्षेत्र ही अवधिज्ञान का उत्कृष्ट क्षेत्र है और इसको ग्रहण करने पर उपर्युक्त दो दोषों की भी प्राप्ति नहीं होती है, यथा 1. सूची में एक-एक जीव असंख्येय आकाश प्रदेशों में पंक्ति रूप से अवगाढ़ होता है, तब बहुतर क्षेत्र की स्पर्शना करता है। 2. इस अवगाह का आगम से विरोध नहीं है।



लोक के असंख्यात प्रदेशों में अवगाहित पंक्तिरूप में व्यवस्थित उन अग्निजीवों की सूची को काल्पनिक रूप से अवधिज्ञानी के शरीर के चारों ओर छहों दिशाओं में घुमाने पर वह सूची बहुत क्षेत्र को स्पर्श करती है। छठें श्रुतादेश में स्व-स्व अवगाहना जितने प्रदेशों में जीव की स्थापना करेंगे अर्थात् एक जीव की अवगाहना पूर्ण होगी उसके बाद ही अगले जीव की अवगाहना क्षेत्र में उसकी स्थापना करेंगे। इस प्रकार एक के बाद एक जीव की स्थापना करने से सूची अलोक तक चली जाएगी, फिर उस सूची को छहों दिशाओं में घुमाएंगे तो वह लोक सहित अलोक में लोक जितने असंख्य खण्ड हैं, उनको स्पर्श करेगी अर्थात् लोक जितने व्यापक असंख्येय आकाश खंडों का अतिक्रमण कर अलोक में जा कर ठहर जाती है। वह सूची लोक-अलोक के जितने क्षेत्र को स्पर्श करती है, उतना क्षेत्र अवधिज्ञान का उत्कृष्ट क्षेत्र होता है। यह क्षेत्र अलोक में लोक प्रमाण असंख्येय आकाशखण्ड जितना है।¹²⁴ इस श्रेणी को छहों दिशाओं में घुमाने में अवधिज्ञानी के शरीर जितना क्षेत्र और बढ़ जायेगा। इस प्रकार उत्कृष्ट अवधि का क्षेत्र थोड़ा लम्बा गोल बनेगा। क्योंकि पुरुष की ऊँचाई अधिक और जाड़ाई-चौड़ाई कम होती है।



प्रश्न - उपर्युक्त वर्णन के अनुसार अवधिज्ञानी का उत्कृष्ट विषय अलोक में लोक समान असंख्य खण्ड जानने जितना है एवं दूसरी ओर अवधिज्ञानी रूपी द्रव्य को ही जानता-देखता है। किन्तु अलोक में तो रूपी द्रव्य नहीं होते हैं फिर अवधिज्ञान का इतना उत्कृष्ट विषय क्षेत्र लेने से क्या लाभ है? अथवा किसी जीव को लोक प्रमाण अवधिज्ञान होता है उसके बाद यदि उसके परिणाम उत्तरोत्तर विशुद्ध होते हैं तो उसके अवधिक्षेत्र में भी वृद्धि होती है, वह वृद्धि अलोक के क्षेत्र में होती है तो ऐसी वृद्धि का क्या लाभ, क्योंकि अलोक में तो अवधि के विषय रूप रूपी पुद्गल नहीं हैं?

उत्तर - यहाँ पर अवधिज्ञान का जितना विषय क्षेत्र कहा है, वह केवल उसके सामर्थ्य मात्र को बताने के लिए कहा है। इतने क्षेत्र में जो देखने योग्य रूपी द्रव्य हैं उन्हीं को देखता है। अलोक में रूपी द्रव्य नहीं होने से अवधिज्ञानी अलोक में नहीं देखता है लेकिन जैसे-जैसे अवधिज्ञान क्षेत्र का लोक के बाहर का बढ़ता है तो इससे लोक में उसकी सूक्ष्म से सूक्ष्मतर रूपी पुद्गलों को देखने की शक्ति बढ़ती है और बढ़ते-बढ़ते परमावधि ज्ञानी तो परमाणु को भी देख लेता है और बढ़ते-बढ़ते जब जीव को चरम सीमा सर्वोत्कृष्ट अवधिज्ञान (परमावधि) हो जाता है। सर्वोत्कृष्ट अवधिज्ञान होने पर जीव को अंतर्मुहूर्त में केवलज्ञान की प्राप्ति हो जाती है। यह इसका वास्तविक फल है।¹²⁵ इसी बात का समर्थन मलयगिरि¹²⁶ ने भी किया है। षट्खण्डागम में भी ऐसा ही उल्लेख प्राप्त होता है, किन्तु अवधि का उत्कृष्ट क्षेत्र सर्वावधि जितना है, क्योंकि परमावधि के बाद षट्खण्डागम में सर्वावधि को भी स्वीकार किया गया है।¹²⁷ लेकिन सर्वावधि का भेद आवश्यकनिर्युक्ति, विशेषावश्यकभाष्य और नंदीसूत्र आदि में प्राप्त नहीं होता है। अकलंक ने सर्वावधि का क्षेत्र प्रमाण परमावधि के उत्कृष्ट क्षेत्र से अनंतगुणा बताकर षट्खण्डागम का समर्थन किया है।¹²⁸

जिनभद्रगणि ने इसी प्रसंग पर क्षेत्र की अपेक्षा से काल का वर्णन भी किया है कि इतना क्षेत्र देखने वाला अवधिज्ञान इतने भूत-भविष्य रूप काल को जानता है।¹²⁹ ऐसा ही वर्णन नंदीसूत्र, मलयगिरि आदि ने भी किया है, साथ ही दिगम्बर साहित्य में भी लगभग ऐसा ही उल्लेख प्राप्त होता है। फिर भी दोनों परम्पराओं में कुछ मतभेद है, उसको निम्न चार्ट के द्वारा दर्शाया गया है। निम्न वर्णन आवश्यकनिर्युक्ति¹³⁰ और षट्खण्डागम¹³¹ के आधार पर दिया गया है।

क्र.	क्षेत्र	श्वेताम्बर परम्परा में काल	दिगम्बर परम्परा में काल
1.	अंगुल के असंख्यातवें भाग	आवलिका का असंख्यातवें भाग पर्यन्त देखता है	समान
2.	अंगुल के संख्यातवें भाग	आवलिका का संख्यातवें भाग पर्यन्त देखता है	समान
3.	अंगुल प्रमाण क्षेत्र तक	आवलिका के अन्तर्भाग पर्यन्त देखता है	समान
4.	अंगुल पृथक्त्व(2-9)क्षेत्रतक	आवलिका पर्यन्त देखता है	समान
5.	हाथ प्रमाण क्षेत्र तक	अन्तर्मुहूर्त प्रमाण देखता है	पृथक्त्व आवलिका (7-8आवलिका)
6.	गाऊ प्रमाण क्षेत्र तक	दिवस अन्तर्भाव पर्यन्त देखता है	अन्तर्मुहूर्त (साधिक उच्छ्वास)
7.	योजन प्रमाण क्षेत्र तक	दिवस पृथक्त्व पर्यन्त देखता है	भिन्नमुहूर्त (एकसमय कम मुहूर्त)
8.	25 योजन क्षेत्र तक	पक्षान्त भाग तक देखता है	दिवसअंतो(एकदिन में कुछ कम)
9.	भरत क्षेत्र तक	अर्द्धमास तक देखता है	समान
10.	जंबूद्वीप तक	एक मास अधिक देखता है	समान
11.	मनुष्यलोक तक	एक वर्ष पर्यन्त देखता है	समान
12.	रुचकद्वीप तक	पृथक्त्व वर्ष पर्यन्त देखता है	समान
13.	संख्यातद्वीप तक	संख्यात काल पर्यन्त देखता है	समान
14.	असंख्यातद्वीप तक	असंख्यात काल पर्यन्त देखता है	समान

124. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 598-601, 603-604

125. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 605-606

126. मलयगिरि, नंदीवृत्ति, पृ. 93

127. षट्खण्डागम, पृ. 13, सूत्र 5.5.59 गाथा 15 पृ. 324

128. सर्वावधिरूप्यते-असंख्येयानामसंख्येय-भेदत्वादुत्कृष्टपरमावधिकक्षेत्रमसंख्येयलोकगुणितमस्यक्षेत्रं।-तत्त्वार्थराजवार्तिक, 1.22 पृ. 57

129. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 608 से 614

130. आवश्यकनिर्युक्ति गाथा 32 से 35, विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 608 से 610, 615

131. षट्खण्डागम, पु. 13, सूत्र 5.5.59 गाथा 4 से 7

ऊपर चार्ट में क्षेत्र के अनुसार काल बताया है। उदाहरण के लिए भरत क्षेत्र को जानने वाला काल से अर्धमास के काल को जानता है अर्थात् उस क्षेत्र में रहे हुए रूपी पदार्थ की अर्धमास जितनी भूत की और अर्धमास जितनी भविष्य की पर्याय को जानता है। भरतक्षेत्र कहने से मात्र भरत क्षेत्र ही नहीं समझ कर भरतक्षेत्र जितनी लम्बाई और चौड़ाई वाले क्षेत्र को समझना चाहिए। इस कथन को सभी क्षेत्र और काल के साथ जोड़ना चाहिए। ऐसा ही वर्णन नंदीसूत्र आदि आगमों में भी प्राप्त होता है। लेकिन आवश्यकनिर्युक्ति में वर्णित काल से षट्खण्डागम में वर्णित काल में चार भिन्नता है जिनका चार्ट में उल्लेख किया गया है। गोम्मटसार¹³² में भी षट्खण्डागम जैसा ही वर्णन है।

यहाँ क्षेत्र और काल को देखने के लिए जो कथन है कि वह उपचार से है, क्योंकि क्षेत्र और काल ये दोनों अमूर्तिक हैं। इन्हें अवधिज्ञानी नहीं जान सकता है, क्योंकि अवधिज्ञान का विषय रूपी पदार्थ है, इसलिए यहाँ ऐसा उपचार किया जाता है कि अवधिज्ञानी क्षेत्र और काल को इतने-इतने रूप में जानता है अर्थात् उतने क्षेत्र और काल में रहे हुए रूपी पदार्थों को जानता है। इसी प्रकार वर्णित क्षेत्र में जो जो काल बताया है वह समझ लेना चाहिए। यहाँ जो काल में पृथक्त्व शब्द आया है, सिद्धांतकार उसमें दो से नौ पर्यंत की संख्या का ग्रहण करते हैं।¹³³ अवधिज्ञानी उपर्युक्त जितने क्षेत्र को देखता है उसके साथ इतने काल में रहे हुए रूपी द्रव्य के भूत और भविष्य को जानता है। वर्णन चार्ट के अनुसार जानना।

प्रश्न - अवधिज्ञानी जब क्षेत्र से भरत-क्षेत्र प्रमाण पुद्गलों को जानते और देखते हैं, तब काल से 15 दिन पर्यंत की पुद्गल-पर्याय को जानते और देखते हैं, सो यह पन्द्रह दिन अतीत के या भविष्य के या साढ़े सात दिन अतीत के और साढ़े सात अनागत के, यह किस प्रकार है?

उत्तर - सम्पूर्ण भरत-क्षेत्र प्रमाण अवधि वाले के जो काल मर्यादा बतलाई है, सो पन्द्रह दिन ही अतीतकाल के तथा पन्द्रह दिन ही अनागत काल के समझना चाहिये। ऐसा खुलासा नंदी सूत्र की टीका में है। इस प्रकार जहाँ-जहाँ अवधिज्ञान की जितनी-जितनी मर्यादा बतलाई है वहाँ उतना ही भूतकाल तथा उतना ही भविष्यत् काल समझ लेना चाहिये।

प्रश्न - पूर्व-पश्चात् पर्याय रूपी होते हुए भी वह नष्ट होने के बाद पुनः उत्पन्न नहीं होती है, तो फिर अवधिज्ञानी भूत-भविष्य की पर्याय को जानता है?

उत्तर - पूर्व-पश्चात् पर्याय नष्ट होने के बाद पुनः उत्पन्न नहीं होती है तो भी अवधिज्ञानी वर्तमान पर्याय के माध्यम से उन पर्यायों को जान सकते हैं। अवधि से भूत-भविष्य काल में होने वाले रूपी द्रव्यों की पर्यायें वर्तमान समय में दृष्टिगोचर हो जाती है।

अवधिज्ञान के क्षेत्र का नाप

अवधिज्ञान के इस क्षेत्र का नाप कौनसे अंगुल से करना, इसके लिए दोनों परम्पराओं में मतभेद हैं। श्वेताम्बर परम्परा में अवधिज्ञान का क्षेत्र प्रमाणांगुल से नापा जाता है। अवधिज्ञान के विषय के लिए 'अंगुलमावलियाण'¹³⁴ में अंगुल शब्द से प्रमाण अंगुल का ग्रहण करना चाहिए। क्योंकि मलयगिरि के अनुसार "अंगुलमिह क्षेत्राधिकारात् प्रमाणांगुलमभिगृह्यते, अन्ये त्वाहुः-अवध्यधिकारादुत्सेधाङ्गुलमिति।"¹³⁵ साधारणतया क्षेत्र विषयक होने से अवधि का क्षेत्र प्रमाणांगुल से ही गिनना चाहिए क्योंकि आगे जो भरतादि क्षेत्र बताया है, वह प्रमाणांगुल से ही है। जघन्य

132. गोम्मटसार (जीवकांड) भाग 2 गाथा 404-407

134. नंदीसूत्र, पृ. 37

133. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 608-616

135. मलयगिरि, नंदीवृत्ति, पृ. 93

अवधि त्रिसमयाहारक सूक्ष्मनिगोद के तुल्य होने से उत्सेधांगुल से भी समझ सकते हैं, क्योंकि जीवों की अवगाहना उत्सेधांगुल से नापी जाती है। लेकिन काल के साथ तुलना में तो प्रमाणांगुल ही समझना चाहिए। अतः अवधिज्ञान का जो विषय क्षेत्र है उसे भी प्रमाणांगुल से ही ग्रहण करना चाहिए।

दिगम्बर परम्परा में अवधि के कुछ विषय क्षेत्र को उत्सेध अंगुल से गिनते हैं और कुछ क्षेत्र को प्रमाणांगुल से। इसका वर्णन इस प्रकार है कि जघन्य अवधिज्ञान का विषय क्षेत्र जो जघन्य अवगाहना के समान घनांगुल के असंख्यातवें भाग मात्र कहा है, जो उत्सेधांगुल (व्यवहार अंगुल) की अपेक्षा से है, प्रमाण अंगुल या आत्मांगुल की अपेक्षा नहीं, क्योंकि सूक्ष्म निगोद लब्ध्यपर्याप्तक की जघन्य अवगाहना प्रमाण जघन्य देशावधि का क्षेत्र है और परमागम में यह नियम कहा है कि शरीर, घर, ग्राम, नगर आदि का प्रमाण उत्सेधांगुल से ही मापा जाता है। इसलिए व्यवहार अंगुल का ही आश्रय लिया है। गोम्मटसार (गाथा 404 आदि) में अवधि के क्षेत्र और काल को लेकर उन्नीस काण्डकों में अंगुल का प्रमाण प्रमाणांगुल से नापा है और उससे आगे जो भी हस्त, गव्यूति, योजन, भरत आदि प्रमाण क्षेत्र कहा है, वह सब प्रमाणांगुल से ही लिया है।¹³⁶ लेकिन देव, नारकी, तिर्यच और मनुष्य के उत्सेध (ऊँचाई) के कथन के अतिरिक्त अन्यत्र सभी जगह प्रमाण अंगुल का ग्रहण करना चाहिए। ऐसा गुरु का उपदेश है।¹³⁷

उपर्युक्त वर्णन के आधार पर अवधिज्ञान के क्षेत्र का नाप प्रमाणांगुल से ही लेना ज्यादा उचित है। अंगुल के तीन प्रकार के होते हैं - 1. आत्मांगुल 2. उत्सेधांगुल और 3. प्रमाणांगुल। इनके स्वरूप का वर्णन द्वितीय अध्याय (ज्ञानमीमांसा : सामान्य परिचय) के प्रसंग पर किया जा चुका है।¹³⁸

द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की वृद्धि

अवधिज्ञान से द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव का भी संबंध होता है अथवा वर्धमान और हीयमान प्रकार के अविधिज्ञान में द्रव्यादि से वृद्धि-हानि होती है। आवश्यकनिर्युक्ति, नंदीसूत्र एवं विशेषावश्यकभाष्य में इस दृष्टि से सूक्ष्म प्रतिपादन हुआ है। आवश्यकनिर्युक्ति आदि के अनुसार अवधिज्ञान की कालवृद्धि के साथ द्रव्य, क्षेत्र और भाव की वृद्धि भी निश्चित होती है। क्षेत्र की वृद्धि में काल की वृद्धि की भजना है, जबकि द्रव्य और पर्याय की वृद्धि में क्षेत्र और काल की भजना है क्योंकि काल आदि परस्पर सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होते हैं¹³⁹ अर्थात् काल सूक्ष्म होता है, उससे क्षेत्र सूक्ष्मतर होता है, क्योंकि एक अंगुल श्रेणी में जितने प्रदेश होते हैं, वे प्रदेश असंख्यात अवसर्पिणियों के समय के बराबर होते हैं। क्षेत्र से भी द्रव्य सूक्ष्म होता है, क्योंकि क्षेत्र के एक-एक आकाश प्रदेश पर अनंत प्रदेशी स्कंध द्रव्य रहे हुए हैं। द्रव्य से भाव और अधिक सूक्ष्म होता है, क्योंकि उन स्कंधों में अनंत परमाणु हैं, प्रत्येक परमाणु में वर्ण, गंध, रस और स्पर्श की अपेक्षा से अनंत पर्याय हैं।¹⁴⁰

136. गोम्मटसार (जीवकाण्ड) भाग 2 गाथा 381, पृ. 626

137. षट्खण्डागम पृ. 13 सूत्र 5.5.59 गाथा 4, पृ. 304

138. द्रव्यष्ट, द्वितीय अध्याय (ज्ञानमीमांसा : सामान्य परिचय) पृ. 82-83

139. काले चउण्ह वुड्डी, कालो भइयव्वु खेत्तवुड्डीए। वुड्डीए दव्व-पज्जव, भइयव्वु खेत्त-काला उ।।

-युवाचार्य मधुकरमुनि, नंदीसूत्र 20 पृ. 38, विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 617, षट्खण्डागम पु. 13, सूत्र 5.5.59 गाथा 8, पृ. 309

140. सुहूमो य होई कालो, ततो सुहुमयरं हवइ खेत्तं।। अंगुलसेदीमिते ओस्सप्पिणिओ असंखेज्जा।।

- आवश्यक निर्युक्ति गाथा 36, युवाचार्य मधुकरमुनि, नंदीसूत्र 21 पृ. 38, विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 621

काल की वृद्धि

जिनभद्रगणि ने इस विषय को स्पष्ट करते हुए कहा है कि अवधिज्ञान के काल की वृद्धि होने पर द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव इन चारों की वृद्धि अवश्य होती है।¹⁴¹ जैसे कि क्षयोपशम के कारण अवधिज्ञानी के काल का मात्र एक ही 'समय' बढ़े तो क्षेत्र के बहुत से प्रदेश बढ़ते हैं और क्षेत्र की वृद्धि होने पर द्रव्य की वृद्धि अवश्य होती है, क्योंकि प्रत्येक आकाश प्रदेश में द्रव्य की प्रचुरता होती है और द्रव्य की वृद्धि होने पर पर्यायों की वृद्धि होती है, क्योंकि प्रत्येक द्रव्य में पर्यायों की बहुलता होती है। ऐसा ही वर्णन हरिभद्र आदि आचार्यों ने किया है।¹⁴² धवलाटीकाकार ने काल की वृद्धि के विकल्प को स्वाभाविक माना है।¹⁴³

काल की सूक्ष्मता दर्शाने के लिए टीकाकारों ने उदाहरण दिया है, कि जैसे कमल के सौ पते एक साथ रखे हुए हैं और यदि उनको भेदना है तो एक-एक पत्र को भेदने में असंख्यात समय लग जाते हैं।¹⁴⁴ समय इतना अतिसूक्ष्म होता है कि जिससे भेदने में जो असंख्यात समय लगे, उन समयों को भिन्न-भिन्न रूप में विभाजित नहीं कर सकते हैं।

क्षेत्र की वृद्धि

जब अवधि के देखने योग्य क्षेत्र में वृद्धि होती है तब काल में वृद्धि हो भी सकती है और नहीं भी। क्योंकि अल्प क्षेत्र की वृद्धि से काल में वृद्धि नहीं होती है। यदि कोई ऐसा माने कि जब क्षेत्र में प्रदेश आदि रूप से वृद्धि होती है तो उस समय में काल की भी नियम से समयादि रूप से वृद्धि होती है, तो जिनभद्रगणि कहते हैं कि ऐसा मानने पर क्षेत्र में अंगुलमात्र श्रेणीरूप बढ़ने पर असंख्यात अवसर्पिणी रूप से काल में वृद्धि हो जाएगी, क्योंकि आगम वचन है कि 'अंगुलसेढीमिते ओसप्पिणीओ असंखेज्जा'¹⁴⁵ अर्थात् एक अंगुलप्रमाण श्रेणी में जितने प्रदेश हैं, उन प्रदेशों में से प्रतिसमय एक-एक प्रदेश निकाला जाये तो असंख्यात अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी काल में वह सभी प्रदेश निकलते हैं अर्थात् इस श्रेणी के प्रदेशों को खाली करने में असंख्यात अवसर्पिणी तथा उत्सर्पिणी बीत जाती है अर्थात् जितने प्रदेश अंगुल प्रमाण श्रेणी में होते हैं वे असंख्यात अवसर्पिणी काल के समयों के बराबर हैं, इसलिए अंगुल प्रमाण क्षेत्र बढ़ता है तो काल असंख्यात उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी जितना बढ़ जायेगा।¹⁴⁶ जो कि उचित नहीं है, क्योंकि आगमानुसार अंगुल पृथक्त्व क्षेत्र को जानने वाला अवधिज्ञानी काल की अपेक्षा आवलिका पर्यन्त काल को जानता है,¹⁴⁷ न कि असंख्यात अवसर्पिणी रूप काल के भूत-भविष्य को जानता है। काल धीरे-धीरे बढ़ता है, क्षेत्र शीघ्र बढ़ता है। अतः क्षेत्र बढ़ने पर काल नहीं भी बढ़े। परमावधि के पास एकादि प्रदेश बढ़ने पर काल नहीं बढ़ता है तथा परमावधि का उत्कृष्ट काल हो गया हो तो मात्र क्षेत्र ही बढ़ेगा, काल नहीं। हरिभद्र¹⁴⁸ और मलयगिरि ने नंदीवृत्ति में भी ऐसा ही उल्लेख किया है। मलयगिरि ने यहां अंगुल में प्रमाण अंगुल का ग्रहण किया है। मतांतर से उत्सेधांगुल का भी उल्लेख है।¹⁴⁹ इसलिए क्षेत्र की वृद्धि में काल की वृद्धि की भजना है तथा द्रव्य और पर्याय अवश्य बढ़ते हैं।

141. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 621

142. क्षेत्रस्य सूक्ष्मत्वात् कालस्य च स्थूलत्वात्। -हरिभद्रीय, नंदीवृत्ति पृ. 32

143. साभावियादो। षट्खण्डागम पु. 13, सूत्र 5.5.59 गाथा 8, पृ. 309

144. सूक्ष्मश्चलक्षणश्च भवति कालः, यस्मादुत्पलपत्रशतभेदे समयाः प्रतिपत्रमसंख्येयाः प्रतिपादिताः। तथापि ततः कालात् सूक्ष्मतरं भवति क्षेत्रम्। - हरिभद्रीय नंदीवृत्ति पृ. 28, मलयगिरि, नंदीवृत्ति, पृ. 95

145. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 621, युवाचार्य मधुकरमुनि, नंदीसूत्र 21 पृ. 38

146. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 621

147. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 608

148. अङ्गुलश्रेणिमात्र क्षेत्रप्रदेशाग्रमसमङ्खेयावसर्पिणी समयराशिपरिमाणमिति। - हरिभद्रीय, नंदीवृत्ति, पृ. 28

149. मलयगिरि, नंदीवृत्ति, पृ. 93

द्रव्य की वृद्धि

अवस्थित क्षेत्र एवं काल में तथाविध शुभ अध्यवसाय से क्षयोपशम की वृद्धि होती है, तो ज्ञेय द्रव्य बढ़ता है, लेकिन क्षेत्र और काल अवस्थित रहते हैं तथा द्रव्य की वृद्धि होती है तो पर्याय की वृद्धि अवश्य होती है, क्योंकि प्रत्येक द्रव्य की अनंत पर्याय हैं। जघन्य से भी एक एक द्रव्य के पर्याय चतुष्टय को अवधिज्ञानी जानता है।

पर्याय की वृद्धि

पर्याय की वृद्धि होने से द्रव्य की वृद्धि होती भी है अथवा नहीं भी होती है कारण कि अवस्थित द्रव्य में तथाविध क्षयोपशम की वृद्धि होने से पर्याय ही बढ़ती है।¹⁵⁰ ऐसा ही वर्णन हरिभद्र और मलयगिरि ने किया भी है।¹⁵¹

मतान्तर

जिनभद्रगणि के अनुसार पर्याय वृद्धि में द्रव्यादि की वृद्धि भजना से होती है लेकिन अकलंक के अनुसार पर्याय की वृद्धि में द्रव्य की भी वृद्धि नियम से होती है।¹⁵² इसका समर्थन धवलाटीकाकार ने भी किया है।¹⁵³ उपर्युक्त आधार से ऐसा कह सकते हैं कि काल आदि की स्थूलता-सूक्ष्मता की अपेक्षा से वृद्धि होने पर जिसकी वृद्धि हो रही है उससे पूर्व वाले की वृद्धि भजना से होती है और पश्चात् वाले की वृद्धि नियम से होती है। जिनभद्रगणि ने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की सूक्ष्मता का गणित की भाषा में निरूपण किया है -काल सूक्ष्म है, काल से क्षेत्र असंख्यात गुणा सूक्ष्म है, क्षेत्र से द्रव्य अनंतगुणा सूक्ष्म है और द्रव्य से पर्याय संख्यातगुणा अथवा असंख्यातगुणा सूक्ष्म है।¹⁵⁴ जैसे कि एक आवलिका में चौथे असंख्यात जितने समय होते हैं और एक सैकण्ड में 5325 आवलिकाएं होती हैं। इतना सूक्ष्म काल भी क्षेत्र के सामने बादर है। द्रव्य और भाव (पर्याय) तो उससे भी सूक्ष्म है।

सूक्ष्म का अर्थ

उपर्युक्त प्रसंग में सूक्ष्मता का सम्बन्ध अर्थ अवगाहना से नहीं है, क्योंकि आकाश का एक प्रदेश, एक परमाणु और एक पर्याय (पर्यव) ये सभी अवगाहना में समान हैं। इसलिए यहाँ सूक्ष्म का अर्थ - 'व्याघात न पाने वाला और व्याघात नहीं देने वाला' ऐसा करना चाहिए। एक आकाश प्रदेश पर परमाणु से लेकर अनंत प्रदेशी स्कंध द्रव्य परस्पर व्याघात पहुँचाये बिना रहते हैं और परमाणु से लेकर अनंत प्रदेशी स्कंध में अनंत-अनंत पर्याय परस्पर व्याघात पहुँचाये बिना रहती है।

अवधिज्ञानी के जानने योग्य पुद्गल

आवश्यकनिर्युक्ति और विशेषावश्यकभाष्य¹⁵⁵ के अनुसार जब जीव को अवधिज्ञान होता है तो सर्वप्रथम द्रव्य रूप में तैजस और भाषा वर्गणाओं के बीच में रही हुई अयोग्य वर्गणाओं को अर्थात् जो द्रव्य तैजस और भाषा के योग्य नहीं ऐसे गुरुलघु और अगुरुलघु पर्याययुक्त द्रव्य को वह अवधिज्ञानी जानता है अर्थात् गुरुलघु द्रव्य (तैजस वर्गणा के समीप के द्रव्य) से प्रारंभ हुआ अवधिज्ञान बढ़ता-बढ़ता नीचे के औदारिक आदि गुरुलघु द्रव्यों को देखकर विशुद्ध होता है। इसमें

150. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 618-619

151. मलयगिरि, नंदीवृत्ति पृ. 95

152. भाववृद्धावपि द्रव्यवृद्धिर्नियता क्षेत्रकालवृद्धिर्भाज्या स्याद्वा न वेति। - तत्त्वार्थराजवार्तिक 1.22 पृ.57

153. पञ्चवृद्धीए वि णियमा दव्ववुद्धी दव्ववदिरित्तपज्जायाभावादो। - षट्खण्डागम, पृ.13, सूत्र 5.5.59 पृ. 309

154. कालो खेत्तं दव्वं भावो य जहुत्तरं सुहुमभेया। थोवा-संखा-णंता-संखा य जमोहिविसयम्मि। - विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 623

155. आवश्यकनिर्युक्ति गाथा 37, विशेषावश्यकभाष्य गाथा 623

कोई अवधिज्ञानी भाषादि अगुरुलघु द्रव्यों को अमुक समय तक देखता हुआ गिर जाता है। अगुरुलघु (भाषा वर्गणा के समीप द्रव्य से) द्रव्य से आरंभ हुआ अवधि अनुक्रम से ऊपर बढ़ता है, लेकिन नीचे की ओर नहीं बढ़ता है, क्योंकि वह ऊपर के ही भाषा द्रव्यों के अगुरुलघु द्रव्यों को देखता है तथा कोई अवधिज्ञान तथाविध विशुद्धिवाला होकर बढ़ता हुआ औदारिक आदि के गुरुलघु द्रव्यों को और भाषा वर्गणा आदि के अगुरुलघु द्रव्यों को भी एक साथ देखता है।¹⁵⁶ जिनदासगणी, हरिभद्र, मलयगिरि ने भी ऐसा ही उल्लेख किया है।¹⁵⁷

‘तेया-भासादव्वाण, अंतरा एत्थ लभइ पट्ठवओ। गुरुलहु अगुरुयलहुयं, तं पि य तेणेव निट्ठाइ।’¹⁵⁸ के अनुसार द्रव्य की अपेक्षा तैजस और भाषा वर्गणा के मध्य में अयोग्य द्रव्य (जो दोनों के द्वारा ग्रहण करने योग्य नहीं है) उन द्रव्यों के स्कंधों को देखने से अवधिज्ञान का आरंभ होता है और इसी में अंत होता है। इस गाथा में तैजस और भाषा के बीच में रहे हुए द्रव्यों को ही गुरुलघु और अगुरुलघु द्रव्य कहा गया है, तो उपर्युक्त वर्णन में औदारिक आदि द्रव्यों को गुरुलघु और अगुरुलघु द्रव्य क्यों कहा है? इसका समाधान यह है कि आठ स्पर्श वाले बादर रूपी द्रव्य गुरुलघु और चार स्पर्श वाले सूक्ष्म रूपी द्रव्य तथा अमूर्त आकाशादिक अगुरुलघु होते हैं।¹⁵⁹ आवश्यकनिर्युक्ति के अनुसार औदारिक, वैक्रिय, आहारक और तैजस के द्रव्य स्थूल और गुरुलघु द्रव्य है और कर्मण, भाषा, श्वासोच्छ्वास, मनोद्रव्य, अन्य परमाणु, द्वयणुक आदि तथा आकाश आदि सूक्ष्म और अगुरुलघु द्रव्य अर्थात् चार स्पर्श वाले हैं।¹⁶⁰

आवश्यकनिर्युक्ति¹⁶¹ में वर्णित विषय के आधार पर जिनभद्र का अनुसरण कर मलधारी हेमचन्द्रसूरि ने स्पष्ट किया है कि - औदारिकशरीर, वैक्रियशरीर, आहारकशरीर, तैजसशरीर, भाषावर्गणा, आनपान (श्वासोच्छ्वास) वर्गणा, मनोवर्गणा, कर्मणशरीर, तैजस द्रव्य, भाषाद्रव्य, आनपान (श्वासोच्छ्वास) द्रव्य, मनोद्रव्य, कर्मद्रव्य, ध्रुववर्गणा आदि उत्तरोत्तर सूक्ष्म हैं। इस प्रकार कर्मण शरीर की अपेक्षा तैजस द्रव्य सूक्ष्म है क्योंकि बद्ध की अपेक्षा अबद्ध द्रव्य विशेष सूक्ष्म होता है। जैसे-एक लड्डू को देखना जितना सरल है उतना उसकी एक-एक बूंदी को देखना कठिन भी है। अवधिज्ञानी उपर्युक्त वर्णित वर्गणा और द्रव्यों को जितना जितना अधिक देखने में क्रम से आगे बढ़ता है, उतना-उतना वह उत्तरोत्तर बढ़ते प्रमाण में क्षेत्र और काल को देखता है। ऐसा ही वर्णन धवलाटीका¹⁶² में भी किया है।

आवश्यकनिर्युक्ति के अनुसार अवधिज्ञानी तैजस शरीर से प्रारंभ होकर भाषाद्रव्य तक जितने जितने द्रव्यों को देखता हुआ आगे बढ़ता है, वह क्षेत्र से असंख्यात द्वीप-समुद्र और काल से पल्योपम का असंख्यातवां भाग उत्तरोत्तर अधिक देखता है। षट्खण्डागम¹⁶³ से आवश्यकनिर्युक्ति में विशेष कहा है कि जो अवधिज्ञानी तैजस शरीर के पुद्गलों को देखता है, तो वह काल से भव पृथक्त्व (2-9) भवों को देखता है, उस भव पृथक्त्व के मध्य किसी भव में यदि उसे अवधिज्ञान उत्पन्न हुआ हो तो उस अवधिज्ञान से दृष्ट पूर्वभवों की उसे स्मृति होती है, उनका साक्षात् नहीं होता। इससे आगे बढ़ते-बढ़ते अवधिज्ञानी मनोद्रव्यों को देखता है तब वह लोक और पल्योपम का असंख्यातवां भाग देखता है।¹⁶⁴ इस प्रकार क्रमशः आगे बढ़ता हुआ वह ध्रुववर्गणाओं को देखता है। अंत में अवधि की

156. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 655-656

157. नंदीचूर्ण पृ.34, हरिभद्रीय, नंदीवृत्ति पृ. 34, मलयगिरि नंदीवृत्ति पृ. 97

158. विशेषावश्यक भाष्य, गाथा 627

159. द्रव्य लोकप्रकाश सर्ग, 11 श्लोक 24

160. आवश्यकनिर्युक्ति गाथा 41, विशेषावश्यकभाष्य गाथा 658

161. आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा 41, 42

162. षट्खण्डागम, पु. 13, पृ. 310-313

163. षट्खण्डागम, पु.13, सूत्र 5.5.59, गाथा 9, पृ. 311

164. आवश्यकनिर्युक्ति गाथा 44, विशेषावश्यकभाष्य गा० 677

चरम सीमा तक पहुंच जाता है।¹⁶⁵ परमावधिज्ञानी में परमाणु, कार्मण शरीर और अगुरुलघु द्रव्यों को देखने की शक्ति होती है।¹⁶⁶

उपर्युक्त द्रव्यों को जानने वाला अवधिज्ञानी अवधिज्ञानावरण कर्म के उदय के कारण पतित होता है तब यही कहा जाता है कि गुरुलघु आदि स्वरूप को प्राप्त हुए द्रव्यों से गिर जाता है। यह न्याय प्रतिपाति अवधिज्ञान के लिए हैं, लेकिन इसका अर्थ यह नहीं मानना चाहिए कि वह गिरता ही है। अवधिज्ञान गिरने वाला है तो प्रारंभ में जो द्रव्य देखा था, उस द्रव्य को ही अंत में देखकर गिर जाता है।¹⁶⁷

प्रश्न - द्रव्य से अवधिज्ञानी जघन्य से अनन्त रूपी द्रव्य (अनन्त-प्रदेशी स्कंध) जानते हैं और उत्कृष्ट से सर्व रूपी द्रव्य को जानते हैं। सर्वरूपी द्रव्य में परमाणु भी शामिल है। यहाँ जघन्य में परमाणु नहीं लेकर अनन्त-प्रदेशी स्कंध लिये हैं, सो इसका क्या कारण है?

उत्तर - यहाँ जघन्य द्रव्य की अपेक्षा नहीं समझ कर अवधिज्ञान की अपेक्षा समझना अर्थात् छोटे से छोटे अवधिज्ञानी की यह छोटी शक्ति बताई है, फिर अवधिज्ञान जितना अधिक होता है उतनी ही इससे सूक्ष्म पुद्गल देखने की शक्ति बढ़ती है।

उपर्युक्त कथनानुसार अवधिज्ञानी के रूपी द्रव्य का विषय औदारिक आदि वर्गणाएं हैं। इस प्रसंग के निमित्त से आवश्यकनिर्युक्ति और विशेषावश्यकभाष्य में वर्गणाओं के स्वरूप का वर्णन किया गया है, जो निम्न प्रकार से हैं -

वर्गणाओं का स्वरूप

परमाणु से लेकर स्कंधरूप पुद्गलों से सम्पूर्ण लोक भरा हुआ है। यह पुद्गल अनेक भागों में विभाजित है। इन अनेक भागों में समान जाति के पुद्गलों के समूह को वर्गणा कहते हैं। समूह, वर्ग और राशि इसके पर्याय हैं।¹⁶⁸

वर्गणा का स्वरूप समझाने के लिए भाष्यकार ने कुविकर्ण (कुचिकर्ण) का उदाहरण दिया है - इस भरत क्षेत्र के मगध देश में बहुत गायों के मण्डल का स्वामी कुविकर्ण (कुचिकर्ण) नामक गृहपति (सेठ) रहता था। कुविकर्ण ने गायों की संख्या अधिक होने से हजार, दस हजार आदि संख्या में गायों के समूह बनाये। उन समूहों का पालन और संरक्षण करने के लिए पृथक्-पृथक् ग्वालों को सौंप दिया। वे ग्वाले उन गायों को एक ही स्थान पर एक साथ चराने के लिए ले जाते थे। जिससे बहुत सी बार एक समूह की गायें दूसरे समूह में मिल जाती थी। जिससे ग्वाले अपने-अपने समूह की गायों को पहचान नहीं पाने के कारण 'यह गाय मेरी है, तुम्हारी नहीं है' इस प्रकार से प्रतिदिन झगड़ा करते थे। कुविकर्ण ने ग्वालों के झगड़े को मिटाने के लिए सफेद-काली-नीली-लाल-चितकबरी आदि भिन्न-भिन्न वर्ण वाली गायों के भिन्न-भिन्न समूह बनाकर ग्वालों को पुनः सौंप दिया। इससे ग्वालों का झगड़ा समाप्त हो गया। इसी प्रकार तीर्थंकर भगवान् गृहपति, शिष्य ग्वाले और गायों के समूह के समान पुद्गलास्तिकाय है। भगवान् ने शिष्यों पर अनुग्रह कर पुद्गलास्तिकाय की सही पहचान कराने के लिए पुद्गलवर्गणाओं के भेद कर दिये हैं। इसी प्रमाण से सम्पूर्ण लोक पुद्गलों से भरा हुआ है, उसमें सजातीय पुद्गल परमाणु के समूह को औदारिक आदि वर्गणा कहते हैं।¹⁶⁹

165. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 672

166. आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा 41-43

167. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 627-629

168. सजातीयवस्तुसमुदायो वर्गणा, समूहो वर्ग, राशि: इति पर्यायाः ।-मलधारी हेमचन्द्र, विशेष० भा० बृहद्वृत्ति, गाथा 633, पृ. 278

169. आवश्यकनिर्युक्ति गाथा 39, विशेषावश्यकभाष्य गाथा 632 की बृहद्वृत्ति

आवश्यकनिर्युक्ति की वृत्ति में सामान्यतया वर्गणा के चार प्रकार बताये हैं – द्रव्यतः, क्षेत्रतः, कालतः और भावतः।¹⁷⁰

द्रव्यवर्गणा

समस्त लोकाकाश के प्रदेशों पर अवस्थित एक-एक परमाणुओं की एक वर्गणा है। दो परमाणु के संयोग से बने स्कंधों की दूसरी वर्गणा है। त्रिप्रदेशी स्कंधों की तीसरी वर्गणा है। इस प्रकार से एक-एक परमाणु बढ़ते-बढ़ते संख्यात प्रदेशी स्कंध की संख्याती वर्गणाएं हैं। इनमें प्रत्येक परमाणु की एकोत्तर वृद्धि से असंख्यात प्रदेशी स्कंध की असंख्याती वर्गणा और फिर प्रत्येक परमाणु की एकोत्तर वृद्धि से अनंत प्रदेशी स्कंध के समूह की अनंती वर्गणा होती है।¹⁷¹

द्रव्य वर्गणा के प्रकार

आवश्यकनिर्युक्ति¹⁷² और विशेषावश्यकभाष्य¹⁷³ में द्रव्य वर्गणा आठ प्रकार की बताई है, यथा औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस, भाषा, श्वासोच्छ्वास, मन और कर्मण इन आठ वर्गणाओं में अनुक्रम से द्रव्य समूह तो अधिक और क्षेत्र में इससे विपरीत क्रम है अर्थात् क्रम से क्षेत्र सूक्ष्म है।

औदारिक शरीर वर्गणा – एक से लेकर अनंत प्रदेशी स्कंध वर्गणाएं अल्प परमाणु वाली होने से जीव द्वारा ग्रहण नहीं की जाती हैं, इसलिए इन्हें अग्रहण वर्गणा कहते हैं।¹⁷⁴ ग्रहण वर्गणा अभव्य जीवों की राशि से अनंत गुणा और सिद्ध जीवों की राशि के अनंतवें भाग प्रमाण परमाणुओं से जो स्कंध बनते हैं अर्थात् जिन स्कंधों में इतने परमाणु होते हैं कि वे स्कंध जीव के द्वारा ग्रहण करने योग्य होते हैं, जीव उन्हें ग्रहण करके अपने औदारिक शरीर रूप परिणमता है, इसलिए उन स्कंधों को औदारिक वर्गणा कहते हैं।

जो औदारिक शरीर के ग्रहण करने योग्य वर्गणा नहीं हैं, उन वर्गणा में प्रत्येक प्रदेश की वृद्धि से तथाविध विशिष्ट परिणाम से परिणत ऐसी अनंत प्रदेशी स्कंध की अनंती वर्गणाएं औदारिक शरीर के ग्रहण करने योग्य हैं अर्थात् औदारिक शरीर को उत्पन्न करने योग्य हैं। औदारिक शरीर के ग्रहण योग्य वर्गणाओं में यह वर्गणा सबसे जघन्य होती है। उसके बाद ग्रहण करने योग्य अनंती वर्गणाएं होती हैं, अतः औदारिक शरीर के ग्रहण योग्य जघन्य वर्गणा से अनंतवें भाग अधिक परमाणु वाली औदारिक शरीर के ग्रहण योग्य उत्कृष्ट वर्गणा होती है। उत्कृष्ट वर्गणाओं के ऊपर एक-एक प्रदेश की वृद्धि होते होते पुनः औदारिक शरीर के ग्रहण के अयोग्य ऐसी अनंत वर्गणाएं होती हैं। क्योंकि ये वर्गणाएं अधिक प्रदेश वाली एवं सूक्ष्म होने से औदारिक शरीर के ग्रहण योग्य नहीं होती हैं। इस प्रकार औदारिक शरीर की वर्गणा तीन प्रकार की है – पहली अग्रहण वर्गणा, दूसरी ग्रहण वर्गणा और तीसरी अग्रहण वर्गणा।

वैक्रिय शरीर वर्गणा – औदारिक शरीर के अग्रहण योग्य उत्कृष्ट वर्गणा के ऊपर एक-एक प्रदेश की वृद्धि होती है लेकिन यह वैक्रिय शरीर के अग्रहण योग्य है, क्योंकि ये वर्गणाएं अल्प प्रदेश वाली और स्थूल होने से वैक्रिय शरीर के भी ग्रहण करने योग्य नहीं होती हैं। केवल वैक्रिय शरीर के ग्रहण योग्य वर्गणा के समीप होने से उसके जैसी दिखती है। अतः वह वैक्रिय शरीर अग्रहण योग्य वर्गणा कहलाती है। इस प्रकार आगे की वर्गणाओं में भी जान लेना चाहिए।

170. वर्गणाः सामान्यतश्चतुर्विधा भवन्ति, तद्यथा-द्रव्यतः क्षेत्रतः कालतो भावतश्च। – आवश्यकनिर्युक्ति मलयगिरिवृत्ति पृ. 57

171. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 633, 634

172. ओराल-विउत्वा-हार-तेय-भासा-गुपाण-मण-कम्मे। अह दव्ववगणानं कमो विवज्जासओ खेत्ते।-आवश्यकनिर्युक्ति गा० 39

173. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 631

174. पं. सुखलाल संघवी, कर्मग्रंथ भाग 5 पृ. 207

वैक्रिय अग्रहण योग्य उत्कृष्ट वर्गणाओं के ऊपर प्रत्येक प्रदेश की वृद्धि होते हुए वैक्रिय के लायक द्रव्य से बनी हुई होने से वैक्रिय शरीर के ग्रहण योग्य जघन्य वर्गणा होती है। एक-एक प्रदेश की वृद्धि से वैक्रिय के ग्रहण योग्य उत्कृष्ट वर्गणा होती है। वैक्रिय के ग्रहण योग्य उत्कृष्ट वर्गणा में एक-एक प्रदेश की वृद्धि से जघन्य तथा उत्कृष्ट वैक्रिय के अग्रहण योग्य वर्गणा होती है। यह वर्गणा बहुत द्रव्य से और सूक्ष्म परिणामी होने से वैक्रिय के ग्रहण योग्य नहीं होती है।

वैक्रिय के अग्रहण योग्य उत्कृष्ट वर्गणाओं के ऊपर एक-एक प्रदेश की वृद्धि होती है जिससे यह वर्गणा (ऊपर की अपेक्षा) अल्प द्रव्य से बनी हुई और स्थूल परिणाम वाली होने से आहारक शरीर के अग्रहण योग्य अनंती वर्गणाएं हैं। इन अग्रहण योग्य वर्गणाओं के ऊपर एक-एक प्रदेश की वृद्धि से आहारक शरीर के ग्रहण योग्य अनंती वर्गणाएं हैं। इन ग्रहण योग्य वर्गणाओं से ऊपर एक-एक प्रदेश की वृद्धि होते हुए बहुत से द्रव्य से बनी हुई अति सूक्ष्म परिणामवाली होने से आहारक शरीर के अग्रहण योग्य अनंती वर्गणाएं हैं। अतः वैक्रिय और आहारक शरीर की भी वर्गणाएं तीन प्रकार की हैं - अग्रहण वर्गणा, ग्रहण वर्गणा और अग्रहण वर्गणा।

इसी प्रकार तैजस, भाषा, श्वासोच्छ्वास, मन और कर्मण वर्गणाओं के भी अयोग्य, योग्य और पुनः अयोग्य वर्गणा रूप तीन-तीन भेद समझने चाहिए। ये सभी वर्गणाएं अनंत होती हैं।¹⁷⁵ इस प्रकार आठ वर्गणाओं को अयोग्य, योग्य और पुनः अयोग्य इस प्रकार तीन भेद से गुणा करने पर 24 भेद होते हैं।

आठ ग्रहण योग्य वर्गणा और आठ अग्रहण योग्य वर्गणा होती है। इन सोलह वर्गणाओं में प्रत्येक के जघन्य और उत्कृष्ट दो मुख्य विकल्प होते हैं और जघन्य तथा उत्कृष्ट को छोड़कर मध्यम के अनंत विकल्प होते हैं। ग्रहण वर्गणा के जघन्य से उसका उत्कृष्ट अनंतवें भाग अधिक और अग्रहण वर्गणा के जघन्य से उसका उत्कृष्ट अनन्तगुणा अधिक होता है।¹⁷⁶

द्रव्य वर्गणा का परिणाम

जैसे रूई, लकड़ी मिट्टी, पत्थर और लोहे को अमुक (निश्चित) परिमाण में लेने पर भी रूई से लकड़ी का, लकड़ी से मिट्टी, मिट्टी से पत्थर और पत्थर से लोहे का आकार क्रमशः छोटा होता जाता है। क्रम से आकार छोटा होने पर भी ये वस्तुएं उत्तरोत्तर ठोस और वजनी होती जाती हैं अर्थात् आगे-आगे की वर्गणाओं में प्रदेशों की संख्या बढ़ती जाती है, किंतु उनका आकार सूक्ष्म-सूक्ष्मतर होता जाता है।¹⁷⁷

वैसे ही औदारिक वर्गणा से वैक्रिय वर्गणा में अनंतगुणा परमाणु अधिक होते हैं। इस प्रकार आहारक, तैजस, भाषा, श्वासोच्छ्वास, मन और कर्मण वर्गणाओं में अनुक्रम से अनंत-अनंतगुणा परमाणु होते हैं। यह क्रम द्रव्य की अपेक्षा से है।¹⁷⁸ क्षेत्र की अपेक्षा से इसके विपरीत होता है।¹⁷⁹ कर्मण वर्गणा का अवगाहना क्षेत्र सबसे कम, उसकी अपेक्षा मन वर्गणा का अवगाहन क्षेत्र असंख्यात गुणा अर्थात् जितने आकाश प्रदेशों को एक कर्मण वर्गणा अवगाहित करके रहती है उससे असंख्यात गुणा आकाश प्रदेशों पर मन प्रयोग्य एक वर्गणा रहती है। इसी प्रकार मन से श्वासोच्छ्वास, इससे भाषा, इससे तैजस यावत् औदारिक वर्गणाओं का अवगाहन क्षेत्र असंख्यात-असंख्यात गुणा अधिक-अधिक है।¹⁸⁰

175. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 633-636

176. कर्मग्रन्थ भाग 5, पृ. 211

177. कर्मग्रन्थ भाग 5 पृ. 212

178. अह दव्य वगणाणं कमो - पंचसंग्रह (बंधकरण प्ररूपणा अधिकार) भाग 6, गाथा 15 पृ. 38

179. 'विकज्जासओ रिवत्ते' पंचसंग्रह, भाग 6, गाथा 15 पृ. 38

180. पंचसंग्रह, भाग 6, गाथा 15 पृ. 48

प्रश्न - अवधिज्ञानी मनोवर्गणाओं को जानते हैं तो क्या दूसरों के मन की बात को जान सकते हैं?

उत्तर - भगवती सूत्र शतक 5 उद्देशक 4 के अनुसार क्षेत्र से लोक का संख्यातवाँ भाग और काल से पल्योपम का संख्यातवाँ भाग जानने वाले अवधिज्ञानी को भी दूसरों के मन की बात जानने की लब्धि हो जाती है। उस मनोद्रव्य-वर्गणा की लब्धि से वे दूसरों के मन की बात जान लेते हैं। जो मन की बात को जाने, उसे मनोद्रव्य-वर्गणा-लब्धि कहते हैं और यह विशेष अवधिज्ञान वालों को ही होती है, मनोवर्गणा लब्धि मात्र मनुष्य और वैमानिक को ही होती है। देवों में तो सम्यग्दृष्टि वैमानिक के अतिरिक्त शेष को नहीं होती।

सागरोपम की स्थिति वाले असुर को मनोवर्गणा लब्धि नहीं होती है, क्योंकि प्रज्ञापनासूत्र के चौंतीसवें पद के अनुसार वे आहार के पुद्गलों को भी जान और देख नहीं सकते हैं तो मनोवर्गणा की लब्धि कैसे हो सकती है?

उपर्युक्त आठ वर्गणा ही जीव के ग्रहण करने योग्य होती है। कर्मग्रंथ भाग 5 में आठ प्रकार की वर्गणाओं का ही वर्णन मिलता है, लेकिन आवश्यकनिर्युक्ति¹⁸¹ और विशेषावश्यकभाष्य¹⁸² पंचसंग्रह¹⁸³ गोम्मटसार¹⁸⁴ में इन आठ वर्गणाओं से ऊपर की वर्गणाओं का भी उल्लेख प्राप्त होता है।

आवश्यकनिर्युक्ति के अनुसार ही विशेषावश्यकभाष्य में भी कर्मण वर्गणा की अग्रहण वर्गणा के ऊपर ध्रुव, अध्रुव, शून्य और अशून्य अनंती वर्गणाएं हैं। इसके बाद चार ध्रुवान्तर (प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ) और चार शरीर (तनु) वर्गणाएं (औदारिक, वैक्रिय, आहारक और तैजस) एवं इनके ऊपर मिश्रस्कन्ध वर्गणा और अचित्तमहास्कन्ध वर्गणा है। इस प्रकार जीव के अग्रहण योग्य 14 वर्गणाएं हैं। इस प्रकार कुल वर्गणाएं 22 (जीव के ग्रहण योग्य 8 और जीव के अग्रहण योग्य 14) होती हैं।

पंचसंग्रह के अनुसार - कर्मण वर्गणा के पश्चात् यथाक्रम से ध्रुवाचित्त, अध्रुवाचित्त, शून्य वर्गणा, प्रत्येकशरीर, ध्रुवशून्य, बादरनिगोद, ध्रुवशून्य, सूक्ष्मनिगोद, ध्रुवशून्य, महास्कन्धवर्गणा हैं। ये सभी वर्गणाएं अपने अपने सार्थक नाम वाली हैं। इस प्रकार पूर्व में औदारिक आदि आठ वर्गणाएं और ध्रुवाचित्त आदि दस वर्गणाएं इस प्रकार कुल अठारह वर्गणाओं का वर्णन पंचसंग्रह में मिलता है।¹⁸⁵

गोम्मटसार के अनुसार - गोम्मटसार में अणुवर्गणा, संख्याताणुवर्गणा, असंख्याताणुवर्गणा, अनंताणुवर्गणा, आहारवर्गणा, अग्राह्यवर्गणा, तैजसशरीरवर्गणा, अग्राह्यवर्गणा, भाषावर्गणा, अग्राह्यवर्गणा, मनोवर्गणा, अग्राह्यवर्गणा, कर्मणवर्गणा, ध्रुववर्गणा, सान्तरनिरन्तर वर्गणा, शून्यवर्गणा, प्रत्येकशरीर वर्गणा, ध्रुवशून्य वर्गणा, बादरनिगोद वर्गणा, शून्यवर्गणा, सूक्ष्मनिगोद वर्गणा, नभोवर्गणा, महास्कन्धवर्गणा। इन 23 प्रकार की वर्गणाओं का वर्णन गोम्मटसार में प्राप्त होता है।¹⁸⁶

गोम्मटसार में उपर्युक्त जो 23 प्रकार की वर्गणा बताई है उसमें औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस, भाषा, श्वासोच्छ्वास, मन और कर्मण इन आठ वर्गणाओं में से पाँच वर्गणाएं मानी ही हैं अर्थात् औदारिक, वैक्रिय और आहारक इन तीन वर्गणाओं के स्थान पर एक आहार वर्गणा ली गई है और श्वासोच्छ्वास वर्गणा को नहीं लिया गया है। इस प्रकार आठ की अपेक्षा पांच ही वर्गणा गिनी है। कर्मप्रकृति¹⁸⁷ में भी गोम्मटसार के अनुसार ही वर्णन मिलता है।

181. आवश्यकनिर्युक्ति गाथा 40

182. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 638-642

183. पंचसंग्रह (बंधकरण-प्ररूपणा अधिकार) भाग 6, गाथा 16

184. गोम्मटसार जीवकांड, गाथा 594

185. कम्मोवरि ध्रुवेय सुता पतेय सुत्र बादरगा। सुत्रा सुहुमे सुत्रा महक्खंधो सगुणनामाओ । - पंचसंग्रह, भाग 6, गाथा 16

186. गोम्मटसार (जीवकांड) भाग 2, गाथा 594 पृ. 822

187. कर्मप्रकृति बंधकरण 18-20

विशेषावश्यकभाष्य, कर्मग्रंथ में जो वर्गणा का स्वरूप मिलता है वही स्वरूप गोम्मटसार¹⁸⁸ में भी मिलता है। इस प्रकार संख्या में अंतर होने का कोई विशेष कारण नहीं है। नाम, भेद आदि से इस प्रकार की भिन्नता प्राप्त होती है।

विशेषावश्यकभाष्य के अनुसार ध्रुवादि वर्गणाओं का स्वरूप

(1) **ध्रुव वर्गणा** - ध्रुव वर्गणा का आशय है शाश्वत अर्थात् जो वर्गणाएं हमेशा लोक में विद्यमान रहे उसे ध्रुव वर्गणा कहते हैं। कार्मण शरीर के अग्रहण योग्य उत्कृष्ट वर्गणा के ऊपर एक परमाणु अधिक वाली वर्गणा जघन्य ध्रुव वर्गणा है। इस प्रकार एक-एक परमाणु बढ़ती हुई अति सूक्ष्म परिणाम वाली अनंत स्कंधात्मक उत्कृष्ट ध्रुव वर्गणा है। ध्रुव वर्गणा के अनंत भेद होते हैं।

ध्रुव वर्गणा से पहले कही हुई औदारिक आदि आठ वर्गणाओं को भी ध्रुव समझना चाहिए, क्योंकि वे वर्गणाएं भी हमेशा लोक में रहती हैं। ध्रुव वर्गणाओं को पंचसंग्रह में ध्रुवाचित्त कहते हैं। ध्रुव के साथ अचित्त विशेषण लगाने का कारण यह है कि जिन वर्गणाओं को जीव ग्रहण करता है, वे वर्गणा सचित्त कहलाती हैं, जैसे औदारिक आदि। जिन वर्गणाओं को जीव ग्रहण नहीं करता है अर्थात् जो जीव के साथ कभी संबंधित नहीं होती हैं, वे अचित्त वर्गणाएं होती हैं जैसे ध्रुवादि। ध्रुव वर्गणा और इसके बाद कही जाने वाली अध्रुवादि वर्गणाएं बहुत द्रव्य से बनी हुई और अति सूक्ष्म परिणाम वाली होने से किसी भी जीव के औदारिक आदि भाव से ग्रहण करने योग्य नहीं होती है।

(2) **अध्रुव वर्गणा** - जो वर्गणाएं तथाविध पुद्गल परिणाम की विचित्रता से कभी लोक में होती हैं और कभी नहीं होती हैं, वे अध्रुव वर्गणा है। उत्कृष्ट ध्रुव वर्गणा से एक परमाणु अधिक वाली जघन्य अध्रुव वर्गणा होती है। इसमें एक एक परमाणु वृद्धि से अन्त में उत्कृष्ट अध्रुव वर्गणाएं होती हैं। अध्रुव वर्गणा को सांतर-निरंतर वर्गणा भी कहते हैं।

(3) **शून्यांतर वर्गणा** - सामान्यतया जिन वर्गणाओं में एक-एक प्रदेश की वृद्धि कभी होती है कभी नहीं होती है अर्थात् ये निरंतर एक-एक प्रदेश की वृद्धि वाली नहीं होती है, वे शून्यांतर वर्गणा कहलाती है। उत्कृष्ट अध्रुव वर्गणा से एक परमाणु अधिक स्कंध की जघन्य शून्य वर्गणा होती है, इस प्रकार एक, दो, तीन यावत् परमाणु स्कंध के बढ़ने से उत्कृष्ट शून्य वर्गणा होती है।

(4) **अशून्यांतर वर्गणा** - जो वर्गणाएं लोक में निरंतर एक-एक प्रदेश की वृद्धि से बढ़ती है। यह वृद्धि बीच में नहीं रूकती है, वे अशून्यांतर वर्गणा कहलाती हैं। शून्यांतर वर्गणा से एक परमाणु अधिक की जघन्य अशून्य वर्गणा होती है इसमें एक एक परमाणु स्कंध की वृद्धि होते होते अंत में जो प्राप्त होती है वह उत्कृष्ट अशून्यांतर वर्गणा होती है।

(5-8) **ध्रुवानन्तर** - अशून्यांतर वर्गणाओं के पश्चात् चार ध्रुवानन्तर वर्गणाएं होती हैं जो हमेशा रहने वाली और निरंतर एकोत्तर वृद्धि वाली होती है। इनका परिणामन अत्यंत सूक्ष्म होता है और ये प्रचुर (बहुत) द्रव्यों से उपचित (बनी हुई) है, अतः पूर्व में वर्णित ध्रुववर्गणाओं से भिन्न है।

प्रश्न - यहाँ पर चार ध्रुवानन्तर वर्गणा केवल एकोत्तर वृद्धि वाली है तो इसके चार भेद नहीं करके एक ही भेद कर देना चाहिए था ?

उत्तर- चार वर्गणाओं में निरंतर एकोत्तर वृद्धि होती है और अंतराल में वह वृद्धि टूट (रूक) जाती है जिससे मिश्र वर्गणा शुरू होती है अथवा वृद्धि नहीं भी टूटे तो भी वर्णादिक परिणाम की विचित्रता से भी भिन्नता हो जाती है।

(8-12) तनु (शरीर) की चार वर्गणाएं - जो वर्गणाएं भेद और संघात (अभेद) के परिणमन के द्वारा औदारिक आदि चार शरीरों की योग्यता के सन्मुख होने से इनको शरीर वर्गणा कहते हैं अथवा मिश्र स्कंध और अचित्त स्कंध के देह-उपचय की योग्यता के अभिमुख जो वर्गणाएं हैं, वे तनु वर्गणाएं हैं। चार ध्रुवानन्तर वर्गणाओं के बाद एक-एक परमाणु की वृद्धि युक्त अनंत वर्गणात्मक चार तनु (शरीर) वर्गणा है।

13. मिश्रस्कंध वर्गणा - जो अनंतानंत परमाणु से बने हुए सूक्ष्म परिणाम वाले और अनेक बादर परिणमन के सन्मुख हुए स्कंध, मिश्रस्कंध कहलाते हैं।¹⁸⁹

14. अचित्तमहास्कंध - अचित्तमहास्कंध अपनी स्वाभाविक परिणति से केवली समुद्घात के समान चार समय में सम्पूर्ण लोक पूरित करता है तथा पुनः इस अचित्त महास्कंध को बिखरने में चार समय लगते हैं। अचित्तमहास्कंध समुद्र-ज्वार की तरह लोक को आपूरित करता है और फिर संकुचित हो जाता है। इस प्रकार अचित्त महास्कंध में आठ समय लगते हैं। वह अचित्तमहास्कंध लोकप्रमाण और स्वाभाविक परिणमन से होता है। तिरछे लोक में यह असंख्यात योजन प्रमाण अथवा संख्यात योजन प्रमाण में वृत्ताकार होता है। इसके होने का काल नियत नहीं है।

प्रश्न - यहाँ पुद्गलों का वर्णन चल रहा था और पुद्गल तो अचित्त ही होते हैं इसलिए महास्कंध कहना चाहिए था, न कि अचित्त महास्कंध?

उत्तर - यदि यहाँ महास्कंध कहते तो केवली समुद्घात में जीवाधिष्ठित अनंतानंत कर्म पुद्गलमय स्कंध होते हैं। उनका भी ग्रहण होता है, क्योंकि दोनों महास्कंधों में क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से समानता है। इसलिए अचित्त विशेषण देकर पुद्गलों के महास्कंध को भिन्न किया है, क्योंकि केवली समुद्घात गत कर्म पुद्गल महास्कंध जीवाधिष्ठित होने से सचित्त हैं।¹⁹⁰

अचित्तमहास्कंध और सचित्तमहास्कंध दोनों का क्षेत्र सम्पूर्ण लोकाकाश है। चतुर्थ समय में ये पूरे लोक में व्याप्त हो जाते हैं। दोनों का स्थितिकाल आठ समय का है। दोनों में पांच वर्ण, दो गंध, पांच रस और चार स्पर्श (शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष) होते हैं।¹⁹¹

मतान्तर - किन्हीं आचार्यों का मत है कि उपर्युक्त अचित्त महास्कंध सर्व से उत्कृष्ट प्रदेशों से बना है कारण कि औदारिक आदि सभी वर्गणाओं का कथन करने के बाद इस महास्कंध का कथन किया है। इससे सिद्ध होता है कि यह महास्कंध सर्वोत्कृष्ट प्रदेश वाला है।

ऐसा एकान्त मानना सही नहीं है, क्योंकि प्रज्ञापना में उत्कृष्ट प्रदेशी स्कन्धों को अवगाहना और स्थिति की अपेक्षा से चतुःस्थान पतित बताया है। प्रज्ञापनासूत्र में उत्कृष्ट स्कन्ध को अष्टस्पर्शी और अचित्तमहास्कन्ध को चतुःस्पर्शी कहा गया है अर्थात् एक उत्कृष्ट प्रदेशी स्कंध दूसरे उत्कृष्ट प्रदेशी स्कंध से भी चतुःस्थान पतित होता है। अष्टस्पर्शी स्कंध अचित्त महास्कंध नहीं होते हैं। इससे ज्ञात होता है कि पुद्गलास्तिकाय इतना ही नहीं है। पुद्गल के अन्य भेद भी हैं, जो यहाँ संगृहीत नहीं है।

प्रश्न - भगवन्! उत्कृष्ट प्रदेशी स्कंधों के कितने पर्याय कहे गए हैं?

उत्तर - गौतम! (उनमें) अनंत पर्याय कहे हैं।

प्रश्न-भगवन्! किस अपेक्षा से आप ऐसा कहते हैं कि उत्कृष्ट प्रदेशी स्कंधों के अनंत पर्याय हैं?

उत्तर - गौतम! उत्कृष्ट प्रदेशी स्कंध, दूसरे उत्कृष्ट प्रदेशी स्कंध से द्रव्य की अपेक्षा से तुल्य हैं,

प्रदेश की अपेक्षा से भी तुल्य हैं, अवगाहना की अपेक्षा से चतुःस्थान पतित हैं, स्थिति की अपेक्षा से भी चतुःस्थान पतित हैं किंतु वर्णादि तथा आठ स्पर्शों के पर्यायों की अपेक्षा से षट्स्थानपतित हैं।¹⁹²

पंचसंग्रह के अनुसार वर्गणाओं का विवेचन

1-2. ध्रुवाचित और अध्रुवाचित वर्गणाओं का स्वरूप विशेषावश्यकभाष्य के अनुसार ही है।

3,5,7,9. ध्रुवशून्य वर्गणा - ये पहली, दूसरी, तीसरी और चौथी ध्रुववर्गणा है। जो वर्गणा लोक में हमेशा रहने वाली और निरंतर एकोत्तर वृद्धि वाली होती है। प्रथम ध्रुवशून्य वर्गणा अनन्ती है। इसी प्रकार से दूसरी, तीसरी और चौथी वर्गणाएं भी अनन्ती हैं। पहले जो ध्रुव वर्गणाएं कही हैं उनसे यह भिन्न हैं, क्योंकि ये वर्गणाएं ऊपर कही हुई ध्रुव वर्गणा से अतिसूक्ष्म परिणामवाली और बहुत द्रव्यों से बनी हुई है। लेकिन पहली ध्रुव शून्य वर्गणा के बाद पंचसंग्रह में (4) प्रत्येकशरीरी बादर वर्गणा, (5) दूसरी ध्रुवशून्य वर्गणा (6) बादरनिगोद वर्गणा (7) तीसरी ध्रुव शून्यांतर वर्गणा (8) सूक्ष्मनिगोद वर्गणा (9) चौथी ध्रुवशून्यांतर वर्गणा (10) महास्कंध वर्गणा का वर्णन प्राप्त होता है। यहाँ पहले विवेचित वर्गणाओं से भिन्न का ही विवेचन किया जा रहा है।

4. प्रत्येकशरीरी वर्गणा - प्रत्येक नामकर्म के उदय वाले जीवों के यथासंभव सत्ता में रहे हुए औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस और कार्मण नामकर्म के पुद्गलों का अवलंबन लेकर सर्वजीवों के अनंतगुण परमाणु वाली जो वर्गणाएं होती हैं उनको प्रत्येकशरीरी वर्गणा कहते हैं। उत्कृष्ट ध्रुवशून्य वर्गणा से एक अधिक परमाणु वाली पहली जघन्य प्रत्येकशरीरी वर्गणा है। इस प्रकार एक परमाणु की वृद्धि वहाँ तक कहना चाहिए जहाँ तक उत्कृष्ट प्रत्येकशरीरी वर्गणा प्राप्त न हो जाए। इन वर्गणाओं को जीव किसी कर्म के उदय से ग्रहण नहीं करता है, किंतु विस्त्रसा परिणाम से ही औदारिक आदि पांच शरीरी नामकर्म के पुद्गलों का अवलंबन लेकर रही हुई है।¹⁹³

विशेषावश्यकभाष्य में वर्णित तीसरी शून्यांतर वर्गणा, चौथी अशून्यांतर वर्गणा और तेरहवीं मिश्र स्कंध वर्गणा का यहाँ ग्रहण नहीं किया है। भाष्य की दूसरी अध्रुव वर्गणा के बाद पांच से आठ ध्रुवानंतर वर्गणा का पंचसंग्रह में ग्रहण किया है।

6. बादरनिगोद वर्गणा - साधारण नामकर्म के उदय वाले बादर एकेन्द्रिय जीवों के सत्ता में रहे हुए औदारिक, तैजस और कार्मण नामकर्म के पुद्गल परमाणुओं के विस्त्रसा परिणाम द्वारा अवलंबन लेकर सर्वजीवों की अपेक्षा अनंतगुण परमाणु वाली जो वर्गणाएं रही हुई हैं, उनको बादर निगोद वर्गणा कहते हैं। उत्कृष्ट ध्रुव शून्य वर्गणा से एक अधिक परमाणु के स्कंध रूप जघन्य एक वृद्धि से यावत् उत्कृष्ट बादरनिगोद वर्गणा होती है।¹⁹⁴

8. सूक्ष्मनिगोद वर्गणा - उत्कृष्ट ध्रुवशून्य वर्गणा से एक अधिक परमाणु के स्कंध रूप जघन्य से उत्कृष्ट सूक्ष्म निगोद वर्गणा होती है। इस वर्गणा का स्वरूप सामान्यतः बादर निगोद वर्गणा के अनुरूप समझना चाहिए।

10. महास्कंध वर्गणा - जो वर्गणाएं विस्त्रसा परिणाम से टंक, शिखर और पर्वतादि बड़े-बड़े स्कंधों का आश्रय लेकर रही हुई है, उन्हें महास्कंध वर्गणा कहते हैं। उत्कृष्ट ध्रुव शून्यवर्गणा से एक अधिक परमाणु वाली जघन्य अचित महास्कंध वर्गणा होती है। एक-एक वृद्धि से यावत् उत्कृष्ट महास्कंध वर्गणा होती है।¹⁹⁵

192. उक्कोसपए सियाण भंते! खंधाणं पुच्छ। गोयमा! अणंता! से केणट्ठेणं? गोयमा! उक्कोसपएसिए खंधे उक्कोसपएसियस्स खंधस्स दव्वट्ठयाए तुल्ले, पएसट्ठयाए तुल्ले, ओगाहणट्ठयाए चउट्ठाणवडिते, ठितीए चउट्ठाणवडिते वण्णादि अट्ठाफासपज्जवेहिं य धट्ठाणवडिते।
- युवाचार्य मधुकरमुनि, प्रज्ञापनासूत्र, भाग 1, पद 5, पृ. 435

193. पंचसंग्रह, (बंधनकरण प्ररूपणा अधिकार) भाग-6, पृ. 53-54

194. पंचसंग्रह, पृ. 54-55

195. पंचसंग्रह, पृ. 57

इस प्रकार पंच संग्रह के अनुसार आठ जीवग्राही वर्गणा और दस पौद्गलिक, कुल 18 वर्गणाओं का वर्णन हुआ है।

द्रव्य वर्गणा के बयालीस प्रकार

किन्हीं-किन्हीं ग्रन्थों में 42 वर्गणाओं का उल्लेख भी प्राप्त होता है, जिसकी संगति निम्न तीन प्रकार से बिठा सकते हैं।

(1) औदारिक आदि आठ वर्गणाओं की अग्राह्य और ग्राह्य ये वर्गणाएं सोलह वर्गणाएं ($8 \times 2 = 16$) है। इन सोलह वर्गणाओं की जघन्य और उत्कृष्ट के भेद से ($16 \times 2 = 32$) बत्तीस वर्गणाएं होती हैं और इन बत्तीस वर्गणाओं में ध्रुव से अचित्त महास्कंध (पंचसंग्रह) ये दस (1-10) वर्गणा और मिलाने पर कुल बयालीस (42) वर्गणाएं होती है।

(2) 1. एक परमाणु की एक वर्गणा से लेकर यावत् दस परमाणु की दसवीं वर्गणा, संख्यात वर्गणा असंख्यात वर्गणा और अनंत वर्गणा, इस प्रकार कुल तेरह वर्गणाएं हुई। 2. औदारिक आदि आठ की ग्राह्य और अग्राह्य वर्गणा कुल सोलह ($8 \times 2 = 16$) वर्गणाएं। 3. पंचसंग्रह वाली दस वर्गणाएं। 4. अचित्त महास्कंध की खंडित (दूसरे, तीसरे समय में) और अखण्डित (चौथे समय में) ये दो वर्गणाएं। 5. सांतर-निरंतर वर्गणा (अध्रुवाचित्त वर्गणा में) यह एक वर्गणा। इस प्रकार इन सब को जोड़ने पर बयालीस ($13 + 16 + 10 + 2 + 1 = 42$) वर्गणाएं होती हैं। लेकिन यहाँ अचित्त महास्कंध के दो भेद मानने होंगे तीन नहीं।

(3) हरिभद्रावश्यक और मलयगिरि आवश्यकवृत्ति के अनुसार - (1) एक परमाणु से सूक्ष्म अनंत प्रदेशी (2-4) औदारिक की अग्राह्य, ग्राह्य, अग्राह्य, (5-7) वैकिय की अग्राह्य, ग्राह्य, अग्राह्य, (8-10) आहारक की अग्राह्य, ग्राह्य, अग्राह्य, (11-13) तैजस की अग्राह्य, ग्राह्य, अग्राह्य, (14-16) भाषा की अग्राह्य, ग्राह्य, अग्राह्य, (17-19) श्वासोच्छ्वास की अग्राह्य, ग्राह्य, अग्राह्य, (20-22) मन की अग्राह्य, ग्राह्य, अग्राह्य (23-25) कर्मण की अग्राह्य, ग्राह्य, अग्राह्य, (26) अन्तर्ध्रुव (27) अनंत अध्रुव (28) शून्यान्तर (29) अशून्यान्तर (30) ध्रुवान्तर (31) अंतराल (32) ध्रुवान्तर (33) अंतराल (34) ध्रुवान्तर (35) अन्तराल (36) ध्रुवान्तर (37-40) तनुवर्गणा (41) मिश्रस्कन्ध (42) अचित्तमहास्कंध।

द्रव्य वर्गणा का स्वरूप पूर्ण हुआ अब क्रमशः क्षेत्रादि वर्गणाओं का वर्णन करते हैं।

क्षेत्र वर्गणा

क्षेत्र वर्गणा का आधार आकाश प्रदेश है। एक परमाणु से लेकर अनंत प्रदेशी स्कंध जो एक आकाश प्रदेश को अवगाहित करके रहता है, उन सभी की एक वर्गणा, द्वयणुक आदि से अनन्ताणु पर्यंत के दो प्रदेश अवगाही रहे हुए स्कंधों की दूसरी वर्गणा, इसी प्रकार एक एक प्रदेश की वृद्धि से संख्यात प्रदेश में अवगाही रहे हुए स्कंधों की संख्यात वर्गणा होती है, ये सभी क्षेत्र वर्गणा के अन्तर्गत आती हैं।

असंख्यात प्रदेशावगाही स्कंधों की असंख्यात वर्गणाएं जीव के द्वारा कर्मवर्गणा के रूप में ग्रहण करने योग्य होती हैं। क्योंकि वह थोड़े परमाणुओं से बनी, स्थूल परिमाण वाली और बहुत आकाश प्रदेश को अवगाहन करके रहती है। फिर एक-एक आकाश प्रदेश की वृद्धि होने पर उनमें अवगाढ़ वर्गणाएं कर्म के अग्रहण योग्य हो जाती हैं। कर्म के अग्रहण योग्य असंख्य वर्गणाएं हैं। उसके बाद इसी प्रमाण से एक-एक आकाश प्रदेश अवगाही वृद्धि से बढ़ती हुई मन के अग्रहण योग्य भी असंख्य वर्गणाएं हैं। इनके बाद असंख्य वर्गणाएं मन के ग्रहण योग्य होती हैं और इतनी ही वापस

मन से अग्रहण योग्य वर्गणाएं होती हैं। इसी प्रकार श्वासोच्छ्वास (आनापान)-भाषा-तैजस-आहारक-वैक्रिय और औदारिक वर्गणाओं के अग्रहण योग्य और ग्रहण योग्य फिर अग्रहण योग्य इस प्रकार प्रत्येक की तीन-तीन भेद (द्रव्य वर्गणा से विपरीत क्रम) होने से क्षेत्र से जानी जाती हैं।¹⁹⁶

काल वर्गणा

इसमें वर्गणा का कथन काल के आधार पर किया जाता है। एक समय से लेकर असंख्यात समय के आधार पर इनका उल्लेख किया जाता है। किसी विवक्षित परिमाण से सामान्यपने से उन परमाणुओं अथवा स्कंध जिनकी एक समय की स्थिति है, को एक वर्गणा रूप जानना। इसी प्रकार एक-एक समय की वृद्धि से संख्यात स्थिति वाले परमाणु आदि की संख्यात वर्गणाएं और असंख्य समय की स्थिति वाले परमाणु आदि की असंख्यात वर्गणाएं हैं। इस प्रकार इन वर्गणाओं से सम्पूर्ण पुद्गलास्तिकाय का ग्रहण होता है, क्योंकि एक समय से लेकर असंख्यात समय की स्थिति से ज्यादा पुद्गलों की स्थिति नहीं होती है।¹⁹⁷

भाव वर्गणा

वर्ण, गंध, रस एवं स्पर्श की पर्याय के आधार पर भाव वर्गणा को समझाया जाता है। एक गुण कृष्ण वर्ण वाला परमाणु होता है, वह एक वर्गणा, द्विगुण कृष्ण वर्णवाला परमाणु आदि दूसरी वर्गणा इस प्रकार एक-एक गुण वृद्धि से संख्यात कृष्ण वर्गणा वाले परमाणु आदि की संख्यात वर्गणा, इसी प्रकार असंख्यात कृष्ण वर्गणा वाले परमाणु की असंख्यात वर्गणा और अनंत कृष्ण वर्गणा वाले परमाणु की अनंत वर्गणा होती है। इस प्रकार शेष चार वर्ण, दो गंध, पांच रस और आठ स्पर्श इस प्रकार कुल 20 वर्णादि के प्रत्येक भेद की ऊपर कहे अनुसार एक गुण की एक, संख्यात गुण की संख्यात, असंख्यात गुण की असंख्यात और अनंत गुण की अनंती वर्गणाएं होती हैं। इस प्रकार संक्षिप्त रूप में भाव वर्गणा बीस प्रकार की होती है-पांच वर्ण, दो गंध, पांच रस और आठ स्पर्श। इनमें से प्रत्येक की एक गुण वाले द्रव्य की एक वर्गणा यावत् अनन्त गुण वाले द्रव्यों की अनन्त वर्गणाएं हैं।

गुरुलघुपर्याय वाले स्थूलपरिणामी द्रव्यों की एक वर्गणा है। अगुरुलघुपर्याय वाले सूक्ष्म परिणामी द्रव्यों की एक वर्गणा है। इस प्रकार भाव वर्गणाओं के इन दो वर्गों में सम्पूर्ण पुद्गलास्तिकाय का समावेश हो जाता है, क्योंकि उपर्युक्त वर्णादि भाव के सिवाय अन्यत्र पुद्गलों का सद्भाव नहीं होता है।¹⁹⁸

इस प्रकार अवधिज्ञानी कौन से रूपी द्रव्यों को जानता है, इसका स्वरूप बताने के लिए वर्गणाओं के स्वरूप का वर्णन किया गया है।

व्यवहार और निश्चय नय से गुरुलघु-अगुरुलघु द्रव्य

जो द्रव्य ऊंचा और तिर्यक् फैला होता है, लेकिन स्वभाव से ही नीचे गिरता है वह गुरु द्रव्य है- जैसे मिट्टी का लोंदा (ढेला)। जो द्रव्य स्वभाव से ही ऊर्ध्व गति करने वाला होता है वह लघु द्रव्य होता है, जैसे दीपक की लौ। जो द्रव्य ऊंची अथवा नीची गति करता है वह गुरुलघु द्रव्य है, जैसे वायु आदि। जो द्रव्य स्वभाव से ही ऊंची, नीची, तिर्यक् दिशा में गति नहीं करता है अथवा जो सर्वत्र गति करने वाला होता है उसे अगुरुलघु द्रव्य कहते हैं, जैसे आकाश और परमाणु आदि। यह उल्लेख व्यवहार नय के अनुसार किया जाता है।¹⁹⁹

निश्चयनय के अनुसार एकांत रूप से न तो कोई गुरु द्रव्य होता है और न ही कोई लघु द्रव्य होता है। जैसे कि व्यवहार नय से मिट्टी के ढेले को गुरु द्रव्य कहा है, लेकिन पर प्रयोग से उसकी

196. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 647-649

197. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 650

198. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 651-653

199. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 659

ऊर्ध्वगति भी होती है इसलिए वह एकांत रूप से गुरु द्रव्य नहीं है। इसी प्रकार व्यवहार नय से दीपक की लौ को लघु द्रव्य कहा है, लेकिन हस्तादि से दबाने पर लौ की अधोगति भी होती है इसलिए एकांत लघु द्रव्य भी नहीं है। परंतु निश्चय नय से लोक में औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस वर्गणा और पृथ्वी, पर्वतादि अथवा जो स्थूल वस्तु है वे सभी गुरुलघु द्रव्य हैं और शेष भाषा, मन, श्वासोच्छ्वास, कर्मण आदि परमाणु, द्व्यणुक और आकाश आदि सभी वस्तुएं अगुरुलघु हैं।²⁰⁰ आगम में भी ये दो ही द्रव्य स्वीकार किये गए हैं, जैसेकि भगवतीसूत्र श. 12 उ. 5 में बादर को गुरुलघु और सूक्ष्म पुद्गल स्कंध तथा अरूपी द्रव्यों को अगुरुलघु बताया है।

देशावधि, परमावधि और सर्वावधि का स्वरूप

षट्खण्डागम में अवधि के देशावधि, परमावधि और सर्वावधि ये तीन भेद किये हैं। इसका समर्थन अकलंक, विद्यानंद आदि आचार्यों ने भी किया है।²⁰¹ अकलंक ने स्पष्ट रूप से कहा है कि देशावधि, परमावधि के जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट ये तीन-तीन भेद होते हैं, जबकि सर्वावधि में भेद नहीं होता है।²⁰² धवलाटीका में भी ऐसा ही उल्लेख प्राप्त होता है।²⁰³ सर्वावधि का भेद नहीं होने से यह कह सकते हैं कि परमावधि का उत्कृष्ट (चरम सीमा) विषय प्राप्त होने के बाद अगले समय में ही अमुक मात्रा में उसका विषय बढ़ता है और सर्वावधि ज्ञान प्राप्त होता है, जिसमें किसी भी प्रकार की वृद्धि और हानि नहीं होती है अर्थात् अवस्थित रहता है। अकलंक देशावधि और परमावधि को एक ही मानकर अन्त में देशावधि और सर्वावधि ऐसे दो भेद स्वीकार करते हैं।²⁰⁴ इनका स्वरूप निम्न प्रकार से है –

देशावधि

धवलाटीका के अनुसार 'देश' का अर्थ सम्यक्त्व (संयम का अवयव) है। अतः सम्यक्त्व जिस अवधि की मर्यादा है, वह देशावधि है।²⁰⁵ अकलंक के अनुसार तिर्यचों में देशावधि ही होता है।²⁰⁶ वैसे चारों गतियों में देशावधि होता है, लेकिन यहाँ उल्लेख तिर्यच और मनुष्य गति की अपेक्षा से किया गया है। मनुष्य में तीनों प्रकार का अवधि होता है, इसलिए अकलंक ने मनुष्य गति का भी कथन नहीं किया है। **श्वेताम्बर परम्परा** में पन्नवणा के 33वें पद में परम-अवधि को सर्व-अवधि और इससे नीचे की अवधि को देशावधि कहा है। मनुष्य में देश अवधि और सर्व अवधि दोनों हो सकते हैं। तिर्यच, देव और नरक में मात्र देशावधि ही होता है।

देशावधि के भेद

देशावधि के जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट ये तीन भेद होते हैं।

1. जघन्य देशावधि में उत्सेधांगुल से असंख्येय भाग क्षेत्र को जानने वाला अर्थात् पहले जो अवधि का जघन्य प्रमाण बताया वही जघन्य देशावधि का प्रमाण है। यह मनुष्य और तिर्यच में ही होता है।

200. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 659-667

201. तत्त्वार्थराजवार्तिक 1.22.5 पृ. 56, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक 1.22.10 से 17

202. तत्र देशावधिस्त्रेधा जघन्य-उत्कृष्टः अजघन्योत्कृष्टश्चेति। तथा परमावधिरपि त्रिधा। सर्वावधिरविकल्पत्वादेक एव।

– तत्त्वार्थराजवार्तिक 1.22.5, पृ. 56

203. षट्खण्डागम, पु. 9, सूत्र 4.1.2,3,4 पृ. 14, 42, 48

204. तत्त्वार्थराजवार्तिक 1.22.5 पृ. 57

205. देसं सम्मत्तं, संजमस्स अवयवभावादो, तमोही मज्जाया जस्स णाणस्स तं देसोहिणाणं।-षट्खण्डागम, पु. 13, सू. 5.5.59 पृ. 323

206. तिरश्चां तु देशावधिरेव न परमावधिर्नापि सर्वावधिः। – तत्त्वार्थराजवार्तिक 1.22.5 पृ. 57

2. उत्कृष्ट देशावधि में संपूर्ण लोक को जानने वाला अर्थात् तिर्यच और मनुष्य के उत्कृष्ट देशावधि का प्रमाण क्षेत्र की अपेक्षा से असंख्य द्वीप समुद्र और काल की अपेक्षा से असंख्यात वर्ष है। द्रव्य की अपेक्षा तिर्यच का अवधि प्रमाण असंख्यात तैजसशरीर द्रव्य वर्गणा है और मनुष्य का अवधि प्रमाण असंख्यात कार्मण द्रव्य वर्गणा है।²⁰⁷ तिर्यचों का उत्कृष्ट अवधि का प्रमाण देशावधि के उत्कृष्ट प्रमाण से कम होता है। यह ऊपर के कथन से स्पष्ट होता है।

3. अजघन्योत्कृष्ट (मध्यम) देशावधि में जघन्य और उत्कृष्ट के बीच में रहे हुए असंख्यात विकल्पों को जानना सम्मिलित है।²⁰⁸

परमावधि

धवलाटीका के अनुसार परम के दो अर्थ होते हैं - 1. असंख्यात लोक मात्र संयम विकल्प और 2. श्रेष्ठ। इस प्रकार परमावधि की दो परिभाषाएं प्राप्त होती हैं - 1. जिसकी मर्यादा असंख्यात लोक मात्र संयम के विकल्प है, वह परमावधि है। अथवा 2. जो ज्येष्ठ है अर्थात् जिसका विषय देशावधि की अपेक्षा बड़ा है, वह परमावधि है। जिस प्रकार मनःपर्यायज्ञान संयत मनुष्यों को ही प्राप्त होता है, वैसे ही परमावधि भी संयत मनुष्यों को ही होता है तथा परमावधि जिस भव में उत्पन्न होता है, उस भव में केवलज्ञान की उत्पत्ति का कारण होता है और वह अप्रतिपाति होता है।²⁰⁹ इसी प्रकार परमावधि वर्धमान, अवस्थित, अनवस्थित (वृद्धि सहित), अनुगामी, अननुगामी भी होता है।²¹⁰

परमावधि के भेद

देशावधि की तरह परमावधि के भी जघन्य, उत्कृष्ट और मध्यम रूप से तीन भेद होते हैं -

1. जघन्य परमावधि का क्षेत्र एकप्रदेश अधिक लोकप्रमाण, काल की अपेक्षा असंख्यात वर्ष और द्रव्य की अपेक्षा प्रदेशाधिक लोकाकाश प्रमाण और भाव अनन्तादि विकल्पवाला होता है।²¹¹

2. उत्कृष्ट परमावधि - आवश्यकनिर्युक्ति के अनुसार परमावधि का उत्कृष्ट क्षेत्र सभी अग्निकाय जीवों के तुल्य लोकालोक प्रमाण असंख्य लोक है। काल असंख्यात समय है और द्रव्य रूपी द्रव्य है।²¹² इस प्रमाण का उल्लेख षट्खण्डागम²¹³ और तत्त्वार्थराजवार्तिक²¹⁴ में भी है। इस प्रकार श्वेताम्बर (निर्युक्ति) और दिगम्बर (षट्खण्डागम) परम्परा में परमावधि का प्रमाण समान निरूपित है। लेकिन निर्युक्तिकार के अनुसार यही अवधिज्ञान की चरम सीमा है। जबकि षट्खण्डागम के अनुसार परमावधि के बाद अवधिज्ञान की सवोत्कृष्ट सीमा के रूप में सर्वावधि होता है।

3. अजघन्योत्कृष्ट (मध्यम) परमावधि वह है, जो जघन्य और उत्कृष्ट के बीच में रहे हुए क्षेत्र को जानता है।²¹⁵

207. तत्त्वार्थराजवार्तिक 1.22.5 पृ. 57

208. तत्र देशावधिस्त्रेधा जघन्य-उत्कृष्टः अजघन्योत्कृष्टश्चेति। तथा परमावधिरपि त्रिधा सर्वावधिरविकल्पत्वादेक एव। उत्सेधांगुलासंख्येयभागक्षेत्रो देशावधिर्जघन्यः। उत्कृष्टः कृत्स्नलोकः। तयोरंतराले संख्येय विकल्पः, अजघन्योत्कृष्टः।

- तत्त्वार्थराजवार्तिक सूत्र 1.22.5 पृ. 56

209. षट्खण्डागम, पु. 9, सूत्र 4.1.3 पृ. 41 एवं पु.13, सूत्र 5.5.59, पृ. 323

210. तत्त्वार्थराजवार्तिक 1.22.5 पृ.57

211. तत्त्वार्थराजवार्तिक 1.22.5 पृ.57

212. आवश्यकनिर्युक्ति गाथा 44, विशेषावश्यकभाष्य गाथा 631

213. षट्खण्डागम, पु. 13, सूत्र 5.5.59 गाथा 15 पृ. 323

214. उत्कृष्टपरमावधेः क्षेत्रं सलोकालोकप्रमाणा असंख्येया लोकाः। - तत्त्वार्थराजवार्तिक सूत्र 1.22.5 पृ. 57

215. परमावधिर्जघन्यः एकप्रदेशाधिकलोकक्षेत्रः। उत्कृष्टोऽसंख्येयलोकक्षेत्रः। अजघन्योत्कृष्टो मध्यमक्षेत्रः।

- तत्त्वार्थराजवार्तिक सूत्र 1.22.5 पृ.56

उत्कृष्ट देशावधि और परमावधि में अन्तर

उत्कृष्ट अवधि में द्रव्यादि चारों तुल्य हैं। परमावधि में उत्कृष्ट क्षेत्र तो होता ही है तथा अन्य द्रव्यादि उत्कृष्ट आगमकारों को जैसे इष्ट हो वैसे मान लेना चाहिए। इस अपेक्षा से उत्कृष्ट देशावधि और परमावधि एकार्थक भी हो सकते हैं अथवा क्षेत्र की पराकाष्ठा होते ही परमावधि कह दिया जाता है, लेकिन उसमें द्रव्य-पर्याय आदि की पराकाष्ठा नहीं होती। जबकि उत्कृष्ट देशावधि में द्रव्यादि चारों उत्कृष्ट होते हैं। सर्वप्रथम काल की पराकाष्ठा होती है, फिर क्षेत्र की पराकाष्ठा, फिर द्रव्यों की और अन्त में पर्यायों की पराकाष्ठा होती है।

प्रश्न - क्या परमावधि में चारों की पराकाष्ठा इष्ट न हो तो भी अन्तर्मुहूर्त में केवलज्ञान हो सकता है? **उत्तर** - परमावधि के बिना भी कषायों का क्षय होने से अन्य कर्म क्षय होकर केवलज्ञान हो जाता है।

प्रश्न - कौन-से अवधिज्ञानी परमाणु को जानते हैं? **उत्तर** - संपूर्ण लोक को जानने वाले अवधिज्ञानी तो स्कंधों को ही जानते हैं, आगे (अलोक में) ज्यों-ज्यों अवधिज्ञान की शक्ति बढ़ती है, त्यों-त्यों वे सूक्ष्मतर स्कंधों को जानते हैं, यावत् परम अवधिज्ञानी परमाणु को भी जानते हैं।

सर्वावधि

धवलाटीका के अनुसार सर्व अवधि (मर्यादा) जिस ज्ञान की होती है वह सर्वावधिज्ञान है। सर्व के तीन अर्थ हैं - 1. सर्व का एक अर्थ केवलज्ञान है, जो मुख्य अर्थ है और केवलज्ञान का विषय औपचारिक अर्थ है अर्थात् केवलज्ञान का विषय जो-जो अर्थ होता है वह भी उपचार से सर्व कहलाता है।²¹⁶

2. सभी (सर्व) का अर्थ सकल द्रव्य नहीं कर सकते हैं, क्योंकि जिससे परे कोई द्रव्य न हो उसके अवधि नहीं होता है, इसलिए सर्व शब्द का अर्थ सभी रूपी द्रव्यों में जिसकी अवधि (मर्यादा) है, वह सर्वावधि है।

3. आकुंचन, प्रसारण आदि को प्राप्त हो वह पुद्गल द्रव्य सर्व है, वही जिसकी मर्यादा है वह सर्वावधि है।²¹⁷

देशावधि और परमावधि की तरह सर्वावधि का अवान्तर भेद नहीं होता है अर्थात् वह उत्कृष्ट परमावधि के क्षेत्र से बाहर असंख्यात लोक क्षेत्रों को जानने वाला है। इसके जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट कोई विकल्प नहीं होते हैं।²¹⁸

अकलंक ने सर्वावधि का प्रमाण उत्कृष्ट परमावधि से असंख्यात गुणा अधिक माना है। काल, क्षेत्र, द्रव्य और भाव के संदर्भ में भी ऐसा ही जानना चाहिए।²¹⁹

अकलंक के अनुसार परमावधि सर्वावधि से द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की दृष्टि से न्यून है इसलिए, परमावधि भी वास्तव में देशावधि है।²²⁰

216. षट्खण्डागम, पु. 13, सूत्र 5.5.59 गाथा 15 पृ. 323

217. एत्थ सव्वसद्धो सयलदव्ववाचओ ण घेतव्वो, परदो अवज्जिमाणदव्वस्स ओहिताणुववत्तीदो। किन्तु सव्वसद्धो सव्वेगदेसमिह रूवयदे वट्टमाणो घेतव्वो। तेण सव्वरूवयदं ओही जिस्से त्ति संबन्धो कायव्वो। अघवा, सरति गच्छति आकुंचन-विसर्पणादीनीति पुद्गलद्रव्यं सर्वं, तमोही जिस्से सा सव्वोही। - षट्खण्डागम, पु. 9, सूत्र 4.1.4 पृ. 47

218. तत्र देशावधेः सर्वजघन्यस्यक्षेत्रमुत्सेधांगुलस्याऽसंख्येयभागः। - तत्त्वार्थराजवार्तिक, सूत्र 1.22.5 पृ. 56

219. सर्वावधिर्न्यते-असंख्येयानामसंख्येयभेदत्वादुत्कृष्टपरमावधि क्षेत्रमसंख्येयलोकगुणितमस्सक्षेत्रं।

- तत्त्वार्थराजवार्तिक, सूत्र 1.22.5 पृ. 57

220. सर्वशब्दस्स साकल्यवाचित्वात्क्षेत्रकालभावैः सर्वावधेरन्तः पातिपरमावधिरतः परमावधिरति देशावधिरेवेति द्विविध एवावधिः सर्वावधिर्देशावधिश्च। - तत्त्वार्थराजवार्तिक सूत्र 1.22.5 पृ. 57

परमावधि और सर्वावधि की तुलना

ये दोनों स्वामी का अनुसरण करते हैं इसलिए अनुगामी है। इस ज्ञानधारी को उसी भव में केवलज्ञान होता है जिससे परभव का अनुगम नहीं होता है अतः अननुगामी भी हैं। दोनों का नाश नहीं होता इसलिए अप्रतिपाती है। परमावधि में वृद्धि होती है इसलिए वर्द्धमान, सर्वावधि में वृद्धि नहीं होती अतः वर्धमान नहीं होता है। दोनों में हानि नहीं होती है इसलिए हीयमान नहीं होते हैं। परमावधि में एक निश्चित काल तक वृद्धि/हानि नहीं होती और सर्वावधि में तो वृद्धि/हानि होती ही नहीं है। इसलिए दोनों अवस्थित हैं। परमावधि में हानि तो नहीं, परंतु वृद्धि होती है, अतः वृद्धि की अपेक्षा अनवस्थित है और सर्वावधि में वृद्धि/हानि नहीं होती अतः अनवस्थित नहीं है। विद्यानंद ने परमावधि को अनवस्थित नहीं माना है, शेष विवेचन में वे अकलक का अनुसरण करते हैं।²²¹

अवधिज्ञान का द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा विषय

अवधिज्ञानी द्रव्य रूप में किन पुद्गलों का जानता है, वह द्रव्य से विषय कहलाता है। अवधिज्ञान के विषय की अपेक्षा से मुख्य रूप से तीन भेद होते हैं - देशावधि, परमावधि, सर्वावधि। परमावधि को केन्द्र में रखते हुए देशावधि आदि के द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से विषय का वर्णन निम्न प्रकार से हैं -

परमावधि का द्रव्य की अपेक्षा विषय

प्रश्न - जिस प्रकार जघन्य और मध्यम अवधिज्ञानी कुछ ही रूपी द्रव्यों को देखता है वैसे ही उत्कृष्ट अवधिज्ञानी भी कुछ रूपी द्रव्यों को देखता है या सारे रूपी द्रव्यों को देखता है?

उत्तर - एक आकाश प्रदेश को अवगाहित करके रहने वाला एक प्रदेशावगाढ परमाणु, द्विआदि अणु से लेकर अनन्ताणुक स्कंध पर्यंत सभी द्रव्यों को तथा कर्मणशरीर वर्गणा के पुद्गलों को उत्कृष्ट अवधिज्ञानी (परमावधिज्ञानी) देखता है। यहाँ पर 'एक प्रदेशावगाढ' ऐसा सामान्य रूप से कहा है, इसका आशय यह है कि परमावधिज्ञानी परमाणु-द्वयणुकादि द्रव्य को जानते हैं। लेकिन 'एक प्रदेशावगाढ कर्मण शरीर' नहीं कहा है, क्योंकि कर्मणशरीर असंख्यात आकाश प्रदेश को अवगाहित करके रहता है इसलिए एक प्रदेशावगाढ संभव नहीं है। फिर भी सभी अगुरुलघु द्रव्य और शब्दादि गुरुलघु द्रव्य को परमावधि देखता है। यहाँ जाति की अपेक्षा एक वचन का प्रयोग किया है। यदि एक वचन का प्रयोग नहीं करेंगे तो एक प्रदेशावगाही कर्मणशरीर अगुरुलघु-गुरुलघु द्रव्य को परमावधि जानता है, ऐसा ग्रहण हो जाएगा। इस दोष के निराकरण के लिए एकवचन का प्रयोग किया है।

तैजसशरीर को देखने वाला अवधिज्ञानी काल से भव पृथक्त्व (2-9 भव) पर्यंत तक देखता है। 'तेया कम्मसरीरे, तेयादव्वे य भासदव्वे य। बोद्धव्वमसंखेज्जा, दीव-ससुद्धा य कालो य।' (वि० भाष्य, गाथा 673) के अनुसार तैजसशरीर को देखने वाला अवधिज्ञानी काल से पल्योपम के असंख्यातवें भाग को देखता है। मलधारी हेमचन्द्र के अनुसार वह असंख्यातकाल इस भव पृथक्त्व काल से अलग है और यह भवपृथक्त्व काल उस असंख्यातकाल से भिन्न नहीं है, लेकिन भवपृथक्त्व के अंदर ही इस पल्योपम के असंख्यातवें भाग का समावेश होता है अर्थात् यह काल भवपृथक्त्व से अधिक नहीं है और भवपृथक्त्व काल भी पल्योपम के असंख्यातवें भाग के अंदर ही है, बाहर नहीं।²²²

221. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक 1.22

222. स एवानेन भवपृथक्त्वेन विशेष्यते, इदमपि च भवपृथक्त्वं तेनासंख्येयकालेन विशेष्यते-भवपृथक्त्वमध्य एव स पल्योपमासंख्येयभागः कालो नाधिकः, एतन्मध्य एव च भवपृथक्त्वं न बहिस्तादिति। - विशेषावश्यकभाष्य बृहद्वृत्ति गाथा 675, पृ. 291

द्रव्य के साथ क्षेत्र और काल का सम्बन्ध

द्रव्य, क्षेत्र और काल का संबंध दो प्रकार से घटित होता है -

1. भाष्यकार ने 'अंगुलमावलियाणं भागमसंखिज्ज...' ²²³ गाथा में शुद्ध क्षेत्र (द्रव्य रहित) और काल का परस्पर संबंध बताया, अब द्रव्य का क्षेत्र और काल से संबंध बताते हैं। जो अवधिज्ञानी मनोद्रव्य को जानता है वह क्षेत्र से लोक के संख्यातवें भाग को और काल से पल्योपम के संख्यातवें भाग को जानता है। कर्मवर्गणा द्रव्य को जानने वाला अवधिज्ञानी क्षेत्र से लोक के बहुत संख्यातवें भाग को और काल से पल्योपम के बहुत संख्यातवें भाग को जानता है तथा जो अवधिज्ञानी संपूर्ण लोक को देखता है वह काल से कुछ कम पल्योपम को जानता है। इस प्रकार द्रव्य के साथ क्षेत्र और काल का संबंध हुआ है।

कर्मद्रव्य (वर्गणा) का अतिक्रमण करके बाद में अनुक्रम से ध्रुवादि वर्गणा के द्रव्य को देखता है वह अवधिज्ञानी अनुमान से परमावधि को प्राप्त करता है। यह सामर्थ्य मात्र बताने के लिए कहा है ²²⁴

2. जो अवधिज्ञानी तैजसशरीर और कर्मणशरीर को जानता है अथवा तैजसवर्गणा द्रव्य और भाषावर्गणा द्रव्य को जानता है, वह क्षेत्र से असंख्यात द्वीप-समुद्र और काल से पल्योपम के असंख्यातवें भाग को जानता है। यहाँ तैजसवर्गणा और कर्मण शरीर को जानने वाले अवधिज्ञान के विषय क्षेत्र और काल को सामान्य रूप से समान कहा है। तो भी इतना विषेश समझना कि तैजस शरीर की अपेक्षा कर्मणशरीर सूक्ष्म है। अतः तैजस शरीर को जानने वाले अवधिज्ञानी के विषय क्षेत्र और काल की अपेक्षा कर्मण शरीर को जानने वाले अवधिज्ञानी का विषय क्षेत्र और काल अधिक होता है। कर्मण शरीर की अपेक्षा तैजस वर्गणा के द्रव्य सूक्ष्म होने से कर्मण शरीर को जानने वाला अवधिज्ञानी जितने क्षेत्र और काल को जानता है उससे तैजस वर्गणा द्रव्य को जानने वाला अवधिज्ञानी विशेष जानता है। तैजस वर्गणा की अपेक्षा भाषा वर्गणा सूक्ष्म है, अतः तैजस वर्गणा द्रव्य को जानने वाले अवधिज्ञानी जितने क्षेत्र और काल को देखता है उसकी अपेक्षा भाषा वर्गणा द्रव्य को जानने वाला अधिक क्षेत्र और काल को जानता है।

शंका - उपर्युक्त वर्णन में कर्मणवर्गणा को जानने वाले अवधिज्ञानी का विषय क्षेत्र से लोक के बहुत संख्यातवें भाग को और काल से पल्योपम के बहुत संख्यातवें भाग को जानता है, ऐसा बताया था ²²⁵ उसकी अपेक्षा गाथा 673 में कर्मण वर्गणा का विषय कम बताया है इसका क्या कारण है?

समाधान - भाष्यकार उत्तर देते हुए कहते हैं कि पहले जो कर्मणवर्गणा द्रव्य के विषय का कथन किया था, वह जीव के द्वारा शरीररूप में ग्रहण नहीं किए हुए ऐसे द्रव्य का था और गाथा 673 में जीव द्वारा शरीर रूप में ग्रहण किए हुए कर्मणवर्गणा द्रव्य के विषय का कथन हुआ है। शरीरपने ग्रहण किए हुए द्रव्य की अपेक्षा शरीरपने ग्रहण नहीं किए हुए द्रव्य अधिक सूक्ष्म होते हैं जैसे कि व्युत (गुंथे या सीये हुए) तंतु की अपेक्षा अव्युत तंतु सूक्ष्म होते हैं। उसी प्रकार जीवग्राही कर्मण शरीर द्रव्य स्थूल होते हैं। इसलिए उनका विषय कम है ²²⁶

प्रश्न - एक प्रदेशावगाही परमाणु आदि अतिसूक्ष्म है, उन सूक्ष्म परमाणु को जानने वाला असंख्यात प्रदेशावगाही स्थूल कर्मण शरीर को भी जानता ही है, तो उसको बाद में अलग से

223. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 608

224. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 668-672

225. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 669

226. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 673-674

किसलिए कहा है? अथवा जो एक प्रदेशावगाही द्रव्य देखता है ऐसा नहीं कह कर सभी रूपी द्रव्यों को देखता है ऐसा कहें तो क्या बाधा है?

उत्तर - जो परमाणु आदि सूक्ष्म द्रव्य को देखता है वह कार्मणशरीर आदि स्थूल द्रव्य को तो अवश्य देखता है। लेकिन जो स्थूल द्रव्यों को देखता है वह सूक्ष्म द्रव्यों को नियम से नहीं देखता है क्योंकि 'तेया-भासादव्वाण, अंतरा एत्थ लभइ पट्ठवओ। गुरुलहु अगुरुयलहुयं, तंपि य तेणेव निट्ठाइ।' (वि० भाष्य गाथा 627) के अनुसार अवधिज्ञानी अगुरुलघु द्रव्य को तो देख सकता है, लेकिन गुरुलघु द्रव्य को नहीं देख सकता है अथवा घटादि स्थूल वस्तु को भी नहीं देख सकता है। जैसेकि मनःपर्यवज्ञानी मनोद्रव्य के सूक्ष्म होते हुए भी उसे प्रत्यक्ष देखता है और चिंतनीय घटादि वस्तु के स्थूल होते हुए भी उन्हें नहीं देख पाता है। ऐसा विज्ञान विषय की विचित्रता से संभव है। संशय का परिहार करने के लिए अर्थात् 'एक प्रदेशावगाढ द्रव्य जानते हैं' ऐसा कहने से शेष द्रव्यों के विषय में संशय रहता है इसलिए 'एक प्रदेशावगाढादि द्रव्य जानते हैं' आदि द्रव्य को विशेष कहा है। इसलिए इसमें कोई दोष नहीं है। अथवा एक प्रदेशावगाढ ऐसा कहने से परमाणु आदि द्रव्यों का और कार्मणशरीर कहने से बाकी के कर्मवर्गणा तक के द्रव्यों का, अगुरुलघु कहने से कर्म वर्गणा के ऊपर के द्रव्यों का और गुरुद्रव्य कहने से घट, पृथ्वी पर्वतादि का ग्रहण करना चाहिए। इस प्रमाण से समस्त पुद्गलास्तिकाय उत्कृष्ट अवधिज्ञान (परमावधिज्ञान) का विषय है। अतः 'सर्वरूपी द्रव्य जानते हैं' ऐसा भी कहा होता तो उसका भी इसमें समाधान आ गया है, क्योंकि समस्त पुद्गलास्तिकाय रूपी द्रव्य है।²²⁷

परमावधि का क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा विषय

परमावधि (उत्कृष्ट अवधिज्ञानी) क्षेत्र से लोक प्रमाण अलोक के असंख्याता खंड और काल से असंख्यात उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी, द्रव्य से सभी रूपी द्रव्य और भाव से प्रत्येक की असंख्यात पर्याय को देखते हैं।²²⁸ परमावधि का उत्कृष्ट क्षेत्र सभी सूक्ष्म, बादर अग्निकाय जीवों की सूचि बनाकर घुमाने पर जितना क्षेत्र प्राप्त होता है, उसके तुल्य होता है।

विशेषावश्यक भाष्य की गाथा 685 में भी कहा है कि 'रूवगयं लहई सव्वं' अर्थात् परमावधिज्ञानी सभी रूपी द्रव्य को जानता है। काल और क्षेत्र तो अमूर्त होते हैं, लेकिन (रूपी पदार्थ की स्थिति के कारण वह) लोकप्रमाण असंख्याता खंड और असंख्यात उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी काल में रहे रूपी द्रव्य को परमावधिज्ञानी जानता है अर्थात् रूपी द्रव्य से युक्त क्षेत्र और काल देखता है। रूपी द्रव्य के बिना क्षेत्र और काल को नहीं देखता, क्योंकि ये दोनों अमूर्त होते हैं। परमावधि होने के बाद अंतर्मुहूर्त में जीव को केवलज्ञान की प्राप्ति होती है। जिस प्रकार सूर्य उदय से पहले उसकी प्रभा फैलती है वैसे ही परमावधि ज्ञान की प्रभा के बाद केवलज्ञान रूपी सूर्य का उदय होता है। यहाँ तक मनुष्य गति सम्बन्धी क्षायोपशमिक अवधिज्ञान का वर्णन पूर्ण हुआ।²²⁹

तिर्यच

तिर्यच के जघन्य अवधिज्ञान का प्रमाण पनक जीव के उदाहरण द्वारा समझाया गया है। आवश्यकनिर्युक्ति के अनुसार उत्कृष्ट अवधिज्ञान का विषय द्रव्य प्रमाण से आहारक और तैजस द्रव्य है। उपलक्षण से यहाँ औदारिक, वैक्रिय, आहारक और तैजस शरीर के द्रव्य समझना चाहिए अर्थात् अवधिज्ञानी इन चारों वर्गणाओं के द्रव्यों को जानता है तथा उनके बीच में रहे हुए ग्रहण अयोग्य

227. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 675-684

228. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 685

229. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 685-689

द्रव्य को भी जानता देखता है। द्रव्य के अनुसार ही क्षेत्र, काल और भाव को भी विषय के अनुसार जानता है। षट्खण्डागम में भी ऐसा ही उल्लेख है।²³⁰ नंदीसूत्र में 'दीवसमुद्रा उ भइयव्वा' अर्थात् संख्यात काल देखने वाला संख्यात द्वीप-समुद्र गिनती से संख्यात या असंख्यात हो सकते हैं। जैसे किसी तिर्यच को जम्बूद्वीप से आगे के संख्यात द्वीप समुद्रों में असंख्यात काल तक अवधिज्ञान हुआ, वह कदाचित् एक द्वीप या समुद्र को भी देखता है, किन्तु उसका क्षेत्र असंख्यात योजन जितना हो जाता है। स्वयंभूरमण द्वीप या समुद्र का भी वह एक देश ही देखता है। इसलिए भजना से कहा है।

अकलंक के अनुसार तिर्यचों को देशावधिज्ञान ही होता है, जिसका उत्कृष्ट क्षेत्र प्रमाण असंख्यात द्वीप समुद्र है और काल प्रमाण असंख्यात वर्ष है।²³¹ यहाँ तक क्षायोपशमिक अवधिज्ञान का वर्णन हुआ।²³²

नारकी

नारकी के अवधिज्ञान का प्रमाण आवश्यक निर्युक्ति के अनुसार जघन्य एक गाऊ और उत्कृष्ट योजन प्रमाण है। जघन्य एक गाऊ सातवीं नारकी में और उत्कृष्ट पहली नारकी में चार गाऊ (एक योजन) देखता है। षट्खण्डागम और धवला में भी ऐसा ही उल्लेख है।²³³

आवश्यकनिर्युक्ति में सामान्यतः नारकी के जघन्य अवधिज्ञान का प्रमाण नहीं बताया, लेकिन प्रज्ञापनासूत्र²³⁴ के 33वें (अवधिपद) में इसका उल्लेख प्राप्त होता है। जिनभद्रगणि कहते हैं कि यहाँ जो जघन्य प्रमाण गव्यूति का उल्लेख है, वह सातों प्रकार के नारकी के उत्कृष्ट अवधिज्ञान का प्रमाण बताया है। मलधारी हेमचन्द्र ने टीका में प्रत्येक नारकी के जघन्य और उत्कृष्ट अवधिज्ञान के क्षेत्र का उल्लेख किया है।²³⁵ अतः प्रत्येक नरक के नैरयिकों का जघन्य अवधिज्ञान प्रमाण स्वयं के उत्कृष्ट प्रमाण से आधा गाऊ (1/2) कम है, जिसे नीचे चार्ट में दिखाया गया है। मलयगिरि ने भी इसका स्पष्टीकरण दिया है। षट्खण्डागम में इस प्रकार नरक के अवधिज्ञान का प्रमाण नहीं बताया गया है, लेकिन धवलाटीकाकार ने इसको स्पष्ट किया है।²³⁶ अकलंक ने भी निम्न प्रमाण से नरक के अवधि के क्षेत्र का वर्णन करते हुए कहा है कि यह प्रमाण नीचे की ओर का है। ऊपर की ओर का प्रमाण स्वयं के नरकावास के अंत तक है और तिरछा प्रमाण असंख्यात कोड़ाकोड़ी योजन का है। लेकिन इस प्रमाण में जघन्य और उत्कृष्ट का भेद नहीं किया है।²³⁷ लेकिन श्वेताम्बर आगम प्रज्ञापनासूत्र के 33वें पद में अवधि का आकार त्रप के आकार का उल्लेख है। यह त्रप एक प्रकार की छोटी नाव (होड़ी) है। जो आगे की ओर से तो तीखी होती है, पीछे की ओर से नाव की चौड़ाई जैसी होती है अर्थात् आधी नाव के समान होती है। उसकी लम्बाई वह रत्नप्रभा पृथ्वी के अवधि की साढ़े तीन और चोर कोस जितनी समझनी चाहिए। इस नाव की चौड़ाई एवं जाड़ाई के अनुरूप नरक जीवों के अवधि की ऊंचाई एवं चौड़ाई समझनी चाहिए।

230. आवश्यकनिर्युक्ति गाथा 46, विशेषावश्यक भाष्य गाथा 568, षट्खण्डागम पु. 13, सूत्र 5.5.59, गाथा 16, पृ. 326

231. तिरश्चां तु देशावधिरेव न परमावधिर्नापि सर्वावधिः । तत्त्वार्थराजवार्तिक, पृ.1.22, पृ.57

232. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 690-691

233. षट्खण्डागम पु. 13, सूत्र 5.5.59, गाथा 16, पृ. 325-326

234. प्रज्ञापनासूत्र भाग 3, पृ. 184-186

235. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 693-694 की टीका पृ. 296

236. आवश्यकनिर्युक्ति गाथा 47, विशेषावश्यकभाष्य 692-694, षट्खण्डागम पु. 13, सूत्र 5.5.59, गाथा 16, पृ. 326, मलयगिरि, नंदीवृत्ति, पृ. 86

237. नारकेषु योजनमर्धगव्यूतहीनमागव्यूतात् तद्यथा रत्नप्रभायां योजनमवधिः.....सर्वासु पृथिवीषु नारकाणामवधिरुपरि आत्मीयनरकावासोतस्तिर्यगसंख्याता योजनकोटीकोट्यः । -तत्त्वार्थराजवार्तिक सूत्र 1.21.6 पृ. 55

क्रमांक	नारकी	जघन्य	उत्कृष्ट
प्रथम	रत्नप्रभा	3 ॥ गाऊ (कोस)	4 गाऊ (कोस)/ एक योजन
द्वितीय	शर्कराप्रभा	3 गाऊ	3 ॥ गाऊ
तृतीय	बालुकाप्रभा	2 ॥ गाऊ	3 गाऊ
चतुर्थ	पंकप्रभा	2 गाऊ	2 ॥ गाऊ
पंचम	धूमप्रभा	1 ॥ गाऊ	2 गाऊ
छठी	तमःप्रभा	1 गाऊ	1 ॥ गाऊ
सप्तम	तमस्तमप्रभा	आधा गाऊ	1 गाऊ

यहाँ पर नारकी का जघन्य अवधि विषय क्षेत्र सातवीं नारकी की अपेक्षा 1/2 (॥) गाऊ बताया है जबकि गाथा 690 में नारकी में जघन्य अवधिज्ञान एक गाऊ बताया है। इसमें कोई विरोधाभास नहीं क्योंकि वहाँ जो बताया है वह सभी नारकी के उत्कृष्ट की अपेक्षा जघन्य (एक गाऊ सातवीं नरक का उत्कृष्ट है) का कथन किया है, अतः इसमें कोई विरोधाभास नहीं है। पहली नारकी का उत्कृष्ट एक योजन अथवा चार गाऊ कहा, क्योंकि चार गाऊ=एक योजन होता है।²³⁸

धवलाटीकाकार काल प्रमाण की स्पष्टता करते हुए कहते हैं कि रत्नप्रभा नारक का उत्कृष्ट कालमान मुहूर्त में एक समय अधिक है और बाकी की छह पृथ्वियों के नारकों का उत्कृष्ट काल प्रमाण अन्तर्मुहूर्त है।²³⁹ नारकी में जो क्षेत्र का विषय कहा है उसके अनुसार ही द्रव्य, काल और भाव को जानना चाहिए।

देवता के अवधिज्ञान का क्षेत्र

देवता चार प्रकार के होते हैं - भवनपति, वाणव्यंतर, ज्योतिषी और वैमानिक।

भवनपति, वाणव्यंतर, ज्योतिषी देवों के अवधिज्ञान का क्षेत्र

आवश्यकनिर्युक्ति में देवों का जघन्य अवधि प्रमाण 25 योजन बताया है।²⁴⁰ भवनपति और व्याणव्यन्तर देवों में जिनकी स्थिति दस हजार वर्ष की होती है, उनके अवधि का जघन्य क्षेत्र 25 योजन का माना गया है। जिनकी पल्योपम की स्थिति है उनके अवधिज्ञान का विषय संख्यात द्वीप समुद्र है और सागरोपम (आधा से एक सागरोपम) की आयु वाले भवनपतियों के अवधिज्ञान का विषय असंख्यात द्वीप समुद्र है अर्थात् भवनपति देवों के अवधि का जघन्य विषय 25 योजन और उत्कृष्ट असंख्यात द्वीप समुद्र है। व्याणव्यन्तर देवों के अवधि का जघन्य विषय 25 योजन और उत्कृष्ट संख्यात द्वीप समुद्र है। ज्योतिषी देवों के अवधिज्ञान का जघन्य और उत्कृष्ट क्षेत्र संख्यात योजन अर्थात् संख्यात द्वीप समुद्र का है, लेकिन जघन्य से उत्कृष्ट बड़ा होता है। जिनभद्रगणी ने भी भवनपति, व्याणव्यन्तर और ज्योतिषी के अवधि का यही परिमाण बताया है।²⁴¹

षट्खण्डागम के अनुसार भवनपति, वाणव्यन्तर में 25 योजन और ज्योतिषी देवों का जघन्य प्रमाण संख्यात योजन का है। असुरकुमार का क्षेत्र की अपेक्षा उत्कृष्ट अवधिप्रमाण असंख्यात कोड़ाकोड़ी योजन का होता है। शेष बाकी नागकुमार आदि नव भवनपति, आठ वाणव्यन्तर और पांच ज्योतिषी देवों तक अवधि प्रमाण असंख्यात हजार योजन का है।²⁴² अकलंक ने भी यही प्रमाण बताया है, उन्होंने कुछ विशेष वर्णन किया है। जिसके अनुसार उपर्युक्त प्रमाण नीचे की ओर समझना

238. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 694

239. षट्खण्डागम पु. 13, सूत्र 5.5.59, गाथा 16, पृ. 326

240. आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा 51

241. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 701, 702

242. षट्खण्डागम, पु. 13, सूत्र 5.5.59, गाथा 10,11, पृ. 314-315

चाहिए और असुरकुमार में ऊपर की ओर ऋतुविमान के ऊपरी भाग तक मानना चाहिए। नागकुमार आदि नौ कुमार का ऊपर की ओर सुमेरु पर्वत के शिखर तक और तिरछा असंख्यात हजार योजन का है। व्यंतर और ज्योतिषी देवों के ऊपर का क्षेत्र अपने विमान के ऊपरी भाग तक और तिरछा असंख्यात कोड़कोड़ी योजन का है।²⁴³

श्वेताम्बर परम्परा में भवनपति, वाणव्यंतर और ज्योतिषी के अवधिक्षेत्र के ऊँचे, नीचे और तिरछे क्षेत्र का स्पष्ट उल्लेख नहीं किया गया है। केवल सामान्य रूप से कथन किया गया है, जैसे कि भाष्यकार के अनुसार आधा सागरोपम से कम आयुष्यवाला देव संख्यात योजन तक और उससे अधिक आयुष्य वाले देव असंख्यात योजन तक उत्कृष्ट क्षेत्र देखते हैं।²⁴⁴ मलयगिरि भी नंदीवृत्ति में असुरकुमार का अवधिप्रमाण असंख्यात द्वीप-समुद्र और नाग आदि नव भवनपति, व्यंतर और ज्योतिष देवों का अवधिप्रमाण संख्यात द्वीप समुद्र होने का उल्लेख करते हैं।²⁴⁵

वैमानिक देव के अवधिज्ञान का क्षेत्र

जिनभद्र ने वैमानिक में जघन्य अवधि का प्रमाण अंगुल का असंख्यातवां भाग बताया है।²⁴⁶ ऐसा ही उल्लेख प्रज्ञापनासूत्र में भी मिलता है।²⁴⁷ परंतु अंगुल का असंख्यातवां भाग जितना प्रमाण तो तिर्यच और मनुष्यों के ही होता है। ऐसा दोनों जैन परंपराएं स्वीकार करती हैं।²⁴⁸ फिर यह विसंगति क्यों? इस विसंगति के सम्बन्ध में दो मान्यताएं प्राप्त होती हैं।

प्रथम मान्यता - यह प्रमाण देवों में तो उत्पत्ति के समय ही प्राप्त होता है जो पूर्व भव के अवधिज्ञान की अपेक्षा से समझना चाहिए। क्योंकि जघन्य अंगुल का असंख्यातवां भाग जितना अवधिज्ञान मनुष्य व तिर्यच पंचेन्द्रिय में ही उत्पन्न हो सकता है, शेष दण्डकों में नहीं तथा स्वभाव से ही जघन्य अवधिज्ञान वाले मनुष्य और तिर्यच पंचेन्द्रिय मरकर वैमानिक में ही उत्पन्न होते हैं, भवनपत्यादि देव में नहीं। जब अंगुल के असंख्यातवें भाग अवधिक्षेत्र वाले मनुष्य और तिर्यचपंचेन्द्रिय मरकर वैमानिक में आते हैं तब उन्हें अपर्याप्त अवस्था के कुछ समय तक क्षेत्र की अपेक्षा अंगुल का असंख्यातवां भाग ही अवधिज्ञान होता है, बाद में भव प्रायोग्य अवधिज्ञान हो जाता है। भवनपत्यादि देवों में वैमानिक देवों जैसा विशाल अवधिज्ञान नहीं होने से अपर्याप्त अवस्था में ही देवभव जितना अवधिक्षेत्र हो जाता है। क्योंकि उनके जघन्य अवधिज्ञान का क्षेत्र 25 योजन का ही बताया है। मलयगिरि ने भी जिनभद्रगणि का समर्थन किया है।²⁴⁹

प्रज्ञापना सूत्र के पांचवें पद (जीवपर्याय) में मनुष्य की जघन्य अवधिज्ञान में अवगाहना त्रिस्थानपतित बताई है। अतः मनुष्य जघन्य अवधिज्ञान लेकर परभव में नहीं जाता है। वह अवधिज्ञान तिर्यच पंचेन्द्रिय से लाया हुआ ही होता है। जीवाभिगम के वैमानिक उद्देशक की टीका में दूसरे समय में देवताओं के भवप्रायोग्य अवधि होना बताया है, लेकिन यह भी उचित नहीं है, क्योंकि उसमें कम से कम असंख्य समय तो लग ही जाते हैं।

दूसरी मान्यता - श्रावक श्री दलपतरायजी कृत नवतत्त्वप्रश्नोत्तरी के अनुसार वैमानिक देव अंगुल के असंख्यातवें भाग जितने सूक्ष्म द्रव्यों को जानने वाले होते हैं। किन्तु भवनपत्यादि देव नहीं जान सकते हैं, इसलिए वैमानिक में जघन्य अवधिज्ञान का क्षेत्र अंगुल के असंख्यातवें भाग और

243. तत्त्वार्थराजवार्तिक 1.21.6, पृ. 55

244. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 699

245. मलयगिरि, नंदीवृत्ति पृ. 86

246. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 695-697

247. युवाचार्य मधुकरमुनि, प्रज्ञापनासूत्र भाग 3, पृ. 187

248. आवश्यकनिर्युक्ति गाथा 53, षट्खण्डागम पु. 13, सूत्र 5.5.59, गाथा 17, पृ. 327

249. मलयगिरि, नंदीवृत्ति पृ. 87

भवनपत्यादि में 25 योजन बताया है। यदि कोई जीव परभव से अवधिज्ञान लाता है तो जघन्य अंगुल का असंख्यातवां भाग और उत्कृष्ट देशों लोक तक का अवधिज्ञान ला सकता है एवं पूर्वभव से अवधिज्ञान लाये बिना भी मनुष्य और तिर्यचपंचेन्द्रिय वैमानिक देवों में उत्पन्न होते हैं। भवनपति, व्यंतर आदि देवों में भी पूर्वभव से अवधिज्ञान लाकर उत्पन्न हो सकते हैं, किन्तु इनका अवधि वैमानिकों जितना विशाल नहीं होने से देव भव के प्रथम समय में ही देवभव सम्बन्धी अवधि हो जाता है। अतः परभवजन्य (परभव से लाये) अवधि क्षेत्र की सीमा यहाँ नहीं रहती है।

वैमानिक देवों में अवधिज्ञान का उत्कृष्ट प्रमाण

आवश्यकनिर्युक्ति²⁵⁰ प्रज्ञापनासूत्र²⁵¹ के तैत्तिरीय (अवधिपद) और विशेषावश्यकभाष्य²⁵² में विमानवासी देवों के अवधिज्ञान का उत्कृष्ट प्रमाण बताया है, जो निम्न प्रकार से है।

देवलोक

क्षेत्र

1-2 देवलोक (सौधर्म-ईशान)	पहली नरक पृथ्वी के चरमांत तक (प्रज्ञापना)
3-4 देवलोक (सनत्कुमार-माहेन्द्र)	दूसरी नरक पृथ्वी के चरमांत तक
5-6 देवलोक (ब्रह्मलोक-लान्तक)	तीसरी नरक पृथ्वी के चरमांत तक
7-8 देवलोक (महाशुक्र-सहस्रार)	चौथी नरक पृथ्वी के चरमांत तक
9-12 देवलोक (आणत-प्राणत-आरण-अच्युत)	पांचवीं नरक पृथ्वी के चरमांत तक
9 ग्रैवेयक की नीचे की त्रिक	छठी नरक पृथ्वी के चरमांत तक
9 ग्रैवेयक की बीच की त्रिक	छठी नरक पृथ्वी के चरमांत तक
9 ग्रैवेयक की ऊपर की त्रिक	सातवीं नरक पृथ्वी के चरमांत तक
5 अनुत्तर विमान	संभिन्न संपूर्ण लोक नाड़ी

मतान्तर - राजेन्द्र अभिधान कोष अनुत्तर विमान का उत्कृष्ट अवधिक्षेत्र में त्रस नाड़ी बताया है। ऐसा मानने पर लोक के बहुत संख्यात भाग छूट जाते हैं। इससे कर्मण वर्गणा जानने में बाधा आयेगी प्रज्ञापना सूत्र के पन्द्रहवें पद की टीका में कर्मण वर्गणा मात्र अनुत्तर देव जानते हैं, ऐसा उल्लेख है। कर्मण वर्गणा को जानने वाला लोक के बहुत संख्यातवें भागों को जानता है। अतः अनुत्तर विमान देवों के अवधि का क्षेत्र संभिन्न संपूर्ण लोक नाड़ी कहना चाहिए, न कि त्रस नाड़ी।

वैमानिक देव तिरछा जम्बूद्वीप आदि और लवण समुद्रादि असंख्यात द्वीप और समुद्रपर्यंत देखते हैं। ऊपर के देव तिरछा क्षेत्र बढ़ते-बढ़ते देखते हैं। ऊर्ध्व अर्थात् ऊँचा अपने विमान की ध्वजा तक देखते हैं। वैमानिक को छोड़कर शेष देवताओं के अवधिज्ञान का क्षेत्र प्रमाण सामान्य से इस प्रकार है। आधा सागरोपम से कम आयुष्यवाला देव संख्यात योजन तक और उससे अधिक आयुष्य वाले देव असंख्यात योजन तक उत्कृष्ट क्षेत्र देखते हैं अर्थात् देवों के अवधिज्ञान के क्षेत्र का विषय उनकी स्थिति के अनुसार है।²⁵³

मलयगिरि ने भी अवधिज्ञान के नीचे का प्रमाण तो आवश्यकनिर्युक्ति के अनुसार ही बताया है। तिरछा क्षेत्र का प्रमाण अकलंक जैसा ही असंख्य द्वीप-समुद्र माना है।²⁵⁴

प्रश्न - भवनपति देव के अवधिज्ञान का ऊँचा क्षेत्र पहले और दूसरे देवलोक तक का है और वैमानिक देव के अवधिज्ञान का ऊँचा क्षेत्र अपने विमान की ध्वजा पताका तक का ही है, तो इस

250. आवश्यकनिर्युक्ति गाथा 48-49

251. युवाचार्य मधुकरमुनि, प्रज्ञापनासूत्र भाग 3

252. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 695-697

253. आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा 52, विशेषावश्यकभाष्य गाथा 698-699

254. मलयगिरि, नंदीवृत्ति पृ. 87

न्यूनता का क्या कारण है? वैमानिक देव विशेष ऋद्धि एवं शक्ति सम्पन्न होते हुए भी ऊर्ध्व लोक का क्षेत्र भवनपति देवों से कम है?

उत्तर - यह अन्तर स्वाभाविक है। वैमानिक देवों की अवधि का स्वभाव ही ऐसा है कि अपने विमानों की ध्वजा तक ही देखते हैं। वैसे अवधिज्ञान विविध स्वभाव वाला है। उस जाति के देवों के ऊर्ध्व अवलोकन का ऐसा ही स्वभाव है। इसका एक लाभ उन्हें यह होता है कि वे वैमानिक देव, अपने विमानों से ऊपर के देवलोक के देवों को और उनकी विशेष ऋद्धि आदि को नहीं देखते हैं जिससे उनके मन में खिन्नता उत्पन्न नहीं होती। अतः उनके अवधिज्ञान का स्वभाव ही ऐसा है कि देवलोक की सीमा तक ही देख सकते हैं।

षट्खण्डागम में भी वैमानिक देवों के उत्कृष्ट अवधिज्ञान के क्षेत्र का वर्णन लगभग आवश्यकनिर्युक्ति जैसा ही मिलता है, साथ ही उन दोनों में जो विभिन्नता है, वह निम्न प्रकार से है - 1. श्वेताम्बर परम्परा में बारह देवलोकों का ही उल्लेख है जबकि दिगम्बर परम्परा में सोलह देवलोकों का उल्लेख है। जैसे कि 1. सौधर्म 2. ईशान 3. सनत्कुमार 4. माहेन्द्र 5. ब्रह्मलोक (ब्रह्म) 6. ब्रह्मोत्तर 7. लान्तक 8. कापिष्ठ 9. शुक्र 10. महाशुक्र 11. शतार 12. सहस्रार 13. आणत 14. प्राणत 15. आरण 16. अच्युत। सोलह में से बारह तो श्वेताम्बर परम्परा के ही नाम हैं, लेकिन उनका क्रम आगे पीछे है। वीरसेनाचार्य ने कौनसे देवलोक वाला कुल कितने रज्जु क्षेत्र और कितने काल को देखता है, इसका भी उल्लेख किया है। जैसे कि सौधर्म और ईशान कल्पवासी देव अपने विमान के ऊपरिम तलमंडल से लेकर प्रथम पृथ्वी के नीचे के तल तक डेढ़ रज्जु लम्बे और एक रज्जु विस्तार वाले क्षेत्र को देखते हैं। काल की अपेक्षा से असंख्यात करोड़ वर्षों की बात जानते हैं। इस प्रकार सोलह ही देवलोकों के क्षेत्र का उल्लेख धवला टीकाकार ने किया है।²⁵⁵

2. आवश्यकनिर्युक्ति में नवग्रैवेयक के विभाग करके अवधि का विषय बताया है।²⁵⁶ जबकि षट्खण्डागम में नवग्रैवेयक का विषय एकसाथ (छठी नारकी तक) ही बताया है। अकलंक ने भी ऐसा ही वर्णन किया है।²⁵⁷

3. धवलाटीकार ने नौ अनुदिश के देवों का उल्लेख करते हुए इनका भी अवधि क्षेत्र बताया है जैसे कि नौ अनुदिश और पांच अनुत्तर विमानवासी देव अपने-अपने विमानशिखर से लेकर नीचे निगोदस्थान से बाहर के वातवलय तक कुछ कम चौदह रज्जु लम्बी और एक रज्जु विस्तारवाली सब लोकनाली को देखते हैं।²⁵⁸ लेकिन इस प्रकार का उल्लेख निर्युक्ति और भाष्य में नहीं मिलता है।

4. धवलाटीकाकार के अनुसार पांच अनुत्तर विमानवासी देव कुछ कम चौदह रज्जु लम्बी और एक रज्जु विस्तारवाली सब लोकनाली को देखते हैं। यहाँ लोकनाली अन्तर्दीपक है, ऐसा जानकर उसको सभी के साथ जोड़ना चाहिए। जैसे कि सौधर्म और ईशान कल्पवासी देव अपने विमान के शिखर से लेकर पहली पृथ्वी तक सम्पूर्ण लोकनाली को देखते हैं। सनत्कुमार और माहेन्द्र के देव दूसरी पृथ्वी तक सब लोकनाली को देखते हैं। ऐसी संयोजना सभी कल्पवासी देवों के साथ कहनी चाहिए।²⁵⁹ लेकिन इस प्रकार का उल्लेख निर्युक्ति और भाष्य में नहीं मिलता है।

अकलंक ने भी लगभग षट्खण्डागम जैसा ही उल्लेख किया है, किन्तु कल्पवासी देवों के अवधिज्ञान के क्षेत्र का जघन्य और उत्कृष्ट प्रमाण स्पष्ट रूप से उल्लेख किया है, जैसे कि सौधर्म और

255. षट्खण्डागम, पु. 13, सूत्र 5.5.59, गाथा 12-14, पृ. 316-320

256. आवश्यकनिर्युक्ति गाथा 47-48

257. षट्खण्डागम पु. 13, सूत्र 5.5.59. गाथा 12, तत्त्वार्थराजवार्तिक 1.21, पृ. 55

258. षट्खण्डागम, पु. 13, पृ. 319

259. षट्खण्डागम, पु. 13, पृ. 320

ईशान स्वर्गवासी देवों के जघन्य अवधि का प्रमाण ज्योतिषियों के उत्कृष्ट क्षेत्र प्रमाण जितना है तथा उत्कृष्ट अवधि नीचे की ओर रत्नप्रभा के अन्तिम पटल तक है। सनत्कुमार और माहेन्द्र में नीचे की ओर जघन्य रत्नप्रभा के अन्तिम पटल तक और उत्कृष्ट शर्कराप्रभा के अन्तिम पटल तक अवधि का क्षेत्र है। इस प्रकार सभी कल्पवासी देवों का क्षेत्र बताया है।²⁶⁰ लेकिन इस प्रकार का उल्लेख निर्युक्ति, भाष्य और षट्खण्डागम में नहीं मिलता है। अकलंक ने अवधिज्ञान के तिरछे क्षेत्र का प्रमाण असंख्यात कोटाकोटी योजन का माना है।

परमावधि का कालादि की अपेक्षा ज्ञेय प्रमाण

अकलंक के अनुसार द्रव्य, काल और भाव की दृष्टि से अवधिज्ञानी पहले जिसका जितना क्षेत्र कहा है उतने ही आकाश प्रदेश प्रमाण काल और द्रव्य का जानता है अर्थात् अवधिज्ञानी उतने समय प्रमाण भूत-भविष्य काल को जानता है और उतने भेदवाले अनन्त प्रदेशी पुद्गलस्कन्धों को जानता है। भाव की दृष्टि से अवधिज्ञानी विषयभूत पुद्गल स्कन्धों के रूपादि पर्याय और जीव के औदयिक, औपशमिक और क्षायोपशमिक भावों को जानता है।²⁶¹

भाव की अपेक्षा

अवधिज्ञानी जघन्य अनन्तभावों को जानता है। वह प्रत्येक द्रव्य की वर्णादिक (वर्ण, गंध, रस और स्पर्श) पर्यायों को ही जानता है। लेकिन द्रव्य अनन्त होने से उन सब की अनन्त पर्याय होती है। एक द्रव्य की अनन्त पर्यायें होती हैं और अनन्त द्रव्यों की भी अनन्त पर्यायें ही होती हैं। लेकिन अवधिज्ञानी इन सभी पर्यायों का अनन्तवां भाग ही जानता है। वर्णादि में अनन्त प्रकार की तीव्रता-मन्दता होते हुए भी अवधिज्ञानी अमुक प्रकार की तीव्रता और मन्दता को ही जानते हैं। अतः वह द्रव्य की अनन्त पर्यायों का जानता है, ऐसा कहा है। जैसे-जैसे अवधिज्ञान की पर्याय बढ़ेगी तब बीच-बीच की तीव्रता-मन्दता को भी जानने लगेगा। जैसे पहले काले वर्ण की 10 गुण पर्याय को जान रहा था, फिर 20 गुण, 30 गुण जानता है, पर्याय बढ़ते-बढ़ते अनन्तगुण पर्याय को भी जानता है। जघन्य अवधि में पर्यायें कम देखता है और उत्कृष्ट अवधि में पर्यायें अधिक देखता है। वर्णादि के हल्के दर्जों में अनन्तगुण बढ़ता है तो शीघ्र पता चल जाता है। लेकिन आगे-आगे जैसे-जैसे घनता बढ़ती जाती है, तो अधिक अन्तर से जान पाता है। जैसे सूर्यास्त होने पर अन्धकार का पता चल जाता है कि अब अंधकार बढ़ रहा है। लेकिन अंधकार बढ़ जाने पर अर्थात् अन्धकार की प्रगाढ़ता होने पर पता नहीं लगता है कि अंधकार अधिक प्रगाढ़ हो रहा है। वैसे ही वर्णादि के बारे में समझना चाहिए।

जघन्य-उत्कृष्ट अवधिज्ञान के स्वामी

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा उत्कृष्ट अवधिज्ञान मनुष्यों में ही होता है। जघन्य अवधिज्ञान मनुष्य और तिर्यच गति में ही होता है, साथ ही मध्यम अवधिज्ञान भी होता है। लेकिन देव और नारकी में मध्यम अवधिज्ञान ही होता है अर्थात् मनुष्य गति में तीनों प्रकार, तिर्यच गति में दो प्रकार का तथा देव और नारकी में एक ही प्रकार का अवधिज्ञान पाया जाता है। ऐसा ही उल्लेख आवश्यकनिर्युक्ति और षट्खण्डागम में भी प्राप्त होता है। उत्कृष्ट अवधिज्ञान दो प्रकार का होता है। प्रथम संपूर्ण लोक को जानने वाला जो कि प्रतिपाती होता है। दूसरा अलोक में देखने वाला जो कि अप्रतिपाती होता है अर्थात् जो संपूर्ण लोक से एक भी प्रदेश अधिक देखता है, वह अवधिज्ञान अप्रतिपाती होता है।²⁶²

260. तत्त्वार्थराजवार्तिक 1.21, पृ. 55

261. तत्त्वार्थराजवार्तिक 1.21, पृ. 55

262. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 703

3. संस्थान द्वार

क्षेत्र की दृष्टि से अवधिज्ञान के जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट ऐसे तीन प्रकार बताये हैं। क्षेत्र की दृष्टि से प्रत्येक अवधिज्ञान में कुछ भिन्नता होती है। जितने क्षेत्र का अवधिज्ञान होता है, उस क्षेत्र का आकार प्रत्येक के लिए एक जैसा नहीं होता।

जघन्य अवधिज्ञान का संस्थान

सूक्ष्म पनक की अवगाहना जितने जघन्य अवधिज्ञान का संस्थान स्तिबुक (पानी की बून्द) के समान गोल (वृत्त) होता है।

उत्कृष्ट अवधिज्ञान का संस्थान

सभी अग्निकाय जीवों की सूची बनाकर घुमाने पर जो आकार बने वह उत्कृष्ट अवधिज्ञान का संस्थान होता है। यह पूर्णतः वृत्त रूप नहीं होता है, क्योंकि सभी अग्नि काय के जीवों की सूची बनाकर अवधिज्ञानी के शरीर के चारों ओर घुमाने पर जो आकार बने, वह आकार उत्कृष्ट अवधिज्ञानी का होता है, जो कि पूर्ण रूप से वृत्त रूप नहीं होता है।

मध्यम अवधिज्ञान के संस्थान

मध्यम अवधिज्ञान के क्षेत्र के अनेक आकार होते हैं। इसलिए इसके अनेक संस्थान होते हैं²⁶³ मध्यम अवधिज्ञान के संस्थान निम्न प्रकार से हैं-

नारकी के अवधिज्ञान का संस्थान

यह तप्रे के आकार का होता है। 'नदी के प्रभाव से दूर से बहता हुआ काष्ठ समुदाय' तप्रे कहलाता है²⁶⁴ यह काष्ठ समुदाय लम्बा और त्रिकोण होता है। यह तप्रे एक प्रकार की छोटी नाव (होड़ी) है, जो आगे की ओर से तो तीखी होती है, पीछे की ओर से चौड़ी होती है। इसी तरह नैरयिक के अवधिज्ञान का संस्थान भी लम्बा और त्रिकोण होता है अर्थात् नारक अवधिज्ञान से जो क्षेत्र देखते हैं, वह तिपाई जैसा होता है। ऊपर संकड़ा और नीचे चौड़ा, इस आकार से उनका अवधि होता है। वे नारक ऊपर विशेष अवलोकन नहीं कर सकते हैं। युवाचार्य मधुकरमुनि तप्रे का अर्थ डोंगी अथवा लम्बी और त्रिकोणी नौका करते हैं²⁶⁵ तथा भंवरलाल नाहटा ने पानी पर तिरने का त्रापा (तरापा) अर्थ किया है²⁶⁶

भवनपति देव के अवधिज्ञान का संस्थान

यह पल्लक के आकार का होता है। पल्य (धान भरने का पात्र) का आकार ऊर्ध्व में लंबा और मुख की ओर संकड़ा होता है। लाट्ट देश में प्रसिद्ध धान भरने का एक पात्र विशेष जो ऊपर और नीचे की ओर लम्बा तथा ऊपर कुछ सिकुड़ा हुआ होता है²⁶⁷ यह कोठी के आकार का होता है²⁶⁸ पल्लक भवनपति के अवधिज्ञान का संस्थान होता है।

263. आवश्यकनिर्युक्ति गाथा 54, विशेषावश्यकभाष्य गाथा 704-705

264. तप्रे नाम काष्ठसमुदायविशेषो यो नदीप्रवाहेण प्लाव्यमानो दूरादानीयते।

- आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा 54, मलयगिरि वृत्ति, पृ. 68

265. युवाचार्य मधुकरमुनि, प्रज्ञापना सूत्र, भाग 3, पद 33, पृ. 182, 191

266. भंवरलाल नाहटा, 'अवधिज्ञान', स्व. मोहनलाल बाँठिया स्मृति ग्रन्थ, पृ. 263

267. पल्लको नाम लाट्टदेशे धान्याधारविशेषः, स च ऊर्ध्वायत उपरि च किञ्चित्संक्षिप्तः।- आवश्यकनिर्युक्ति गाथा 54 वृत्ति, पृ.68

268. युवाचार्य मधुकरमुनि, प्रज्ञापना सूत्र, भाग 3, पद 33, पृ.191

वाणव्यंतर देव के अवधिज्ञान का संस्थान

यह पटह (ढोल) के आकार का होता है। इसका आकार ऊपर एवं नीचे एक समान होता है। यह एक प्रकार का बाजा होता है।²⁶⁹

ज्योतिषी देव के अवधिज्ञान का संस्थान

यह झालर के आकार का होता है। नीचे और ऊपर चमड़े से बांधी हुई विस्तीर्ण वलय रूप झल्ली के आकार का अर्थात् झालर, जो एक प्रकार का बाजा होती है, इसे गोलाकार ढपली भी कहते हैं। अर्थात् लम्बाई-चौड़ाई अधिक और ऊँचाई (जाड़ाई) कम होती है।²⁷⁰

पहले देवलोक से 12वें देवलोक तक के देव के अवधिज्ञान का संस्थान

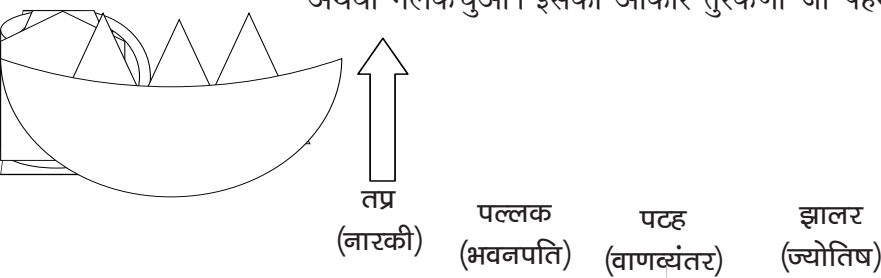
ऊर्ध्वमृदंग अर्थात् ऊर्ध्व आयत ऐसा मृदंग होता है जो नीचे से पटह (चौड़ा) और ऊपर से संकड़ा होता है। ऊपर को उठा हुआ मृदंग जो नीचे विस्तीर्ण और ऊपर संक्षिप्त होता है।²⁷¹

नवग्रैवेयक देव के अवधिज्ञान का संस्थान

यह फूलों की चंगेरी के समान होता है। फूलों की चंगेरी, सूत से गुंथे हुए फूलों की शिखायुक्त चंगेरी। चंगेरी टोकरी या छबड़ी को भी कहते हैं अर्थात् नीचे बहुत चौड़ा फिर क्रमशः संकड़ा, फिर चौड़ा फिर संकड़ा।²⁷² अभिधान राजेन्द्र कोश में नवग्रैवेयक का अविधिज्ञान सात शिखायुक्त पुष्प चंगेरी के आकार का बताया है, किन्तु एक चंगेरी का मानना ज्यादा उचित है।

अनुत्तर विमान के देवों के अवधिज्ञान का संस्थान

यह यवनालक अर्थात् कन्या की चोली (कंचुक) जैसा होता है। यवनालक अर्थात् सरकंचुआ अथवा गलकंचुआ। इसका आकार तुरकर्णी जो पहरेण परिधान पहनती है वैसा होता है।²⁷³



ऊर्ध्वमृदंग
(12 देवलोक)

फूलों की चंगेरी
(नवग्रैवेयक)

यवनालक
(अनुत्तर विमान)

चित्र : नारकी और देवता के अवधिज्ञान के संस्थान

269. पटहक आतोद्यविशेषः प्रतीत एव, स च नाऽत्यायतोऽध उपरि च समः।

270. उभयतो विस्तीर्णचर्मावनद्धमुखा मध्ये संकीर्णो ढक्कालक्षणेऽऽतोद्यविशेषो झल्ली।

271. मृदङ्गोऽप्यातोद्यमेव, स चोर्ध्वायतोऽधोविस्तीर्ण उपरि च तनुकस्तदाकारोऽवधिः।

272. पुष्पेति सूचनात् सूत्रमिति कृत्वा सप्रषिखा पुष्पभृता चङ्गेरी पुष्पचङ्गेरी परिगृह्यते।

273. जवे त्ति यवो यवनालकः, स च कन्याचोलकोऽवगन्तव्यः। अयं च मरुमण्डलादिप्रसिद्धश्चरणकरूपेण कन्यापरिधानेन सह सीवितो भवति, येन परिधानं न खसति, कन्यानां चैष मस्तकसत्कपक्षणाऽयं प्रक्षिप्यते, अयं चोर्ध्वः सरकंचुक इति व्यपदिश्यते।

- 269 से 273 तक के फूट नोट मलधारी हेमचन्द्र बृहद्वृत्ति विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 706, पृ. 300 से उद्धृत है।

उपर्युक्त संस्थानों की अपेक्षा देव, नारक में अवधि सर्वकाल नियत होता है अर्थात् देव और नारकी के अवधिज्ञान के क्षेत्र का आकार हमेशा उपर्युक्त आकार का ही होता है। वह आकार दूसरे आकार में परिवर्तित नहीं होता है।²⁷⁴

तिर्यच, मनुष्य में अवधिज्ञान का संस्थान

मनुष्य और तिर्यच के अवधिज्ञान का संस्थान अनियत है अर्थात् जैसे स्वयंभूरमण में मत्स्य विभिन्न आकार वाले होते हैं, लेकिन वलयाकार वाला मत्स्य नहीं होता है। लेकिन मनुष्य और तिर्यच के अवधिज्ञान का संस्थान वलयाकार सहित जितने संस्थान (आकार) के मत्स्य होते हैं उतने प्रकार का होता है अर्थात् मनुष्य और तिर्यच के अवधिज्ञान का संस्थान वलयाकार रूप अधिक होता है। जिस मनुष्य और तिर्यच को जिस आकार (संस्थान) का अवधिज्ञान हुआ है, वह जीवन पर्यंत रह भी सकता है और बदल भी सकता है।²⁷⁵

अवधिज्ञान की दिशा में वृद्धि

विशेषावश्यकभाष्य के अनुसार भवनपति और वाणव्यंतर देव के अवधिज्ञान के क्षेत्र में वृद्धि होगी तो वह ऊर्ध्व दिशा में ही होगी, शेष वैमानिक देवों के अवधिज्ञान क्षेत्र में वृद्धि अधो दिशा में होती है। नारकी और ज्योतिषी के अवधिज्ञान का क्षेत्र तिरछा अधिक बढ़ता है। औदारिक शरीर वाले तिर्यच और मनुष्य को विविध संस्थानों के रूप में विविध दिशाओं में अवधिज्ञान होता है। जैसे कि किसी को ऊर्ध्व दिशा में अधिक होता है तो किसी को अधो दिशा में, किसी का तिरछी दिशा में और किसी किसी का दो-तीन-चारों दिशाओं में अधिक होता है। मलयगिरि ने भी ऐसा ही उल्लेख किया है।²⁷⁶ प्रज्ञापना सूत्र के अवधिपद के तीसरे संस्थान द्वार में भी ऐसा ही उल्लेख है।²⁷⁷

प्रश्न - अवधिज्ञान के क्षेत्र और संस्थान में क्या अन्तर है?

उत्तर - अवधिज्ञान का जैसेकि क्षेत्र परिमाण ज्ञेय की अपेक्षा से और संस्थान ज्ञान के आकार की अपेक्षा से बताया है।

षट्खण्डगम (धवलाटीका) में शरीर के संस्थान बताये हैं, यथा पृथ्वीकाय के शरीर का आकार मसूर के समान होता है। इसी प्रकार छह काय (शरीर) का आकार नियत है और श्रोत्रेन्द्रियादि पांच इन्द्रियों का भी नियत आकार आगमों में उपलब्ध होता है। किन्तु अवधिज्ञान का अवधिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम की विचित्रता से नियत आकार (संस्थान) नहीं है अर्थात् यह अनेक प्रकार के आकार का होता है।²⁷⁸ वे आकार (संस्थान) शरीरगत श्रीवत्स, कलश, शंख, स्वस्तिक आदि अनेक प्रकार के होते हैं।²⁷⁹ ये संस्थान शुभ होते हैं। एक जीव में एक, दो, तीन आदि शंखादि शुभ संस्थान संभव हैं। ये शुभ संस्थान तिर्यच और मनुष्यों के नाभि के उपरिम भाग में ही होते हैं।

धवला में विभंगज्ञान के क्षेत्र संस्थानों का भी वर्णन मिलता है। तिर्यच और मनुष्य विभंगज्ञानियों के नाभि के नीचे गिरगिट आदि अशुभ संस्थान होते हैं। जब विभंगज्ञानियों के सम्यक्त्व आदि के फलस्वरूप

274. तप्राद्याकारसमानतया यद् नारकं-भवनपत्यादिदेवानावधेः संस्तानमुक्तम्, तदङ्गीकृत्य तेषामवधिः सर्वकालं नियतोऽवस्थित एव भवति, न त्वन्याकारतया परिणमति। - विशेषावश्यकभाष्य, मलधारी हेमचन्द्र टीका गाथा 711, पृ. 301

275. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 712

276. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 713, मलयगिरि, नंदीवृत्ति पृ. 87-89

277. युवाचार्य मधुकरमुनि, प्रज्ञापनासूत्र भाग 3, पृ. 190-191

278. खेत्तदो ताव अण्यसंठाणसंठिता। जहा कायाणमिंदियाणं च पडिणियदं संठाणं तहा ओहिणाणस्स ण होदि, किन्तु ओहिणाणावरणीयखओवसमगदजीवपदेसाणं करणी भूदसरीरपदेसा अण्यसंठाणसंठिया होंति।

- षट्खण्डगम, पु. 13, सूत्र 5.5.57, पृ. 296

279. सिरिवच्छ-कलस-संख-सोवित्थ-णंदावत्तादीणि संठाणाणि णादव्वाणि भवन्ति। - षट्खण्डगम, पु. 13, सूत्र 5.5.58, पृ. 297

अवधिज्ञान की उत्पत्ति होती है तो नीचे के गिरगिट आदि अशुभ आकार मिटकर नाभि के ऊपर शंख आदि शुभ आकार हो जाते हैं। वैसे ही अवधिज्ञानी के मिथ्यात्व का उदय आता है और विभंगज्ञानी बनता है तो शुभ संस्थान मिटकर अशुभ संस्थान में परिवर्तित हो जाते हैं।²⁸⁰ आवश्यकनिर्युक्ति और भाष्य ने अवधिज्ञान के संस्थानों में शरीरगत संस्थान का उल्लेख नहीं किया है। इस प्रकार दिगम्बर आचार्यों ने अवधिज्ञान के संस्थानों के बारे में स्पष्ट चर्चा की है तो श्वेताम्बर आचार्य लगभग इस विषय पर मौन रहे हैं। इसका कारण यह हो सकता है कि उनके सामने इस विषय की व्याख्या स्पष्ट नहीं रही होगी।

अवधिज्ञान की किरणों का निर्गमन शरीर के माध्यम से होता है। जैसे जालीदार ढक्कन के छिद्रों से दीपक का प्रकाश बाहर की ओर फैलता है वैसे ही अवधिज्ञान का प्रकाश शरीर के स्पर्धकों के माध्यम से बाहर की ओर फैलता है।²⁸¹ ऐसा ही उल्लेख जिनदासगणि ने नंदीचूर्ण में भी किया है। जिनभद्रगणि आदि श्वेताम्बर आचार्यों ने अवधिज्ञान की प्रकाश किरणों के संस्थान का उल्लेख किया है, किन्तु उनके संस्थान का आधार शरीर में स्थित संस्थान होते हैं, इसका उल्लेख नहीं किया है। भगवती सूत्र शतक 8 उद्देशक 2 में विभंगज्ञान के नाना संस्थानों का उल्लेख है जैसे कि ग्रामसंस्थित, नगर संस्थित यावत् सन्निवेश संस्थित, द्वीप संस्थित, समुद्र संस्थित, वर्ष संस्थित इत्यादि।²⁸² लेकिन अवधिज्ञान के संस्थानों का वहाँ कोई उल्लेख नहीं है। यदि आगमकारों को अवधिज्ञान के संस्थान इष्ट होते तो जिस प्रकार विभंगज्ञान के संस्थानों का उल्लेख किया है, उसी प्रकार अवधिज्ञान के संस्थानों का भी उल्लेख कर देते। श्वेताम्बराचार्यों को यदि श्रुतपरम्परा से अवधिज्ञान के संस्थानों की जानकारी प्राप्त होती अथवा अवधिज्ञान के संस्थानों को मानने की कोई प्राचीन परम्परा होती तो किसी न किसी व्याख्याग्रन्थ में इसका उल्लेख अवश्य प्राप्त होता, लेकिन अभी तक ऐसा उल्लेख प्राप्त नहीं हुआ है। जब तक इस विषय में पुष्टतर प्रमाण नहीं प्राप्त होते हैं तब तक तो श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार अवधिज्ञान के शरीरगत संस्थान नहीं मानना ही अधिक उचित प्रतीत होता है।

अवधिज्ञान के संस्थान के सम्बन्ध में दूसरी मान्यता आचार्य महाप्रज्ञ सम्पादित नंदीसूत्र में प्राप्त होती है। आचार्य महाप्रज्ञ ने अंतगत और मध्यगत अवधिज्ञान को चैतन्यकेन्द्रों के गमक के रूप में स्वीकार किया है।²⁸³ उन्होंने षट्खण्डागम²⁸⁴ और धवला के उद्धरण देकर करण या चैतन्य केन्द्र को सिद्ध करने का प्रयास किया है। 'खेत्तव्ये ताव अणेयसंठानसंठिता। सिरिवच्छ-कलस-संख-सोवित्थ-णंदावत्तादीणि संठणाणि णादव्वाणि भवन्ति।' इस उद्धरण से यह स्पष्ट है कि जीव के आत्म-प्रदेशों के क्षायोपशमिक विकार के आधार पर चैतन्य केन्द्रमय शरीर प्रदेशों के अनेक संस्थान बनते हैं। षट्खण्डागम और धवला में उनका उल्लेख किया गया है। प्रस्तुत आगम (नंदी सूत्र) में उनके नामों का निर्देश नहीं है। अंतगत और मध्यगत के रूप में उनका स्पष्ट निर्देश है। भगवती सूत्र में प्राप्त विभंगज्ञान के संस्थानों के उल्लेख से यह अनुमान करना सहज है कि अवधिज्ञान से संबद्ध चैतन्य केन्द्रों का निर्देश भी आगम साहित्य में था, किंतु वह किसी कारणवश विलुप्त हो गया।²⁸⁵

280. तिरिक्ख-मणुस्सविहंगणाणीणं णाहीए हेट्ठा सरडाविअसुहसंठणाणि होति।

- षट्खण्डागम (धवला), पृ. 13, सूत्र 5.5.58, पृ. 298-299

281. इह फड्डुकानि अवधिज्ञाननिगमद्वाराणि अथवा गवाक्षजालादिव्यवहितप्रदीपप्रभावफड्डुकानीव फड्डुकानि।

- आवश्यक हरिभद्रीय वृत्ति, सूत्र 61

282. से किं तं विभंगनाणे? विभंगनाणे अगेगविहे पण्णत्ते, तंजहा - गामसंठिए नगरसंठिए जाव सन्निवेशसंठिए दीवसंठिए समुद्दसंठिए वाससंठिए वासहरसंठिए पव्वयसंठिए रुक्खसंठिए थूभसंठिए हयसंठिए गसंठिए नरसंठिए किन्नरसंठिए किंपुरिससंठिए महोरगसंठिए गंधव्वसंठिए उसभसंठिए पसु-पसय-विहग-वानरणाणासंठणसंठिते पण्णत्ते। - भगवती सूत्र भाग 2, श. 8, उद्दे. 2, पृ. 252-253

283. आचार्य महाप्रज्ञ, नंदीसूत्र, पृ. 57-58

284. षट्खण्डागम, पृ. 13, सूत्र 5.5.58, पृ. 297

पं. सुखलाल संघवी²⁸⁶ के अनुसार दिगम्बर साहित्य²⁸⁷ में अवधिज्ञान और मनःपर्यवज्ञान की उत्पत्ति के शरीरगत कारण उल्लिखित हैं, जो कि श्वेताम्बर ग्रंथों में नहीं हैं। उनके अनुसार अवधिज्ञान की उत्पत्ति आत्मा के उन्हीं प्रदेशों से होती है जो कि शंख आदि शुभ चिह्न वाले अंगों में वर्तमान होते हैं तथा मनःपर्यवज्ञान की उत्पत्ति आत्मा के उन प्रदेशों से होती है जिनका कि संबंध द्रव्य मन के साथ है अर्थात् द्रव्य मन का स्थान हृदय ही है। इसलिए हृदय भाग में स्थित आत्मा के प्रदेशों में ही मनःपर्यवज्ञान का क्षयोपशम होता है, परंतु शंख आदि शुभ चिह्नों का संभव सभी अंगों में हो सकता है, इस कारण अवधिज्ञान के क्षयोपशम की योग्यता किसी खास अंग के वर्तमान आत्म-प्रदेश में ही नहीं मानी जा सकती है।

4. आनुगामिक-अननुगामिक अवधिज्ञान

जिनभद्रगणि ने इसका उल्लेख विशेषावश्यकभाष्य गाथा 714-716 तक किया है। इसका स्वरूप निम्न प्रकार से है -

आनुगामिक अवधिज्ञान

उमास्वाति के अनुसार - जैसे सूर्य का प्रकाश सूर्य का अनुसरण करता है और घट की छाया घट का अनुसरण करती है, उसी प्रकार अवधिज्ञानी जैसे-जैसे आगे बढ़ता है वैसे-वैसे अवधिज्ञान उसका अनुसरण करता है, उसे आनुगामिक अवधिज्ञान कहते हैं।²⁸⁸

जिनभद्रगणि का अभिमत है कि 'अणुगामिओऽणुगच्छइ गच्छंतं, लोयणं जहा पुरिसं' अर्थात् अवधिज्ञानावरण के क्षयोपशम से आत्मप्रदेशों की विशुद्धि हो जाने पर जो ज्ञान एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाते हुए अपने स्वामी का आंख की तरह अनुगमन करे, वह आनुगामिक अवधिज्ञान है।²⁸⁹

जिनदासगणि कहते हैं कि जो गमन करने वाले मनुष्य का मर्यादापूर्वक अनुगमन करने वाला है वह अनुगामी कहलाता है। अनुगम जिस ज्ञान का प्रयोजन है, वह चक्षु के समान अनुगामी है। जिस प्रकार चक्षु व्यक्ति का अनुगमन करती है, उसी प्रकार वह अवधिज्ञान भी व्यक्ति का अनुगमन करता है।²⁹⁰ ऐसा ही उल्लेख हरिभद्र और मलयगिरि²⁹¹ ने भी किया है।

अकलंक के वचनानुसार- जो अवधिज्ञान सूर्य के प्रकाश के समान पीछे-पीछे भवान्तर तक जाता है, वह अनुगामी अवधिज्ञान है।²⁹²

वीरसेचनाचार्य का कहना है कि जो अवधिज्ञान एक भव से दूसरे भव में उत्पन्न जीव के साथ जाता है, वह अनुगामी अवधिज्ञान है।²⁹³

मलधारी हेमचन्द्र के अनुसार - जो अवधिज्ञान आंखों के समान पुरुष के साथ रहता है वह आनुगामिक अवधिज्ञान कहलाता है। यह अवधि नारकी और देवों के होता है।²⁹⁴

285. आचार्य महाप्रज्ञ, नंदीसूत्र, पृ. 57-58

286. कर्मग्रन्थ भाग 1 के परिशिष्ट

287. गोम्मटसार (जीवकांड) भाग 2, गाथा 442

288. तत्त्वार्थभाष्य 1.23

289. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 715

290. अणुगामियं ति अणुगमणसीलो अणुगामितो तदावरणखयोवसमातप्पदेसविसुद्धगमणत्तातो लोयणं व। - नंदीचूर्ण पृ. 26

291. हरिभद्राय, नंदीवृत्ति पृ. 26, मलयगिरि, नंदीवृत्ति, पृ. 81

292. भास्करप्रकाशवद्वच्छंतमनुगच्छति। - तत्तार्थराजवार्तिक, 1.22.4, पृ. 56

293. जमोहिणाणमुप्पणं संतं जोवेण सह गच्छदि तमणुगामी णाणं। - षट्खण्डागम, पु. 13, सूत्र 5.5.56, पृ. 294

294. अनुगमनशील आनुगामुकः, यः समुत्पन्नोऽवधिः स्वस्वामिनं देशान्तरमभिब्रजन्तमनुगच्छति, लोचनवत्.....नारकारणां तथा देवानां चेति। - विशेषावश्यकभाष्य गाथा 714 बृहद्वृत्ति पृ. 302

उपर्युक्त वर्णन का सारांश यह है कि जिस स्थान या जिस भव में किसी को अवधिज्ञान उत्पन्न होता है, यदि वह अवधिज्ञानी स्थानान्तर अथवा दूसरे भव में चला जाए तो भी वह अवधिज्ञान साथ में रहे तो, ऐसे अवधिज्ञान को आनुगामिक अवधिज्ञान कहते हैं। श्वेताम्बर परम्परा के आचार्यों ने तो अनुगम का अर्थ साथ जाता है इतना ही किया, जबकि दिगम्बराचार्यों ने अनुगम का अर्थ परभव भी किया है।

इस प्रकार सभी पूर्वापर आचार्यों ने अनुगामी अवधिज्ञान को परिभाषित किया है। आवश्यकनिर्युक्ति और विशेषावश्यकभाष्य में आनुगामिक अवधिज्ञान के भेद-प्रभेद आदि का वर्णन नहीं है। नंदीसूत्र, नंदीचूर्ण आदि में अवधिज्ञान के भेद-प्रभेद का उल्लेख प्राप्त होता है जो कि निम्न प्रकार से है।

नंदीसूत्र में आनुगामिक अवधिज्ञान के दो भेद किए हैं - (1) अंतगत और (2) मध्यगत।²⁹⁵

1. अंतगत आनुगामिक अवधिज्ञान

जो अवधिज्ञान आत्मप्रदेशों के किसी एक छोर में विशिष्ट क्षयोपशम होने उत्पन्न होता है, वह अवधिज्ञान अंतगत अवधिज्ञान है।²⁹⁶ अथवा पर्यंत में जो व्यवस्थित हो उसका नाम अंतगत आनुगामिक अवधिज्ञान है। अथवा कोने के अंत में प्राप्त हुए ज्ञान को अंतगत अवधिज्ञान कहते हैं। जिस प्रकार जल का किनारा (जल के किसी छोर में), वन का किनारा, पर्वत का किनारा इनमें अंत शब्द का प्रयोग पर्यंतवाची के रूप में हुआ है। वैसे ही अंतगत शब्द अंत शब्द के पर्यंतवाची के रूप में प्रयुक्त हुआ है न कि विनाशवाची के रूप में।²⁹⁷

जिस प्रकार दीपक का प्रकाश छहों दिशाओं में फैलता है, किन्तु पांच दिशाओं को आवरित करने पर वह दिशा को ही प्रकाशित करेगा। जिस दिशा को आवरित नहीं किया गया है, वह दिशा ही दीपक से प्रकाशित होगी। उसी प्रकार अवधिज्ञानावरण के ऐसे क्षयोपशम को जो किसी एक दिशा के पदार्थों को प्रकाशित करे वह अंतगत अवधिज्ञान है। जैसे सभी आत्मप्रदेशों पर चक्षुदर्शनावरण का क्षयोपशम होता है, लेकिन चक्षुदर्शन का उपकरण जहाँ पर है वहीं से दिखता है, वैसे ही अंतगत अवधिज्ञान के द्वारा भी जीव शरीर के उसी भाग से देखता है। जिस भाग के द्रव्य अवधिज्ञान में सहायक हैं। उबलते पानी के समान रुचक प्रदेशों को छोड़कर शेष सभी आत्म-प्रदेश घूमते रहते हैं। आत्मप्रदेश उन सहायक द्रव्यों के स्थान पर आते हैं, तो उन ही आत्मप्रदेशों से अवधिज्ञानी देखता है। अवधिज्ञान आत्मप्रत्यक्ष होते हुए भी इसमें द्रव्यादि पदार्थ साधक-बाधक बन सकते हैं। चूर्णिकार और टीकाकार ने अंतगत अवधिज्ञान को तीन प्रकार से परिभाषित किया है अर्थात् इसके तीन भेद किये हैं।

1. आत्मप्रदेशांत - औदारिक शरीर के अंत (छोर) में स्थित आत्मप्रदेशों से स्पर्धक (फड्डुक) अवधिज्ञान होता है, जिससे एक दिशा में जाना जाता है।²⁹⁸

जिनदासगणि, हरिभद्र और मलयगिरि के अनुसार उपर्युक्त स्वभाव में जहाँ जैसे स्पर्धक होते हैं वहाँ वैसा ही अवधिज्ञान उत्पन्न होता है। यदि ये स्पर्धक आत्मप्रदेशों के अंत तक स्थित हैं तो पर्यन्तवर्ती आत्मप्रदेशों से ही साक्षात् अवधिज्ञान उत्पन्न होगा, आत्मा के समस्त प्रदेशों से नहीं अर्थात् आत्मा के एक भाग से ही अवधिज्ञान उत्पन्न होता है। इस प्रकार के आत्मप्रदेशों की अपेक्षा से हुए ज्ञान को अंतगत अवधिज्ञान कहते हैं। जैसे गवाक्ष आदि से दीपक की प्रभा मकान से बाहर निकलती हुई बाहर प्रकाश करती है उसी प्रकार अवधिज्ञान की किरणें स्पर्धकरूपी छिद्रों से बाह्य जगत् को

295. से किं आणुगामियं ओहिणाणं? आणुगामियं ओहिणाणं दुविहं पण्णत्तं, तं जहा-अंतगयं च मध्यगयं च। - नंदीसूत्र, पृ. 31

296. अन्तेगतं-आत्मप्रदेशानां पर्यन्ते स्थितमन्तगतं। मलयगिरि नंदीवृत्ति, पृ. 86

297. 'अंतगयं' ति जलंतं वणंतं पव्वतंतं अवसिद्धो अंतसद्धो। - नंदीचूर्ण पृ. 27

298. आरोलियसरीरंते ठितं गतं ति एगद्धं, तं च आतप्पदेशसफड्डुगाबहि एगदिसोवलंभाओ य अंतगतमोहिणाणं भण्णति। - नंदीचूर्ण पृ. 27

प्रकाशित करती हैं। ये छिद्र अवधिज्ञानावरण के क्षयोपशमजन्य होते हैं इन्हीं का नाम स्पर्धक है। अवधिज्ञान के स्पर्धकों का विचित्र स्वभाव होता है, जैसे कि कुछेक आत्मा के अंतिम भाग में, कुछेक आगे, कुछेक पीछे, कुछेक ऊपर, कुछेक नीचे, कुछेक बीच में उत्पन्न होते हैं। ये स्पर्धक छिद्र एक जीव के संख्यात, असंख्यात तक हो सकते हैं। जो अवधिज्ञान आगे, पीछे, एक तरफ से संख्यात, असंख्यात योजनगत पदार्थों को प्रकाशित करता है उसको अंतगत अवधिज्ञान कहते हैं।²⁹⁹

2. औदारिक शरीरान्त - सभी आत्म-प्रदेशों की विशुद्धि होने पर औदारिक शरीर से अवधिज्ञानी एक दिशा में जानते हैं अथवा औदारिक शरीर के किसी एक तरफ का विशेष क्षयोपशम होने से अवधिज्ञान उत्पन्न हो, उसे अंतगत अवधिज्ञान कहते हैं।³⁰⁰

जिनदासगणि, हरिभद्र और मलयगिरि के अनुसार सारे आत्म-प्रदेशों पर क्षयोपशमभाव प्राप्त होने पर भी औदारिक शरीर के एक भाग से ज्ञान होता है अर्थात् जो औदारिक शरीर के अंत में स्थित रहे हुए स्पर्धकों से जाना जाए वह औदारिक शरीरान्त अवधिज्ञान है।

प्रश्न-जब सम्पूर्ण आत्म-प्रदेशों का क्षयोपशम होता है तो फिर एक ही दिशा के पदार्थों को देखते हैं, चारों दिशाओं के पदार्थों को क्यों नहीं?

उत्तर-मलयगिरि इसमें क्षयोपशम की विचित्रता को कारणभूत मानते हैं। अतः औदारिक शरीर की अपेक्षा अवधिज्ञानी किसी एक विवक्षित दिशा के सहारे उसी दिशा में स्थित रूपी पदार्थों को जानता देखता है।³⁰¹

3. क्षेत्रान्त - एक दिशा में होने वाले उस अवधिज्ञान के द्वारा प्रकाशित क्षेत्र के चरमान्त को जानना क्षेत्रान्त अवधिज्ञान है। उस क्षेत्र के अन्त में वर्तने से वह अन्तगत अवधिज्ञान है अथवा एक दिशा में उपलब्ध क्षेत्र पुरुष अंतगत होता है, उसे अंतगत अवधिज्ञान कहते हैं।³⁰²

जिनदासगणि, हरिभद्र और मलयगिरि के अनुसार यह अवधिज्ञान एक दिशा भावी होता है अतः उसके द्वारा जितना भी क्षेत्र प्रकाशित किया जाता है, उस प्रकाशित क्षेत्र में एक दिग्गुण विषय के अंत में यह व्यवस्थित होता है, इसलिए इसे अंतगत कहते हैं।³⁰³

हरिभद्र ने नंदीवृत्ति में अपना मत स्थापित किया है कि यहाँ पर आत्मप्रदेश के किनारे वाले को ही अंतगत कहते हैं क्योंकि जीव का उपयोग एक देश में ही होने से एक देश में ही दर्शन होता है। औदारिक शरीर अंतगत में भी औदारिक शरीर के एक देश से ही देखे जाने से वह भी क्षेत्र अंतगत अवधिज्ञान ही है।³⁰⁴ जिनदासगणि और मलयगिरि ने ऐसा उल्लेख नहीं किया है।

299. तानि च विचित्ररूपाणि, तथाहि-कानिचित् पर्यन्तवर्तिष्वात्मप्रदेशेषूपधत्ते, तत्रापि कानिचित्पुरतः कानिचित्पृष्ठतः कानिचिदधोभागे कानिचिदुपरितनभागे तथा कानिचिन्मध्यवर्तिष्वात्मप्रदेशेषु, तत्र यदा अन्तवर्तिष्वात्मप्रदेशेष्ववधिज्ञानमुपजायते तदा आत्मनोऽन्ते-पर्यन्ते स्थितमितिकृत्वा अन्तगतमित्युच्यते, तैरेव पर्यन्तवर्तिभिरामप्रदेशैः साक्षादवधिरूपेण ज्ञानेन ज्ञानात् च शेषैरिति।

-मलयगिरि नंदीवृत्ति, पृ. 83

300. अहवा सव्वातपदेसविसुद्धेसुऽवि ओरालियसरीरगतेण एकदिसि पासणं गतं ति अंतगतं भण्णति। - नंदीचूर्णि पृ. 27

301. अथवा औदारिकशरीरस्यान्ते गतं-स्थितं अन्तगतं कयाचिदेकदिशोपलम्भात्, इदमपि स्पष्टकरूपमवधिज्ञानं अथवा सर्वेषामप्यात्मप्रदेशानां क्षयोपशमभावेऽपि औदारिकशरीरान्तैकया दिशा यद्वशादुपलभ्यते तदप्यन्तगतम्। - मलयगिरि नंदीवृत्ति, पृ. 83-84

302. फुडतरमत्था भण्णति एगदिसावधिउवलद्धुत्तातो सो अवधिपुरिसो अंतगतो ति जम्हा तम्हा अंतगतं भण्णति। - नंदीचूर्णि पृ. 27

303. एकदिग्भावना तेनावधिज्ञानेन यदुद्योतितं क्षेत्रं तस्यान्ते वर्तते तदवधिज्ञानम्, अवधिज्ञानवतः तदन्ते वर्तमानत्वात् ततोऽन्ते एकदिग्गुणस्यावधिज्ञानविषयस्य पर्यन्ते व्यवस्थितमन्तगतं। - मलयगिरि नंदीवृत्ति, पृ. 83

304. इह तच्चात्मप्रदेशांतगतमुच्यते सकलजीवोपयोगे सत्यपि साक्षादेकदेशेनैव दर्शनात्, औदारिकशरीरान्तगतमपि औदारिकशरीरैकदेशेनैव दर्शनाच्च, यथोक्तं क्षेत्रांतगतं त्ववधिमतस्तदंतवृत्तेरिति भावना। - हरिभद्रीय, नंदीवृत्ति, पृ. 27

अंतगत के भेद

नंदीसूत्र के अनुसार अंतगत अवधि कई दिशाओं को प्रकाशित कर सकता है। इसलिए इसके तीन भेद हैं - (अ) पुरतः (ब) मार्गतः (स) पार्श्वतः।³⁰⁵

(अ) पुरतः अंतगत - जिस अवधिज्ञान का स्वामी अपने मुख के आगे एक दिशा में रहे हुए रूपी द्रव्यों को जानता है, अन्य दिशा में रहे हुए रूपी पदार्थ को नहीं जानता है, उसे पुरतः अंतगत अवधिज्ञान कहते हैं, जैसे कि कोई व्यक्ति मशाल आदि लेकर चलता है तो वह आगे की वस्तुओं को देख सकता है, पीछे की नहीं। जिस अवधिज्ञान से अवधिज्ञानी चक्षुइन्द्रिय की तरह सामने के मूर्त पदार्थों को देखने में समर्थ होता है।³⁰⁶ मलयगिरि ने भी ऐसा ही उल्लेख किया है।³⁰⁷

(ब) मार्गतः अंतगत - जिस प्रकार कोई पुरुष दीपिका, मशाल, मणि, ज्योति आदि को पीठ के पीछे करके चलता है, उसे पीछे के पदार्थ दिखाई देते हैं। इसी प्रकार जिस अवधिज्ञान का स्वामी अपनी पीठ के पीछे एक दिशा में रहे हुए रूपी द्रव्यों को जानता है, अन्य दिशा में रहे हुए रूपी पदार्थों को नहीं जानता है, उसे मार्गतः अंतगत अवधिज्ञान कहते हैं।³⁰⁸ मलयगिरि का भी यही अभिमत है।³⁰⁹

(स) पार्श्वतः अंतगत - जिस प्रकार कोई पुरुष दीपक, मणि आदि को पार्श्व भाग की ओर करके चलता है तो उससे उसी ओर की वस्तुएं प्रकाशित होती हैं। इसी प्रकार जिस अवधिज्ञान का स्वामी अपने दक्षिण पार्श्व (दाहिनी ओर) या वामपार्श्व (बायीं ओर) की दिशा में रहे हुए रूपी द्रव्य को जान सके, अन्य दिशा में रहे हुए रूपी पदार्थ को नहीं जान सके, उसे पार्श्वतः अंतगत अवधिज्ञान कहते हैं। पार्श्वतः अंतगत अवधिज्ञानी जाता श्रोत्रेन्द्रिय की तरह उभय पार्श्व में अवस्थित रूपी पदार्थों को जानता-देखता है।³¹⁰ मलयगिरि ने भी ऐसा ही उल्लेख किया है।³¹¹

षट्खण्डागम और तत्त्वार्थसूत्र में आनुगामिक अवधिज्ञान के प्रभेदों का उल्लेख नहीं है। नंदीसूत्र और ध्वलाटीका में इस प्रकार का उल्लेख मिलता है। लेकिन दोनों में भिन्नता है, क्योंकि नंदी में वर्णित भेद अवधिज्ञान कौनसे भाग में उत्पन्न होता है और कौनसी दिशा को प्रकाशित करता है, इसकी स्पष्टता करता है, जबकि ध्वलाटीका में क्षेत्र और भव की दृष्टि से अवधिज्ञान के अनुसरण को स्पष्ट किया गया है, जो इस प्रकार है -

ध्वलाटीका में अंतगत अवधिज्ञान के प्रकार -

1. क्षेत्रानुगामी - जो अवधिज्ञान एक क्षेत्र में उत्पन्न होकर स्वक्षेत्र और परक्षेत्र में जाने पर नष्ट नहीं होता है, वह क्षेत्रानुगामी अवधिज्ञान है।

2. भवानुगामी - जो अवधिज्ञान उत्पन्न होकर जीव के साथ अन्य भव में जाता है, वह भवानुगामी अवधिज्ञान है।

3. क्षेत्र-भवानुगामी - मिश्रित विकल्प अर्थात् जो भरत, ऐरावत और महाविदेह क्षेत्रों में तथा देव, नारकी, तिर्यच और मनुष्य भव में भी साथ जाता है, वह क्षेत्र-भवानुगामी अवधिज्ञान है।³¹²

305. से किं तं अंतगतं? अंतगतं त्विहं पण्णत्तं, तं जहा - पुरओ अंतगतं, मग्गओ अंतगतं, पासतो अंतगतं। - नंदीसूत्र, पृ. 31

306. आवश्यकचूर्णि, रतलाम, श्री ऋषभदेवजी केसरीमलजी श्वेताम्बर संस्था, सन् 1928, भाग 1 पृ. 56

307. पुरतः अवधिज्ञानिनः स्वव्यपेक्षया अग्रभागेऽन्तगत पुरतोऽन्तगतं - मलयगिरि, नंदीवृत्ति, पृ. 84

308. आवश्यकचूर्णि, भाग 1 पृ. 56

309. मार्गतः-पृष्ठतः अन्तगतं मार्गतोऽन्तगतं। - मलयगिरि, नंदीवृत्ति, पृ. 84

310. जत्थ जत्थ सो ओहिणाणी गच्छति तत्थ तत्थ सोईदिणमिव पासतो अवत्थिता रूवावबद्धा अत्था ओहिणा जाणति पासति य। - आवश्यकचूर्णि, भाग 1 पृ. 56

311. पार्श्वतो-द्वयोः पार्श्वयोरेकतरपार्श्वतो वाऽन्तगतं पार्श्वतोऽन्तगतं। - मलयगिरि, नंदीवृत्ति, पृ. 84

312. षट्खण्डागम (ध्वलाटीका) पु.13, पृ. 294

भगवती सूत्र में ज्ञान को इहभविक परभविक और तदुभयभविक कहा है। इस अपेक्षा से आनुगामिक अवधिज्ञान का भवानुगामी विकल्प सार्थक है।³¹³

2. मध्यगत आनुगामिक अवधिज्ञान

आनुगामिक अवधिज्ञान के दूसरे भेद मध्यगत अवधिज्ञान का स्वरूप निम्न प्रकार से है।

नंदीसूत्र के अनुसार जिस प्रकार कोई पुरुष दीपिका, मशाल, मणि आदि को मस्तक पर रखकर चलता है तो उसे चारों ओर के पदार्थ दिखाई देते हैं, इसी प्रकार मध्यगत अवधिज्ञानी सब ओर के रूपी पदार्थों को जानता और देखता है।³¹⁴

जिनदासगणि महत्तर का कथन है कि मध्यगत अवधिज्ञानी चारों ओर के पदार्थों को ग्रहण करता है। जैसे जीव स्पर्शनेन्द्रिय के द्वारा चारों ओर से स्पर्श करके विषय को जान लेता है, उसी प्रकार वह अवधिज्ञानी जहाँ-जहाँ जाता है, वहाँ-वहाँ चारों ओर के रूपी पदार्थों को अवधि से जानता-देखता है।³¹⁵

मध्यगत (सर्व्वओ और समंता) में छहों दिशाओं की अपेक्षा है, किन्तु वह एक दिशा में भी बढ़ सकता है। अवधि क्षेत्र के मध्य में रहता है। मध्यगत एकदम मध्य में हो ऐसा जरूरी नहीं, क्योंकि देवों का अवधिज्ञान मध्यगत होते हुए भी वैमानिक देव ऊपर अपनी ध्वजा पताका तक ही देखते हैं तथा नीचे नारकी तक, अतः ऊपर कम और नीचे ज्यादा अवधिक्षेत्र देखते हैं। इसलिए एकदम मध्य होना आवश्यक नहीं है।

नंदीसूत्र के मूल पाठ में मध्यगत अनुगामी अवधिज्ञानी के दो विशेषण आए हैं – ‘सर्व्वओ’ और ‘समंता’। ‘सर्व्वओ’ का अर्थ सभी दिशा और विदिशा में और ‘समंता’ का अर्थ है सभी आत्मप्रदेशों से। अर्थात् वह अवधिज्ञानी सभी दिशा-विदिशाओं में तथा सभी आत्म-प्रदेशों से जानता है। नंदीचूर्ण में यह भी कहा गया है कि वह अवधिज्ञानी विशुद्ध स्पर्धकों से संख्यात अथवा असंख्यात योजन पर्यंत स्पृष्ट क्षेत्र को जानता और देखता है।³¹⁶ यहां तृतीया अर्थ में सप्तमी का प्रयोग हुआ है। अथवा ‘सर्व्वओ’ का अर्थ सभी दिशा-विदिशा से एवं सभी आत्मप्रदेश स्पर्धकों से जानने वाला होता है।³¹⁷

नंदीचूर्ण में अन्य प्रकार से कहा गया है कि ‘समंता’ मे ‘स’ तो अवधिज्ञानी पुरुष के निर्देश के लिए है और ‘मंता’ ज्ञाता के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है अर्थात् वह अवधि ज्ञाता सभी द्रव्यों को तुल्य (समान) रूप में जानने वाला या प्राप्त करने वाला होता है।³¹⁸ मलयगिरि ने भी ऐसा ही उल्लेख किया है।³¹⁹

मध्यगत के प्रभेद

औदारिक शरीर के मध्यवर्ती स्पर्धकों की विशुद्धि से, सब आत्म-प्रदेशों की विशुद्धि से अथवा सब दिशाओं का ज्ञान मध्यगत अवधिज्ञान कहलाता है।³²⁰ अंतगत के समान इसके भी तीन भेद होते हैं – (अ) आत्म मध्यगत (ब) औदारिक शरीर मध्यगत (स) तत्प्रद्योतित क्षेत्र मध्यगत।

313. इहभविए भंते! नाणे? परभविए नाणे, तदुभयभविए नाणे? गोयमा! इहभविए वि नाणे, परभविए वि नाणे, तदुभयभविए वि नाणे। – युवाचार्य मधुकरमुनि, भगवतीसूत्र, शतक 1 उद्देशक 1, पृ. 36

314. युवाचार्य मधुकरमुनि, नंदीसूत्र, पृ. 32-33

315. आवश्यकचूर्ण, भाग 1, पृ. 56-57

316. ‘सर्व्वओ’ ति सर्व्वासु वि दिसिविदिसासु, समंता इति सर्व्वातप्पदेसेसु सर्व्वेसु वा विसुद्धफडुगेसु वा। – नंदीचूर्ण पृ. 28

317. अहवा ‘सर्व्वतो’ ति सर्व्वासु दिसिविदिसासु सर्व्वातप्पदेसफडुगेसु य। – नंदीचूर्ण पृ. 28

318. ‘स’ इति निद्देसे अवधिपुरिसस्स ‘मंता’ इति णाता, अहवा समं दव्वादयो तुला, ‘अत्ता’ इति प्राप्ता इत्यर्थः। – नंदीचूर्ण पृ. 28

319. स मन्ता इत्यत्र स इत्यवधिज्ञानी परामृश्यते, मन्ता इति ज्ञाता शेषं तथैव। मलयगिरि नंदीवृत्ति, पृ. 85

320. मज्झगतं पुण ओरालियसरीरमज्झे फडुगविसुद्धीतो सर्व्वातप्पदेसविसुद्धीतो वा सर्व्वदिसोवलंभत्तणतो मज्झगतो ति भण्णति।

– नंदीचूर्ण पृ. 27

(अ) आत्म मध्यगत - स्पर्धकों की विशुद्धि से समस्त आत्मप्रदेशों के मध्य में होने वाला अर्थात् आत्मा के बीच के प्रदेशों में रहा हुआ अवधि आत्म-मध्यगत अवधिज्ञान कहलाता है। यह अवधिज्ञान स्पर्धकों के अनुसार होता है, इससे सभी दिशाओं के रूपी पदार्थों का ज्ञान होता है। इसका उपयोग सम्पूर्ण आत्मा में होता है तो भी आत्मा के मध्य में ही स्पर्धक का सद्भाव रहता है, इसलिए साक्षात् ज्ञान मध्य भाग से ही होता है।

(ब) औदारिक शरीर मध्यगत - सभी आत्म प्रदेशों में क्षयोपशम का सद्भाव होने पर भी औदारिक शरीर के मध्य भाग से ही उपलब्धि होती है अर्थात् जानता है, इसलिए इसे औदारिक शरीर मध्यगत अवधिज्ञान कहते हैं।

(स) तत्प्रद्योतित क्षेत्र मध्यगत - जिस अवधिज्ञान से सभी दिशाओं में जो क्षेत्र प्रकाशित किया जाता है, उस क्षेत्र के मध्य में इस ज्ञान की उपलब्धि होती है इसलिए वह तत्प्रद्योतित क्षेत्र मध्यगत कहलाता है। इस अवधिज्ञान का स्वामी अवधिज्ञान द्वारा प्रकाशित क्षेत्र के अंदर ही रहता है।³²¹
अंतगत और मध्यगत में अंतर

नंदीसूत्र³²² में अंतगत अवधिज्ञान चारों दिशाओं में से किसी एक दिशा के क्षेत्र को प्रकाशित करता है। जिस जीव को यह अवधिज्ञान उत्पन्न होता है वह उसी दिशा में संख्यात असंख्यात योजन तक स्थित रूपी द्रव्यों को जानता और देखता है, लेकिन मध्यगत अवधिज्ञानी सभी दिशाओं विदिशाओं में संख्यात और असंख्यात योजन तक स्थित रूपी द्रव्यों को विशेष रूप से जानता और देखता है। अंतगत अनुगामी अवधिज्ञान बेद्री के प्रकाश की भांति और मध्यगत सिर पर रखे हुए दीपक के प्रकाश के समान हैं।

समीक्षा - षट्खण्डागम में जैसा स्वरूप एकदेश और अनेकक्षेत्र अवधिज्ञान का वर्णित है वैसा ही स्वरूप अंतगत और मध्यगत का भी नंदीसूत्र, नंदीचूर्णि, हरिभद्र और मलयगिरि ने नंदीवृत्ति में प्राप्त होता है। जिस अवधिज्ञान का करण जीव के शरीर का एक देश होता है वह एकक्षेत्र अवधिज्ञान है। जो अवधिज्ञान प्रतिनियत क्षेत्र के शरीर के सब अवयवों में रहता है वह अनेकक्षेत्र अवधिज्ञान है³²³

अनानुगामिक अवधिज्ञान

उमास्वाति के अनुसार - अनानुगामिक अवधिज्ञान को प्रश्नादेशिक पुरुष के उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया गया है। जैसे नैमित्तिक अथवा प्रश्नादेशिक पुरुष अपने नियत स्थान में ही प्रश्न का सही उत्तर दे सकता है। वैसे ही क्षेत्र से प्रतिबद्ध अवधिज्ञान अपने क्षेत्र में ही साक्षात् जान सकता है।³²⁴ पूज्यपाद³²⁵ और अकलंक³²⁶ ने भी यही परिभाषा दी है।

नंदीसूत्र में उल्लेख है कि जैसे एक स्थान पर रही हुई अग्नि का प्रकाश पुरुष के अन्यत्र जाने पर उसका अनुसरण नहीं करता है वैसे ही जो अवधिज्ञान उत्पत्ति स्थल से अन्यत्र गमन करते हुए पुरुष का अनुगमन नहीं करे उसको अनानुगामिक अवधि कहते हैं। इसके लिए अग्निकुंड का उदाहरण दिया है।³²⁷ ऐसा ही वर्णन मलयगिरि और उपाध्याय यशोविजय³²⁸ ने भी किया है।

321. मलयगिरि, नंदीवृत्ति, पृ. 83-84

322. युवाचार्य मधुकरमुनि, नंदीसूत्र पृ. 33 सूत्र 11

323. जस्स ओहिणाणस्स जीवसरीरस्स एकदेशो करणं होदि तमोहिणाणमेगक्खेत्तं णाम। जमोहिणाणं पडिणियदखेत्तं वज्जिय सरीरसव्वावयवेसु वट्टदि तमणेयक्खेत्तं णाम। - षट्खण्डागम (धवला) पुस्तक 13, सू. 5.5.56, पृ. 294

324. तत्रानानुगामिकं क्षेत्रे स्थितस्यात्पन्नं ततः प्रच्युतस्य प्रतिपतति, प्रश्नादेशपुरुषज्ञानवत्। - तत्त्वार्थाधिगमसूत्रम् 1.23

325. कश्चिन्नानुगच्छति तत्रैवातिपतति उन्मुखप्रश्नादेशिपुरुषवचनवत्। - सर्वार्थसिद्धि पृ. 90

326. तत्त्वार्थराजवार्तिक 1.22.4 पृ. 56

327. युवाचार्य मधुकरमुनि, नंदीसूत्र, पृ. 34

328. मलयगिरि नंदीवृत्ति, पृ. 89, जैनतर्क भाषा, पृ. 25

जिनभद्रगणि का अभिमत है कि 'इयरो य नाणुगच्छइ ठियपईवो व्व गच्छंतं' अर्थात् अवधिज्ञानावरण के क्षयोपशम से आत्मप्रदेशों की विशुद्धि हो जाने पर जो ज्ञान एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाते हुए अपने स्वामी का स्थित दीपक की तरह अनुगमन नहीं करे, वह अनानुगामिक अवधिज्ञान है।³²⁹

जिनदासगणि के अनुसार एक स्थान पर स्थित अथवा सांकल से प्रतिबद्ध दीपक की भांति जो ज्ञान गमनप्रवृत्त अवधिज्ञानी का अनुगमन नहीं करता, वह अनानुगामिक अवधिज्ञान है अर्थात् सांकल से बंधा हुआ दीपक अपने चारों ओर के क्षेत्र को प्रकाशित करता है, अन्य क्षेत्र को नहीं। वैसे ही अनानुगामिक अवधिज्ञान क्षेत्र प्रतिबद्ध होता है। जिस क्षेत्र में अवधिज्ञान उत्पन्न होता है उसी क्षेत्र में उसका उपयोग लगता है अन्य क्षेत्र में नहीं।³³⁰ इसी का अनुसरण हरिभद्र³³¹ ने भी किया है।

नंदीचूर्णिकार ने कहा है कि अनानुगामिक अवधिज्ञान का क्षयोपशम क्षेत्रसापेक्ष होता है।³³²

मलधारी हेमचन्द्र की बृहद्वृत्ति में उल्लेख है कि जो अवधिज्ञान स्थित दीपक के समान पुरुष के साथ नहीं रहता है वह अनानुगामिक अवधिज्ञान कहलाता है।³³³

नंदीसूत्र में अनानुगामिक अवधिज्ञान के वर्णन में चार शब्द आए हैं। (नंदीसूत्र, पृ. 34)

1. परिपेरंतेहिं (परिपेरंत) - चारों ओर अग्नि स्थान के पास घूमता हुआ।
2. परिघोलेमाणे (परिघोलेमाण) - बार-बार अग्नि स्थान के आस-पास घूमता हुआ।
3. संबद्धाणि (संबद्ध) - अपने उत्पत्ति क्षेत्र से लेकर अंतराल किए बिना पूर्ण संबद्ध क्षेत्र को जानने वाला अर्थात् स्वावगाढ क्षेत्र से निरन्तर जितने पदार्थों को जानता है, वे सम्बद्ध हैं।
4. असंबद्धाणि (असंबद्ध) - अपने उत्पत्ति क्षेत्र को तथा अंतराल सहित विभिन्न क्षेत्रों को जानने वाला अर्थात् बीच में अन्तर रख कर आगे रहे हुए जितने पदार्थ को जानता है वे असम्बद्ध हैं।

सम्बद्ध-असम्बद्ध अवधिज्ञान

अनानुगामिक अवधिज्ञान नंदीसूत्र के अनुसार संबद्ध और असंबद्ध हो सकता है।³³⁴ उसका क्षेत्र संख्यात और असंख्यात योजन का होता है। जब स्वावगाढ क्षेत्र से निरन्तर जितने पदार्थों को वह जानता है वह संबद्ध है। जैसे दीपक की प्रभा व्यवधान बिना संबद्ध होती है, वैसे ही अवधिज्ञान जीव के साथ संबद्ध होता है। अवधि क्षेत्र के सारे क्षेत्र को प्रकाशित करता है, उसको संबद्ध अवधिज्ञान कहते हैं और बीच में अंतर रख कर आगे रहे हुए पदार्थ को जानता है उसे असंबद्ध अवधिज्ञान कहते हैं। जैसे कमरे आदि में जलती हुई लाइट आदि का प्रकाश कमरे के बाहर अंधकार को भेद कर सामने की दीवार आदि को प्रकाशित करता है। इसका क्रम इस प्रकार होगा कि प्रकाश-अंधकार-प्रकाश, इस परिस्थिति में लाइट का प्रकाश लाइट के साथ संबद्ध नहीं होता है वैसे ही अवधिज्ञान जीव के साथ संबद्ध नहीं होता है अर्थात् जो समग्र अवधि के क्षेत्र को प्रकाशित नहीं करके, बीच बीच के क्षेत्र प्रकाशित करे उसको असंबद्ध अवधि कहते हैं।

आवश्यकनिर्युक्ति के अनुसार जो अवधि लोक प्रमाण होता है, वह संबद्ध और असंबद्ध दोनों प्रकार का होता है परंतु जो अवधि अलोक को स्पर्श करता है, वह नियम से संबद्ध होता है।³³⁵

329. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 715

330. णो गच्छति त्ति अणाणुगामिकं संकलापडिबद्धठितपदीवो व्व। - नंदीचूर्ण पृ. 29

331. हरिभद्रीय, नंदीवृत्ति पृ. 28

332. तस्य य खेतावेकखखयोवसमलाभत्तणतो अणाणुगामितं। - नंदीचूर्ण पृ. 29

333. अनानुगामुक्त्स्त्वस्थितश्रृंखलादिनियन्त्रितप्रदीपवत् विपरीतः। - विशेषावश्यकभाष्य बृहद्वृत्ति, गाथा 714, पृ. 302

334. इसका विस्तार से वर्णन देश द्वार में किया है, पृ. 374-376

335. आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा 67

अनानुगामिक के भेद

अनानुगामिक के भेदों का वर्णन निर्युक्ति, भाष्य, नंदी, षट्खण्डागम और तत्त्वार्थसूत्र में प्राप्त नहीं होते हैं। किन्तु धवलाटीका में इसके तीन भेदों का उल्लेख प्राप्त होता है।

1. क्षेत्रानुगामी - जो क्षेत्रांतर में साथ नहीं जाता है, भवांतर में ही साथ जाता है, वह क्षेत्रानुगामी अवधिज्ञान कहलाता है। 2. भवानुगामी - जो भवांतर में साथ नहीं जाता है, क्षेत्रांतर में ही साथ जाता है वह भवानुगामी अवधिज्ञान है। 3. क्षेत्र-भवानुगामी - जो क्षेत्रांतर और भवांतर दोनों में साथ नहीं जाता, किंतु एक ही क्षेत्र और भव के साथ सम्बन्ध रखता है वह क्षेत्र-भवानुगामी अवधिज्ञान कहलाता है।³³⁶

समीक्षा - धवलाटीका में आनुगामिक और अनानुगामिक के जो तीन भेद बताये हैं, उनमें से क्षेत्रानुगामी और भवानुगामी लगभग एक जैसा ही है, वैसे ही भवानुगामी और क्षेत्रानुगामी लगभग एक जैसा ही है। लेकिन क्षेत्र-भवानुगामी में क्षेत्र और भव दोनों में अवधिज्ञान साथ रहता है और क्षेत्र-भवानुगामी में क्षेत्र और भव दोनों में अवधिज्ञान साथ नहीं रहता है। इसलिए अनानुगामिक अवधिज्ञान का क्षेत्र-भवानुगामी भेद ही ज्यादा युक्तिसंगत प्रतीत होता है।

मिश्र अवधिज्ञान

उभयसहावो मीसो देसो जस्साणुजाइ नो अत्रो।

कासइ गयस्स गच्छइ एगं उवहयम्मि जहच्छिं।³³⁷

जो आनुगामिक और अननुगामिक अर्थात् उभय स्वभाव वाला है, वह मिश्र अवधिज्ञान कहलाता है। एक आंख वाले पुरुष के समान, जिसके अवधिज्ञान का कोई भाग अन्यत्र जाते हुए साथ जाता है और कोई भाग साथ नहीं जाता है। वह मिश्र अवधिज्ञान है। ऐसे ही भाव मलधारी हेमचन्द्र ने भी व्यक्त किये हैं।³³⁸ मिश्र अवधिज्ञान का भेद विशेष है, क्योंकि इसका उल्लेख मात्र आवश्यकनिर्युक्ति गाथा 56 और विशेषावश्यकभाष्य गाथा 714 एवं 716 में ही प्राप्त होता है। षट्खण्डागम, नंदीसूत्र और तत्त्वार्थसूत्र आदि ग्रंथों में प्राप्त नहीं होता है।

आनुगामिक-अनानुगामिक अवधिज्ञान के स्वामी

आवश्यकनिर्युक्ति और विशेषावश्यकभाष्य के अनुसार आनुगामिक अवधिज्ञान देव, नरक, मनुष्य और तिर्यच योनि में होता है।³³⁹ मलयगिरि कहते हैं कि मध्यगत आनुगामिक अवधिज्ञान देव, नरक और तीर्थकरों में नियम से होता है। मनुष्यों के अंतगत और मध्यगत दो प्रकार का आनुगामिक हो सकता है।³⁴⁰ तीर्थकरों में अंतगत ही होता है। तिर्यच में अंतगत अवधिज्ञान होता है। अनानुगामिक और मिश्र अवधिज्ञान मनुष्य और तिर्यच में ही होता है अर्थात् मनुष्य और तिर्यच में तीनों प्रकार का अवधिज्ञान होता है।

जघन्य अवधिज्ञान में आनुगामिक, अनानुगामिक, अन्तगत और मध्यगत अवधि हो सकता है। जघन्य अवधि में वैमानिक के आनुगामिक और मध्यगत भेद ही होते हैं। लोक से अधिक अवधि होने पर पूर्व की अपेक्षा वह ज्ञानी सूक्ष्म द्रव्य देखने लगता है। इससे उन्हें लोक से अवधि अधिक होने का पता लग जाता है।

338. यस्स तूत्पन्नस्यावधेदेषो व्रजति स्वामिना सहाऽन्यत्र, देषस्तु, प्रदेशान्तरचलितपुरुषस्योहपतैकलोचनवदन्यत्र न व्रजति, असौ मिश्र उच्यते। - विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 714 की टीका

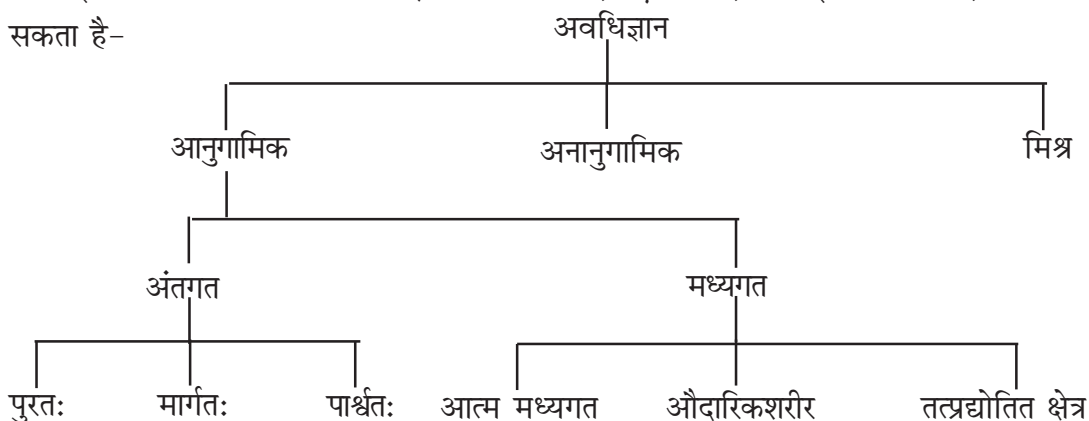
336. षट्खण्डागम, पु. 13 पृ. 294-295

339. आवश्यकनिर्युक्ति गाथा 56, विशेषावश्यकभाष्य गाथा 714

337. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 716

340. मलयगिरि, नंदीवृत्ति पृ. 85-86

इस प्रकरण में वर्णित अवधिज्ञान के तीन भेदों एवं प्रभेदों को इस प्रकार प्रदर्शित किया जा सकता है—



5. अवस्थित अवधिज्ञान

(क्षेत्र-उपयोग-लब्धि से विचारणा)

जिनभद्रगणि ने इसका उल्लेख विशेषावश्यकभाष्य गाथा 717-727 तक किया है। क्षेत्रादि, लब्धि और उपयोग की दृष्टि से अवधिज्ञान जघन्य और उत्कृष्ट कितने काल तक स्थिर (अवस्थित) है, इस दृष्टि से आवश्यकनिर्युक्ति के आधार पर विशेषावश्यकभाष्य में विचार किया गया है।³⁴²

एक द्रव्य अथवा एक पर्याय में लब्धि और उपयोग की अपेक्षा से अवधिज्ञान जितने समय तक स्थिर रहता है, वह अवस्थित अवधिज्ञान है। कोई अवधिज्ञान प्राप्त होने के पश्चात् क्षेत्र आदि की अपेक्षा से बढ़ता है और कोई अवधिज्ञान क्षीण होता है अथवा नष्ट हो जाता है, यही चल अथवा अनवस्थित अवधिज्ञान है।³⁴³

अवस्थित के सम्बन्ध में अन्य ग्रंथों में प्राप्त चर्चा

गुणप्रत्यय अवधिज्ञान के भेदों में षट्खण्डागम और तत्त्वार्थसूत्र में अवस्थित के भेद का उल्लेख है तथा अवस्थित के साथ अनवस्थित अवधिज्ञान का भी उल्लेख है। अनवस्थित का उल्लेख आवश्यकनिर्युक्ति और विशेषावश्यकभाष्य में नहीं है, किन्तु नंदीसूत्र और प्रज्ञापना सूत्र के अवधिपद (33 वां पद) में अवस्थित और अनवस्थित का उल्लेख प्राप्त होता है। इसका अर्थ यह हो सकता है कि अवस्थित और अनवस्थित की विचारणा दो प्रकार से विकसित हुई होगी।

1. निर्युक्ति काल तक अवस्थित का अर्थ अवधिज्ञान कितने समय तक स्थिर रहता है, इस संदर्भ में था, परन्तु यहाँ अनवस्थित का उल्लेख नहीं था। जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण अनवस्थित को स्वीकार करते हैं, लेकिन इसका उल्लेख चल द्वार में किया है, अवस्थित द्वार में नहीं।³⁴⁴ अतः जिनभद्रगणि भी निर्युक्तिकार के मतानुसार स्पष्ट रूप से अनवस्थित अवधिज्ञान को स्वीकार नहीं किया है।

2. षट्खण्डागम में अनवस्थित अवधिज्ञान का उल्लेख हुआ है।³⁴⁵ किन्तु इसकी परिभाषा सर्वप्रथम तत्त्वार्थभाष्य में प्राप्त होती है। तत्त्वार्थसूत्र के भाष्य में इन दोनों भेदों को स्पष्ट करते हुए कहा गया है। कि जो अवधिज्ञान एक बार प्रकट होने के पश्चात् एक जैसा बना रहता है, वह

342. आवश्यकनिर्युक्ति गाथा 57, विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 719

343. द्रव्यादिषु कियन्तं कालमप्रतिपतितः सन्नुपयोगतो लब्धिश्चाऽऽस्ते? इत्येवमवस्थितोऽवधिर्वक्तव्यः। तथा वर्धमानतया हीयमानतया च चलोऽनवस्थितोऽवधिर्वक्तव्यः। - मलधारी हेमचन्द्र बृहद्वृत्ति, विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 577, पृ. 262

344. चलो हि पुनरनवस्थित इत्यर्थः। - विशेषावश्यकभाष्य (स्वापेक्ष), गाथा 723, पृ. 140

345. षट्खण्डागम, पु. 13, सूत्र 5.5.56, पृ. 292

अवस्थित है तथा जो प्रकट होने के पश्चात् एक जैसा नहीं रहता है वह अनवस्थित अवधिज्ञान है। इस प्रकार निर्युक्ति और तत्त्वार्थसूत्र में अवस्थित का स्वरूप भिन्न-भिन्न रूप से प्राप्त होता है।

1. आवश्यकनिर्युक्ति के आधार पर अवस्थित का स्वरूप

निर्युक्ति के आधार से विशेषावश्यकभाष्य में अवस्थित का स्वरूप निम्न प्रकार से है -
क्षेत्र की अपेक्षा

अवधिज्ञान जघन्य एक समय और उत्कृष्ट 33 सागरोपम तक एक ही क्षेत्र में अवस्थित रहता है। जैसेकि अनुत्तर विमानवासी देव उत्पत्ति के समय जिस क्षेत्र को अवगाहित करके रहता है, जब तक उस क्षेत्र में उस देव के भव का अंत अर्थात् आयुष्य पूर्ण न हो। अनुत्तर विमानवासी देव के भव की उत्कृष्ट स्थिति 33 सागरोपम है।³⁴⁶

आवश्यकचूर्ण के अनुसार किसी मनुष्य या तिर्यच को यदि प्रथम समय में अवधिज्ञान उत्पन्न होता है और दूसरे समय में उसकी आयु क्षीण अर्थात् मृत्यु को प्राप्त हो जाती है तो इस प्रकार अवधिज्ञान एक समय तक ही अवस्थित रह पाता है। वैसे ही मिथ्यादृष्टि देव जब प्रथम समय में सम्यक्त्व प्राप्त करता है और दूसरे समय में उसकी भी आयु क्षीण हो जाती है, तब भी अवधिज्ञान का जघन्य अवस्थित काल एक समय का ही घटित होगा।³⁴⁷

उपयोग की अपेक्षा

आवश्यकनिर्युक्ति और विशेषावश्यकभाष्य के कथन से पौद्गलिक द्रव्य में अवधिज्ञान का उपयोग उस क्षेत्र अथवा अन्य क्षेत्र में अंतर्मुहूर्त तक होता है, उसके उपरांत सामर्थ्य का अभाव होता है, जिसके कारण एक द्रव्य में अंतर्मुहूर्त से अधिक उपयोग नहीं होता है³⁴⁹ और उसी द्रव्य की पर्याय को जानते हुए एक पर्याय में अवधिज्ञान का उपयोग सात अथवा आठ समय तक अवस्थित रहता है, इससे अधिक नहीं।³⁵⁰

आवश्यकचूर्णकार के अनुसार जैसे कोई व्यक्ति अत्यन्त सूक्ष्म सूई के पार्श्वछिद्र में लम्बे समय तक निरन्तर नहीं देख सकता है। उसी प्रकार अवधिज्ञानी का द्रव्य में अन्तर्मुहूर्त से अधिक उपयोग नहीं होता है क्योंकि उससे आगे वह एकाग्र नहीं हो सकता है, इसलिए उस द्रव्य में अन्तर्मुहूर्त से अधिक अवस्थित नहीं रह सकता। पर्याय में जघन्य एक समय उत्कृष्ट सात-आठ समय रहने का कारण है कि द्रव्य की पर्यायों का ज्ञान तीव्रतर उपयोग (गहरी एकाग्रता) से होता है। वह अवधिज्ञान तीव्रतर उपयोग से होने वाली सघन एकाग्रता को सहन नहीं कर सकता। अतः वह उस पर्याय पर सात-आठ समयों से अधिक अवस्थित नहीं रह सकता है।³⁵¹ वस्तु जितनी-जितनी सूक्ष्म होती है, वह उपयोग का काल उतना-उतना कम होता जाता है। द्रव्य, गुण और पर्याय के लिए यह एक सामान्य नियम है।³⁵²

मतान्तर

कुछ आचार्यों का मत है कि पर्याय दो प्रकार की होती है - गुण और पर्याय। उसमें जो सहवर्ती होते हैं उन्हें गुण कहते हैं, जैसे श्वेत, रक्तादि गुण हैं एवं जो क्रमवर्ती होता है, वह पर्याय है।

346. आवश्यकनिर्युक्ति गाथा 57, विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 720

347. आवश्यकचूर्ण भाग 1, पृ. 58

349. उपयोगतत्त्ववधे: सुर-नारक-पुद्गलादिके द्रव्ये द्रव्यविषयमुपयोगमाश्रित्य तत्राऽन्यत्र वा क्षेत्रे भिन्नमुहूर्तोऽन्तर्मुहूर्त-मेवाऽवस्थानं, न परतः सामर्थ्या भावादिति। - मलधारी हेमचन्द्र बृहद्वृत्ति, विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 717, पृ. 302

350. तत्रैव द्रव्ये ये पर्यायाः पर्याया धर्मास्तल्लभे पर्यायात् पर्यायान्तरं च संचरतोऽवधेस्तदुपयोगे सप्ताऽष्टौ वा समयानावस्थानं, न परतः। - मलधारी हेमचन्द्र बृहद्वृत्ति, विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 717, पृ. 302-303

351. आवश्यकचूर्ण भाग 1 पृ. 58

352. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 723

जैसे नये-पुराने आदि पर्याय हैं।³⁵³ श्वेतादि गुणों में आठ समय तक एवं पर्यायों में सात समय तक अवधिज्ञान का उपयोग अवस्थित रहता है। क्योंकि द्रव्य स्थूल होने से उसमें अंतर्मुहूर्त तक उपयोग रहता है, गुण उससे सूक्ष्म होते हैं, उसमें आठ समय तक उपयोग रहता है और पर्याय उससे भी सूक्ष्म होने से उसमें सात समय तक उपयोग अवस्थित रहता है। इस प्रकार गुण और पर्याय का उत्तरोत्तर काल घटता जाता है क्योंकि गुण से पर्याय सूक्ष्म होते हैं।³⁵⁴

विशिष्ट अवधिज्ञानी में एक समयादि की पर्यायों को जानने की क्षमता है, परन्तु उपयोग अन्तर्मुहूर्त का होने से उन पर्यायों को वर्तमान में नहीं जानकर उनको भूत-भविष्य की पर्यायों की अवस्था रूप से जान सकता है। भगवान् महावीर के च्यवन पाठ में ऐसा ही उल्लेख प्राप्त होता है। जीव दो समयादि वाटे बहते रहेगा यह जान सकता है।

लब्धि की अपेक्षा

अवधिज्ञानावरण क्षयोपशम रूप को लब्धि कहते हैं। वह लब्धि द्रव्यादि उपयोग वाले के अथवा बिना उपयोग वाले के उस क्षेत्र में अथवा अन्य क्षेत्र में होती है। इस प्रकार क्षयोपशम रूप लब्धि 66 सागरोपम साधिक निरंतर अवस्थित रहती है। जैसे कोई मनुष्य अवधिज्ञान सहित चार अनुत्तर विमान में से किसी विमान में देव के रूप में 33 सागरोपम की स्थिति में उत्पन्न हुआ है, वहाँ से काल करके पुनः मनुष्य में आता है, पुनः चार अनुत्तर विमान में देव के रूप में 33 सागरोपम की स्थिति में उत्पन्न होता है। इस प्रकार दो देवभव के 33+33=66 सागरोपम और मनुष्य भव की स्थिति जितना अधिक काल मिलाकर कुल 66 सागरोपम साधिक काल होता है। इतने समय तक अवधिज्ञान साथ में रहता है, इसलिए लब्धिरूप अवधिज्ञान का अवस्थित काल 66 सागरोपम साधिक होता है। उपर्युक्त अवधिज्ञान के उपयोग और लब्धि का जो अवस्थान काल बताया है, वह उत्कृष्ट अवस्थान काल है, जघन्य अवस्थान काल तो एक समय का होता है।

जघन्य अवस्थान किसके होता है?

एक समय का जघन्य अवस्थान काल अवधिज्ञानी से गिरने की अपेक्षा अथवा अनुपयोग से मनुष्य और तिर्यच में होता है। मनुष्य और तिर्यच में जघन्य अवधि होता है लेकिन देव और नारकी में जघन्य अवधिज्ञान नहीं होता है।

देव और नारक भव के अंतिम समय में सम्यक्त्व का लाभ होने पर विभंगज्ञान अवधिज्ञान में परिवर्तित होता है और भव का अंतिम समय पूर्ण होने से वह काल करने से अवधिज्ञान नष्ट हो जाता है। इस प्रकार देव और नारक में एक समय का अवधिज्ञान रहता है। इस अपेक्षा से देव नारकी में स्व क्षेत्र काल की अपेक्षा एक समय का अवस्थान घटित होता है।³⁵⁵ मलधारी हेमचन्द्र कहते हैं कि उक्त कालमान उपयोग और लब्धि के विषय में है।

2. तत्त्वार्थसूत्र के आधार पर अवस्थित का स्वरूप

जो अवधिज्ञान जितने क्षेत्र आदि में उत्पन्न हुआ है उतना ही क्षेत्रादि वृद्धि और हानि के बिना जब तक केवलज्ञान की प्राप्ति न हो जाए अथवा भव पूर्ण (आयुष्य पूर्ण होने तक) नहीं हो जाए तब तक अथवा मृत्यु के पश्चात् अन्य गति में भी साथ रहे तो उसे अवस्थित अवधिज्ञान कहा गया है।

353. अन्ये तु व्याचक्षते - पर्याया द्विविधाः - गुणाः पर्यायाश्च। तत्र सहवर्तिनो गुणाः शुक्लादयः, क्रमवर्तिनस्तु पर्याया नव पुराणादयः। - मलधारी हेमचन्द्र बृहद्वृत्ति, विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 717 टीका, पृ. 303

354. मलधारी हेमचन्द्र बृहद्वृत्ति, विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 717 टीका, पृ. 303

355. आवश्यकनिर्युक्ति गाथा 58, विशेषावश्यकभाष्य गाथा 726-727

जिस अवधि में जल की तरंगों की तरह परिणामों से वृद्धि और हानि अथवा उत्पत्ति और नाश होता रहे, वह अनवस्थित अवधिज्ञान है।³⁵⁶

उपर्युक्त वर्णन में अवस्थित अवधिज्ञान स्थिर रहे ऐसा उल्लेख है, लेकिन वृद्धि और हानि नहीं होती यह बात मूल टीका से स्पष्ट नहीं हो कर, अनवस्थित के वर्णन से स्पष्ट हो रही है। स्पष्ट रूप से इसका उल्लेख पूज्यपाद ने किया है। उनके अनुसार अवस्थित अवधिज्ञान में वृद्धि और हानि का अभाव होता है अर्थात् अवस्थित अवधिज्ञान का कारण सम्यग्दर्शन आदि गुणों की अवस्थिति है एवं अनवस्थित अवधिज्ञान का कारण उक्त गुणों की वृद्धि और हानि है। अनवस्थित अवधिज्ञान के संदर्भ में तत्त्वार्थसूत्र में उल्लिखित उत्पत्ति और नाश एवं जन्म-जन्मान्तर में रहने का उल्लेख नहीं है।³⁵⁷ अकलंक, वीरसेनाचार्य आदि आचार्यों ने पूज्यपाद का ही अनुसरण किया है।³⁵⁸

प्रश्न - अवधिज्ञान के अवस्थित, अनवस्थित, प्रतिपाती और अप्रतिपाती इन चारों भेदों में क्या अन्तर है?

उत्तर - जिसमें हानि या वृद्धि न हो, उसे अवस्थित अवधि कहते हैं। जिसमें हानि या वृद्धि होती हो उसे अनवस्थित अवधिज्ञान कहते हैं। जो अवधि दीपक बुझने की भांति सर्वथा एक साथ नष्ट हो जाय, उसे प्रतिपाती कहते हैं। जो अवधिज्ञान केवलज्ञान होने तक या जीवन-पर्यन्त रहे, उसे अप्रतिपाती कहा जाता है। अप्रतिपाती में वृद्धि आदि हो सकती है।

नारकी, देवता के अवधि को हीयमान और वर्धमान नहीं बताकर अवस्थित अवधि बताया है। अतः जन्म से उस नारकी देवता के अवधि में हानि वृद्धि नहीं समझी जाती है। एक नैरयिक एवं देवता से दूसरे नैरयिक एवं देवता के अवधिज्ञान में अनन्तगुणा न्यूनता अधिकता बताई गई है। उसे बौद्धिक क्षमता की तीव्रता मन्दता के कारण समझा जा सकता है। क्षेत्र लगभग समान होते हुए भी द्रव्य एवं भावों में अनन्त गुणा हानि-वृद्धि समझी जाती है।

6. चल द्वार एवं अवधिज्ञान

जिनभद्रगणि ने इसका उल्लेख विशेषावश्यकभाष्य गाथा 728-732 तक किया है। इसका स्वरूप निम्न प्रकार से है -

द्रव्य, क्षेत्र आदि की अपेक्षा अवधिज्ञान में वृद्धि और हानि होती है, उसे चल कहा जाता है।³⁵⁹

मूल में वृद्धि दो प्रकार की होती है

भाग वृद्धि और गुण वृद्धि। किसी वस्तु के भाग प्रमाण में वृद्धि होना भागवृद्धि और गुण प्रमाण में वृद्धि होना गुणवृद्धि कहलाती है। जैसे कि 100 रुपये में दस भागवृद्धि (100/10=10) अर्थात् दस रुपये की वृद्धि होना भागवृद्धि है। 100 रुपयें में 10 गुणा वृद्धि (100×10=1000) अर्थात् 1000 रुपये की वृद्धि होना गुणवृद्धि कहलाती है। भाग वृद्धि तीन प्रकार की है - अनन्त, असंख्यात

356. अनवस्थितं हीयते वर्धते वर्धते हीयते च। प्रतिपतति चोत्पद्यतेचेति। पुनः पुनरुर्ध्वत् अवस्थितं यावति क्षेत्रे उत्पन्न भवति ततो न प्रतिपतत्याकेवलप्राप्तेरवतिष्ठते, आभवक्षयाद् वा जात्यन्तरस्थापि भवति लिंगवत्। - तत्त्वार्थाधिगम् 1.23

357. इतरोऽवधिः सम्यग्दर्शनादिगुणावस्थानाद्यत्परिमाण उत्पन्नस्तत्परिमाण एवावतिष्ठते, न हीयते नापि वर्धते लिंगवत् आ भवक्षयादा-केवलज्ञानोत्पत्तेर्वा। अन्योऽवधिः सम्यग्दर्शनादिगुणवृद्धिहानियोगाद्यत्परिमाण उत्पन्नस्ततो वर्धते यावदनेन वर्धितव्यं हीयते च यावदनेन हातव्यं वायुवेगप्रेरितजलोर्मिवत्। - सर्वार्थसिद्धि 1.22 पृ. 90-91

358. तत्त्वार्थराजवार्तिक 1.22.4 पृ. 56, धवलाटीका पु. 13 5.5.56 पृ. 294

359. चलश्चावधिर्द्रव्यादि-विषयमंगीकृत्य -वर्धमानको हीयमानको वा भवति।

और संख्यात। इसी प्रकार से गुणवृद्धि भी तीन प्रकार की होती है – अनंतगुणा, असंख्यातगुणा और संख्यातगुणा। इसी प्रकार हानि भी तीन-तीन प्रकार की ही होती है। इस प्रकार यह वृद्धि और हानि कुल छह प्रकार की होती है यथा – 1. अनंत भागवृद्धि, 2. असंख्यात भागवृद्धि, 3. संख्यात भागवृद्धि, 4. संख्यात गुणावृद्धि, 5. असंख्यात गुणावृद्धि, 6. अनंत गुणावृद्धि। इसी तरह से हानि भी छह प्रकार की होती है।

द्रव्यादि में वृद्धि / हानि

आवश्यकनिर्युक्ति और विशेषावश्यकभाष्य के अनुसार उपर्युक्त छह प्रकार की वृद्धि और हानि में से द्रव्य में दो, क्षेत्र व काल में चार और पर्याय (भाव) में छह प्रकार की होती है।³⁶⁰ प्रथम व अंतिम (अनंत भागवृद्धि और अनंत गुणावृद्धि) इन दो भेदों को छोड़कर शेष चार भेद क्षेत्र और काल में वृद्धि और हानि के रूप में पाये जाते हैं। क्षेत्र और काल में अनंत भाग और अनंतगुण वृद्धि और हानि नहीं होती है, क्योंकि क्षेत्र और काल अनंत नहीं हैं। अवधिज्ञानी अवधि के उत्पन्न होने के प्रथम समय में जितना क्षेत्र देखते हैं उसके बाद प्रत्येक समय बढ़ते-बढ़ते कोई असंख्यात भाग जितना देखते हैं, कोई संख्यात भाग जितना, कोई संख्यात गुणा जितना और कोई असंख्यात गुणा जितना क्षेत्र देखते हैं। इसी प्रकार क्षेत्र में चार प्रकार की हानि भी जाननी चाहिए। क्षेत्र की तरह ही काल में भी उपर्युक्त चार प्रकार की वृद्धि और हानि होती है।³⁶¹

मतान्तर

यहां जिनभद्रगणि और अकलंक दोनों में मतभेद है। अकलंक के अनुसार द्रव्य में भी वृद्धि और हानि चार प्रकार से होती है।³⁶² जबकि जिनभद्रगणि ने द्रव्य में दो प्रकार की वृद्धि और हानि ही मानी है। जिनभद्रगणि द्वारा द्रव्य में दो प्रकार की वृद्धि और हानि मानने का कारण टीकाकार मलधारी हेमचन्द्र ने स्पष्ट किया है, लेकिन अकलंक ने इसका कोई स्पष्टीकरण नहीं दिया है। मलधारी हेमचन्द्र के अनुसार अवधिज्ञानी जितना द्रव्य देखता है उससे पीछे कोई अनंतभाग अधिक देखते हैं, कोई अनंतगुणा अधिक देखते हैं, लेकिन वस्तु स्वभाव से असंख्यातादि भाग अधिक नहीं देखते हैं। ऐसे ही अनंत भाग कम और अनंतगुणा कम देखते हैं, किंतु वस्तु स्वभाव से असंख्यात भाग कम नहीं देखते हैं। पर्याय में उपर्युक्त छह ही प्रकार की वृद्धि और हानि पाई जाती है।³⁶³

द्रव्यादि का परस्पर संबंध

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव का परस्पर वृद्धि और हानि की अपेक्षा से विचार करें तो द्रव्यादि एक की वृद्धि होने पर अन्य की वृद्धि और द्रव्यादि एक की हानि होने पर अन्य की हानि होती है। परंतु इससे विपरीत द्रव्यादि एक की हानि होने पर दूसरे की वृद्धि होती हो तथा द्रव्यादि एक की वृद्धि होने से दूसरे की हानि होती हो, प्रायः ऐसा नहीं होता है। ‘बुढ़ीए चिय बुढ़ी हाणी हाणीए न उ विवज्जासो’³⁶⁴ में ‘विवज्जासो’ शब्द का अर्थ है – विपर्यास (विपरीत) अर्थात् द्रव्यादि की वृद्धि

360. आवश्यकनिर्युक्ति गाथा 59, विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 728

361. मलधारी हेमचन्द्र बृहद्वृत्ति, विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 728 का भावार्थ

362. एवं द्रव्यमपि वर्धमानचतुर्विधया वद्धया वर्धत। हानिरपि तथैव। – तत्त्वार्थराजवार्तिक 1.22, पृ.56

363. अवधिज्ञानीना यावन्ति द्रव्याण्युपलब्धानि प्रथमं, ततः परं तेभ्योऽनन्तभागाधिकानि कश्चित पश्यति. अपरस्तु तेभ्योऽनन्तगुणवृद्धान्येव तानि पश्यति: न त्वसंख्यातभागाधिक्यादिना वृद्धानि वस्तुस्वाभावात्।

– मलधारी हेमचन्द्र बृहद्वृत्ति, विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 728

364. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 733

और हानि में विपर्यास नहीं होता है। विपर्यास का लक्षण है कि एक द्रव्यादि की हानि होने पर दूसरे द्रव्यादि की वृद्धि होती है अथवा एक द्रव्यादि की वृद्धि होने पर दूसरे द्रव्यादि की हानि होती है। लेकिन यहाँ पर ऐसा नहीं होता है। इसलिए इस गाथा के उत्तरार्द्ध की व्याख्या इस प्रकार से करनी चाहिए कि द्रव्यादि में एक की वृद्धि होने पर दूसरे की वृद्धि होती है, लेकिन हानि रूप विपर्यास नहीं होता है। इसी प्रकार द्रव्यादि में एक की हानि होने पर दूसरे की हानि होती है, लेकिन वृद्धि रूप विपर्यास नहीं होता है। जैसे कि 'काले चउण्ह वुड्ढी'³⁶⁵ में काल की वृद्धि होने पर सबकी वृद्धि होती है। इसी प्रकार एक की वृद्धि होने पर दूसरे का अवस्थान होता है। 'कालो भइयव्वो खेत्तवुड्ढीए'³⁶⁶ क्षेत्र की वृद्धि होने पर काल की वृद्धि में भजना है। द्रव्यादि एक की हानि होने पर दूसरों की हानि होती है। 'भागे भागो गुणणे गुणो य दव्वाइसंजोए'³⁶⁷ एक क्षेत्रादि के असंख्यातवें भाग वृद्धि होते ही दूसरे के भी भाग में वृद्धि होगी अथवा अवस्थान रहेगा, लेकिन गुणाकार वृद्धि नहीं होगी। जैसे कि काल में असंख्यात भाग की वृद्धि हुई तो क्षेत्र में भी असंख्यात भाग की ही वृद्धि होगी, लेकिन क्षेत्र में असंख्यातगुणा की वृद्धि नहीं होगी। इसी प्रकार एक में गुणाकार वृद्धि होती है तो दूसरे में भी गुणाकार वृद्धि ही होगी या अवस्थान होगा, लेकिन भाग वृद्धि नहीं होगी। जैसे काल असंख्यात गुणा बढ़ा हो तो क्षेत्र में भी असंख्यात गुणा की वृद्धि होगी, लेकिन असंख्यात भाग की वृद्धि नहीं होगी।³⁶⁸

मलधारी हेमचन्द्र के अनुसार उपर्युक्त वर्णन में वृद्धि और हानि का एकांत नियम नहीं, क्योंकि क्षेत्रादि में भाग की वृद्धि होने पर द्रव्यादि में गुणाकार वृद्धि होना भी संभव है।³⁶⁹

जिनभद्रगणि के मन्तव्य का सारांश है कि क्षेत्र में चार प्रकार की, द्रव्य में दो प्रकार की और पर्याय में छह प्रकार की वृद्धि और हानि कही है। यह वृद्धि और हानि अवधिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम के आधीन होने से विचित्र है।³⁷⁰

वर्धमान-हीयमान

अवधिज्ञान के वर्धमान और हीयमान इन दोनों भेदों का आवश्यकनिर्युक्ति,³⁷¹ विशेषावश्यकभाष्य³⁷² षट्खण्डागम³⁷³, नंदीसूत्र³⁷⁴ तत्त्वार्थसूत्र³⁷⁵ और विशेषावश्यकभाष्य की बृहद्वृत्ति³⁷⁶ में वर्णन है।

आवश्यकनिर्युक्ति और विशेषावश्यकभाष्य के अनुसार वर्धमान और हीयमान के स्वरूप का वर्णन उपर्युक्त वर्णित वृद्धि और हानि के समान ही है।

नंदीसूत्र के अनुसार - जिस अवधिज्ञान में विचारों के प्रशस्त होने पर तथा उनकी विशुद्धि होते रहने पर एवं पर्यायों की अपेक्षा चारित्र्य बढ़ता हुआ होने पर सभी ओर से वृद्धि होती है, वह वर्धमान अवधिज्ञान है।³⁷⁷

365. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 617

366. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 617

367. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 733

368. मलधारी हेमचन्द्र बृहद्वृत्ति, विशेष भाष्य, गाथा 733 का भावार्थ

369. प्रायेण चैतद् द्रष्टव्यम् क्षेत्रादेर्भागेन वृद्धावपि द्रव्यादेर्गुणकारेण वृद्धिसंभवादिति।-मलधारी हेमचन्द्र बृहद्वृत्ति, विशेष भाष्य, गा. 733

370. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 734-737

371. आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा 59

372. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 728

373. षट्खण्डागम, पु. 13, सूत्र 5-5-56, पु. 292

374. युवाचार्य मधुकरमुनि, नंदीसूत्र पृ. 30

375. तत्त्वार्थसूत्र 1.23

376. चलश्चावधिर्द्रव्यादिविषयमंगीकृत्य वर्धमानको हीयमानको वा भवति।- मलधारी हेमचन्द्र बृहद्वृत्ति, विशेष भाष्य, गाथा 728

377. से किं तं वड्डमाणयं ओहिणाणं? वड्डमाणयं ओहिणाणं पसत्थेसु अज्झव सायट्ठाणेषु वट्टमाणस्स वड्डमाणचरित्तस्स विसुज्झमाणस्स विसुज्झमाणचरित्तस्स सव्वओ समंता ओहि वड्डइ। - नंदीसूत्र पृ. 35

जिस अवधिज्ञान में विचारों के अप्रशस्त होने पर तथा उनमें मलिनता आते रहने पर एवं पर्यायों की अपेक्षा चारित्र घटता हुआ होने पर सभी ओर से हानि होती है, वह हीयमान अवधिज्ञान है।³⁷⁸ हरिभद्र के अनुसार जो अवधिज्ञान उत्पत्ति काल के साथ ही बुझती हुई अग्निज्वाला की तरह क्षीण होने लगता है, वह हीयमान अवधिज्ञान है।³⁷⁹

उमास्वाति के अनुसार जैसे ईंधन नहीं डालने से अग्नि मंद हो जाती है वैसे ही जितना अवधिज्ञान उत्पन्न हुआ है वह विशुद्धि के अभाव में धीरे-धीरे घटता है, वह हीयमान अवधिज्ञान है। जैसे अग्नि में ईंधन डालने पर वह बढ़ती रहती है, वैसे ही विशुद्धि बढ़ने पर निरंतर अवधिज्ञान में वृद्धि होती रहती है, वह वर्धमान अवधिज्ञान है।³⁸⁰

षट्खण्डागम में तो वर्धमान और हीयमान का नामोल्लेख ही हुआ है। इनका विशेष स्पष्टीकरण धवलाटीकाकार ने किया है कि जो अवधिज्ञान उत्पन्न हो कर शुक्लपक्ष के चन्द्रमंडल के समान प्रतिसमय अवस्थान के बिना जब तक अपने उत्कृष्ट विकल्प को प्राप्त होकर अगले समय में केवलज्ञान को उत्पन्न कर विनष्ट नहीं हो जाता है तब तक बढ़ता ही रहता है, वह वर्धमान अवधिज्ञान है। कृष्णपक्ष के चन्द्रमंडल के समान जो अवधिज्ञान उत्पन्न हो कर वृद्धि और अवस्थान के बिना निःशेष विनष्ट होने तक घटता ही जाता है वह हीयमान अवधिज्ञान है। इसका अंतर्भाव देशावधि में होता है। परमावधि और सर्वावधि में हानि नहीं होती है। इसलिए इनमें हीयमान समाविष्ट नहीं होता है। धवलाटीका में वर्धमान अवधिज्ञान के लक्षण के सम्बन्ध में दो बात विशेष हैं – (1) जो उत्पत्ति के समय से प्रति समय अवस्थान के बिना वृद्धि को प्राप्त होता रहता है। (2) केवलज्ञान की प्राप्ति न हो वहाँ तक क्रमशः वृद्धि होती है।³⁸¹

पूज्यपाद ने भी वर्धमान एवं हीयमान को लगभग इसी प्रकार समझाया है, लेकिन यह कहा गया है कि वर्द्धमान जितने परिमाण में उत्पन्न होता है उससे असंख्य लोकप्रमाण जानने की योग्यता होने तक बढ़ता रहता है और हीयमान अंगुल के असंख्यातवें भागप्रमाण जानने की योग्यता होने तक घटता चला जाता है। उक्त वर्णन के आधार से कह सकते हैं कि हीयमान में अवधिज्ञान नष्ट नहीं होता है।³⁸² नंदीचूर्णि, हरिभद्रीया नंदीवृत्ति और मलयगिरि की नंदीवृत्ति में हीयमान अवधिज्ञान का विशेष वर्णन उपलब्ध नहीं होता है।

‘सव्वाओ-समंता’ विशेषणों के अनुसार हीयमान अवधिज्ञान चारों ओर से घटता है। यह एक प्रकार का सामान्य नियम है, किन्तु कभी एकादि दिशा में भी वह ज्ञान हीयमान हो सकता है। अवधि जितना है, उससे कम होना हीयमान है और पूरा नष्ट होना प्रतिपाती है। जब हीयमान होता है तब संक्लिश्यमान भाव होते हैं। किन्तु संक्लिश्यमान भावों में विभंग भी घट सकता है। नारक देवों का अवधिज्ञान क्षेत्र से हीयमान नहीं होता है, किन्तु द्रव्य और भाव से हीयमान हो सकता है।

वर्धमान अवधिज्ञान के भेद में, क्षेत्र की अपेक्षा बढ़े उसे ही वर्धमान कहा है। किन्तु उतने ही क्षेत्र में द्रव्य-पर्याय की वृद्धि हो सकती है, उसकी यहाँ विवक्षा नहीं की है, लेकिन उसे भी एक अपेक्षा से वर्धमान कह सकते हैं।

378. हीयमाणयं ओहिणाणं अप्पसत्थेहिं अज्झवसायट्ठणेहिं वट्टमाणस्स वट्टमाणचरित्तस्स संकिलिस्समाणस्स संकिलिस्समाण-चरित्तस्स सव्वओ समंता ओही परिहायइ, से तं हीयमाणयं ओहिणाणं। – नंदीसूत्र पृ. 39

379. हरिभद्रीय, नंदीवृत्ति, पृ. 23

380. तत्त्वार्थभाष्य 1.23 पृ. 98-99

381. षट्खण्डागम, पु. 13, सूत्र 5.5.56, पृ. 293

382. सर्वार्थसिद्धि 1.22 पृ.90

वृद्धि और हानि के कारण

नंदी के अनुसार प्रशस्त और विशुद्ध द्रव्यलेश्यायुक्त चिंतन और प्रशस्त चारित्र होने से उत्तरोत्तर चारित्र की विशुद्धि होती है अर्थात् मूलगुणों की वृद्धि होती है। यह वृद्धि अवधिज्ञान के वर्धमान होने में कारणभूत होती है। अप्रशस्त और अविशुद्ध द्रव्यलेश्यायुक्त चिंतन और अप्रशस्त चारित्र वाला श्रावक या साधु जब अशुभ विचारों से संक्लेश को प्राप्त होता है तथा उसके चारित्र में संक्लेश होता है अर्थात् मूलगुणों की हानि होती है, तब सब ओर से तथा सब प्रकार से अवधिज्ञान की पूर्व अवस्था से हानि होती है, यह हीयमान अवधिज्ञान है।³⁸³

7. तीव्र-मंद द्वार एवं अवधिज्ञान

जिनभद्रगणि ने इसका उल्लेख विशेषावश्यकभाष्य गाथा 738-747 तक किया है। अवधिज्ञान की तीव्रता और मंदता का वर्णन विशेषावश्यकभाष्य में तीव्र और मंद द्वार में किया गया है। अवधिज्ञान की तीव्रता और मंदता का वर्णन विशेषावश्यकभाष्य और इनकी टीकाओं में ही प्राप्त होता है। अन्य ग्रन्थ और साहित्यों में नहीं मिलता है। इस प्रकार का उल्लेख जिनभद्रगणि का वैशिष्ट्य है।

तीव्र-मंद-मिश्र का स्वरूप

तीव्र - अवधिज्ञानावरण के विशुद्ध क्षयोपशमजन्य स्पर्धक से उत्पन्न अवधिज्ञान निर्मल होने से तीव्र कहलाता है। मंद - अवधिज्ञानावरण के अशुद्ध क्षयोपशमजन्य स्पर्धक से उत्पन्न अवधिज्ञान मलिन होने से मंद कहलाता है। तीव्र-मंद (मिश्र) - अवधिज्ञानावरण के मध्यम क्षयोपशमजन्य स्पर्धक से उत्पन्न अवधिज्ञान विशुद्धाविशुद्ध होने से मिश्र (तीव्र-मंद) कहलाता है।³⁸⁴

स्पर्धक अवधिज्ञान

इसका वर्णन आवश्यकनिर्युक्ति और विशेषावश्यकभाष्य, नंदीसूत्र की चूर्णि और टीकाओं में प्राप्त होता है लेकिन दिगम्बर साहित्य में स्पर्धक अवधिज्ञान का वर्णन प्राप्त नहीं होता है।³⁸⁵

स्पर्धक का स्वरूप

जिनभद्रगणि-क्षमाश्रमण ने स्वरचित भाष्य की टीका में कहा है कि 'स्पर्द्धकमवधिविच्छेद विशेषः इति, तानि च एकजीवस्यासंख्येयानि संख्येयानि च भवन्ति।' अर्थात् अवधिज्ञान के विच्छेद विशेष को स्पर्द्धक कहते हैं। वे स्पर्द्धक एक जीव के संख्यात और असंख्यात भी हो सकते हैं।³⁸⁶

जिनभद्रगणि के कथनानुसार 'जालंतररत्नदीवप्पहोवमो फडुगावही होइ।' जाली आदि से ढंके हुए दीपक की प्रभा का जिस प्रकार निगमन होता है वैसे ही स्पर्धक अवधि होता है।³⁸⁷

आवश्यकचूर्णिकार के मन्तव्यानुसार - एक दीपक जल रहा है। उस पर जालीदार ढक्कन लगा हुआ है। उससे प्रकाश की रश्मियाँ छिद्रों से बाहर आती हैं। वे रश्मियाँ बाह्य स्थित रूपी पदार्थों को प्रकाशित करती हैं। इसी प्रकार जीव के भी जिन आकाशप्रदेशों (आत्मप्रदेशों) में अवधिज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम होता है, उनमें अवधिज्ञान उत्पन्न होता है। जिन आकाश प्रदेशों में अवधिज्ञानावरण का क्षयोपशम नहीं होता, उनमें अवधिज्ञान उत्पन्न नहीं होता है। जीव के कुछ आकाश प्रदेशों में अवधिज्ञान उत्पन्न होता है, कुछ में नहीं होता है। जिन आकाश प्रदेशों में अवधिज्ञान उत्पन्न होता है, उन्हें स्पर्धक कहा जाता है।³⁸⁸

383. युवाचार्य मधुकरमुनि, नंदीसूत्र, पृ. 35,39

384. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 740 एवं बृहद्वृत्ति

385. आवश्यकनिर्युक्ति गाथा 60, विशेषावश्यकभाष्य गाथा 740, मलयगिरि नंदीवृत्ति पृ. 83

386. विशेषावश्यकभाष्य (स्वोपज्ञ) गाथा 734-736

387. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 740

388. आवश्यकनिर्युक्ति भाग 1, पृ. 61

मलधारी हेमचन्द्र का कथन है कि जाली आदि की ओट में रहे हुए दीपक का प्रकाश जाली के छिद्रों से जिस प्रकार निकलता है वैसे ही अवधिज्ञानावरण के क्षयोपशम से अवधिज्ञान आत्मप्रदेश से छिद्रों की तरह निकल कर रूपी पदार्थों को प्रकाशित करता है, इस प्रकार के आत्मप्रदेश स्पर्धक कहलाते हैं।³⁸⁹

मलयगिरि के अनुसार - जैसे झरोखे की जाली में से निकलने वाली दीपक की प्रभा का प्रतिनियत आकार होता है, वैसे ही स्पर्धक अवधिज्ञान की प्रभा का प्रतिनियत विच्छेद करते हैं।³⁹⁰

स्पर्धकों का स्थान

अवधिज्ञान के कुछ स्पर्धक पर्यन्तवर्ती आत्मप्रदेशों में उत्पन्न होते हैं। कुछ आगे के आत्मप्रदेशों में, कुछ पृष्ठवर्ती आत्मप्रदेशों में, कुछ अधोभाग में, कुछ उपरितन भाग में तथा कुछ मध्यवर्ती आत्मप्रदेशों में उत्पन्न होते हैं।³⁹¹

स्पर्धकों की संख्या

यह स्पर्धक एक जीव की अपेक्षा संख्यात अथवा असंख्यात होते हैं।

स्पर्धकों में उपयोग

जीव का जब एक स्पर्धक में उपयोग है तो नियम से वह सभी स्पर्धकों में उपयोगवान् होता है, जैसे कि जैसे एक चक्षु में उपयोग होता है तो दूसरे चक्षु से भी उपयोग होता है।

प्रश्न - यदि जीव का सभी स्पर्धकों में उपयोग होता है तो बहुत उपयोगों का प्रसंग उपस्थित हो जाएगा?

उत्तर - ऐसा मानना उचित नहीं है, क्योंकि दोनों चक्षुओं का उपयोग होने पर भी स्वभाव से जीव के एक समय में एक ही वस्तु में उपयोग रहता है। वैसे ही बहुत स्पर्धकों में उपयोग होते हुये भी एक समय में एक स्पर्धक में ही उपयोग होता है। यथा यह हाथी है, दक्षिण की ओर घोड़े हैं, पीछे रथ है और आगे पैदल सैनिक हैं। इस प्रकार वस्तु विशेष में दोनों चक्षुओं के द्वारा बहुत उपयोग नहीं होकर सामान्य रूप से (हाथी, घोड़ा, रथ, सैनिक आदि देखने से) यह लश्कर है, ऐसा सामान्य रूप एक ही उपयोग होता है। लेकिन अलग-अलग उपयोग नहीं होते हैं।³⁹²

स्पर्धक के प्रकार

स्पर्धक तीन प्रकार के होते हैं यथा अनुगामी, अननुगामी और मिश्र। अवधिज्ञानी के जिस देश में रहते हुए जो स्पर्धक उत्पन्न हुए, वे स्पर्धक उस देश से अन्य स्थान पर जाते समय भी साथ में रहते हैं, तो वे आनुगामिक स्पर्धक कहलाते हैं। इसके विपरीत साथ में नहीं जाते वह अननुगामी स्पर्धक कहलाते हैं। कुछ स्पर्धक साथ में जाते हैं कुछ साथ में नहीं जाते हैं वे मिश्र स्पर्धक कहलाते हैं।

उपर्युक्त तीनों भेदों के पुनः तीन-तीन प्रकार होते हैं - प्रतिपाती, अप्रतिपाती और उभय (मिश्र)। जो स्पर्धक कुछ समय तक रहने के बाद अवश्य ही नष्ट हो जाते हैं, वे प्रतिपाती स्पर्धक होते हैं। उसके विपरीत स्वभाव वाले अर्थात् नाश को प्राप्त नहीं होते हैं, वे अप्रतिपाती और कुछ नाश को प्राप्त हो एवं कुछ नहीं वे मिश्र (उभय) कहलाते हैं।³⁹³

389. अपवरकादिजालकान्तरस्थप्रदीपप्रभानिर्गम स्थानानीवाऽवधिज्ञानावरण -क्षयोपशम -जन्यान्यवधिज्ञाननिर्गमस्थानानीह फडुकान्युच्यन्ते। - मलधारी हेमचन्द्र बृहद्वृत्ति, विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 738, पृ. 308

390. स्पर्द्धकं च नामावधिज्ञानप्रभाया गवाक्षजालादि-द्वारविनिर्गतप्रदीपप्रभाया इव प्रतिनियतो विच्छेद विशेषः।

- मलयगिरि, नंदीवृत्ति, पृ. 83

391. मलयगिरि, नंदीवृत्ति, पृ. 83

392. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 742

393. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 743

शंका - तीव्र और मंद द्वार में अवधिज्ञान के विषय का बढ़ते-घटते क्रम में वर्णन करना चाहिए था, लेकिन यहाँ स्पर्धक अवधिज्ञान का वर्णन किया है, इसका क्या कारण है?

समाधान - अनुगामी और अप्रतिपाती स्पर्धक अति विशुद्ध होने से तीव्र कहलाते हैं तथा अननुगामी और प्रतिपाती स्पर्धक अशुद्ध होने से मंद कहलाते हैं और मिश्र स्पर्धक मध्यम कहलाते हैं। इसलिए स्पर्धक का स्वरूप कहने से तीव्र-मंद द्वार का भी स्वरूप समझ में आ जाएगा।

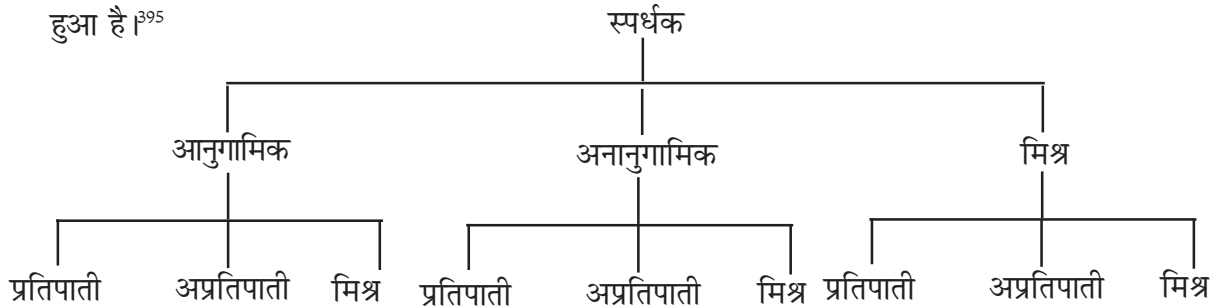
अनुगामी और अप्रतिपाती स्पर्धकों में अंतर

अप्रतिपाती स्पर्धक अवधिज्ञानी के साथ अवश्य जाते हैं अर्थात् अप्रतिपाती स्पर्धक अनुगामी ही होते हैं, लेकिन अननुगामी नहीं होते हैं। जबकि अनुगामी स्पर्धक प्रतिपाती, अप्रतिपाती और उभय (मिश्र) प्रकार के होते हैं। जैसे कि अनुगामी स्पर्धक (स्वस्थ आंखों वाले के समान) अप्रतिहत नेत्र के समान अप्रतिपाती है अथवा अस्वस्थ नेत्र वाले के समान प्रतिपाती भी होते हैं, यही इनमें अंतर है।

अननुगामी और प्रतिपाती स्पर्धकों में अंतर

प्रतिपाती स्पर्धक गिरते (नष्ट) भी हैं और गिरने के बाद किसी समय अन्य स्थान पर जाने से उत्पन्न भी हो जाते हैं, लेकिन अननुगामी स्पर्धकों में ऐसा नहीं होता है। क्योंकि जिस स्थान में रहते हुए जो स्पर्धक उत्पन्न होते हैं उसी स्थान में रहते हुए नष्ट होते हैं अथवा नहीं भी होते हैं। जो नष्ट होते हैं, वे स्पर्धक पुनः उत्पत्ति स्थान में आते ही उत्पन्न हो जाते हैं। यही इन दोनों में अंतर है। विशुद्धि तथा संक्लेश से स्पर्धकों की तीव्रता और मंदता होती है। ऐसे स्पर्धक विशुद्धि और संक्लेश के वश होकर प्रायः मनुष्य और तिर्यच में ही होते हैं।³⁹⁴

इस तीव्रमंद द्वार में आनुगामिक और प्रतिपाती आदि चारों का उल्लेख स्पर्धक स्वभाव के रूप में हुआ है।³⁹⁵



प्रतिपाती-अप्रतिपाती अवधिज्ञान

नंदीसूत्र के अनुसार - जो अवधिज्ञान उत्पन्न होने के बाद नष्ट होता है वह प्रतिपाती है और जो नष्ट नहीं होता वह अप्रतिपाती है अर्थात् जो अवधिज्ञान अलोकाकाश में एक प्रदेश अथवा उससे अधिक देखने की क्षमता रखता हो, वह अप्रतिपाती अवधिज्ञान है।³⁹⁶

अकलंक का कहना है कि प्रतिपाती को बिजली के प्रकाश के समान माना है। जैसे बिजली झपक के गायब होती है वैसे ही प्रतिपाती भी चला जाता है। इसके विपरीत अप्रतिपाती होता है।³⁹⁷ अप्रतिपाती नियम से आनुगामिक होता है, लेकिन आनुगामिक प्रतिपाती और अप्रतिपाती दोनों प्रकार का होता है।

394. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 744-745

395. आवश्यक निर्युक्ति गाथा 59-60, विशेषावश्यकभाष्य गाथा 734-735

396. युवाचार्य मधुकरमुनि, नंदीसूत्र, पृ. 40-41

397. प्रतिपातीति विनाशी विद्युत्प्रकाशवत् तद्विपरीतोऽप्रतिपाती। - तत्त्वार्थराजवार्तिक 1.22.5 पृ. 56

वीरसेनाचार्य का अभिमत है कि प्रतिपाती अवधिज्ञान उत्पन्न होकर निर्मूल नष्ट हो जाता है। अप्रतिपाती अवधिज्ञान केवलज्ञान उत्पन्न होने पर ही विनष्ट होता है।³⁹⁸ अप्रतिपाती के विषय में हरिभद्रसूरि का भी यही मत है।³⁹⁹

मलयगिरि का मन्तव्य है कि जो अवधिज्ञान उत्पन्न होने पर क्षयोपशम के अनुरूप कुछ काल तक अवस्थित रहकर बाद में प्रदीप की तरह पूर्ण रूप से बुझ जाता है, वह प्रतिपाती अवधिज्ञान है। जो ज्ञान केवलज्ञान की प्राप्ति से पूर्व नष्ट नहीं होता, वह अप्रतिपाती अवधिज्ञान है।⁴⁰⁰

आवश्यकनिर्युक्ति, नंदीसूत्र, विशेषावश्यकभाष्य⁴⁰¹ और षट्खण्डागम⁴⁰² के अनुसार जब तक अवधिज्ञान लोक मर्यादित रहता है तब तक वह प्रतिपाती होता है। परंतु जब अलोक के एक भाग को भी स्पर्श करता है तो नियम से अप्रतिपाती होता है।

उपर्युक्त वर्णन में टीकाकारों ने अप्रतिपाती अवधिज्ञान का अर्थ केवलज्ञान की प्राप्ति के पूर्व तक रहना किया है, जो कि उचित नहीं है, क्योंकि 1. आगमानुसार अलोक में एक भी आकाश प्रदेश देखने की योग्यता वाले अवधिज्ञानी का अवधिज्ञान अप्रतिपाती होता है। आवश्यकनिर्युक्ति के अनुसार सम्पूर्ण लोक देखने वाला अवधिज्ञानी काल से देशोपम पत्योपम जितना भूत-भविष्य जानता है। भगवतीसूत्र के पन्द्रह शतक के अनुसार सुमंगल अनगार ने अपने अवधिज्ञान से विमलवाहन राजा के 22 सागरोपम पहले के पूर्वभव (गोशालक के भव) को जान लेंगे। 22 सागरोपम जितने भूतकाल को जानने वाला अवधिज्ञान अनेक लोक जितने क्षेत्र को अलोक में भी जानने की क्षमता वाला है। अतः सुमंगल अनगार का अवधि नियम से अप्रतिपाती है। उनका यह अप्रतिपाती अवधिज्ञान जीवनपर्यन्त रहेगा। सुमंगल अनगार उस भव में मोक्ष नहीं जाकर सर्वार्थसिद्ध विमान में जायेंगे। अतः इससे सिद्ध होता है कि अप्रतिपाती अवधिज्ञान वाला उसी भव में मोक्ष जावे, यह आवश्यक नहीं है। जीव जिस भव में मोक्ष नहीं जाता है, उसको उस भव में केवलज्ञान भी नहीं होता यह सर्वसिद्ध ही है।

2. प्रज्ञापनासूत्र के 33वें पद में नारक और देवों का अवधिज्ञान अप्रतिपाती बताया है। वहाँ भी अवधिज्ञान भव पर्यन्त रहता है, ऐसा ही अर्थ किया है। क्योंकि नारकी देवता से कोई भी जीव केवलज्ञान प्राप्त करके मोक्ष नहीं जाता है। अतः इस प्रसंग में अप्रतिपाती अवधिज्ञान का अर्थ उस भव में नहीं गिरने वाला ही मानना पड़ेगा। इसलिए ज्ञान के प्रसंग में एक ही शब्द के दो अर्थ करना उचित प्रतीत नहीं होता है। इसलिए अप्रतिपाती ज्ञान का अर्थ उस भव के अंतिम समय तक विद्यमान रहने वाला ज्ञान ऐसा मानना ही तर्क संगत है। अतः टीकाकारों ने अप्रतिपाती ज्ञान को केवलज्ञान की प्राप्ति की पूर्वावस्था तक विद्यमान रहना माना है, वह आगमानुसार नहीं है। यही अर्थ विपुलमति मनःपर्यवज्ञान के लिए भी समझना चाहिए। क्योंकि जिनको विपुलमति मनःपर्यवज्ञान होता है, आवश्यक नहीं की उनको उसी भव में केवलज्ञान हो ही।

अप्रतिपाती में भी वर्धमान हीयमान हो सकता है, किन्तु उसका अप्रतिपातित्व नष्ट न हो उतना ही हीयमान हो सकता है। अप्रतिपाती अवधिज्ञान वाले का संहरण होने में बाधा नहीं है। परमावधि में विशुद्ध भाव होने से संहरण कम सम्भव है। अप्रतिपाती अवधिज्ञान अप्रतिसेवी में ही सम्भव है।

398. जमोहिणाणमुप्पणं संतं केवलणाणे समुप्पण्णे चेव विणस्सदि, अण्णहा ण विणस्यदि तमप्पडिवादी नाम।

– षट्खण्डागम पु. 13, सू. 5.5.56

399. हरिभद्रीय, नंदीवृत्ति पृ. 29

400. मलयगिरि, नंदीवृत्ति, पृ. 82

401. आवश्यकनिर्युक्ति गाथा 52, विशेषावश्यकभाष्य गाथा 699

402. षट्खण्डागम पु.13, 5.5.56, पृ. 295

नंदीसूत्र में प्रतिपात होने के हेतु का कोई वर्णन नहीं है, किन्तु हीयमान अवधिज्ञान के दो कारण बताए हैं – अप्रशस्त अध्यवसाय और संक्लेश। प्रतिपात के भी ये दो कारण हो सकते हैं।⁴⁰³

नंदीसूत्र में जो अंगुल का असंख्यातवां भाग दिया है, वह जघन्य अवधि जितना क्षेत्र हो सकता है। इसके कारण जीव जघन्य अवधि से गिर सकता है। नंदीसूत्र⁴⁰⁴ में जितने प्रकार प्रतिपाती अवधि के दिये हैं उन सब में उत्पत्ति के प्रथम समय से ही गिरना प्रारंभ हो यह जरूरी नहीं है। पहले कम हो कर फिर बढ़कर भी गिर सकता है। स्थानांग के पांचवें स्थान के पहले उद्देशक में अवधि से गिरने के पांच कारणों में ‘तप्पढमयाए’ बताया है। तदनुसार टीकाकार उत्पत्ति के प्रथम समय में से ही गिरना मानते हैं। किन्तु अन्तर्मुहूर्त में गिरना मानना अधिक उचित है। साथ ही वह प्रथम अन्तर्मुहूर्त में गिरे ही, ऐसा भी जरूरी नहीं है, क्योंकि प्रतिपाती अवधि का अर्थ है गिरने के स्वभाव वाला। गिरेगा ही ऐसा अर्थ नहीं है। जिस प्रकार सोपक्रमी जीव आयु उपक्रम लगना जरूरी नहीं है, उसी प्रकार प्रतिपाती का भी गिरना आवश्यक नहीं है।

प्रतिपाती और अनानुगामिक में अंतर

प्रतिपाती तो नियम से नष्ट होता है और अनानुगामिक नष्ट होने के बाद पुनः हो सकता है।⁴⁰⁵ मलधारी हेमचन्द्र सूरि इस बात को इस प्रकार से कहते हैं कि – प्रतिपाती नष्ट होकर पुनः उत्पन्न हो सकता है, लेकिन यदि अनानुगामिक नष्ट हो गया है तो वह पुनः अपने उत्पत्ति क्षेत्र में आने पर उत्पन्न हो सकता है, अन्य जगह पर नहीं।⁴⁰⁶

आनुगामिक, अनानुगामिक और मिश्र के स्पर्धक तीव्र, मध्यम और मंद होते हैं। इनमें से आनुगामिक अप्रतिपाती स्पर्धक तीव्र होते हैं, अनानुगामिक और प्रतिपाती स्पर्धक मंद होते हैं और मिश्र स्पर्धक उभय स्वभाव वाले होते हैं। जो स्पर्धक निर्मल होते हैं उनको तीव्र कहते हैं और जो मलिन होते हैं उन्हें मंद कहते हैं। कुछ आचार्य प्रतिपाती उत्पाद द्वार में ही आनुगामिक आदि तीन का समावेश करते हैं। इसमें कोई विरोध नहीं है।⁴⁰⁷

विभंगज्ञान भी छह प्रकार का हो सकता है। अप्रतिपाती विभंग ज्ञान भी जीवन भर रहने वाला ही समझना चाहिए। विभंग से लोक के बहुत संख्यात भागों को (नवग्रैवेयक जितना) जाना जा सकता है।

8. प्रतिपात-उत्पाद द्वार के अन्तर्गत अवधिज्ञान

जिनभद्रगणि ने इसका उल्लेख विशेषावश्यकभाष्य गाथा 748-762 तक किया है।

द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव संबंधी बाह्य विषय के अवधिज्ञान की प्राप्ति में एक समय में उत्पाद (उत्पन्न होना), प्रतिपात (नष्ट होना) और उत्पाद-प्रतिपात की भजना होती है। इसके माध्यम से भाष्यकार ने बाह्य अवधि और आभ्यन्तर अवधि का वर्णन किया है। इस विषय का वर्णन मात्र आवश्यकनिर्युक्ति गाथा 62-63 और विशेषावश्यकभाष्य और उसकी टीकाओं में मिलता है। विशेषावश्यकभाष्य में इसका वर्णन विशेष रूप से है, जो कि अन्यत्र प्राप्त नहीं होता है। सामान्य रूप से जो अवधिज्ञान चारों ओर से नहीं देखता हो, या झरोखे की जाली में से निकले हुए दीपक के प्रकाश की भाँति त्रुटक (अन्तर) अवधि हो, उसे ‘बाह्य अवधि’ कहते हैं और जो अवधिज्ञान, सभी ओर की दिशाओं में संलग्नता रूप से सीमित क्षेत्र को प्रकाशित करता हो और अवधिज्ञान वाले के साथ वह प्रकाशित क्षेत्र त्रुटक अर्थात् व्यवधान रहित एवं सम्बन्धित हो, उसे ‘आभ्यन्तर अवधिज्ञान’ कहते हैं।

403. नंदीसूत्र, पृ. 39

404. युवाचार्य मधुकरमुनि, नंदीसूत्र, पृ. 40

405. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 740-741

406. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 745

407. विशेषावश्यकभाष्य 736, 739, 742, 743

(1) बाह्य अवधिज्ञान का स्वरूप

आवश्यकनिर्युक्तिकार के अनुसार - जिस स्थान पर अवधिज्ञान उत्पन्न होता है, उसी स्थान पर स्थित अवधिज्ञानी कुछ भी देख नहीं पाता है। उस उत्पत्ति स्थान से अंगुल, पृथक्त्व यावत् संख्यात योजन अथवा असंख्यात योजन दूर जाने पर ही देख पाता है, वह बाह्य अवधिज्ञान है।⁴⁰⁸

जिनभद्रगणि का अभिमत है कि जिस अवधिज्ञानी का अवधिज्ञान एक दिशा में होता है, बीच-बीच में अंतर वाला स्पर्धक अवधिज्ञान अथवा असंबद्ध अवधिज्ञान होता है, उसको बाह्य अवधि कहते हैं।⁴⁰⁹

आवश्यकचूर्णिकार ने भी ऐसा ही उल्लेख करते हुए कहा है कि पूर्वदृष्ट द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के कुछ हिस्से को जिस एक समय में नहीं देखता, उसी एक समय में कुछ अदृष्टपूर्व को देख लेता है। इस प्रकार एक ही समय में ज्ञान का उत्पाद और प्रतिपात होता है।⁴¹⁰

मलधारी हेमचन्द्र ने बाह्य अवधि का स्वरूप बताने से पूर्व प्राचीन भाष्यकार और टीकाकारों का मत प्रस्तुत किया है - जिस अवधिज्ञानी का अवधिज्ञान एक दिशा में अथवा अनेक दिशा में होता है, लेकिन बीच-बीच में अंतर वाला स्पर्धक अवधिज्ञान होता है, उसे बाह्य अवधिज्ञान कहते हैं अथवा जिस अवधिज्ञानी का अवधिज्ञान सभी ओर से परिमण्डल (गोलाकार) आकार का होते हुए भी अंगुलादि क्षेत्र के व्यवधान से चारों ओर से असंबद्ध होता है, उसे बाह्य अवधिज्ञान कहते हैं।

अवधिज्ञानी अपने जिस ज्ञान से एक दिशा में स्थित पदार्थों को जानता है अथवा कुछ स्पर्धक विशुद्ध, कुछ स्पर्धक अविशुद्ध होने से अनेक दिशाओं में अन्तर सहित जानता है अथवा क्षेत्रीय व्यवधान के कारण असंबद्ध जानता है, वह बाह्यावधि कहलाता है। बाह्यावधि को देशावधि कहा जाता है।⁴¹¹

बाह्य अवधि में एक समय में द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव संबंधी उत्पाद-प्रतिपात आदि की भजना समझनी चाहिए।

प्रश्न - एक समय में उत्पाद-प्रतिपात कैसे होता है?

उत्तर - किसी जीव को एक समय में बाह्य अवधि का उत्पाद हुआ और प्रथम समय में अल्प द्रव्यादि को जानने वाला बाह्य अवधि हुआ। बाद में विशुद्धि से किसी एक समय में अधिक द्रव्यादि पदार्थों को जानता है, यह एक समय में बाह्य अवधि में उत्पाद होता है। इसके विपरीत किसी एक समय में बाह्य अवधि से जितने द्रव्यादि को जान रहा था बाद में किसी समय विचारों की अशुद्धता से किसी एक समय में हीन द्रव्यादि पदार्थों को जानता है यह एक समय में बाह्य अवधि में प्रतिपात होता है। कभी-कभी एक समय में उत्पाद और प्रतिपात दोनों साथ में होते हैं, जैसे कि एक दिशा में जानने वाला बाह्य अवधि में आस-पास के क्षेत्र का संकोच रूप प्रतिपात होता है और उसी समय में आगे के भाग में वृद्धि रूप उत्पाद होता है। इसके विपरीत आगे के भाग में संकोच रूप प्रतिपात होता है जिससे आस-पास निरंतर रूप अवधि का उत्पाद होता है। इस प्रकार एक समय में उत्पाद-प्रतिपात घटित होता है।

इसी प्रकार स्पर्धक अथवा अनेक दिशा वाले बाह्य अवधि में एक दिशा में उत्पाद होता है और दूसरी दिशा में प्रतिपात होता है तथा सभी दिशा के वलयाकार रूप बाह्य अवधि में भी जिस समय में एक देश में वलय के विस्तार की अधिकता से उत्पाद होता है उसी समय अन्य दिशा में वलय के संकोच रूप प्रतिपात होता है। इसलिए बाह्य अवधि में एक समय में उत्पाद आदि की भजना है।

408. आवश्यकनिर्युक्ति गाथा 62

409. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 749

410. बहिरलंभो नाम जत्थ से ठियस्स ओहिण्णाणं समुप्पण्णं, तम्मि ठाणे सो ओहिण्णाणं न किंचि पासइ। तं पुण ठाणं जाहे अंतियं एवं जाव संखिज्जेहिं वा, असंखिज्जेहिं वा जायणेहिं, ताहे पासइ। - आवश्यकचूर्ण भाग 1, पृ. 62-63

411. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 749 की बृहद्वृत्ति का भावार्थ

शंका - उत्पाद-प्रतिपात आदि विरोधी धर्म एक समय में अवधि में किस प्रकार घटित होते हैं?

समाधान - यदि संपूर्ण अवधिज्ञान में उत्पाद और प्रतिपात एक साथ मानेंगे तो विरोध उत्पन्न होता है, लेकिन यहाँ उत्पाद और प्रतिपात को विभाग रूप से स्वीकार करने में कोई विरोध नहीं होगा, क्योंकि जैसे कोई एक ओर घास आदि जलाता है तथा साथ ही दूसरी ओर जलती हुई घास को बुझाता है। वैसे ही एक ही समय में एक देश में वृद्धि हो रही है तथा उसी समय में दूसरे देश में नाश हो रहा है। इसलिए बाह्य अवधि में एक समय में उत्पाद प्रतिपात विरोधी नहीं हैं।⁴¹²

(2) आभ्यन्तर अवधि का स्वरूप

आवश्यकनिर्युक्तिकार के अनुसार - आभ्यन्तर अवधि की प्राप्ति जिस क्षेत्र में होती है, उस क्षेत्र में वहाँ से आरंभ करके वह अवधिज्ञानी अंतर रहित संबंधपूर्वक संख्याता अथवा असंख्याता योजन पर्यंत क्षेत्र को अवधिज्ञान से जानता और देखता है।⁴¹³ **आवश्यकचूर्णि** में भी ऐसा ही उल्लेख है।⁴¹⁴

जिनभद्रगणि का अभिमत है कि जिस अवधिज्ञानी का अवधिज्ञान जहाँ उत्पन्न होता है वहाँ दीपक की प्रभा के समान चारों ओर से संबद्ध होता है, उसे आभ्यन्तर अवधिज्ञान कहते हैं।⁴¹⁵

मलधारी हेमचन्द्र का मन्तव्य है कि जिस अवधिज्ञान में प्रदीप की प्रभा की तरह आभ्यन्तर अवधि अवधिज्ञानी से निरन्तर सम्बद्ध, अखंड, विभागरहित और एक स्वरूप होता है, वह अदेशावधि (सर्वावधि) कहलाता है।⁴¹⁶

उत्पाद और प्रतिपाद के सम्बन्ध में मन्तव्य

इस प्रकार अखंड आभ्यन्तर अवधिज्ञान में एक समय में एक साथ उत्पाद और प्रतिपात नहीं होता है, एक समय में एक ही होता है। एक साथ दो विरोधी धर्मों का संबंध नहीं होता है। जैसे कि आवरण रहित दीपक की प्रभा का चारों ओर से संकोच अथवा विस्तार में से एक ही होता है अर्थात् युगपत् एक दिशा में विस्तार और दूसरी दिशा में संकोच नहीं होता है। क्योंकि वस्तु की उत्पत्ति और नाश एक साथ एक ही धर्म में नहीं होते हैं। जैसे अंगुली रूप द्रव्य जो धर्म से सरल होती है, उससे सरलता रूपी धर्म का नाश नहीं होता है। क्योंकि समान धर्म समान धर्म का नाशक नहीं होता है। लेकिन एक ही वस्तु में भिन्न धर्मों के कारण उत्पाद और नाश होता है। किन्तु जिस समय अंगुली रूपी द्रव्य में सरलता उत्पन्न होती है उसी समय वक्रता का नाश होता है, लेकिन अंगुली रूपी द्रव्य अवस्थित रहता है।⁴¹⁷

जिस वस्तु ने सत्ता प्राप्त की हो, उसी वस्तु का नाश संभव है। जिसने सत्ता प्राप्त नहीं की उसका नाश नहीं होता, जैसे गधे के सींग के समान। एक समय में वस्तु का एक ही स्वरूप होता है। जिस समय सरलपने के धर्म से सरलपना उत्पन्न होता है और तत्क्षण ही उसी धर्म से उसका विनाश मानेंगे तो उस (सरलता) का नाश सर्वदा के लिए हो जाएगा। जिससे उत्पत्ति का अभाव हो जायेगा। जो वस्तु स्व-स्वरूप को प्राप्त नहीं होगी तो उसकी सत्ता भी नहीं होगी। इस प्रमाण से सर्वदा वस्तु की उत्पत्ति का अभाव होगा। जब वस्तु की सत्ता (उत्पत्ति) नहीं होगी तो उसका विनाश भी नहीं होगा तथा उत्पत्ति और विनाश के अभाव में वस्तु अवस्थित भी कैसे रहेगी? जब वस्तु का उत्पाद, नाश और अवस्थित घटित नहीं होगा, तो वस्तु की सत्ता खरविषाणवत् होगी ही नहीं।⁴¹⁸

412. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 750-751 की बृहद्वृत्ति का भावार्थ

413. आवश्यकनिर्युक्ति गाथा 63

414. तत्त्व अभिन्तरलद्धी नाम जत्थ से ठियस्स ओहिन्नाणं समुपणं, ततो ठाणाओ आरम्भ सो ओहिन्नाणी निरन्तरसंबद्धं संखेज्जं वा असंखेज्जं वा खित्तं ओहिणा जाणइ, पासइ एस अभिन्तरलद्धी। - आवश्यकचूर्णि भाग 1, पृ. 64

415. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 753

416. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 749 की बृहद्वृत्ति

417. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 754-756 की बृहद्वृत्ति

418. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 757-758 की बृहद्वृत्ति

विशेषावश्यकभाष्य 'संखेज्ज मणोदव्वे भागो लोगपलियस्स बोधव्वो' (गाथा 669) में द्रव्य, क्षेत्र और काल का परस्पर संबंध बताया था। उसी प्रकार यहाँ उत्पाद-प्रतिपात द्वार में द्रव्य का गुण के साथ संबंध बताया है, क्षेत्र और काल के साथ नहीं, क्योंकि गुण द्रव्य के आश्रित रहते हैं क्षेत्र और काल के नहीं।⁴¹⁹

अवधिज्ञानी एक स्कंध अथवा परमाणु आदि द्रव्य की उत्कृष्ट से असंख्यात, मध्यम से संख्यात और जघन्य से द्विगुणित पर्याय अर्थात् वर्ण, गंध, रस और स्पर्श रूप चार पर्याय अवश्य देखता है, लेकिन एक द्रव्य की अनंत पर्याय नहीं देखता। क्योंकि अनंतद्रव्य समूह की जितनी अनंत पर्याय होती हैं, उनको देखता है।⁴²⁰

नारक और देव, तो भव-स्वभाव से ही अवधि के मध्यवर्ती (आभ्यन्तर अवधिवाले) होते हैं बाह्य नहीं अर्थात् सभी ओर प्रकाशक और संबंधित अवधिवाले होते हैं। तिर्यच पंचेन्द्रिय भव के स्वभाव से ही अवधि के बाह्य होते हैं, किन्तु अन्तर्गत नहीं होते। मनुष्य में अवधि दोनों प्रकार का होता है।

देवता और नारकी के आभ्यन्तर अवधिज्ञान होने के तीन कारण हो सकते हैं - 1. नैरयिक और देव में अवधिज्ञान नियमतः होता है। 2. उनका अवधिज्ञान भवप्रत्ययिक होता है। 3. उनका अवधिज्ञान मध्यगत होता है। मध्यगत अवधिज्ञान में ही सर्वतः देखने की शक्ति होती है।⁴²¹

9-10-11. ज्ञान-दर्शन तथा विभंग द्वार

जिनभद्रगणि ने इसका उल्लेख विशेषावश्यकभाष्य गाथा 763-765 तक किया है।

इस द्वार में आवश्यकनिर्युक्ति और विशेषावश्यकभाष्य के आधार से अवधि ज्ञान रूप है, दर्शन रूप है अथवा विभंग रूप है एवं ये परस्पर तुल्य है या अधिक है, इसका विचार किया जाएगा। यह वर्णन मात्र निर्युक्ति और भाष्य में ही प्राप्त होता है।⁴²²

ज्ञान का स्वरूप

मलधारी हेमचन्द्र के अनुसार 'तत्र यो वस्तुनो विशेषरूपग्राहकः स साकारः, स च ज्ञानमिष्टं सम्यग्दृष्टेः, मिथ्यादृष्टेस्तु स एव विभंगज्ञानम्'⁴²³ अर्थात् जो वस्तु के विशेष रूप को ग्रहण करे वह साकार कहलाता है। साकार बोध ज्ञान रूप होता है। साकार बोध सम्यग्दृष्टि में अवधिज्ञान और मिथ्यादृष्टि में विभंगज्ञान के रूप में होता है।

दर्शन का स्वरूप

मलधारी हेमचन्द्र के अनुसार 'यस्तु सामान्यरूपग्राहकः, अयमनाकारः, विशिष्टकाराग्रहणात् स च दर्शनम्'⁴²⁴ अर्थात् जो वस्तु को सामान्य रूप से ग्रहण करता है, वह अनाकार बोध दर्शन कहलाता है। अवधि का अनाकार बोध अवधिदर्शन कहलाता है।

ज्ञान और दर्शन का भेद क्यों?

ज्ञान-दर्शन की प्राप्ति में ज्ञानावरणीय-दर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम की समानता रहती है, सामान्यतः क्षयोपशम एक ही प्रकार का है। किन्तु द्रव्य में सामान्य और विशेष - दोनों धर्म होते हैं, इस दृष्टि से क्षयोपशम के दो रूप बनते हैं - ज्ञान (साकार उपयोग) और दर्शन (अनाकार उपयोग)।⁴²⁵

419. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 759

420. आवश्यकनिर्युक्ति गाथा 64, विशेषावश्यकभाष्य गाथा 760-762

421. हरिभद्रीय नंदीवृत्ति पृ. 35, मलयगिरि नंदीवृत्ति पृ. 99

422. आवश्यकनिर्युक्ति गाथा 65 विशेषावश्यकभाष्य गाथा 763-765

423. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 763 की बृहद्वृत्ति

424. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 763 की बृहद्वृत्ति

425. मलयगिरि, नंदीवृत्ति पृ. 109

अवधिज्ञान - जिस ज्ञान से रूपी द्रव्यों को विशेष रूप से ग्रहण किया जाता है, वह अवधिज्ञान है।

अवधिदर्शन - जो रूपी द्रव्यों को सामान्य रूप से ग्रहण करता है, वह अवधिदर्शन है।

विभंगज्ञान - विपरीत तत्त्वग्राहिता के कारण मिथ्यादृष्टि का अवधिज्ञान विभंगज्ञान कहलाता है।⁴²⁶

प्रस्तुत द्वार में अवधिज्ञान, अवधिदर्शन तथा विभंगज्ञान और कुछ आचार्यों के मत से विभंगदर्शन, ये स्वस्थान में अलग-अलग और एक दूसरे की अपेक्षा परस्थान में भवनपति से लेकर ऊपर के नवग्रैवेयक विमान में रहे हुए देवों तक, जो-जो जघन्य समान स्थिति वाले देव होते हैं उनके अवधिज्ञान-दर्शन और विभंगज्ञान-दर्शन क्षेत्रादि विषय की अपेक्षा परस्पर तुल्य होते हैं। इसी प्रकार मध्यम समान स्थिति वालों के ज्ञान और दर्शन तथा उत्कृष्ट समान स्थिति वाले देवों के ज्ञान-दर्शन भी उसी प्रमाण से तुल्य हैं।

यहाँ टीकाकार ने कुछ आचार्यों के मत से विभंगदर्शन का उल्लेख किया है, लेकिन यह आगमानुसार नहीं है, क्योंकि आगमों में चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन इन चार दर्शनों का ही उल्लेख प्राप्त होता है। पांचवें विभंगदर्शन का नहीं।

अनुत्तर विमानवासी देवों में अवधिज्ञान और अवधिदर्शन होता है, लेकिन विभंगज्ञान रूप अवधि नहीं है। क्योंकि विभंगज्ञान तो मिथ्यादृष्टि के होता है और अनुत्तरविमान के देव तो एकांत सम्यग्दृष्टि होते हैं। इसलिए उनके विभंगज्ञान नहीं होता है। अनुत्तर विमानवासी देवों के अवधिज्ञान का क्षेत्र और काल असंख्यात विषयवाला तथा द्रव्य और भाव से अनंत विषय वाला होता है। समान स्थिति वाले तिर्यच और मनुष्य के तीव्र-मंदादि क्षयोपशम की विचित्रता से क्षेत्र, काल संबंधी विषय में भी विचित्रता होती है।

विभंगज्ञानी के प्रकार

स्थानांग सूत्र (स्थान 7) के अनुसार विभंगज्ञान अर्थात् मिथ्यात्व युक्त अवधिज्ञान सात प्रकार का कहा गया है, यथा - 1. जब मिथ्यात्वी बाल तपस्वी विभंगज्ञान से पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर अथवा ऊपर सौधर्म देवलोक तक देखता है तब उसे ऐसा विचार होता है कि मुझे अतिशय यानी विशिष्ट ज्ञान दर्शन उत्पन्न हुआ है। उस अतिशय ज्ञान के द्वारा मैंने लोक को एक ही दिशा में देखा है। कितनेक श्रमण माहन ऐसा कहते हैं कि पांचों दिशाओं में लोक है जो ऐसा कहते हैं वे मिथ्या कहते हैं। 2. जब मिथ्यात्वी बाल तपस्वी विभंगज्ञान से पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर अथवा ऊपर सौधर्म देवलोक तक देखता है तब उसे ऐसा दुराग्रह उत्पन्न होता है कि मुझे अतिशय - विशिष्ट ज्ञान दर्शन उत्पन्न हुआ है। मैंने अतिशय ज्ञान द्वारा जाना है कि लोक पांच दिशाओं में ही है। कितनेक श्रमण माहन कहते हैं कि लोक एक दिशा में भी है, वे मिथ्या कहते हैं। 3. जब मिथ्यात्वी बाल तपस्वी विभंगज्ञान से प्राणियों की हिंसा करते हुए, झूठ बोलते हुए, चोरी करते हुए, मैथुन सेवन करते हुए, परिग्रह सञ्चित करते हुए और रात्रिभोजन करते हुए जीवों को देखता है, किन्तु किये जाते हुए पाप कर्म को कहीं नहीं देखता है तब उसे ऐसा दुराग्रह उत्पन्न होता है कि मुझे अतिशय-विशिष्ट ज्ञान दर्शन उत्पन्न हुआ है। मैंने उस विशिष्ट ज्ञान द्वारा देखा है कि क्रिया ही कर्म है और वही जीव का आवरण है। कितनेक श्रमण माहन ऐसा कहते हैं कि क्रिया का आवरण जीव ही है। जो ऐसा कहते हैं वे मिथ्या कहते हैं। 4. जब मिथ्यात्वी बाल तपस्वी विभंगज्ञान से बाहरी और आभ्यन्तर पुद्गलों को ग्रहण करके फुरित्ता फुटित्ता उनका स्पर्श, स्फुरण तथा स्फोटन करके पृथक् पृथक् एक या अनेक रूपों का वैक्रिय करते हुए देवों को ही देखता है तब उसके मन में यह विचार उत्पन्न होता है कि मुझे अतिशय ज्ञान दर्शन उत्पन्न

426. तं चेव ओहिणाणं मिच्छादिद्विस्स वितहभावगाहित्तणेणं विभंगणाणं भण्णत्ति। - आवश्यकचूर्णि भाग 1 पृ. 64

हुआ है। उसके द्वारा मैंने देखा है कि - जीव पुद्गल रूप ही है। कितनेक श्रमण माहन ऐसा कहते हैं कि जीव पुद्गलरूप नहीं है वे मिथ्या कहते हैं। 5. जब मिथ्यात्वी बाल तपस्वी विभंगज्ञान से बाहरी और आभ्यन्तर पुद्गलों को ग्रहण किये बिना ही पृथक् पृथक् एक और अनेक रूपों का वैक्रिय करते हुए देवों को देखता है। तब उसके मन में विचार उत्पन्न होता है कि मुझे अतिशय ज्ञान दर्शन उत्पन्न हुआ है। उसके द्वारा मैंने देखा है कि - जीव पुद्गल रूप नहीं है। कितनेक श्रमण माहन ऐसा कहते हैं कि जीव पुद्गल रूप नहीं है। वे मिथ्या कहते हैं। 6. जब मिथ्यात्वी बाल तपस्वी विभंगज्ञान से बाहरी और आभ्यन्तर पुद्गलों को ग्रहण करके अथवा ग्रहण किये बिना ही पृथक् पृथक् अनेक या अनेक रूपों का वैक्रिय करते हुए देवों को देखता है। तब उसके मन में ऐसा विचार उत्पन्न होता है कि मुझे अतिशय ज्ञान दर्शन उत्पन्न हुआ है। उससे मैंने देखा है कि जीव रूपी है। कितनेक श्रमण माहन ऐसा कहते हैं कि जीव अरूपी है। वे मिथ्या कहते हैं। 7. जब मिथ्यात्वी बाल तपस्वी विभंगज्ञान से सूक्ष्म यानी मन्दमन्द वायु से स्पृष्ट कांपते हुए, विशेष कांपते हुए, चलते हुए, क्षुब्ध होते हुए, स्पन्दन करते हुए, दूसरे पदार्थ को स्पर्श करते हुए और दूसरे पदार्थ को प्रेरित करते हुए तथा उन उन परिणामों को प्राप्त होते हुए पुद्गलों को देखता है, तब उसके मन में ऐसा विचार उत्पन्न होता है कि मुझे अतिशय ज्ञान दर्शन उत्पन्न हुआ है। उसके द्वारा मैंने देखा है कि ये सब जीव हैं। कितनेक श्रमण माहन ऐसा कहते हैं कि जीव भी हैं और अजीव भी हैं। वे मिथ्या कहते हैं। उस विभङ्गज्ञानी को पृथ्वीकाय, अप्काय, तेउकाय, वायुकाय ये चार जीव निकाय सम्यक् ज्ञात नहीं होते हैं अर्थात् वह सिर्फ वनस्पति काय को ही जीव मानता है किन्तु पृथ्वीकाय आदि चार काय को जीव नहीं मानता है, इसलिए वह इन चार कायों की हिंसा करता है।

12. देश द्वार और अवधिज्ञान

जिनभद्रगणि ने इसका उल्लेख विशेषावश्यकभाष्य गाथा 766-771 तक किया है।

देश का अर्थ होता है - अंश। इस द्वार के अन्तर्गत यह विचार किया जाएगा कि अवधिज्ञान में अंशतः जाना जाता है या सर्वतः।

आवश्यकनिर्युक्ति और विशेषावश्यकभाष्य के माध्यम से अवधिज्ञान के अबाह्य और बाह्य क्षेत्र की प्ररूपणा की गई है।⁴²⁷

जैसे दीपक का प्रकाश स्वयं की प्रभामण्डल के बाहर नहीं होता है, वैसे नारकी, देव और तीर्थकर के अवधिज्ञान की प्रवृत्ति प्रकाशित क्षेत्र के अंदर ही होती है, ऐसा अवधिज्ञान अबाह्य अवधिज्ञान कहलाता है। (गाथा के पूर्वार्द्ध का अर्थ दूसरे प्रकार से भी किया जाता है) नारकी, देवता और तीर्थकर नियम से अवधिज्ञान वाले होते हैं और वे सभी दिशाओं और विदिशाओं में देखते हैं, लेकिन देश (अंश) से अमुक दिशा और विदिशा में देखते हैं ऐसा नहीं है। तिर्यच और मनुष्य अवधिज्ञानी होने पर अवधिक्षेत्र को देश (अंश) और सर्व रूप से देखते हैं।⁴²⁸

प्रश्न - नारकी, देवता का अवधिज्ञान आभ्यन्तर अवधिज्ञान है और वह उससे सभी दिशा-विदिशा में जानता है, यहाँ दोनों कथन समान हैं, फिर दोनों को अलग-अलग कहने का क्या कारण है?

उत्तर - विशेषावश्यकभाष्य की गाथा 749 में स्पर्धक अवधिज्ञान और असंबद्ध वलयाकार क्षेत्र को जानने रूप अवधिज्ञान रूप दो प्रकार का बताया है। इस प्रकार के अवधिज्ञान वाले साधु आदि अवधि क्षेत्र के अंदर रहते हुए भी स्पर्धक अवधि होने से (बीच-बीच में नहीं देखने से) सभी दिशा-

विदिशा में निरंतर नहीं देख पाते हैं। अतः ऐसे अवधिज्ञानियों से भिन्नता बताने के लिए सभी दिशा-विदिशा में देखते हैं, ऐसा कहा है।

प्रश्न - उपर्युक्त अवधि अबाह्य अवधि नहीं है तो उसे यहाँ कहने का क्या तात्पर्य है?

उत्तर - आगम में भी ऐसा अबाह्य अवधि नहीं बताया है, लेकिन लोक प्रसिद्ध अवधिज्ञान से प्रकाशित क्षेत्र के मध्य में रहने से यह भी अवधिज्ञान है। इस प्रकार के अवधिज्ञान से अलग बताने के लिए सब ओर से देखता है, ऐसा कहा है।⁴²⁹

नारकी आदि में सब ओर से देखते हैं ऐसा कहने से नारकी आदि देश से देखते हैं, यह संशय दूर होता है। 'अबाह्य अवधिवाला' इस शब्द से नारकी, देव और तीर्थकरों का नियत अवधिज्ञान कहा है। शेष मनुष्य और तिर्यच अवधिज्ञान सहित भी होते हैं और रहित भी तथा सर्व शब्द से सर्व से और देश से देखने सम्बन्धी संशय दूर होता है। मनुष्य और तिर्यच का अवधि नियत नहीं होता है, इसलिए अवधि से अबाह्य है, ऐसा कहा है।

शंका - नारकी और देवता के भवप्रत्ययिक अवधिज्ञान है⁴³⁰ और तीर्थकर गृहस्थ अवस्था में भी तीन ज्ञान सहित होते हैं,⁴³¹ इस प्रकार नारकी, देव और तीर्थकर में नियम से अवधि सिद्ध होता है। तो नारकी आदि में 'अबाह्य अवधि' होता है, ऐसा कहने का क्या कारण है?

समाधान - 'भवप्रत्ययिक' वचन से नारकी, देवों के नियत अवधि सिद्ध होता है। लेकिन इससे यह नहीं स्पष्ट नहीं होता है कि यह अवधिज्ञान भव के अंत तक रहता है अथवा कुछ काल (समय) तक रहकर गिर (नष्ट हो) जाता है। इस कारण से 'अबाह्य अवधि' कहने से काल का नियम किया है। अर्थात् नारकी आदि के सर्वकाल अवधि रहता है, बीच में नहीं गिरता है।

प्रश्न - लेकिन उपर्युक्त कथन तीर्थकर में घटित नहीं होगा, क्योंकि उनके केवलज्ञान उत्पन्न होते ही अवधिज्ञान का अभाव हो जाता है। **उत्तर** - ऐसा कहना अयुक्त है, क्योंकि केवलज्ञान होते ही वह अपने विषय को सम्पूर्णता से जानने लगता है। छद्मस्थता में तो उसके आवरण था, लेकिन केवलज्ञान उत्पन्न होते ही उसके सम्पूर्ण आवरणों का नाश हो जाता है। जिससे वह अनन्त धर्मों युक्त वस्तुओं को सम्पूर्णता से जानता है। अतः काल का नियम छद्मस्थावस्था की अपेक्षा किया गया है, केवली की अपेक्षा से नहीं। मनुष्य और तिर्यच देश और सर्व से देखते हैं।⁴³²

एक क्षेत्र, अनेक क्षेत्र अवधिज्ञान

ये भेद षट्खण्डागम की परंपरा में ही प्राप्त होते हैं। धवलाटीका के अनुसार जो अवधिज्ञान जीव के शरीर के एक देश से होता है वह एकक्षेत्र अवधिज्ञान है। जो अवधिज्ञान प्रतिनियत क्षेत्र के शरीर के सब अवयवों में रहता है वह अनेकक्षेत्र अवधिज्ञान है।⁴³³

षट्खण्डागम में क्षेत्र का अर्थ श्रीवत्स, कलश, शंख आदि संस्थान किया है। अकलंक ने भी ऐसा ही अर्थ करते हुए कहा है कि जिस अवधि के उपयोग में श्रीवत्स आदि में से एक उपकरण हेतुभूत होता है, वह एकक्षेत्र अवधिज्ञान है। जब अनेक उपकरण हेतुभूत होते हैं तो वह अनेकक्षेत्र अवधिज्ञान होता है।⁴³⁴ धवलाटीकाकार के अनुसार नारक, देव और तीर्थकर का अवधि अनेकक्षेत्र होता है एवं

429. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 768

430. भवप्रत्ययो नारक देवानाम्। - तत्त्वार्थसूत्र 1.22

431. तीर्हि नाणेहिं समग्गा तित्थयरा जाव होंति गिहवासे।

432. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 769-771

433. जस्स ओहिणाणस्स जीवसरीरस्स एकदेसो करणं होदि तमोहिणाणमेगक्खेत्तं णाम। जमोहिणाणं पडिणियदखेत्तं वज्जिय सरीरसव्वावयवेसु वट्ठिदि तमणेयक्खेत्तं णाम। - षट्खण्डागम (धवला) पुस्तक 13, सू. 5.5.56, पृ. 295

434. श्रीवृक्षस्वस्तिकनंद्यावर्ताद्यन्यतमोपयोगोपकरण एकक्षेत्रः। तदनेकोपकरणोपयोगोऽनेकक्षेत्रः। - तत्त्वार्थराजवार्तिक, सूत्र 1.25

मनुष्य, तिर्यच का अवधि एकक्षेत्र और अनेक क्षेत्र रूप होता है।⁴³⁵ उपर्युक्त देश द्वार में उल्लिखित देश का अर्थ जिनभद्रगणि और मलधारी हेमचन्द्रसूरी बाह्यावधि करते हैं। जिसका उल्लेख धवलाटीकाकार ने 'एकदेश' शब्द से किया है। षट्खण्डागम में वर्णित एकक्षेत्र और अनेकक्षेत्र अवधिज्ञानी की तुलना अंतगत और मध्यगत से की जा सकती है।

13. क्षेत्र द्वार और अवधिज्ञान

क्षेत्र द्वार के माध्यम से जिनभद्रगणि ने विशेषावश्यकभाष्य गाथा 763-765 तक संबद्ध और असंबद्ध अवधिज्ञान का वर्णन करते हुए उनका क्षेत्र बताया है।

जिनभद्रगणि के कथनानुसार - किसी अवधिज्ञानी में अवधिज्ञान प्रदीप में प्रभा की तरह संबद्ध होता है, वह ज्ञानी अपने अवस्थिति क्षेत्र से निरन्तर द्रष्टव्य वस्तु को जान लेता है। जिस प्रकार दूरी और अन्धकार के कारण प्रदीप की प्रभा विच्छिन्न हो जाती है, वैसे ही अवधिज्ञान अवधिज्ञानी में असंबद्ध होता है।⁴³⁶

मलधारी हेमचन्द्र के अनुसार जैसे दीपक में प्रभापटल संबद्ध होता है वैसे ही जिस जीव में अवधिज्ञान होता है वह संबद्ध अवधिज्ञान होता है अर्थात् जीवाधिष्ठित क्षेत्र से शुरू होकर जितने क्षेत्र का अवधिज्ञान हुआ है, वहाँ तक के क्षेत्र में रही हुई देखने योग्य रूपी वस्तुओं को व्यवधान रहित देखता है (प्रकाशित करता है) वह संबद्ध अवधिज्ञान है। दीपक की प्रभा पुरुष के अंतर (बाधा) से असंबद्ध होती है। वैसे ही कोई अवधिज्ञानी अधिक अंधकार होने पर उस क्षेत्र का उल्लंघन करके दूर रही हुए भीत (दीवार) आदि को जानता और देखता है, उसे असंबद्ध अवधिज्ञान कहते हैं।

संबद्ध और असंबद्ध का क्षेत्र

स्वावगाढ़ क्षेत्र में संलग्न होने वाला सम्बद्ध होता है। द्रव्य, क्षेत्र, खण्ड-खण्ड हो या पूरा संलग्न हो, किन्तु स्वयं से संलग्न न हो वह असम्बद्ध है। संबद्ध और असंबद्ध दोनों प्रकार का अवधिज्ञान क्षेत्र की दृष्टि से संख्यात अथवा असंख्यात योजन तक जानता है।⁴³⁷ पुरुष आदि के अबाधा (शरीर और अवधिज्ञान से प्रकाशित क्षेत्र के बीच का अन्तर) का देह प्रमाण भी संख्यात या असंख्यात योजन है। यह अन्तर असंबद्ध अवधिज्ञान में ही होता है, संबद्ध अवधिज्ञान में नहीं। अवधिज्ञान लोक और अलोक में भी संबद्ध-असंबद्ध होता है। **मलधारी हेमचन्द्र** इसको स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि क्षेत्र से संबद्ध और असंबद्ध अवधिज्ञान संख्यात अथवा असंख्यात योजन तक का होता है। असंबद्ध अवधिज्ञान में पुरुषादि अंतराल रूप बाधा (शरीर और अवधिज्ञान से प्रकाशित क्षेत्र के बीच का अन्तर) भी संख्यात अथवा असंख्यात योजन की होती है। यह जो अंतर है, वह असंबद्ध अवधिज्ञान में ही घटित होता है। संबद्ध अवधिज्ञान में नहीं होता है, क्योंकि संबद्ध अवधि में अंतर (बाधा) नहीं होता है।

अवधिज्ञानी की देह से क्षेत्र का अन्तर संख्यात अथवा असंख्यात योजन का होता है। पुरुष और अबाधा की दृष्टि से अथवा इस असंबद्ध अवधिज्ञान में और अंतर (बाधा) के बीच में चार भंग घटित होते हैं - 1. संख्यात योजन का अंतर और संख्यात योजन का अवधिज्ञान, 2. संख्यात योजन का अंतर और असंख्यात योजन का अवधिज्ञान, 3. असंख्यात योजन का अंतर और संख्यात योजन का अवधिज्ञान, 4. असंख्यात योजन का अंतर और असंख्यात योजन का अवधिज्ञान।⁴³⁸

435. षट्खण्डागम, पु. 13, पृ. 295

437. आवश्यकनिर्युक्ति गाथा 67

436. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 773

438. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 774

जो अवधि लोक में संबद्ध है, वह पुरुष में भी संबद्ध ही होता है। लोकान्त और पुरुष की अपेक्षा से अथवा लोक और अलोक के मध्य में भी अवधि संबद्ध होता है, उसमें भी चार भंग घटित होते हैं - 1. जो लोक प्रमाण अवधि है, वह पुरुष से संबद्ध है और लोकांत से भी संबद्ध है, 2. जो लोक देशवर्ती आभ्यन्तर अवधिज्ञान है, वह पुरुष से संबद्ध है लेकिन लोकांत से संबद्ध नहीं है, 3. जो लोकांत से संबद्ध और पुरुष से असंबद्ध होता है, यह भंग सम्भवित नहीं है, क्योंकि जो अवधि लोकांत से संबद्ध होता है वह पुरुष में अवश्य संबद्ध होता है, असंबद्ध नहीं होता है। इसलिए यह भंग संभव नहीं है। 4. बाह्य अवधि लोकांत और पुरुष दोनों से असंबद्ध है और जो अवधि अलोक से संबद्ध है वह अवधि पुरुष में संबद्ध होता ही है। इस भंग का भी अभाव होता है।

असम्बद्ध में संख्यात या असंख्यात योजनों का अन्तर भी हो सकता है। लोकप्रमाण अवधिज्ञान में सम्बद्ध, असम्बद्ध दोनों प्रकार हो सकते हैं, किन्तु लोक से अधिक अवधिज्ञान में असम्बद्ध ही होता है।⁴³⁹

असम्बद्ध और स्पर्धक अवधि में अन्तर है

असम्बद्ध में तो अपने पास वाला क्षेत्र नहीं देखता है। स्पर्धक अवधि में अपने पास वाला क्षेत्र देख सकता है। स्पर्धक अवधि का अर्थ बीच-बीच में क्षेत्र नहीं देखता है।

1. नारक, देव और तीर्थकर को नियम से सम्बद्ध अवधि ही होता है। नारक देवों के कहीं पर भी असम्बद्ध और स्पर्धक अवधि नहीं माना है। 2. आनुगामिक साथ में गमन करने वाला 3. अबाह्य - जन्म से ही होने वाला। तिर्यच तो बाह्य अवधिज्ञान वाले ही होते हैं क्योंकि उन्हें जन्म से नहीं होता है। स्पर्धक अवधि मात्र मनुष्य और तिर्यच में ही होता है।

14. गति आदि द्वारों के अन्तर्गत अवधिज्ञान

इस द्वार का नाम यद्यपि गति है, जिसके अन्तर्गत नरक, तिर्यच, मनुष्य एवं देवगति का अन्तर्भाव होता है, किन्तु इस द्वार में 20 द्वारों का समावेश होता है, जिनको आवश्यकनिर्युक्ति और विशेषावश्यकभाष्य⁴⁴⁰ में निम्न प्रकार से कहा है - गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, लेश्या, सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन, संयम, उपयोग, आहार, भाषक, प्रत्येक, पर्याप्त, सूक्ष्म, संज्ञी, भव्य और चरिम इन द्वारों पूर्वप्रतिपन्न (भूतकाल का ज्ञान) और प्रतिपद्यमान (वर्तमान के एक समय का ज्ञान) की अपेक्षा वर्णन किया है।

उपर्युक्त गति आदि द्वारों का विस्तार से वर्णन पूर्व में मतिज्ञान⁴⁴¹ के प्रसंग किया गया है। उसी प्रकार यहाँ अवधिज्ञान में भी समझना चाहिए। लेकिन मतिज्ञान से अवधिज्ञान में जो विषेषताएं हैं, उनका उल्लेख जिनभद्रगणि ने विशेषावश्यकभाष्य गाथा 776-778 तक किया है। जो निम्न प्रकार से हैं -

जो जीव मतिज्ञान के अधिकारी होते हैं, वे अवधिज्ञान के भी अधिकारी होते हैं और उनके अलावा अन्य जीव भी अवधिज्ञान के अधिकारी (स्वामी) हैं। जैसेकि औपशमिक और क्षायिकश्रेणी की अवस्था में अवेदक और अकषायी को अवधिज्ञान प्राप्त होता है, ये मतिज्ञान से अतिरिक्त स्थान है। जिनको अवधिज्ञान नहीं होता है, उन मति-श्रुतज्ञानी और चारित्र वालें जीवों को अवधिज्ञान नहीं हुआ है, उनको पहले मनःपर्यवज्ञान उत्पन्न होता है। उन मनःपर्यवज्ञानियों में से भी किसी को बाद में

439. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 772

440. गइ ईदिं य काय जोए वेए कसाय लेसा य॥ सम्मत्त-णाण-दंसण-संजममुवयोग-माहारे ।

भासग-परित्त-पज्जत्त-सुहुम-सण्णी य भव्व चरिमे य॥ पुव्व पडिवन्नए या पडिवज्जंते य मग्गणया ।

- आवश्यकनिर्युक्ति गाथा 14-15, विशेषावश्यकभाष्य गाथा 409-410

441. द्रष्टव्य - सत्पदपरूपणादि नौ अनुयोग द्वारा मतिज्ञान की प्ररूपणा, पृ. 199-205

अवधिज्ञान उत्पन्न होता है, किसी को नहीं। इस प्रकार मतिज्ञान से अवधिज्ञान के तीन स्थान अधिक हैं – अवेदक, अकषायी, मनःपर्यवज्ञान के पश्चात्।⁴⁴²

अनाहारक और अपर्याप्त जीवों में पूर्वप्रतिपन्नक की अपेक्षा मतिज्ञान होता है। लेकिन प्रतिपद्यमान की अपेक्षा नहीं। लेकिन अप्रतिपाती सम्यग्दृष्टि तिर्यच और मनुष्य जब देव और नारकी में उत्पन्न होते हैं तो वे अवधिज्ञान की अपेक्षा प्रतिपद्यमान भी होते हैं, यह अवधिज्ञान का विशिष्ट स्थान है। कहा भी है – ‘सम्मा सुर-नेरइयणाऽणाहारा जे य होंति पज्जत्त त्ति’ पूर्वप्रतिपन्न मतिज्ञान के समान है। इस प्रकार मतिज्ञान का जो पूर्वप्रतिपन्न कहा है वैसे ही अवधिज्ञान में भी पूर्वप्रतिपन्न जानना चाहिए। लेकिन विकलेन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय इस नियम के अपवाद हैं, क्योंकि वे मतिज्ञान के पूर्वप्रतिपन्न हैं किन्तु अवधिज्ञान के न तो पूर्वप्रतिपन्न हैं और न ही प्रतिपद्यमान हैं।⁴⁴³

15. ऋद्धि (लब्धि) द्वार एवं अवधिज्ञान

अवधिज्ञान के वर्णन में अन्तिम लब्धि अर्थात् ऋद्धि द्वार का प्रसंगानुसार यहाँ वर्णन किया जाता है। जिनभद्रगणि ने इसका उल्लेख विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 779 से 804 तक किया है।

लब्धि का अर्थ

मलधारी हेमचन्द्र के अनुसार – लब्धि का अर्थ है वे अतिशय, जो कर्मों के क्षय या क्षयोपशम आदि से उत्पन्न होते हैं, वे अपरिमित हैं। उनकी गणना संभव नहीं है।⁴⁴⁴

मलयगिरि ने कहा है कि अभ्यास से प्राप्त या गुणहेतुक शक्ति विशेष को लब्धि कहते हैं।⁴⁴⁵

शुभ अध्यवसाय तथा उत्कृष्टतर संयम के आचरण से तत्-तत्कर्म का क्षय और क्षयोपशम होकर आत्मा में जो विशेष शक्ति उत्पन्न होती है, उसे लब्धि कहते हैं।⁴⁴⁶

मुख्य रूप से लब्धियाँ 28 हैं, इनके अतिरिक्त जीवों के शुभ-शुभतर परिणाम विशेष के द्वारा अथवा असाधारण तप के प्रभाव से अनेकविध लब्धियाँ / ऋद्धियाँ विशेष जीवों को प्राप्त होती हैं।⁴⁴⁷

लब्धि का अधिकारी

विशेषावश्यकभाष्य में इस सम्बन्ध में विशेष उल्लेख नहीं हुआ है, लेकिन मलयगिरि ने नंदीवृत्ति में इस प्रकार का उल्लेख किया है – जो उत्तरोत्तर अपूर्व-अपूर्व अर्थ के प्रतिपादक विशिष्ट श्रुत का अवगाहन करते हैं और श्रुत के सामर्थ्य से तीव्र-तीव्रतर शुभ भावना का आरोहण करते हैं, उन्हें अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान, कोष्ठादि बुद्धि, चारणलब्धि, वैक्रियलब्धि, सर्वौषधिलब्धि आदि लब्धियाँ अप्रमत्तता के गुण से प्राप्त होती हैं तथा मानसिक, वाचिक और कायिक बल भी प्रादुर्भूत होते हैं।⁴⁴⁸ सभी लब्धियाँ साकारोपयोग (ज्ञानोपयोग) में ही प्राप्त होती हैं।⁴⁴⁹

विशेषावश्यकभाष्य में वर्णित लब्धियाँ

1. आमर्ष औषधि 2. विप्रुडौषधि 3. श्लेष्मौषधि 4. मलौषधि 5. संभिन्नश्रोता 6. ऋजुमति 7. सर्वौषधि 8. चारणविद्या 9. आशीविष 10. केवली 11. मनःपर्यवज्ञानी 12. पूर्वधर 13. अर्हन्त 14. चक्रवर्ती 15. बलदेव और 16. वासुदेव।⁴⁵⁰ अवधिज्ञान को मिलाकर लब्धियों की संख्या सतरह होती है।

442. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 777

443. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 778

444. लब्धिरिति यः अतिशयः, स तावल्लब्धिरहितसामान्यजीवेभ्यो विशेष उच्चते। ते च विशेषाः कर्मक्षय-क्षयोपशमादिवैचित्र्याज्जीवानामपरिमिताः संख्यातुमशक्याः। – विशेषावश्यकभाष्य बृहद्वृत्ति, पृ. 328

445. गुणप्रत्ययो हि सामर्थ्यविशेषो लब्धिः। – मलयगिरि, आवश्यकवृत्ति, पृ. 79

446. जैन सिद्धान्त बोल संग्रह भाग 6, पृ. 288

447. प्रवचन सारोद्धार भाग 2, पृ. 410

448. मलयगिरि, नंदीवृत्ति, पृ. 106

449. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 3089

450. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 779 से 793

आवश्यकनिर्युक्ति⁴⁵¹ में सीधा सतरह लब्धियों का वर्णन है। भाष्यकार ने अवधिज्ञान का विस्तृत वर्णन करने के बाद में शेष 16 लब्धियों का उल्लेख किया है, अतः भाष्यकार के अनुसार भी लब्धियों की संख्या सतरह ही है।

1. आमर्ष औषधि - आमर्ष अर्थात् स्पर्श। हस्तादि के स्पर्शमात्र से ही किसी भी रोग से पीड़ित रोगी के रोग को दूर करने में समर्थ लब्धि आमर्ष औषधि कहलाती है। यहाँ लब्धि और लब्धिमान का अभेद उपचार करने से लब्धिमान् साधु ही आमर्ष औषधि कहलाता है। यह आमर्ष औषधिलब्धि शरीर के किसी एक भाग अथवा पूरे शरीर में उत्पन्न हो सकती है। धवला के अनुसार तप के प्रभाव से जिनका स्पर्श समस्त औषधि के स्वरूप को प्राप्त हो गया है, ऐसी लब्धि आमर्ष औषधि होती है।⁴⁵²

2. विप्रुडौषधि - मूत्र व पुरीष (विष्ठा) के अवयव विप्रुड कहलाते हैं। ये दोनों अवयव जिसके औषधिपने को प्राप्त होते हैं, वह विप्रुडौषधि वाला कहलाता है। भाष्य की गाथा में 'मुत्त-पुरीसाण विपुसो विप्पो' पाठ है, जबकि प्रवचनसारोद्धार की गाथा 1496 में 'मुत्तपुरीसाणं विप्पुसो वावि (वयवा)' पाठ है तो साध्वी हेमप्रभाश्री⁴⁵³ का कहना है कि 'विप्पुसो वाऽवि' ऐसा पाठ अन्यत्र कहीं भी उपलब्ध नहीं होने से उपेक्षित है। यदि इस पाठ को स्वीकार किया जाए तो 'विप्रुड' का अर्थ मूत्र-पुरीष अन्यत्र के ही अवयव। क्योंकि 'वाऽवि' में 'वा' शब्द समुच्चयार्थ है। 'अपि' शब्द एवकारार्थ है तथा क्रम की भिन्नता का सूचक है। किसी का कथन है कि 'विड' का अर्थ विष्ठा और 'पत्ति' जिसके प्रश्रवण (मूत्र-पेशाब) होता है। जिस लब्धि के प्रभाव से मूत्र-पुरीष के अवयव सुगन्धित तथा स्व-पर का रोग शमन करने में समर्थ होते हैं, वह विप्रुडौषधि लब्धि है। धवला टीका में भी ऐसा ही वर्णन प्राप्त होता है।⁴⁵⁴

3. श्लेष्मौषधि - जिस के प्रभाव से श्लेष्म (कफ) बहुत सुवासित होता है और स्वयं अथवा दूसरे के रोगों को दूर करने में उपयोगी होता है, वह श्लेष्मौषधि लब्धि कहलाती है।

4. मलौषधि - जिस लब्धि से कान, नाक, आंख, जीभ एवं शरीर का मैल बहुत सुवासित होता है और स्वयं अथवा दूसरे के रोगों को दूर करने में उपयोगी होता है, वह मलौषधि लब्धि कहलाती है।

5. संभिन्नश्रोता - जिस ऋद्धि से शरीर के सभी भागों से सुन सके अर्थात् जिसके प्रभाव से शरीर के सभी प्रदेशों में श्रवण-शक्ति उत्पन्न हो जाती है, वह संभिन्न श्रोतालब्धि कहलाती है अथवा पांच इन्द्रियों में से किसी भी एक इन्द्रिय से बाकी सभी इन्द्रियों के विषय को जान सकता है तो वह संभिन्नश्रोता कहलाता है अथवा श्रोत्रेन्द्रिय ही चक्षुइन्द्रिय का कार्य करने वाली होने से चक्षुरूपपने को प्राप्त करने वाली और चक्षु इन्द्रिय, श्रोत्रेन्द्रिय का कार्य करने वाली होने से श्रोत्ररूप प्रवृत्ति को प्राप्त करती है, इसी प्रकार सभी इन्द्रियाँ परस्पर एक रूपता को प्राप्त करती हों तो वह संभिन्नश्रोता कहलाता है। ऐसी लब्धि वाला ही बारह योजन पर्यन्त विस्तार रूप और एक साथ बोलने वाली चक्रवर्ती की सेना के शब्दों को सुनता है। चक्रवर्ती की सेना के द्वारा एक साथ वाद्यमान अनके वाद्ययंत्रों की आवाज को सुनकर प्रत्येक वाद्ययंत्र के लक्षण और भेद से स्वरों को जो अलग-अलग जानले और भिन्न-भिन्न मनुष्यों द्वारा बजाये गये शंख, भेरी आदि के बहुत से शब्द को जो एक साथ सुन ले, वे भी संभिन्नश्रोता कहलाते हैं।

451. आवश्यकनिर्युक्ति गाथा 68-70

452. षट्खण्डागम पु. 9, पृ. 96

453. प्रवचन सारोद्धार भाग 2, पृ. 410-411

454. षट्खण्डागम पु. 9, पृ. 96

6. ऋजुमति - यह मनःपर्यवज्ञान का भेद है। मनःपर्यवज्ञान के दो भेद हैं - 1. ऋजुमति 2. विपुलमति। मनोगत भाव को सामान्य रूप से ग्रहण करने वाली बुद्धि ऋजुमति है अर्थात् घट-पटादि के विचार को सामान्य मात्र ग्रहण करने वाली मति ऋजुमति लब्धि है। जैसे किसी व्यक्ति ने घड़े का विचार किया है। तो ऋजुमति मनःपर्यवी इतना जान सकता है कि अमुक व्यक्ति घड़े का विचार कर रहा है। विशेष कुछ भी नहीं जान सकता अर्थात् वह घड़ा कहाँ का है? कौनसे द्रव्य का है? कौनसे रंग का है? इस ज्ञान की विषय सीमा ढाई अंगुल न्यून ढाई द्वीप में रहे हुए संज्ञी पंचेन्द्रिय के मनोभाव है। विपुलमति वस्तुगत विशेष धर्मों को जानता है अर्थात् घड़े को जानने के साथ-साथ उसकी पर्यायों को भी जानता है कि यह घड़ा रजत का बना हुआ है, इसका रंग श्वेत है, इत्यादि। ऋजुमति लब्धि विपुलमति की अपेक्षा से कुछ न्यून विशुद्धतावाली है। यह दोनों मनःपर्यवज्ञान के ही भेद हैं।

7. सर्व औषधि - जिस लब्धि के प्रभाव से व्यक्ति के मल, मूत्र, श्लेष्म, नाक, कान, बाल, नख आदि सभी अवयव सुवासित और रोग दूर करने में समर्थ होते हैं वह सर्व औषधि लब्धि है। अथवा एक ही साधु के आमर्ष औषधि आदि सभी लब्धियाँ होती हैं तो वह सर्व औषधिलब्धि वाला कहलाता है।

8. चारणविद्या - अतिशय सहित गमनागमनरूप लब्धि युक्त जो होता है वह चारण लब्धिमान् कहलाता है। वह दो प्रकार का होता है - 1. विद्याचारण और 2. जंघाचारण। जंघाचारण लब्धि विशिष्ट चारित्र और तप के प्रभाव से प्राप्त होती है और विद्याचारण लब्धि विद्या के वश से होती है। जंघाचारण लब्धि सम्पन्न मुनिवरो को विशेष जिज्ञासा से जब कहीं यथाशीघ्र जाना होता है तब उस लब्धि का उपयोग करते हैं। वे अपनी लब्धि से रुचकवर द्वीप तक ही जा सकते हैं और विद्याचारण लब्धिवाले मुनि अधिक से अधिक नंदीश्वर द्वीप पर्यन्त ही जा सकते हैं।

(अ) विद्याचारण - जो मुनि किसी विवक्षित आगम रूप विद्या की मुख्यता से गमनागमन करता है, वह विद्याचारण कहलाता है। यह लब्धि जिसने पूर्वो का विधिवत् अध्ययन किया हो तथा यथाविधि अतिशय पूर्वक निरन्तर बेले (छट्ट) का तप किया हो उसको उत्पन्न होती है।

विद्याचारणमुनि की गति को उदाहरण से समझाया है कि जैसे कोई महाऋद्धि वाला देव तीन चुटकी बजाए इतने समय में इस जम्बूद्वीप के तीन बार चक्कर लगा कर आ जाए, ऐसी शीघ्र गति विद्याचारण मुनि की होती है।

इस लब्धि से लब्धिमान् हुआ मुनि एक कदम में मानुषोत्तर पर्वत पर जाकर वहाँ के चैत्यों (ज्ञानियों) को वंदना करता है। वहाँ से दूसरे कदम में नंदीश्वर नामक आठवें द्वीप पर जाकर वहाँ के चैत्यों को वंदना करता है। फिर वहाँ से तीसरे कदम में जहाँ से गया था वहाँ आकर यहाँ रहे हुए चैत्यों को वंदना करता है। इस प्रकार यह तिर्यक् दिशा में गमनागमन होता है। इसी प्रकार ऊर्ध्व दिशा में वह गमन करे तो यहाँ से एक कदम में नन्दनवन में जाकर वहाँ के चैत्यों को वंदना करता है, वहाँ से दूसरे कदम में मेरुपर्वत के ऊपर जाकर वहाँ के चैत्यों को वंदना करता है, फिर तीसरे कदम में जहाँ से गया उस स्थान पर पुनः आकर वहाँ के चैत्यों को वंदना करता है।

(ब) जंघाचारण - मकड़ी के जाल अथवा सूर्य की किरणों की मदद से दोनों जंघाओं से आकाश मार्ग में चलता है, उसे जंघाचारण कहते हैं। यह लब्धि यथाविधि निरन्तर तेल (अठम) की तपस्या करने पर उत्पन्न होती है।

जंघाचारणमुनि की गति को उदाहरण से समझाया है जैसे कि कोई महाऋद्धि वाला देव तीन चुटकी बजाए इतने समय में इस जम्बूद्वीप के इक्कीस बार चक्कर लगा कर आ जाए, ऐसी शीघ्र गति जंघाचारण मुनि की होती है। अर्थात् विद्याचारण की अपेक्षा से जंघाचारण की गति सात गुणा अधिक होती है।

इस लब्धि से लब्धिमान् मुनि एक कदम में यहाँ से तेरहवें रुचकवरद्वीप में जाकर वहाँ के चैत्यों को वंदना करता है, वहाँ से पीछे फिरते हुए दूसरे कदम में नन्दीश्वर द्वीप में जाकर वहाँ के चैत्यों को वंदना करता है, वहाँ से तीसरे कदम में जहाँ से गया वहाँ पुनः आकर यहाँ के चैत्यों को वंदना करता है। इसी प्रकार यह तिर्यक् दिशा में गमनागमन करता है। यदि ऊर्ध्वदिशा में गमन करे तो यहाँ से एक कदम में पंडक वन में जाकर वहाँ के चैत्यों को वंदन करता है, वहाँ से दूसरे कदम में नन्दनवन में जाकर वहाँ के चैत्यों को वंदना करता है और तीसरे कदम में जहाँ से गया वहाँ आकर यहाँ के चैत्यों को वंदना करता है।⁴⁵⁵

उपर्युक्त वर्णन में चैत्य⁴⁵⁶ की वंदना करता है और यहाँ कुछ आचार्य चैत्य का अर्थ मन्दिर करते हैं, तो यह अर्थ संगत नहीं है, “क्योंकि न तो मानुषोत्तरपर्वत पर मन्दिर का वर्णन है और न ही स्वस्थान अर्थात् जहाँ से उन्होंने उत्पाद (उड़ान) किया है, वहाँ भी मन्दिर है। अतः चैत्य का अर्थ मन्दिर या मूर्ति करना संगत प्रतीत नहीं होता है। अपितु ‘चिति संज्ञाने’ धातु से निष्पन्न ‘चैत्य’ शब्द का अर्थ – विशिष्ट सम्यक्ज्ञानी है तथा ‘वंदइ’ का अर्थ स्तुति करना है, अभिवादन करना है, क्योंकि ‘वदि अभिवादन-स्तुत्योः’ के अनुसार यहाँ प्रसंगसंगत अर्थ ‘स्तुति करना’ है। क्योंकि मानुषोत्तर पर्वत आदि पर अभिवादन करने योग्य कोई पुरुष नहीं रहता है। अतः वे उन-उन पर्वत, द्वीप एवं वनों में शीघ्रगति से पहुँचते हैं, वहाँ चैत्यवन्दन करते हैं अर्थात् विशिष्ट सम्यक्ज्ञानियों की स्तुति करते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि मानुषोत्तर पर्वत, नन्दीश्वर द्वीप आदि की रचना का वर्णन जैसा उन विशिष्ट ज्ञानियों से या आगमों से जाना था, वैसी ही रचना को साक्षात् देखते हैं, तब वे (चारणलब्धिधारक) उन विशिष्ट ज्ञानियों की स्तुति करते हैं।”⁴⁵⁷

जंघाचारण लब्धि चारित्र और तप के प्रभाव से होती है। इस लब्धि का प्रयोग करते हुए मुनि की उत्सुकता होने से प्रमाद संभव है और इसलिये यह लब्धि शक्ति की अपेक्षा हीन हो जाती है। यही कारण है कि उसके लिए आते समय दो उत्पात करना कहा है। विद्याचारण लब्धि विद्या के वश होती है, चूंकि विद्या का परिशीलन होने से वह अधिक स्पष्ट होती है, इसलिये वह लब्धि वाला जाते समय दो उत्पाद करके जाता है, किन्तु एक ही उत्पात से पुनः अपने स्थान पर आ जाता है।⁴⁵⁸

धवला टीका में चारण ऋद्धि धारक के आठ प्रकार बताये हैं, यथा – जल, जंघा, तन्तु, फल, पुष्प, बीज, आकाश और श्रेणी। जैसे जो ऋषि जलकायिक जीवों को पीड़ा नहीं पहुँचाते हुए जल को नहीं छूते हुए इच्छानुसार भूमि के समान जल में गमन करने में समर्थ हैं, वे जलचारण कहलाते हैं। शेष जंघा आदि का भी लगभग ऐसा ही अर्थ जानना चाहिए।⁴⁵⁹

9. आशीविष – आशी (दाढ़) और विष (जहर) अर्थात् जिसकी दाढ़ में विष होता है, वह आशीविष कहलाता है। वह दो प्रकार का होता है – 1. जातिविष और 2. कर्मविष।

जाति से आशीविष बिच्छु, मेंढक, सर्प और मनुष्य की जातियाँ हैं। ये अनुक्रम से अधिक-अधिक विष वाले हैं। क्योंकि बिच्छु के विष का प्रभाव बढ़ते-बढ़ते आधे भरत क्षेत्र प्रमाण शरीर में व्याप्त हो सकता है। मेंढक का विष पूरे भरत क्षेत्र प्रमाण शरीर में व्याप्त हो सकता है। सर्प का विष

455. इनका विस्तृत वर्णन युवाचार्य मधुकरमुनि भगवती सूत्र (भाग 4) शतक 20 उद्देशक 9 के पृ. 66-71 पर देखें।

456. चैत्य शब्द अनेकार्थवाची है। सुप्रसिद्ध जैनाचार्य पूज्य श्री जयमलजी म.सा. ने चैत्य शब्द के 112 अर्थों की गवेषणा की है। जिनका उल्लेख आगम प्रकाशन समिति ब्यावर द्वारा प्रकाशित औपपातिक सूत्र (पृ० 6-7) में है।

457. युवाचार्य मधुकरमुनि, भगवती सूत्र (भाग 4) शतक 20, उद्देशक 9, पृ. 69

458. जैन सिद्धान्त बोल संग्रह भाग 6, पृ. 292-293

459. षट्खण्डागम, पु. 9, 4.1.17 पृ. 78-79

जम्बूद्वीप प्रमाण शरीर में व्याप हो सकता है और मनुष्य का विष ढाई द्वीप प्रमाण शरीर में व्याप्त हो सकता है। ये सभी भेद जाति से आशीविष कहलाते हैं।

तप अनुष्ठान एवं अन्य गुणों से जो आशीविष की क्रिया कर सकते हैं अर्थात् शापादि से दूसरों को मार सकते हैं, वे कर्म आशीविष हैं। उनकी यह लब्धि आशीविष लब्धि कहलाती है। जीव लब्धि तप-चारित्र आदि अनुष्ठान अथवा दूसरे गुण से बिच्छु, सर्प आदि से जो कार्य साध्य होते हैं, उनको करता है। जैसेकि शाप देकर दूसरे को मार सकते हैं। यह लब्धि तिर्यच पंचेन्द्रिय, मनुष्य में होती है। जिन मनुष्य को पूर्व भव में ऐसी लब्धि है और वे आयुष्य पूर्ण होने पर सहस्रार देवलोक तक के देवपने में उत्पन्न होते हैं, तो उनके अपर्याप्त अवस्था में पूर्व भव की शक्ति रहती है अर्थात् जब तक वे देव पर्याप्त नहीं होते, वहाँ तक यह लब्धि उनमें होती है। इसलिए सहस्रार देवलोक तक के अपर्याप्त देव को कर्म से आशीविष कहा है। पर्याप्त देव भी शापादि से दूसरे का नाश कर सकते हैं, तो उस समय उनके आशीविष लब्धि है, ऐसा नहीं मानना, क्योंकि वे ऐसा देवभव के सामर्थ्य से करते हैं, यह सभी देवों में पाया जाता है।

धवला के अनुसार अविद्यमान अर्थ की इच्छा का नाम आशिष् है, आशिष् ही विष है जिससे वे आशीविष कहे जाते हैं। उदाहरण के लिए 'मर जाओ' इस प्रकार निकला हुआ वचन व्यक्ति को मारता है, 'भिक्षा के लिए भ्रमण करो' ऐसा वचन भिक्षार्थ भ्रमण कराता है इत्यादि।⁴⁶⁰

10. केवली - चार घाति कर्मों (ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय) का क्षय होने से केवलज्ञान रूप लब्धि प्राप्त होती है। इस लब्धि से युक्त ज्ञानीजन त्रिकालवर्ती सभी रूपी और अरूपी पदार्थों को हस्तामलकवत् स्पष्ट जानते और देखते हैं।

11. मनःपर्यवज्ञानी - इसमें विपुलमति रूप मनःपर्यवज्ञानी का ग्रहण होता है, क्योंकि ऋजुमति लब्धि अलग से दी गई है। बहुत से विशेषों से युक्त वस्तु का विचार ग्रहण करे वह विपुलमति अथवा सैकड़ों पर्याय सहित चिन्तनीय घटादि वस्तुविशेष का विचार ग्रहण करने वाली मति विपुलमति मनःपर्यवज्ञान है।

प्रश्न - सामान्य से एक मनःपर्यवज्ञान ही यहाँ कहा होता तो भी चलता, उसी में ऋजुमति और विपुलमति का संग्रह हो जाता है। फिर दोनों का अलग-अलग स्थानों पर कथन क्यों किया गया है?

उत्तर - यह शंका सही है, अतिशय ज्ञानियों ने ज्ञान में देखकर विचित्र कारण से सूत्र की रचना की है, ऋजुमतिज्ञान आकर चला जाता है तो विपुलमति नहीं जाता है, यही दोनों में भेद है। केवलज्ञान के बाद विपुलमति कहने का कारण भी यह संभव हो सकता है कि विपुलमति वाले को अवश्य ही केवलज्ञान होता है। यह मत टीकाकारों का है, लेकिन आगमानुसार विपुलमति के बाद उसी भव में केवलज्ञान हो यह आवश्यक नहीं है। केवली मनःपर्यवज्ञानी और पूर्वधरों की ऋद्धि प्रसिद्ध ही है।

12. पूर्वधर - तीर्थकर परमात्मा तीर्थ की आदि करते समय द्वादशांगी का मूल आधारभूत जो सर्वप्रथम उपदेश गणधरों को देते हैं, वह पूर्व कहलाता है। गणधर उस उपदेश को सूत्र रूप में ग्रंथित करते हैं। पूर्व चौदह होते हैं, जिन्हें दस से चौदह पूर्व का ज्ञान होता है, वे पूर्वधर कहलाते हैं। जिस लब्धि के प्रभाव से पूर्वों का ज्ञान प्राप्त होता है, वह पूर्वधरलब्धि कहलाती है।

13. अर्हन्त - अशोकवृक्षादि आठ महाप्रातिहार्यों से युक्त और इन्द्रादि के भी जो पूज्य होते हैं, वे केवली अर्हन्त (तीर्थकर) कहलाते हैं। जिस लब्धि के प्रभाव से अर्हन्त की पदवी प्राप्त हो वह अर्हन्त लब्धि कहलाती है।

14. **चक्रवर्ती** - जो चौदह रत्न और छः खण्ड के स्वामी होते हैं, वे चक्रवर्ती कहलाते हैं। जिस लब्धि से चक्रवर्ती पद की प्राप्ति होती है, वह चक्रवर्ती लब्धि कहलाती है।

15. **बलदेव** - इस लब्धि से बलदेव पद की प्राप्ति होती है। बलदेव वासुदेव के बड़े भाई होते हैं।

16. **वासुदेव** - जो सात रत्न और तीन खण्ड के अधिपति होते हैं, वे वासुदेव कहलाते हैं। जिस लब्धि से वासुदेव पद की प्राप्ति होती है, वह वासुदेव लब्धि कहलाती है।⁴⁶¹

वीर्यान्तराय के क्षयोपशम से वासुदेव का बल अतिशय होता है। जैसे कि कुएं के तट पर बैठे हुए वासुदेव को सांकल से बांधकर सोलह हजार राजा सहित हाथी, अश्व, रथ, पैदल सैनिक रूप चतुरंगिणी सेना खींचे तो भी नहीं खींच पाते हैं और वासुदेव सीधे हाथ से भोजन या विलेपन करता हुआ उल्टे हाथ से सांकल को अपनी ओर आसानी से खींच लेता है।

चक्रवर्ती भी बल के विषय में वासुदेव के समान ही होते हैं, लेकिन यहाँ सोलह हजार के स्थान पर बत्तीस हजार राजा लेना चाहिए। क्योंकि वासुदेव के बल से चक्रवर्ती का बल दुगुना होता है। सामान्य लोगों से बलदेव का बल भी बहुत अधिक होता है और जिनेश्वरों का बल तो अपरिमित होता है।⁴⁶²

लब्धि और औदयिक आदि भाव

उपर्युक्त लब्धियों के अलावा भी दूसरी अन्य लब्धियाँ जीवों के शुभ शुभतर-शुभतम परिणामों के वश उत्पन्न होती हैं। उनके मुख्य भेद चार और अवान्तर भेद अनेक हैं।

1. कर्मों के उदय से प्राप्त - वैक्रियनामकर्म के उदय से वैक्रियलब्धि और आहारकनामकर्म के उदय से आहारक लब्धि प्राप्त होती है। इस प्रकार और भी लब्धियाँ हैं जो कर्मों के उदय से प्राप्त होती हैं।

2. कर्मों के क्षय से प्राप्त - दर्शनमोहनीय आदि कर्म के क्षय से क्षायिक समकित, क्षीण मोहपना और सिद्धत्व आदि लब्धियाँ होती हैं।

3. कर्मों के क्षयोपशम से प्राप्त - दानान्तराय, लाभान्तराय आदि कर्म के क्षयोपशम से अक्षीणमहानसी आदि लब्धि होती है।

4. कर्मों के उपशम से प्राप्त - दर्शनमोहनीय आदि कर्मों के उपशम से औपशमसमकित और उपाशांतमोह आदि भी लब्धियाँ होती हैं।⁴⁶³

विशेषावश्यकभाष्य में वर्णित लब्धियों के अतिरिक्त लब्धियाँ

विशेषावश्यकभाष्य के अलावा अन्य आगम-ग्रंथों में अनेक लब्धियों के नाम आये हैं, किन्तु उन सबके नाम एक ही जगह नहीं आये हैं। प्रवचनसारोद्धार द्वार 270 में गाथा 1492 से 1508 तक 28 लब्धियों के नाम, अर्थ आदि का विशेष विवेचन प्राप्त होता है। वे इस प्रकार हैं - 1. आमर्षौषधि लब्धि 2. विप्रुडौषधि 3. खेलौषधि 4. जल्लौषधि 5. सर्वौषधि 6. संभिन्नश्रोत लब्धि 7. अवधिलब्धि 8. ऋजुमति लब्धि 9. विपुल मति लब्धि 10. चारण लब्धि 11. आशीविष लब्धि 12. केवली लब्धि 13. गणधर लब्धि 14. पूर्वधर लब्धि 15. अरिहंत (तीर्थकर) लब्धि 16. चक्रवर्ती लब्धि 17. बलदेव लब्धि 18. वासुदेव लब्धि 19. क्षीरमधुसर्पिराश्रव लब्धि 20. कोष्ठक बुद्धि लब्धि 21. पदानुसारी लब्धि 22. बीजबुद्धि लब्धि 23. तेजो लेश्या लब्धि 24. आहारक लब्धि 25. शीतलेश्या लब्धि 26. वैकुर्विक देह लब्धि 27. अक्षीणमहानसी लब्धि 28. पुलाक लब्धि।

461. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 779-793

462. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 794-798

463. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 801

उपर्युक्त 28 लब्धियों में विशेषावश्यकभाष्य के अनुसार उपर्युक्त जो वर्णन किया गया है, उनमें से जिनभद्रगणि ने सोलह लब्धियों का तो स्पष्ट रूप से उल्लेख किया है, एवं 17-24 का किसी न किसी रूप में भाष्य में नामोल्लेख किया है, यथा - 1. आमर्ष औषधि 2. विप्रुडौषधि 3. श्लेष्मौषधि 4. मलौषधि 5. संभिन्नश्रोत लब्धि 6. ऋजुमति लब्धि 7. सर्वौषधि लब्धि 8. चारण लब्धि 9. आशीविष लब्धि 10. केवली लब्धि 11. मनःपर्यवज्ञानी (विपुलमति) लब्धि 12. पूर्वधर 13. अर्हन्त 14. चक्रवर्ती 15. बलदेव 16. वासुदेव 17. क्षीरमधुसर्पिराश्रव लब्धि 18. अक्षीणमहानसी लब्धि 19. कोष्ठकबुद्धि लब्धि 20. पदानुसारी लब्धि 21. बीजबुद्धि लब्धि 22. अवधिलब्धि 23. आहारक लब्धि 24. वैक्रिय लब्धि । शेष चार लब्धियों का वर्णन विशेषावश्यकभाष्य में प्राप्त नहीं होता है, वे हैं - 25. गणधर लब्धि 26. तेजो लेश्या लब्धि 27. शीतलेश्या लब्धि 28. पुलाक लब्धि ।

विशेषावश्यकभाष्य में स्पष्ट रूप से उल्लिखित लब्धियों के अलावा शेष लब्धियों का स्वरूप निम्न प्रकार से है -

17. क्षीरमधुसर्पिराश्रव लब्धि - जिन साधु के पात्र में आया हुआ लुखा और सूखा आहार भी दूध, घी, शहद आदि की तरह स्वादिष्ट लगे और शरीर में उसकी परिणति दूधादि की तरह पुष्टिकारक होती है, वह क्षीरमधुसर्पिराश्रव लब्धि कहलाती है।⁴⁶⁴ अमृताश्रवी, इक्षुरसाश्रवी आदि लब्धियाँ भी इसी प्रकार समझनी चाहिए।

18. क्षीराश्रवादि लब्धियाँ - जिस लब्धि के प्रभाव से वक्ता का वचन, श्रोत को दूध, मधु और घृत के स्वाद की तरह मधुर लगता है, वह क्षीराश्रव लब्धि है। उदाहरण के लिए वज्रस्वामी आदि के वचन सुनने में अति मधुर लगते थे। गन्ने का चारा चरने वाली एक लाख गायों के दूध को उबालकर हजार गायों से प्राप्त हो इतने दूध के बराबर करते हैं, फिर उसको उबाल कर उसका आधा, इस प्रकार घोटते-घोटते क्रमशः आधा करते अन्त में जब एक गाय से प्राप्त दूध के बराबर वह दूध रह जाता है, उससे प्राप्त घी विशिष्ट वर्णादि से युक्त मधुर होता है, उससे भी अधिक मधुर वचन इस लब्धि के प्रभाव से होते हैं। ऐसा दूध और घी मन की संतुष्टि एवं शरीर की पुष्टि करने वाला होता है, वैसे ही इस लब्धि से सम्पन्न आत्मा का वचन, श्रोता के तन-मन को आह्लादित करता है।

जो वचन सुनने में श्रेष्ठ और शहद (मधु) के समान मधुर लगे, वह **मध्याश्रव** लब्धि कहलाती है।

जो वचन गन्नों को चरने वाली गायों के घी के समान मीठा लगता है, वह **सर्पिराश्रव** लब्धि कहलाती है।

19. कोष्ठबुद्धि - कोष्ठक (कोठागार में रहे हुए) धान्य की तरह जिसके सूत्र और अर्थ निरंतर स्मृतियुक्त होने से चिरस्थायी होते हैं, अर्थात् विशिष्ट ज्ञानी के मुखारविन्द से सुना हुआ श्रुतज्ञान जिस बुद्धि में वैसा का वैसा ही सुरक्षित रहे, वह कोष्ठबुद्धि कहलाती है। और उस बुद्धि से युक्त मुनि कोष्ठबुद्धि लब्धिमान् कहलाता है।

20. पदानुसारीबुद्धि - जो सूत्र के एक ही पद से स्वबुद्धि से बहुत श्रुत जानता है अर्थात् जो एक सूत्र-पद का निश्चय करके शेष उससे सम्बन्धित नहीं सुने हुए ज्ञान को भी तदनु रूप श्रुत का अवगाहन कराती है, वह पदानुसारी बुद्धि कहलाती है और उस बुद्धि से युक्त मुनि पदानुसारी बुद्धि लब्धिमान् कहलाता है।

21. बीजबुद्धि - जो (उत्पाद, ध्रुव और व्यय इत्यादि) एक ही अर्थ प्रधान पद से दूसरे बहुत अर्थ को जानती है अथवा जो एक अर्थ को धारण करके शेष अश्रुत यथावस्थित प्रभूत अर्थों को

ग्रहण करती है, वह बीजबुद्धि कहलाती है और उस बुद्धि से युक्त मुनि बीजबुद्धि (गणधर) लब्धिवान् कहलाता है।⁴⁶⁵

22. आहारक लब्धि - प्राणीदया, तीर्थकर ऋद्धि दर्शन, शंका-निवारण आदि के लिए अन्य क्षेत्र में विराजित तीर्थकर अथवा केवली के पास भेजने के लिए जिस लब्धि से चौहद पूर्वधर साधक एक हाथ प्रमाण का पुतला बनाते हैं, वह आहारक लब्धि कहलाती है।

23. वैक्रिय लब्धि - जिस लब्धि से मनचाहे रूप बनाने की शक्ति प्राप्त होती है, वह लब्धि मनुष्य और तिर्यच को तप-साधना से और देव तथा नारकी को भव-प्रत्यय से प्राप्त होती है।

24. गणधर लब्धि - लोकोत्तर ज्ञान, दर्शनादि गुणों के समूह (गण) को धारण करके उसे सूत्र रूप में गूँथने वाले गणधर कहलाते हैं। जिससे गणधर पद की प्राप्ति हो, उसे गणधर लब्धि कहते हैं।

25. तेजोलेण्या लब्धि - बेले-बेले पारणा करने वाले और पारणे में एक मुट्ठी उड़द के बाकुले एवं चुल्लु भर पानी लेने वाले और सूर्य की आतापना लेने वाले साधक को यह लब्धि प्राप्त होती है। इस लब्धि से मुंह तेज (अग्नि) निकाल कर उनके योजन प्रमाण क्षेत्र को जलाया जा सकता है।

26. शीत लेण्या लब्धि - करुणा भावना से प्रेरित हो कर तेजोलेण्या को शान्त करने में समर्थ शीतल तेज विशेष को छोड़ना शीत लेण्या है, जिससे यह शक्ति प्राप्त हो वह शीतलेण्या लब्धि है।

27. अक्षीणमहानसी लब्धि - जिस लब्धि से एक साधु के लिए लाई गई भिक्षा बहुत से साधुओं के द्वारा खाए जाने पर भी खत्म नहीं हो, लेकिन अन्त में स्वयं के भोगने पर ही वह आहार समाप्त होता है, वह अक्षीणमहानसी लब्धि कहलाती है।

28. पुलाक लब्धि - जिस लब्धि से साधु संघादि की सुरक्षा के लिए चक्रवर्ती और उसकी सेना को दण्ड दे, उस लब्धि से युक्त मुनि पुलाक लब्धिमान् कहलाता है।

उपर्युक्त 28 लब्धियों के अलावा अन्य भी कई लब्धियाँ हैं - अणुत्वलब्धि, महत्तलब्धि, लघुत्वलब्धि, गुरुत्वलब्धि, प्राप्तिलब्धि, प्राकाम्यलब्धि, वशित्वलब्धि, अप्रतिगामित्व लब्धि, अन्तर्धानलब्धि, कामरूपित्वलब्धि।

उपर्युक्त लब्धियों का विशेष स्वरूप प्रवचनसारोद्धार⁴⁶⁶ एवं जैन सिद्धान्त बोल संग्रह⁴⁶⁷ में वर्णित है।

दिगम्बर परम्परा में लब्धियाँ

षट्खण्डागम में 44 जिनों को नमस्कार किया गया है। जिसमें 33 लब्धियों को धारण करने वालों को भी नमस्कार किया गया है, यथा 1. अवधिज्ञानी 2. कोष्ठबुद्धि 3. बीजबुद्धि 4. पदानुसारी 5. सम्भिन्नश्रोता 6. ऋजुमति 7. विपुलमति 8. दशपूर्वधर 9. चतुर्दशपूर्वधर 10. वैक्रिय 11. चारण 12. आकाशगामिनी 13. आशीर्विष 14. दृष्टिविष 15. उग्रतप 16. महातप 17. घोरतप 18. घोरपराक्रम 19. घोरगुण 20. अघोरगुणब्रह्मचारी 21. आमर्षौषधि 22. खेलौषधि 23. जल्लौषधि 24. विष्टौषधि 25. सर्वौषधि 26. मनोबल 27. वचनबल 28. कायबल 29. क्षीरास्रवी 30. सर्पिस्त्रवी 31. मधुस्त्रवी 32. अमृतस्त्रवी 33. अक्षीणमहानस। धवलाटीकाकार ने उनकी व्याख्या की है। जिज्ञासुओं का विशेष वर्णन के लिए षट्खण्डागम देखना चाहिए।⁴⁶⁸

465. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 799-800

466. प्रवचनसारोद्धार, द्वार 270, गाथा 1492-1508, पृ. 408-414

467. जैन सिद्धान्त बोल संग्रह भाग 6, बोल 28, पृ. 289-299

468. षट्खण्डागम पु. 9, सूत्र 4.1.1-4.1.44, पृ. 2-134

लब्धियों के सम्बन्ध में प्राप्त मतान्तर

कुछेक आचार्य बीस ही लब्धियाँ स्वीकार करते हैं, वे इस प्रकार हैं - 1. आमर्ष औषधि 2. श्लेष्मौषधि 3. मलौषधि 4. विप्रुडौषधि 5. सर्वौषधि 6. कोष्ठबुद्धि 7. बीजबुद्धि 8. पदानुसारी बुद्धि 9. संभिन्नश्रोता 10. ऋजुमति 11. विपुलमति 12. क्षीणमधुघृताश्रवा लब्धि 13. अक्षीणमहानसी लब्धि 14. वैक्रियलब्धि 15. चारणविद्या 16. विद्याधर 17. अर्हन्त 18. चक्रवर्ती 19. बलदेव और 20. वासुदेव। लेकिन यह कथन ऐकांतिक नहीं है। क्योंकि लब्धियाँ विशेष - अतिशय हैं। वे जीवों के कर्मक्षय आदि से प्राप्त होती हैं, वे अपरिमित हैं।⁴⁶⁹ जैसे कि गणधर लब्धि, तैजसलब्धि, आहारकलब्धि, पुलाकलब्धि, आकाशगमनलब्धि आदि बहुत लब्धियाँ होती हैं। ये बीस लब्धियाँ भवसिद्धिक पुरुषवेदी जीवों के होती हैं। इसमें से जिनलब्धि, बलदेव, चक्रवर्ती, वासुदेव, संभिन्नश्रोता, जंघाचारण और पूर्वधर ये सात लब्धियाँ भवसिद्धि तक स्त्रीवेदी जीवों के नहीं होती हैं, शेष 13 लब्धियाँ होती हैं। उपर्युक्त सात एवं ऋजुमति, विपुलमति ये नौ लब्धियाँ अभवी पुरुषवेदी के नहीं होती हैं। अभवी स्त्रीवेदी में उपरोक्त नौ और क्षीणमधुघृताश्रवालब्धि ये दस लब्धियाँ छोड़कर शेष दस लब्धियाँ होती हैं।⁴⁷⁰

उपर्युक्त मत को मानने वाले ऐसा कहते हैं कि 20 लब्धियाँ भवी के होती हैं और बाकी भवी और अभवी दोनों में साधारण रूप से होती हैं। उनका ऐसा कहना भी दोषयुक्त है, क्योंकि इन 20 के अलावा दूसरी गणधर, पुलाक और आहारक लब्धियाँ भी मात्र भवी के ही होती हैं। उपर्युक्त 20 लब्धियों में से वैक्रियलब्धि, आमर्ष औषधि आदि लब्धियाँ अभवी के भी होती हैं।⁴⁷¹

चक्रवर्ती लब्धि भवी के ही क्यों होती है

भगवती सूत्र¹ १. (भगवतीसूत्र, श. 12, उ. 9) में कहा है कि “हे भगवन्! चक्रवर्ती हो कर वापस दूसरी बार चक्रवर्ती बने तो उसमें काल से कितना अन्तर होता है। हे गौतम! जघन्य एक सागरोपम झाड़ोरा और उत्कृष्ट अर्धपुद्गल परावर्तन से कुछ कम अन्तर होता है।” इससे स्पष्ट होता है कि चक्रवर्तीलब्धि भवी के ही होती है। क्योंकि अर्धपुद्गल परावर्तन प्रमाण अन्तर काल जिसका भविष्य में मोक्ष होने वाला है, उसी की अपेक्षा घटित होता है और अभवी का उत्कृष्ट अन्तर वनस्पति काल जितना बताया है। फिर इन्द्र, चक्रवर्ती आदि पदयोग्य कर्म का बंध भी भवी के ही कहा है। उसमें चक्रवर्ती भवी ही होता है।⁴⁷²

28 लब्धियों में से भव्य-अभव्य जीवों में प्राप्त लब्धियाँ -

1. भवी-पुरुष में 28 ही लब्धियाँ पाई जाती हैं।
2. भवी-स्त्री में अर्हन्त, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, संभिन्नश्रोता, चारण, पूर्वधर, गणधर, पुलाक और आहारक इन दस लब्धियों को छोड़कर शेष अठारह लब्धियाँ पाई जाती हैं। भगवान् मल्लिनाथ स्त्री रूप में तीर्थकर बने यह आश्चर्य था।
3. अभवी-पुरुष में अर्हन्त, केवली, ऋजुमति, विपुलमति, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, संभिन्नश्रोता, चारण, पूर्वधर गणधर, पुलाक और आहारक इन तेरह को छोड़कर शेष पन्द्रह लब्धियाँ पाई जाती हैं।
4. अभवी-स्त्री में अभव्य पुरुष में नहीं होने वाली तेरह और मधुघृत सर्पिराश्रव ये चौदह लब्धियाँ नहीं पाई जाती हैं तथा शेष चौदह लब्धियाँ पाई जाती हैं।

समीक्षण

अवधिज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञानों में प्रथम ज्ञान है। जो ज्ञान इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना सीधा आत्मा से होता है, वह प्रत्यक्ष ज्ञान है। अवधि शब्द का सामान्य अर्थ है, मर्यादा। जो ज्ञान आत्मा से मर्यादा युक्त जाने वह अवधि है। लोक में दो प्रकार के पदार्थ होते हैं - रूपी और अरूपी। अवधिज्ञान की मर्यादा यह है कि इसके द्वारा मात्र रूपी पदार्थों को ही जाना जाता है। अतः जो आत्मा द्वारा द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की मर्यादा से रूपी पदार्थों को जानता है, वह अवधिज्ञान है।

अवधिज्ञान के प्रकारों का क्षेत्र विस्तृत है। इसके प्रकारों का उल्लेख विभिन्न प्रकार से प्राप्त होता है। मुख्य रूप से इसके दो भेद होते हैं - भवप्रत्यय और गुणप्रत्यय। जो अवधिज्ञान जन्म से होता है वह भवप्रत्यय अवधिज्ञान कहलाता है। यह ज्ञान नारकी और देवता में होता है। जो अवधिज्ञान गुण अर्थात् व्रत-प्रत्याख्यान अथवा क्षयोपशम से प्राप्त होता है, वह गुणप्रत्यय अवधिज्ञान कहलाता है। यह अवधिज्ञान मनुष्य और संज्ञी तिर्यच पंचेन्द्रिय को होता है।

इन दो भेदों के अलावा इसके उत्तर भेदों का उल्लेख विभिन्न ग्रंथों में प्राप्त होता है, जिनकी कुल संख्या तेरह है, यथा 1. देशावधि, 2. परमावधि, 3. सर्वावधि, 4. हीयमान, 5. वर्द्धमान, 6. अवस्थित, 7. अनवस्थित, 8. अनुगामी, 9. अननुगामी, 10. सप्रतिपाति, 11. अप्रतिपाति, 12. एक क्षेत्रावधि और 13. अनेक क्षेत्रावधि।

विशेषावश्यकभाष्य में चौदह निक्षेपों या द्वारों की अपेक्षा अवधिज्ञान का विस्तार से वर्णन किया गया है, वे द्वार हैं - 1. अवधि, 2. क्षेत्रपरिमाण, 3. संस्थान, 4. आनुगामिक, 5. अवस्थित, 6. चल, 7. तीव्रमंद, 8. प्रतिपाति-उत्पाद, 9. ज्ञान, 10. दर्शन, 11. विभंग, 12. देश, 13. क्षेत्र और 14. गति। इन चौदह द्वारों के बाद पंद्रहवें द्वार के रूप में ऋद्धि का उल्लेख **जिनभद्रगणि** ने किया है।

निक्षेप का सामान्य अर्थ है - रखना या प्रक्षेपण करना। किसी वस्तु या पदार्थ में अर्थ का प्रक्षेपण (रखना) करना निक्षेप कहलाता है। अवधिज्ञान का स्वरूप नाम, स्थापना, द्रव्य, काल, भव और भाव इन सात निक्षेपों के माध्यम से समझाया गया है।

क्षेत्र परिमाण की दृष्टि से निक्षेप में अवधिज्ञान का जघन्य क्षेत्र तीन समय के आहारक सूक्ष्म पनक जीव का जितना शरीर (अवगाहना) होता है, उतना ही अवधिज्ञान का विषयभूत जघन्य क्षेत्र परिमाण होता है। अग्निकायिक समस्त जीव सभी दिशाओं में जितने क्षेत्र को व्याप्त करते हैं, अवधिज्ञान का उत्कृष्ट क्षेत्र उतने असंख्यातलोक प्रमाण का होता है। जघन्य क्षेत्र का परिमाण बताते हुए **जिनभद्रगणि** तथा बृहद्वृत्ति में मलधारी हेमचन्द्र ने पारम्परिक अर्थ को महत्त्व दिया है। जबकि यह अर्थ आगमानुसार नहीं हैं, अतः इनके अर्थ की समीक्षा करके आगमिक मान्यता को पुष्ट किया गया है।

अवधिज्ञान का विषय द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से चार प्रकार का है। उनका स्वरूप संक्षेप में निम्न प्रकार से है - **जघन्य** से **अवधिज्ञानी द्रव्य** से और **क्षेत्र** से अंगुल के असंख्यातवें भाग में रहे हुए रूपी द्रव्यों को देखते हैं। **काल** से द्रव्य की आवलिका के असंख्यातवें भाग की द्रव्यगत अतीत, अनागत पर्यायों को देखते हैं और **भाव** से प्रत्येक द्रव्य के चार गुण (एक वर्ण, एक गंध और दो स्पर्श) देखते हैं।

उत्कृष्ट से अवधिज्ञानी द्रव्य से और क्षेत्र से असंख्यात लोकाकाश प्रमाण खंडों के अवगाहित किये हुए द्रव्यों को देखता है (जानता है)। काल से द्रव्यों की असंख्यात उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी अतीत, अनागत की पर्यायों को जानता है और भाव से प्रत्येक द्रव्य की असंख्यात पर्यायों को देखता है।

नंदीसूत्र में जघन्य और उत्कृष्ट दोनों प्रकार के अवधिज्ञानों के लिए अनंत पर्याय का प्रमाण बताया है।⁴⁷³ नंदीचूर्णि के अनुसार भाव (पर्याय) जघन्य से उत्कृष्ट अनन्त गुणा अधिक है। उत्कृष्ट भाव सर्वभावों की अपेक्षा अनन्तवें भाग जितने हैं।⁴⁷⁴ क्योंकि सर्वभावों को केवलज्ञानी ही जान सकते हैं। हरिभद्र इसको स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि यहाँ प्रत्येक द्रव्य की अनंत पर्याय नहीं लेकर मात्र आधारभूत द्रव्यों की अनंत पर्यायों का ग्रहण करना चाहिए।⁴⁷⁵ अतः अवधिज्ञानी आधारभूत ज्ञेय द्रव्य की अनन्तता के कारण अनन्त पर्यायों को जानता है। प्रतिद्रव्य की अपेक्षा अनन्त पर्यायों को नहीं जानता है। अन्य द्रव्यों की पर्यायों का स्पष्टीकरण मलयगिरि करते हुए कहते हैं कि प्रत्येक द्रव्य की पर्याय संख्यात या असंख्यात हो सकती है।⁴⁷⁶ इस प्रकार नंदी के टीकाकार नंदीगत अनंत शब्द का संबंध पर्याय के साथ नहीं जोड़कर द्रव्य के साथ जोड़ते हैं। धवलाटीका के अनुसार अनन्त पर्यायों को नहीं जाना जा सकता है, क्योंकि अवधिज्ञानी असंख्यात पर्यायों को ही जानता है।⁴⁷⁷ इस प्रकार दोनों परम्पराओं में पर्याय को जानने के सम्बन्ध में मतभेद हैं।

अवधिज्ञान के उत्कृष्ट विषय के सम्बन्ध में मान्यता है कि अविधिज्ञानी सर्व लोक को देखता है और अलोक में एक से अधिक आकाश-प्रदेश को देखता है। यहाँ शंका होती है कि अवधिज्ञान का विषय तो रूपी पदार्थ है, फिर वह अलोक में अरूपी आकाश-प्रदेश कैसे देख सकता है? इसका समाधान यह है कि अलोक में रूपी द्रव्य नहीं हैं, परन्तु किसी जीव को इतना अवधिज्ञान हो जाता है कि पूरे लोक में रूपी पदार्थ को जान लेने के बाद यदि अलोक में भी रूपी द्रव्य हों, तो वे उसके एक प्रदेश को भी देख सकते हैं। इतनी शक्ति वाला अवधिज्ञान अप्रतिपाती होता है। अलोक में तो रूपी पदार्थ है ही नहीं, परन्तु ज्ञान की शक्ति बताने के लिए यह कल्पना की गई है, जिससे सरलता पूर्वक उसकी ज्ञान-शक्ति (सामर्थ्य) का परिचय हो सके। जितनी अलोक में वृद्धि होगी उतने ही लोक में रहे हुए रूपी पदार्थों को अवधिज्ञानी सूक्ष्म, सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम रूप से जानता है।

श्वेताम्बर परम्परा में अवधिज्ञान के क्षेत्र का नाप प्रमाणांगुल तथा दिगम्बर परम्परा में अवधिज्ञान का कुछ क्षेत्र उत्सेधांगुल से तथा कुछ क्षेत्र प्रमाणांगुल से नापा गया है।

अवधिज्ञान के द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की वृद्धि के वर्णन में द्रव्य की वृद्धि होने पर क्षेत्रादि की वृद्धि और हानि होती है कि नहीं, इसका जिनभद्रगणि ने परम्परा से प्राप्त सूक्ष्म विवेचन किया है।

473. केवलं जघन्यपदादुत्कृष्टपदमनन्तगुणम्। मलयगिरि नंदीवृत्ति, पृ. 98

474. नंदीचूर्णि पृ. 34

475. भावतोऽवधिज्ञानी जघन्येनानन्तान् भावान् पर्यायान् आधारद्रव्यानन्तत्वात् न तु प्रतिद्रव्यमिति। - हरिभद्रीय नंदीवृत्ति, पृ. 34

476. भावान्पर्यायान् आधारद्रव्यानन्तत्वात्, न तु प्रतिद्रव्यं, प्रतिद्रव्यं संख्येयानामसंख्येयानां वा पर्यायाणां दर्शनात्।

- मलयगिरि नंदीवृत्ति, पृ. 98

477. षट्खण्डागम पु. 9, पृ. 28

कालवृद्धि के साथ द्रव्य, क्षेत्र और भाव की वृद्धि भी निश्चित होती है। क्षेत्र की वृद्धि में काल की वृद्धि की भजना है जबकि द्रव्य और पर्याय की वृद्धि होती हैं तथा द्रव्य और पर्याय की वृद्धि में क्षेत्र और काल की भजना है, क्योंकि काल आदि परस्पर सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होते हैं।

अवधिज्ञानी का विषय रूपी पुद्गल हैं, यथा औदारिकशरीर, वैक्रियशरीर, आहारकशरीर, तैजसशरीर, भाषावर्गणा, आनपान (श्वासोच्छ्वास) वर्गणा, मनोवर्गणा, कर्मणशरीर ये आठ वर्गणाएं होती है, उनमें से भी तैजस और भाषा वर्गणाओं के बीच में रही हुई अयोग्य वर्गणाओं को अर्थात् जो द्रव्य तैजस और भाषा के योग्य नहीं ऐसे गुरुलघु और अगुरुलघु पर्याययुक्त द्रव्य को वह अवधिज्ञानी जानता है।

वर्णणा का स्वरूप समझाने के लिए जिनभद्रगणि ने कुचिकर्ण का उदाहरण दिया है। समान जाति के पुद्गलों के समूह को वर्गणा कहते हैं। औदारिक, वैक्रिय, आहारक और तेजस के द्रव्य स्थूल और गुरुलघु (आठ स्पर्शवाला) तथा कर्मण, भाषा, श्वासोच्छ्वास और मनोद्रव्य सूक्ष्म और अगुरुलघु (चार स्पर्श वाला) परिणाम वाले होते हैं।

वर्गणा मुख्य रूप से चार प्रकार की होती है - द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव। इससे द्रव्यादि के औदारिक आदि आठ भेद होते हैं। सभी वर्गणाओं में पहले अग्रहण वर्गणा फिर ग्रहण वर्गणा और पुनः अग्रहण वर्गणा होती है। विशेषावश्यकभाष्य में औदारिक आदि आठ वर्गणाओं के बाद ध्रुवादि चौदह वर्गणाओं के स्वरूप का उल्लेख किया गया है। इस प्रकार कुल वर्गणाएं 22 (जीव के ग्रहण योग्य 8 और जीव के अग्रहणयोग्य 14) होती हैं।

पंचसंग्रह में औदारिक आदि आठ वर्गणाओं के बाद यथाक्रम से ध्रुवाचित्त, अध्रुवाचित्त, शून्य वर्गणा, प्रत्येकशरीर, ध्रुवशून्य, बादरनिगोद, ध्रुवशून्य, सूक्ष्मनिगोद, ध्रुवशून्य, महास्कंधवर्गणा है, इस प्रकार कुल अठारह वर्गणाओं का वर्णन पंचसंग्रह में मिलता है।

गोम्मटसार में अणुवर्गणा, संख्याताणुवर्गणा, असंख्याताणुवर्गणा, अनन्ताणुवर्गणा, आहारवर्गणा इत्यादि 23 प्रकार की वर्गणाओं का वर्णन गोम्मटसार में प्राप्त होता है।

विभिन्न आगम ग्रंथों में 42 प्रकार की वर्गणाओं का वर्णन प्राप्त होता है।

अवधिज्ञान के विषय की अपेक्षा से मुख्य रूप से तीन भेद होते हैं - देशावधि, परमावधि और सर्वावधि। परमावधिज्ञानी सर्वोत्कृष्ट सभी रूपी पदार्थों को जानता और देखता है। परमावधि का अधिकारी मनुष्य ही होता है। इसी प्रकार तिर्यच, नरक और देवों के अवधिज्ञान से सम्बन्धित द्रव्य, क्षेत्र एवं काल का विस्तार से उल्लेख किया गया है।

1. तिर्यच अवधिज्ञानी का उत्कृष्ट क्षेत्र असंख्यातद्वीप समुद्र और काल से असंख्यातवर्ष प्रमाण होता है।

2. नारकी अवधिज्ञानी जघन्य एक गाऊ (कोस) और उत्कृष्ट चार गाऊ (एक योजन) क्षेत्र को, तथा काल से अन्तर्मुहूर्त के भूत-भविष्य का जानता और देखता है।

3. देवता में भवनपति का जघन्य क्षेत्र 25 योजन उत्कृष्ट असंख्यात योजन, वाणव्यंतर का जघन्य क्षेत्र 25 योजन उत्कृष्ट संख्यात योजन है तथा ज्योतिषी जघन्य-उत्कृष्ट संख्यात योजन क्षेत्र को जानता और देखता है। वैमानिक का जघन्य क्षेत्र जघन्य अंगुल का असंख्यातवां भाग, उत्कृष्ट संभिन्न सम्पूर्ण लोक नाड़ी जितना होता है। जैसेकि पहले देवलोक से नवमें नवग्रैवेयक तक के देव तिरछे रूप में असंख्यात द्वीप-समुद्रों तक और ऊंचे अपने-अपने विमानों की ध्वजा पताका तक एवं पांच अनुत्तर विमान के देव चौदह रज्जु प्रमाण लोक को देखते हैं।

वैमानिक को छोड़कर शेष देवताओं के अवधिज्ञान का क्षेत्र प्रमाण सामान्य से इस प्रकार है। आधा सागरोपम से कम आयुष्यवाला देव संख्यात योजन तक और उससे अधिक आयुष्य वाले देव असंख्यात योजन तक उत्कृष्ट क्षेत्र देखते हैं अर्थात् देवों के अवधिज्ञान के क्षेत्र का विषय उनकी स्थिति के अनुसार है।

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा मनुष्य गति में जघन्य, उत्कृष्ट और मध्यम प्रकार का, तिर्यच गति में जघन्य और मध्यम रूप दो प्रकार का तथा देव और नारकी में एक मध्यम प्रकार का ही अवधिज्ञान पाया जाता है।

संस्थान द्वार में अवधिज्ञानी के ज्ञान का आकार-प्रकार कैसा होता है, इसका उल्लेख किया गया है। सभी जीवों के अवधिज्ञान का प्रकार भिन्न-भिन्न होता है। जैसे नारकी के अवधिज्ञान का संस्थान तप्र के प्रकार का, भवनपति में पल्लक के प्रकार का तथा वाणव्यंतर में पटह के प्रकार का होता है। इस तरह अनुत्तर विमान के देव तक के अवधिज्ञान का प्रकार बताया गया है। मनुष्य और तिर्यच के अवधिज्ञान का संस्थान अनियत है। संस्थानों के वर्णन के साथ श्वेताम्बर-दिगम्बर परम्पराओं में शरीरगत संस्थान के उल्लेख में जो मत भेद हैं, उसकी चर्चा की गई है।

जो अवधिज्ञान एक स्थान से दूसरे स्थान पर कर्ता का नेत्र के समान अनुगमन करे वह आनुगामिक अवधिज्ञान होता है। यह दो प्रकार का होता है - अंतगत और मध्यगत। जो अवधिज्ञान आत्मप्रदेशों के किसी एक छोर में विशिष्ट क्षयोपशम होने पर उत्पन्न होता है, वह अवधिज्ञान अंतगत अवधिज्ञान है। अंतगत अवधिज्ञान कई दिशाओं को प्रकाशित कर सकता है। इसलिए इसके तीन भेद हैं - 1. पुरतः (आगे की दिशा को प्रकाशित करने वाला) 2. मार्गतः (पीछे की दिशा को प्रकाशित करने वाला) 3. पार्श्वतः (दाये-बायें किसी एक दिशा को प्रकाशित करने वाला)। इस प्रकार वह संख्यात असंख्यात योजन क्षेत्र को प्रकाशित करता है। इन भेदों का उल्लेख तत्त्वार्थसूत्र और षट्खण्डागम में नहीं है। मध्यगत अवधिज्ञान में जैसे कोई व्यक्ति प्रकाशमान दीपक आदि को अपने मस्तक पर रखता है तो उससे चारों ओर की वस्तु प्रकाशित होती है, वैसे ही जो अवधिज्ञानी सभी दिशाओं के रूपी पदार्थों को जानता है, वह मध्यगत अवधिज्ञान है।

अंतगत और मध्यगत में मुख्य रूप से अन्तर है कि अंतगत अवधिज्ञान चारों दिशाओं में से किसी एक दिशा में संख्यात और असंख्यात योजन तक स्थित रूपी द्रव्यों को प्रकाशित करता है, जबकि मध्यगत अवधिज्ञानी सभी दिशाओं विदिशाओं में संख्यात और असंख्यात योजन तक स्थित रूपी द्रव्यों को प्रकाशित करता है।

जो अवधिज्ञान ज्ञाता का अनुगमन नहीं करे, वह अनानुगामिक अवधिज्ञान है। जिस प्रकार स्थिर दीपक आदि एक ही स्थान पर रहकर मर्यादित क्षेत्र में रूपी पदार्थों को प्रकाशित करते हैं। वैसे ही अनानुगामिक अवधिज्ञान होता है। यह अवधिज्ञान क्षेत्र से प्रतिबद्ध होता है। अनानुगामिक अवधिज्ञानी सम्बद्ध (लगातार) और असम्बद्ध (अन्तराल) रूप से रूपी पुद्गलों को जानता है। **जिनभद्रगणि** ने आनुगामिक और अनानुगामिक के मिश्र भेद का भी उल्लेख किया है। मनुष्य-तिर्यच में आनुगामिक, अनानुगामिक और मिश्र तथा देव और नारकी में आनुगामिक अवधिज्ञान होता है।

अवस्थित द्वार में अवधिज्ञान का क्षेत्र, उपयोग और लब्धि की अपेक्षा से वर्णन किया गया है। अवस्थित का अर्थ है स्थिर रहना। अवस्थित के साथ अनवस्थित का उल्लेख आवश्यकनिर्युक्ति में प्राप्त नहीं होता है। अनवस्थित का उल्लेख षट्खण्डागम और तत्त्वार्थसूत्र में प्राप्त होता है।

अवधिज्ञान जघन्य एक समय तथा उत्कृष्ट 33 सागरोपम एक क्षेत्र में अवस्थित रहता है। अवधिज्ञानी का उत्कृष्ट उपयोग अर्न्तमुहूर्त तक होता है। पर्याय की अपेक्षा से 7-8 समय तक होता है। लब्धि की अपेक्षा से अवधिज्ञान उत्कृष्ट 66 सगरोपम तक स्थिर रहता है।

तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार जो अवधिज्ञान क्षेत्र और कालादि की अपेक्षा से जितना उत्पन्न हुआ है उतना ही रहे तो वह अवस्थित अवधिज्ञान कहलाता है, तथा इसके विपरीत अनवस्थित अवधिज्ञान है।

चल द्वार में क्षेत्रादि की अपेक्षा अवधिज्ञान में जो हानि होती है, वह चल कहलाती है। वृद्धि दो प्रकार की होती है - भागवृद्धि और गुणवृद्धि। इनमें भी छह-छह प्रकार होते हैं। अनन्त भाग, असंख्यात भाग, संख्यात भाग, संख्यात गुणा, असंख्यातगुणा और अनन्तगुणा। द्रव्य में दो, क्षेत्र व काल में चार प्रकार की और भाव में छह प्रकार की वृद्धि और हानि होती है। द्रव्यादि की वृद्धि होने पर अन्य में भी वृद्धि भजना से होती है, लेकिन हानि नहीं होती है। इसी प्रकार हानि होने पर दूसरे में हानि भजना से होती है, लेकिन वृद्धि नहीं होती है। इसी प्रसंग पर **जिनभद्रगणि** ने वर्धमान और हीयमान अवधिज्ञान के स्वरूप का वर्णन किया है। प्रशस्त परिणामों से द्रव्यादि में वृद्धि होना वर्धमान अवधिज्ञान और अप्रशस्त परिणामों से द्रव्यादि में हानि होने पर हीयमान अवधिज्ञान कहलाता है।

जिनभद्रगणि ने तीव्र-मंद द्वार का स्वरूप समझाने के लिए स्पर्धक अवधिज्ञान का वर्णन किया है। जिस प्रकार दीपक पर जालीदार बर्तन ढंकने पर छिद्रों से उसकी प्रभा बाहर निकलती है, उसी प्रकार जिन आत्म प्रदेशों पर अवधिज्ञानावण का क्षयोपशम होता है, वे आत्म प्रदेश स्पर्धक कहलाते हैं और उसी को स्पर्धक अवधिज्ञान कहते हैं। स्पर्धक के तीन प्रकार होते हैं - अनुगामी, अननुगामी और मिश्र। अनुगामी और अप्रतिपाती स्पर्धक अति विशुद्ध होने से तीव्र कहलाते हैं तथा अननुगामी और प्रतिपाती स्पर्धक अशुद्ध होने से मंद कहलाते हैं और मिश्र स्पर्धक मध्यम कहलाते हैं।

इसी प्रकार प्रतिपाती और अप्रतिपाती अवधिज्ञान के स्वरूप पर भी **जिनभद्रगणि** ने प्रकाश डाला है। प्रतिपाती का अर्थ होता है, उत्पन्न होने के बाद गिरने के स्वभाव वाला तथा जो अवधिज्ञान उत्पन्न होने के बाद नहीं गिरने वाला हो वह अप्रतिपाती अवधिज्ञान है। अप्रतिपाती अवधिज्ञानी को उसी भव में केवलज्ञान की प्राप्ति होती है। टीकाकारों की इस मान्यता का आगम प्रमाण देकर खण्डन किया गया है कि अप्रतिपाती अवधिज्ञान का अर्थ भव पर्यन्त तक रहने वाला अवधिज्ञान ही समझना चाहिए।

प्रतिपाद-उत्पाद द्वार में बाह्य और आभ्यन्तर अवधिज्ञान का उल्लेख किया गया है। जो चारों ओर से नहीं देखता हो, या झरोखे की जाली में से निकले हुए दीपक के प्रकाश की भाँति अन्तर सहित अवधि हो, उसे 'बाह्य अवधि' कहते हैं और जो अवधिज्ञान, सभी ओर की दिशाओं में संलग्नता रूप से सीमित क्षेत्र को अन्तर सहित प्रकाशित करता है, उसे 'आभ्यन्तर अवधिज्ञान' कहते हैं। नारकी और देवता में आभ्यन्तर, तिर्यच में बाह्य और मनुष्य में दोनों प्रकार का अवधिज्ञान होता है।

अवधिज्ञान-अवधिदर्शन-विभंग द्वारों में कहा गया है कि प्रतिपादित किया गया है कि जो वस्तु के विशेष रूप को ग्रहण करता है वह साकार बोध 'ज्ञान' तथा जो वस्तु को सामान्य रूप से ग्रहण करता है, वह अनाकार बोध 'दर्शन' कहलाता है। सम्यग्दृष्टि के अवधिज्ञान और मिथ्यादृष्टि

के विभंगज्ञान होता है। कुछ आचार्यों ने इस प्रसंग पर विभंग दर्शन को सिद्ध करने का प्रयास किया है, जिसका **जिनभद्रगणि** ने खण्डन किया है।

देश द्वार में अवधिज्ञानी रूपी पदार्थों को देश से जानता है कि सर्व से जानता है, इसका उल्लेख किया गया है। ज्ञान-दर्शन की प्राप्ति में ज्ञानावरणीय-दर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम की समानता रहती है, फिर भी द्रव्य में सामान्य और विशेष की अपेक्षा से क्षयोपशम ज्ञान (साकार उपयोग) और दर्शन (अनाकार उपयोग) में होता है।

क्षेत्र द्वार में संबद्ध और असंबद्ध अवधिक्षेत्र का वर्णन किया गया है। किसी अवधिज्ञानी का अवधिज्ञान प्रदीप में प्रभा की तरह संबद्ध होता है। वह ज्ञानी अपने अवस्थिति क्षेत्र से निरन्तर द्रष्टव्य वस्तु को जान लेता है। जिस प्रकार दूरी और अन्धकार के कारण प्रदीप की प्रभा विच्छिन्न हो जाती है, वैसे ही अवधिज्ञान अवधिज्ञानी में असंबद्ध होता है। असम्बद्ध में तो अपने पास वाला क्षेत्र नहीं देखता है। स्पर्धक अवधि में अपने पास वाला क्षेत्र देख सकता है। स्पर्धक अवधिज्ञानी का अर्थ बीच-बीच में क्षेत्र नहीं देखना है।

गति द्वार में गति, इन्द्रिय, काय, योग आदि बीस द्वारों के माध्यम से अवधिज्ञानी के अधिकारी आदि का मतिज्ञान के समान उल्लेख किया गया है।

ऋद्धि द्वार में विशिष्ट क्षयोपशम से जीव को जिन लब्धियों की प्राप्ति होती है, उनका उल्लेख है। मुख्य रूप से अट्ठाईस लब्धियाँ होती हैं। विशेषावश्यक भाष्य के अनुसार सतरह एवं अन्य ग्रंथों में प्राप्त भिन्न लब्धियों का वर्णन किया गया है। कितनी लब्धियाँ भवी-अभवी पुरुष और स्त्री में होती हैं, इसका वर्णन किया गया है। उसके अलावा ऋद्धि के सम्बन्ध में विशिष्ट उल्लेख इस प्रकार है -

अन्य मत की साधना में कितनी लब्धियाँ हैं - अरिहन्त, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, संभिन्नश्रोता, चारण, पूर्वधर, गणधर, पुलाक, आहारक, केवली, ऋजुगति, विपुलमति, ये तेरह लब्धियाँ अन्य मत में सम्भव नहीं हैं। शेष आमोसहि, विप्पोसहि, खेलोसहि, जल्लोसहि, सव्वोसहि, अवधि, आसीविस, खीर, महु, सप्पि, आसव, कोट्ठबुद्धि, पदानुसारी, बीजबुद्धि, तेजोलेश्या, शीतलेश्या, वैक्रिय, अक्षीणमहानसिक, ये लब्धियाँ अन्यमतवालों को भी हो सकती हैं। अणुत्व, महत्त्व आदि ऋद्धियाँ (सिद्धियाँ) भी अन्य मत में हो सकती हैं।

28 लब्धियों में किस गुणस्थान में कितनी लब्धियाँ होती हैं - तीर्थकर, केवली ये दो लब्धियाँ 13वें-14वें गुणस्थान में पायी जाती हैं। संभिन्नश्रोता, पूर्वधर, गणधर, विपुलमति, ऋजुमति ये पांच लब्धियाँ छठे से बारहवें गुणस्थान तक पायी जाती हैं। श्रुतज्ञान के क्षयोपशमरूप होने से गणधरलब्धि में बारहवें गुणस्थान तक ही मानी गयी है। चारण-पुलाक और आहारक लब्धि छट्ठे गुणस्थान में मानी जाती है। चारणलब्धि का प्रयोग प्रमादी करता है। पहुँचने के बाद अप्रमत्त भी हो सकता है। चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव में प्रथम चार गुणस्थान पाये जाते हैं। अवधि लब्धि चौथे से बारहवें गुणस्थान तक पायी जाती है। सास्वादन में भी अवधि होती है। विभंग को भी इसी में समझा जाता है। इस दृष्टि से यह पहले से बारहवें गुणस्थान तक है। आशीविष, शीतल, उष्ण, तेजोलेश्या प्रथम छह गुणस्थानों तक समझी जाती है। बीजबुद्धि, कोष्ठबुद्धि और पदानुसारिणी में प्रथम बारह गुणस्थान, क्षीर, मधु, घृत में प्रथम से तेरह गुणस्थान, शेष आमोसहि, विप्पोसहि,

खेलोसहि, जल्लोसहि और सव्वोसहि सभी गुणस्थान में समझी जाती हैं। ग्रन्थों से आमोसादि पांच लब्धियाँ प्रमत्त संयत तक होना ही ध्वनित होता है।

अवधिज्ञान के अज्ञान का कारण - 'अवधि' ज्ञान भी है और अज्ञान भी है, क्योंकि मति, श्रुत और अवधि ज्ञानावरणीय कर्म की प्रकृतियों के क्षयोपशम के साथ दर्शन-सप्तक (अनंतानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ तथा मिथ्यात्व मोहनीय, मिश्र-मोहनीय और सम्यक्त्व मोहनीय, इन सात प्रकृतियों) का क्षयोपशमादि हुआ हो, तो तीन ज्ञान और दर्शन-सप्तक का क्षयोपशमादि नहीं हुआ हो, तो तीन अज्ञान होते हैं। अज्ञान-दशा में ही वह 'विभंगज्ञान' अथवा अवधि अज्ञान कहलाता है।

अवधिज्ञान से सम्बन्धित कुछ विशेषताएं निम्न प्रकार से हैं -

1. गर्भ में रहे हुए तीर्थंकर अवधिज्ञान से अलोक के पर्याय को नहीं देख सकते हैं।
 2. जिस प्रकार अवधिज्ञान द्वारा जीव लोक में कम ज्यादा देखते हैं, उसी प्रकार उसमें अलोक को भी कम-ज्यादा देखने की शक्ति है, किन्तु सभी परम अवधिज्ञान वालों का क्षेत्र समान है।
 3. एक पल्योपम में कुछ कम जानने वाला अवधिज्ञानी, सम्पूर्ण लोक को जानता है।
 4. कम से कम लोक के और पल्योपम के बहुत से संख्यातवें भागों को जानने वाला अवधिज्ञानी कर्म के द्रव्यों को जान सकता है।
 5. परम अवधिज्ञान होने के अंतर्मुहूर्त बाद केवलज्ञान उत्पन्न हो ही जाता है।
 6. अंगुल के असंख्यातवें भाग से लेकर हजार योजन की अवगाहना वाले तिर्यच को अवधिज्ञान हो सकता है, ऐसा प्रज्ञापना सूत्र के पांचवें पद से स्पष्ट होता है।
 7. जो मनुष्य परभव से अवधिज्ञान साथ लेकर आता है, वह मध्यम प्रकार का ही होता है।
 8. औदारिक में अवधिज्ञान विचित्र प्रकार का होता है। तिर्यचों का अवधि भवनपति, वाणव्यंतर देवों से अधिक नहीं होता है, फिर भी अल्प स्थिति वाले देवों से तिर्यचों का अवधि अधिक भी हो तो वे देवों से बड़े नहीं हो जाते हैं। जैसे मनुष्य उड़ नहीं सकता चिड़िया उड़ सकती है।
 9. पूर्व-पश्चात् की पर्यायों को भी अवधिज्ञानी जान सकता है। पूर्व-पश्चात् पर्यायें रूपी होती हैं। नष्ट, अनुत्पन्न होते हुए भी वर्तमान पर्याय के माध्यम से अवधिज्ञानी उन पर्यायों को जान सकते हैं। अवधि से भूत-भविष्यत् काल में होने वाली रूपी द्रव्यों की पर्यायें वर्तमान समय में दृष्टिगोचर हो जाती हैं।
 10. विशेषावश्यकभाष्य (गाथा 2593) के अनुसार पांचवें आरे में जम्बूस्वामी के मोक्ष पधारते ही, निम्न बारह प्रकार के बोलों का विच्छेद हो गया है, जो निम्न प्रकार से हैं - 1. मनःपर्यवज्ञान 2. परमावधिज्ञान 3. पुलाकलब्धि 4. आहारक लब्धि 5. क्षपकश्रेणि 6. उपशमश्रेणि 7. जिनकल्प 8. परिहारविशुद्धि 9. सूक्ष्मसंपराय 10. यथाख्यात चारित्र 11. केवली 12. मुक्ति।
- प्रश्न यह है कि वर्तमान में अवधिज्ञान, जातिस्मरण आदि ज्ञान का निषेध नहीं होते हुए भी वर्तमान समय में अवधिज्ञान क्यों नहीं होता है? उत्तर में कहा गया है कि वर्तमान में सामान्यतया आज कोई भी अवधिज्ञानी नहीं है। इसका यह कारण है कि चित्त की वैसी एकाग्रता और निर्मलता नहीं है। एकाग्रता और निर्मलता उत्कृष्ट चारित्र में होती है।

अवधिज्ञान और देशविरति सामायिक – मलधारी हेमचन्द्र ने बृहद्वृत्ति में उल्लेख किया है कि श्रावक अवधिज्ञान की प्राप्ति के पश्चात् देशविरति को प्राप्त नहीं करता। देशविरति आदि गुणों के अभ्यास के पश्चात् ही अवधिज्ञान प्राप्त होता है, यह तथ्य हमें गुरु-परम्परा से ज्ञात हुआ है। इसका रहस्य तो केवली जानते हैं।⁴⁷⁸ टीकाकार का यह कथन आगमानुसार नहीं है, क्योंकि श्रावक या सम्यग्दृष्टि को अवधिज्ञान हो जाने के बाद सर्वविरति, देशविरति या पूर्वव्रतों को और संक्षिप्त करके देशविरति को बढ़ाने का आगम में कहीं पर निषेध नहीं है। इसलिए अवधि के बाद भी सम्यग्दृष्टि जीव, श्रावक बन सकता है एवं श्रावक साधु बन सकता है। क्योंकि अवधिज्ञान क्षयोपशम भाव है, उदयभाव नहीं है, क्षयोपशम भाव देशविरति, सर्वविरति में सहयोगी समझा जाता है, बाधक नहीं।

इस अध्याय में अवधिज्ञान का निरूपण प्रमुखतः विशेषावश्यकभाष्य और उसकी टीका को आधार बनाकर किया गया है। साथ ही अन्य श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों का भी प्रचुर उपयोग किया गया है। अवधिज्ञान के सम्बन्ध में विभिन्न द्वारों के माध्यम से जो चर्चा की गई है, उससे अवधिज्ञान के सम्बन्ध में प्राप्त वर्णन की भी समीक्षा की गई है। उसी के आधार पर दोनों परम्पराओं में अवधिज्ञान के स्वरूप में जो अन्तर हैं, उन्हें संक्षेप में निम्नांकित बिन्दुओं में प्रस्तुत किया जा सकता है – (1) श्वेताम्बर परम्परा में अवधिज्ञान के कुल ग्यारह भेदों का उल्लेख मिलता है, यथा १. भवप्रत्यय, २. गुणप्रत्यय, ३. अनुगामी, ४. अननुगामी, ५. वर्द्धमान, ६. हीयमान, ७. प्रतिपाति, ८. अप्रतिपाति, ९. अवस्थित, १०. अनवस्थित, ११. परमावधि, इस प्रकार अवधिज्ञान के कुल ग्यारह भेद होते हैं। दिगम्बर परम्परा में श्वेताम्बर परम्परा में मान्य ग्यारह भेद सहित, १२. देशावधि, १३. सर्वावधि, १४. एकक्षेत्र और १५. अनेकक्षेत्र इस प्रकार कुल पन्द्रह भेद प्राप्त होते हैं।

(2) निगोद के जीव एक मुहूर्त में श्वेताम्बर मान्यता से 65536 भव और दिगम्बर मान्यता से अन्तर्मुहूर्त में 66336 भव करता है।

(3) श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार निम्न लिखित क्षेत्र के साथ निम्न लिखित काल देखता है—१. हाथ प्रमाण क्षेत्र में अन्तर्मुहूर्त प्रमाण काल तक रूपी द्रव्यों को देखता है, २. गाऊ प्रमाण क्षेत्र में दिवस अन्तर्भाव पर्यन्त काल तक देखता है, ३. योजन प्रमाण क्षेत्र में दिवस पृथक्त्व पर्यन्त काल देखता है, ४. 25 योजन क्षेत्र में पक्षान्त भाग काल तक देखता है।

दिगम्बर परम्परा में इस प्रकार देखता है – १. हाथ प्रमाण क्षेत्र में पृथक्त्व आवलिका (7-8 आवलिका) काल तक देखता है, २. गाऊ प्रमाण क्षेत्र में अन्तर्मुहूर्त (साधिक उच्छ्वास) काल तक देखता है, ३. योजन प्रमाण क्षेत्र में भिन्नमुहूर्त (एकसमय कम मुहूर्त) काल देखता है, ४. 25 योजन क्षेत्र में दिवसअंतो (एकदिवस में कुछ कम) काल तक देखता है।

(4) श्वेताम्बर परम्परा में अवधिज्ञान का क्षेत्र प्रमाणांगुल से नापा जाता है। दिगम्बर परम्परा में अवधि के कुछ विषय क्षेत्र को उत्सेधांगुल से और कुछ क्षेत्र को प्रमाणांगुल से नापा जाता है।

478. श्रावकोऽप्यवधिज्ञानं प्राप्य देशविरतिं प्रतिपद्यत इत्येवं न। किन्तु पूर्वमभ्यस्तदेशविरतिगुणः पश्चादवधिं प्रतिपद्यते, देशविरत्यादिगुणप्राप्तिपूर्वकत्वादवधिज्ञानप्रतिपत्तेरित्येतावद् गुरुभ्योऽस्माभिरवगतम्। तत्त्वं तु केवलिनो विदन्ति।

(5) श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार पर्याय वृद्धि में द्रव्यादि की वृद्धि भजना से होती है। दिगम्बर परम्परा के अनुसार पर्याय की वृद्धि में द्रव्य की भी वृद्धि नियम से होती है।

(6) आवश्यकनिर्युक्ति के अनुसार अवधिज्ञानी तैजस शरीर से प्रारंभ होकर भाषाद्रव्य तक जितने जितने द्रव्यों को देखता हुआ आगे बढ़ता है, वह क्षेत्र से असंख्यात द्वीप-समुद्र और काल से पल्योपम का असंख्यातवां भाग उत्तरोत्तर अधिक देखता है। षट्खण्डागम के अनुसार जो अवधिज्ञानी तैजस शरीर के पुद्गलों को देखता है, तो वह काल से भव पृथक्त्व (2-9 भवों) को देखता है, उस भव पृथक्त्व के मध्य किसी भव में यदि उसे अवधिज्ञान उत्पन्न हुआ हो तो उस अवधिज्ञान से दृष्ट पूर्वभवों की उसे स्मृति होती है, उनका साक्षात् नहीं होता।

(7) विशेषावश्यकभाष्य के अनुसार औदारिक आदि आठ वर्गणाएं जीव के ग्रहण योग्य हैं तथा ध्रुव आदि चौदह वर्गणाएं जीव के अग्रहण योग्य हैं, इस प्रकार कुल वर्गणाएं 22 होती हैं। जबकि गोम्मटसार में 23 प्रकार की वर्गणा बताई है। श्वेताम्बर परम्परा में मान्य आठ वर्गणाओं में से पांच ही मान्य हैं। औदारिक, वैक्रिय और आहारक इन तीन वर्गणाओं के स्थान पर एक आहार वर्गणा कही गई है और श्वासोच्छ्वास वर्गणा को नहीं लिया गया है। इस प्रकार आठ की अपेक्षा पांच ही वर्गणा गिनी हैं।

(8) श्वेताम्बर परम्परा में परमावधिज्ञान ही अवधिज्ञान की चरम सीमा है। जबकि दिगम्बर परम्परा में परमावधि के बाद अवधिज्ञान की सर्वोत्कृष्ट सीमा सर्वावधि है।

(9) प्रज्ञापनासूत्र के तेतीसवें पद (अवधिपद) में प्रत्येक नरक के नैरयिकों का जघन्य अवधि प्रमाण स्वयं के उत्कृष्ट प्रमाण से आधा गाऊ (1/2) कम है, जैसे कि पहली नारकी का जघन्य साढ़े तीन गाऊ और उत्कृष्ट चार गाऊ, इस प्रकार अन्य नारकी का भी समझ लेना चाहिए। लेकिन ऊंचा-नीचा और तिरछे का खुलासा नहीं किया है। लेकिन अकलंक ने स्पष्ट किया है कि यह प्रमाण नीचे की ओर का है। ऊपर की ओर का प्रमाण स्वयं के नरकावास के अंत तक है और तिरछा प्रमाण असंख्यात कोड़ाकोड़ी योजन का है। लेकिन इस प्रमाण में जघन्य और उत्कृष्ट का भेद नहीं किया है।

(10) श्वेताम्बर ग्रन्थों में नारकी कितने काल का भूत-भविष्य जानता है, इसकी स्पष्टता नहीं है। जबकि धवलाटीका में काल प्रमाण की स्पष्टता करते हुए कहते हैं कि रत्नप्रभा नारक का उत्कृष्ट कालमान मुहूर्त में एक समय अधिक है और बाकी की छह पृथ्वियों के नारकों का उत्कृष्ट काल प्रमाण अन्तर्मुहूर्त है।

(11) श्वेताम्बर परम्परा में भवनपति, वाणव्यंतर और ज्योतिषी के अवधिक्षेत्र के ऊँचे, नीचे और तिरछे क्षेत्र का स्पष्ट उल्लेख नहीं किया गया है। दिगम्बर परम्परा में अकलंक ने इसका स्पष्ट उल्लेख किया है।

(12) श्वेताम्बर परम्परा में सौधर्म आदि बारह देवलोकों का ही उल्लेख है, जबकि दिगम्बर परम्परा में सोलह देवलोकों का उल्लेख है।

(13) आवश्यकनिर्युक्ति में नवग्रैवेयक के विभाग करके अवधि का विषय बताया है, जबकि षट्खण्डागम में नवग्रैवेयक का विषय एकसाथ (छठी नारकी तक) ही बताया है।

(14) आवश्यकनिर्युक्ति और भाष्य में नौ अनुदिश देवों तथा उनके अवधि क्षेत्र का वर्णन नहीं है। जबकि धवलाटीका में नौ अनुदिश देवों का उल्लेख करते हुए इनका भी अवधि क्षेत्र बताया है।

(15) लोकनाली का सभी देवलोको के साथ सम्बन्ध जोड़ना चाहिए, ऐसा वर्णन आवश्यक निर्युक्ति. विशेषावश्यकभाष्य आदि में प्राप्त नहीं होता है। जबकि धवलाटीका लोकनाली अन्तर्दीपक है, ऐसा जानकर उसको सभी के साथ जोड़ना चाहिए।

(16) श्वेताम्बर परम्परा में कल्पवासी देवों के जघन्य और उत्कृष्ट क्षेत्र का स्पष्ट रूप से उल्लेख नहीं है। जबकि दिगम्बर परम्परा में कल्पवासी देवों के अवधिज्ञान के क्षेत्र का जघन्य और उत्कृष्ट की दृष्टि से स्पष्ट रूप से उल्लेख मिलता है।

(17) श्वेताम्बर परम्परा में अवधिज्ञान के बाह्य संस्थानों का वर्णन है, जबकि दिगम्बर परम्परा में अवधिज्ञान के संस्थान शरीरगत बताये हैं।

(18) श्वेताम्बर परम्परा में आनुगामिक-अनानुगामिक (नंदीसूत्र में) अवधिज्ञान के प्रभेद दिगम्बर परम्परा में वर्णित भेदों से भिन्न हैं।

(19) श्वेताम्बर परम्परा में अवस्थित अवधिज्ञान की विचारणा क्षेत्र, उपयोग और लब्धि के आधार से की गई है, जबकि दिगम्बर परम्परा में अवस्थित अवधिज्ञान की विचारणा सामान्य रूप से की गई है।

(20) श्वेताम्बर मान्यता के अनुसार द्रव्य में दो प्रकार की वृद्धि और हानि होती है, जबकि दिगम्बर मान्यता के अनुसार द्रव्य में भी वृद्धि और हानि चार प्रकार से होती है।

(21) श्वेताम्बर परम्परा में जिस अवधिज्ञान में विचारों के प्रशस्त होने पर वृद्धि होती है, वह वर्धमान अवधिज्ञान है और विचारों के अप्रशस्त होने पर हानि होती है, वह हीयमान अवधिज्ञान है। वर्धमान अवधिज्ञान केवलज्ञान की उत्पत्ति तक बढ़ता रहे, ऐसा उल्लेख नहीं है। दिगम्बर परम्परा में वर्धमान अवधिज्ञान के लक्षण में दो बातें विशेष है - 1. जो उत्पत्ति से प्रति समय अवस्थान बिना वृद्धि को प्राप्त होता रहता है। 2. केवलज्ञान की प्राप्ति हो वहाँ तक क्रमशः वृद्धि होती है। हीयमान अवधिज्ञान उत्पन्न हो कर वृद्धि और अवस्थान के बिना निःशेष विनष्ट होने तक घटता ही जाता है।

(22) अवधिज्ञान की तीव्रता और मंदता का वर्णन प्राप्त होता है, साथ ही स्पर्धक अवधिज्ञान का वर्णन भी प्राप्त होता है। जबकि दिगम्बर परम्परा में अवधिज्ञान की तीव्रता और मंदता का वर्णन प्राप्त नहीं होता है और स्पर्धक अवधिज्ञान का भी वर्णन प्राप्त नहीं होता है।

(23) जिनभद्रगणि ने द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव संबंधी बाह्य विषय के अवधिज्ञान की प्राप्ति में एक समय में उत्पाद (उत्पन्न होना), प्रतिपात (नष्ट होना) और उत्पाद-प्रतिपात के माध्यम से बाह्य और आभ्यंतर अवधिज्ञान का वर्णन किया है। दिगम्बर परम्परा में ऐसा वर्णन उपलब्ध नहीं होता है।

(24) श्वेताम्बर ग्रंथों में संबद्ध और असंबद्ध अवधिज्ञान का वर्णन प्राप्त होता है। दिगम्बर ग्रंथों में संबद्ध और असंबद्ध अवधिज्ञान का वर्णन प्राप्त नहीं होता है।

(25) श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार अवधिज्ञानी द्रव्यों की अनन्त पर्यायों को जानते हैं। दिगम्बर परम्परा के अनुसार अवधिज्ञानी द्रव्यों की असंख्यात पर्यायों को ही जानते हैं।

षष्ठ अध्याय

विशेषावश्यकभाष्य में मनःपर्यवज्ञान

न्यायदर्शन, वैशेषिकदर्शन, योगदर्शन, बौद्धदर्शन और जैन दर्शन में अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष का वर्णन प्राप्त होता है, किन्तु जैनागमों में जितना विस्तृत वर्णन अवधिज्ञान और मनःपर्यवज्ञान स्वरूप अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष का हुआ है उतना अन्य किसी भी दर्शन में प्राप्त नहीं होता है। गत अध्याय में अवधिज्ञान पर विचार करने के पश्चात् इस अध्याय में दूसरे अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष मनःपर्यवज्ञान का वर्णन किया जा रहा है।

मनःपर्यवज्ञान में ‘मन’ शब्द का प्रयोग हुआ है। इसका अर्थ हुआ कि किसी न किसी रूप में मन इस ज्ञान में सहायक है। अतः इस ज्ञान के स्वरूप को समझने से पहले मन का स्वरूप समझना होगा। मन के स्वरूप का वर्णन ‘ज्ञानमीमांसा : सामान्य परिचय’ में कर दिया गया है।¹

मनःपर्यवज्ञान के वाचक शब्द

भगवतीसूत्र², समवायांगसूत्र³, अनुयोगद्वारसूत्र⁴, आवश्यकनिर्युक्ति⁵, षट्खण्डागम⁶, विशेषावश्यकभाष्य⁷ और नंदीसूत्र⁸ आदि में मनःपर्यव ज्ञान के लिए “मणपज्जव” शब्द का प्रयोग हुआ है। उत्तराध्ययन सूत्र में “मणणाण” का प्रयोग हुआ है।⁹ उमास्वाति ने ‘मनःपर्याय’ शब्द का प्रयोग किया है। जबकि पूज्यपाद ने ‘मनःपर्यय’ शब्द का प्रयोग किया है।¹⁰

इस प्रकार मनःपर्यव, मनःपर्यय और मनःपर्याय इन तीन शब्दों का प्रयोग मनःपर्यवज्ञान के लिए होने लगा। बाद के समय में संस्कृत और प्राकृत साहित्य में इनके अलावा नये शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है। पूज्यपाद के बाद के आचार्यों ने इन तीनों शब्दों का प्रयोग किया तो कुछ आचार्यों ने दो या एक शब्द का प्रयोग किया। जिनभद्र, जिनदासगणि और मलयगिरि ने तीनों शब्दों का प्रयोग किया है।¹¹ हरिभद्र¹² ने मनःपर्यव और मनःपर्याय इन दो शब्दों का और उपाध्याय यशोविजय ने मनःपर्याय¹³ और मनःपर्यव¹⁴ शब्द का उपयोग किया है। अकलंक, विद्यानंद एवं धवलाटीकाकार वीरसेन ने पूज्यपाद का ही अनुसरण किया है।¹⁵

1. द्वितीय अध्याय (ज्ञानमीमांसा : सामान्य परिचय), पृ. 89-101

2. युवाचार्य मधुकरमुनि, भगवती सूत्र, शतक 8, उद्देशक 2, पृ. 251

3. युवाचार्य मधुकरमुनि, समवायांग सूत्र, समवाय 81, पृ. 140

4. युवाचार्य मधुकरमुनि, अनुयोगद्वारसूत्र, पृ. 3

5. आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा 1, पृ. 12

6. मणपज्जवणावरणीयस्य कम्मस्स केवडियाओ पयडीओ। - षट्खण्डागम सूत्र 5.5.60

7. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 79

8. युवाचार्य मधुकरमुनि, नंदीसूत्र, पृ. 24

9. उत्तराध्ययन सूत्र, अध्ययन 28, गाथा 4

10. साहचर्यात्तस्य पर्ययणं परिगमनं मनःपर्ययः। - सर्वार्थसिद्धि, पृष्ठ नं. 67-68

11. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 83 पृ. 47, नंदीचूर्णि पृ. 20-21, मलयगिरि, नंदीवृत्ति, पृ. 65-66

12. हरिभद्रीय, नंदीवृत्ति, पृ. 22

13. ज्ञानार्णव, पृ. 18

14. जैनतर्कभाषा, पृ. 24

15. तत्त्वार्थराजवार्तिक, अध्ययन 1, सूत्र 9,23,25,28, धवलाटीका, भाग 13, पृ. 212, 328, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, अध्ययन 1, सूत्र 9,23,25,28

मनःपर्यवज्ञान का लक्षण

मनःपर्यव ज्ञान का जो स्वरूप टीका, भाष्य आदि साहित्य में प्राप्त होता है, वह संक्षेप में इस प्रकार है -

श्वेताम्बर आचार्यों की दृष्टि में मनःपर्यवज्ञान का लक्षण

1. आवश्यक निर्युक्तिकार के अनुसार - मनःपर्यवज्ञान संज्ञीपंचेन्द्रिय के मनश्चिन्तित अर्थ को प्रकट करता है।¹⁶

2. जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण के मन्तव्यानुसार - मन के विषय अथवा मन संबंधी पर्ययन, पर्यवन अथवा पर्याय अथवा उस (मन) के पर्याय आदि का ज्ञान मनःपर्यव कहलाता है।¹⁷

3. आवश्यकचूर्णि के अनुसार - जिस ज्ञान के उत्पन्न होने पर मुनि मनुष्य क्षेत्र के संज्ञी जीवों के मनःप्रायोग्य मनरूप में परिणत मनोद्रव्यों को जानता है, वह मनःपर्यवज्ञान है।¹⁸

4. सिद्धसेनगणि के अनुसार - मनःपर्यय अर्थात् मन के विचार। मनःपर्यय और मनःपर्यव ये दोनों शब्द एक ही अर्थ के वाचक हैं। संज्ञी जीव किसी भी कार्य का या वस्तु-पदार्थ का मन से चिंतन करता है, उसी समय चिन्तनीय पदार्थ के प्रकार भेद के अनुसार चिन्तन कार्य की प्रवृत्ति में प्रवर्तमान हुआ मन भी पृथक्-पृथक् अर्थात् भिन्न-भिन्न आकृति वाला होता है। वे आकृतियाँ मन की पर्याय हैं, उन पर्यायों को प्रत्यक्ष साक्षात् जानने वाले का ज्ञान, मनःपर्यय ज्ञान या मनःपर्यव ज्ञान कहलाता है।¹⁹

5. वादिदेवसूरि के मतानुसार - जो ज्ञान संयम की विशिष्ट शुद्धि से उत्पन्न होता है, तथा मनःपर्याय ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होता है और मन सम्बन्धी बात को जान लेता है, उसे मनःपर्याय ज्ञान कहते हैं।²⁰ यहाँ संयम की विशुद्धता मनःपर्यव ज्ञान का बहिरंग कारण है और मनःपर्यवज्ञानावरण का क्षयोपशम अन्तरंग कारण है।

6. हेमचन्द्र के कथनानुसार -द्रव्य मन के चिंतन के अनुरूप जो नाना प्रकार के पर्याय होते हैं, उन्हें जानने वाला ज्ञान मनःपर्याय ज्ञान कहलाता है।²¹

7. यशोविजय के मतानुसार - मनःपर्याय प्रत्यक्ष वह है जो मात्र मनोगत विविध अवस्थाओं का साक्षात्कार करे।²²

8. नंदीसूत्र के व्याख्याकार आत्मारामजी महाराज के अनुसार - संज्ञी जीव किसी भी वस्तु का चिन्तन-मनन मन से ही करते हैं। मन के चिन्तनीय परिणामों को जिस ज्ञान से प्रत्यक्ष किया जाता है, उसे मनःपर्याय ज्ञान कहते हैं। जब मन किसी भी वस्तु का चिन्तन करता है, तब चिन्तनीय वस्तु

16. मणपञ्चवनाणं पुण, जणमणपरिचिंतितयत्थपागडणं। - आवश्यकनिर्युक्ति गाथा 76

17. पञ्चवणं पञ्चयणं पञ्जाओ वा मणम्मि मणसो वो। तस्स व पञ्जायादिन्नाणं मणपञ्चवं नाणं।-विशेषा०भाष्य गाथा, 83, पृ. 47

18. जेण उप्पण्णेण णापेण मणुस्सखेत्ते सन्निजीवेहिं मणपातोग्गाणि दव्वाणि मण्णिज्जमाणाणि जाणति तं मणपञ्चवणाणं भन्ति।

- आवश्यकचूर्णि 1 पृ. 71

19. मनःपर्यायः, मन इति च मनोवर्गणा जीवेन मन्यमाना द्रव्यविशेषा उच्यन्ते, तस्य मनसः पर्यायाः-परिणामविशेषाः मनःपर्यायाः,

मनसि वा पर्यायाः, तेषु मनःपर्यायेषु यज्ज्ञानं तन्मनःपर्यायज्ञानमिति। - सभाष्यतत्त्वार्थाधिगमसूत्र, पृ. 101

20. संयमविशुद्धिनिबंधनाद् विशिष्टावरणविच्छेदाज्जातं मनोद्रव्यपर्यायालम्बनं मनःपर्यायज्ञानम्।-प्रमाणनयतत्त्वालोक सूत्र. 2.22, पृ. 23

21. मनसो द्रव्यरूपस्य पर्यायाश्चिन्तनानुगुणापरिणामभेदास्तद्विषयं ज्ञानं मनःपर्यायः।-प्रमाणमीमांसा पृ. 35

22. ज्ञानबिन्दुप्रकरणम्, पृ. 41

के भेदानुसार चिन्तन कार्य में प्रवृत्त मन भी तरह-तरह की आकृतियाँ धारण करता है। बस वे ही क्रियाएं मन की पर्याय हैं। मन और मानसिक आकार-प्रकार को प्रत्यक्ष करने की शक्ति अवधि ज्ञान में भी है, किन्तु मन की क्रियाओं के पीछे जो भाव हैं, उन्हें मनःपर्यव ज्ञान ही प्रत्यक्ष करने की शक्ति रखता है, अवधिज्ञान नहीं।²³

दिगम्बर आचार्यों की दृष्टि में मनःपर्यवज्ञान का लक्षण

1. पूज्यपाद के अनुसार - दूसरे के मनोगत अर्थ को मन कहते हैं। साहचर्य से उसका पर्यय अर्थात् परिगमन करने वाला ज्ञान मनःपर्यय कहलाता है।²⁴

2. अमृतचन्द्रसूरि के वचनानुसार “परकीय मनःस्यार्थज्ञानमन्यानपेक्षया” अन्य पदार्थों की अपेक्षा बिना दूसरे के मन में स्थित पदार्थ को जानना, मनःपर्याय ज्ञान है।²⁵

3. योगीन्दुदेव के अनुसार - वीर्यान्तराय और मनःपर्ययज्ञानावरण के क्षयोपशम तथा अंगोपांग नामकर्म का उदय होने पर दूसरे के मनोगत अर्थ को जानने को मनःपर्ययज्ञान कहते हैं।²⁶

4. अकलंक के मतानुसार - वीर्यान्तराय और मनःपर्ययज्ञानावरण के क्षयोपशम से तदनुकूल अङ्ग-उपाङ्गों का निर्माण होने पर अपने और दूसरे के मन की अपेक्षा से होने वाला ज्ञान मनःपर्यव कहलाता है।²⁷

5. वीरसेनाचार्य के अनुसार - परकीय मन को प्राप्त हुए अर्थ का नाम मन है, और उसकी पर्यायों अर्थात् विशेषों का नाम पर्याय है, उन्हें जो जानता है, वह मनःपर्याय है।²⁸

6. नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती के कथनानुसार - जिसका पूर्व में चिन्तन किया था, अथवा जिसका आगामीकाल में चिन्तन करेगा, अथवा जिसका पूर्णरूपसे चिन्तन नहीं किया, इत्यादि अनेक प्रकार का जो अर्थ दूसरे के मन में स्थित है, उसको जो ज्ञान जानता है, वह मनःपर्यय कहा जाता है। दूसरे के मन में स्थित अर्थ मन हुआ, उसे जो जानता है, वह मनःपर्यय है। इस ज्ञान की उत्पत्ति और प्रवृत्ति मनुष्यक्षेत्र में ही होती है, उसके बाहर नहीं।²⁹

मनःपर्यवज्ञान के वाचक शब्दों से निष्पन्न लक्षण

पज्जवणं पज्जयणं पज्जाओ वा मणम्मि मणसो वो।

तस्स व पज्जायादिन्नाणं मणपज्जवं नाणं।³⁰

1. मनःपर्यव - ‘पज्जणं ति’ ‘अव गत्यादिषु’ इति वचनादवनं गमनं वेदनमित्यवः, परिः सर्वतोभावे, पर्यवनं समन्तात् परिच्छेदनं पर्यवः। मनसि मनोद्रव्यसमुदाये ग्राह्ये, मनसो वा ग्राह्यस्य सम्बन्धी पर्यवो मनःपर्यवः, स चासौ ज्ञानं मनःपर्यवज्ञानम्।³¹ अर्थात् ‘अवन’ (अव) का अर्थ

23. नंदीसूत्र, आत्मारामजी महाराज, पृ. 63

24. परकीय मनोगतोऽर्थो मन इत्युच्यते। साहचर्यात्तस्य पर्ययणं परिगमने मनःपर्ययः। - सर्वार्थसिद्धि, पृ. 67-68

25. तत्त्वार्थसार, प्रथम अधिकार, गाथा 28, पृ. 13

26. तत्त्वार्थवृत्ति सूत्र 1.23, पृ. 48

27. वीर्यान्तरायमनःपर्ययज्ञानावरण - क्षयोपशमाङ्गोपाङ्गनामलाभोपष्टंभादात्मीयपरकीयमनःसम्बन्धेन लब्धवृत्तिरूपयोगो मनःपर्ययः।

- तत्त्वार्थराजवार्तिक अ.1, सूत्र 1.23.3, पृ. 58

28. परकीयमनोगतोऽर्थो मनः मनसः पर्यायाः विशेषाः मनः पर्यया तान् जानातीति मनःपर्ययज्ञानम्। - धवलाटीका, पृ. 13, पृ. 212

29. चिंतियमचिंतियं वा अद्धं चिंतयमणयभेयगयं। मणपज्जवं ति उच्चइ जं जाणइ तं खु णरलोए।

- गोम्मटसार जीवकांड, गाथा 438, पृ. 664

30. विशेषावश्यकभाष्य गाथा, 83, पृ. 47

31. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 83 की बृहद्वृत्ति, पृ. 47

गमन, ज्ञान, वेदन होता है। परि उपसर्ग सर्वतोभाव अर्थ में प्रयोग हुआ है। 'अव' धातु गति आदि अर्थ में प्रयुक्त होती है। इसलिए परि+अवन का अर्थ हुआ सम्पूर्ण रूप से जानना। मन में होने वाला अथवा मन के पर्यव मनःपर्यव है अर्थात् सर्वथा मनोद्रव्य का परिच्छेद मनःपर्यव है। जो मनोद्रव्य को जानता है, वह मनःपर्यवज्ञान है। जिनदासगणि और मलयगिरि³² ने भी ऐसी ही व्युत्पत्ति मनःपर्यव ज्ञान के लिए दी है।

2. मनःपर्यय - 'अय वय मय' इत्यादिदण्डकधातुः अयनं गमनं वेदनमित्ययः परिः सर्वतोभावे, पर्ययनं सर्वतः परिच्छेदनं पर्ययः। मनसि ग्राह्ये, मनसो वा ग्राह्यस्य सम्बन्धी पर्ययो मनःपर्ययः, स चासौ ज्ञानं मनःपर्ययज्ञानम्³³ अर्थात् पर्ययनम् में अय, वय, मय आदि दण्डक धातुपाठ में वर्णित 'अय' धातु से अयन (अय) शब्द बनता है। यह भी गमन, ज्ञान, वेदन आदि अर्थ में प्रयुक्त होता है। 'परि' उपसर्ग यहाँ भी सम्पूर्ण अर्थ में है। ग्राह्य मन में या मन की उत्पन्न होने वाली पर्यय मनःपर्यय कहलाती है। उमास्वाति, जिनदासगणि और मलयगिरि³⁴ ने भी ऐसी ही व्युत्पत्ति मनःपर्यव ज्ञान के लिए दी है।

अथवा मनः प्रतीत्य प्रति सन्धाय वा ज्ञानम्³⁵ अथवा परि समन्तात् अयः विशेषः पर्ययः मनसः पर्ययः मनःपर्ययः मनःपर्ययस्य ज्ञानं मनःपर्ययज्ञानम्³⁶ अर्थात् 'पर्यय' में परि शब्द का अर्थ सब ओर और अय शब्द का अर्थ विशेष है, मन का पर्यय मनःपर्यय और मनःपर्यय का ज्ञान मनःपर्ययज्ञान। विद्यानन्द के अनुसार मनसः पर्यवणं यस्मात्तद्वा येन परीयते³⁷

3. मनःपर्याय - 'इण् गतौ' अयनं, आयः लाभः, प्राप्तिरिति पर्यायाः परिस्तथैव, समन्तादायः पर्यायः। मनसि ग्राह्ये, मनसो वा ग्राह्यस्य सम्बन्धी पर्यायो मनःपर्यायः, स चासौ ज्ञानं मनःपर्यायज्ञानम्³⁸ अर्थात् 'इण् गतौ' गति अर्थक धातु से आय शब्द बनता है। जैसे परि+आय=पर्याय बनेगा। पर्याय-अयन, लाभ प्राप्ति अर्थ में है, अर्थात् सम्पूर्ण रूप से होने वाली आय पर्याय कहलाती है। इस प्रकार मन में होने वाली पर्याय अथवा मन की पर्याय ज्ञान रूप होने से मनःपर्याय कहलाती है। जिनदासगणि और मलयगिरि³⁹ ने भी ऐसी ही व्युत्पत्ति मनःपर्यव ज्ञान के लिए दी है।

उपर्युक्त व्युत्पत्तियों के अनुसार मनःपर्यवज्ञान के वाचक तीनों शब्दों के अर्थ में कोई अन्तर नहीं है। इनका समाहार मलधारी हेमचन्द्र ने इस प्रकार किया है⁴⁰ उस ग्राह्य मन के सम्बन्धी या मन में होने वाले बाह्य वस्तु के चिन्तन रूप जो पर्याय, पर्यव या पर्यय हैं, उनका या उनमें इस व्यक्ति द्वारा यह और इस प्रकार सोचा गया है, इस रूप में जो ज्ञान है, वह मनःपर्यायज्ञान, मनःपर्यवज्ञान अथवा मनःपर्ययज्ञान है। इसका तात्पर्य है कि मनःपर्यवज्ञानी जिस जीव के मन की पर्यायों को जानता है, वे पर्यायें उस जीव के मन में होने वाले चिन्तन गुण स्वरूप होती हैं। उन पर्यायों के आधार पर मनःपर्यायज्ञानी जानता है कि उस जीव के द्वारा ऐसा सोचा गया है। उपर्युक्त सभी

32. नंदीचूर्णि, पृ. 20-21, मलयगिरि, नंदीवृत्ति, पृ. 66

33. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 83 की टीका, पृ. 47

34. प्रशमरति, भाग 2, आचार्य भद्रगुप्त पृ. 58,59, नंदीचूर्णि, पृ. 20-21, मलयगिरि, नंदीवृत्ति, पृ. 66

35. तत्त्वार्थराजवार्तिक 1.9.4, पृ. 32

36. ध्वलाटीका भाग 13, पृ. 328

37. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक 1.23.14, पृ. 246

38. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 83 की बृहद्वृत्ति, पृ. 47

39. नंदीचूर्णि, पृ. 20-21, मलयगिरि, नंदीवृत्ति, पृ. 66

40. तस्य मनसो ग्राह्यस्य सम्बन्धिनो बाह्यवस्तु-चिन्तनानुगुणा ये पर्यायाः पर्यवाः पर्ययास्तेषां तेषु वा 'इदमित्थंभूतमनेन चिन्तितम्' इत्येवंरूपं ज्ञानं मनःपर्यायज्ञानं, मनःपर्यवज्ञानं, मनःपर्ययज्ञानं।- विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 83 की टीका, पृ. 47

लक्षणों का सार यही है कि सभी ग्रंथकारों, व्याख्याकारों, विश्लेषकों ने किसी न किसी रूप में मन की पर्यायों को इन्द्रिय और अनिन्द्रिय की सहायता के बिना सीधे आत्मा से जानने को ही मनःपर्याय ज्ञान के रूप में स्वीकार किया है।

मनःपर्यवज्ञान और मतिज्ञान

षट्खण्डागम के अनुसार मनःपर्यवज्ञानी अपने मन से दूसरे के मानस को जानकर उसमें संज्ञा आदि का ज्ञान करता है।⁴¹ इससे यहाँ एक स्वाभाविक प्रश्न उपस्थित होता है कि जैसे मन और चक्षु आदि के संबंध से मतिज्ञान होता है, वैसे ही मनःपर्यवज्ञान में भी मन का संबंध होने पर होने वाले ज्ञान को मनो-मतिज्ञान क्यों नहीं कह सकते हैं? इस प्रश्न का समाधान यह है कि मनःपर्यवज्ञान में अपने मन की अपेक्षा तो इसलिए होती है कि मन में रहे आत्म-प्रदेशों में मनःपर्यवज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम होता है। जिस प्रकार शुक्ल पक्ष की एकम-बीज का चन्द्रमा सामान्य पुरुष को नहीं दिखता है लेकिन बुद्धिमान पुरुष उसी चन्द्रमा को वृक्ष की दो शाखाओं या दो बादलों के बीच में से देख लेता है। मैंने आकाश में चन्द्र देखा है, ऐसा कहने में आता है। चन्द्रज्ञान में आकाश, शाखा या बादल सहायक मात्र होते हैं। इसलिए चन्द्रज्ञान में आकाश आदि बाह्य कारण (निमित्त) हैं, मुख्य (प्रेरक) कारण नहीं हैं। (मुख्य कारण तो आत्मा है।) इस कारण से वह मतिज्ञान नहीं कहलाता है।⁴²

जिस प्रकार चक्षु में रहे हुए आत्मप्रदेशों का अवधिज्ञानावरण के रूप में क्षयोपशम होने पर चक्षु की अपेक्षा मात्र होने से अवधिज्ञान को मतिज्ञान नहीं कहते हैं, इसी प्रकार स्वयं के मन में रहे हुए आत्मप्रदेशों का मनःपर्यवज्ञान के क्षयोपशम के कारण वह मनःपर्यवज्ञान ही कहलाता है, मतिज्ञान नहीं, क्योंकि वह इन्द्रिय और मन से उत्पन्न नहीं हुआ है अथवा मनःपर्यवज्ञान में स्वयं या दूसरे के मन का अवलम्बन लेकर प्रत्यक्ष ज्ञान किया जाता है। इसमें मन की केवल अपेक्षा मात्र होने से मन, मनःपर्यवज्ञान का कारण नहीं हो सकता है। मानस मतिज्ञान तो मन के द्वारा ही होता है। लेकिन मनःपर्यवज्ञान में मन का सहयोग मात्र रहता है। इसलिए मनःपर्यवज्ञान में अपेक्षा मात्र से सहायक भूत हो रहे मन को मानस मतिज्ञान के समान मनःपर्यवज्ञान का मुख्य कारण नहीं मानना चाहिए। उपर्युक्त कथन का तात्पर्य है कि मतिज्ञान में तो स्वयं के मन के द्वारा विचार होता है, इसलिए वहाँ मन मुख्य साधन है। जबकि मनःपर्यवज्ञान में दूसरे के मन में स्थित मनोवर्गणा के पुद्गल देखकर वस्तु का अनुमान किया जाता है, जिसमें मन की अपेक्षा मात्र होती है। इसलिए मनःपर्यवज्ञान मतिज्ञान रूप नहीं है।

इस सम्बन्ध में कन्हैयालाल लोढ़ा का मानना है कि मतिज्ञान में मन से संबंधित अवग्रह, ईहा आदि होती है। मतिज्ञान में स्वयं के द्वारा संचालित मानसिक क्रियाएं, संकल्प-विकल्प, चिंतन-मनन होता है। इसमें जीव मन को संचालन करने वाला, कर्ता-भोक्ता होता है। मनःपर्याय ज्ञान में साधक अपनी ओर से कुछ भी चिंतन-मनन, संकल्प-विकल्प नहीं करता है। मन से असंग व तटस्थ रहता है।⁴³

41. षट्खण्डागम, पु. 13, सू. 5.5.63, 71, पृ. 330, 340

42. सर्वार्थसिद्धि 1.23, पृ. 92, तत्त्वार्थराजवार्तिक 1.23.4, पृ. 58 तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक 1.23.9 से 11, पृ. 24

43. बन्ध तत्त्व, पृ. 25

मनःपर्यवज्ञान और अनुमान

जिस प्रकार धूम को देखकर अग्नि का ज्ञान अनुमान से किया जाता है, वैसे ही मनःपर्यवज्ञानी दूसरे के द्रव्यमन की पर्यायों को देखकर वस्तु को अनुमान से जानता है। इसलिए मनःपर्यवज्ञान भी अनुमान का ही एक भेद है। यदि कोई ऐसी शंका करे तो इस शंका का समाधान यह है कि मनःपर्यवज्ञान और अनुमान दोनों भिन्न-भिन्न स्वभाववाले हैं। जो अनुमान से जानेगा वह इन्द्रियों से हेतु को देखकर या परोपदेश से हेतु को जानकर ही जानेगा, इसलिए परोक्ष है। इसके विपरीत मनःपर्यवज्ञान में न तो इन्द्रियों की अपेक्षा रहती है और न ही परोपदेश की, क्योंकि मनःपर्यवज्ञान में प्रत्यक्ष का लक्षण घटित होता है और मनःपर्यवज्ञान में मन की अपेक्षा मात्र होती है। जिस ज्ञान में इन्द्रिय और मन की अपेक्षा नहीं होती एवं जो अव्यभिचारी है और साकार ग्रहण होता है, वह प्रत्यक्ष है। मनःपर्यवज्ञान में ऊपर जो प्रत्यक्ष का लक्षण दिया है वह घटित होता है तथा प्रत्यक्षज्ञान आत्मा से उत्पन्न होता है।⁴⁴ अतः अनुमान परोक्ष ज्ञान और मनःपर्यवज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान है, इससे दोनों की भिन्नता स्पष्ट है।

मनःपर्यवज्ञान और श्रुत

वीरसेनाचार्य ने 'मणेण' का अर्थ मतिज्ञान करके मनःपर्यायज्ञान के पूर्व में मतिज्ञान का अस्तित्व स्वीकार किया है।⁴⁵ यदि "मइपुव्वं जेण सुयं, न मई सुअपुव्विआ।"⁴⁶ इस सिद्धांत के अनुसार मति के बाद श्रुतज्ञान का क्रम होता है, तो इससे मति (मन) के बाद में प्राप्त होने से मनःपर्याय को श्रुतज्ञान कहना चाहिए। इसका समाधान यह है कि श्रुतज्ञान परोक्ष है। जबकि, मनःपर्याय ज्ञान प्रत्यक्ष है। इसलिए मनःपर्याय को श्रुत नहीं मान सकते हैं।⁴⁷

मनःपर्यवज्ञान की प्राप्ति से पूर्व अवधिज्ञान की आवश्यकता है या नहीं

अवधिज्ञान भी एक प्रकार की ऋद्धि है।⁴⁸ इसलिए कुछ आचार्यों ने मनःपर्यव ज्ञान की प्राप्ति से पूर्व अवधिज्ञान की अनिवार्यता को स्वीकार किया है। नंदीचूर्ण में इस मान्यता का उल्लेख प्राप्त होता है।⁴⁹ हरिभद्रसूरि नंदीवृत्ति में इस सम्बन्ध में मौन रहे हैं।⁵⁰ लेकिन मलयगिरि ने इस मान्यता का खण्डन किया है।⁵¹ सिद्धप्राभृत आदि ग्रंथों के अनुसार बिना अवधिज्ञान के मनःपर्यव ज्ञान हो सकता है। मलयगिरि के बाद के आचार्यों ने भी इस मत का समर्थन किया है। क्योंकि आगमों में भी इसी मत का उल्लेख है। जैसेकि "भगवन्! जीव ज्ञानी है या अज्ञानी? उत्तर - गौतम! जीव ज्ञानी भी है और अज्ञानी भी है। जो जीव ज्ञानी है, उनमें से कुछ जीव दो ज्ञान वाले हैं, कुछ जीव तीन ज्ञान वाले हैं, कुछ जीव चार ज्ञान वाले हैं और कुछ जीव एक ज्ञान वाले हैं। जो दो ज्ञान वाले हैं वे

44. तत्त्वार्थराजवार्तिक 1.23.6-7, पृ. 58, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक 1.23.12 पृ. 24

45. मणेण मदिणाणेण। - षट्खण्डागम (धवलाटीका), भाग 13, सूत्र 5.5.63, पृ. 332

46. युवाचार्य मधुकरमुनि, नंदीसूत्र, पृ. 70

47. धवलाटीका, पु. 13, सूत्र 5.5.71, पृ. 341

48. प्रवचनसारोद्धार, द्वार 270 गाथा 1492

49. अहवा ओहिनाणिणो मणपज्जवमाणं उप्पज्जति त्ति अण्णे नियमं भणंति। - नंदीचूर्ण, पृ. 37

50. अन्य त्ववधिऋद्धौ नियममभिदधति। - हरिभद्रिय नंदीवृत्ति, पृ. 38

51. अन्ये त्ववध्युद्धिप्राप्तस्यैवेतिनियममाचक्षते, तदयुक्तं, सिद्धप्राभृतादाववधिमन्तरेणापि मनःपर्यायज्ञानस्यानेकशोऽभिधानात्।

मतिज्ञानी और श्रुतज्ञानी होते हैं। जो तीन ज्ञान वाले हैं, वे आभिनिबोधिकज्ञानी, श्रुतज्ञानी और अवधिज्ञानी हैं, अथवा आभिनिबोधिकज्ञानी, श्रुतज्ञानी और मनःपर्यवज्ञानी हैं, जो चार ज्ञान वाले हैं वे आभिनिबोधिकज्ञानी, श्रुतज्ञानी, अवधिज्ञानी और मनःपर्यवज्ञानी होते हैं। जो एक ज्ञान वाले हैं, वे नियमतः केवलज्ञानी हैं।⁵² मलधारी हेमचन्द्र ने भी इसी प्रकार का उल्लेख किया है।⁵³

इस प्रकार आगम से स्पष्ट सिद्ध होता है कि मनःपर्यवज्ञान से पूर्व अवधिज्ञान की आवश्यकता नहीं होती है, क्योंकि बिना अवधिज्ञान के भी मति-श्रुत ज्ञान के बाद मनःपर्यवज्ञान हो सकता है।

मनःपर्यवज्ञान और अवधिज्ञान की अभिन्नता एवं भिन्नता

अवधिज्ञान और मनःपर्यायज्ञान के सम्बन्ध में जैन परम्परा में दो पक्ष मिलते हैं। आगम, निर्युक्ति, नंदी, षट्खण्डागम और तत्त्वार्थ की परम्परा में अवधिज्ञान और मनःपर्यायज्ञान को भिन्न ज्ञान कहा है। जबकि सिद्धसेन दिवाकर आदि कुछ आचार्यों ने दोनों ज्ञानों को अभिन्न माना है। क्योंकि जिस प्रकार अवधिज्ञान का विषय रूपी द्रव्य है वैसे ही मनोवर्गणा के स्कंध भी रूपी द्रव्य हैं। इस प्रकार दोनों का विषय एक ही बन जाता है। इसलिए मनःपर्यवज्ञान अवधिज्ञान का एक अवान्तर भेद प्रतीत होता है।⁵⁴ दोनों में अभेद की परम्परा सिद्धांतवादियों को मान्य नहीं थी, इसलिए उमास्वाति ने अवधिज्ञान और मनःपर्यवज्ञान में संभवतः सर्वप्रथम भिन्नता के कारण दिए। उन्होंने विशुद्धि, क्षेत्र, स्वामी और विषय⁵⁵ के आधार पर दोनों को भिन्न सिद्ध किया है।

आवश्यकनिर्युक्ति और विशेषावश्यकभाष्य⁵⁶ की अपेक्षा अवधिज्ञान और मनःपर्यवज्ञान में समानता और असमानता इस प्रकार से है - 1. दोनों रूपी द्रव्य को जानने वाले हैं, 2. दोनों क्षयोपशमभाव से उत्पन्न होते हैं 3. दोनों प्रत्यक्ष ज्ञान हैं। इस प्रकार अवधिज्ञान और मनःपर्यवज्ञान में समानता होते हुए भी मनःपर्यवज्ञान, अवधिज्ञान से स्वामी आदि के भेद से विशिष्ट है। विषय की अपेक्षा से मनःपर्यवज्ञान मनुष्य क्षेत्र अर्थात् ढाई द्वीप में रहे हुए सन्नी पंचेन्द्रिय जीवों के मन में चिंतन किए गए अर्थ को जानता है, लेकिन इस क्षेत्र से बाहर रहे हुए प्राणियों के द्वारा चिंतन किए गये अर्थ को नहीं जान पाता है। मनःपर्यवज्ञान गुणप्रत्यय होते हुए भी क्षमा आदि से विशिष्ट गुणों से युक्त ऋद्धि प्राप्त अप्रमत्त चारित्र वाले संयत को ही होता है, अन्य को नहीं।

इसी प्रकार अन्य आचार्यों ने अवधिज्ञान और मनःपर्यवज्ञान में अभिन्नता-भिन्नता को सिद्ध किया है, जिसका वर्णन इस प्रकार है -

52. जीवा णं भंते! किं नाणी, अन्नाणी? गोयमा! जीवा नाणी वि, अन्नाणी वि। जे नाणी ते अत्थेगतिया दुन्नाणी, अत्थेगतिया तिन्नाणी, अत्थेगतिया चउनाणी, अत्थेगतिया एगनाणी। जे दुन्नाणी ते आभिणिबोहियनाणी य सुयनायी य। जे तिन्नाणी ते आभिणिबोहियनाणी सुयनायी ओहिनाणी, अहवा आभिणिबोहियनाणी सुयनायी मणपज्जवनाणी। जे चउनाणी ते आभिणिबोहियनाणी सुयनायी ओहिनाणी मणपज्जवनाणी। जे एगनाणी ते नियमा केवलनाणी।

- भगवतीसूत्र, शतक 8, उद्देशक 2, पृ. 254-255

53. य यतः श्रेणिद्वये वर्तमानानामवेदकानामकषायाणां च केषांचिदवधिज्ञानमुत्पद्यते, येषां चानुत्पन्नावधिज्ञानानां मति-श्रुतचारित्रावतां प्रथममेव मनःपर्यायज्ञानमुत्पद्यते, ते मनःपर्यायज्ञानिनोऽपि केचित् पश्चादवधिज्ञानस्य प्रतिपत्तारो भवन्ति।

- विशेषावश्यकभाष्य, मलधारी हेमचन्द्र बृहद्वृत्ति, गाथा 777-778, पृ. 331

54. प्रार्थनाप्रतिघाताभ्यां चेष्टन्ते द्वीन्द्रियादयः। मनःपर्यायविज्ञानं युक्तं तेषु न चान्यथा। - निश्चयनय द्वात्रिंशिका, श्लोक 17

55. विशुद्धिक्षेत्रस्वामि-विषयेभ्योऽवधिज्ञानः पर्याययोः। तत्त्वार्थधिगम सूत्र 1.26, तत्त्वार्थराजवार्तिक सूत्र 1.25

56. आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा 76, विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 810-812

अवधिज्ञान और मनःपर्यवज्ञान की अभिन्नता

सिद्धसेन दिवाकर आदि कुछेक आचार्य अवधि और मनः पर्याय ज्ञान को अभिन्न मानते हैं। इसके लिए उनके द्वारा प्रस्तुत तर्कों को उपाध्याय यशोविजय ने ज्ञानबिन्दु में प्रस्तुत किया है।

1. बाह्य घटादि अर्थों के आकार के अनुमापक मनोद्रव्य को ग्रहण करने वाला ज्ञान एक विशेष प्रकार का अवधिज्ञान ही है।

2. अप्रमत्त संयत से उत्पन्न होने के कारण यह अवधिज्ञान में ही समाविष्ट होता है।

3. मनःपर्याय ज्ञान का स्वयं का दर्शन नहीं है, इस परिस्थिति में दोनों ज्ञान अभिन्न मानने से मनःपर्यव के लिए उल्लेखित 'पश्यति' को अवधिदर्शन के साथ जोड़ सकते हैं।⁵⁷

4. सूत्र में ज्ञान की संख्या पांच है। लेकिन इस व्यवस्था रूप चार की संख्या होने पर सूत्र के साथ कोई विरोध नहीं आता है। कारण कि जैसे व्यवहार में भाषा के अनेक प्रकार होते हैं, लेकिन निश्चय नय से दो प्रकार की भाषाओं (असत्य, सत्य) का ही प्रयोग होता है। इसी प्रकार निश्चयनय से ज्ञान की संख्या चार स्वीकार करने में कोई विरोध नहीं है।⁵⁸

मनःपर्यवज्ञान मात्र संकल्प-विकल्प में परिणत द्रव्यों को ही ग्रहण करता है। इसलिए उसको अवधिज्ञान से पृथक् मानना चाहिए, ऐसा जो दुराग्रह करते हैं तो यह उचित नहीं है क्योंकि इससे द्वीन्द्रियादि जीवों को भी समनस्क मानना पड़ेगा, क्योंकि इष्ट में प्रवृत्ति और अनिष्ट में निवृत्ति हेतु उनमें भी संकल्प-विकल्प होता है। इस प्रकार मनःपर्यवज्ञान की सीमा का विस्तार करना पड़ेगा।⁵⁹ जो इष्ट नहीं है। कारण कि एक-दो रुपये से व्यक्ति धनवान नहीं होता है, वैसे ही अल्पमन धारण करने वाले वे जीव समनस्क नहीं हैं। इस प्रकार अनेक दृष्टियों से विचार करने पर विदित होता है अवधि और मनःपर्यय की अभिन्नता स्वीकार करना युक्ति संगत है। इन दोनों की अभिन्नता के सम्बन्ध में अन्य तर्क इस प्रकार हैं -

1. **छद्मस्थ समानता** - अवधिज्ञान जैसे छद्मस्थ को होता है, वैसे ही मनःपर्यवज्ञान भी छद्मस्थ को होता है, दोनों में इस अपेक्षा से समानता है।

2. **विषय समानता** - अवधिज्ञान का विषय जैसे रूपी द्रव्य है, अरूपी नहीं, वैसे ही मनःपर्यवज्ञान का विषय भी मनोवर्गणा के पुद्गल हैं।

3. **उपादान कारण** - अवधिज्ञान जैसे क्षायोपशमिक है, वैसे ही मनःपर्यव ज्ञान भी क्षायोपशमिक है, इस अपेक्षा से दोनों समान हैं।

4. **प्रत्यक्षता** - अवधिज्ञान जैसे विकलादेश पारमार्थिक प्रत्यक्ष है, वैसे ही मनःपर्यव ज्ञान भी है। प्रत्यक्ष की अपेक्षा से भी दोनों समान हैं।

5. **संसार परिभ्रमण** - अवधिज्ञान से प्रतिपात होकर जैसे उत्कृष्ट देशों अर्द्धपुद्गल परावर्तन

57. नव्यास्तु बाह्यार्थाकारानुमापकमनोद्रव्याकारग्राहकं ज्ञानमवधिविशेष एव, अप्रमत्तसंयमविशेषजन्यतावच्छेदकजातेः अवधित्वव्याप्याया एव कल्पनात् धर्माति न्यायात्। इत्थं हि 'जानाति पश्यति' इत्यन्य दृशेरवधिदर्शनविषयत्वेनैव उपपत्तौ लक्षणाकल्पनगौरवमपि परिहृतं भवति। सूत्रभेदाभिधानं च धर्मभेदाभिप्रायम्। - ज्ञानबिन्दुप्रकरण, पृ. 18

58. न चैव ज्ञानस्य पञ्चविधत्वविभागोच्छेदात् उत्सूत्रापत्तिः, व्यवहारतश्चतुर्विधत्वेन उक्ताया अपि भाषाया निश्चयतो द्वैविध्याभिधानवन्नयविवेकेन उत्सूत्राभावादिति दिक्। - ज्ञानबिन्दुप्रकरण, पृ. 18

59. निश्चयद्वयात्रिंशिका कारिका 17, उद्धृत ज्ञानबिन्दुप्रकरण, पृ. 18

तक संसार में रह सकता है, वैसे ही मनःपर्यवज्ञान के विषय में भी समझ लेना चाहिए। ऐसी कुछ समानता मलयगिरि कृत नंदी की टीका में भी उल्लिखित है।⁶⁰

ऐसा ही वर्णन विशेषावश्यकभाष्य की गाथा 87 में भी मिलता है “.....छउमत्थ-विसय-भावादिसामण्णा।” इस प्रकार सिद्धसेन दिवाकर आदि आचार्यों ने अवधिज्ञान और मनःपर्यवज्ञान में अभिन्नता को सिद्ध किया है।

अर्वाचीन विद्वानों में डॉ. मोहनलाल मेहता का भी यही मत है। उनके अनुसार अवधिज्ञान और मनःपर्यवज्ञान में कोई अन्तर नहीं, जिसके आधार पर दोनों ज्ञान स्वतंत्र सिद्ध हो सकें। दोनों में एक ही ज्ञान की दो भूमिकाओं से अधिक अन्तर नहीं हैं। एक ज्ञान कम विशुद्ध है, दूसरा ज्ञान अधिक विशुद्ध है। दोनों के विषयों में भी समानता ही है। क्षेत्र और स्वामी की दृष्टि से भी सीमा की न्यूनाधिकता है। कोई ऐसा मौलिक अन्तर नहीं दिखता, जिसके कारण दोनों को स्वतंत्र ज्ञान कहा जा सके। दोनों ज्ञान आंशिक आत्म प्रत्यक्ष की कोटि में हैं। मति और श्रुतज्ञान के विषय में भी यही बात कही जा सकती है।⁶¹

लेकिन यह मत आगम के अनुकूल नहीं है। आगम वादी आचार्यों ने अवधिज्ञान और मनःपर्यवज्ञान को भिन्न ही स्वीकार किया है और इसके लिए अनेक हेतु दिये हैं।

अवधिज्ञान और मनःपर्यवज्ञान में भिन्नता की सिद्धि

इस पक्ष के उमास्वाति आदि आचार्यों ने स्वामी, विशुद्धि, विषय, द्रव्य, क्षेत्र और भाव की अपेक्षा से अवधिज्ञान एवं मनःपर्यवज्ञान दोनों में भिन्नता सिद्ध की है, जैसेकि -

1. **स्वामी** - दोनों के स्वामी छद्मस्थ हैं। अवधिज्ञान के स्वामी नरक, तिर्यच, मनुष्य और देव चारों गतियों के जीव होते हैं। अवधिज्ञान अविरत सम्यग्दृष्टि, देशविरत श्रावक और सर्वविरत साधु को हो सकता है। यदि अज्ञान-विभंग ज्ञान की अपेक्षा लें, तो प्रथम गुणस्थान वाले को भी उत्पन्न हो सकता है, परन्तु मनःपर्यायज्ञान तो नियम से मनुष्यगति में ही होता है तथा मनुष्य गति में भी संयत और उत्कृष्ट चारित्रवाले साधु को ही होता है। मनःपर्यवज्ञान प्रमत्त संयत से क्षीणकषायपर्यन्त (6 से 12) गुणस्थानों में ही पाया जाता है। इसमें भी वर्धमान परिणामवाले को ही होता है, अन्य को नहीं। वर्धमान परिणामवालों में भी ऋद्धि प्राप्त अप्रमत्त संयत को ही होता है, अन्य को नहीं। ऋद्धि प्राप्त अप्रमत्त संयत में भी किसी-किसी को ही होता है, सब को नहीं।⁶² अर्थात् अवधिज्ञान के स्वामी संयत और असंयत दोनों हो सकते हैं, जबकि मनःपर्याय के स्वामी संयत ही होते हैं।⁶³

2. **विशुद्धि** - अवधि की अपेक्षा मनःपर्याय विशुद्धतर है।⁶⁴ अवधि के विषय का अनंतत्वां भाग मनःपर्याय का विषय है, इसी प्रकार मनःपर्यव का विषय छोटा होते हुए भी जिस प्रकार अनेक

60. अवधिज्ञानानन्तरं च छद्मस्थविषयभावप्रत्यक्षसाधर्म्यात् मनःपर्यायज्ञानमुक्तं, तथाहि - यथाऽवधिज्ञानं छद्मस्थ भवति तथा मनःपर्यवज्ञानमपीति छद्मस्थसाधर्म्यं, तथा यथाऽवधिज्ञानं रूपिद्रव्यविषयं तथा मनःपर्यायज्ञानमपि, तस्य मनःपुद्गलालम्बनत्वादिति विषयसाधर्म्यं, तथा यथाऽवधिज्ञानं क्षायोपशमिके भावे वर्तते तथा मनःपर्यायज्ञानमपीति भावसाधर्म्यं, तथा चावधिज्ञानं प्रत्यक्षं तथा मनःपर्यायज्ञानमपीति प्रत्यक्षत्वसाधर्म्यम्। - नंदीवृत्ति - मलयगिरि पृ. 71

61. डॉ. मोहनलाल मेहता. जैन धर्म दर्शन एक समीक्षात्मक विवेचन, पृ. 283-284

62. प्रमाणमीमांसा हिन्दी अनुवाद (पं. शोभाचन्द्र भारिल्ल) पृ. 36, सवार्थसिद्धि 1.25, पृ. 94, तत्त्वार्थराजवार्तिक 1.25.2

63. तत्त्वार्थराजवार्तिक 1.25.2, पृ. 59, धवलाटीका, पु. 13, सू. 5.5.68, पृ. 339, मलयगिरि, नंदीवृत्ति, पृ. 105

64. तत्त्वार्थ सूत्र 1.26, सवार्थसिद्धि 1.25, पृ. 94, तत्त्वार्थराजवार्तिक 1.25.1, पृ. 59

शास्त्रों का सामान्य ज्ञान रखने वाले विद्वान् की अपेक्षा एक शास्त्र का तलस्पर्शी ज्ञान धारण करने वाले विद्वान् के ज्ञान को विशुद्धतर कहा जाता है वैसे ही यहाँ भी विशुद्धि का संबंध व्यापक (विस्तृत) के संदर्भ में नहीं, लेकिन सूक्ष्मता के संदर्भ में समझना चाहिए।⁶⁵

3. द्रव्य - अवधिज्ञान जघन्य तेजोवर्गणा के उत्तरवर्ती तैजस के अयोग्य गुरुलघु द्रव्यों को जानता है, अथवा भाषा के पूर्ववर्ती, भाषा के अयोग्य अगुरुलघु द्रव्य को जानता है तथा उत्कृष्ट से परमाणु संख्य प्रदेशी, असंख्य प्रदेशी, अनन्त प्रदेशी, गुरुलघु, अगुरुलघु, औदारिक वर्गणा यावत् कर्म वर्गणा आदि तक समस्त रूपी पुद्गल द्रव्यों को जानता है। किन्तु मनःपर्यायज्ञान, जघन्य से भी और उत्कृष्ट से भी मनोवर्गणा के अगुरुलघु सूक्ष्म रूपी द्रव्य को ही जानता है। दोनों ज्ञान इन्द्रिय विषयक न होते हुए भी अवधिज्ञानी से मनःपर्यायज्ञानी को रूपी द्रव्यों का ज्ञान विशुद्धतर होता है अर्थात् अवधिज्ञान रूपी द्रव्य सामान्य के साथ संबंधित है और मनःपर्यायज्ञान मनोगत द्रव्यों से संबंधित है।⁶⁶

4. विषय - रूपी और पुद्गल से बंधे हुए अरूपी अर्थों को विषय करने वाला यह मनःपर्यवज्ञान उसी रूपी अर्थ को विषय करने वाले अवधिज्ञान से विषय की अपेक्षा विशिष्ट है, क्योंकि मन की पर्यायों को जितना अवधिज्ञानी जानता है उससे मनःपर्यवज्ञानी अधिक जानता है।⁶⁷

5. क्षेत्र - अवधिज्ञान जघन्य से अंगुल के असंख्येय भाग को और उत्कृष्ट लोक एवं अलोक में लोक प्रमाण असंख्य खण्ड क्षेत्र को जानता है, किन्तु मनःपर्यायज्ञानी जघन्य अंगुल के असंख्येय भाग को और उत्कृष्ट मनुष्य क्षेत्र को ही जानता है।⁶⁸ अतः मनःपर्यवज्ञान का क्षेत्र अवधिज्ञान की अपेक्षा से छोटा है।

6. काल - नंदीसूत्र के अनुसार अवधिज्ञानी अतीत, अनागत, असंख्यात उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी काल को जानता है। मनःपर्यायज्ञानी काल की अपेक्षा अतीत अनागत पल्योपम के असंख्यातवें भाग को ही विषय करता है।

7. भाव - अवधि की अपेक्षा से मनःपर्याय कम द्रव्यों को विषय करने से अधिक पर्यायों में प्रवर्तता है।⁶⁹

8. भव - अवधिज्ञान पूर्व भव से साथ में आ सकता है और परभव में भी साथ जा सकता है, जबकि मनःपर्यवज्ञान न तो पूर्वभव से साथ आता है और न ही परभव में साथ जाता है।^{70(अ)}

9. अज्ञान - अवधिज्ञान अज्ञान (विभंगज्ञान) में परिवर्तित हो सकता है, जबकि मनःपर्यायज्ञान अज्ञान में परिवर्तित नहीं होता है।^{70(ब)}

10. शक्ति - अवधिज्ञानी और मनःपर्यवज्ञानी दोनों दूसरे के मन में चल रहे मानसिक विचारों को जान सकते हैं, लेकिन मनःपर्यवज्ञानी की यह विशेषता है कि वह दूसरे के चित्त में चलते हुए विचारों के आधार पर अनुमान करके वस्तु को जान सकता है, लेकिन अवधिज्ञानी नहीं जान सकता है।

11. प्रत्यय - अवधिज्ञान भवप्रत्यय और गुणप्रत्यय होता है, जबकि मनःपर्यवज्ञान मात्र गुणप्रत्यय होता है।

निष्कर्ष यह है कि द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, विशुद्धतादि सभी अपेक्षाओं से मनःपर्यवज्ञान, अवधिज्ञान से प्रकृष्ट, विशुद्ध और भिन्न है।

65. तत्त्वार्थराजवार्तिक 1.25.1, पृ. 59

66. तत्त्वार्थसूत्र 1.26

67. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, भाग 4, पृ. 37

68. आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा 75, विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 806, नंदीसूत्र 28,33

69. तत्त्वार्थराजवार्तिक 1.25.1, पृ. 59

70 (अ). भगवती सूत्र, शतक 13, उद्देश्यक 1-2

70 (ब). भगवती सूत्र, शतक 8, उद्देश्यक 2

मनःपर्यवज्ञान की अर्हता अर्थात् अधिकारी या स्वामी

मनःपर्यवज्ञान के स्वामी के विषय में विशेषावश्यकभाष्य में विशेष वर्णन प्राप्त नहीं होता है। मात्र इसमें इतना ही निर्देश किया है कि मनःपर्यवज्ञान गुणों के कारण चारित्रवान् को ही होता है। टीकाकार मलधारी हेमचन्द्र ने अपने मन्तव्य को स्पष्ट करते हुए कहा है कि ऋद्धि प्राप्त एवं क्षमादि विशिष्ट गुणों से युक्त चारित्रवाले को ही मनःपर्यवज्ञान होता है। इसके स्वामी के सम्बन्ध में विशेष कथन नंदीसूत्र में प्राप्त होता है।

नंदीसूत्र में मनःपर्यवज्ञान के स्वामी या अधिकारी के लिए संक्षेप में नवविध पात्रता (शर्तों) आवश्यक मानी गई हैं यथा -1. मनुष्य 2. गर्भजमनुष्य 3. कर्मभूमिजमनुष्य 4. संख्यातवर्षायुष्यकमनुष्य 5. पर्याप्त 6. सम्यग्दृष्टि 7. संयत 8. अप्रमत्तसंयत 9. ऋद्धिप्राप्त संयत। उपर्युक्त नौ शर्तों में सर्वप्रथम शर्त में मनुष्य गति में ही मनःपर्यवज्ञान होता है, शेष नरक, तिर्यच और देव गति में मनःपर्यवज्ञान नहीं होता है। मनुष्य गति में भी किस जीव (मनुष्य) को होता है, इसके लिए क्रम से शर्तें दी गई हैं, जिनको पूर्ण करने पर ही मनुष्य गति में रहे हुए उसी जीव (मनुष्य) को मनःपर्यवज्ञान होता है। इनका विस्तृत वर्णन इस प्रकार है-

1. मनुष्य

मनःपर्यायज्ञान मनुष्यों को ही उत्पन्न होता है⁷¹ अर्थात् मनुष्यों में मनुष्य पुरुष, मनुष्य स्त्री और मनुष्य नपुंसक को उत्पन्न होता है⁷² अमनुष्यों को उत्पन्न नहीं होता अर्थात् मनुष्यगति के अलावा नरक, तिर्यच और देवों को उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि इनमें सर्व-विरत साधु ही नहीं होते। मनःपर्यव के लिए विशिष्ट चारित्र की पालना आवश्यक है, और इन गति के जीवों में ऐसा चारित्र नहीं होता है।

2. गर्भजमनुष्य

मनःपर्यवज्ञान मनुष्यों में भी गर्भजमनुष्यों को ही उत्पन्न होता है।⁷³

मनुष्य दो प्रकार के होते हैं - 1. सम्मूर्च्छिम मनुष्य - जो मनुष्य, माता-पिता के संयोग के बिना उत्पन्न होते हैं, उन्हें 'सम्मूर्च्छिम मनुष्य' कहते हैं। ये मनुष्य के उच्चार-पासवण (मलमूत्र) आदि चौदह स्थानों में उत्पन्न होते हैं। ये अंगुल के असंख्येय भाग की अवगाहना वाले, अन्तर्मुहूर्त की स्थिति वाले, मनुष्य जैसी ही आकृति वाले और मन रहित होते हैं। एकेन्द्रिय से लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक के जीवों भी सम्मूर्च्छिम कहलाते हैं।

2. गर्भ-व्युत्क्रान्तिक मनुष्य - जो मनुष्य माता-पिता के पुद्गल संयोग से, माता के गर्भाशय में उत्पन्न होते हैं और माता के गर्भ से बाहर निकलते हैं तथा मन वाले होते हैं, उन्हें 'गर्भ-व्युत्क्रान्तिक मनुष्य' कहते हैं। गर्भज का अर्थ है - गर्भ से जिनकी व्युत्क्रान्ति - उत्पत्ति होती है, अथवा गर्भ से जिनका निष्क्रमण होता है, वे गर्भ-व्युत्क्रान्तिक (गर्भज) कहलाते हैं।⁷⁴

71. मणपञ्चवणाणे णं भंते! किं मणुस्साणं उप्पज्जइ, अमणुस्साणं? गोयमा! मणुस्साणं, णो अमणुस्साणं। -नंदीसूत्र, पृ. 43

72. सवेदगा णं भंते, जहा सईदिया, एवं इत्थिवेदगा वि, एवं पुरिसवेयगा। एवं नपुसंक वेयगा।-भगवती सूत्र, श. 8, उद्दे. 2, पृ. 282

73. जइ मणुस्साणं किं संमुच्छिममणुस्साणं, गब्भवक्कंतियमणुस्साणं? गोयमा! णो संमुच्छिममणुस्साणं, गब्भवक्कंतियमणुस्साणं उप्पज्जइ॥ - पारसमुनि, नंदीसूत्र, पृ. 74

74. गर्भे व्युत्क्रान्तिः-उत्पत्तिर्येषां ते गर्भव्युत्क्रान्तिका, अथवा गर्भाद् व्युत्क्रान्तिः-व्युत्क्रमणं निष्क्रमणं येषां ते गर्भव्युत्क्रान्तिकाः।

मनःपर्यायज्ञान, सम्मूर्च्छिम मनुष्यों को उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि वे साधु नहीं बन सकते हैं, इसलिए यह ज्ञान केवल गर्भज मनुष्यों को ही उत्पन्न हो सकता है, क्योंकि उन्हीं में से साधु बन सकते हैं।

3. कर्मभूमिजमनुष्य

गर्भ-व्युत्क्रान्तिक मनुष्यों में भी मनःपर्यायज्ञान कर्मभूमिज गर्भोत्पन्न मनुष्यों को ही उत्पन्न होता है।⁷⁵

गर्भज-मनुष्य तीन प्रकार के होते हैं - 1. कर्मभूमिज, 2. अकर्मभूमिज और 3. अन्तरद्वीपज, यथा-

1. **कर्मभूमिज** - कृषिवाणिज्यादि जीवन निर्वाह के कार्यों और मोक्ष-सम्बन्धी अनुष्ठानों को कर्म कहा जाता है इसलिए जिस भूमि में सदा या किसी समय भी राज्य, वाणिज्य, कृषि आदि लौकिक कर्म या सम्यक् चारित्र, सम्यक् तपादि लोकोत्तर धर्म प्रवृत्त हों, उसे 'कर्मभूमि' कहते हैं। पाँच भरत, पाँच ऐरवत और पाँच महाविदेह, ये पन्द्रह कर्मभूमियाँ हैं। जो इनमें उत्पन्न होते हैं, उन्हें 'कर्मभूमिज' कहते हैं।

2. **अकर्मभूमिज** - कृषिवाणिज्यादि जीवन निर्वाह के कार्यों और मोक्ष-सम्बन्धी अनुष्ठान नहीं होना अकर्म है, इसलिए जिस क्षेत्र में किसी भी समय उपर्युक्त लौकिक या लोकोत्तर कर्म नहीं होते, उस प्रकार के कल्पवृक्षों से वहाँ रहने वाले अपने जीवन का निर्वाह करते हैं, उसे अकर्मभूमिज कहते हैं। ये पाँच देव-कुरु, पाँच उत्तरकुरु, पाँच हेमवत, पाँच हैरण्यवत, पाँच हरिवास, पाँच रम्यकवास ये तीस अकर्मभूमियाँ हैं। जो इनमें उत्पन्न होते हैं, उन्हें 'अकर्मभूमिज' कहते हैं।

3. **अन्तरद्वीपज** - अन्तर शब्द मध्यवाचक है। अन्तर में अर्थात् लवण समुद्र के मध्य में जो द्वीप हैं, वे अन्तरद्वीप कहलाते हैं, उसमें निवास करने वाले मनुष्य अन्तरद्वीपज कहलाते हैं।⁷⁶ जम्बूद्वीप में भरत क्षेत्र की सीमा पर स्थित हिमवान पर्वत के दोनों छोर पूर्व पश्चिम लवणसमुद्र में फैले हुए हैं। इसी प्रकार ऐरवत क्षेत्र की सीमा पर स्थित शिखरी पर्वत के दोनों छोर भी लवणसमुद्र में फैले हुए हैं। प्रत्येक छोर के दो भाग में विभाजित होने के कारण कुल मिलाकर दोनों पर्वतों के आठ भाग लवणसमुद्र में आये हुए हैं। प्रत्येक भाग पर सात-सात द्वीप हैं। इस प्रकार सब मिलाकर लवणसमुद्र के अन्तर्गत एकोरुक आदि 56 द्वीप हैं। उन द्वीपों में उत्पन्न होने वाले मनुष्यों को 'अन्तरद्वीपज' कहते हैं। ये भी लौकिक और लोकोत्तर कर्म रहित होते हैं।⁷⁷

कर्मभूमि के गर्भज मनुष्य ही संयम को ग्रहण करते हैं अर्थात् साधु बनते हैं, परन्तु अकर्मभूमिज-गर्भज मनुष्य या अन्तरद्वीपजगर्भज मनुष्य में से कोई साधु नहीं बन सकता, इसलिए उन्हें मनःपर्यायज्ञान नहीं होता।

4. संख्यातवर्षायुष्यकमनुष्य

मनःपर्यवज्ञान संख्यात वर्ष की आयु वाले कर्मभूमिज गर्भज मनुष्यों को उत्पन्न होता है।⁷⁸ कर्मभूमिज मनुष्य दो प्रकार के होते हैं -

75. पारसमुनि, नंदीसूत्र, पृ. 75

76. कृषिवाणिज्यतपः संयमानुष्ठानादिकर्मप्रधाना भूमयः कर्मभूमयो। कृष्यादिकर्मरहिताः कल्पपादपफलोपभोगप्रधाना भूमयः अकर्मभूमयः। अन्तरे लवणसमुद्रस्य मध्ये द्वीपा अन्तरद्वीपाः। - मलयगिरि, नंदीवृत्ति, पृ. 102

77. युवाचार्य मधुकरमुनि, प्रज्ञापना सूत्र, पद 1 पृ. 103 से 105 का सार

78. पारसमुनि, नंदीसूत्र, पृ. 76

1. **संख्येय वर्ष की आयुष्य वाले** - यह एक पारिभाषिक शब्द है। जिनका आयुष्य जघन्य अन्तर्मुहूर्त से लेकर उत्कृष्ट एक पूर्वकोटि (70,56,000,00,00,000 सत्तर लाख छप्पन सहस्र करोड़) वर्ष का होता है, उन्हें 'संख्येय वर्ष की आयुष्य वाले' कहते हैं। ये ही सर्व विरत साधु हो सकते हैं।

2. **असंख्येय वर्ष की आयुष्य वाले** - जिनका आयुष्य पूर्वकोटि वर्ष से एक समय भी अधिक होता है, उन्हें 'असंख्येय वर्ष की आयुष्य वाले' कहते हैं।⁷⁹ ये सर्व विरति नहीं हो सकते हैं।

5. पर्याप्त

मनःपर्यवज्ञान पर्याप्त संख्यात वर्ष की आयुष्य वाले कर्मभूमिज गर्भज मनुष्यों को ही उत्पन्न होता है।⁸⁰ संख्यात वर्ष की आयु वाले कर्मभूमिज गर्भज मनुष्य दो प्रकार के होते हैं -

1. **पर्याप्त** - जो मनुष्य पर्याप्तनामकर्म के उदय से स्वयोग्य आहारादि पर्याप्तियों को पूर्ण करे वह पर्याप्त और 2. **अपर्याप्त** - जो मनुष्य अपर्याप्तनामकर्म के उदय से स्वयोग्य अहारादि पर्याप्तियों को पूर्ण नहीं करे वह अपर्याप्त मनुष्य कहलाता है।

पर्याप्ति - जीव की शक्ति-विशेष की पूर्णता पर्याप्ति कहलाती है।⁸¹ पर्याप्तियाँ छह प्रकार की होती हैं - १. आहार २. शरीर ३. इन्द्रिय ४. श्वासोच्छ्वास ५. भाषा और ६. मन। इन छहों को ग्रहण आदि करने की जिन्होंने पूर्ण शक्ति प्राप्त कर ली, उन्हें यहाँ 'पर्याप्त' कहा है तथा जिन्होंने पूरी शक्ति प्राप्त नहीं की या नहीं करेंगे, उन्हें 'अपर्याप्त' कहा है। जो मनुष्य पर्याप्त होते हैं, उनको ही मनःपर्यवज्ञान उत्पन्न होता है। आहारादि छहों पर्याप्तियों का स्वरूप मलयगिरि (नंदीवृत्ति) के आधार पर युवाचार्य मधुकरमुनि ने नंदीसूत्र (पृ. 45) में दिया है।

6. सम्यग्दृष्टि

मनःपर्यवज्ञान सम्यग्दृष्टि पर्याप्त संख्यात वर्ष की आयुष्य वाले गर्भज मनुष्यों को ही उत्पन्न होता है।⁸² दृष्टि तीन प्रकार की होती है -

1. **सम्यग्दृष्टि** - जो जीव मोक्षाभिमुखी हो तथा जिनप्ररूपित तत्त्व के सन्मुख हो अर्थात् जिसकी तत्त्वों पर सम्यक् श्रद्धा हो अथवा जिसकी सुदेव, सुगुरु और सुधर्म पर दृढ़ आस्था हो, उसे सम्यग्दृष्टि कहते हैं।

2. **मिथ्यादृष्टि** - जिसकी जिनप्ररूपित तत्त्वों पर श्रद्धा नहीं हो और जो आत्मबोध से, सत्य से एवं मोक्ष से विमुख हो अथवा जिसकी कुदेव, कुगुरु और कुधर्म पर आस्था हो, उसे मिथ्यादृष्टि कहते हैं। मलयगिरि ने सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि की परिभाषा इस प्रकार से दी है कि जिसकी जिनेश्वरों द्वारा प्रणीत वस्तु के प्रति दृष्टि विपरीत नहीं है, वह सम्यग्दृष्टि और जिसकी दृष्टि विपरीत है, वह मिथ्यादृष्टि है।⁸³

3. **मिश्रदृष्टि** - मिश्रमोहनीय कर्म के उदय से जिनकी दृष्टि किसी पदार्थ का यथार्थ निर्णय अथवा निषेध करने में सक्षम नहीं हो, जो सत्य को न ग्रहण कर सकता हो, न त्याग कर सकता हो

79. संख्येयवर्षायुषः पूर्वकोट्यादि जीविनः असंख्येयवर्षायुषः पल्योपमादिजीविनः। - मलयगिरि, नंदीवृत्ति, पृ. 104

80. पारसमुनि, नंदीसूत्र, पृ. 76

81. पर्याप्तिः-आहारादि-पुद्गल ग्रहण परिणमनहेतुरात्मनः शक्तिविशेषः। - मलयगिरि, नंदीवृत्ति, पृ. 104

82. पारसमुनि, नंदीसूत्र, पृ. 77

83. सम्यक्-अविपरीता दृष्टि-जिनप्रणीतवस्तुप्रतिपत्तिर्येषां ते सम्यग्दृष्टयः। मिथ्या-विपरीता दृष्टिर्येषां ते मिथ्यादृष्टयः।

और जो मोक्ष के उपाय एवं बंध के हेतुओं को समान मानता हो तथा जीवादि पदार्थों पर न तो श्रद्धा करता हो और न ही अश्रद्धा करता हो, ऐसी मिश्रित श्रद्धा वाला जीव मिश्रदृष्टि कहलाता है। यथा – कोई व्यक्ति रंग की एकरूपता देखकर सोने व पीतल में भेद नहीं कर पाता है। उसी प्रकार मिश्रदृष्टि जीव सत् एवं असत् में भेद नहीं कर पाता है।⁸⁴

7. संयत

मनःपर्यवज्ञान संयत सम्यग्दृष्टि पर्याप्त संख्यात वर्ष की आयुष्य वाले कर्मभूमिज गर्भज मनुष्यों को ही उत्पन्न होता है।⁸⁵ सम्यग्दृष्टि तीन प्रकार के होते हैं –

1. **संयत** – जो सर्वविरत है, तथा चारित्रमोहनीय कर्म के क्षय अथवा क्षयोपशम से जिन्हें सर्वविरति चारित्र की प्राप्ति हो गई है, वे संयत कहलाते हैं।

2. **असंयत** – जो चतुर्थगुणस्थानवर्ती हो, जिनके अप्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय से देशविरति न हो उन्हें अविरत या असंयत सम्यग्दृष्टि कहते हैं।

3. **संयतासंयत** – संयतासंयत सम्यग्दृष्टि मनुष्य श्रावक होते हैं। श्रावकों को हिंसा आदि पांच आस्रवों का अंश रूप से त्याग होता है, सम्पूर्ण रूप से नहीं।^{86 (अ)}

इन तीनों में से मनःपर्यवज्ञान सर्वविरति चारित्र वाले संयत मनुष्य को ही होता है, शेष दो असंयत और संयतासंयत मनुष्य को नहीं होता है। क्योंकि मनःपर्यवज्ञानावरण का क्षयोपशम चारित्र अपेक्षित है, इसलिए संयत को ही मनःपर्यवज्ञान होता है, असंयत और संयतासंयत को नहीं होता है।

मनःपर्यवज्ञान संयत को ही क्यों होता है

कन्हैयालाल लोढ़ा के अनुसार विषय-भोगों के सुख में आबद्ध भोगी (असंयमी) जीव का मानसिक चिंतन भोगासक्ति से युक्त होता है। उसके मन में भोगों से संबंधित संकल्प-विकल्प का प्रवाह चलता रहता है। अतः वह अंतर्मुखी नहीं हो पाता अर्थात् वह मन से अलग हटकर तटस्थ हो कर नहीं जान सकता है। अतः भोगी (असंयमी) व्यक्ति को मनःपर्यवज्ञान नहीं होता है। किन्तु जो साधक संयमी है, विषय-भोगों के सुख से विरत है, वह अंतर्मुखी हो मन की पर्यायों को मन से असंग होकर जान सकता है अर्थात् समभावपूर्वक मन की प्रवाहमान, परिवर्तनशील पर्यायों को जानना मनःपर्यवज्ञान है।^{86 (ब)}

8. अप्रमत्तसंयत

मनःपर्यवज्ञान प्रमत्त संयत सम्यग्दृष्टि पर्याप्त संख्यात वर्ष की आयुष्य वाले कर्मभूमिज गर्भज मनुष्यों को ही उत्पन्न होता है।⁸⁷ संयत में भी विशिष्ट प्रकार का संयत होना चाहिए उसी को मनःपर्यवज्ञान उत्पन्न होता है। इसलिए अप्रमत्त संयत को ही मनःपर्यवज्ञान होता है। संयत दो प्रकार के होते हैं –

प्रमत्त-अप्रमत्त संयत – जिससे संयम में (चारित्र में) शिथिलता उत्पन्न हो, उसे ‘प्रमाद’ कहते हैं। मलयगिरि ने भी नंदीसूत्र की वृत्ति में प्रमाद की परिभाषा दी है।⁸⁸ १. मद्य २. विषय ३. कषाय ४. निद्रा और ५. विकथा, ये पांच प्रमाद हैं। जो साधु, जिस समय इनमें प्रवृत्त हो, वह उस

84. युवाचार्य मधुकरमुनि, नंदीसूत्र, पृ. 46

85. पारसमुनि, नंदीसूत्र, पृ. 77-78

86 (अ). युवाचार्य मधुकरमुनि, नंदीसूत्र, पृ. 47

86 (ब). बन्धतत्त्व, पृ. 25

87. पारसमुनि, नंदीसूत्र, पृ. 78

88. मोहनीयादिकर्मोदयप्रभावतः संज्वलनकषायनिद्राद्यन्यतमप्रमादयोगतः संयमयोगेषु सीदन्ति स्मेति प्रमत्ताः।

समय 'प्रमत्त संयत' कहलाता है तथा जिस समय इनमें प्रवृत्त न हो, उस समय 'अप्रमत्त संयत' कहलाता है। यहाँ अप्रमत्त संयत का अर्थ-सातवें गुणस्थान से बारहवें गुणस्थानवर्ती जीव समझना चाहिए। मनःपर्यायज्ञान विशिष्ट गुण के कारण उत्पन्न होता है। वैसे गुण अप्रमत्त साधु में ही हो सकते हैं, प्रमादी साधु में नहीं।

नंदीचूर्णिकार ने अप्रमत्त के चार प्रकार बताये हैं - 1. जिनकल्पिक 2. परिहारविशुद्धि 3. यथालन्दक 4. प्रतिमाप्रतिपन्नक⁸⁹ इन चारों के परिणाम सर्वदा संयम में ही अग्रसर होते हैं। ये चारों प्रकार गच्छमुक्त साधु के हैं, लेकिन मनःपर्यवज्ञान गच्छमुक्त मुनि को ही होता है, यह एकांत नियम नहीं है। इस बात को ध्यान में रखकर चूर्णिकार ने कहा है कि गच्छवासी और गच्छमुक्त दोनों प्रकार के मुनि प्रमत्त और अप्रमत्त दोनों होते हैं।⁹⁰ उनमें अप्रमत्त मुनि को ही मनःपर्यवज्ञान होता है। अप्रमत्त होने मात्र से ही मनःपर्यवज्ञान नहीं होता है, इसके लिए नवीं शर्त भी आवश्यक है, जिसका स्वरूप निम्न प्रकार से है।

9. ऋद्धिप्राप्त संयत

मनःपर्यवज्ञान ऋद्धिप्राप्त अप्रमत्तसंयत सम्यग्दृष्टि पर्याप्त संख्यात वर्ष की आयुष्य वाले कर्मभूमिज गर्भज मनुष्यों को ही उत्पन्न होता है।⁹¹

अप्रमत्त संयत दो प्रकार के होते हैं - ऋद्धि प्राप्त और ऋद्धि अप्राप्त।

ऋद्धि प्राप्त, ऋद्धि अप्राप्त — धर्माचरण के द्वारा निर्जरा होकर या पुण्योदय होकर जो विशिष्ट शक्ति-लब्धि मिलती है, उसे यहाँ 'ऋद्धि' कहा गया है। अवधिज्ञान, पूर्वगतज्ञान, आहारक लब्धि, तेजोलेश्या, विद्याचारण, जंघाचारण आदि ऐसी 28 लब्धियाँ हैं।⁹² उत्तरोत्तर अपूर्व-अपूर्व अर्थ के प्रतिपादक विशिष्ट श्रुत में प्रवेश करते हुए उससे उत्पन्न तीव्र, तीव्रतर शुभ भावनाओं से ऋद्धियाँ उत्पन्न होती हैं। जिन्हें ये ऋद्धियाँ प्राप्त हुई हैं, वे 'ऋद्धि प्राप्त संयत' हैं तथा जिन्हें प्राप्त नहीं हैं, वे 'ऋद्धि अप्राप्त संयत' कहलाते हैं। अथवा जो अप्रमत्त आत्मारथी मुनि अतिशायिनी बुद्धि से सम्पन्न हो और जो आहारक आदि लब्धि (ऋद्धि) से सम्पन्न हो उसे ऋद्धि प्राप्त कहते हैं। मुनि अतिशायिनी बुद्धि से सम्पन्न हो इसके लिए अतिशायिनी बुद्धि तीन प्रकार की होती है- 1. कोष्ठबुद्धि, 2. पदानुसारीबुद्धि और 3. बीजबुद्धि, इनका वर्णन शेष लब्धियों के साथ ही अवधिज्ञान के ऋद्धि द्वार के अन्तर्गत किया गया है। इसलिए विशेष वर्णन वहाँ द्रष्टव्य है।⁹³

यहाँ मनःपर्यायज्ञान के साथ संभव अवधिज्ञान-लब्धि, पूर्वधर-लब्धि, गणधर-लब्धि, औषधि-लब्धि, वचन-लब्धि, चारण-लब्धि आदि लब्धियों को ही ग्रहण करना चाहिए।

मनःपर्यायज्ञान, विशिष्ट विशुद्धि के कारण उत्पन्न होता है। वह विशिष्ट विशुद्धि, ऋद्धिप्राप्त संयत मनुष्य में संभव है, ऋद्धि अप्राप्त में नहीं। क्योंकि ऋद्धि, विशुद्धि से ही प्राप्त होती है।

अऋद्धि प्राप्त अप्रमत्त संयत जीव जीवन के किसी भी क्षण में संयम से विचलित हो सकते हैं, किन्तु ऋद्धि प्राप्त अप्रमत्त संयत जीव जीवन के किसी भी क्षण में संयम से स्खलित नहीं होता है, अतः ऋद्धि प्राप्त अप्रमत्त संयत भी दो प्रकार के कहे हैं - 1. विशिष्ट ऋद्धि प्राप्त 2. सामान्य

89. अप्रमत्तसंजता जिणकप्पिया परिहारविसुद्धिया अहालंदिया पडिमापडिवण्णगा य। - नंदीचूर्णि पृ. 37

90. एते सततोवयोगोवउत्तत्तणतो अप्रमत्ता, गच्छवासिणो पुण पमत्ता, कण्हुइ अणुवयोगसंभवतातो। अहवा गच्छवासी णिग्गता य पमत्ता वि अपमत्ता वि भवंति परिणामवसओ। - नंदीचूर्णि पृ. 37

91. पारसमुनि, नंदीसूत्र, पृ. 79

92. प्रवचनसारोद्धार द्वार 270 गाथा 1492-1508 पृ. 408-414

93. पंचम अध्याय (विशेषावश्यकभाष्य में अवधिज्ञान), पृ. 384

ऋद्धि प्राप्त। इनमें पहली कोटि के मुनिवर को प्रायः विपुलमति मनःपर्यवज्ञान उत्पन्न होता है और ऋजुमति भी, किन्तु दूसरी कोटि के संयत को प्रायः ऋजुमति मनःपर्यवज्ञान होता है और किसी को विपुलमति भी। विपुलमति मनःपर्यवज्ञान वाला नियम से अप्रतिपाती होता है, किन्तु ऋजुमति मनःपर्यवज्ञान के लिए विकल्प है।⁹⁴ क्योंकि सर्वजीवाभिगम की आठवीं प्रतिपत्ति में “मनःपर्यवज्ञान का अन्तर जघन्य अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट देशोन अर्द्ध पुद्गल परावर्तन प्रमाण है” यदि किसी ऋद्धि प्राप्त मुनिवर के जीवन में मनःपर्यवज्ञान उत्पन्न होकर लुप्त होने का प्रसंग आता है, तो वही ज्ञान पुनः अन्तर्मुहूर्त में उत्पन्न हो सकता है। इससे सिद्ध होता है कि मनःपर्यव ज्ञान के उत्पन्न और लुप्त होने का प्रसंग एक ही भव में एक बार भी आ सकता है और अनेक बार भी। यह कथन ऋजुमति मनःपर्यव ज्ञान के विषय में समझना चाहिए, विपुलमति के प्रसंग में नहीं।⁹⁵

उपर्युक्त नौ शतों को द्रव्यादि चार भागों में समाविष्ट कर सकते हैं। जैसे कि मनुष्य, गर्भज और पर्याप्तक ये तीन द्रव्य में, कर्मभूमिज यह क्षेत्र में, संख्यातवर्षायुष्क यह काल में और सम्यग्दृष्टि, संयत, अप्रमत्त, ऋद्धिप्राप्त ये चार भाव में अन्तर्भूत हो जाते हैं। इस प्रकार जब द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की सामग्री पूर्णतया प्राप्त होती है तभी मनःपर्यवज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम होता है, जिससे ही मनःपर्यवज्ञान उत्पन्न होता है, अन्यथा नहीं।⁹⁶

तत्त्वार्थराजवार्तिक आदि में भी नंदीसूत्र के समान ही मनःपर्यवज्ञान के स्वामी का वर्णन है, इसमें भी नौ शतों का उल्लेख प्राप्त होता है।⁹⁷ गोम्मटसार में भी इसके स्वामी का वर्णन उपलब्ध होता है –

मणपज्जवं तं णाणं सत्तसु विरदेसु सत्तइड्ढीणं।

एगादिजुदेसु हवे वड्ढंतविसिट्ठचरणेसु।।⁹⁸

अर्थात् प्रमत्तसंयत से क्षीणकषाय पर्यन्त सात गुणस्थानों में, बुद्धि-तप-विक्रिया-औषध-रस-बल और अक्षीण नामक सात ऋद्धियों में से एक-दो-तीन आदि ऋद्धियों के धारी तथा जिनका विशिष्ट चारित्र्य वर्धमान होता है, उन महामुनियों में ही मनःपर्यवज्ञान होता है।

स्त्री को मनःपर्यवज्ञान

‘स्त्री (साध्वी) को मनःपर्यवज्ञान होता है या नहीं,’ इस विषय में मतभेद है। ग्रन्थकारों का अभिप्राय है कि स्त्री-लिंगी या स्त्रीवेदी को मनःपर्यवज्ञान नहीं होता। परन्तु श्री भगवतीसूत्र श. ८ उ. २ के अनुसार – हे भगवन्! वेदयुक्त जीव ज्ञानी है या अज्ञानी? हे गौतम ! इन्द्रिययुक्त जीवों के समान ही स्त्रीवेदक, पुरुषवेदक और नपुंसकवेदक हैं। अवेदी तो अकषायी के समान हैं।⁹⁹

उपर्युक्त उत्तर में सइन्द्रिय जीवों से सवेदी जीवों की और स्पष्टतया स्त्री आदि तीनों वेद वालों की समानता बतलाई है। इसमें स्त्री-पुरुष में कोई भेद नहीं बता कर समानता निरूपित की है। सइन्द्रिय प्ररूपणा में स्पष्ट उल्लेख है कि – भगवन् ! सइन्द्रिय जीव ज्ञानी हैं या अज्ञानी ? इसके उत्तर में कहा गया है कि चार ज्ञान और तीन अज्ञान की भजना है।¹⁰⁰ उपर्युक्त वर्णन में स्त्रीवेद में चार ज्ञान होने का कथन है। इससे स्पष्ट होता है कि स्त्री (साध्वी) को भी मनःपर्यवज्ञान हो सकता है।

94. आत्मारामजी महाराज, नंदीसूत्र, पृ. 112

95. युवाचार्य मधुकरमुनि, जीवाभिगमसूत्र भाग 2, गाथा 254 पृ. 204

96. आत्मारामजी महाराज, नंदीसूत्र, पृ. 114

97. तत्त्वार्थराजवार्तिक, सूत्र 1.25.2, पृ. 59

98. गोम्मटसार जीवकांड, गाथा 445, पृ. 668

99. सवेयगा णं भंते ! जीवा किं णाणी० ? गोयमा ! जहा सइंदिया। एवं इत्थिवेयगा वि एवं पुरसिवेयगा वि एवं नपुंसगवेयगा वि।

अवेयगा जहा अकसाई।

100. इंदिय-लद्धियाणं भंते ! जीवा किं णाणी, अण्णाणी। गोयमा ! चत्तारि णाणाइं तिण्णि अण्णाणाइं भयणाए।

मनःपर्यायज्ञान के भेद

मनःपर्यायज्ञान दो प्रकार का होता है, यथा - ऋजुमति और विपुलमति।¹⁰¹

द्रव्य मन के जितने स्कन्ध, उसकी जितनी पर्यायें विपुलमति जानता है, उनकी अपेक्षा जो द्रव्य मन के स्कन्ध और उसकी पर्यायें अल्प जाने, उसे 'ऋजुमति' मनःपर्यायज्ञान कहते हैं दूसरे शब्दों में द्रव्य-मन के जितने स्कन्ध और उसकी जितनी पर्यायें ऋजुमति जानता है, उनकी अपेक्षा जो द्रव्य-मन की विपुल स्कन्ध और पर्यायें जानता है, उसे 'विपुलमति' मनःपर्यायज्ञान कहते हैं।

श्वेताम्बर मान्यता में ऋजुमति-विपुलमति मनःपर्यवज्ञान का स्वरूप

ऋजु का अर्थ सामान्य ग्रहण और विपुल का अर्थ विशेष ग्रहण है।

ऋजुमति - जो सामान्य रूप से मनोद्रव्य को जानता है, वह ऋजुमति मनोज्ञान है। यह प्रायः विशेष पर्याय को नहीं जानता। ऋजुमति मनःपर्यवज्ञानी इतना ही जानता है कि अमुक व्यक्ति ने घट का चिन्तन किया है, देश, काल आदि से सम्बद्ध घट के अन्य अनेक पर्यायों को वह नहीं जानता।¹⁰²

विपुलमति - विशेषग्राहिणी मति विपुलमति है। अमुक व्यक्ति ने घड़े का चिन्तन किया है। वह घड़ा सोने का बना हुआ है, पाटलिपुत्र में निर्मित है, आज ही बना है, आकार में बड़ा है, कक्ष में रखा हुआ है, फलक से ढका हुआ है - इस प्रकार के अध्यवसायों के हेतुभूत अनेक विशिष्ट मानसिक पर्यायों का ज्ञान विपुलमति मनःपर्यवज्ञान है।¹⁰³

ऐसा ही वर्णन नंदीचूर्णि¹⁰⁴ में भी प्राप्त होता है। चूर्णि के अनुसार ऋजुमति मन की पर्यायों को जानता है, लेकिन अत्यधिक विशिष्ट पर्यायों को नहीं जानता है। जैसे किसी संज्ञी जीव ने किसी घट के विषय में विपुल चिन्तन किया। उस चिन्तन के अनुरूप उसके द्रव्य मन की अनेक पर्यायें बनी। ऋजुमति मनःपर्यवज्ञानी 'इसने घट का चिन्तन किया' - मात्र इतना जानने में जो सहायभूत अल्प पर्यायें हैं, उन्हें ही जानेगा और उन पर्यायों को साक्षात् देखकर फिर अनुमान से यह जानेगा कि - 'इस प्राणी ने घट का चिन्तन किया।' परन्तु विपुलमति मनःपर्यवज्ञानी उन पर्यायों में - 'इसने जिस घट का चिन्तन किया वह घट द्रव्य से सोने का बना हुआ है, क्षेत्र से पाटलिपुत्र नामक नगर में बना हुआ है, काल से बसन्त ऋतु में बना है, भाव से सिंहनी के दूध से युक्त है और फल से ढका हुआ है, गुण से राजपुत्र को समर्पित करने योग्य है और नाम से राजघट है इत्यादि बातें जानने में सहायभूत जितनी विपुल पर्यायें हैं, उन सबको जानेगा और अनुमान से यह जानेगा कि 'उसने घट का चिन्तन किया, जो द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, गुण और नाम से या वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, शब्द, संस्थान आदि से इस प्रकार का है।' यही मत सिद्धसेनगणि का भी है कि ऋजुमति सामान्य को ग्रहण करता है और विपुलमति विशेष को ग्रहण करता है।¹⁰⁵

101. तं च दुविहं उपज्जइ तंजहा - १. उज्जुमई य २. विउलमई य। - पारसमुनि, नंदीसूत्र, पृ. 80

102. रिजु सामण्णं तम्मत्तगाहिणी रिजुमई मणोणाणं। पायं विसेसविमुहं घडमेत्तं चित्तिं मुणइ। - विशेषावश्यक भाष्य, गाथा 784

103. विउलं वत्थुविसेसणमाणं तग्गाहिणी मई विउला चित्तिमणुसरइ घडं पगसओ पज्जवसएहिं। - विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 785

104. ओसण्णं विसेसविमुहं उवलभति णातीव बहुविसेसविसिट्ठं अत्थ उवलभइ त्ति, भणितं होति, घडोऽणेण चित्तिओ त्ति जाणति। विपुला मति विपुलमति, बहुविसेसगाहिणी त्ति भणितं भवति। मणोपज्जायविसेसे जाणति दिट्ठंतो, जहा - अणेण घडो चित्तितो, तं च देस कालादि अणेगपज्जायविसेसविसिट्ठं जाणति। - नंदीचूर्णि, पृ. 39

105. या मति सामान्यं गृह्णाति सा ऋज्वी व्युपदिश्यते, या पुनर्विशेषग्राहिणी सा विपुलेत्युपदिश्यते। - तत्त्वार्थभाष्यानुसारणी, पृ. 101

यहाँ पर जो ऋजुमति को सामान्य अर्थ को ग्रहण करने वाला और विपुलमति को विशेषग्रहण करने वाला बताया है। जब ऋजुमति सामान्यग्राही है तब तो वह दर्शन रूप ही हुआ, क्योंकि सामान्य को ग्रहण करने वाला दर्शन होता है। तो फिर ऋजुमति को ज्ञान क्यों कहा इस प्रश्न का समाधान इसी अध्याय में पृ. 438 पर किया गया है।

दिगम्बर मान्यता में ऋजुमति-विपुलमति मनःपर्यवज्ञान का स्वरूप

वीरसेनाचार्य कथनानुसार – 1. दूसरे के मन में चिन्तित अर्थ को उपचार से मति कहा जाता है। ऋजु का अर्थ वक्रता रहित है। ऋजु है मति जिसकी, वह ऋजुमति कहा जाता है।¹⁰⁶

2. ऋजु अर्थात् प्रगुण होकर विचारे गये और सरलरूप से ही कहे गये अर्थ को जानने वाला ज्ञान ऋजुमति मनःपर्यायज्ञान है।¹⁰⁷

गोम्मटसार के अनुसार – वह मनःपर्यय सामान्य से एक होने पर भी भेद-विवक्षा से ऋजुमति मनःपर्यय और विपुलमति मनःपर्यय, इस तरह दो प्रकार का है। सरल काय, वचन और मन के द्वारा किया गया जो अर्थ दूसरे के मन में स्थित है, उसको जानने से निष्पन्न हुई मति जिसकी है, वह ऋजुमति मनःपर्यवज्ञान है। सरल अथवा कुटिल काय-वचन-मन के द्वारा चिन्तित जो अर्थ दूसरे के मन में स्थित है, उसको जानने से निष्पन्न या अनिष्पन्न मति जिसकी है, वह विपुलमति मनःपर्यवज्ञान है।¹⁰⁸

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि सम्पूर्ण जैन परम्परा में इन दो भेदों को स्वीकार करने के विषय में कोई मतभेद नहीं है। इन भेदों में मति शब्द समान है तथा ऋजुत्व और विपुलत्व व्यावर्तक शब्द है।

दोनों परम्परा के जैनाचार्यों ने ऋजुमति-विपुलमति शब्दों को ज्ञानपरक, ज्ञातापरक और ज्ञेयपरक अर्थ के संदर्भ में समझाया है।

1. ज्ञानपरक अर्थ में **ऋज्वी मति** विशेषावश्यकभाष्य¹⁰⁹, हरिभद्रीय नंदीवृत्ति¹¹⁰ और मलयगिरि नंदीवृत्ति¹¹¹ में यह अर्थ प्राप्त होते हैं।

2. ज्ञातापरक अर्थ में **ऋज्वी मतिः यस्य** सर्वार्थसिद्धि¹¹², हरिभद्रीय नंदीवृत्ति¹¹³, तत्त्वार्थराजवार्तिक¹¹⁴, धवलाटीका, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक¹¹⁵, मलयगिरि नंदीवृत्ति¹¹⁶ में यह अर्थ प्राप्त होता है।

3. ज्ञेयपरक अर्थ में **ऋज्वी मतिः** ऐसी व्युत्पत्ति दी है। ज्ञेयपरक व्युत्पत्ति में मति का अर्थ संवेदन नहीं, लेकिन दूसरे के मनोगत अर्थ करने में आया है।¹¹⁷ इसी प्रकार विपुलमति शब्द के भी तीन प्रकार समझने चाहिए।

106. परकीयमतिगतोऽर्थ उपचारेण मतिः। ऋज्वी अवक्रा। ऋज्वीमर्तियस्य सः ऋजुमतिः।

– धवलाटीका, पु. 9, सू. 4.1.10 पृ. 62-63

107. षट्खण्डागम पु. 13, सू. 5.5.62, पृ. 330

108. मणपज्जवं च दुविहं उजुविउलमदिति उजुमदी ति विहा। – गोम्मटसार, जीवकांड, गाथा 439, पृ. 665

109. ऋज्वी प्रायोघटादिसामान्यमात्रग्राहिणी मतिः ऋजुमतिः। – विशेषावश्यक भाष्य बृहद्वृत्ति, गाथा 780, पृ. 332

110. हरिभद्रीय, नंदीवृत्ति. पृ. 40

111. ऋज्वी सामान्यग्राहिणी ऋजुमतिः – मलयगिरि, नंदीवृत्ति, पृ. 108

112. ऋज्वी मतिर्यस्य सोऽयं ऋजुमतिः – सर्वार्थसिद्धि 1.23 पृ. 91

113. हरिभद्रीय नंदीवृत्ति, पृ. 40

114. ऋज्वी मर्तियस्य सोऽयमृजुमति – तत्त्वार्थराजवार्तिक 1.23.1 पृ. 58

115. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक 1.23.1

116. ऋज्वी सामान्यग्राहिणीमतिरस्य स ऋजुमतिः – मलयगिरि, नंदीवृत्ति, पृ. 109

117. धवलाटीका, भाग 9, सू. 4.1.10 पृ. 62

मनःपर्यव के दो ही भेद क्यों? जिस प्रकार अवधिज्ञान के क्षयोपशम की विचित्रता से अनेक भेद बताये हैं, वैसे ही मनःपर्यवज्ञान भी रूपी पदार्थों को जानता है, यह भी क्षयोपशम से उत्पन्न होता है तो इसके दो ही भेदों का उल्लेख क्यों है? इसका समाधान यह हो सकता है कि अवधिज्ञान के जो विभिन्न भेद बताये हैं, वह क्षेत्र और काल की भिन्नता से ही उत्पन्न हुए हैं। अमुक जीव इतने काल में इतना क्षेत्र जानता है अथवा इतना क्षेत्र जानने वाला इतना काल जानता है, इस प्रकार की भिन्नता से अवधिज्ञान के अनेक प्रकार के भेद हो गये हैं। जबकि मनःपर्यवज्ञान में ऐसा नहीं है। मनःपर्यवज्ञानी क्षेत्र से जघन्य अढ़ाई द्वीप में ढाई अंगुल कम क्षेत्र जानता देखता है और उत्कृष्ट पूरा अढ़ाईद्वीप जानता देखता है। काल से भी जघन्य पल्लोपम का असंख्यातवां भाग जानता देखता है और उत्कृष्ट भी इतने काल को ही जानता है, लेकिन उसको अधिक स्पष्टता से जानता है। इसलिए क्षेत्र और काल की अपेक्षा से दो ही भेद प्राप्त होते हैं। इसलिए मनःपर्यवज्ञान के दो ही भेद होते हैं।

ऋजुमति-विपुलमति ज्ञान के प्रभेद

ऋजुमति-विपुलमति के प्रभेदों का पुष्पदंत, भूतबलि, पूज्यपाद, अकलंक, वीरसेनाचार्य और विद्यानंद आदि दिगम्बर आचार्यों ने उल्लेख किया है जबकि भद्रबाहु, देववाचक, उमास्वाति, जिनभद्र, जिनदासगणि, हरिभद्र, मलयगिरि, उपाध्याय यशोविजय आदि श्वेताम्बर आचार्यों ने ऋजुमति-विपुलमति के प्रभेदों का उल्लेख नहीं किया है।

ऋजुमति मनःपर्यवज्ञान के प्रभेद

षट्खण्डागम एवं कसायपाहुड में ऋजुमति मनःपर्याय के तीन भेद तथा विपुलमति मनःपर्याय के छह भेद प्रतिपादित हैं।¹¹⁸ यहाँ ऋजु और विपुल शब्द की स्पष्टता का वर्णन किया है। ऋजुमति के विषय की अपेक्षा से तीन भेद होते हैं - 1. ऋजुमनोगत, 2. ऋजुवचनगत और 3. ऋजुकायगत।

1. ऋजुमनोगत - जो पदार्थ जिस रूप में स्थित है, उसका उसी प्रकार चिन्तन करने वाले मन को ऋजुमन कहते हैं। ऋजु अर्थात् प्रगुण (निर्वर्तित) होकर मनोगत अर्थ को जानता है, वह ऋजुमति मनःपर्याय ज्ञान है। वह अचिन्तित, अर्ध चिन्तित एवं विपरीत रूप से चिन्तित अर्थ को नहीं जानता है।

2. ऋजुवचनगत - जो पदार्थ जिस रूप में स्थित है, उसका उसी प्रकार कथन करने वाले वचन को ऋजु वचन कहते हैं। मन में चिन्तित अर्थ ही जब वचन द्वारा अभिव्यक्त होता है तो उसका ज्ञान भी मनःपर्यवज्ञान के अन्तर्गत आता है। ऋजुमति मनःपर्यायज्ञान से नहीं बोले गये, आधे बोले गये, अस्पष्ट बोले गये अर्थ का बोध नहीं होता है। यहाँ यह शंका हो सकती है कि ऋजु वचनगत ज्ञान को मनःपर्यव ज्ञान कैसे कह सकते हैं? क्योंकि यहाँ चिन्तित अर्थ को कहने पर यदि जानता है तो इससे श्रुत ज्ञान का प्रसंग प्राप्त होता है? लेकिन ऐसा मानना उचित नहीं है, क्योंकि किसी पदार्थ का चिन्तन करने के पश्चात् जब कथन किया जाता है तभी वह मनःपर्यवज्ञान का विषय बनता है। उदाहरण के लिए यह राज्य या राजा कितने दिन तक समृद्ध रहेगा ऐसा चिन्तन करने के बाद जो कथन किया जाता है, तो यह श्रुतज्ञान का विषय नहीं है, क्योंकि वह प्रत्यक्ष रूप से राज्य और राजा की हानि-वृद्धि को जान कर ही उसका कथन करता है, इसलिए उसका ज्ञान परोक्ष की श्रेणी में नहीं आता है।¹¹⁹

118. जं तं उज्जुमदिमणपज्जवयणाणावरणीय णाण कम्मं तं तिविहं उज्जुमं मणोगदं जाणादि, उज्जुगं वचिगदं जाणादि, उज्जुगं कायगयं जाणादि। - षट्खण्डागम पु. 13, सू. 5.5.62, पृ. 329

119. षट्खण्डागम, पु. 13, सू. 5.5.62, पृ. 330-331

3. ऋजुकायगत – जो पदार्थ जिस रूप में स्थित है, उसे अभिनय द्वारा उसी प्रकार दिखलाने वाले काय को ऋजुकाय कहते हैं।¹²⁰ मनोगत अर्थ को ऋजुरूप से अभिनय करके दिखाये गये अर्थ को जानने वाला ज्ञान ऋजुकायगत मनःपर्यायज्ञान कहलाता है।

कसायपाहुड एवं षट्खण्डागम के समान ही सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थराजवार्तिक, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, गोम्मटसार आदि ग्रंथों में भी ऋजुमति के लक्षण और भेद का वर्णन प्राप्त होता है।¹²¹ ऋजु का अर्थ सरल और स्पष्ट है, अतः उपर्युक्त तीनों भेदों का विषय अनुक्रम से अन्य जीव के स्पष्ट विचार, स्पष्टवाणी और स्पष्टवर्तन से व्यक्त हुआ मनोगत अर्थ है।¹²² अन्य जीव के स्पष्ट विचार, वाणी और वर्तन जो विस्तृत हुए हों तो उनको ऋजुमतिज्ञान द्वारा जाना जा सकता है।¹²³

ऋजुमतिज्ञान की प्रक्रिया महाबन्ध एवं धवलाटीका में इस प्रकार दी गई है कि मनःपर्यवज्ञानी पहले अपने मतिज्ञान से दूसरे के मन को ग्रहण करता है तथा फिर ऋजुमतिज्ञान से उसके मन में चिन्तित अर्थ को जानता है। ऋजुमति मनःपर्यायज्ञानी दूसरे के मन को ग्रहण कर उसकी संज्ञा (प्रत्यभिज्ञान) स्मृति, चिन्ता, मति आदि को जानता है और व्यक्त मन वाले जीवों के जीवन-मरण, लाभ-अलाभ, सुख-दुःख, नगर-विनाश, देश विनाश, जनपद विनाश, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, सुवृष्टि, दुर्वृष्टि, सुभिक्ष, दुर्भिक्ष, क्षेम, अक्षेम, भय, रोग, उद्भ्रम, इद्भ्रम या संभ्रम को भी जानता है।¹²⁴ तत्त्वार्थराजवार्तिक में भी इसी प्रकार का वर्णन है।¹²⁵

षट्खण्डागम एवं धवलाटीका में मनःपर्यवज्ञान के पूर्व मतिज्ञान अथवा मन से दूसरे के मन को ग्रहण करने का कथन किया गया है। मतिज्ञान को मन कह देने पर प्रश्न उपस्थित होता है कि मतिज्ञान को मन की संज्ञा कैसे दी जा सकती है? समाधान में कहा गया है कि कार्य में कारण के उपचार से मतिज्ञान को मन की संज्ञा दी जा सकती है। ऋजुमति मनःपर्यवज्ञानी जहाँ मतिज्ञान के द्वारा दूसरों के मानस को ग्रहण करके ही मनःपर्यायज्ञान के द्वारा उसके मन में स्थित अर्थों को जानता है, वहाँ विपुलमति मनःपर्यवज्ञान का यह नियम नहीं है, क्योंकि वह अचिन्तित अर्थों को भी विषय करता है। ऋजुमति मनःपर्यवज्ञान द्वारा क्या-क्या जाना जाता है? तो इसका उत्तर है कि “परेसिं सण्णा सदि मदि चिन्ता” अर्थात् दूसरों की संज्ञा, स्मृति, मति, चिन्ता आदि को जानता है।¹²⁶

ऋजुमति मनःपर्यवज्ञानी व्यक्त मन वाले अपने और दूसरे जीवों से संबंध रखने वाले अर्थ को जानता है अर्थात् जिसका मन संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय से रहित है उन व्यक्त मन वाले तथा स्व से संबंध रखने वाले अन्य अर्थ को जानता है, परंतु अव्यक्त मन वाले जीवों से सम्बन्ध रखने वाले अन्य अर्थ को जानने में यह ज्ञान समर्थ नहीं है।¹²⁷

120. कसायपाहुड, गाथा 1, पृ. 18

121. सर्वार्थसिद्धि 1.23 पृ 91, तत्त्वार्थराजवार्तिक 1.23.9, पृ. 58, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक 1.23.2,3, पृ. 245, गोम्मटसार जीवकांड गाथा 439, पृ. 665

122. सर्वार्थसिद्धि 1.23, तत्त्वार्थराजवार्तिक 1.23.9, धवलाटीका, भाग 13, सूत्र 5.5.62, पृ. 329

123. तत्त्वार्थराजवार्तिक 1.23.9, पृ. 58 124. महाबन्ध भाग 1, पृ. 30

125. तत्त्वार्थराजवार्तिक 1.29.9, पृ. 58

126. षट्खण्डागम पु. 13, सूत्र 5.5.63, पृ. 332 से 337

127. किंचि भूओ-अप्पणो परेसिं च वत्तमाणाणं जीवाणं जाणदि णो आवत्तमाणाणं जीवाणं जाणदि। -षट्खण्डागम, पु. 13, सूत्र. 5.5.64, पृ. 337

उपर्युक्त चर्चा का यह निष्कर्ष है कि ऋजुमति मनःपर्यवज्ञानी व्यक्त मन वाले जीवों से सम्बन्ध रखने वाले या वर्तमान जीवों के वर्तमान मन से संबंध रखने वाले त्रिकालवर्ती पदार्थों को जानता है, अतीत मन और अनागत मन से सम्बन्ध रखने वाले पदार्थों को नहीं जानता है।

विपुलमति मनःपर्यवज्ञान के प्रभेद

विपुल का अर्थ अनिर्वर्तित और कुटिल अर्थात् दूसरे के मन को प्राप्त हुए वचन, काय और मनकृत अर्थ के विज्ञान से अनिर्वर्तित अर्थात् जिसकी मति विपुल हो, वह विपुलमति कहलाता है।¹²⁸ विपुलमति के छह प्रभेद हैं।¹²⁹ वे इस प्रकार हैं - 1. ऋजुमनोगत, 2. ऋजुवचनगत, 3. ऋजुकायगत, 4. अनृजुमनस्कृतार्थज्ञ, 5. अनृजुवाक्कृतार्थज्ञ और 6. अनृजुकायकृतार्थज्ञ। ऋजुमतिज्ञान की शक्ति ऋजु विचारादि तक मर्यादित है, जबकि विपुलमति ऋजु (सरल) और अनृजु (वक्र) दोनों प्रकार के विचारादि को जान सकता है।

अकलंक अनृजु का अर्थ अस्पष्ट करते हैं, जिसको धवलाटीकाकार वीरसेनाचार्य संशय और अनध्यवसाय कहते हैं। दोलायमान स्थिति संशय है, अयथार्थ प्रतीति अर्थात् विपरीत चिन्तन विपर्यय है और अर्धचिन्तन तथा अचिन्तन अनध्यवसाय है। विपुलमति वर्तमान में चिन्तन किये गये विषय को तो जानता ही है, साथ ही चिन्तन करके भूले हुए विषय को भी जानता है, जिसका आगे चिन्तन किया जायेगा, उसे भी जानता है। यह विपुलमति मनःपर्याय ज्ञानी मतिज्ञान से दूसरे के मानस को अथवा मतिज्ञान के विषय को ग्रहण करने के अनन्तर ही मनःपर्याय से जानता है।¹³⁰

ऋजुमति ज्ञान की तरह यह ज्ञान व्यक्त मन वाले अपने और दूसरे जीवों से सम्बन्ध रखने वाले अर्थ को तो जानता ही है, साथ ही अव्यक्त मनवाले जीवों से सम्बन्ध रखने वाले अर्थ को भी जानता है। चिन्ता में अर्ध परिणत, चिन्तित वस्तु के स्मरण से रहित और चिन्ता में अव्यापृत मन अव्यक्त कहलाता है। इससे भिन्न मन व्यक्त कहलाता है।¹³¹

यह ज्ञान भी ऋजुमति ज्ञान की तरह दूसरे जीवों के मन में चिन्तित संज्ञा, स्मृति, मति, चिन्ता, जीवन-मरण, लाभ-अलाभ, सुख-दुःख, नगर-विनाश, देश-विनाश, जनपद-विनाश, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, सुवृष्टि, दुर्वृष्टि, सुभिक्ष, दुर्भिक्ष, क्षेम, अक्षेम, भय, रोग रूप पदार्थों को जानता है। अकलंक ने विपुलमति को विस्तार से समझाया है।¹³² इसके अलावा कषायपाहुड, महाबंध, तत्त्वार्थवृत्ति, धवलाटीका, गोम्मटसार¹³³ आदि ग्रंथों में मनःपर्यवज्ञान के भेद और प्रभेदों का कथन किया गया है।

श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्परा में मान्यता भेद

ऋजुमति और विपुलमति मनःपर्यवज्ञान के प्रभेदों का उल्लेख श्वेताम्बर आगम-ग्रंथों में नहीं हैं। दोनों परम्पराओं में ऋजुमति और विपुलमति के प्रभेदों के सम्बन्ध में अपेक्षा विशेष से मान्यता भेद है। दिगम्बर साहित्य में जो ऋजुमति और विपुलमति मनःपर्यवज्ञान के प्रभेद किये गए हैं, उनके

128. अनिर्वर्तिता कुटिला च विपुला। वाक्कायमनःकृतार्थस्य परकीयमनोगतस्य विज्ञानात् विपुला मर्तियस्य सोऽयं।

-सर्वार्थसिद्धि, अध्याय 1.23, पृ. 91

129. जं तं विउलमदिमणपज्जवयणाणावरणीयंणाम कम्मं तं छव्विह उज्जुगमणुज्जुगं मणोगदं जाणादि, उज्जुगमणुज्जुगं वचिगदं जाणादि, उज्जुगमणुज्जुगं कायगज्जुदं जाणादि। - धवलाटीका भाग 13 सूत्र 5.5.70, पृ. 340

130. तत्त्वार्थराजवार्तिक 1.23.10, पृ. 59, धवलाटीका भाग 13, सूत्र 5.5.70, पृ. 340, गोम्मटसार जीवकांड गाथा 440

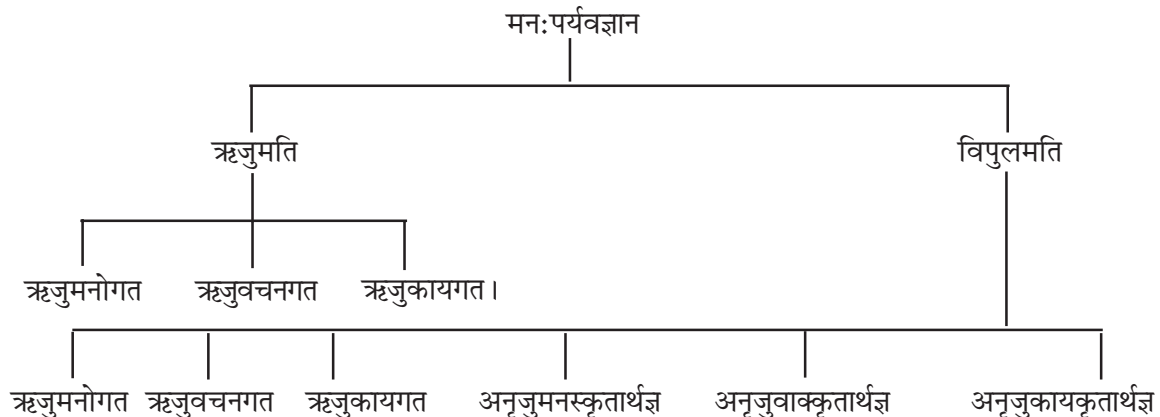
131. षट्खण्डागम पु. 13 पृ. 340

132. तत्त्वार्थराजवार्तिक 1.23, पृ. 58-59

133. कसायपाहुड पृ. 18, महाबंध भाग 1, पृ. 25-26, तत्त्वार्थवृत्ति, पृ. 356, गोम्मटसार जीवकांड गाथा 455-457

पीछे कोई अपेक्षा रही होगी, फिर भी सिद्धान्ततः इन दोनों परम्पराओं में कोई विरोध नहीं है। यदि इनमें विरोध होता तो अवश्य ही कोई न कोई श्वेताम्बर आचार्य इन प्रभेदों का विरोध अथवा खण्डन करते, लेकिन ऐसा खण्डन वर्तमान समय तक दृष्टिगोचर नहीं हुआ है। श्वेताम्बर परम्परा में भी मनःपर्यवज्ञान का विषय मन की ही पर्याय है, जैसेकि ऋजुमति मनःपर्यवज्ञान के जो तीन भेद किये हैं, उनमें सर्वप्रथम दूसरे के मन की पर्याय को जो कि सामान्य (सरल) रूप से चिन्तन की गई, उसको जानकर ही ऋजुमति मनःपर्यवज्ञानी अपने मन में चिन्तन करता है कि इस व्यक्ति ने अमुक प्रकार का चिन्तन किया है यह ऋजुमनोगत ज्ञान है। दूसरे के मन की पर्यायों को देखकर उसे वचन द्वारा दूसरे को कहना कि यह व्यक्ति अमुक वस्तु का चिन्तन कर रहा है, यह ऋजुवचनगत ज्ञान है और दूसरे के मन की पर्यायों को देखकर उसे काया की चेष्टा के द्वारा प्रकट करना कि अमुक व्यक्ति इस प्रकार का चिन्तन कर रहा है यह ऋजुकायगत ज्ञान है। इसी प्रकार विपुलमति के छह भेद हैं, उसमें भी दूसरे के मन की पर्यायों के आधार पर प्रथम तीन भेदों में सरल रूप से चिन्तन की गई वस्तु को जानना, कहना और काया से बताना और शेष तीन भेदों में वक्र या कुटिल रूप से चिन्तन की गई वस्तु को जानना, कहना और बताना। इस प्रकार इन प्रभेदों में मुख्य रूप से दूसरे के मन की पर्यायों को ही जाना जाता है और उसी के अनुसार जानना, कहना और काया से बताना होता है। अतः मनःपर्यवज्ञानी का ज्ञान स्वयं के मनोगत रहेगा अथवा दूसरों के लिए वचनगत अथवा कायगत रहेगा। इसलिए श्वेताम्बर परम्परा में ऋजुमति और विपुलमति के प्रभेदों का उल्लेख नहीं किया गया है, लेकिन अर्थान्तर से इनका वर्णन मिल जाता है। मनःपर्यवज्ञानी मन की ही पर्याय का ग्रहण करता है, वचन और काया की नहीं, किन्तु मन में ही वचन और काया से सम्बन्धित जो चिन्तन किया गया है, उसे जानता है। इस अपेक्षा से ऋजुमति के तीन और विपुलमति के छह भेद समझे जा सकते हैं।

संक्षेप में ऋजुमति तथा विपुलमति मनःपर्यवज्ञान के विषय दो प्रकार के होते हैं - 1. शब्दगत तथा 2. अर्थगत। 1. **शब्दगत** - जब किसी ने आकर पूछा तो उसके मन की बात मनःपर्यायज्ञानी जान सकता है, यह शब्दगत मनःपर्यवज्ञान हुआ है। 2. **अर्थगत** - कोई नहीं पूछे तो मौन पूर्वक स्थित हो तो उसके मनोगत विषय को जो मनःपर्यवज्ञानी जानता है, वह अर्थगत मनःपर्यवज्ञान है। इस विषय में से ऋजुमति मनःपर्यवज्ञानी स्पष्ट मन, वचन और काया के शब्दगत और अर्थगत को एवं विपुलमति मन, वचन और काया के स्पष्ट और अस्पष्ट दोनों के शब्दगत और अर्थगत विषय को जानता है। उपर्युक्त भेदों और प्रभेदों का निम्न चार्ट द्वारा दर्शाया गया है।



ऋजुमति-विपुलमति की तुलना

1. तत्त्वार्थसूत्र में उमास्वाति ने ऋजुमति और विपुलमति में अन्तर बताने के लिए विशुद्धि और अप्रतिपात विशेषण दिये हैं - ‘विशुद्ध्यप्रतिपाताम्भां तद्विशेषः’ आत्मा के साथ पहले से बंधे हुए मनःपर्यवज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम होने पर जो आत्मा की प्रसन्नता होती है, वह विशुद्धि है तथा मोहनीय कर्म का उदय नहीं होने के कारण संयमशिखर से प्रतिपात (गिरना) नहीं होना अप्रतिपात है। ऋजुमति मनःपर्यायज्ञान भी विशुद्ध है, किन्तु विपुलमति मनःपर्यायज्ञान उसकी अपेक्षा विशुद्धतर है। इसी प्रकार ऋजुमति मनःपर्यायज्ञान जहाँ उत्पन्न होने के पश्चात् समाप्त होने से प्रतिपाती है, वहाँ विपुलमति मनःपर्याय ज्ञान एक बार प्रकट होने के पश्चात् केवलज्ञान होने के पूर्व तक समाप्त नहीं होने से अप्रतिपाती है।¹³⁴

इसप्रकार तत्त्वार्थसूत्र और नंदी आदि के टीकाकार ऐसा मानते हैं कि विपुलमति मनःपर्यवज्ञान केवलज्ञान की उत्पत्ति के पूर्वतक विद्यमान रहता है, क्योंकि वह अप्रतिपाती है। ‘अप्रतिपाती’ शब्द का प्रयोग भवपर्यन्त रहने के अर्थ में भी प्राप्त होता है, क्योंकि नारकी और देवता में जो अवधिज्ञान होता है, वह अप्रतिपाती अवधिज्ञान होता है। नारकी और देवता के प्रसंग में अप्रतिपाती का अर्थ भव के अंतिम समय तक रहना ही उपर्युक्त प्रतीत होता है। तत्त्वार्थराजवार्तिककार ने भी प्रतिपाती का अर्थ किया है बिजली की चमक की तरह विनाशशील बीच में ही छूटनेवाला और अप्रतिपाती का अर्थ इसका विपरीत किया है।¹³⁵

आगम में तो विपुलमती मनःपर्यवज्ञान को विशुद्ध विशुद्धतर तो बताया है, लेकिन अप्रतिपाती का उल्लेख नहीं मिलता है। टीकाकारों ने उपर्युक्त जो अप्रतिपाती का अर्थ किया है, वह उचित नहीं है यहाँ भी अप्रतिपाती का अर्थ उस भव के अंतिम समय तक विद्यमान रहना ऐसा करना ही उपर्युक्त है, क्योंकि जिनको विपुलमति मनःपर्यवज्ञान होता है, आवश्यक नहीं की उनको उसी भव में केवलज्ञान हो ही। इस कथन की सिद्धि प्रमाण सहित अवधिज्ञान के वर्णन में पृ. 367-368 पर कर दी गई है।

जीव ऋजुमति से और साधुत्व से गिर कर नरक निगोद में भी जा सकता है।¹³⁶ परन्तु विपुलमति में ऐसा नहीं होता है।

उपशांतकषाय जीव का चारित्र मोहनीय के उदय से संयम शिखर छूट जाता है, जिससे प्रतिपात होता है और क्षीण कषाय जीव के पतन का कारण नहीं होने से प्रतिपात नहीं होता है।¹³⁷ इस अपेक्षा से तो ऋजुमति मनःपर्यवज्ञानी उपशांत कषायी और विपुलमति मनःपर्यवज्ञानी क्षीण कषायी होते हैं। लेकिन ऐसा एकांत मानना सही नहीं है। क्योंकि भगवती सूत्र के शतक 3 उद्देशक 6 में निर्ग्रन्थ में चार ज्ञान हो सकते हैं। यहाँ निर्ग्रन्थ में 11वें और 12वें गुणस्थान वाले जीव लिए हैं। इसलिए ऋजुमति मनःपर्यवज्ञान उपशान्त और क्षीण कषायी दोनों में पाया जाता है। जिनका मानना है कि विपुलमतिज्ञानी को केवलज्ञान प्राप्त होता है, उनकी अपेक्षा से तो क्षीण कषाय में तथा जो अप्रतिपाती का अर्थ भव पर्यन्त करते हैं, उनके मत से उपाशांत और क्षीण कषायी दोनों में ऋजुमति मनःपर्यवज्ञान पाया जा सकता है।

134. तत्त्वार्थसूत्र 1.25

135. प्रतिपातीति विनाशी विद्युत्प्रकाशवत्। तद्विपरीतोऽप्रतिपाती। - तत्त्वार्थराजवार्तिक सूत्र 1.22.5 पृ. 56

136. भगवती सूत्र शतक 24 उद्देशक 21

137. सवार्थसिद्धि 1.23

2. स्वामी की दृष्टि से ऋजुमति का स्वामी उपशांत कषायी होता है, जबकि विपुलमति का स्वामी क्षीणकषायी है।¹³⁸

3. अपेक्षा की दृष्टि से ऋजुमति को अन्य के मन, वचन और काया की अपेक्षा रहती है, जबकि विपुलमति को उक्त अपेक्षा की आवश्यकता नहीं रहती है।¹³⁹

4. विशुद्धि की अपेक्षा से ऋजुमति से विपुलमति द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा विशुद्धतर होता है।¹⁴⁰

5. प्रमाण की दृष्टि से ऋजुमतिज्ञान जितने द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव को जानता है, उसकी अपेक्षा विपुलमतिज्ञानी अधिक जानता है। मनःपर्यवज्ञान द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव का विस्तार से वर्णन आगे किया गया है।¹⁴¹

6. सूक्ष्मता की अपेक्षा से ऋजुमति की अपेक्षा विपुलमति का ज्ञान विशेष सूक्ष्म होता है। क्योंकि सर्वावधि के विषय का अनंतवां भाग ऋजुमति का विषय है और उसका भी अनंतवां भाग विपुलमति का विषय है।¹⁴²

7. ऋजुमति और विपुलमति में भेद की अपेक्षा से नंदीसूत्र में निम्न शब्द दिये हैं। ऋजुमति मनःपर्यवज्ञानी जिन भावों को जानता है, विपुलमति मनःपर्यवज्ञानी उन्हीं भावों को अधिकतर विपुलतर विशुद्धतर और उज्ज्वलतर रूप से जानता देखता है।¹⁴³ जैसेकि-

1. **अब्भहियतरागं (अब्भहियतराए)** - विपुलमति ऋजुमति की अपेक्षा अभ्यधिक (एक दिशा की अपेक्षा) ज्ञान है।¹⁴⁴

2. **विउलतरागं (विउलतराए)** - सब दिशा में हो वाले ज्ञान का विपुलतर कहा जाता है।¹⁴⁵

चूर्णिकार ने अभ्यधिकतर और विपुलतर के तीन वैकल्पिक अर्थ किए हैं, जो इस प्रकार हैं -

१. यदि एक घड़े से दूसरे घड़े में अधिक पानी आता है तो वह घड़ा पहले घड़े से अभ्यधिक है और जो अभ्यधिक होता है, उसका क्षेत्र विपुल (विस्तीर्ण) हो जाता है। इसी प्रकार विपुलमति के विषयभूत मनोद्रव्य का क्षेत्र अधिक होता है।¹⁴⁶

२. ऋजुमति लम्बाई (आयाम) चौड़ाई (विष्कंभ) की अपेक्षा से अभ्यधिकतर क्षेत्र को जानता है, जबकि विपुलमति क्षेत्र के मोटाई (बाहल्य) को भी जानता है, इसलिए वह विपुलतर क्षेत्र को जानता है।¹⁴⁷

138. अप्रतिपातेनापि विपुलमतिर्विशिष्टः, स्वामिनां प्रवर्द्धमानचारित्रोदयत्वात्। ऋजुमति पुनः प्रतिपाती, स्वामिनां कषायोद्रेकाद्धीयमान-चारित्रोदयत्वात्। सर्वार्थसिद्धि 1.24 पृ. 93, तत्त्वार्थवार्तिक 1.24.2 पृ. 59

139. यदि मणपज्जयणाणमिंदिय-णोईदिय-जोगाविणिरवेक्खं संतं उप्पज्जदि तो परेसिं मण-वयण काय।

- धवलाटीका, पु. 13, सूत्र 5.5.62, पृ. 331

140. सर्वार्थसिद्धि 1.23

141. प्रस्तुत अध्याय, पृ. 424-433

142. तत्त्वार्थ सूत्र 1.29, सर्वार्थसिद्धि 1.28, तत्त्वार्थराजवार्तिक 1.28. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक 1.28.3,4

143. तं चेव विउलमती अब्भहियतराए विउलतराए विसुद्धतराए वितिमिरतराए जाणइ पासइ। - नंदीसूत्र, पृ. 49

144. रिजुमतिखेतोवलंभप्पमाणतो विपुलमती अब्भहियतरागं खेतं उवलभइ ति। एगदिसिं पि अब्भहियसंभवो भवति। - नंदीचूर्णि, पृ. 40

145. समंततो जम्हा अब्भहियंति तम्हा विपुलतरागं भण्णति। - नंदीचूर्णि, पृ. 40

146. अहवा जहा घडातो जलाहारत्तणतो अब्भहिओ सो पुण नियमा घडागासखेतेण विउलतरो भवति, एवं विउलमती अब्भहियतरागं मणोलद्धिजीवदव्वाधारखेतं जाणति, तं च नियमा विपुलतरं इत्यर्थः। - नंदीचूर्णि, पृ. 40

147. अहवा आयामविक्खंभेण अब्भहियतरागं बाहल्लेण विउलतरं खेतं उपलभत इत्यर्थः। - नंदीचूर्णि, पृ. 40

३. अभ्यधिकतर और विपुलतर एकार्थक हैं। विशिष्ट विशुद्धि विशेष रूप से दर्शाये गये तर शब्द से होती है। जैसे शुक्ल और शुक्लतर।¹⁴⁸

विसुद्धतराए (विशुद्धतर) और वितिमिरतराए (वितिमिरतर) एकार्थक हैं तथा इनमें कुछ भिन्नता भी है। जिस प्रकार प्रकाशक द्रव्य विशेष से क्षेत्र विशुद्धि विशेष दिखाई देती है, उसी प्रकार मनःपर्यवज्ञानावरण के क्षयोपशम से ऋजुमति की अपेक्षा विपुलमति विशुद्धतर जानता है। मनःपर्यवज्ञानावरण के क्षयोपशम विशेष से प्राप्त होने के कारण यह वितिमिरतर भी कहा जाता है अथवा पूर्वबद्ध मनःपर्यवज्ञानावरण के क्षयोपशम के कारण वह विशुद्ध कहा जाता है। उसके आवरण के बन्धने का अभाव होने से पूर्वबद्ध का अनुदय होने से वह भी वितिमिरतर कहा जाता है।¹⁴⁹

8. उत्कृष्ट ऋजुमति और विपुलमति, ये दोनों आनुगामिक होते हैं, अनानुगामिक नहीं। मध्यगत होते हैं, अन्तगत नहीं। सम्बद्ध होते हैं, असम्बद्ध नहीं। जघन्य ऋजुमति सब प्रकार का संभव है।

9. ऋजुमति वर्द्धमान होकर विपुलमति हो सकता है, पर विपुलमति हीयमान होकर ऋजुमति नहीं हो सकता।¹⁵⁰

मनःपर्यवज्ञान के ज्ञेय संबन्धी विचार

मनःपर्यवज्ञानी के मनःपर्यवज्ञान का क्या ज्ञेय विषय है, इसके सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है? इन मतभेदों की चर्चा पंडित सुखलालजी ने ज्ञानबिन्दुप्रकरण¹⁵¹ में दो मतों के रूप में की है:-

1. प्रथम मत

मनःपर्यवज्ञानी मन के द्वारा चिन्त्यमान वस्तु (मनोगत अर्थ) को जानता है अर्थात् किसी जीव ने मन में जिस सचेतन अथवा अचेतन अर्थ का विचार किया है, उसको आत्मा के द्वारा मनःपर्यायज्ञान प्रत्यक्ष जानता है। इसका यह अर्थ हुआ कि मन के द्वारा चिन्तित अर्थ के ज्ञान के लिए मन को माध्यम नहीं मानकर सीधा उस अर्थ का प्रत्यक्ष होता है। इस मत के समर्थक मन के पर्याय और अर्थपर्याय में लिङ्ग और लिङ्गी का सम्बन्ध नहीं मानते हैं। मन मात्र ज्ञान में सहायक है। जैसे किसी ने सूर्य बादलों में है ऐसा देखा तो उसके इस ज्ञान में बादल तो सूर्य को जानने के लिए आधार मात्र हैं, वास्तव में प्रत्यक्ष तो अर्थ का ही हुआ है। इसलिए मनःपर्यवज्ञान में मन की आधार रूप में आवश्यकता है।¹⁵²

प्रथम मत के समर्थक - निर्युक्तिकार भद्रबाहु, देववाचक, पुष्पदन्त-भूतबलि, उमास्वाति, पूज्यपाद अकलंक, वीरसेनाचार्य, विद्यानंद आदि आचार्यों ने उपर्युक्त प्रथम पक्ष का समर्थन किया है। नंदीसूत्र में भी मनःपर्यवज्ञान का विषय चिंतन की गई वस्तु को माना है। “मणपज्जवणाणं पुण, जणमणपरिचिंतितयत्थपागडणं।”¹⁵³ अर्थात् मनःपर्यवज्ञानी मनुष्यक्षेत्र में रहे हुए प्राणियों के मन द्वारा परिचिंतित अर्थ को प्रकट करने वाला है। इसी प्रकार आवश्यकनिर्युक्ति एवं तत्त्वार्थभाष्य का भी मत

148. अहवा दोऽवि पदा एगट्ठा विसिद्धविसुद्धिविसेसदंसगो तरसदो ति यथा शुक्लः शुक्लतर इति। - नंदीचूर्ण, पृ. 40

149. जहा पगासगदव्वविसेसातो खेतविमुद्धि विसेसो लक्खिज्जति तहा मणपज्जवणाणावरणविसेसातो रिजुमणपज्जवणाणि समीवातो विपुलमणपज्जवणाणी विसुद्धतरागं जाणति, मणपज्जवणाणावरणखयोवसमुत्तमलंभत्तणतो वा वितिमिरतरागं ति भण्णति। अहवा पुव्वबद्धमणपज्जवणाणावरण-खयोवसमुत्तमलंभत्तणओ विसुद्धं ति भण्णति तस्सेवावरणबज्झमाणस्सऽभावत्तणतो पुव्वबद्धस्स य अणुदयत्तणतोवितिमिरतरागं ति भण्णति। - नंदीचूर्ण, पृ. 40

150. पारसमुनि, नंदीसूत्र, पृ. 81

151. ज्ञानबिन्दुप्रकरणम्, परिचय, पृ. 41

152. सर्वार्थसिद्धि 1.9, तत्त्वार्थराजवर्तिक 1.26.6-7

153. युवाचार्य मधुकरमुनि, नंदीसूत्र, पृ. 52

है।¹⁵⁴ पूज्यपाद, अकलंक¹⁵⁵ आदि आचार्यों ने भी मनःपर्यव शब्दगत मन का अर्थ दूसरे का मनोगत अर्थ किया है। जैसे कि “परकीयमनोगतोऽर्थो मन इत्युच्यते।”¹⁵⁶ इसी प्रकार तत्त्वार्थराजवार्तिक, धवलाटीका और तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक आदि में भी इसी प्रकार अर्थ किया गया है।¹⁵⁷ यह अर्थ मूर्त है या अमूर्त, इसकी स्पष्टता निर्युक्ति, नंदी सूत्र, षट्खण्डागम आदि में प्राप्त नहीं होती है। इसकी स्पष्टता सर्वप्रथम उमास्वाति ने करते हुए कहा है कि अर्थ (मनःपर्यव का विषय) रूपी द्रव्य है।¹⁵⁸

षट्खण्डागम के मतानुसार सर्व प्रथम दूसरे के मन का ज्ञान होता है और उसके बाद में दूसरों की मनोगत संज्ञा, स्मृति, मति और चित्त अर्थात् मनोज्ञान के उपरान्त अन्य जीव के मरण, सुख-दुःख, लाभ-अलाभ, क्षेम-अक्षेम, भय, रोग और नगर विकास, देश विकास अतिवृष्टि-अनावृष्टि, सुवृष्टि-दुर्वृष्टि, सुभिक्ष-दुर्भिक्ष आदि को जानता है।¹⁵⁹ भूतकाल में आचरित, वर्तन, वाणी और विचार का किसी जीव को विस्मरण हो जाता है तो भी मनःपर्यवज्ञानी बिना पूछे ही जान सकता है।¹⁶⁰ इतना ही नहीं भविष्य के जन्मों को भी जान सकता है।¹⁶¹ इसका अर्थ यह हुआ कि मनःपर्यवज्ञानी तीनों काल के विचार, वाणी और वर्तन को जान सकता है। इस प्रकार प्रथम मतानुसार मनःपर्यवज्ञानी दूसरे के मन को साक्षात् जानता है।

2. दूसरा मत

चिंतन प्रवृत्त मनोद्रव्य की अवस्थाएं अर्थात् मनोगत अर्थ का विचार करने से जो मन की दशा होती है, उस दशा अथवा पर्यायों को मनःपर्यायज्ञानी प्रत्यक्ष जानता है। किन्तु उन दशाओं में जो अर्थ रहा हुआ है, उसका अनुमान करता है अर्थात् इस मत वाले अर्थ का ज्ञान अनुमान से मानते हैं क्योंकि मन का ज्ञान मुख्य और अर्थ का ज्ञान बाद की वस्तु है। मन के ज्ञान से अर्थ का ज्ञान होता है। प्रत्यक्ष रूप से अर्थ का ज्ञान नहीं होता है। मनःपर्याय का वास्तविक अर्थ है कि मन की पर्यायों का ज्ञान, न कि अर्थ की पर्यायों का ज्ञान।¹⁶²

एक पक्ष मनःपर्यवज्ञान का विषय दूसरे के मनोगत अर्थ को स्वीकार करता है और इसके विपरीत दूसरा पक्ष दूसरे के द्रव्यमन (परचित्त का साक्षात्कार) को मनःपर्यवज्ञान का विषय मानता है।

द्वितीय मत के समर्थक - जिनभद्रगणि, जिनदासगणि, हरिभद्र, मलयगिरि, यशोविजय आदि आचार्यों ने द्वितीय पक्ष का समर्थन किया है अर्थात् द्रव्य मन की पर्यायों को मनःपर्यवज्ञान का विषय माना है। यहाँ पर यह प्रश्न उठाया गया है कि मन की पर्यायों को जानने के साथ उनमें चिन्त्यमान पदार्थों को जानने की मान्यता उचित है या अनुचित, इस सम्बन्ध में कहा गया है कि चिन्त्यमान

154. अवधिज्ञानविषयस्यानन्त भागं मनःपर्यायज्ञानी जानीते रूपिद्रव्याणि मनोरहस्यविचारगतानि च मानुषक्षेत्रपर्यायानि विशुद्धतराणि चेति। - उमास्वाति, तत्त्वार्थाधिगमसूत्रम् (तत्त्वार्थभाष्य), सूत्र 1.29

155. परकीयमनोगतार्थज्ञान मनःपर्ययः। तत्त्वार्थवार्तिक 1.9.4 और 1.23.2-4

156. सर्वार्थसिद्धि 1.9 पृ. 67, इसी प्रकार परकीय मनसि व्यवस्थितोऽर्थः अनेन ज्ञायते इत्येतावदत्रापेक्ष्यते। 1.23, पृ. 92

157. तत्त्वार्थराजवार्तिक 1.9.4, पृ. 32, षट्खण्डागम (धवलाटीका), पु. 13, सूत्र 5.5.60, पृ. 328, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक 1.23.13, पृ. 246

158. रूपिद्रव्येष्वसर्वपर्यायेष्ववधेर्विषयनिबन्धो भवित। तदनन्तभागे मनःपर्यायस्येति। - तत्त्वार्थभाष्य, 1.26, पृ. 104

159. मणेण माणसं पडिविंदइत्ता परेसिं सण्णा सदि जाणावि। षट्खण्डागम (धवलाटीका) पु. 13, सूत्र 5.5.63, पृ. 332

160. तत्त्वार्थवार्तिक 1.23.4

161. षट्खण्डागम, पु. 13, सूत्र 5.5.65, पृ. 338

162. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 814

पदार्थ मूर्त भी हो सकता है एवं अमूर्त भी। किन्तु दूसरे के मनोगत अर्थ को अमूर्त माना जाता हैं, तो वहाँ पर प्रथम मत के अनुसार अमूर्त मनोगत अर्थ को मनःपर्यवज्ञान का विषय मानने में विसंगति आयेगी क्योंकि छद्मस्थ जीव अमूर्त विषय को देख नहीं सकता है।

विशेषावश्यकभाष्य में मनःपर्यवज्ञान का ज्ञेय

उपर्युक्त विसंगति को दूर करने के लिए जिनभद्रगणि और मलधारी हेमचन्द्र ने दूसरे के मन को मनःपर्यवज्ञान का विषय माना और बाह्य अर्थ को अनुमान से जानना स्वीकार है। ज्ञानात्मक चित्त को जानने की क्षमता मनःपर्यवज्ञान में नहीं है, क्योंकि ज्ञानात्मक चित्त तो अमूर्त (अरूपी) होता है। जबकि मनःपर्यवज्ञान का विषय मूर्त रूपी वस्तुएं हैं। सभी जैनदार्शनिकों के अनुसार मनःपर्यवज्ञानी रूपी द्रव्यों को जानता है। मन का निर्माण मनोद्रव्य की वर्गणा से होता है। मन पौद्गलिक है और मनःपर्यवज्ञानी मनोवर्गणा के पर्यायों का जानता है। लेकिन जिस वस्तु का मन में चिंतन किया जाता है। वह चिंतनीय वस्तु मनःपर्यवज्ञान का विषय नहीं है। उस चिंतन की गई वस्तु को मन के पौद्गलिक स्कंधों के आधार पर अनुमान से जाना जाता है।¹⁶³ योगसूत्र और मज्झिमनिकाय में भी दूसरे के चित्त को ही मनोज्ञान का विषय माना गया है।¹⁶⁴ जिनदासगणि¹⁶⁵, हरिभद्र¹⁶⁶, मलयगिरि¹⁶⁷ और उपाध्याय यशोविजय¹⁶⁸ आदि आचार्यों ने जिनभद्रगणि का ही समर्थन किया है। सिद्धसेनगणी के अनुसार चिंतन की जाने वाली अमूर्त वस्तु को ही नहीं बल्कि स्तंभ, कुंभ आदि मूर्त वस्तु को भी अनुमान से ही जाना जाता है।¹⁶⁹

सिद्धसेनगणी ने मनःपर्यव का अर्थ भाव मन किया है। द्रव्य मन का कार्य चिंतन नहीं करना। चिंतन के समय में जो मनोवर्गणा के पुद्गल स्कंधादि आकृतियाँ बनती हैं, वे सब पुद्गल रूप होती हैं, जबकि भाव मन ज्ञान रूप होने से अमूर्त होता है। छद्मस्थ अमूर्त को नहीं जान सकता है। चिंतन के समय मनःपर्यवज्ञानी विभिन्न पौद्गलिक स्कंधों की भिन्न-भिन्न आकृतियों का साक्षात्कार करता

163. मुण्ड मणोदव्वाइंनरलोए सो मणिपज्जमाणाइं। काले भूय-भविस्से पलियाऽसंखिज्जभागम्मि।।

दव्वमणोपज्जाए जाणइ पासइ य तग्गएणंते। तेणावभासिए उण जाणइ बज्जेऽणुमाणेणं।। वृत्ति - मनश्चिन्ताप्रवर्तकानि द्रव्याणि मनोद्रव्याणि।.....चिन्तको हि मूर्तममूर्तं च वस्तु चिन्तयेत्। न च छद्मस्थोऽमूर्तं साक्षात् पश्यति, ततो ज्ञायते- अनुमानादेव चिन्तनीयं वस्तुवगच्छति। - विशेषावश्यकभाष्य, मलधारी हेमचन्द्र बहद्वृत्ति, गाथा 813-814, पृ. 332

164. (अ) योगभाष्य 3-19, 34

(ब) मज्झिमनिकाय, भाग. 3, पृ. 161

165. सण्णिणा मणत्तेण मणिते मणोखंधे अणंते अणंतपदेसिए दव्वट्टताए तग्गते य वण्णादिए भावे मणपज्जमाणेणं पच्चक्खं पेक्खमाणो जाणति त्ति भणितं, मुणितमत्थं पुण पच्चक्खं ण पेक्खात जेण मणालंबणं मुत्तममुत्तं वा सो य छउमत्थो तं अणुमाणतो पेक्खति त्ति अतो पासणता भणिता। (अर्थात् संज्ञी जीव द्वारा मनरूप में परिणत अनन्तप्रदेशी मन के स्कन्ध तथा तद्गत वर्ण आदि भावों को मनःपर्यवज्ञानी साक्षात् देखता है। वह चिन्तित पदार्थ को प्रत्यक्ष नहीं देखता, अनुमान से देखता है, इसलिए उसकी पश्यत्ता बताई गई है। मन का आलम्बन मूर्त-अमूर्त दोनों प्रकार के पदार्थ हो सकते हैं। छद्मस्थ अमूर्त को साक्षात् नहीं देख सकता।) - नंदीचूर्णि, पृ. 39

166. हारिभद्रीय नंदीवृत्ति, पृ. 41

167. इह मनस्त्वपरिणतैः स्कन्धैरालोचित बाह्यमर्थं घटादिलक्षणं साक्षादध्यक्षतो मनःपर्यायज्ञानी न जानाति, किन्तु मनोद्रव्याणामेव तथारूपपरिणामान्यथानुपपत्तितोऽनुमानतः। - मलयगिरि, नंदीवृत्ति, पृ. 109

168. यशोविजयगणि, जैनतर्कभाषा, पृ. 27

169. ये तु चिन्त्यमानाः स्तम्भ-कुंभादयस्तानक मानेनावगच्छन्ति। - तत्त्वार्थाधिगमसूत्रम् (तत्त्वार्थभाष्यानुसारिणी), पृ. 101

है। इसलिए मन की पर्याय को जानना अर्थात् भाव मन को जानना ऐसा नहीं मानना, बल्कि भाव मन के कार्य में निमित्त बने मनोवर्गणा के पुद्गल स्कंधों को जानना है।¹⁷⁰

इस प्रकार दिगम्बर परम्परा में मात्र प्रथम मत मान्य है जबकि श्वेताम्बर परम्परा में दोनों मत प्रतीत होते हैं। किन्तु हेमचन्द्र¹⁷¹ आदि उत्तकालीन आचार्यों के द्वारा द्वितीय मत को महत्त्व दिया गया है।

उपर्युक्त दोनों मतों में से द्वितीय मत अधिक उचित प्रतीत होता है, इसके दो कारण हैं –

1. भावमन ज्ञानात्मकरूप होने से अरूपी होता है और अरूपी पदार्थों को छद्मस्थ नहीं जान सकते हैं। लेकिन भाव मन में उत्पन्न विचारों से द्रव्य मन में जिन मनोवर्गणा के स्कंधों का निर्माण होता है, वे पुद्गलमय होने से रूपी हैं और रूपी पदार्थों को छद्मस्थ जान सकता है। अतः मनःपर्यवज्ञान का विषय द्रव्य मन ही होता है, भाव मन नहीं।

2. मनःपर्याय ज्ञान से साक्षात् अर्थ का ज्ञान नहीं होता है, क्योंकि मनःपर्यवज्ञान का विषय रूपी द्रव्य का अनन्तवां भाग है।¹⁷² यदि मनःपर्यायज्ञानी मन के सभी विषयों का साक्षात् ज्ञान कर लेता है तो अरूपी द्रव्य भी उसके विषय हो जाते हैं। क्योंकि मन के द्वारा अरूपी द्रव्य का भी चिन्तन हो सकता है, लेकिन मनःपर्यवज्ञानी इन्हें नहीं जानता है। अवधिज्ञानी सभी प्रकार के पुद्गल द्रव्यों को ग्रहण कर सकता है। किन्तु मनःपर्यायज्ञानी उनके अनन्तवें भाग अर्थात् मन रूप बने हुए पुद्गलों को मानुषोत्तर क्षेत्र के अन्दर जान सकता है। मन का साक्षात्कार करके उसमें चिन्तित अर्थ को अनुमान से जानता है। ऐसा मानने पर मन के द्वारा सोचे गये मूर्त-अमूर्त सभी द्रव्यों को जान सकता है।

उपर्युक्त दो कारणों से द्वितीय मत का पक्ष अधिक मजबूत होने से मनःपर्यवज्ञान का विषय द्रव्यमन को मानना अधिक तर्क संगत है। इसका समर्थन पं. सुखलाल संघवी¹⁷³ ने भी किया है। उनका मानना है कि प्रथम परम्परा में दोष उत्पन्न होने के कारण ही द्वितीय मत का विकास हुआ है। क्योंकि मनःपर्यवज्ञानी दूसरे के मन की पर्यायों को ही जानता है, उसके मन में चिन्त्यमान पदार्थों को तभी जान सकता है जब मन की पर्यायों को जान लिया हो। मन की पर्यायों को जानने के बाद यदि चिन्त्यमान पदार्थों को जानता है तो उन्हें अनुमान से जाना जा सकता है, या फिर अवधिज्ञान से। चिन्तन को जानना तथा चिन्त्यमान पदार्थों को जानना भिन्न-भिन्न प्रकार के कार्य हैं।

उपर्युक्त दो मतों का उल्लेख कैलाशचन्द्र शास्त्री ने भी करते हुए कहा है कि श्वेताम्बर सम्प्रदाय में दूसरा लक्षण ही मान्य है और दिगम्बर परम्परा में पहला लक्षण मान्य है।¹⁷⁴

170. मनो द्विविधं द्रव्यमनो भावमनश्च, तत्र द्रव्यमनो मनोवर्गणा, भावमनस्तु ता एव वर्गणा जीवेन गृहीताः सत्यो मन्यमानाश्चिन्त्यमाना भावमनोऽभिधीयते। तत्रेह भावमनः परिगृह्यते, तस्य भावमनसः पर्यायास्ते चैवंविधाः—यदा कश्चिदेवं चिन्तयेत् किंस्वभाव आत्मा? ज्ञानस्वभावोऽमूर्तः कर्ता सुखादीनामनुभविता इत्यादयो ज्ञेयविषयाध्यवसायाः परगतास्तेषु यज्ज्ञानं तेषां वा यज्ज्ञानं तन्मनःपर्यायज्ञानम्। तानेव मनःपर्यायान् परमार्थतः समवबुध्यते, बाह्यास्त्वनुमानादेवेत्यसौ तन्मनःपर्यायज्ञानम्।

— तत्त्वार्थभाष्यानुसारिणी पृ. 70

171. मनसो द्रव्यरूपस्य पर्यायाश्चिन्तनानुगुणाः परिणामभेदास्तद्विषयं ज्ञानं मनःपर्यायः। यद्बाह्यचिन्तनीयार्थज्ञाने तत् आनुमानिकमेव न मनःपर्यायप्रत्यक्षम्। — प्रमाणमीमांसा (पं. सुखलाल संघवी), 1.1.18, पृ. 15

172. तदनन्तभागे मनःपर्यायस्य। — तत्त्वार्थसूत्र 1.29

173. प्रमाणमीमांसा, भाषाटिप्पण पृ. 37-38

174. कैलाशचन्द्र शास्त्री, जैनन्याय, पृ. 162

मनःपर्यवज्ञान से जानने की प्रक्रिया

अढ़ाई द्वीपवर्ती मनवाले संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त किसी भी वस्तु का चिन्तन मन से करते हैं। चिन्तन के समय चिन्तनीय वस्तु के अनुसार मन भिन्न-भिन्न आकृतियों को धारण करता है, ये आकृतियाँ ही मन की पर्यायें हैं। इन मानसिक आकृतियों को मनःपर्यवज्ञानी साक्षात् जानता है और चिन्तनीय वस्तु को मनःपर्यवज्ञानी अनुमान से जानता है, जैसे कोई मानस शास्त्री किसी का चेहरा देखकर या प्रत्यक्ष चेष्टा देखकर उसके आधार से व्यक्ति के मनोगत भावों को अनुमान से जान लेता है, उसी प्रकार मनःपर्याय से मन की आकृतियों को प्रत्यक्ष देखकर बाद में अभ्यास वश ऐसा अनुमान कर लेता है कि इस व्यक्ति ने अमुक वस्तु का चिन्तन किया है। क्योंकि उसका मन उस वस्तु के चिन्तन के समय अमुक प्रकार की परिणति आकृति से युक्त है, यदि ऐसा नहीं होता तो इस प्रकार की आकृति नहीं होती इस तरह चिन्तनीय वस्तु का अन्यथानुपपत्ति (इस प्रकार के आकार वाला मनोद्रव्य का परिमाण, इस प्रकार के चिन्तन बिना घटित नहीं हो सकता, इस प्रकार के अन्यथानुपपत्ति रूप अनुमान) द्वारा जानना ही अनुमान से जानना है। इस तरह यद्यपि मनःपर्यवज्ञानी मूर्त द्रव्यों को ही जानता है, परंतु अनुमान द्वारा वह धर्मास्तिकायादि अमूर्त द्रव्यों को भी जानता है, इन अमूर्त द्रव्यों का उस मनःपर्यायज्ञानी द्वारा साक्षात्कार नहीं किया जा सकता है।

किसका मन मनःपर्यवज्ञान का विषय होता है?

मनःपर्यवज्ञानी क्षेत्र मर्यादा में रहे सभी जीवों का चित्त मनःपर्यव का विषय नहीं होता है, परन्तु जो जीव संज्ञीपंचेन्द्रिय पर्याप्त होते हैं, उन जीवों का चित्त (मन) ही विषय बनता है।¹⁷⁵ तो प्रश्न होता है कि मनःपर्यवज्ञान का विषय संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों का मन ही क्यों होता है? इसका समाधान इस प्रकार है कि संज्ञी जीवों के अलावा अन्य जीवों में कुछ ग्रंथकारों ने संज्ञीश्रुत की तीन संज्ञाओं (दीर्घकालिकी, हेतुवादोपदेशिकी, दृष्टिवादोपदेशिका) की अपेक्षा भावमन स्वीकार किया है अर्थात् विशेषावश्यकभाष्य¹⁷⁶ के आधार से टीकाकार मलयगिरि ने एकेन्द्रिय जीवों को भावेन्द्रियों की अपेक्षा पंचेन्द्रिय बताया है अर्थात् भाष्यकार और टीकाकारों ने एकेन्द्रियों में एक द्रव्येन्द्रिय तथा पाँच भावेन्द्रियाँ मानी हैं, किन्तु प्रज्ञापना सूत्र¹⁷⁷ में एकेन्द्रिय में एक ही भावेन्द्रिय बताई है। मनःपर्यवज्ञान का विषय द्रव्य मन में चिंतित मनोवर्गणा के स्कंध हैं। द्रव्य-मन दीर्घकालिकी संज्ञा की अपेक्षा से जो संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव है, उन्हीं के होता है। इसलिए मनःपर्यवज्ञान का विषय संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीवों का चित्त (मन) ही होता है।

कितने जीवों के मन को जानेगा - एक मनःपर्यवज्ञानी अपने पूरे जीवन काल में संख्यात पर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के मन को जान सकता है। वैसे तो अढ़ाईद्वीप और समुद्रों में पर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव असंख्यात होते हैं, किन्तु मनःपर्यवज्ञानी अपने जीवन काल में संख्यात जीवों के मन को ही जान पाएगा, क्योंकि जघन्य उपयोग काल एक आवलिका का भी मानें तो संख्यातवर्ष की आयु में संख्यात संज्ञी पंचेन्द्रिय के मन की बात को ही जान सकेगा। यदि अढ़ाई द्वीप से बाहर के सोचे हुए मन के पुद्गल यदि अढ़ाई द्वीप के अन्दर भी आ जायें तो शक्ति हीन होने से मनःपर्यवज्ञानी उन्हें नहीं जानता है।

175. सण्णपंचेंदियाणं पज्जत्तयाणं मणोगए भावे जाणइ पासइ, - पारसमुनि, नंदीसूत्र, पृ. 82

176. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 3001

177. प्रज्ञापना सूत्र, पद 15 उद्देशक 2

मनःपर्यवज्ञान की स्थिति - संयत में मनःपर्यवज्ञान जघन्य एक समय एवं उत्कृष्ट देशोन पूर्वकोटि तक अवस्थित रहता है। जब अप्रमत्त अवस्था में वर्तमान किसी संयत को मनःपर्यव ज्ञान उत्पन्न होता है और अप्रमत्त संयत अवस्था में उसकी मृत्यु हो जाती है तब वह उसमें एक समय तक ही मनःपर्यवज्ञानी रहता है। उत्कृष्ट देशोन पूर्व कोटि तक अवस्थिति का कारण यह है कि इससे अधिक संयत का जीवनकाल ही नहीं होता है और संयम के अभाव में मनःपर्यवज्ञान भी नहीं रह सकता है।¹⁷⁸

मनःपर्यवज्ञान का द्रव्यादि की अपेक्षा वर्णन

विशेषावश्यकभाष्य और नंदीसूत्र आदि में भी मनःपर्यवज्ञान संपेक्ष में चार प्रकार का बताया है - द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव।¹⁷⁹ इसी प्रकार भगवती सूत्र (शतक 8 उद्देशक 2) में भी वर्णन है। मनःपर्यवज्ञान के पूर्व ऋजुमति और विपुलमति ये जो दो प्रकार बताए हैं, उनका ही द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की दृष्टि से वर्णन किया जा रहा है।

मनःपर्यवज्ञान का द्रव्य

विशेषावश्यकभाष्य के अनुसार मनःपर्यव का द्रव्य इस प्रकार है - मनुष्य क्षेत्र में रहे हुए संज्ञी जीवों के मनोगत भावों को काययोग से ग्रहण करके मनोयोग से मन के रूप में परिणमन किये हुए मनोद्रव्य के पुद्गल को मनःपर्यवज्ञानी जानता है।¹⁸⁰

भगवती सूत्र (शतक 8 उद्देशक 2) और नंदीसूत्र की अपेक्षा - ऋजुमति अनन्त प्रदेशी, अनंत स्कन्ध जानते देखते हैं, उन्हीं को विपुलमति अभ्यधिकता से, विपुलता से, विशुद्धता से, वितिमिरता से जानते देखते हैं।¹⁸¹ मनोवर्गणा के अनन्त प्रदेशी स्कन्धों से निर्मित संज्ञी जीवों की मनोगत पयार्यों को तथा उनके द्वारा चिन्तनीय द्रव्य या वस्तु को मनःपर्यवज्ञानी स्पष्ट रूप से जानता और देखता है। जघन्य ऋजुमति मनःपर्यायज्ञानी संज्ञी जीव के मनरूप में परिणत मनोवर्गणा के अनन्त प्रदेशी अनन्त स्कन्धों को जानता है। उत्कृष्ट ऋजुमति मनःपर्यायज्ञानी मनोवर्गणा के अनंत प्रदेशी अनन्त स्कन्ध ही जानते हैं, किन्तु जघन्य मनःपर्यायज्ञान से अनन्तगुणा अधिक होते हैं। मध्यम ऋजुमति मनःपर्यायज्ञानी जघन्य ऋजुमति की अपेक्षा से अधिक और उत्कृष्ट ऋजुमति की अपेक्षा कम मनोवर्गणा के स्कन्ध द्रव्य जानते हैं।

विपुलमति मनःपर्यवज्ञानी ऋजुमति जितने स्कन्ध देखते हैं, उनकी अपेक्षा परिणाम में अधिकतर और विपुलतर स्कन्ध देखते हैं एवं स्पष्टता की अपेक्षा अधिक विशुद्धतर देखते हैं, वितिमिरतर अर्थात् भ्रान्ति रहित जानते और देखते हैं।

गोम्मटसार (जीवकांड) के अनुसार - द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव को लेकर जीव के द्वारा चिन्तित पुद्गल द्रव्य और उससे सम्बद्ध जीवद्रव्य को जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट भेद से ऋजुमति और विपुलमति मनःपर्यवज्ञानी जानते हैं। द्रव्य की अपेक्षा से ऋजुमति मनःपर्यवज्ञानी औदारिक शरीर के निजीर्ण समय प्रबद्ध जघन्य द्रव्य को जानते हैं और उत्कृष्ट द्रव्य के रूप में चक्षु इन्द्रिय के निजीर्ण द्रव्य को जानते हैं। विपुलमति मनोद्रव्य वर्गणा के विकल्पों के अनन्तर्वे भागरूप ध्रुवहार से

178. युचावाचार्य मधुकरमुनि, प्रज्ञापनासूत्र भाग 2, पद 18, पृ. 356

179. तं समासओ चउव्विहं पण्णत्तं, तं जहा - १. दव्वओ, २. खित्तओ, ३. कालओ, ४. भावओ।

180. नरलोके तिर्यग्लोके मन्यमानानि संज्ञिभिजीवैः काययोगेन गृहीत्वा मनोयोगेन मनस्त्वेन परिणमितानीत्यर्थः। तदयं द्रव्यतो विषय उक्तः। - विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 814 की टीका, पृ. 332

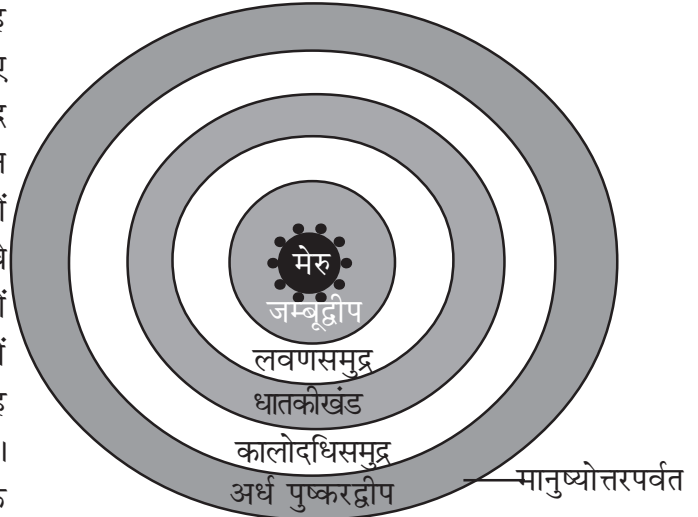
181. तत्थ दव्वओ णं उज्जुमई अणंते अणंतपएसिण्णं खंधे जाणइ पासइ, तं चेव विउलमई अब्भहियंतराए विउलतराए विसुद्धतराए वितिमिरतराए जाणइ पासइ। - पारसमुनि, नंदीसूत्र, पृ. 81

ऋजुमति के विषयभूत उत्कृष्ट द्रव्य में भाग देने पर जो प्रमाण आता है, वह विपुलमति के विषयभूत जघन्य द्रव्य का परिमाण होता है एवं आठों कर्मों के विमलसोपचय रहित सामान्य समय प्रबद्ध में ध्रुवहार से एक बार भाग देने पर जो एक खण्ड आता है, वह विपुलमति का विषय दूसरा द्रव्य होता है, उस दूसरे द्रव्य में असंख्यात कल्पकाल के समयों की संख्या जितनी है, उतनी बार ध्रुवहार से भाग देने पर जो परिमाण प्राप्त होता है, वह विपुलमति के विषयभूत सर्व उत्कृष्ट द्रव्य होता है।¹⁸²

मनःपर्यवज्ञान का क्षेत्र

भगवती सूत्र और नंदीसूत्र की अपेक्षा से - ऋजुमति मनःपर्यवज्ञानी, जघन्य से अंगुल का असंख्यातवाँ भाग जानते देखते हैं तथा उत्कृष्ट से नीचे इस रत्नप्रभा पृथ्वी के उपरिम अधस्तन क्षुद्र प्रतर तक जानते देखते हैं ऊपर ज्योतिषियों के उपरितल तक जानते देखते हैं। तिरछे मनुष्य क्षेत्र तक जानते देखते हैं। मनुष्य क्षेत्र में अढ़ाईद्वीप हैं, दो समुद्र हैं। अढ़ाईद्वीप में पन्द्रह कर्म भूमि, तीस अकर्मभूमियाँ और लवण समुद्र में छप्पन अन्तर्द्वीप हैं। इन सब क्षेत्रों में जितने संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त पशु, मानव अथवा देव हैं, उनके मनोगत भावों को जानते-देखते हैं। उसी क्षेत्र को विपुलमति एक दिशा से भी अढ़ाई अंगुल अधिक और सभी दिशाओं में भी ढ़ाई अंगुल विपुलतर जानते देखते हैं तथा उन क्षेत्र-गत मनोद्रव्यों को विशुद्धतर तथा वितिमिरतर जानते देखते हैं।¹⁸³

लोक के मध्य भाग में आकाश के आठ रुचक प्रदेश हैं जहाँ से पूर्व-पश्चिम-उत्तर-दक्षिण और ऊँची (विमला) नीचे (तमा) ये छह दिशाएं और आग्नेय आदि चार विदिशाएं निकलती हैं। ऊँची (विमला) दिशा में चन्द्र आदि ज्योतिषी देवों के तथा भद्रशाल वन में रहने वाले संज्ञी जीवों के मन की पर्यायों को भी मनःपर्यवज्ञानी प्रत्यक्ष करते हैं। नीचे पुष्कलावती विजय के अन्तर्गत ग्राम-नगरों में रहे हुए संज्ञी जीवों के मन की पर्यायों को उपयोग पूर्वक प्रत्यक्ष करते हैं। यह मनःपर्यायज्ञान का उत्कृष्ट विषय क्षेत्र है। मानुषोत्तर पर्वत कुण्डलाकार है, उसके अन्तर्गत अढ़ाई द्वीप और समुद्र हैं, उसे समय क्षेत्र (मनुष्य क्षेत्र) भी कहते हैं। उसकी लम्बाई चौड़ाई 45 लाख योजन की है। इसके बाहर मनुष्यों का अभाव है।



(चित्र : 45 लाख योजन का मनुष्यक्षेत्र अर्थात् अढ़ाईद्वीप) (जम्बूद्वीप 1 लाखयोजन, लवणसमुद्र 4 लाखयोजन (दोनों ओर का मिलाकर, ऐसा आगे भी समझ लेना चाहिए), धातकीखंड 8 लाखयोजन, कालोदधिसमुद्र 16 लाखयोजन, अर्धपुष्करद्वीप 16 लाख योजन इस प्रकार कुल 45 लाखयोजन का मनुष्यक्षेत्र होता है।)

182. गोम्मटसार, जीवकांड, गाथा 451 से 454 का भावार्थ, पृ. 671-673

183. खित्तोणं उं ज्जुमई य जहण्णेणं अंगुलस्स असंखेज्जयभागं, उक्कोसेणं अहे जाव इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए उवरिमहेट्टिल्ले खुडुगपयरे, उडुं जाव जोइस्स उवरिमतले, तिरियं जाव अंतोमणुस्सखित्ते अड्ढाज्जेसु दीवसमुद्देसु पण्णरस्ससु कम्मभूमिसु तीसाए अकम्मभूमिसु छप्पण्णाए अंतरदीवगेसु सण्णिपंचेदियाणं पज्जत्तयाणं मणोगए भावे जाणइ पासइ, तं चेव विउलमई अड्ढाज्जेहिमंगुलेहिं अब्भहियतरं विउलतरं विसुद्धतराणं वितिमिरतराणं खेतं जाणइ पासइ।

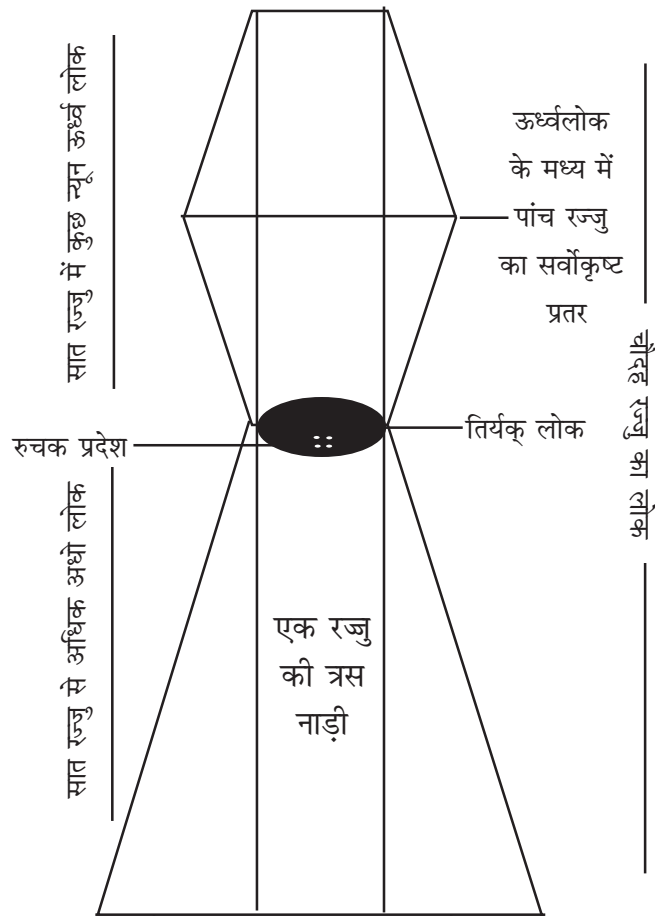
समय क्षेत्र (मनुष्य क्षेत्र) में रहने वाले समनस्क जीवों के मन की पर्यायों को मनःपर्यवज्ञानी जानता व देखता है। उपर्युक्त चित्र द्वारा मेरुपर्वत में रुचक प्रदेशों की स्थिति का दर्शाया गया है।

क्षुल्लक (क्षुद्र) प्रतर का स्वरूप

लोकाकाश के प्रदेश उपरितन और अधस्तन प्रदेशों से रहित बनाए गये हैं, उनकी व्यवस्था मंडलाकार है। ये लोकाकाश के प्रदेश ही प्रतर हैं। उर्ध्व एवं अधोलोक की अपेक्षा 1800 योजन प्रमाण वाले तिर्यग्लोक के मध्यम भाग में दो सर्व लघुक्षुल्लक प्रतर हैं। इनके मध्यभाग में जम्बूद्वीप में रत्नप्रभा के बहुसमभूमि भाग में मेरु के बीच आठ रुचक प्रदेश हैं। वहाँ गोस्तनाकार चार प्रदेश ऊपर और चार प्रदेश नीचे है। यही रुचक समस्त दिशाओं तथा विदिशाओं के प्रवर्तक माने गये हैं और ये समस्त तिर्यग्लोक के मध्य भाग के अवधारक हैं।

इसके बाद इन दोनों सर्वलघु क्षुल्लक प्रतरों के ऊपर और-और प्रतर तिर्यक् अंगुल के असंख्यातवें भाग की वृद्धि से तब तक बढ़ते चले जाते हैं जब तक कि उर्ध्वलोक का मध्य भाग नहीं आ जाता है। यहाँ प्रतर का प्रमाण पांच रज्जु होता है। इस प्रतर के ऊपर भी और-और प्रतर तिर्यक् अंगुल के असंख्यातवें भाग की हानि से घटते हुए चले जाते हैं। इस तरह ये तब तक घटते जाते हैं जब तक कि लोक के अन्त में एक रज्जु प्रमाण वाला प्रतर नहीं आ जाता है। इस तरह ऊर्ध्वलोक के मध्यवर्ती सर्वोत्कृष्ट पांच रज्जु प्रमाण वाले प्रतर से लगातार अन्य उपरितन और अधस्तन प्रतर क्रम-क्रम से घटते बतलाये गये हैं। ये सब क्षुल्लक प्रतर हैं। ये क्षुल्लक प्रतर लोक के अन्त में और तिर्यग् लोक में एक-एक रज्जु प्रमाण वाले हैं, तथा तिर्यग्लोक के मध्यवर्ती जो सर्व लघु क्षुल्लक प्रतर हैं, उनके नीचे और-और प्रतर तिर्यग् अंगुल के असंख्यातवें भाग की वृद्धि से तब तक बढ़ते हुए चले गये हैं कि जब तक अधोलोक के अन्त में सर्वोत्कृष्ट सात रज्जु प्रमाण वाला प्रतर नहीं आ जाता है। इस सर्वोत्कृष्ट सात रज्जु प्रमाण वाले प्रतर से लेकर दूसरे जो ऊपर के प्रतर हैं वे क्रम से हीयमान प्रतर हैं, वे सब क्षुल्लक प्रतर हैं और इन सब क्षुल्लक प्रतरों की अपेक्षा तिर्यग्लोक के मध्य में रहा हुआ जो प्रतर है वह सर्वलघु क्षुल्लक प्रतर है।

यहाँ चूर्णिकार, हरिभद्र और मलयगिर का एकमत है कि पांचवें देवलोक के ऊपर और नीचे के प्रतर क्रमशः छोटे होते गये हैं यावत् ऊपर लोकांत तक और नीचे रुचक



सातवीं नारकी के चरमान्त में सात रज्जु का विस्तार प्रतर

(चित्र : चौदह रज्जु लोक में ऊर्ध्वलोकवर्ती

सर्वोत्कृष्ट प्रतर एवं अधोलोकवर्ती सर्वोत्कृष्ट प्रतर)

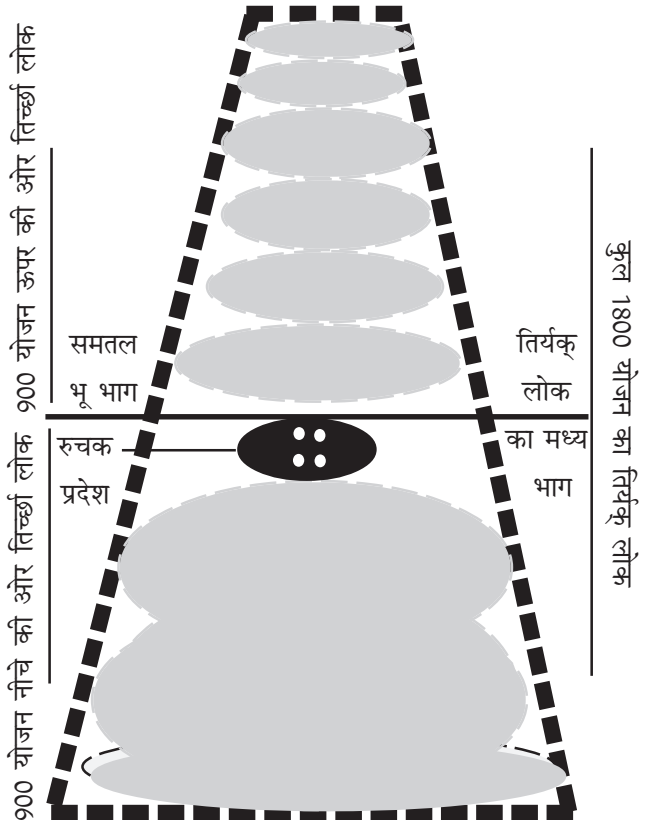
तक के प्रतर क्षुल्लक प्रतर हैं अर्थात् पांच और सात रज्जु के दो प्रतरों को छोड़कर शेष सभी प्रतर क्षुल्लक प्रतर हैं।

तिर्यग् लोक के मध्य में रहे हुए रज्जु प्रमाण वाले सर्वलघु क्षुल्लक प्रतर जो एक रज्जु प्रमाण है वहाँ से लेकर नौ सौ योजन नीचे तक इस रत्नप्रभा पृथ्वी में जितने प्रतर हैं, वे उपरितन क्षुल्लक प्रतर हैं। उनके भी नीचे जहाँ तक अधोलौकिक ग्रामों का सर्वान्तिम प्रतर है वे सब प्रतर अधस्तन क्षुल्लक प्रतर कहलाते हैं। इतने क्षेत्र को ऋजुमति देखता है। मनःपर्यव ज्ञानी उपरितन क्षुल्लक प्रतरों को 900 योजन तक नीचे अधस्तन क्षुल्लक प्रतरों को 1000 योजन तक जानता देखता है।¹⁸⁴

वृत्तिकार एवं चूर्णिकार के अभिप्राय से मनःपर्यवज्ञान के ऊँचे-नीचे विषय क्षेत्र के सम्बन्ध में तीन मत प्रतीत होते हैं।

1. 1900 योजन - जिन मनःपर्यवज्ञानियों को जघन्य ऋजुमति मनःपर्यायज्ञान है, वे अपने जघन्य ऋजुमति मनःपर्याय ज्ञान द्वारा मात्र अंगुल के असंख्येय भाग में ही रहे हुए द्रव्य मन के रूपी स्कन्ध जानते देखते हैं तथा जो उत्कृष्ट ऋजुमति मनःपर्यायज्ञानी हैं, वे अपने उत्कृष्ट ऋजुमति मनःपर्याय ज्ञान द्वारा अढ़ाई-अढ़ाई अंगुल कम सहस्र 1000 योजन गहरे 900 योजन ऊँचे (1900 योजन मोटे) क्षेत्र को जानते देखते हैं। आठ रूचक प्रदेशों के समतल प्रतर से 900 योजन नीचे की ओर पुष्कलावती विजय है। यह विजय मेरु के समतल भूमिभाग से 1000 योजन नीचे की ओर अर्थात् मध्यलोक की सीमा (900 योजन)से और सौ योजन नीचे की दिशा की ओर है। इतने क्षेत्र में रहे हुए संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के मनोगत भावों को मनःपर्यवज्ञानी प्रत्यक्ष जानते हैं। विपुलमति मनःपर्यवज्ञानी भी इसी क्षेत्र को जानते हैं, पर प्रत्येक दिशा में अढ़ाई-अढ़ाई अंगुल क्षेत्र अधिक (विपुल) जानते हैं।

2. 1000 योजन - अधोलोक के उपरितन भाग में रहे हुए क्षुल्लकप्रतर उपरितन कहलाते हैं। वे अधोलोक ग्राम के प्रतर से प्रारंभ करके यावत् तिर्यक् लोक के अन्तिम अधःस्तन प्रतर तक जानने चाहिए तथा तिर्यक् लोक के मध्य भाग से प्रारंभ करके अधोभाग में रहे हुए क्षुल्लक प्रतर अधस्तन कहलाते हैं। इसलिए जो उपरितन और अधस्तन है उन उपरितन अधस्तन को जितना ऋजुमति देखता है, वह क्षेत्र लगभग 1000 योजन का होता है।¹⁸⁵



चित्र : मेरुपर्वत के समतल भू भाग के नीचे रहे हुए रुचक प्रदेश

184. मलयगिरि, नंदीवृत्ति का भावार्थ पृ. 110

185. अथवा अधोलोकस्योपरितनभाग-वर्त्तिनः क्षुल्लकप्रतरा उपरितना उच्चन्ते, ते चाधोलौकिकग्रामवर्त्तिप्रतरादारभ्य तावदवसेया यावत्तिर्यग्लोकस्यान्तिमोऽधस्तनप्रतरः तथा तिर्यग्लोकस्स मध्यभागादारभ्याधोभागवर्त्तिनः क्षुल्लकप्रतरा अधस्तना उच्चन्ते, तत उपरितनाश्चाधस्तनाश्च उपरितनाधस्तनाः तान् यावदृजुमतिः पश्यति। - मलयगिरि, नंदीवृत्ति का भावार्थ, पृ. 110

3. 1800 योजन – मध्य लोक 1800 योजन का बाहल्य है अर्थात् मेरु पर्वत के समतल भूमिभाग से 900 योजन ऊपर ज्योतिष्क मण्डल के चरमान्त तक और 900 योजन नीचे क्षुल्लक प्रतर तक जहाँ लोकाकाश के 8 रुचक प्रदेश हैं, वहाँ तक मध्य लोक कहलाता है। अर्थात् मनःपर्यवज्ञानी यहाँ तक जानता है, ऐसा कुछ आचार्य मानते हैं, लेकिन ऐसा मानने से नीचे अधोलौकिकग्रामवर्ती संज्ञी पंचेन्द्रिय के भावों को वह मनःपर्यवज्ञानी नहीं जान पायेगा, इसलिए 1900 योजन तक जानता है ऐसा मानना उचित है।¹⁸⁶

नंदीसूत्र के मूल पाठ में ‘अंतोमणुस्सखित्ते’ शब्द आया है, जिसका अर्थ है मनुष्य क्षेत्र के भीतर। जैसे अन्तर्मुहूर्त शब्द से एक मुहूर्त के अन्दर का समय लेते हैं, उसी प्रकार अन्तोमणुस्स क्षेत्र में मनुष्य क्षेत्र के अन्दर अर्थात् अढ़ाई अंगुल कम क्षेत्र का ग्रहण होता है। ऋजुमति मनःपर्यवज्ञानी इस अन्तः मनुष्य क्षेत्र (अढ़ाई अंगुल कम) को तथा विपुलमति मनःपर्यवज्ञानी सम्पूर्ण मनुष्य क्षेत्र को जानता है।

अंगुल का प्रमाण उत्सेधांगुल से लेना चाहिए। मलयगिरि का भी यही कथन है।¹⁸⁷ यहां पर चारों दिशाओं में ही अढ़ाई अंगुल अधिक समझना चाहिए। किन्तु ऊपर नीचे नहीं, लेकिन नंदीचूर्णि में और हरिभद्र नंदीवृत्ति में अब्भहियर शब्द से आयाम और विष्कंम में अढ़ाई अंगुल और विउलतरं शब्द से बाहल्य का ग्रहण किया है। जिससे ऊपर नीचे भी अढ़ाई अंगुल अधिक लेने से ही बाहल्य अधिक होता है।

दिगम्बर परम्परा के अनुसार – मनःपर्यवज्ञान के विषय की क्षेत्र मर्यादा मनुष्य क्षेत्र है। षट्खण्डागम आदि ग्रंथों में इसके लिए मानुष्योत्तरशैल शब्द का प्रयोग मिलता है।¹⁸⁸ दिगम्बर परम्परा में कुछ आचार्य मानुष्योत्तरशैल का ऐसा अर्थ घटित करते हैं कि मनःपर्यवज्ञानी जिसके मन को जानता है, वह जीव और उसके चिंतन किये हुए अर्थ मानुष्योत्तरशैल के अन्दर के भाग में होना जरूरी है। तो कुछ आचार्यों का मानना है कि वे जीव मानुष्योत्तरशैल के अन्दर के भाग में होना चाहिए, लेकिन उसके द्वारा चिंतन किया गया अर्थ (मनोवर्णना के पुद्गल) लोकांत तक चला गया हो तो भी उसको मनःपर्यवज्ञानी विषय बना सकता है। ध्वलाटीकाकार ने उक्त दोनों मतों का खण्डन किया है –

प्रथम मत का खण्डन – मनःपर्यवज्ञान को मानुष्योत्तरशैल की मर्यादा में बांधना अयोग्य है। क्योंकि यह मर्यादा स्वीकार की जाए तो इसका अर्थ यह होगा कि मानुष्योत्तरशैल मनःपर्यवज्ञान में रुकावट करता है, लेकिन मनःपर्यवज्ञान निरपेक्ष ज्ञान है इसलिए ऐसे स्वतंत्र अतीन्द्रिय ज्ञान को मानुष्योत्तर पर्वत का व्यवधान हो नहीं सकता है। अतः यहाँ मानुष्योत्तरशैल को 45 लाख योजन क्षेत्र का उपलक्षण ही मानना चाहिए।

द्वितीय मत का खण्डन – विपुलमति मनःपर्यवज्ञानी मानुष्योत्तरशैल के भीतर रहे हुए जीवों के चिन्तनगत लोकांत तक के अर्थ को जान सकता हो तो लोकांत में रहे हुए (जीवों के) चित्त को वह क्यों नहीं जान सकते हैं? यदि इसको स्वीकार करें तो फिर क्षेत्र की मर्यादा मानुष्योत्तरशैल तक नहीं

186. अन्ये त्वाहु अधोलोकस्योपरिवर्तिन उपरितनाः, ते च सर्वगतिर्यग्लोकवर्तिनो यदिवा तिर्यग्लोकस्याधो नवयोजनशतवर्तिनो द्रष्टव्या, ततः तेषामेवोपरितनानां क्षुल्लकप्रतराणां सम्बन्धिनो ये सर्वान्तिमाधस्तनाः क्षुल्लकप्रतराः तान् यावत्पश्यति, अस्मिंश्च व्याख्याने तिर्यग्लोकं यावत्पश्यतीत्यापद्यते, तच्च न युक्तम्, अधोलौकिकग्रामवर्तिसंज्ञिपंचेन्द्रिय-मनोद्रव्यापरिच्छेदप्रसंगात् अथवा (च) अधोलौकिकग्रामेष्वपि संज्ञिपञ्चेन्द्रियमनोद्रव्याणि परिच्छिनन्ति।-मलयगिरि, नंदीवृत्ति, पृ. 110-111

187. तानि च ज्ञानाधिकारादुच्छ्रयाङ्गुलानि द्रष्टव्यानि। मलयगिरि, नंदीवृत्ति, पृ. 111

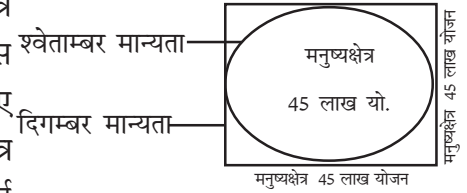
188. उक्कस्सेण माणुसुत्तरसेलस्य अब्भंतरादो णो बहिद्धा। - षट्खण्डागम, सूत्र 5.5.76, पृ. 342

बन सकती है। इसलिए मानुषोत्तरशैल के उल्लेख को उपलक्षण तरीके से स्वीकार करके मनःपर्याय की क्षेत्र मर्यादा 45 लाख योजन मानना युक्ति संगत है।¹⁸⁹

उपर्युक्त कथन का सारांश यह है कि 45 लाख योजन जो मनःपर्यवज्ञान का क्षेत्र है उस क्षेत्र के भीतर स्थित होकर चिन्तन करने वाले जीवों के मनोभाव (मनोवर्गणा) यदि उस क्षेत्र के भीतर होते हैं तो जानता है, अन्यथा नहीं जानता है।

गोम्मटसार के अनुसार - ऋजुमति का विषयभूत जघन्य क्षेत्र गव्यूति पृथक्त्व अर्थात् दो-तीन कोस है और उत्कृष्ट क्षेत्र योजन पृथक्त्व अर्थात् सात-आठ योजन है। विपुलमति का विषय भूत जघन्य क्षेत्र योजन पृथक्त्व अर्थात् आठ-नौ योजन है और उत्कृष्टक्षेत्र मनुष्यलोक है।

विपुलमति का विषय उत्कृष्ट क्षेत्र का कथन करते हुए जो मनुष्यक्षेत्र कहा है, वह मनुष्यक्षेत्र विष्कम्भ का निश्चायक है, गोलाई का नहीं अर्थात् मनुष्यक्षेत्र जो गोलाकार रूप है, उसका यहाँ ग्रहण नहीं करके पैतालीस लाख योजन प्रमाण चौकोर घनप्रतर रूप ग्रहण करना चाहिए और यही मनःपर्यवज्ञान का उत्कृष्ट विषयक्षेत्र है। इस क्षेत्र की लम्बाई-चौड़ाई पैतालीस लाख योजन है, किन्तु ऊँचाई पैतालीस लाख से कम की होती है। इतना क्षेत्र लेने का कारण यह है कि मानुषोत्तर पर्वत के बाहर चारों कोनों में स्थित देवों और तिर्यचों के द्वारा चिन्तित अर्थ को भी उत्कृष्ट विपुलमति जानता है।¹⁹⁰



धवलाटीका के अनुसार जो उत्कृष्ट मनःपर्यवज्ञानी मानुषोत्तर पर्वत और मेरुपर्वत के मध्य में मेरुपर्वत से जितनी दूर होगा उस ओर उसी क्रम से उसका क्षेत्र मानुषोत्तर पर्वत के बाहर बढ़ जायेगा और दूसरी ओर मानुषोत्तर पर्वत का क्षेत्र उतना ही दूर रह जायेगा। इस प्रकार दिगम्बर परम्परा में मनःपर्यवज्ञान के क्षेत्र का कथन है।

श्वेताम्बर परम्परा में मानुषोत्तर पर्वत को गोलाकार के रूप में ही ग्रहण किया है। क्योंकि नंदीसूत्र में 'अंतोमणुस्सखित्ते' बताया है। यदि घन आदि रूप क्षेत्र बताना होता तो आगमकार इसका स्पष्ट उल्लेख कर देते साथ ही अन्य किसी भी श्वेताम्बर टीका साहित्य में इस प्रकार का उल्लेख प्राप्त नहीं होता है।

समीक्षा - नंदीसूत्र में 'अंतोमणुस्सखित्ते' का स्पष्ट उल्लेख है, साथ ही षट्खण्डागम मूल में भी 'माणुसुत्तरसेलस्य अब्भंतरादो' शब्द दिया है। जब नंदीसूत्र और षट्खण्डागम के मूल पाठ में मनुष्यक्षेत्र के अन्दर के क्षेत्र का स्पष्ट उल्लेख है तो भी वीरसेनाचार्य ने मानुषोत्तरशैल के स्पष्ट उल्लेख को उपलक्षण से ग्रहण करना बताया है, लेकिन उपक्षलण कैसे समझना इसका स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है। इसलिए यह उचित प्रतीत नहीं होता है। अतः श्वेताम्बर मान्यतानुसार मनःपर्यवज्ञानी गोलाकार मनुष्य क्षेत्र में रहे हुए या आए हुए और जो ऊँचे और नीचे क्षेत्र की अपेक्षा कुल 1900 योजन क्षेत्र में रहे हुए संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के मनोगत भावों का जानता है, यही मक ज्यादा उचित प्रतीत होता है।

189. तेसिमहिप्पाएण लोगंतट्ठियवरथा वि पच्चकखो ।... पणदालीसजोयणलक्खब्भंतरे दूठाइदूण चितयंतजीवेहि चिंतिज्जमाणं दव्वं

जदि मणपज्जवणाणपहाए ओट्ठद्धखेत होदि तो जाणादि....। धवलाटीका, पृ. 13, सूत्र 5.5.78, पृ. 343-44

190. गोम्मसार, जीवकांड, गाथा 455- 456, पृ. 673

मनःपर्यवज्ञान का काल

नंदीसूत्रकार, जिनभद्रगणि और नंदी के टीकाकार हरिभद्र, मलयगिरि आदि श्वेताम्बर परम्परावादी आचार्य मनःपर्यवज्ञान का उत्कृष्ट काल भूत, भविष्यकालीन पल्योपम के असंख्यभाग जितना मानते हैं।¹⁹¹ षट्खण्डागमकार पुष्पदत्त भूतबलि और सर्वार्थसिद्धिकार पूज्यपाद आदि दिगम्बर परम्परावादी आचार्य मनःपर्यव का उत्कृष्ट काल असंख्यात भवों जितना स्वीकार करते हैं।¹⁹² दिगम्बर परम्परा में काल की विशेष स्पष्टता की गई है। इस प्रकार दोनों परम्पराओं में बताया गया—काल लगभग समान है, लेकिन कथन शैली भिन्न-भिन्न है।

विशेषावश्यकभाष्य के अनुसार मनःपर्यवज्ञानी मनोद्रव्य की भूत और भविष्यकाल संबंधी पल्योपम के असंख्यातवें भाग जितनी पर्यायों को जानता है।¹⁹³ मनःपर्यवज्ञानी मन का साक्षात्कार करता है, ऐसा एकांत रूप से मानना उचित नहीं है। वस्तुतः मनःपर्यवज्ञानी को मन की पर्यायों का ही साक्षात्कार होता है। यहां उत्कृष्ट काल का तात्पर्य यह है कि जिन मनोद्रव्यों को मनःपर्यवज्ञानी ने ग्रहण किया है, वे मनोद्रव्य रूप से ही भूतकाल एवं भविष्यकाल में रहने वाले हैं, तो पल्योपम के असंख्यातवें भाग तक की उनकी भूत पर्याय एवं पल्योपम के असंख्यातवें भाग तक की उनकी भविष्यत् पर्याय की जानने की मनःपर्यवज्ञानी की उत्कृष्ट क्षमता है।

भगवती सूत्र (शतक 8 उ. 2) और नंदीसूत्र में कथन है कि – ऋजुमति जघन्य से पल्योपम के असंख्येय भाग भूत कालीन और भविष्य कालीन मनःपर्यायों को जानते-देखते हैं और उत्कृष्ट से भी पल्योपम के असंख्येय भाग भूत और भविष्य कालीन मनःपर्यायों को जानते-देखते हैं। उसी काल को विपुलमति अधिकता से, विपुलता से, विशुद्धता से और वितिमिरता से जानते देखते हैं।¹⁹⁴

जघन्य ऋजुमति मनःपर्याय ज्ञान बीते हुए पल्योपम के असंख्येय भाग में द्रव्यमन की कैसी पर्यायें रहीं और बीतने वाले पल्योपम के असंख्येय भाग में द्रव्यमन की कैसी पर्यायें रहेंगी—यह प्रत्यक्ष जानते हैं और उस पर अनुमान लगा कर बीते हुए पल्योपम के असंख्येय भाग में उक्त क्षेत्र में किसी संज्ञी तिर्यच, मनुष्य और देव के कैसे मनोभाव रहे और बीतने वाले पल्योपम के असंख्येय भाग में कैसे मनोभाव रहेंगे, यह परोक्ष देखते हैं।

उत्कृष्ट ऋजुमति मनःपर्यायज्ञानी भी इतने ही काल के भूत और भविष्य के मनोभावों को जानते हैं। परन्तु जघन्य ऋजुमति मनःपर्यायज्ञानी जिस पल्योपम के असंख्यातवें भाग को जानते-देखते हैं, वह बहुत छोटा समझना चाहिए। संभव है वह आवलिका का असंख्यातवां भाग ही हो, क्योंकि 'क्षेत्र से अंगुल का असंख्यातवां भाग जानते हैं' ऐसा कहा है तथा उत्कृष्ट ऋजुमति मनःपर्याय ज्ञान वाले जिस पल्योपम के असंख्यातवें भाग को जानते हैं, वह बहुत बड़ा समझना चाहिए, क्योंकि उसमें असंख्यात वर्ष होते हैं। जिन मनःपर्यवज्ञानियों को मध्यम ऋजुमति मनःपर्यायज्ञान है, वे जघन्य ऋजुमति मनःपर्यायज्ञान की अपेक्षा कोई असंख्यातवें भाग अधिक काल, कोई संख्यातवें भाग अधिक

191. युवाचार्यमधुकरमुनि, नंदीसूत्र, पृ. 49, विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 813

192. उक्कस्सेण असंखेज्जाणि भवग्गहणाणि। षट्खण्डागम, पु. 13, सू. 5.5.68, पृ. 342, पु. 9 सू. 4.1.11, पृ. 69।

उत्कर्षेणासंख्येयानि गत्यागत्यादिभिः प्ररूपयति। – सर्वार्थसिद्धि 1.23, पृ. 92, तत्त्वार्थराजवार्तिक 1.23.10, पृ. 58

193. भूतऽतीत भविष्यति चाऽनायते पल्योपमासंख्येयभागरूपे काले ये तेषां मनोद्रव्याणां। –विशेषा०भाष्य, गाथा 813, पृ. 332

194. कालओ णं उज्जुमई जहण्णेणं पलिओवमस्स असंखिज्जयभागं, उक्कोसेण वि पलिओवमस्स असंखिज्जयभागं अतीयमणागं वा कालं जाणइ पासइ, तं चेव विउलमई अब्भहियतरागं विउलतरागं विसुद्धतरागं वितिमिरतरागं जाणइ पासइ।

काल, कोई संख्यातवें गुणा अधिक काल और कोई असंख्यातवें गुणा अधिक काल जानते हैं। भगवती सूत्र में भी क्षेत्र प्रमाण का इसी प्रकार वर्णन किया गया है।¹⁹⁵ यहाँ पर यह विशेष है कि पल्योपम के असंख्यातवें भाग के बाद मन के पुद्गल इतने क्षीण हो जाते हैं कि मनःपर्यवज्ञानी आगे की पर्यायों को नहीं जान सकते हैं।

प्रश्न - मनःपर्यवज्ञानी साक्षात् वर्तमान की पर्याय को जानकर भूत और भविष्य की पर्यायों को अनुमान से जानते हैं अथवा मात्र भूत और भविष्य की ही पर्याय को जानते हैं, क्योंकि वर्तमान की पर्याय तो एक ही समय की होती है।

उत्तर - जिस प्रकार वचन योग की स्थिति एक समय की होते हुए भी शब्द रूप में आवलिका के असंख्यातवें भाग तक एवं प्रवाह रूप से अन्तर्मुहूर्त तक रहता है, वैसे ही मनोयोग का प्रवाह भी अन्तर्मुहूर्त तक प्रवाहित होता रहता है। मनःपर्यवज्ञानी उन्हीं के द्रव्यों को पकड़कर चिंतन को जान लेते हैं। जैसे कि हम भी शब्दों से भावों को जान लेते हैं। मनःपर्यवज्ञानी उस चिंतन से उन मनोद्रव्य की पल्योपम के असंख्यातवें भाग जितनी भूत, भविष्य की पर्यायों को जान लेते हैं।

षट्खण्डागम के अनुसार ऋजुमति मनःपर्यवज्ञानी जघन्य रूप से दो या तीन भव को जानता है। इसका अभिप्राय यह है कि यदि वर्तमान भव को छोड़ दिया जाये तो दो भवों को तथा वर्तमान भव सहित तीन भवों को और उत्कृष्ट वर्तमान भव के साथ आठ भवों को और वर्तमान भव के बिना सात भवों को जानता है।

विपुलमति मनःपर्यवज्ञान काल की अपेक्षा जघन्य रूप से सात-आठ भव और उत्कृष्ट रूप से असंख्यात भवों को प्रत्यक्ष जानता है।¹⁹⁶ कषायपाहुड, महाबंध, षट्खण्डागम एवं गोम्मटसार में भी इसी प्रकार काल का प्रमाण निर्देश किया गया है।¹⁹⁷

प्रश्न - नंदीसूत्र में जो मनःपर्यवज्ञान का उत्कृष्ट काल पल्योपम का असंख्यातवें भाग जितना बताया है, इतने लम्बे काल में किसी जीव ने असंज्ञी का भव कर लिया, तो मनःपर्यवज्ञानी उस जीव की कितने काल तक की मन की पर्यायों को जानेगा?

उत्तर - मनःपर्यवज्ञानी तो मनोवर्गणा को ही देखता है। चिंतन वाले व्यक्ति को नहीं देखता है, इसलिए बीच में असंज्ञी के भव के आने का प्रश्न ही नहीं रहता है। संज्ञी के भव में ही व्यक्ति मन से सोचता है, असंज्ञी के भव में तो मन ही नहीं होता है। अतः मनःपर्यवज्ञानी अढ़ाई द्वीप में रहे हुई पल्योपम के असंख्यातवें भाग काल तक की चिंतन की गई मन की पर्यायों को जान सकता है। संज्ञी के भव में भी व्यक्ति निरंतर मन से सोचता नहीं। जब-जब मन से सोचता है, उन मन की पर्यायों को ही मनःपर्यवज्ञानी जानता है।

मनःपर्यवज्ञान का भाव

विशेषावश्यकभाष्य के अनुसार मनःपर्यवज्ञानी सभी पर्याय राशि के अनन्तवें भाग जितने रूपादि की उन अनंत पर्यायों को जानते हैं जिनका चिन्तन पर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों ने किया है। लेकिन विशेषावश्यकभाष्य का मन्तव्य है कि मनःपर्यवज्ञानी भाव मन की पर्याय को नहीं जानते हैं। इसका कारण यह है कि भाव मन तो ज्ञान रूप है और ज्ञान अमूर्त है। अमूर्त को छद्मस्थ जान नहीं सकता है। इसलिए चिंतानुगत मनोद्रव्य की पर्यायों को जानते हैं और चिन्तनीय बाह्य घटादि वस्तुओं की पर्याय को नहीं जानते हैं, लेकिन द्रव्य मन से विचार करके बाह्य घटादि पर्यायों को अनुमान से

195. युवाचार्य मधुकरमुनि, भगवतीसूत्र, पृ. 287

196. षट्खण्डागम, पृ. 13, सू. 5.5.74-75, पृ. 338, 342

197. कषायपाहुड, पृ. 19, महाबंध, भाग 1, पृ. 32, षट्खण्डागम पृ. 9 पृ. 68-69, गोम्मटसार, जीवकांड, गाथा 457, पृ. 674

जानते हैं, साक्षात् रूप से नहीं, क्योंकि चिंतन करने वाला तो रूपी अरूपी और उभय प्रकार से वस्तुओं का चिंतन करता है, लेकिन छद्मस्थ अरूपी (अमूर्त) वस्तु को साक्षात् नहीं जान सकता है। इसलिए चिंतनीय वस्तु अनुमान से ही जानी जाती है।¹⁹⁸

भगवतीसूत्र (शतक 8 उ. 2) और नंदीसूत्र के अनुसार ऋजुमति अनन्त भावों को जानते देखते हैं, सर्वभावों के अनन्तवें भाग को जानते देखते हैं। उन्हीं को विपुलमति अधिकतर, विपुलतर, विशुद्धतर और वितिमिरतर जानते देखते हैं।¹⁹⁹

जघन्य ऋजुमति मनःपर्यायज्ञानी द्रव्य मन के प्रत्येक स्कन्ध की संख्यात पर्याय ही जानते हैं, लेकिन मनोद्रव्य के अनन्त स्कन्ध जानते हैं और उनकी अपेक्षा अनन्त पर्यायें जानते हैं। लेकिन यह पर्याय उत्कृष्ट ऋजुमति मनःपर्याय से अनन्तवें भाग मात्र है। उत्कृष्ट ऋजुमति मनःपर्यायज्ञानी द्रव्य-मन के प्रत्येक स्कन्ध की असंख्याता पर्यायों को जानते हैं, तथा द्रव्यमन के अनन्त स्कन्ध जानते हैं, अतः उनकी अपेक्षा अनन्त पर्यायें जानते हैं। वे पर्यायें जघन्य ऋजुमति से अनंतगुणा अधिक हैं, परन्तु द्रव्यमन की जितनी पर्यायें होती हैं, उनका अनंतवाँ भाग मात्र जानते हैं, क्योंकि वे प्रत्येक मनोद्रव्य स्कन्ध की वर्तमान अनन्त पर्यायों को और त्रैकालिक अनंत पर्यायों को नहीं जानते, मात्र कुछ काल की असंख्याता पर्यायों को ही जानते हैं। मध्यम ऋजुमति मनःपर्यायज्ञानी जघन्य मनःपर्याय ज्ञान द्वारा जितनी पर्यायें जानी जाती है, उनसे कोई अनन्तवें भाग अधिक इत्यादि छह स्थान अधिक पर्यायों और उत्कृष्ट मनःपर्यवज्ञान से कोई छह स्थान हीन पर्यायों को जानते हैं।²⁰⁰

षट्खण्डागम के मतानुसार – ऋजुमति भाव की अपेक्षा से जघन्य (एक समय सम्बन्धी औदारिक शरीर की निर्जरा को) और उत्कृष्ट (एक समय सम्बन्धी इन्द्रिय (चक्षु) की निर्जरा को) द्रव्यों के उसके योग्य असंख्यात पर्यायों को जानता है।²⁰¹ इसी प्रकार विपुलमति भाव की अपेक्षा जो-जो द्रव्य ज्ञात हैं, उनकी असंख्यात पर्यायों को जानता है।²⁰²

गोम्मटसार की दृष्टि में भाव से ऋजुमति का जघन्य विषय आवलिका का असंख्यातवां भाग है। उत्कृष्ट भी उतना ही है, किन्तु जघन्य से उत्कृष्ट असंख्यातगुणा अधिक है। उससे विपुलमति का जघन्य विषय असंख्यात गुणा है और उत्कृष्ट असंख्यात लोक जितना है।²⁰³

आचार्य आत्मारामजी महाराज ने नंदीसूत्र की व्याख्या करते हुए मनःपर्यायज्ञान के भाव की विशिष्टता का वर्णन पृष्ठ 119 से 121 तक किया जिसका सार यहां पर प्रस्तुत है –

मनःपर्यवज्ञानी अपनी क्षेत्र मर्यादा में रहे हुए संज्ञी जीवों के मन की पर्यायों को जानता है। समय क्षेत्र में रहे हुए कुल संज्ञी जीव संख्यात ही हो सकते हैं, किन्तु चारों गतिओं के संज्ञी जीव असंख्याता होते हैं, उनके मन की पर्यायों को नहीं जानता है। मन चतुःस्पर्शी होता है। मन का प्रत्यक्ष अवधिज्ञानी भी कर सकता है, किन्तु मन की पर्यायों को मनःपर्यवज्ञानी प्रत्यक्ष रूप से जानता और देखता है। जिसके मन में जिस वस्तु का चिन्तन हो रहा है, उसमें रहे हुए वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श

198. विशेषावश्यक भाष्य बृहद्वृत्ति, गाथा 814

199. भावओ णं उज्जुमई अणंते भावे जाणइ पासइ, सव्वभावाणं अणंतभागं जाणइ पासइ, तं चेव विउलमई अब्भहियतराणं विउलतराणं विसुद्धतराणं वितिमिरतराणं जाणइ पासइ। – पारसमुनि, नंदीसूत्र, पृ. 84

200. प्रज्ञापना सूत्र, भाग 1, पद 5 (जीवपर्याय) पृ. 402

201. षट्खण्डागम, पु. 9, सू. 4.1.10, पृ. 63, 65

202. भावेण जं जं दिट्ठं दव्वं तस्स तस्स असंखेज्जपजाए जाणदि। षट्खण्डागम, पु. 9, सू. 4.1.11, पृ. 69

203. आवलिअसंखभागं अवरं च वरं च वरमसंखगुणं। ततो असंखगुणिदं असंखलोगं तु विउलमदी।। – गोम्मटसार, गाथा 458

को तथा उस वस्तु की लम्बाई-चौड़ाई, गोल आदि संस्थान को, जानना भाव कहलाता है अर्थात् जिस संज्ञी जीव के औदयिक आदि भावों से विविध प्रकार के आकार-प्रकार, विविध रंग-बिरंगे धारण करता है, वे सब मन की पर्यायें हैं, इनको वह जानता है और देखता है।

मनःपर्यवज्ञानी किसी बाह्य वस्तु को, क्षेत्र को, काल को तथा द्रव्यगत पर्यायों को नहीं जानता, अपितु जब वे किसी के चिन्तन में आ जाते हैं, तब मनोगत भावों को जानता है। जैसे बन्द कमरे में बैठा हुआ व्यक्ति, बाहर होने वाले विशेष समारोह को तथा उसमें भाग लेने वाले पशु-पक्षी, पुरुष-स्त्री तथा अन्य वस्तुओं को टेलीविजन के द्वारा प्रत्यक्ष करता है, अन्यथा नहीं, वैसे ही जो मनःपर्यवज्ञानी है, जो चक्षु इन्द्रिय से परोक्ष है, उन जीव और अजीव को तभी प्रत्यक्ष कर सकते हैं, जब वे किसी संज्ञी के मन में झलक रहे हों, अन्यथा नहीं। सैकड़ों योजन दूर रहे हुए किसी ग्राम-नगर आदि को मनःपर्यवज्ञानी नहीं देख सकते हैं, लेकिन यदि वही ग्राम आदि किसी के मन में स्मृति के रूप में विद्यमान हैं, तब मनःपर्यवज्ञानी उनका साक्षात्कार कर सकते हैं।

अवधिज्ञानी और मनःपर्यवज्ञानी दोनों रूपी पदार्थों को जानते हैं और मन पौद्गलिक होने से रूपी है तो मनःपर्यवज्ञानी की तरह अवधिज्ञानी भी मन की पर्यायों को क्यों नहीं जानता है? समाधान यह है कि अवधिज्ञानी भी मन की पर्यायों को जान सकता है, लेकिन उसमें झलकते हुए द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव को प्रत्यक्ष नहीं कर सकता, जैसे टेलीग्राम की टिक-टिक पठित और अपठित सभी प्रत्यक्ष करते हैं और कानों में टिक-टिक भी सुनते हैं, परन्तु उनके पीछे क्या आशय है? इसे टेलीग्राम का काम करने वाले ही समझ सकते हैं।

ज्ञान अरूपी है, अमूर्त है जब कि मनःपर्यवज्ञान का विषय रूपी है, तो मनःपर्यवज्ञानी मनोगत भावों को कैसे समझ सकता है? और उन भावों को प्रत्यक्ष कैसे कर सकता है? जबकि भाव अरूपी है, इसका समाधान यह है कि क्षायोपशमिक भाव में जो ज्ञान होते हैं, वे एकान्त अरूपी नहीं होते हैं, कथंचित् रूपी भी होते हैं। एकान्त अरूपी ज्ञान क्षायिक भाव में ही होता है, जैसे औदयिक भाव में जीव कथंचित् रूपी होते हैं, वैसे ही क्षायोपशमिक ज्ञान भी कथंचित् रूपी होते हैं, सर्वथा अरूपी नहीं। जैसे विशेष पठित व्यक्ति भाषा को सुनकर कहने वाले के भावों को और पुस्तकगत अक्षरों को पढ़ कर लेखक के भावों को समझ लेता है, वैसे ही अन्य-अन्य निमित्तों से भी समझे जा सकते हैं। क्योंकि क्षायोपशमिक भाव सर्वथा अरूपी नहीं होता है। जैसे कोई व्यक्ति स्वप्न देख रहा है, उसमें क्या दृश्य देख रहा है? किससे क्या बातें कर रहा है? क्या खा रहा है और क्या सूँघ रहा है? इत्यादि उस सुप्त व्यक्ति की जैसी अनुभूति हो रही है, उसे यथातथ्य मनःपर्यवज्ञानी प्रत्यक्ष प्रमाण से जानते हैं। जैसे स्वप्न एकान्त अरूपी नहीं है, वैसे ही क्षायोपशमिक भाव में मनोगत भाव भी अरूपी नहीं होते हैं। जैसे स्वप्न में द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव साकार हो उठते हैं, वैसे ही चिन्तन (मनन) आदि के समय मन में द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव साकार हो उठते हैं। इससे मनःपर्यवज्ञानी को जानने-देखने में सुविधा हो जाती है।

जाणइ पासइ की उत्पत्ति के संबंध में विविध मत

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के वर्णन सूत्र में 'जाणइ' और 'पासइ' इन दो क्रियाओं का प्रयोग हुआ है। यहाँ 'जाणइ' का अर्थ जानना और 'पासइ' का अर्थ देखना किया है। विशेष रूप से इनका अर्थ करे तो जाणइ का अर्थ होता है ज्ञान रूप अर्थात् वस्तु के विशेष स्वरूप को जानना और पासइ का अर्थ होता है दर्शन रूप अर्थात् वस्तु के सामान्य स्वरूप को जानना। जैन दर्शन में पाँच ज्ञान, तीन अज्ञान और चार दर्शन कुल 12 उपयोग का वर्णन उपलब्ध होता है। पाँच ज्ञानों में से मतिज्ञान,

श्रुतज्ञान, मति-अज्ञान और श्रुत-अज्ञान से जानना तथा चक्षुदर्शन और अचक्षुदर्शन से देखना होता है। अवधिज्ञान और विभंगज्ञान से जानना तथा अवधिदर्शन से देखना माना गया है। इसी प्रकार केवलज्ञान से जानना और केवलदर्शन से देखना मान्य है। लेकिन उपर्युक्त 12 उपयोगों में से मनःपर्यवज्ञान से जानना तो हो जाता है, लेकिन देखने रूप दर्शन नहीं है और सूत्रकार ने मनःपर्यवज्ञान के साथ 'जाणइ' और 'पासइ' इन दोनों क्रियाओं का प्रयोग किया है, तो इसका दर्शन भी होना चाहिए, अतः यहाँ प्रयुक्त 'पासइ' क्रिया के सम्बन्ध में विभिन्न मतान्तर प्राप्त होते हैं, उन्हीं की यहाँ पर चर्चा की जा रही है।

प्रश्न - जैसे अवधिज्ञानी, अवधिज्ञान से जानते हैं और अवधिदर्शन से देखते हैं? उसी प्रकार मनःपर्यवज्ञानी क्या मनःपर्याय ज्ञान से जानते हैं और मनःपर्याय दर्शन से देखते हैं?

उत्तर - नहीं, क्योंकि छद्मस्थ जीवों का उपयोग तथा-स्वभाव से मन की पर्यायों की विशेषताओं को जानने की ओर ही लगता है, मन की पर्यायों के अस्तित्व मात्र को जानने की ओर नहीं लगता। अतएव मनःपर्यायज्ञान रूप ही होता है, दर्शन नहीं रूप होता, क्योंकि मनःपर्यवज्ञान विशिष्ट क्षयोपशम के कारण उत्पन्न होता है। इसलिए वस्तु के विशेष स्वरूप को जानता है, सामान्य स्वरूप को नहीं, अतः यह ज्ञानरूप ही होता है, दर्शन रूप नहीं। यह भाष्यकार और टीकाकार का मत है।²⁰⁴ साथ में ही भाष्यकार ने विशेषावश्यकभाष्य में इस सम्बन्ध में बिना नामोल्लेख के कुछ आचार्यों के मत दिये हैं और उनका खण्डन भी किया है, जो निम्न प्रकार से हैं-

1. मनःपर्यवज्ञानी अचक्षुदर्शन से देखता है

प्रश्न - विशेषावश्यकभाष्य गाथा में 814 'द्वमणोपजाए जाणइ पासइ' में 'पासइ' शब्द दिया है, अतः मनःपर्यवज्ञान का दर्शन कहने में क्या बाधा है?

उत्तर - कुछ आचार्यों के मत से श्रुतज्ञानी भी अचक्षुदर्शन से देखते हैं इसका उल्लेख विशेषावश्यकभाष्य की गाथा 553 में किया गया है कि "उपयोग युक्त श्रुतज्ञानी सभी द्रव्यादि को अचक्षुदर्शन से देखते हैं।" (भाष्यकार ने गाथा 554 में इस मत का खण्डन किया है।)²⁰⁵ इसी प्रकार मनःपर्यवज्ञानी भी अचक्षुदर्शन से देखता है। जैसे कि घट-पटादि अर्थ का चिंतन करने वाले व्यक्ति के मनोद्रव्य को मनःपर्यवज्ञानी प्रत्यक्ष से जानता है और उसी द्रव्य को मन से (मन सम्बन्धी) अचक्षुदर्शन से विचार करता है। इसलिए मनःपर्यवज्ञानी, मनःपर्यवज्ञान से जानता है और अचक्षुदर्शन से देखता है। इसी अपेक्षा से देखता है, ऐसा कहा है।

प्रश्न - मतिज्ञान और श्रुतज्ञान परोक्ष ज्ञान है। इसीलिए श्रुतज्ञानी परोक्ष से पदार्थ को जानता है। इसी प्रकार अचक्षुदर्शन भी मतिज्ञान का भेद होने से परोक्ष से ही पदार्थ को जानता है। श्रुतज्ञान के विषयभूत मेरुपर्वत-देवलोक आदि परोक्ष पदार्थों में अचक्षुदर्शन होता है। अतः अचक्षुदर्शन के भी श्रुतज्ञान का आलम्बन होने से दोनों समान विषय वाले हैं। लेकिन अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान और केवलज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान के भेद होते हैं। इसलिए मनःपर्यवज्ञान प्रत्यक्ष को विषय करता है। लेकिन उपर्युक्त प्रसंग में परोक्ष अर्थ का विषय करने वाले अचक्षुदर्शन की प्रत्यक्ष अर्थ का विषय करने वाले मनःपर्यवज्ञान में किस प्रकार से प्रवृत्ति होगी, क्योंकि दोनों का विषय भिन्न-भिन्न है?

204. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 814 की बृहद्वृत्ति का भावार्थ

205. उवउत्तो सुयनाणी, सच्चं दव्वाइ जाणइ जहत्थं। पासइ य केइ सो पुण, तमचक्खुदंसणेणं ति।।

तेसिमचक्खुदंसणसाण्णाओ कंहं न मइनाणी। पासइ, पासइ व कंहं सुयनाणी किंको भेओ।।

उत्तर - यदि परोक्ष अर्थ में अचक्षुदर्शन की प्रवृत्ति मान सकते हैं, तो प्रत्यक्ष अर्थ में तो विशेष तरीके से माननी चाहिए, क्योंकि चक्षुदर्शन से जानने योग्य घट आदि रूप प्रत्यक्ष अर्थ उस (घटादि) सम्बन्धी अचक्षुदर्शन में विशेष अनुग्राहक (ग्रहण करने वाला) है। इस कारण यहाँ मनोद्रव्य रूप अर्थ को प्रत्यक्ष रूप से ग्रहण करते हुए मनःपर्यवज्ञान प्रत्यक्ष से युक्त है और अचक्षुदर्शन तो परोक्ष अर्थ को ग्रहण करता है इसलिए उसमें (अचक्षुदर्शन) प्रत्यक्षपना नहीं होते हुए भी मनःपर्यवज्ञान का अनुग्राहक होता है।

प्रश्न - यदि ऐसा स्वीकार करेंगे तो मनःपर्यवज्ञान को प्रत्यक्ष मानने में विरोध आएगा।

उत्तर - जिस प्रकार अवधिज्ञान वाले चक्षुदर्शन और अचक्षुदर्शन से परोक्ष अर्थ को प्रत्यक्ष देखते हुए उसके प्रत्यक्षपने में कोई विरोध नहीं आता है। इसी प्रकार मनःपर्यवज्ञानी मनःपर्यवज्ञान से मनोद्रव्य की पर्यायों को साक्षात् रूप से जानते हैं और अचक्षुदर्शन से परोक्ष रूप से देखते हैं।²⁰⁶

नंदी हारिभद्रीय वृत्ति में भी ऐसा उल्लेख मिलता है। मनःपर्यव दर्शन स्वतंत्र रूप से नहीं बताया गया है, तब 'पश्यति' का प्रयोग क्यों? अचक्षुदर्शन नामक मनरूप नोइन्द्रिय के द्वारा यह दर्शन का विषय बनता है, इसलिए दर्शन सम्भव है। कोई व्यक्ति घट का चिंतन कर रहा है। मनःपर्यवज्ञानी मनोद्रव्यों को साक्षात् जानता है और मानस अचक्षुदर्शन से वह देखता है। इसलिए सूत्रपाठ में 'पासइ' का प्रयोग हुआ है। एक ही मनःपर्यवज्ञानी प्रमाता के मनःपर्यवज्ञान के बाद ही मानस अचक्षुदर्शन होता है। वह मनःपर्यवज्ञान से मनोद्रव्य का जानता है तथा मानस अचक्षुदर्शन से उन्हीं को देखता है। वह विशेष उपयोग की अपेक्षा से जानता है, सामान्य अर्थोपयोग की अपेक्षा से देखता है।²⁰⁷ लेकिन भाष्याकार ने इसका निषेध गाथा 815 किया है।

सो य किर अचक्खुदंसणेण पासइ जहा सुयन्नाणी।

जुत्तं सुए परोक्खे, न उ पच्चक्खे मणोनाणे।।815।।

2. मनःपर्यवज्ञानी अवधिदर्शन से देखता है

कुछेक आचार्यों का ऐसा मानना है कि मनःपर्यवज्ञानी, मनःपर्यवज्ञान से जानता है और अवधिदर्शन से देखता है। लेकिन यह उचित प्रतीत नहीं होता है, क्योंकि मनःपर्यवज्ञानी के अवधिदर्शन होता है अर्थात् मनःपर्यवज्ञानी के नियम से अवधिज्ञान और अवधिदर्शन होता है, ऐसा उल्लेख आगमों में कहीं भी प्राप्त नहीं होता है। इसके विपरीत आगमों में उल्लेख प्राप्त होता है कि जीवों में अवधिज्ञान के बिना मति, श्रुत और मनःपर्यवज्ञान ये तीन ज्ञान भी हो सकते हैं। जैसेकि "हे भगवन्! मनःपर्यवज्ञान लब्धि वाले-जीव ज्ञानी होते हैं कि अज्ञानी? हे गौतम! वे ज्ञानी होते हैं, अज्ञानी नहीं होते हैं। उनमें से कुछेक तीन ज्ञान वाले होते हैं, तो कुछेक चार ज्ञान वाले होते हैं। जो तीन ज्ञान वाले होते हैं, उनके मति, श्रुत और मनःपर्यवज्ञान होते हैं और जो चार ज्ञान वाले होते हैं, उनके मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यवज्ञान होते हैं।"²⁰⁸ इस प्रमाण से मनःपर्यवज्ञानी के अवधिज्ञान और अवधिदर्शन की नियमा नहीं है। इसलिए जो ऐसा कहते हैं कि मनःपर्यवज्ञानी अवधिदर्शन से देखता है, तो उनका कथन उचित नहीं है।

प्रश्न - यदि ऐसा मानना अयुक्त है तो इसकी जगह मनःपर्यवज्ञान का भी दर्शन मान लिया जाए तब मनःपर्यवदर्शन से ही मनःपर्यवज्ञानी देखता है, ऐसा समाधान मिल जायेगा।

206. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 815-816 की टीका का भावार्थ

207. नंदीसूत्रम्, प्राकृत ग्रन्थ परिषद्, वाराणसी 5, सन् 1966, पृ. 122

208. युवाचार्य मधुकरमुनि, भगवतीसूत्र, शतक 8 उ. 2, पृ. 269

उत्तर - चक्षु आदि चार प्रकार के दर्शन के अलावा पांचवां मनःपर्यवदर्शन आगमों में निरूपित नहीं है। आगम में कहा है कि “कइविहे णं भंते! दंसणे पण्णते? गोयमा! चउव्विहे, तं जहा - चक्खुदंसणे, अचक्खुदंसणे, ओहिदंसणे, केवलदंसणे” अर्थात् “हे भगवन्! कितने प्रकार के दर्शन कहे गये हैं। हे गौतम! चार प्रकार के दर्शन कहे गये हैं - चक्षु, अचक्षु, अवधि और केवल दर्शन।” इस प्रकार से मनःपर्यवज्ञान के दर्शन का अभाव होने से मनःपर्यवज्ञानी मनःपर्यव दर्शन से देखता है, ऐसा कहना भी उचित नहीं है।²⁰⁹

3. विभंग दर्शन की तरह मनःपर्यव दर्शन भी अवधि दर्शन है

कुछेक आचार्यों का मानना है कि जिस प्रकार मिथ्यादृष्टि जीव के विभंगज्ञान होता है, उसके विभंगदर्शन भी होता है, जिसको अवधि दर्शन कहा जाता है। उसी प्रकार मनःपर्यवज्ञानी का मनःपर्यवदर्शन, अवधिदर्शन ही है अर्थात् मनःपर्यवदर्शन का दूसरा नाम अवधिदर्शन है। जैसे चार दर्शनों के अतिरिक्त पांचवां दर्शन विभंगदर्शन नहीं बता कर उसका समावेश अवधिदर्शन में कर लिया गया है। वैसे ही मनःपर्यवदर्शन को भी अवधिदर्शन में समाहित कर लिया गया है और उसी से मनःपर्यवज्ञानी देखता है। लेकिन ऐसा जो कहते हैं उनका कहना भी आगम के विपरीत है। क्योंकि भगवती सूत्र शतक 8 उद्देशक 2 (आशीविष नामक उद्देशक) में मनःपर्यवज्ञान में दो या तीन दर्शन कहे गये हैं। दो दर्शन हो तो चक्षु-अचक्षुदर्शन तथा तीन दर्शन हो तो चक्षु-अचक्षु और अवधिदर्शन पाये जाते हैं। क्योंकि जिसमें मति-श्रुत और मनःपर्यवज्ञान हो, उसके चक्षु-अचक्षु दो दर्शन होते हैं और जिसमें अवधि सहित चार ज्ञान हों, उसके अवधि सहित तीन दर्शन होते हैं। इसलिए मनःपर्यवज्ञान वाले के नियम से अवधिदर्शन होता है, ऐसा कहना आगम विरुद्ध है। यदि मनःपर्यव ज्ञान वाले के अवधिदर्शन होता है, तो मति-श्रुत और मनःपर्यवज्ञान इन तीन ज्ञान वालों के भी निश्चय से तीन दर्शन होना चाहिए, न कि दो दर्शन। लेकिन इनमें दो ही दर्शन बताये हैं। जबकि विभंगज्ञानी के नियम से तीन दर्शन बताये हैं। इसलिए विभंगदर्शन की तरह मनःपर्यवदर्शन का अवधिदर्शन में समावेश हो गया है, ऐसा मानना गलत है।²¹⁰ साथ ही आगमों में जहाँ भी विभंगज्ञान के साथ दर्शन का वर्णन है तो वहाँ उसे अवधिदर्शन बताया गया है, न कि विभंगदर्शन। क्योंकि दर्शन तो सामान्य रूप होता है इसलिए इसमें दृष्टि (सम्यग्दृष्टि, मिथ्यादृष्टि) का फर्क नहीं पड़ता है। दृष्टि का फर्क ज्ञान में पड़ता है।

4. अवधिसहित मनःपर्यवज्ञान वाला जानता और देखता है, जबकि अवधिरहित मनःपर्यवज्ञान वाला सिर्फ जानता है

कुछेक आचार्यों का मानना है कि जो मनःपर्यवज्ञानी अवधिज्ञान सहित चार ज्ञान वाले होते हैं, वे मनःपर्यवज्ञान से जानते हैं और अवधिदर्शन से देखते हैं और जो मनःपर्यवज्ञानी अवधिज्ञान रहित तीन ज्ञान वाले होते हैं, वे मनःपर्यवज्ञान से मात्र जानते हैं, लेकिन अवधिदर्शन नहीं होने से देखते नहीं हैं, इसलिए मनःपर्यवज्ञानी एक अपेक्षा अर्थात् संभव मात्र से ही जानते और देखते हैं। ऐसा नंदीसूत्र की टीका में बताया गया है।²¹¹ यदि ऐसा संभव होता तो आगमकार मनःपर्यव के साथ ‘जाणइ’ ‘पासइ’ अथवा ‘जाणइ’ इस प्रकार विकल्प रूप से इन दोनों क्रियाओं का प्रयोग करते, लेकिन ऐसा वर्णन प्राप्त नहीं होता है। जहाँ भी प्रयोग हुआ है वहाँ इन दोनों क्रियाओं का साथ में ही प्रयोग हुआ है। इसलिए यह मत भी उचित नहीं है।

209. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 817

210. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 818-819

211. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 820 की टीका का भावार्थ

5. मनःपर्यवज्ञान साकार उपयोग होने से उसमें दर्शन नहीं होता है

कतिपय आचार्यों का मानना है कि मनःपर्यवज्ञान का अतिविशिष्ट क्षयोपशम होने से वह साकार (ज्ञान रूप से ही या विशेष को ग्रहण करने वाला होने से) उपयोग रूप में ही उत्पन्न होता है, जिससे वह मात्र ज्ञान होने से जानता है, लेकिन अवधिज्ञान और केवलज्ञान की तरह इसका दर्शन नहीं होने से यह नहीं देखता है। प्रश्न - तो मनःपर्यवज्ञानी देखता है, ऐसा कैसे कह सकते हैं?

उत्तर - मनःपर्यवज्ञान प्रत्यक्ष होने से मनःपर्यवज्ञानी मनःपर्यवज्ञान से देखता है। क्योंकि प्रत्यक्ष होने से विशेष रूप (प्रकार) से देखता है। ऊपर से (सामान्य रूप से) मनःपर्यवज्ञानी देखता है और साकार होने से जानता है। इसलिए दर्शन नहीं होने पर भी मनःपर्यवज्ञानी देखता और जानता है, ऐसा कह सकते हैं।

इस कथन को मूलटीकाकार²¹² ने सही नहीं माना है। मनःपर्यवज्ञान साकार उपयोग रूप होने से उससे दर्शन नहीं होता है और प्रत्यक्ष होने से “जो वस्तु देखी जाय, वह दर्शन है।” इस प्रकार की जो वचन युक्ति कही है वह उचित नहीं है, क्योंकि यह ज्ञान साकार होने से इसमें दर्शन का निषेध किया गया है। फिर भी “जिसको देखा जाय वह दर्शन है” इस व्युत्पत्ति से दर्शन की प्राप्ति होती है। फिर भी “जानता है” इस पद से मनःपर्यवज्ञान का साकार पना ही सिद्ध होता है और “देखता है” यह शब्द दर्शन में रूढ होने से इसका अनाकारपना सिद्ध किया गया है। इस प्रकार परस्पर विरोध की प्राप्ति होने से यह अभिप्राय अयोग्य है।²¹³

यही बात मलयगिरि भी कहते हैं कि विशिष्टतर मनोद्रव्य के ज्ञान की अपेक्षा से ही सामान्य रूप मनोद्रव्य के ज्ञान को व्यवहार में दर्शन कहा गया है। वास्तव में वह भी ज्ञान ही है। क्योंकि सामान्य रूप होने पर भी वह प्रतिनियत मनोद्रव्य को ही देखता है। प्रतिनियत (विशेष) को ग्रहण करने वाला ज्ञान ही होता है, दर्शन नहीं। इसलिए आगम में भी चार ही दर्शन बताये हैं, पांच नहीं, इसलिए मनःपर्यवदर्शन नहीं होता है।²¹⁴

6. आगमानुसार मत

उपर्युक्त मत आगम के अनुसार नहीं होने से वे ग्रहण करने योग्य नहीं हैं। प्रज्ञापनासूत्र के तीसवें पश्यत्ता²¹⁵ पद में मनःपर्यवज्ञान को अच्छी प्रकार से देखने वाला होने से साकार उपयोग विषयक देखने रूप पश्यत्ता कहा गया है। इससे मनःपर्यवज्ञानी ‘देखता है’ ऐसा कहते हैं, क्योंकि जब मनःपर्यवज्ञानी मनःपर्यवज्ञान में उपयोग लगाता है, तब साकार उपयोग ही होता है, अनाकार उपयोग नहीं। उस साकार उपयोग के ही यहाँ दो भेद किए गये हैं - सामान्य और विशेष। ये दोनों ही भेद ऋजुमति और विपुलमति के होते हैं। यहाँ सामान्य का अर्थ विशिष्ट साकार उपयोग और विशेष का अर्थ है विशिष्टतर साकार उपयोग। मनःपर्यवज्ञान से जानने और देखने की दोनों क्रियाएं होती हैं, यही मत आगमानुसार है, इस लिए निर्दोष है।²¹⁶

प्रश्न - यहाँ पर ऋजुमति को सामान्य अर्थ को ग्रहण करने वाला और विपुलमति को विशेषग्रहण करने वाला बताया है। जब ऋजुमति सामान्यग्राही है तब तो वह दर्शन रूप ही हुआ, क्योंकि सामान्य को ग्रहण करने वाला दर्शन होता है। तो फिर ऋजुमति को ज्ञान क्यों कहा?

212. अन्ये त्वाहुः साकारोपयोगान्तःपातित्वान्न तद्दर्शनम्, दृश्यते चानेन प्रत्यक्षत्वादवधिवदिति। एतदपि-न दर्शनम्, दृश्यते चानेन-विरुद्धमुभयधर्मान्वयाभावाद्वा न किञ्चिदिति। - विशेषावश्यक भाष्य, स्वोपज्ञवृत्ति, गाथा 817

213. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 821 की टीका

214. मलयगिरि, नंदीवृत्ति, पृ. 109

215. इसका वर्णन चतुर्थ अध्याय (श्रुतज्ञान) पृ. 290-291 पर कर दिया गया है।

216. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 822

उत्तर – यद्यपि ऋजुमति सामान्यग्राही है, परंतु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि केवल सामान्यग्राही ही है अर्थात् दर्शन रूप है, ऐसा नहीं मानना। क्योंकि यहाँ ज्ञान का अधिकार चल रहा है, इसलिए सामान्यग्राही कहने का इतना ही आशय है कि वह ऋजुमति विशेषों की तो जानता ही है, परंतु विपुलमति जितने विशेषों को जानता है उतने विशेषों को अपेक्षा से अल्पतर जानता और देखता है अर्थात् विपुलमति की अपेक्षा से ऋजुमति सामान्य अर्थात् अल्पविशेषता वाला ज्ञान है। इसको समझाने के लिए घड़े का दृष्टांत दिया गया है। यही बात मलयगिरि ने कही है – “**यतः सामान्यरूपमपि मनोद्रव्याकारप्रतिनियतमेव पश्यति।**”²¹⁷ यहाँ प्रतिनियत को देखा है, वह ज्ञानरूप है दर्शनरूप नहीं है, इसीलिए दर्शनोपयोग (चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन, केवलदर्शन) चार प्रकार का बताया गया है। पांच प्रकार का नहीं, कारण कि मनःपर्यवदर्शन परमार्थतः (सिद्धांत में) संभव नहीं है, क्योंकि ऋजुमति मनःपर्यवज्ञानी मनोद्रव्य से परिणमित मनोवर्गणा के अनंत स्कंधों को मनःपर्यवज्ञानावरण के क्षयोपशम की पटुता के कारण साक्षात् जानता-देखता है, परंतु जीवों द्वारा चिन्तित घटादि रूप परिमाणों को अन्यथानुपत्ति से जानता है। इसलिए यहाँ ‘पासइ’ (देखता है) का भी प्रयोग किया है। इसका कारण यह है कि जिसे विपुलमतिज्ञान है, उसे ऋजुमति ज्ञान भी हो, ऐसा होना नितान्त असंभव है। क्योंकि इन दोनों के स्वामी एक ही नहीं, अपितु भिन्न-भिन्न होते हैं।

आवश्यक वृत्ति में मलयगिरि कहते हैं कि मनःपर्यवज्ञान में क्षयोपशम की पटुता होती है, अतः वह मनोद्रव्य के पर्यायों को ही ग्रहण करता हुआ उत्पन्न होता है। पर्याय विशेष होते हैं। विशेष का ग्राहक ज्ञान है, इसलिए मनःपर्यव ज्ञान ही होता है, मनःपर्यव दर्शन नहीं होता है।²¹⁸

अर्वाचीन विद्वान् पं. कन्हैयालाल लोढा का मत है कि मनःपर्यव ज्ञान से मन की पर्यायें जानी जाती हैं, परन्तु चिंतनीय पदार्थ नहीं जाना जा सकता। मानसिक पर्यायें विकल्प युक्त होती हैं, अतः मनःपर्यव-दर्शन नहीं होता है, कारण कि दर्शन निर्विकल्प होता है।²¹⁹

मनःपर्यवज्ञान के संस्थान

दिगम्बर परम्परानुसार षट्खण्डागम आदि ग्रंथों में अवधिज्ञानावरणीय के क्षयोपशम से आत्म-प्रदेशों के श्रीवत्स, कलश, शंख आदि संस्थान होते हैं, उसी प्रकार मनःपर्यव ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशमगत आत्म-प्रदेशों के संस्थान का कथन क्यों नहीं किया गया है? इसका समाधान है कि मनःपर्यव ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम होने पर विकसित आठ पंखुड़ी युक्त कमल जैसे आकार वाले द्रव्यमन के प्रदेशों का मनःपर्यायज्ञान उत्पन्न होता है, इससे पृथग्भूत इसका संस्थान नहीं होता है²²⁰ तथा अंगोपांग नामकर्म के उदय से मनोवर्गणा रूप स्कन्धों द्वारा हृदयस्थान में मन की उत्पत्ति होती है। वह खिले हुए आठ पाँखुड़ी वाले कमल के समान होती है²²¹ और श्वेताम्बर परम्परा में तो मन की उपस्थिति सम्पूर्ण शरीर में स्वीकृत है, इसलिए मनःपर्यवज्ञान का कोई निश्चित संस्थान नहीं होता है।

समीक्षण

अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष ज्ञान में मनःपर्यवज्ञान दूसरा ज्ञान है। मन की पर्याय को जानना अर्थात् ज्ञान करना मनःपर्यवज्ञान है। मनःपर्यवज्ञान के लिए मनःपर्यव, मनःपर्याय और मनःपर्यय इन तीन शब्दों का प्रयोग होता है।

217. मलयगिरि, नंदीवृत्ति, पृ. 109

218. मलयगिरि, आवश्यकवृत्ति, पृ. 82

219. बन्धतत्त्व, पृ. 24

220. षट्खण्डागम, पुस्तक भाग 13, पृ. 330-332

221. हिदि होदि हु द्वमणं वियसिय अटुच्छदारविंदं वा। अंगोवंगुदयादो मणवगणखंददो गियमा।

मतिज्ञान में तो स्वयं के मन के द्वारा विचार होता है, इसलिए वहाँ मन मुख्य साधन है। जबकि मनःपर्यवज्ञान में दूसरे के मन में स्थित मनोवर्णना के पुद्गल देखकर वस्तु का अनुमान किया जाता है, जिसमें मन की अपेक्षा मात्र होती है। इसलिए मनःपर्यवज्ञान मतिज्ञान रूप नहीं है। इसी प्रकार अनुमान और श्रुतज्ञान परोक्ष हैं तथा मनःपर्यवज्ञान प्रत्यक्ष है। इसलिए मतिज्ञान इसके समान नहीं होता है। अवधि के बिना मनःपर्यवज्ञान होना संभव है। सिद्धसेन दिवाकर ने अवधिज्ञान और मनःपर्यवज्ञान को एक ही माना है, लेकिन किसी भी आचार्य ने इनके मत का समर्थन नहीं किया है। स्वामी, विशुद्धि, द्रव्य, विषय, भाव आदि से विभिन्न प्रमाण देकर दोनों में भेद सिद्ध किया गया है।

मनःपर्यवज्ञान प्राप्त करने की योग्यताओं का वर्णन नंदीसूत्र और उसकी टीकाओं में प्राप्त होता है, अतः जो जीव क्रमशः मनुष्य, गर्भजमनुष्य यावत् ऋद्धिप्राप्त संयत आदि नौ योग्यता को पूर्ण करता है, वही मनःपर्यवज्ञान का अधिकारी होता है। अतः मनःपर्यायज्ञान चारित्रवान् साधुओं को ही उत्पन्न होता है। स्त्रियों (साध्वियों) को भी मनःपर्यवज्ञान हो सकता है। मनःपर्यवज्ञान जघन्य एक समय तथा उत्कृष्ट देशों पूर्वकोटि तक अवस्थित रहता है।

मनःपर्यवज्ञान गुणप्रत्यय ही होता है अर्थात् विशिष्ट क्षयोपशम से ही मनःपर्यवज्ञान उत्पन्न होता है। अवधिज्ञान के काल और क्षेत्र की विचित्रता से अनेक भेद होते हैं, वैसे अनेक भेद मनःपर्यवज्ञान के नहीं होते हैं, इसके मुख्य रूप से दो भेद होते हैं - **ऋजुमति** - जो सामान्य रूप से मनोद्रव्य को जानता है, वह ऋजुमति मनःपर्यवज्ञान है। जैसेकि अमुक व्यक्ति ने घट का चिन्तन किया है। **विपुलमति** - विशेषग्राहिणी मति विपुलमति है। अमुक व्यक्ति ने घड़े का चिन्तन किया है। वह घड़ा सोने का बना हुआ है इत्यादि द्रव्य, क्षेत्र, काल आदि को जानना है।

श्वेताम्बर परम्परा के आगम और ग्रंथों में ऋजुमति और विपुलमति के प्रभेदों का उल्लेख नहीं है। लेकिन दिगम्बर परम्परा में इनका उल्लेख प्राप्त होता है। ऋजुमति के विषय की अपेक्षा से तीन भेद होते हैं - 1. ऋजुमनोगत, 2. ऋजुवचनगत और 3. ऋजुकायगत। यहाँ ऋजु का अर्थ सरल है। जैसे किसी ने सरल मन से किसी पदार्थ का स्पष्ट विचार किया, किसी ने स्पष्ट वाणी से विचार व्यक्त किया और काया से कोई स्पष्ट क्रिया की और उसे भूल गया, अब किसी ने ऋजुमति मनःपर्यवज्ञानी से पूछा कि इसने अमुक समय में क्या चिन्तन किया था? क्या बोला था? और काया से क्या प्रवृत्ति की थी? या नहीं भी पूछा जाय तो भी वह स्पष्ट रूप से उपर्युक्त सभी क्रियाओं को प्रत्यक्ष देखकर बता देंगे।

विपुलमति के छह भेद हैं, यथा 1. ऋजुमनोगत, 2. ऋजुवचनगत, 3. ऋजुकायगत, 4. अनृजुमनस्कृतार्थज्ञ, 5. अनृजुवाक्कृतार्थज्ञ और 6. अनृजुकायकृतार्थज्ञ। यहाँ विपुल का अर्थ अनिर्वर्तित और कुटिल होता है। ऋजुमतिज्ञान की शक्ति ऋजु विचारादि तक मर्यादित है, जबकि विपुलमति ऋजु (सरल) और अनृजु (वक्र) दोनों प्रकार के विचारादि को जान सकता है।

दिगम्बर परम्परा में ऋजुमति और विपुलमति के भेद अपेक्षा विशेष हैं, क्योंकि मनःपर्यवज्ञानी दूसरे के मन की पर्यायों को स्वयं के ज्ञान के लिए जानेगा, या किसी के पूछने पर अथवा बोध देने की दृष्टि से दूसरे व्यक्ति को कहेगा, कोई व्यक्ति उसके कथन को नहीं समझ पायेगा तो मनःपर्यवज्ञानी उसको कायिक चेष्टाओं से समझायेगा। अतः ऋजुमति और विपुलमति के भेद उचित ही प्रतीत होते हैं।

ऋजुमति से विपुलमति की तुलना करते हुए उमास्वाति ने विपुलमति को विशुद्ध बताया है। टीकाकार अप्रतिपाती अवधिज्ञान के समान ही विपुलमति को अप्रतिपाती मानते हुए केवलज्ञान की प्राप्ति से पूर्वतक उसकी उपस्थिति स्वीकार करते हैं। लेकिन भगवती सूत्र के पन्द्रहवें शतक में वर्णित सुमंगल अनगार का अवधिज्ञान अप्रतिपाती सिद्ध होता है, फिर भी सुमंगल अनगार को उस भव में केवलज्ञान नहीं होता है। अतः यहाँ टीकाकारों द्वारा मान्य अप्रतिपाती का अर्थ घटित नहीं होता है। आगमों में भी

विपुलमति मनःपर्यवज्ञान को विशुद्ध विशुद्धतर तो बताया है, लेकिन अप्रतिपाती का उल्लेख नहीं मिलता है। अतः विपुलमति मनःपर्यवज्ञानी को उसी भव में केवलज्ञान हो, यह आवश्यक नहीं है। इस प्रकार ऋजुमति एवं विपुलमति में स्वामी, प्रमाण, सूक्ष्मता आदि की अपेक्षा से भिन्नता है।

मनःपर्यवज्ञानी के ज्ञेय के सम्बन्ध में दो मत प्राप्त होते हैं - प्रथम मत के अनुसार मन के द्वारा चिन्तित अर्थ के ज्ञान के लिए मन को माध्यम नहीं मानकर सीधा उस अर्थ का प्रत्यक्ष होता है। इस मत का मुख्य रूप से दिगम्बराचार्यों ने समर्थन किया है। मनःपर्यवज्ञानी तीनों कालों के विचार, वाणी और वर्तन को जान सकता है। दूसरा मत **जिनभद्रगणि** आदि श्वेताम्बराचार्यों का है, जिसके अनुसार मनोगत अर्थ का विचार करने से जो मन की दशा होती है, उस दशा अथवा पर्यायों को मनःपर्यायज्ञानी प्रत्यक्ष जानता है। किन्तु उन दशाओं में जो अर्थ रहा हुआ है, उसको अनुमान से जानता है। उपर्युक्त दोनों मतों में से द्वितीय मत अधिक उचित प्रतीत होता है, इसके दो कारण हैं - 1. भाव मन अरूपी होता है और अरूपी पदार्थों को छद्मस्थ नहीं जान सकता है। लेकिन भाव मन के माध्यम से द्रव्य मन में जो मनोवर्गणा उत्पन्न होती है, वे रूपी होती हैं, जिन्हें छद्मस्थ जान सकता है। 2. मनःपर्यायज्ञान से साक्षात् अर्थ का ज्ञान नहीं होता है, क्योंकि मनःपर्यवज्ञान का विषय रूपी द्रव्य का अनन्तवां भाग है। यदि मनःपर्यायज्ञानी मन के सभी विषयों का साक्षात् ज्ञान कर लेता है तो अरूपी द्रव्य भी उसके विषय हो जाते हैं, जो स्वीकार करना आगम सम्मत नहीं है। अतः यह मन्तव्य उचित है कि मनःपर्यवज्ञानी मन का साक्षात्कार करके उसमें चिन्तित अर्थ को अनुमान से जानता है। ऐसा मानने पर मन के द्वारा सोचे गये मूर्त-अमूर्त सभी द्रव्यों को जान सकता है, इसकी संगति बैठेंगी।

मनःपर्यवज्ञानी का विषय द्रव्यमन ही होता है, चिन्तन के समय संज्ञी पंचेन्द्रिय के द्रव्यमन में जिन मनोवर्गणा के स्कंधों का निमार्ण होता है, वे पुद्गलमय होने से रूपी होते हैं और इन रूपी स्कंधों (पर्यायों) के आधार पर चिन्तन किये गये घटादि पदार्थ को अनुमान से जान लिया जाता है।

द्रव्यादि की अपेक्षा मनःपर्यवज्ञानी के विषय का उल्लेख इस प्रकार से है - ऋजुमति **द्रव्य** से अनन्त प्रदेशी स्कंध को जानता देखता है। **क्षेत्र** से जघन्य अंगुल के असंख्यातवें भाग उत्कृष्ट नीचे रत्नप्रभा नरक के उपरिम अधस्तन (ऊपरी प्रतर से नीचे) के क्षुल्लक प्रतरों को, ऊर्ध्व लोक में ज्योतिषी के ऊपर के तल को तथा तिरछी दिशा में अढ़ाई अंगुल कम अढ़ाई द्वीप के सत्री पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीवों के मन के भावों को जानता देखता है। मनुष्यक्षेत्र में जिनका चिन्तन किया, लेकिन वे पुद्गल मनुष्य क्षेत्र से बाहर चले गये हैं, उनको भी मनःपर्यवज्ञानी नहीं जानता है। गोम्मटसार में मनुष्यक्षेत्र (45 लाख योजन) को चौकोर घनप्रतर प्रमाण माना है, गोलाकार रूप नहीं। लेकिन श्वेताम्बर परम्परा में यह क्षेत्र गोलाकार के रूप में माना गया है। **काल** से जघन्य उत्कृष्ट पल के असंख्यातवें भाग जितना भूत, भविष्यत् काल जानता देखता है। दिगम्बर परम्परा के अनुसार ऋजुमति का जघन्य विषय दो-तीन भव होते हैं और उत्कृष्ट सात आठ भव होते हैं। विपुलमति का जघन्य विषय आठ-नौ भव होते हैं और उत्कृष्ट पल्य का असंख्यातवां भाग प्रमाण भव है। वह **भाव** से अनन्त भावों को और सब भावों के अनन्तवें भाग को जानता देखता है। विपुलमति भी इसी तरह है, परन्तु क्षेत्र से ऋजुमति की अपेक्षा प्रत्येक दिशा में अढ़ाई अढ़ाई अंगुल क्षेत्र अधिक द्रव्य क्षेत्र काल भाव को कुछ अधिक विस्तार सहित विशुद्ध व स्पष्ट जानता देखता है। मनःपर्यवज्ञान का विषय उत्सेधांगुल से नापा जाता है।

मनःपर्यवज्ञानी बिना चिंतन में आई वस्तु को नहीं जानता है, सैकड़ों योजन दूर रहे हुए किसी ग्राम-नगर आदि को मनःपर्यवज्ञानी नहीं देख सकता है, लेकिन यदि वही ग्राम आदि किसी के मन में स्मृति के रूप में विद्यमान हैं, तब मनःपर्यवज्ञानी उनका साक्षात्कार कर सकते हैं।

मनःपर्यवज्ञानी के विषय के वर्णन में 'जाणइ' और 'पासइ' इन दो क्रियाओं का प्रयोग हुआ है। यहाँ 'जाणइ' का अर्थ जानना (ज्ञान) और 'पासइ' का अर्थ देखना (दर्शन) किया गया है। मनःपर्यवज्ञान से जानना तो संभव है, लेकिन देखना कैसे संभव है? क्योंकि चक्षु आदि चार दर्शनों में मनःपर्यवदर्शन का उल्लेख नहीं है। इसलिए विद्वानों में 'पासइ' क्रिया के सम्बन्ध में मतभेद है। इस सम्बन्ध में **जिनभद्रगणि** ने विभिन्न मतान्तरों का उल्लेख किया है - 1. मनःपर्यवज्ञानी अचक्षुदर्शन से देखता है, लेकिन यह मत उचित नहीं है, क्योंकि मनःपर्यवज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान है, जबकि अचक्षुदर्शन परोक्ष ज्ञान है। 2. मनःपर्यवज्ञानी अवधिदर्शन से देखता है, यह तर्क संगत नहीं है, क्योंकि मनःपर्यवज्ञानी के नियम से अवधिज्ञान हो, ऐसा उल्लेख आगमों में कहीं भी प्राप्त नहीं होता है एवं बिना अवधिज्ञान के अवधिदर्शन नहीं हो सकता है। 3. कतिपय आचार्यों का मानना है कि जिस प्रकार मिथ्यादृष्टि जीव के विभंगज्ञान होता है और उसके विभंगदर्शन को अवधि दर्शन कहा जाता है उसी प्रकार मनःपर्यवज्ञानी का मनःपर्यवदर्शन भी अवधिदर्शन है, लेकिन यह आगमानुसार नहीं है, क्योंकि भगवती सूत्र में मनःपर्यवज्ञान में दो या तीन दर्शन कहे गये हैं। दो दर्शन हों तो चक्षु-अचक्षुदर्शन तथा तीन दर्शन हों तो चक्षु-अचक्षु और अवधिदर्शन पाये जाते हैं एवं जब अवधि या विभंग ज्ञान होगा तभी अवधिदर्शन होगा। लेकिन मनःपर्यवज्ञानी के अवधिज्ञान हो, यह आवश्यक नहीं है। 4. अवधिसहित मनःपर्यवज्ञान वाला जानता और देखता है, जबकि अवधिरहित मनःपर्यवज्ञान वाला सिर्फ जानता है, लेकिन यह भी उचित नहीं है क्योंकि ऐसा संभव होता तो आगमकार मनःपर्यव के साथ 'जाणइ' 'पासइ' अथवा 'जाणइ' इस प्रकार विकल्प रूप से इन दोनों क्रियाओं का प्रयोग करते, लेकिन आगमों में मनःपर्यवज्ञान के प्रसंग पर सभी जगह इन दोनों क्रियाओं का साथ में ही प्रयोग हुआ है। 5. मनःपर्यवज्ञान साकार उपयोग होने से उसमें दर्शन नहीं होता है, लेकिन मूल टीकाकार ने भी इस मत को स्वीकार नहीं किया है। इस प्रकार उपर्युक्त पाँचों मत दोषयुक्त है। इसलिए मनःपर्यवज्ञान में आगमानुसार दर्शन की सिद्धि पश्यत्ता के माध्यम से की गई है।

इस प्रकार उपर्युक्त पाँचों मत दोषयुक्त है। इसलिए मनःपर्यवज्ञान में आगमानुसार दर्शन की सिद्धि पश्यत्ता के माध्यम से की गई है।

प्रश्न - मनोलब्धि, मनःपर्यवज्ञान और मन का उपयोग इन तीनों में क्या अन्तर है?

उत्तर - **मनोलब्धि** उस अवधिज्ञान को कहते हैं जो लोक के एक संख्यातवें भाग एवं पल्योपम के एक संख्यातवें भाग जितने भूत-भविष्य को जानता है। इस अवधिज्ञान के द्वारा अपनी क्षेत्र सीमा में रहे हुए मनोद्रव्यों को जानकर उन जीवों के मनोगत भावों को जान लेता है, वह अवधिज्ञान ही है। **मनःपर्यवज्ञान** अन्य वर्गणाओं को नहीं जानते हुए अढाई द्वीपवर्ती संज्ञीजीवों के मनोगत भावों को ही जानता है। मनोलब्धि वाला अवधि तो औदारिक वर्गणाओं को एवं विशाल क्षेत्र के जीवों के मनोगत भावों को जान सकता है। किन्तु मनःपर्यवज्ञानी की तो मात्र मनोद्रव्य एवं अढाई द्वीप की ही सीमा है। **मनोयोग** से जो चिंतन किया जाता है, उसको स्वयं ही जानना यह मन का उपयोग है। तीनों में परस्पर भेद है।

मनःपर्यवज्ञान के सम्बन्ध में विशेष बिन्दु- 1. ऋजुमति मनःपर्यवज्ञानी मनुष्य क्षेत्र में विपुलमति से ढाई अंगुल कम देखता है, तो ये अंगुल उत्सेध अंगुल से समझना चाहिये।

2. मनःपर्यवज्ञानी मुनि मनःपर्यवज्ञान की सीमा के भीतर रहने वाले देवों के मन की बात भी जान सकते हैं।

3. मनःपर्यवज्ञान का स्वामी अप्रमत्त संयत होता है, तीर्थंकर भगवन्तों को दीक्षा ग्रहण करते ही मनःपर्यवज्ञान हो जाता है, तत्पश्चात् साधना काल में वे सातवें से छठे और छठे से सातवें गुणस्थान

में आते-जाते रहते हैं। छठे गुणस्थान में आने पर क्या उनके मनःपर्यवज्ञान पर प्रमाद अवस्था का कोई असर होता है? क्योंकि मनःपर्यवज्ञान अप्रमादी को ही होता है। लेकिन होने के बाद प्रमत्त और अप्रमत्त दोनों अवस्थाओं में रह सकता है।

उपर्युक्त वर्णन का सारांश यह है कि श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्परा में मनःपर्यवज्ञान का विस्तृत वर्णन किया गया है। उसी वर्णन के आधार पर दोनों परम्पराओं में मनःपर्यवज्ञान में कुछ अन्तर प्रतीत हुआ है जो निम्न प्रकार से है।

1. **श्वेताम्बर** परम्परा में मनःपर्यवज्ञानी मन की पर्यायों को जानता है और उन पर्यायों के आधार पर अनुमान से उन बाह्य पदार्थों को जानता है। जबकि **दिगम्बर** परम्परा में मनःपर्यवज्ञानी मन में चिन्तित अर्थ को भी साक्षात् जानता है।

2. **श्वेताम्बर** परम्परा में ऋजुमति और विपुलमति के प्रभेदों का उल्लेख नहीं मिलता है। जबकि **दिगम्बर** परम्परा में ऋजुमति के तीन और विपुलमति के छह भेदों का उल्लेख मिलता है।

3. **श्वेताम्बर** परम्परा में जघन्य मनःपर्यायज्ञानी द्रव्य की अपेक्षा संज्ञी जीव के मनरूप में परिणत मनोवर्गणा के अनन्त प्रदेशी अनन्त स्कन्धों को जानते हैं। उत्कृष्ट मनःपर्यायज्ञानी मनोवर्गणा के अनन्त प्रदेशी अनन्त स्कन्ध ही जानते हैं, लेकिन यह स्कन्ध जघन्य मनःपर्यायज्ञान से अनन्तगुणा अधिक होते हैं। जबकि **दिगम्बर** परम्परा के अनुसार द्रव्य की अपेक्षा कार्मणवर्गणा का अनन्तवां भाग जो सर्वावधि का विषय है उसके भी अनन्त भाग करने पर जो अन्तिम भाग प्राप्त होता है, वह मनःपर्यव का विषय है, इसके भी अनन्त भाग करने पर जो अन्तिम भाग प्राप्त होता है, वह मनःपर्यव का उत्कृष्ट विषय है, जो कि जघन्य से भी सूक्ष्म है।

4. **श्वेताम्बर** परम्परा में क्षेत्र की अपेक्षा मनःपर्यवज्ञानी जघन्य से अंगुल का असंख्यातवां भाग जानते देखते हैं तथा उत्कृष्ट से नीचे इस रत्नप्रभा पृथ्वी के उपरिम अधस्तन क्षुद्र प्रतर तक, ऊपर ज्योतिषियों के उपरितल तक और तिर्यक् लोक में मनुष्य क्षेत्र तक जानते देखते हैं। किन्तु **दिगम्बर** परम्परा में क्षेत्र की अपेक्षा मनःपर्यवज्ञानी जघन्य गव्यूति पृथक्त्व और उत्कृष्ट मानुषोत्तरशैल के अन्दर के क्षेत्र का जानता है।

5. **श्वेताम्बर परम्परा** में काल की अपेक्षा मनःपर्यवज्ञानी जघन्य पल्योपम के असंख्यातवें भाग जितना काल जानता है और उत्कृष्ट काल में भूत, भविष्यकालीन पल्योपम के असंख्यभाग जितना जानते, देखते हैं। किन्तु जघन्य से उत्कृष्ट काल अधिक होता है। **दिगम्बर** परम्परा में काल की अपेक्षा मनःपर्यवज्ञानी जघन्य से दो या तीन भव और उत्कृष्ट असंख्यात भवों को जानते हैं।

6. **श्वेताम्बर** परम्परा में भाव की अपेक्षा मनःपर्यवज्ञानी जघन्य अनन्त भावों को जानते देखते हैं, सर्वभावों के अनन्तवें भाग को जानते हैं और उत्कृष्ट उन्हीं भावों को अधिक विशुद्ध जानते देखते हैं। किन्तु **दिगम्बर** परम्परा में भाव की अपेक्षा से मनःपर्यवज्ञानी जघन्य (एक समय सम्बन्धी औदारिक शरीर की निर्जरा को) और उत्कृष्ट असंख्यात पर्यायों को जानता है। जघन्य भाव की अपेक्षा उत्कृष्ट जो-जो द्रव्य ज्ञात हैं, उनकी असंख्यात पर्यायों को जानता है।

7. **श्वेताम्बर** परम्परा में मनःपर्यव ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम सम्पूर्ण आत्म प्रदेशों पर होता है, इसलिए द्रव्य मन सम्पूर्ण शरीर में विद्यमान है। परन्तु **दिगम्बर** परम्परा में मनःपर्यव ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम होने पर विकसित आठ पंखुड़ी युक्त कमल जैसे आकार वाले द्रव्यमन के प्रदेशों में मनःपर्यायज्ञान उत्पन्न होता है। द्रव्य मन हृदय में स्थित है।

सप्तम अध्याय

विशेषावश्यकभाष्य में केवलज्ञान

केवलज्ञान सभी ज्ञानों का चरमोत्कर्ष है। केवलज्ञान की प्राप्ति के बाद ही आत्मा सम्पूर्ण रूप से अनावृत्त होती है, एवं स्वभाव में रमण कर शुद्ध चैतन्य की अनुभूति करते हुए सिद्ध, बुद्ध, निरंजन, निराकार एवं निर्विकार अवस्था को प्राप्त करती है अर्थात् स्व स्वरूप में स्थित होती है।

प्राचीन आगमिक काल में सर्वोत्कृष्ट ज्ञान के लिए 'केवलज्ञाने' (केवलज्ञान)¹ 'उत्पन्नज्ञान-दंसणधरा' (उत्पन्नज्ञान-दर्शनधारी (केवलज्ञान-केवलदर्शी)² 'सर्वदंसी' (सर्वदर्शी) 'अभिभूयणाणी' (अभिभूतज्ञानी-केवलज्ञानी)³ 'अणंतचक्खू' (अनंतचक्षु)⁴ 'बुद्धा' (बुद्धा)⁵ 'अणंतणाणदंसी' (अनन्तज्ञानी-अनन्तदर्शी)⁶ 'जगसव्वदंसिणा' (जगत्सर्वदर्शी)⁷ आदि शब्द प्राप्त होते हैं।

बौद्ध परम्परा में गौतम के लिए बुद्ध शब्द का प्रयोग किया गया है। 'केवल' शब्द एक प्रकार के शुद्ध के ज्ञान के अर्थ का, तो दूसरी ओर एकल (अकेला) अर्थ का वाचक है।

इस प्रकार प्राचीन काल में सर्वोच्च ज्ञान के लिए विभिन्न शब्दों का प्रयोग हुआ, उन्हीं शब्दों में से 'केवल' शब्द धीरे-धीरे सर्वोच्चतम ज्ञान के लिए स्थिर हो गया। उस काल में 'केवल' शब्द मात्र केवलज्ञानी के लिए ही प्रयोग नहीं होता था, बल्कि अवधिज्ञानी केवली, मनःपर्यवज्ञान केवली और केवलज्ञान केवली के लिए केवल शब्द का उल्लेख आगमों में मिलता है।⁸ अथवा यह भी संभव हो सकता है कि कालक्रम से अवधि और मनःपर्यव शब्द तो उस ज्ञान के लिए स्थिर हो गये और केवली शब्द केवलज्ञानी के लिए स्थिर हो गया।

केवलज्ञान को अन्त में कहने का कारण

केवलज्ञान से पूर्व में मति, श्रुत, अवधि एवं मनःपर्यवज्ञान इन चार ज्ञानों का उल्लेख किया जाता है। लेकिन प्रश्न उठता है कि केवलज्ञान तो सर्वोत्कृष्ट ज्ञान है, इसे सबसे पहले कहना चाहिए था। इसके उत्तर में जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण कहते हैं कि मनःपर्यवज्ञान के बाद और पहले कहे अनुसार उद्देश, शुद्धि और लाभ बढ़ने से सभी आवरणों का क्षय होने से सर्वोत्कृष्ट शुद्धि होती है, केवलज्ञान उत्पन्न होता है। इसलिए सभी से श्रेष्ठ केवलज्ञान है। प्रायः जीव को सभी ज्ञानों का लाभ होने के बाद ही केवलज्ञान की प्राप्ति होती है, इसलिए सभी के अन्त में केवलज्ञान का निर्देश किया है। केवलज्ञानी सभी पदार्थों की सभी पर्यायों को निरंतर जानता है। सभी आवरणों से रहित केवलज्ञान प्रकाश रूप माना गया है।⁹

1. भगवती सूत्र 8.2.2, उत्तराध्ययन सूत्र 28.4, 33.4, स्थानांग सूत्र 5.3.12

2. भगवतीसूत्र 1.4.5. स्थानांगसूत्र 1.3

4. सूत्रकृतांगसूत्र 1.6.25

6. सूत्रकृतांगसूत्र 1.9.24

8. तओ केवली पण्णत्ता, तं जहा-ओहिणाणकेवली, मणपज्जवणाणकेवली, केवलीणाणकेवली।

3. सूत्रकृतांगसूत्र 1.6.5

5. सूत्रकृतांगसूत्र 1.8.23

7. सूत्रकृतांगसूत्र 1.2.2.31

- युवाचार्य मधुकरमुनि, स्थानांग सूत्र स्था. 3 उद्दे. 4, पृ. 192

9. विशेषावश्यकभाष्यगाथा 824-827

केवलज्ञान का लक्षण

श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्परा में केवलज्ञान की सत्ता को निर्विवाद रूप से स्वीकार किया गया है। दोनों परम्पराओं के आचार्यों ने केवलज्ञान को परिभाषित किया है, जो निम्न प्रकार से है-

श्वेताम्बर आचार्यों की दृष्टि में केवलज्ञान का लक्षण -

1. आचार्य भद्रबाहु ने आवश्यकनिर्युक्ति में कहा है कि सभी द्रव्यादि के परिणाम की सत्ता को विशेष जाने के कारण अनन्त, शाश्वत, अप्रतिपाती और एक प्रकार का जो ज्ञान है, वह केवलज्ञान है।¹⁰

2. नंदीसूत्र के अनुसार - जो ज्ञान असहाय, शुद्ध, संपूर्ण, असाधारण और अनंत इन पांच विशेषणों से युक्त है, वह केवलज्ञान है।¹¹

3. जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण (सप्तम शती) के मन्तव्यानुसार - शुद्ध, परिपूर्ण, असाधारण व अनंत, ऐसा जो ज्ञान है उसे केवल ज्ञान कहा जाता है।¹² अर्थात् पर्याय अनन्त होने से केवलज्ञान अनन्त है। सदा उपयोगयुक्त होने से वह शाश्वत है। इसका व्यय नहीं होता, इसलिए अप्रतिपाति है। आवरण की पूर्ण शुद्धि के कारण वह एक प्रकार का है।¹³

मलधारी हेमचन्द्र (द्वादश शती) ने इनका स्पष्टीकरण निम्न प्रकार से किया है - 1. केवलज्ञान मति आदि ज्ञानों से निरपेक्ष है, इसलिए असहाय है। 2. वह निरावरण है, इसलिए शुद्ध है। 3. अशेष आवरण की क्षीणता के कारण प्रथम क्षण में ही पूर्णरूप में उत्पन्न होता है, इसलिए वह सकल-सम्पूर्ण है। 4. वह अन्य ज्ञानों के सदृश नहीं है, इसलिए असाधारण है। 5. ज्ञेय अनन्त हैं, इसलिए वह अनन्त है।¹⁴

4. नंदीचूर्णि में जिनदासगणि (सप्तम शती) ने वर्णन किया है कि जो मूर्त और अमूर्त सब द्रव्यों को सर्वथा, सर्वत्र और सर्वकाल में जानता-देखता है, वह केवलज्ञान है।¹⁵

5. वादिदेवसूरि (द्वादश शती) ने प्रमाणनयतत्त्वालोक में उल्लेख किया है कि सम्यग्दर्शन आदि अन्तरंग सामग्री और तपश्चर्या आदि बाह्य सामग्री से समस्त घाति कर्मों के क्षय से उत्पन्न होने वाला तथा समस्त द्रव्यों और समस्त पर्यायों को प्रत्यक्ष करने वाला केवलज्ञान सकल पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहलाता है।¹⁶

6. तत्त्वार्थभाष्य के टीकाकार सिद्धसेनगणि के अनुसार - केवल अर्थात् सम्पूर्ण ज्ञेय को जानने वाला ज्ञान केवलज्ञान है। वह समस्त द्रव्यों एवं उनकी पर्यायों का परिच्छेदक होता है, अथवा मति आदि ज्ञानों से रहित ज्ञानावरण कर्म के पूर्ण क्षय से उत्पन्न एक मात्र ज्ञान केवलज्ञान है। दूसरे कोई भेद-प्रभेद नहीं होते हैं।¹⁷

7. आचार्य हेमचन्द्र (द्वादश शती) के कथनानुसार - आवरणों का सर्वथा क्षय हो जाने पर चेतन आत्मा का स्वरूप प्रकट हो जाना, मुख्य प्रत्यक्ष है।¹⁸

10. आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा 77

12. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 84

14. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 84 की टीका, हारिभद्रीय, नन्दीवृत्ति, पृ. 19

16. सकलं तु सामग्री विशेषतः समुद्भूतं समस्तावरणक्षयोपक्षं, निखिलद्रव्यपर्यायसाक्षात्कारिस्वरूपं केवलज्ञानम्।

11. युवाचार्य मधुकरमुनि, नंदीसूत्र, पृ. 68

13. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 828

15. नंदीचूर्णि पृ. 21

- प्रमाणनयतत्त्वालोक सूत्र. 2.23, पृ. 24

17. केवलं-सम्पूर्णज्ञेयं तस्स तस्मिन् वा सकलज्ञेये यज्ज्ञानं तत् केवलज्ञानम्, सर्वद्रव्यभावपरिच्छेदीति यावत्। अथवा केवलं एकं मत्यादिज्ञानरहितमात्यन्तिकज्ञानावरणक्षयप्रभवं केवलज्ञानं अवद्यमानस्वप्रभेदम्। -सभाष्यतत्त्वार्थाधिगमसूत्र, 1.9 पृ. 70

18. तत सवर्थावरणविलये चेतनस्य स्वरूपाविर्भावो मुख्यं केवलम्। - प्रमाणमीमांसा, (पं. सुखलाल सिंघवी) अ. 1.15 पृ.10

8. मलधारी हेमचन्द्र ने कहा है कि जिस ज्ञान से जीवादि सभी द्रव्यों को तथा प्रयोग, स्वभाव और विस्त्रसा परिणाम रूप उत्पाद आदि सभी पर्यायों से युक्त सत्ता को विशेष प्रकार से जाना जाता है एवं भेद बिना भी सभी द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव को अस्ति रूप से जाना जाता है, वह केवलज्ञान है।¹⁹

9. उपाध्याय यशोविजयजी (18वीं शताब्दी) के ज्ञानबिन्दुप्रकरण के मन्तव्यानुसार - जो आत्ममात्र सापेक्ष है, बाह्य साधन निरपेक्ष है, सब पदार्थों को अर्थात् त्रैकालिक द्रव्य पर्यायों को साक्षात् विषय करता है, वही केवलज्ञान है।²⁰

10. घासीलालजी महाराज के अनुसार - जिस ज्ञान में ज्ञानावरणीय कर्म का समूल क्षय होता है। भूत, भविष्यत् एवं वर्तमान काल के समस्त पदार्थ जिसमें हस्तामलकवत् प्रतिबिम्बित्व होते रहते हैं तथा जो मत्यादिक क्षायोपशमिक ज्ञानों से निरपेक्ष रहता है, उसे केवलज्ञान कहते हैं।²¹

दिगम्बर आचार्यों की दृष्टि में केवलज्ञान का लक्षण -

1. आचार्य कुन्दकुन्द (द्वितीय-तृतीय शती) के प्रवचनसार के अनुसार - जो ज्ञान प्रदेश रहित (कालाणु तथा परमाणुओं) को, प्रदेश सहित (पंचास्तिकायों) को, मूर्त और अमूर्त तथा शुद्ध जीवादिक द्रव्यों को, अनागत पर्यायों को और अतीत पर्यायों को जानना है, उस ज्ञान को अतीन्द्रिय ज्ञान कहते हैं।²² आचार्य कुंदकुंद नियमसार में कहते हैं कि केवलज्ञान का लक्षण व्यवहारनय और निश्चयनय की दृष्टि से भी किया है - व्यवहारनय से केवली भगवान् सबको जानते हैं और देखते हैं। निश्चयनय से केवलज्ञानी अपनी आत्मा को जानते हैं और देखते हैं।²³ जैन दर्शन के अनुसार ज्ञान स्व-पर प्रकाशक है। वह स्वप्रकाशी है, इस आधार पर केवलज्ञानी निश्चयनय से आत्मा को जानता देखता है, यह लक्षण संगत है। वह परप्रकाशी है, इस आधार पर वह सबको जानता-देखता है, यह लक्षण व्यवहार नय से संगत है।

2. कसायपाहुड के रचयिता आचार्य गुणधरानुसार (द्वितीय-तृतीय शती) - असहाय ज्ञान को केवलज्ञान कहते हैं, क्योंकि वह इन्द्रिय, प्रकाश और मनस्कार अर्थात् मनोव्यापार की अपेक्षा से रहित है। अथवा केवलज्ञान आत्मा और अर्थ से अतिरिक्त किसी इन्द्रियादिक सहायक की अपेक्षा से रहित है, इसलिए भी वह केवल अर्थात् असहाय है। इस प्रकार केवल अर्थात् असहाय जो ज्ञान है, उसे केवलज्ञान कहते हैं।²⁴

3. आचार्य भूतबलि-पुष्पदंत (द्वितीय-तृतीय शती) के अनुसार - वह केवलज्ञान सकल है, संपूर्ण है और असपत्न है।²⁵

4. अमृतचन्द्रसूरि ने तत्त्वार्थसार में कहा है कि - जो किसी बाह्य पदार्थ की सहायता से रहित, आत्मस्वरूप से उत्पन्न हो, आवरण से रहित हो, क्रमरहित हो, घाती कर्मों के क्षय से उत्पन्न हो तथा समस्त पदार्थों को जानने वाला हो, उसे केवलज्ञान कहते हैं।²⁶

19. मलधारी हेमचन्द्र, विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 823 की टीका, पृ. 336

20. ज्ञानबिन्दुप्रकरणम्, पृ. 19

21. घासीलालजी म., नंदीसूत्र, पृ. 17, 18

22. अपदेसं सपदेसं मुत्तमुत्तं च पज्जयमजादं। पलयं गयं च जाणादि तं णाणमदिदियं भणियं।-प्रवचनसार, गाथा 41, पृ. 70

23. नियमसार, हस्तिनापुर, दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान, प्र. सं. 1985, गाथा 159 पृ. 463

24. कसायपाहुडं, पृ. 1, पृ. 19

25. तं च केवलणाणं सगलं संपुण्णं असवतं। षट्खण्डागम पु. 13 सूत्र 5.5.81 पृ. 345

26. असहायं स्वरूपोत्थं निरावरणमक्रमम्। घातिकर्म क्षयोत्पन्नं केवल सर्वभागम्। - तत्त्वार्थसार, प्रथम अधिकार, गाथा 30 पृ. 15

5. पूज्यपाद (पंचम-षष्ठ शती) के अनुसार - अर्थीजन जिसके लिए बाह्य और आभ्यंतर तप के द्वारा मोक्ष मार्ग का सेवन करते हैं वह केवलज्ञान कहलाता है।²⁶

6. अकलंक (अष्टम शती) के कथनानुसार - जिसके लिए बाह्य और आभ्यंतर विविध प्रकार के तप किये जाते हैं, वह लक्ष्य भूत केवलज्ञान है। यहां केवल शब्द असहाय अर्थ में है जैसे केवल अन्न खाता है अर्थात् शाक आदि रहित अन्न खाता है, उसी तरह केवल अर्थात् क्षायोपशमिक आदि ज्ञानों की सहायता से रहित असहाय केवलज्ञान है। यह रूढ़ शब्द है।²⁷

7. आचार्य शुभचन्द्र के ज्ञानार्णव के अनुसार - जो ज्ञान समस्त द्रव्यों और उनकी सभी पर्यायों को जानने वाला है, समस्त जगत् को देखने का नेत्र है तथा अनंत है, एक और अतीन्द्रिय है अर्थात् मतिश्रुत ज्ञान के समान इन्द्रियजनित नहीं है, केवल आत्मा से ही जानता है, वह केवलज्ञान है।²⁸

8. वीरसेनाचार्य (नवम शती) धवलाटीका में कहते हैं कि 1. जो ज्ञान असहाय अर्थात् इन्द्रिय और आलोक की अपेक्षा रहित है, त्रिकालगोचर अनंत पर्यायों से समवायसंबंध को प्राप्त अनंत वस्तुओं को जानने वाला है, सर्वव्यापक (असंकुटित) है और असपन्न (प्रतिपक्षी रहित) है, उसे केवलज्ञान कहते हैं।²⁹

2. जो मात्र आत्मा और अर्थ के संनिधान से उत्पन्न होता है, जो त्रिकालगोचर समस्त द्रव्य और पर्यायों को विषय करता है, जो करण, क्रम और व्यवधान से रहित है, सकल प्रमेयों के द्वारा जिसकी मर्यादा नहीं पाई जा सकती, जो प्रत्यक्ष एवं विनाश रहित है, वह केवलज्ञान है।³⁰

9. गोम्मटसार में नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती (एकादश शती) ने उल्लेख किया है कि - केवलज्ञान, संपूर्ण, समग्र, केवल, प्रतिपक्ष रहित, सर्वपदार्थ गत और लोकालोक में अंधकार रहित है अर्थात् केवल ज्ञान समस्त पदार्थों को विषय करने वाला है।³¹ पंचसंग्रह में भी यही परिभाषा मिलती है।³²

10. अभयचन्द्रसिद्धान्त चक्रवर्ती की कर्मप्रकृति के अनुसार - इन्द्रिय, प्रकाश और मन की सहायता के बिना त्रिकाल गोचर लोक तथा अलोक के समस्त पदार्थों का एक साथ अवभास (ज्ञान) केवलज्ञान है।³³

केवलज्ञान के उपर्युक्त विभिन्न लक्षणों के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि सभी ग्रंथकारों, सूत्रकारों ने आवरण क्षय से होने वाले केवलज्ञान को एक शुद्ध, असाधारण, शाश्वत, अप्रतिपाती, अनंत, विशुद्ध एवं समग्र इत्यादि रूप में स्वीकार किया है।

केवलज्ञान को परिभाषित करने में प्रयुक्त विशेषणों का अर्थ

दोनों परम्पराओं के आचार्यों ने केवलज्ञान को परिभाषित करते हुए केवलज्ञान के लिए विभिन्न विशेषणों का प्रयोग किया है, यथा परिपूर्ण, समग्र, असाधारण, निरपेक्ष, विशुद्ध, सर्वभाव प्रज्ञापक, संपूर्ण लोकालोक प्रकाशक, अनंत पर्याय इत्यादि, जिनका अर्थ निम्न प्रकार से हैं -

26. सर्वार्थसिद्धि, 1.9, पृ. 68

27. तत्त्वार्थराजतार्तिक, 1.9.6-7 पृ. 32

28. अशेषद्रव्यपर्यायविषय विश्वलोचनम्। अनंतमेकमत्यक्षं केवलं कीर्तितं जिनैः। - ज्ञानार्णव, प्र. 7 गाथा 8, पृ. 163

29. षट्खण्डागम (धवला), पृ. 6, सूत्र 1.9.1.14, पृ. 29

30. षट्खण्डागम (धवला) पृ. 13 सूत्र 5.5.21 पृ. 213

31. संपुण्ण तु समगं केवलमसवत्तं सव्वभावगयं। लोयालोयवित्तिमिरं केवलणाणं मणुदेव्वं।

-गोम्मटसार (जीवकांड), भाग 2, गाथा 460

32. पंचसंग्रह, गाथा 126, पृ. 27

33. कर्मप्रकृति, पृ. 6

1. **परिपूर्ण** - केवलज्ञान सभी द्रव्य और उसकी त्रिकालवर्ती पर्यायों को जानता है, इसलिए यह ज्ञान परिपूर्ण कहलाता है। सभी जानने योग्य पदार्थों को जानने वाला होने से परिपूर्ण है।³⁴

2. **समग्र (सम्पूर्ण)** - जो ज्ञान संपूर्ण होता है वह केवलज्ञान है। यह ज्ञान संपूर्ण पदार्थों (रूपी-अरूपी) की समस्त त्रिकालवर्ती पर्यायों को समग्र रूप से ग्रहण करता है। चूंकि केवलज्ञान अनंतदर्शन, अनंतवीर्य, विरति एवं क्षायिक सम्यक्त्व आदि अनंत गुणों से पूर्ण है, इसलिए इसे संपूर्ण कहा जाता है।³⁵

3. **सकल** - केवलज्ञान अखंड होने से सकल है, समस्त बाह्य अर्थ में प्रवृत्ति नहीं होने से ज्ञान में जो खंडपना आता है, ऐसा खंडपना केवलज्ञान में संभव नहीं है क्योंकि केवलज्ञान के विषय त्रिकालगोचर अशेष बाह्य पदार्थ हैं अथवा, द्रव्य, गुण और पर्यायों के भेद का ज्ञान अन्यथा नहीं बन सकने के कारण जिनका अस्तित्व निश्चित है, ऐसे ज्ञान के अवयवों का नाम कला है। इन कलाओं के साथ वह अवस्थित रहता है, इसलिए सकल है।³⁶

4. **असाधारण** - केवलज्ञान जैसा और कोई दूसरा ज्ञान नहीं होता है। मति आदि ज्ञान की अपेक्षा यह विशिष्ट है, इसलिए असाधारण है।³⁷

5. **निरपेक्ष** - केवल ज्ञान मत्यादिक ज्ञान की अपेक्षा निरपेक्ष है। केवलज्ञान होने पर मत्यादिक ज्ञान रहते नहीं हैं।³⁸ यह ज्ञान तो अपने आवरण का पूर्ण क्षय होने से होता है। इन्द्रियादि की अपेक्षा से रहित होता है, निरपेक्ष है। जो ज्ञान किसी की सहायता के बिना सम्पूर्ण ज्ञेय पदार्थों का विषय करता है अथवा जो ज्ञान मनुष्य भव में उत्पन्न होता है, अन्य किसी भव में उत्पन्न नहीं होता है, उस की अवस्थिति देह और विदेह दोनों अवस्थाओं में पाई जाती है।

6. **विशुद्ध** - चार ज्ञान क्षायोपशमिक होने से सर्वथा विशुद्ध नहीं होते हैं, जबकि केवलज्ञान सम्पूर्ण ज्ञानावरण एवं दर्शनावरण कर्म के विगत (क्षय) होने पर ही होता है, अतः इसे विशुद्ध कहा गया है।³⁹

7. **सर्वभावप्रज्ञापक** - यह समस्त जीवादिक पदार्थों का प्ररूपक है, इसलिए यह सर्वभाव प्रज्ञापक है। शंका होती है कि केवलज्ञान को तो मूक बतलाया है, फिर यह पदार्थों का प्ररूपक कैसे हो सकता है? समाधान में कहा गया है कि यह बात उपचार से सिद्ध होती है, अतः उसे प्ररूपक कहा है, क्योंकि समस्त जीवादिक भावों का सर्वरूप से यथार्थदर्शी ज्ञान केवलज्ञान है और शब्द केवलज्ञान द्वारा देखे हुए पदार्थों की ही प्ररूपणा करता है, इसलिए उपचार से ऐसा मान लिया जाता है कि केवलज्ञान ही उनका प्ररूपक है।⁴⁰

8. **संपूर्ण लोकालोक विषयक** - धर्मादिक द्रव्यों की जहां वृत्ति है, उसका नाम लोक है और इससे विपरीत अलोक है। इसमें आकाश के सिवाय और कोई द्रव्य नहीं है। यह अनंत और अस्तिकाय रूप है। लोक और अलोक में जो कुछ ज्ञेय पदार्थ होता है, उसका सर्वरूप से प्रकाशक होने से यह संपूर्णलोकालोक विषयक कहा जाता है।⁴¹

34. केवलं परिपूर्णं समस्तज्ञेयावगमात्। - मलधारी हेमचन्द्र, पृ. 337

35. षट्खण्डागम पु. 13 सूत्र 5.5.81 पृ. 345

36. षट्खण्डागम पु. 13 सूत्र 5.5.81 पृ. 345

37. घासीलालजी महाराज, नंदीसूत्र, पृ. 166

38. मत्यादिज्ञाननिरपेक्षत्वादसहायं वा केवलं। - मलधारी हेमचन्द्र, पृ. 337

39. घासीलालजी महाराज, नंदीसूत्र, पृ. 166

40. घासीलालजी महाराज, नंदीसूत्र, पृ. 166

41. घासीलालजी महाराज, नंदीसूत्र, पृ. 167

9. अनंत पर्याय – मत्यादिकज्ञान जिस प्रकार सर्वद्रव्यों को, उनकी कुछ पर्यायों को परोक्ष-प्रत्यक्ष रूप से जानते हैं, उस प्रकार यह ज्ञान नहीं जानता है, किंतु यह तो समस्त द्रव्यों को और उनकी समस्त पर्यायों को युगपत् प्रत्यक्ष जानता है, इसलिए यह अनंत पर्याय कहा जाता है।⁴²

10. अनन्त – वह पर्याय से अनन्त है।⁴³ जो ज्ञान अनंत होता है, उसका नाम केवलज्ञान है। क्योंकि एक बार आत्मा में इस ज्ञान के हो जाने पर फिर उसका प्रतिपात नहीं होता है तथा ज्ञेय पदार्थ अनन्त होते हैं और जो उन अनंत ज्ञेयों को जानता है उसे भी अनंत माना गया है। अथवा जानने योग्य अनन्त विषय होने से यह अनन्त पर्याय वाला है, अतः केवलज्ञान अनन्त है।⁴⁴ अथवा जितने ज्ञेयपदार्थ हैं, उनसे अनन्तगुण भी ज्ञेयपदार्थ हों तो भी उनको जानने की क्षमता होने से केवलज्ञान अनंत है।

11. एकविध – सर्वशुद्ध होने से एक प्रकार का है।⁴⁵ सभी प्रकार के ज्ञानावरण का क्षय होने से उत्पन्न होता है, अतः यह एकविध है।⁴⁶ षट्खण्डागम के अनुसार जो ज्ञान, भेद रहित हो, वह 'केवलज्ञान' है। भेदरहितता एकत्व की सूचक है।⁴⁷

12. असपत्न – सपत्न का अर्थ शत्रु है, केवलज्ञान के शत्रु कर्म हैं, वे शत्रु नहीं रहे हैं, इसलिए केवलज्ञान असपत्न है। उसने अपने प्रतिपक्षी का समूल नाश कर दिया है।⁴⁸

13. शाश्वत – लब्धि की अपेक्षा यह प्रतिक्षण स्थायी है, अंतर रहित-निरन्तर विद्यमान रहता है।⁴⁹ निरन्तर उपयोग वाला होने से शाश्वत है।⁵⁰

14. अप्रतिपाती – नाश को प्राप्त नहीं होने से अप्रतिपाती है।⁵¹ लब्धि की अपेक्षा त्रिकाल स्थायी है, अन्तरहित होने से अनन्तकाल तक विद्यमान रहता है अर्थात् उत्पन्न होने के बाद जिसका नाश नहीं होता है, वह अप्रतिपाती ज्ञान है। वह सर्व द्रव्यों के परिणाम प्राप्त भावों के ज्ञान का कारण है।⁵²

प्रश्न – जो शाश्वत होता है वह अप्रतिपाती तो होता ही है, फिर 'अप्रतिपाती' अलग विशेषण क्यों दिया है?

उत्तर – 'शश्वद् भवं शाश्वतम्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार जो अनवरत होता है, वह शाश्वत कहलाता है अर्थात् कोई भी पदार्थ जितने काल तक रहता है, तो वह निरन्तर (शाश्वत) ही रहता है। परन्तु इस अर्थ में से अप्रतिपाती का अर्थ स्फुट नहीं होता है। यहाँ 'अनवरत' रहने वाला ज्ञान कितने समय तक रहेगा? इस प्रश्न की संभावना रहती है, इसलिए 'अप्रतिपाती' कहा गया है। केवलज्ञान एक बार होने के बाद हमेशा रहता है, उसका नाश नहीं होता है। इस बात को पुष्ट करने के लिए शाश्वत और अप्रतिपाति विशेषण दिये गए हैं।⁵³

42. घासीलालजी महाराज, नंदीसूत्र, पृ. 167

43. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 828

44. तच्चानन्तज्ञेयविषयत्वेनाऽनन्तपर्यायत्वादनन्तम्। -मलधारी हेमचन्द्र, गाथा 828, पृ. 336

45. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 828

46. समस्तावरणक्षयसंभूतत्वादेकविधं। -मलधारी हेमचन्द्र, पृ. 337

47. षट्खण्डागम (ध्वला), पु. 12, सूत्र 4.2.14.5, पृ. 480

48. षट्खण्डागम पु. 13 सूत्र 5.5.81 पृ. 345

49. आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा 77, विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 828

50. शाश्वद्भावात् शाश्वतं सततोपयोगमित्यर्थः। - मलधारी हेमचन्द्र, पृ. 337

51. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 828

52. अप्रतिपाति-अव्ययं सदाऽवस्थायीत्यर्थः। - मलधारी हेमचन्द्र, पृ. 337

53. प्रशमरति, भाग 2, भद्रगुप्तजी, परिशिष्ट, पृ. 266,267

15. असहाय - असहाय का अर्थ है कि इसमें इन्द्रिय आदि की तथा मति आदि ज्ञान की अपेक्षा नहीं रहती है, इसलिए केवलज्ञान पर की सहायता से रहित होने की वजह से असहाय माना गया है। जैसे कि मणि पर लगे हुए मल की न्यूनाधिकता और विचित्रता से मणि के प्रकाश में न्यूनाधिकता और विचित्रता होती है, यदि मणि पर लगा हुआ मल हट हो जाये, तो मणि के प्रकाश में होने वाली न्यूनाधिकता और विचित्रता मिटकर एक पूर्णता उत्पन्न हो जाती है। उसी प्रकार आत्मा पर जब तक ज्ञानावरणीयकर्म का मल रहता है तब तक उसका न्यूनाधिक और विचित्र क्षयोपशम होता है, तभी तक आत्मा में न्यूनाधिक क्षयोपशम वाले मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान रहते हैं। परन्तु जैसे ही आत्मा पर लगा हुआ ज्ञानावरणीय कर्म-मल नष्ट होता है, वैसे ही आत्मा में एक पूर्ण-केवल ज्ञान उत्पन्न हो जाता है और वही रहता है। यह केवलज्ञान इन्द्रिय, प्रकाश और मनोव्यापार की अपेक्षा से रहित होने से असहाय है।

प्रश्न - केवलज्ञान आत्मा की सहायता से उत्पन्न होता है, इसलिए इसे केवल (असहाय) नहीं कह सकते हैं। **उत्तर** - नहीं, क्योंकि ज्ञान से भिन्न आत्मा नहीं होती है, इसलिए इसे असहाय कहने में आपत्ति नहीं है।

प्रश्न - केवलज्ञान अर्थ की सहायता लेकर प्रवृत्त होता है, इसलिए इसे केवल (असहाय) नहीं कह सकते हैं। **उत्तर** - नहीं, क्योंकि नष्ट हुए अतीत पदार्थों में और उत्पन्न नहीं हुए अनागत पदार्थों में भी केवलज्ञान की प्रवृत्ति पायी जाती है, इसलिए यह अर्थ की सहायता से होता है, ऐसा नहीं कहा जा सकता।⁵⁴

प्रश्न - प्रत्यक्ष अवधि व मनःपर्यय ज्ञान भी इन्द्रियादि को अपेक्षा न करके केवल आत्मा के आश्रय से उत्पन्न होते हैं इसलिए उनको भी केवलज्ञान क्यों नहीं कहते हो? **उत्तर** - जिसने सर्व ज्ञानावरणीय कर्म का नाश किया है, ऐसे केवलज्ञान को ही 'केवलज्ञान' कहना रूढ है, अन्य ज्ञानों में 'केवल' शब्द की रूढ़ि नहीं है।⁵⁵

केवलज्ञान के स्वामी अथवा प्रकार

केवलज्ञान क्षायिक ज्ञान है, यह ज्ञानावरण कर्म का क्षय होने पर ही उत्पन्न होता है। मति आदि चार ज्ञानों से युक्त एक ज्ञानी से दूसरे ज्ञानी के ज्ञान में षट्स्थानपतित का अन्तर होता है।⁵⁶ लेकिन एक केवलज्ञानी से दूसरे केवलज्ञानी के ज्ञान में कोई अन्तर नहीं होता है, अतः मति आदि चार ज्ञान की तरह केवलज्ञान का कोई भी भेद नहीं। यहाँ पर जो केवलज्ञान के भेद (भवस्थ आदि) बताये हैं, वह स्वामी, भवस्थ और सिद्ध की अपेक्षा बताये हैं। अतः केवलज्ञान एक ही प्रकार का होता है, परन्तु स्वामी की अपेक्षा से इसके दो प्रकार होते हैं - १. भवस्थ केवलज्ञान तथा २. सिद्ध केवलज्ञान।⁵⁷

भवस्थ केवलज्ञान - मनुष्य भव में रहते हुए चार घाति-कर्म नष्ट होने से उत्पन्न होने वाला ज्ञान भवस्थ केवलज्ञान है। **सिद्ध केवलज्ञान** - जिन्होंने अष्ट कर्मों को क्षय कर सिद्धि प्राप्त करली, ऐसे केवली का केवलज्ञान। दिगम्बर परम्परा में भवस्थ केवलज्ञान को तद्भवस्थ केवलज्ञान कहा गया है।⁵⁸

मीमांसक दर्शन का अभिमत है कि मनुष्य सर्वज्ञ नहीं हो सकता।⁵⁹ वैशेषिक दर्शन का अभिमत है

54. कसायपाहुडं, पु. 1 गाथा 1, पृ. 19

55. भगवती आराधना, गाथा 50, पृ. 95

56. प्रज्ञापना, पद 5 (जीवपर्याय)

57. केवलगाणं दुविहं पण्णत्तं, तं जहा-भवत्थकेवलगाणं च सिद्धकेवलगाणं च। पारसमुनि, नंदीसूत्र, पृ. 86

58. कसायपाहुडं, पु. 1 गाथा 16, पृ. 311

कि मुक्त जीव में ज्ञान नहीं होता।⁶⁰ लेकिन यह दोनों मत सही नहीं है। इन दोनों मतों का निराकरण जैनदर्शन में वर्णित केवलज्ञान के उपर्युक्त दोनों भेदों से हो जाता है। भवस्थ केवलज्ञान से यह सिद्ध होता है कि मनुष्य सर्वज्ञ हो सकता है। सिद्ध केवलज्ञान इस बात का सूचक है कि मुक्त आत्मा में ज्ञान(केवलज्ञान)विद्यमान रहता है।

विशेषावश्यकभाष्य में केवलज्ञान के स्वामी आदि के सम्बन्ध में विशेष वर्णन प्राप्त नहीं होता है।

केवली का लक्षण

जो केवलज्ञान का स्वामी होता है, उसे केवली कहते हैं। आवश्यकनिर्युक्ति में इसका लक्षण स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि जो पंचास्तिकायात्मक लोक को सम्पूर्ण रूप से जानते-देखते हैं, वे केवली हैं। यहाँ केवल शब्द के दो अर्थ विवक्षित हैं, एक और सम्पूर्ण। जिनके एक ज्ञान (केवलज्ञान) और एक चरित्र (यथाख्यात) होता है अथवा जिनके सम्पूर्ण ज्ञान और सम्पूर्ण चरित्र होता है, वे केवली कहलाते हैं।⁶¹

2. षट्खण्डागम के अनुसार - जिसके केवलज्ञान पाया जाता है, उन्हें केवली कहते हैं।⁶²

3. सर्वार्थसिद्धि में कहा गया है कि जिनका ज्ञान आवरण रहित है वे केवली कहलाते हैं।⁶³

4. तत्त्वार्थराजवार्तिक के अनुसार ज्ञानावरण का अत्यंत क्षय हो जाने पर जिनके स्वाभाविक अनंतज्ञान प्रकट हो गया है तथा जिनका ज्ञान इन्द्रिय कालक्रम और दूर देश आदि के व्यवधान से परे है और परिपूर्ण है, वे केवली हैं।⁶⁴

1. भवस्थ केवलज्ञान

यहाँ भव का अर्थ मनुष्यभव है, क्योंकि कर्मों का क्षय मनुष्यभव में ही होता है। अतः मनुष्यभव में रहे हुए चार घातिकर्म रहित जीवों को जो केवलज्ञान होता है, ऐसे केवली को भवस्थ केवली कहते हैं।⁶⁵ अथवा आयुपूर्वक मनुष्य देह में अविस्थित केवलज्ञान को भवस्थ केवलज्ञान कहते हैं।

नंदीचूर्णि के अनुसार - मनुष्य भव में स्थित मनुष्य का केवलज्ञान भवस्थ केवलज्ञान है।⁶⁶

आवश्यकचूर्णि के अनुसार - भवस्थ केवलज्ञान वह है, जो मनुष्य भव में अवस्थित व्यक्ति के ज्ञानावरणीय आदि चार घातिकर्मों के क्षीण होने पर उत्पन्न होता है। जब तक शेष चार अघाति कर्म क्षीण नहीं होते, तब तक वह भवस्थ केवलज्ञान कहलाता है।⁶⁷

भवस्थ केवलज्ञान के भेद

भवस्थ केवलज्ञान दो प्रकार का होता है - 1. सयोगी भवस्थ केवलज्ञान, 2. अयोगी भवस्थ केवलज्ञान।⁶⁸

योग - वीर्यात्मा अर्थात् आत्मिक शक्ति से आत्म-प्रदेशों में स्पंदन होने से मन-वचन और काया में जो व्यापार होता है, उसको योग कहते हैं तथा योग निरोध होने से जीव अयोगी कहलाता है।

59. मीमांसा दर्शनम्, श्लोक 110 से 143

60. तर्कभाषा पृ. 194

61. आवश्यक निर्युक्ति गाथा 1079

62. षट्खण्डागम, पु. 1, 1.1.22, पृ. 192

63. सर्वार्थसिद्धि, 9.38 पृ. 358

64. तत्त्वार्थराजवार्तिक, 6.13.1, पृ. 261

65. हरिभद्रीय पृ. 34, तत्रेह भवो मनुष्यभव एव ग्राह्योऽन्यत्र केललोत्पादाभावात्, भवे तिष्ठन्तीति भवस्थाः।

- मलयगिरि, नंदीवृत्ति, पृ. 112

66. नंदीचूर्णि, पृ. 33

67. आवश्यकचूर्णि, भाग 1, पृ. 74

68. भवस्थकेवलज्ञानं दुविहं पण्णत्तं, तं जहा-सजोगिभवस्थकेवलज्ञानं च अजोगिभवस्थकेवलज्ञानं च। पारसमुनि, नंदीसूत्र, पृ. 87

1. सयोगी भवस्थ केवलज्ञान

चार घाति-कर्म रहित संसारी केवलियों का केवलज्ञान जिसमें मन, वचन, काय, इन तीन योगों का व्यापार रहता है, वह सयोगी भवस्थ केवलज्ञान कहलाता है।⁶⁹ केवलज्ञान की प्राप्ति से लेकर जब तक शैलेषी अवस्था प्राप्त नहीं होती, तब तक वह केवलज्ञान सयोगी भवस्थ केवलज्ञान कहलाता है।⁷⁰ योगों का व्यापार केवली की आयुष्य का अन्तर्मुहूर्त बाकी रहता है तब तक चलता है।⁷¹

सयोगी भवस्थ केवलज्ञान के भेद

सयोगी भवस्थ केवलज्ञान के काल की अपेक्षा दो भेद होते हैं - १. प्रथम समय की सयोगी भवस्थ-अवस्था का केवलज्ञान और २. अप्रथम समय की सयोगी भवस्थ-अवस्था का केवलज्ञान। अथवा अन्य प्रकार से कहें तो १. चरम समय की सयोगी भवस्थ-अवस्था का केवलज्ञान तथा २. अचरम समय की सयोगी भवस्थ-अवस्था का केवलज्ञान।⁷²

१. प्रथम समय सयोगी भवस्थ केवलज्ञान- चार घाति कर्म क्षय करके पहले समय के संसारस्थ केवलियों का केवलज्ञान। केवलज्ञान तेरहवें गुणस्थान में प्रवेश के पहले समय में ही उत्पन्न होता है, इसलिए इसे प्रथम समय का सयोगी भवस्थ केवलज्ञान कहते हैं और **२. अप्रथम समय सयोगी भवस्थ केवलज्ञान** - जिन्हें चार घाति-कर्म क्षय किये पहला समय बीत गया है, ऐसे दूसरे समय से लेकर चरम समयवर्ती सभी सयोगी केवलियों का केवलज्ञान अथवा जिसे तेरहवें गुणस्थान में रहते हुए एक से अधिक समय हो जाता है, उसे अप्रथम समय का सयोगी भवस्थ केवलज्ञान कहते हैं

अथवा - **१. चरम समय सयोगी भवस्थ केवलज्ञान** - जिनकी सयोगी अवस्था का वर्तमान समय अन्तिम समय है, ऐसे मनुष्य भव में रहे हुए संसारी केवलियों का केवलज्ञान अथवा जो तेरहवें गुणस्थान के अन्तिम समय पर पहुँच गया है, उसे चरम समय सयोगी भवस्थ केवलज्ञान कहते हैं। और **२. अचरम समय सयोगी भवस्थ केवलज्ञान** - जिनकी सयोगी अवस्था का वर्तमान समय में अन्तिम समय नहीं आया है ऐसे मनुष्य भव में रहे हुए संसारी केवलियों का केवलज्ञान अथवा जो तेरहवें गुणस्थान के चरम समय में नहीं पहुँचा उसके ज्ञान को अचरम समय सयोगी भवस्थ केवलज्ञान कहते हैं। चार घाति-कर्मों की जिस समय सर्वांश निर्जरा हो रही होती है, उसके अनंतर दूसरे समय में मनुष्य को केवलज्ञान उत्पन्न होता है। चार घाति-कर्मों के क्षय का समय और केवलज्ञान की उत्पत्ति का समय, दोनों का समय एक ही है।

2. अयोगी भवस्थ केवलज्ञान

जिन्होंने मन, वचन और काय, इन तीनों योगों का निरोध कर शैलेषी अवस्था प्राप्त कर ली है, ऐसे घाति-कर्म रहित संसारी मनुष्य (आसन्न मुक्ति वाले) केवलियों का केवलज्ञान। अथवा केवली जब काययोगादि तीन योगों का त्याग करते हैं तब उसको अयोगी भवस्थ कहते हैं। इसमें वे केवली शैलेषी अवस्था को प्राप्त करते हैं।⁷³ सयोगी भवस्थ के समान अयोगी भवस्थ के भी दो प्रकार हैं।

69. नंदीचूर्ण पृ. 34, हारिभद्रीय पृ. 35, मलयगिरि पृ. 112

70. आवश्यकचूर्ण भाग 1, पृ. 74

71. सर्वार्थसिद्धि, अध्ययन 9 सूत्र 44, पृ. 360

72. सजोगिभवत्थ-केवलणाणं दुविहं पण्णत्तं, तं जहा-पढमसमयसजोगिभवत्थकेवलणाणं च अपढमसमयसजोगिभवत्थकेवल-णाणं च, अहवा चरमसमयसजोगिभवत्थकेवलणाणं च अचरमसमयसजोगि-भवत्थ-केवलणाणं च। - पारसमुनि, नंदीसूत्र, पृ. 87

73. नंदीचूर्ण 34, हारिभद्रीय 35, योगा अस्स विद्यन्ते इति योगी न योगी अयोगी अयोगी चासौ भवस्थश्च अयोगिभवस्थः, शैलेश्यवस्थामुपागत इत्यर्थः, तस्य केवलज्ञानमयोगिभवस्थकेवलज्ञानं। - मलयगिरि, नंदीवृत्ति, पृ. 113

अयोगी भवस्थ केवलज्ञान के भेद

अयोगी भवस्थ केवलज्ञान के दो भेद हैं - १. प्रथम समय की अयोगी भवस्थ अवस्था का केवलज्ञान - जिन्हें अयोगी अवस्था प्राप्त हुए पहला समय ही है, ऐसे केवलियों का केवलज्ञान अथवा जिस केवलज्ञानी को चौदहवें गुणस्थान में प्रवेश किये हुए पहला समय ही हुआ है उसके केवलज्ञान को प्रथम समय अयोगी भवस्थ केवलज्ञान कहते हैं तथा २. अप्रथम समय की अयोगी भवस्थ अवस्था का केवलज्ञान - जिन्हें अयोगी अवस्था प्राप्त किये पहला समय बीत गया है। ऐसे मनुष्य भव में रहे हुए संसारस्थ केवलियों का केवलज्ञान अथवा जिसे चौदहवें गुणस्थान में प्रवेश किये अनेक समय हो गये हैं, उनके केवलज्ञान को अप्रथम समय अयोगी भवस्थ केवलज्ञान कहते हैं।

अथवा १. चरम समय की अयोगी भवस्थ अवस्था का केवलज्ञान - जिनकी अयोगी अवस्था का वर्तमान समय अन्तिम समय है, ऐसे मनुष्य भव में रहे हुए संसारस्थ केवलियों का केवलज्ञान अथवा जिसे सिद्ध होने में एक समय ही शेष रहा है, उसके ज्ञान को चरम समय अयोगी भवस्थ केवलज्ञान कहते हैं तथा २. अचरम समय की सयोगी भवस्थ अवस्था का केवलज्ञान-जिनकी अयोगी अवस्था का वर्तमान समय में अन्तिम समय नहीं आया है, ऐसे मनुष्य भव में रहे हुए संसारस्थ केवलियों का केवलज्ञान अथवा जिसके सिद्ध होने से एक से अधिक समय शेष है, ऐसे चौदहवें गुणस्थान के स्वामी के केवलज्ञान को अचरम समय अयोगी भवस्थ केवलज्ञान कहते हैं।⁷⁴

दिगम्बर परम्परा में सयोगी व अयोगी केवली - जिनके केवलज्ञान पाया जाता है, उन्हें केवली कहते हैं। जिनमें योग के साथ केवलज्ञान रहता है, उन्हें सयोगी केवली कहते हैं। जिसके योग विद्यमान नहीं है उसे अयोगी कहते हैं। जिनमें योगरहित अवस्था में केवलज्ञान होता है, उन्हें अयोगी केवली कहते हैं।⁷⁵ ऐसा ही वर्णन पंचसंग्रह, तत्त्वार्थराजवार्तिक और गोम्मटसार⁷⁶ में भी है। दिगम्बर परम्परा में श्वेताम्बर परम्परा के समान सयोगी और अयोगी केवली के केवलज्ञान के भेद प्राप्त नहीं होते हैं।

सयोगी व अयोगी केवली में अंतर - जैसे कोई मनुष्य चोरी नहीं करता है, परन्तु चोर का संसर्ग करता है तो उसको चोर के संसर्ग का दोष लगता है, उसी प्रकार सयोगी केवली के चारित्र का नाश करने वाले चारित्रमोह कर्म के उदय का अभाव है, तो भी निष्क्रिय (क्रियारहित) शुद्ध अयोगी आत्मा के आचरण से विलक्षण जो तीन योगों का व्यापार है, वह चारित्र में दूषण उत्पन्न करता है। तीनों योगों से रहित जो अयोगी जिन हैं, उनके अंत समय को छोड़कर चार अघाती कर्मों का तीव्र उदय चारित्र में दूषण उत्पन्न करता है और अन्तिम समय में उन अघाती कर्मों का मंद उदय होने पर चारित्र में दोष का अभाव हो जाने से अयोगी जिन मोक्ष को प्राप्त हो जाते हैं।⁷⁷

2. सिद्ध केवलज्ञान

सर्वकर्ममुक्त सिद्धों का ज्ञान सिद्ध केवलज्ञान है।⁷⁸ अर्थात् जो अष्ट कर्म क्षय कर मोक्ष सिद्धि पा चुके, उनका केवलज्ञान, सिद्ध केवलज्ञान है। ऐसा वर्णन आवश्यक चूर्णि में भी है।⁷⁹

74. अजोगिभवत्थकेवलज्ञानं दुविहं पण्णत्तं तं जहा-पढमसमय अजोगिभवत्थकेवलज्ञानं च अपढमसमयअजोगिभवत्थकेवल-ज्ञानं च अहवा चरमसमय अजोगिभवत्थकेवलज्ञानं च अचरमसमयअजोगिभवत्थ-केवलज्ञानं च। -पारसमुनि, नंदीसूत्र, पृ. 88

75. षट्खण्डागम, पृ. 1, 1.1.22, पृ. 192

76. पंचसंग्रह, गाथा 27-30, तत्त्वार्थराजवार्तिक, 9.1.24, पृ. 318, गोम्मटसार जीवकांड, गाथा 63-65

77. बृहत् द्रव्यसंग्रह, अधिकार 1, गाथा 13 टीका पृ. 29

78. सव्वकम्मविप्पमुक्को सिद्धो, तस्स तं ज्ञानं तं सिद्धकेवलज्ञानं। नंदीचूर्णि पृ. 43

79. आवश्यकचूर्णि 1 पृ. 74

सिद्ध का स्वरूप

जो जिस गुण से परिनिष्ठ (परिपूर्ण) है तथा पुनः परिनिष्ठ होना नहीं पड़ता, वह उस गुण में सिद्ध कहलाता है। विशेषावश्यकभाष्य में नामसिद्ध, स्थापनासिद्ध, द्रव्यसिद्ध, कर्मक्षयसिद्ध इत्यादि सिद्ध के चौदह प्रकार बताये हैं।⁸⁰ उसमें से यहाँ पर कर्मक्षय सिद्ध (समस्त कर्मों का क्षय करने वाला अर्थात् समस्त कर्म क्षीण कर सिद्ध होने वाला) प्रासंगिक है, क्योंकि उसके सिवाय शेष सिद्धों के केवलज्ञान नहीं होता है।

सित का अर्थ है - दग्ध करना। जो आठ प्रकार की बद्ध कर्मरजों को ध्यानाग्नि से दग्ध करता है, वह सिद्ध है।⁸¹ मलयगिरि ने भी ऐसा ही उल्लेख किया है।⁸²

जो ज्ञानावरणादि कर्मों से सर्वथा मुक्त हैं, सुनिर्वृत्त हैं, निरंजन हैं, नित्य हैं, ज्ञान, दर्शन, अव्याबाध सुख, वीर्य, अवगाहन, सूक्ष्मत्व और अगुरुलघु इन आठ गुणों से युक्त हैं, कृतकृत्य हैं और लोक के अग्रभाग में निवास करते हैं, उन्हें सिद्ध कहते हैं।⁸³

सिद्ध केवलज्ञान के प्रकार

सिद्ध केवलज्ञान काल की अपेक्षा से दो प्रकार का है - १. अनन्तरसिद्ध केवलज्ञान और २. परम्पर सिद्ध केवलज्ञान।⁸⁴

१. अनन्तरसिद्ध केवलज्ञान

जिनदासगणि के अनुसार १. सिद्ध अवस्था के प्रथम समय का ज्ञान अनन्तरसिद्ध केवलज्ञान है।⁸⁵ २. जिस समय में एक केवली सिद्ध होता है, उसके अनन्तर दूसरे समय में अन्य केवली सिद्ध होता है, उनमें प्रथम केवली का ज्ञान अनन्तर सिद्ध केवलज्ञान है।⁸⁶

हरिभद्र और मलयगिरि कहते हैं कि जिन्हें सिद्ध हुए एक समय का भी अन्तर (एक समय भी नहीं बीता) नहीं हुआ अर्थात् जिनके सिद्धत्व का पहला समय है, अथवा जो वर्तमान समय में सिद्ध हो रहे हैं, उनका केवलज्ञान और शैलेशी अवस्था के अंतिम समय को पूर्णकर सिद्धावस्था को प्राप्त जीव का केवलज्ञान अनन्तर सिद्ध केवलज्ञान है।⁸⁷

अनन्तरसिद्ध के भेद

अनन्तर सिद्ध केवलज्ञान के पन्द्रह भेद हैं - १. तीर्थसिद्ध २. अतीर्थसिद्ध ३. तीर्थकर सिद्ध ४. अतीर्थकर सिद्ध ५. स्वयंबुद्ध सिद्ध ६. प्रत्येकबुद्ध सिद्ध ७. बुद्ध-बोधित सिद्ध ८. स्त्रीलिंग सिद्ध ९. पुरुषलिंग सिद्ध १०. नपुंसकलिंग सिद्ध ११. स्वलिंग सिद्ध १२. अन्यलिंग सिद्ध १३. गृहस्थलिंग सिद्ध १४. एक सिद्ध तथा १५. अनेक सिद्ध।⁸⁸ सिद्ध के पंद्रह भेद नंदीसूत्रकार के स्वोपज्ञ हैं या इनका कोई प्राचीन आधार रहा होगा? प्रज्ञापनासूत्र⁸⁹ में भी इनका उल्लेख है। प्रज्ञापनासूत्र, नंदीसूत्र की अपेक्षा

80. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 3027, 3028

81. आवश्यकनिर्युक्ति गाथा 953

82. 'षिधू संराद्धौ' सिध्यति स्म सिद्धः यो येन गुणेन परिनिष्ठतो न पुनः साधनीयः स सिद्ध उच्यते, यथा सिद्ध ओदनः, स च कर्मसिद्धादिभेदादनेकविधः, अथवा सितं-बद्धं ध्यातं-भस्मीकृतमृष्टप्रकारं कर्म येन स सिद्ध पृषोदरादय इति रूपसिद्धिः, सकलकर्मविनिर्मुक्तो मुक्तावस्थामुपागत इत्यर्थः। - मलयगिरि, नंदीवृत्ति, पृ. 112

83. षट्खण्डागम, पु. 1, 1.1.23, गाथा 127, पृ. 200

84. सिद्धकेवलज्ञानं दुविहं पण्णत्तं, तं जहा-अणंतरसिद्धकेवलज्ञानं च परंपरसिद्धकेवलज्ञानं च। - पारसमुनि, नंदीसूत्र पृ. 89

85. नंदीचूर्णि पृ. 44

86. आवश्यकचूर्णि 1 पृ. 75

87. हरिभद्रीय, नंदीवृत्ति, पृ. 44, मलयगिरि, नंदीवृत्ति, पृ. 113

88. अणंतरसिद्धकेवलज्ञानं पण्णरसविहं पण्णत्तं तं जहा - १. तित्थसिद्धा, ...१५. अणेगसिद्धा। - पारसमुनि, नंदीसूत्र, पृ. 90

89. युवाचार्य मधुकरमुनि, प्रज्ञापनासूत्र पद 1, पृ. 32

अधिक प्राचीन है। जीवाभिगमसूत्र एवं स्थानांगसूत्र में सिद्ध के पंद्रह प्रकारों का उल्लेख मिलता है।⁹⁰ उमास्वाति ने तत्त्वार्थसूत्र में सिद्धों के वर्णन में क्षेत्रादि बारह द्वारों से विस्तृत वर्णन किया है।⁹¹ इससे इन भेदों की प्राचीनता सिद्ध होती है। इन पन्द्रह भेदों का उल्लेख पूर्व मनुष्य भव के अनुसार है।⁹² इससे इन भेदों को भवस्थ केवली के अंतिम समय के साथ जोड़ सकते हैं, क्योंकि सिद्धत्व में तरतमभाव नहीं है अर्थात् ये पंद्रह भेद सिद्ध होने की पूर्व अवस्था के अनुसार हैं।

1. तीर्थसिद्ध – जो चातुर्वर्ण्य श्रमणसंघ में प्रव्रजित होकर मुक्त होते हैं, वे तीर्थसिद्ध हैं, जैसे जम्बूस्वामी आदि।⁹³ मलयगिरि ने तीर्थ के चार अर्थ किये हैं – १. जिससे संसार समुद्र तिरा जाय उस धर्म को, २. जीवादि पदार्थों की सम्यक् प्ररूपणा करने वाले तीर्थकरों के वचन को, ३. प्रथम गणधर को ४. तथा तीर्थाधार संघ को भी तीर्थ कहा है।⁹⁴ जो संघ की विद्यमानता में सिद्ध हुए वे ‘तीर्थ सिद्ध’ हैं। तीर्थ की स्थापना करने वाले तीर्थकर होते हैं। तीर्थ, चतुर्विध श्री संघ का पवित्र नाम है, चतुर्विध संघ को भाव तीर्थ भी कहते हैं। यहां द्रव्य तीर्थ का निषेध है। तीर्थकर भगवान् शत्रुंजय, सम्मत्तशिखर आदि द्रव्य तीर्थ की स्थापना करने वाले नहीं होते हैं। भगवतीसूत्र⁹⁵ में भी ऐसा ही उल्लेख है। व्याख्याकारों ने ‘पढमगणधरो वा’ कहकर प्रथम गणधर को भी तीर्थ कह दिया है। इसका कारण प्रथम गणधर चतुर्विध तीर्थ में प्रमुख होते हैं। प्रमुख में सभी का समावेश हो जाता है। ‘हस्तिपदे सर्वपादाः निमग्नाः’ इस सूक्ति के अनुसार ही सम्भवतः प्रथम गणधर को भी तीर्थ कहा जाता है।

2. अतीर्थसिद्ध – चातुर्वर्ण्य श्रमणसंघ के बिना भी जो मुक्त होता है, वह अतीर्थसिद्ध है। चूर्णिकार ने मरुदेवी का उदाहरण दिया है।⁹⁶ हरिभद्रसूरि ने बताया है – जो जातिस्मरण के द्वारा मोक्षमार्ग को प्राप्त कर सिद्ध होते हैं, वे अतीर्थसिद्ध कहलाते हैं।⁹⁷ चूर्णिकार ने जातिस्मरण का उल्लेख स्वयंबुद्ध के प्रसंग में किया है। स्वयंबुद्ध सिद्ध दो प्रकार के होते हैं – तीर्थकर और तीर्थकर से भिन्न। प्रस्तुत प्रसंग में तीर्थकर से भिन्न विवक्षित है।⁹⁸ मलयगिरि ने इन दोनों का समावेश कर वर्णन किया है कि जो तीर्थ स्थापन करने से पहले या तीर्थ विच्छेद के पश्चात् जाति स्मरणादि से बोध प्राप्त कर सिद्ध होते हैं, उन्हें अतीर्थसिद्ध कहते हैं, जैसे – मरुदेवी माता तीर्थ की स्थापना होने से पूर्व ही सिद्ध हुई। भगवान् सुविधिनाथजी से लेकर शांतिनाथजी तक आठ तीर्थकरों के बीच, कालान्तर में तीर्थ व्यच्छेद हुआ था। उस समय जातिस्मरण आदि ज्ञान उत्पन्न होने पर, फिर केवली होकर जो सिद्ध हुए हैं, उन्हें अतीर्थसिद्ध कहते हैं।⁹⁹ उमास्वाति के अनुसार अतीर्थकर सिद्ध कभी तीर्थ प्रवर्तित हों तब भी होते हैं और तीर्थ प्रवर्तित नहीं हो तब भी होते हैं।¹⁰⁰

3. तीर्थकर सिद्ध – जिनके तीर्थकर नामकर्म का उदय होता है और जो तीर्थकर अवस्था में मुक्त होते हैं, वे ऋषभ आदि तीर्थकर सिद्ध हैं।¹⁰¹ जो तीर्थकर नाम-कर्म के उदय वाले हैं, चौंतीस

90. युवाचार्य मधुकरमुनि, स्थानांगसूत्र स्थान 1, पृ. 17

91. क्षेत्र-काल-गति-लिंग-तीर्थ-चारित्र-प्रत्येक-बुद्धबोधित-ज्ञानाऽवगाहनाऽन्तर-सङ्ख्याऽल्पबहुत्वतः साध्याः।

– सभाष्यतत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् 10.7

92. हरिभद्रीय, नंदीवृत्ति, पृ. 45

93. नंदीचूर्ण पृ. 44

94. ‘तित्थसिद्धा’ इत्यादि – तीर्थते संसारसागरोऽनेनति तीर्थ-यथावस्थितसकलजीवाजीवादिपदार्थसार्थप्ररूपकपरमगुरुप्रणीतं प्रचवन्नं, तच्च निराधारं, न भवतीति कृत्वा संघ, प्रथमगणधरो वा वेदितव्यं। – मलयगिरि, नंदीवृत्ति, पृ. 130

95. तित्थं भन्ते! तित्थं, तित्थगरे तित्थं? गोयमा! अरहा ताव नियमा तित्थकरे, तित्थं पुण चाउव्वण्णाइण्णो समणसंघो, समणा समणीओ सावगा साविगाओ। युवाचार्य मधुकरमुनि, भगवतीसूत्र भाग 4, श. 20, उ. 8, पृ. 64

96. नंदीचूर्ण पृ. 44

97. हरिभद्रीय, नंदीवृत्ति, पृ. 45

98. नंदीचूर्ण पृ. 44

99. मलयगिरि, नंदीवृत्ति, पृ. 130

100. तत्त्वार्थभाष्य 10.7

101. नंदीचूर्ण पृ. 44

अतिशय सम्पन्न हैं, चार घाति-कर्म क्षय कर, अर्थ रूप से प्रवचन प्रकट कर गणधरादि चतुर्विध संघ की स्थापना करते हैं, ऐसे अर्हन्त को 'तीर्थकर' कहते हैं।

4. अतीर्थकर सिद्ध - जो सामान्य केवली के रूप में मुक्त होते हैं, वे अतीर्थकर सिद्ध हैं। सामान्य केवली, जैसे गौतम आदि।¹⁰² परोपकार करना, केवलज्ञान और सिद्धत्व में सहायक कारण है, परन्तु उत्कृष्ट उपकारी तीर्थकर बनकर सिद्ध होने वाली आत्माएं बहुत अल्प होती हैं। अधिकांश आत्माएँ सामान्य परोपकार करके या बिना परोपकार किये ही केवलज्ञान और सिद्धत्व प्राप्त कर लेती हैं।

5. स्वयंबुद्ध सिद्ध - जो स्वयंबुद्ध होकर मुक्त होते हैं अर्थात् जो बाह्य निमित्त के बिना किसी के उपदेश, प्रवचन सुने बिना ही जातिस्मरण, अवधिज्ञान आदि के द्वारा स्वयं विषय कषायों से विरक्त हो जाएँ, उन्हें स्वयंबुद्ध सिद्ध कहते हैं।¹⁰³ स्वयंबुद्ध के दो अर्थ किए गए हैं - 1. जिसे जातिस्मरण के कारण बोधि प्राप्त हुई है और 2. जिसे बाह्य निमित्त के बिना ही बोधि प्राप्त हुई है। मलयगिरि ने भी इस प्रसंग में जातिस्मरण का उल्लेख किया है।¹⁰⁴ स्वयंबुद्ध के बारह प्रकार की उपधि होती है। उनके पूर्व अधीत (सीखा) श्रुत होता भी है और नहीं भी होता। यदि वे अनधीतश्रुत होते हैं तो नियमतः गुरु के पास लिंग ग्रहण करते हैं और गच्छ में रहते हैं। जो पूर्व अधीतश्रुत होते हैं, उन्हें देवता लिंग प्रदान करते हैं अथवा वे गुरु के पास लिंग ग्रहण करते हैं। वे इच्छानुसार एकाकी विहार भी कर सकते हैं, अन्यथा गच्छ में विचरण करते हैं। इस अवस्था में सिद्ध होने वाले स्वयंबुद्धसिद्ध कहलाते हैं।¹⁰⁵

6. प्रत्येकबुद्ध सिद्ध - प्रत्येकबुद्ध का अर्थ है किसी बाह्य निमित्त से प्रतिबुद्ध होने वाला अर्थात् उपदेश, प्रवचन श्रवण किये बिना जो बाहर के निमित्तों द्वारा बोध को प्राप्त हुए हैं, जैसे नमिराजर्षि, उन्हें प्रत्येक बुद्ध सिद्ध कहते हैं।¹⁰⁶ आवश्यकचूर्णि में प्रत्येकबुद्ध की पहचान चार प्रकार से बताई है - **१. बोधि** - प्रत्येकबुद्ध बाह्य निमित्तों से प्रतिबुद्ध होते हैं और नियमतः प्रत्येक बुद्ध एकाकी विहार करते हैं। **२. उपधि** - इनके जघन्यतः दो प्रकार की उपधि होती है - रजोहरण और मुखवस्त्रिका तथा उत्कृष्टतः नौ प्रकार की उपधि होती है - पात्र, पात्रबंध, पात्रस्थापन, पात्रकेसरिका, पटल, रजस्त्राण, गोच्छग, रजोहरण और मुखवस्त्र। चोलपट्ट, मात्रक और तीन कल्प यह पांच प्रकार की उपधि इनके नहीं होती। स्थविरकल्पी मुनि के चौदह प्रकार की उपधि होती है। **३. श्रुत** - प्रत्येकबुद्ध के श्रुत नियमतः पूर्वअधीत होता है, जघन्यतः आचार आदि ग्यारह अंग, उत्कृष्ट भिन्न दस पूर्व। **४. लिंग** - इन्हें देवता लिंग प्रदान करते हैं, अथवा ये लिंगविहीन भी प्रव्रजित होते हैं।¹⁰⁷

7. बुद्धबोधित सिद्ध - जिन्होंने स्वयं या किसी बाह्य निमित्त से नहीं, परन्तु गुरु से बोध पाया, उन्हें 'बुद्ध बोधित' कहते हैं, जो बुद्ध से बोधित होकर सिद्ध हुए, उन्हें 'बुद्ध बोधित सिद्ध' कहते हैं। चूर्णिकार ने बुद्धबोधित के चार अर्थ किए हैं - १. स्वयंबुद्ध तीर्थकर आदि के द्वारा बोधि प्राप्त। २. कपिल आदि प्रत्येक बुद्ध के द्वारा बोधि प्राप्त। ३. सुधर्मा आदि बुद्धबोधित के द्वारा बोधि प्राप्त। ४. आचार्य के द्वारा प्रतिबुद्ध प्रभव आदि आचार्य से बोधि प्राप्त।¹⁰⁸ हरिभद्र और मलयगिरि ने बुद्धबोधित का अर्थ आचार्य के द्वारा बोधि प्राप्त किया है।¹⁰⁹ गुरु, केवलज्ञान और सिद्धत्व में सहायक कारण हैं। अतएव अधिकांश आत्माएँ उन्हीं से बोधित होकर केवलज्ञान और सिद्धत्व प्राप्त करती हैं। परन्तु कुछ आत्माएँ स्वयं या बोध रहित सचित्त-अचित्त वस्तुओं से बोध प्राप्त करके भी केवलज्ञान और सिद्धत्व प्राप्त कर लेती हैं।

102. नंदीचूर्णि पृ. 44

104. मलयगिरि, नंदीवृत्ति, पृ. 130

106. नंदीचूर्णि पृ. 44

108. नंदीचूर्णि, पृ. 45

103. नंदीचूर्णि पृ. 44

105. आवश्यकचूर्णि भाग 1, पृ. 76

107. आवश्यकचूर्णि भाग 1 पृ. 76

109. हारिभद्रीय वृत्ति पृ. 46, मलयगिरि नंदीवृत्ति पृ. 131

स्वयंबुद्ध और प्रत्येकबुद्ध सिद्धों में अन्तर – दोनों प्रकार के सिद्धों में पांच अन्तर हैं, यथा १. बोधि – स्वयंबुद्ध बाह्य कारण के बिना बोधि को प्राप्त करते हैं। जबकि प्रत्येकबुद्ध वृषभादि कारणों की मदद से बोधि प्राप्त करते हैं। २. श्रुत – स्वयंबुद्ध को पूर्व में सीखा हुआ श्रुतस्मरण हो भी सकता और नहीं भी। लेकिन प्रत्येकबुद्ध को पूर्व के श्रुत का स्मरण नियम से होता है, जो कि जघन्य ग्यारह अंग और उत्कृष्ट न्यून दस पूर्व होता है। ३. लिंग – स्वयंबुद्ध को पूर्वकाल के श्रुत का स्मरण होने पर उन्हें देव लिंग देते हैं अथवा गुरु के पास जाकर के भी ग्रहण कर सकते हैं। जबकि प्रत्येकबुद्ध को लिंग देव ही देते हैं और कुछ बिना लिंग के भी होते हैं। ४. विहार – स्वयंबुद्ध को पूर्वकाल का श्रुत स्मरण हो जाने पर वे एकलविहारी हो सकते हैं अथवा गच्छ में भी रह सकते हैं। लेकिन जिनको पूर्व में सीखा हुआ श्रुतस्मरण में नहीं आता है तो वे नियम से गच्छ में ही रहते हैं। जबकि प्रत्येकबुद्ध नियम से एकलविहारी होते हैं। ५. उपधि – स्वयंबुद्ध के चार प्रकार की उपधि होती है। जबकि प्रत्येकबुद्ध के जघन्यतः दो प्रकार की और उत्कृष्टतः नौ प्रकार की उपधि होती है।

उमास्वाति ने स्वयंबुद्धादि तीन प्रकार का वर्गीकरण दूसरे प्रकार से किया है। बुद्ध के दो प्रकार हैं – स्वयंबुद्ध और बुद्धबोधित। स्वयंबुद्ध के दो प्रकार हैं – तीर्थकर और प्रत्येकबुद्ध। बुद्धबोधित के दो प्रकार हैं – परबोधक और स्वेष्टकारी। इस वर्गीकरण में प्रत्येकबुद्ध और स्वयंबुद्ध का एक ही प्रकार है। प्रत्येकबुद्ध और बुद्धबोधित जीवों की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती है।¹¹⁰

8. स्त्रीलिंग सिद्ध – स्त्री का लिंग अथवा चिह्न स्त्री का उपलक्षण है। लिंग के तीन अर्थ हैं – १. वेद (कामविकार), २. शरीर-रचना, ३. नेपथ्य (वेशभूषा)। यहां लिंग का अर्थ शरीर रचना है। क्षीणवेदी जघन्य अन्तर्मुहूर्त उत्कृष्ट देशोन पूर्वकोटि में अवश्य सिद्ध होता है। नेपथ्य का कोई विषय नहीं है। इसलिए यहाँ वेद और नेपथ्य का प्रसंग नहीं है। शरीर का आकार विशेष नियम से वेदमोहनीय और शरीर नामकर्म के उदय से होता है। जो स्त्री की शरीर रचना में युक्त होते हैं, वे स्त्रीलिंगसिद्ध है।¹¹¹

स्त्रियों की मुक्ति-प्राप्ति के सम्बन्ध में जैन परम्परा में मतभेद है। दिगम्बर परम्परा में स्त्रियों की मुक्ति का अभाव अंगीकृत है, जबकि श्वेताम्बर परम्परा में स्त्रियों की मुक्ति को स्वीकार किया गया है। स्त्री का मोक्ष नहीं मानने के लिए दिगम्बर परम्परा में निम्न तर्क प्रस्तुत किये जाते हैं¹¹² –

१. स्त्रीत्व का त्रिरत्न के साथ में विरोध है। सम्मूर्च्छिम जीव स्वभाव से ही सम्यक् दर्शन आदि की आराधना नहीं कर सकते, अतः उनका निर्वाण असंभव है।¹¹³

२. स्त्रियां हीन सत्त्व वाली होने से सातवीं नारकी में नहीं जा सकती हैं।¹¹⁴

३. स्त्रियों का वस्त्र परिग्रह मोक्ष में बाधक है, क्योंकि स्त्रियाँ नग्न नहीं रह सकती हैं, उन्हें वस्त्र रखना होता है और वह वस्त्र उनका परिग्रह है।¹¹⁵

४. वस्त्र में जीव-जन्तु की उत्पत्ति होने से हिंसा होती है।

५. वह पुरुषों की अपेक्षा अवन्द्य है।¹¹⁶

६. उनमें माया और मोह का बाहुल्य होता है।

७. इनका हीन सत्त्व है। इससे इनको निवारण की प्राप्ति नहीं हो सकती है।

श्वेताम्बर परम्परा के आचार्यों ने उक्त युक्ति का निम्न प्रकार से समाधान दिया है –

१. निर्वाण के कारणभूत तीन रत्न स्त्रियों में हो सकते हैं, क्योंकि स्त्रियों में रत्नत्रय का अभाव

110. तत्त्वार्थभाष्य, भाग 2, 10.7 पृ. 309

111. नंदीचूर्णि पृ. 45

112. न्यायकुमुदचन्द्र, भाग 2, पृ. 865-878

113. प्रमेयकमलमार्तण्ड, भाग 2, पृ. 268

114. प्रमेयकमलमार्तण्ड, भाग 2, पृ. 259

115. प्रमेयकमलमार्तण्ड, भाग 2, पृ. 265

116. पुरुषैरवन्द्यत्वस्य गणधैर्यविचारः। - न्यायकुमुदचन्द्र, भाग 2, पृ. 875

प्रत्यक्ष, अनुमान एवं आगम से सिद्ध नहीं होता है। सम्यग् ज्ञान-दर्शन-चारित्र त्रिरत्न की आराधना करने पर ही जीव सिद्ध होता है, इनकी आराधना किए बिना कोई भी जीव सिद्ध हुआ नहीं, होता नहीं और होगा भी नहीं। जिस प्रकार भूख को शांत करने के लिए भोज्य पदार्थ आवश्यक है न कि पात्र। पात्र सोने का हो, पीतल का हो इत्यादि किसी भी धातु का हो, लेकिन उसमें भोज्य पदार्थ यदि क्षुधा को शान्त करने में उपयोगी है, तो उसका महत्त्व है और यदि वह योग्य नहीं है तो उस पात्र का कोई महत्त्व नहीं है। इसी प्रकार मुक्ति प्राप्ति में गुणों की आवश्यकता है, लिंग की नहीं। मुमुक्षु आत्मा मोहनीय कर्म का क्षय करके अवेदीपने को प्राप्त होता है। अवेदी जीव के लिए 'पुल्लिंग' शब्द का ही प्रयोग किया है। ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र में मल्लिभगवती जब गृहस्थ जीवन में थी, तब उन्हें 'मल्ली विदेहवरकन्या' से आगमकारों ने सम्बोधित किया है। लेकिन उन्हें केवलज्ञान प्राप्त होने के बाद उनके लिए 'मल्लि णं अरहा जिणे केवली' शब्दों का प्रयोग आगमकारों ने किया है। इससे स्पष्ट होता है कि अवेदी के लिए मात्र पुल्लिंग की क्रिया का ही प्रयोग किया जाता है। अतः स्त्रियाँ भी सम्यग् ज्ञान-दर्शन-चारित्र, इस रत्नत्रयी की आराधना कर सकती हैं एवं उनका निर्वाण संभव है।

२. अभवी सातवीं नरक में जा सकता है, लेकिन मोक्ष में नहीं, इस अन्तर का कारण उसके पारिणामिक भाव हैं। इसी प्रकार भुजपरिसर्प दूसरी नारकी, खेचर तीसरी नारकी, चतुष्पद चौथी नारकी और उरपरिसर्प पांचवी नारकी तक जा सकते हैं, उससे आगे जाने योग्य मनोवीर्य उनमें नहीं होता। भुजपरिसर्प आदि ऊँचे लोक में आठवें (सहस्रार) देवलोक तक जा सकते हैं। इससे स्पष्ट है, कि तिर्यच के इन भेदों में अधोगति के सम्बन्ध में मनोवीर्य की भिन्नता है, उनके ऊर्ध्वगति सम्बन्धी अन्तर नहीं है। इसी प्रकार स्त्री और पुरुष के अधोगति सम्बन्धी भिन्नता है, लेकिन निर्वाण के सम्बन्ध में नहीं है। स्त्री सातवीं नरक में नहीं जा सकती है, पुरुष जा सकते हैं। किन्तु स्त्री और पुरुष ये दोनों मुक्त हो सकते हैं।¹¹⁷ अन्तकृद्शा सूत्र के पांचवें, सातवें और आठवें वर्ग में साध्वियों ने उत्कृष्ट तपाराधना आदि करके मोक्ष को प्राप्त किया है। उनकी साधना कितनी उत्कृष्ट थी, उनका मनोबल पुरुष से कम नहीं था। इसलिए लिंग मोक्ष में बाधक नहीं है।

३. वस्त्र धारण करना परिग्रह नहीं, लेकिन 'मुच्छा परिग्रहो वुत्तो'¹¹⁸ के अनुसार ममत्व ही परिग्रह है। इसका समर्थन 'मूर्च्छा परिग्रहः'¹¹⁹ सूत्र भी करता है। यदि मन में ममत्व नहीं है, तो बाह्य वस्त्रादि परिग्रह रूप नहीं हो सकते हैं। यदि किसी भी वस्तु के प्रति मूर्च्छा भाव है तो वह परिग्रह रूप है। इसी अपेक्षा से भरत चक्रवर्ती अपरिग्रही बताये गये हैं।¹²⁰ भगवद् गीता में भी ऐसा ही उल्लेख मिलता है कि कर्मफल की आसक्ति नहीं रखकर कृतकर्म भी अकर्म है और कर्मफल का त्याग ही सच्चा त्याग है।¹²¹

४. प्रमाद का सेवन नहीं करने से वस्त्र में जीव नहीं होते हैं।

५. वंद्यत्व-अवंद्यत्व के साथ मोक्ष का सम्बन्ध नहीं है।

६. माया-मोह का बाहुल्य पुरुषों में भी हो सकता है।

७. तप और शील सत्त्व हैं, जो स्त्रियों में हो सकते हैं।

उपर्युक्त चर्चा के सम्बन्ध में दोनों परम्परा के आचार्यों ने अपने-अपने ग्रन्थों में विस्तार से खण्डन-मण्डन किया है। लेकिन विशेषावश्यकभाष्य में इस सम्बन्ध में विशेष उल्लेख नहीं है।

117. मलयगिरि, नंदीवृत्ति, पृ. 133

118. दशवैकालिक सूत्र अ. 6 गा. 12

119. तत्त्वार्थसूत्र अ. 7.12

120. मलयगिरि, नंदीवृत्ति, पृ. 131

121. भगवद् गीता. 4.20, 18.2

इसलिए इस सम्बन्ध में विशेष गवेषणा नहीं की गई है। लेकिन उपर्युक्त चर्चा का सारांश यही है कि श्वेताम्बर आगमों में स्त्रीलिंगसिद्ध का स्पष्ट वर्णन है। इसलिए स्त्री-मुक्ति को स्वीकार करना ही अधिक तर्क संगत प्रतीत होता है।

प्रश्न - क्या तीर्थकर भी स्त्रीलिंगसिद्ध होते हैं?

उत्तर - तीर्थकर भी स्त्रीलिंगसिद्ध होते हैं और सिद्धप्राप्त के अनुसार स्त्री तीर्थकर सबसे कम होते हैं।¹²²

9. पुरुषलिंग सिद्ध - जो पुरुष शरीर आकृति में सिद्ध हुए, उन्हें 'पुरुषलिंग सिद्ध' कहते हैं, जैसे गौतम आदि।

10. नपुंसक लिंग सिद्ध - जो नपुंसक शरीर आकृति के रहते हुए सिद्ध हुए, उन्हें 'नपुंसक लिंग सिद्ध' कहते हैं, जैसे गांगेय आदि। टीकाकारों के अनुसार जन्म नपुंसक चारित्र का अधिकारी नहीं होता, कृत्रिम नपुंसक ही चारित्र का अधिकारी होता है। 'पुरुष होते हुए भी जो लिंग-छेद आदि के कारण नपुंसकवेदक हो जाता है, ऐसे कृत्रिम नपुंसक को यहाँ पुरुष-नपुंसक कहा है, स्वरूपतः अर्थात् जो जन्म से नपुंसकवेदी है, उसे यहाँ ग्रहण नहीं किया गया है।'¹²³ अभयदेवसूरि ने भी पुरुष नपुंसक का अर्थ कृत्रिम नपुंसक किया है।¹²⁴ नंदीचूर्णि और नंदी की दोनों वृत्तियों में नपुंसक की व्याख्या उपलब्ध नहीं होती है।

टीकाकार ने पुरुष-नपुंसक का अर्थ कृतनपुंसक किया है जो आगमानुसार नहीं है, क्योंकि भगवती सूत्र के 26 वें शतक (बंधीशतक) से जन्म नपुंसक का उसी भव में मोक्ष जाना सिद्ध है। 26वें शतक में 47 बोलों की पृच्छा है। समुच्चय मनुष्य में 47 बोल पाये जाते हैं। 26वें शतक के दूसरे उद्देशक में अनन्तरोपपन्नक मनुष्य में समुच्चय के 47 बोलों में से 11 बोलों (अलेश्यी, मिश्रदृष्टि, मनःपर्यवज्ञान, केवलज्ञान, विभंगज्ञान, नो संज्ञोपयुक्त, अवेदी, अकषायी, मनोयोगी, वचनयोगी और अयोगी) को छोड़ कर शेष 36 बोल बताये हैं। इन 36 बोलों में नपुंसक-वेद भी शामिल है। 36 बोलों में से कृष्ण-पक्षी अनन्तरोपपन्नक मनुष्य में एक तीसरा भंग और शेष 35 बोल वाले अनन्तरोपपन्नक मनुष्य में आयुर्कर्म की अपेक्षा से दो भंग पाये जाते हैं - तीसरा और चौथा भंग। तीसरा भंग- कितनेक मनुष्यों ने आयुर्कर्म बांधा था, अब नहीं बांधते हैं, आगे बांधेंगे। (अत्थेगइए बंधी, न बंधति, बंधिस्सइ) चौथा भंग - कितने मनुष्यों ने आयुर्कर्म बांधा था, अब नहीं बांधते हैं, आगे नहीं बांधेंगे। (अत्थेगइए बंधी, न बंधति, न बंधिस्सति) यहाँ पर अनन्तरोपपन्नक का अर्थ है उत्पत्ति के प्रथम समय का जीव। अतः अनन्तरोपपन्नक मनुष्य का अर्थ हुआ कि जिसको उत्पन्न हुए पहला समय ही हुआ है वह मनुष्य।

आयुर्कर्म की अपेक्षा उपर्युक्त चौथा भंग चरम-शरीरी मनुष्य (उसी भव में मोक्ष जाने वाला) में ही घटित हो सकता है। क्योंकि चौथे भंग के अनुसार जीव ने पहले आयुष्य बांधा था, वर्तमान में नहीं बांध रहा है, और भविष्य में भी आयुष्य कर्म नहीं बांधेगा। जिस जीव के वर्तमान और भविष्य में आयुष्य नहीं बंधता है तो वह जीव उसी भव में मोक्ष जायेगा, क्योंकि बिना आयुर्कर्म बांधे जीव परभव में नहीं जाता है।

122. हरिभद्रीय, नंदीवृत्ति, पृ. 46

123. युवाचार्य मधुकरमुनि, भगवतीसूत्र श. 25 उ. 6 सूत्र नं. 11-16, पृ. 391-392

124. पुरुषः सन्धोनपुंसकवेदको वद्धितकत्वादिभावेन भवत्यसौ पुरुषनपुंसकवेदकः न स्वरूपेणनपुंसकवेदक इत्यावत्। भगवतीसूत्र वृत्ति, अहमदाबाद, आगम श्रुत प्रकाशन, पृ. 410

उत्पत्ति के प्रथम समय में कोई भी जीव परभव का आयुष्य नहीं बांधता है। अतः अनन्तरोपपन्नक मनुष्य के भी पहले अगले भव का आयुष्य बांधा हुआ नहीं हो सकता है। अतः कोई नपुंसक मनुष्य उत्पन्न हुआ है और उसमें उत्पत्ति के प्रथम समय से ही उसमें चौथा भंग है, तो यह मनुष्य जन्म से नपुंसक ही होगा। क्योंकि उत्पत्ति के प्रथम समय में जीव कृत्रिम नपुंसक नहीं हो सकता है। उत्पत्ति के प्रथम समय में अंगुल के असंख्यातवें भाग की अवगाहना होती है, उस समय कृत्रिम नपुंसकता तो हो ही नहीं सकती है। अतः अनन्तरोपपन्नक नपुंसक मनुष्य जन्म नपुंसक ही है। चौथे भंग के अनुसार वह किसी भी गति का आयु नहीं बांधता हुआ, उसी भव में मोक्ष जायेगा। यदि आगमकारों को नपुंसक का उसी भव में मोक्ष इष्ट नहीं होता तो वे कृष्ण पाक्षिक अनन्तरोपपन्नक मनुष्य के समान नपुंसक अनन्तरोपपन्नक मनुष्य में भी मात्र तीसरा भंग ही बताते, किन्तु आगमकारों ने नपुंसक अनन्तरोपपन्नक मनुष्य में आयुर्कर्म की अपेक्षा से मात्र चौथा भंग भी स्वीकार किया है। अतः इस प्रकार जन्म नपुंसक का मोक्ष जाना सिद्ध होता है।

कुछ व्याख्याकार भगवती सूत्र के उपर्युक्त पाठ का विरोध स्थानांग और बृहत्कल्प के आधार पर करते हैं, क्योंकि स्थानांग सूत्र के अनुसार तीन प्रकार के व्यक्तियों को प्रव्रजित करना नहीं कल्पता है - पंडक, वातिक, और क्लीब।¹²⁵ ऐसा ही वर्णन बृहत्कल्प सूत्र¹²⁶ में भी है। लेकिन दोनों स्थलों के मूलपाठ से जन्मनपुंसक और कृत्रिमनपुंसक की स्पष्टता नहीं होती है। मात्र वहाँ पर नपुंसक को दीक्षा देने का निषेध किया है।

उपर्युक्त वर्णन में स्थानांगादि में नपुंसक को दीक्षा देने का निषेध किया है एवं भगवती सूत्र के 26वें शतक से नपुंसक (पंडक) को दीक्षा देना ध्वनित होता है। इस प्रकार आगम पाठों में विरोध उत्पन्न होता है। अतः दोनों पाठों की संगति बिठाने के लिए ऐसा माना जाता है कि अनतिशयी (सामान्यज्ञानी) छद्मस्थ जन्म एवं कृत्रिम नपुंसक को दीक्षा नहीं दे सकते हैं। अतिशयी (विशिष्टज्ञानी) छद्मस्थ उन्हें दीक्षा दे सकते हैं। इस संगति से स्थानांग का पाठ सामान्यज्ञानी और भगवती का पाठ विशिष्ट ज्ञानी की अपेक्षा से है। इसी प्रकार बृहत्कल्प में जो उल्लेख है, वह श्रुतव्यवहारी की अपेक्षा से है, आगम व्यवहारी की अपेक्षा से नहीं। बृहत्कल्प स्वयं श्रुतव्यवहार है, आगम व्यवहार नहीं है।

यदि स्थानांग और बृहत्कल्प के निषेध से सम्पूर्ण प्रकार से नपुंसक की दीक्षा का निषेध समझा जाये तो जन्म और कृत्रिम दोनों प्रकार के नपुंसक का निषेध हो जायेगा। किन्तु ऐसा आगमकारों को इष्ट नहीं है। क्योंकि आगमों में सिद्धों के भेदों में नपुंसकलिंग सिद्ध बताया है। इसलिए यदि एकांत रूप से निषेध को ही ग्रहण करेंगे तो भगवती सूत्र के बंधी शतक का पाठ अप्रामाणिक मानना होगा। अतः दोनों पाठों को प्रामाणिक मानने के लिए उपर्युक्त रीति से समन्वय करना उचित है।

नपुंसकलिंग में सिद्ध होने का वर्णन भगवती सूत्र, स्थानांग सूत्र, पत्रवणा सूत्र, उत्तराध्ययन सूत्र आदि सूत्रों में स्पष्ट रूप से है। अतः उनकी दीक्षा होती है, लेकिन आगम व्यवहारी के अतिरिक्त अन्य साधु उन्हें दीक्षित नहीं कर सकते हैं। आगम व्यवहारी जन्म नपुंसक और कृत नपुंसक दोनों को दीक्षा दे सकते हैं और वे नपुंसक उसी भव में सिद्ध हो सकते हैं। भगवतीसूत्र शतक 25 उ. 7 में संयत के वर्णन में छेदोपस्थापनीयचारित्र के भी नपुंसकलिंग माना है। इससे यह तो निश्चित हो जाता है कि नपुंसक भी साधु बन सकता है। छेदोपस्थापनीय चारित्र तीर्थ में ही होता है।¹²⁷ इससे यह भी समझा जा सकता है कि नपुंसक को दीक्षा दी जा सकती है।

125. तओ णो कप्पंति पव्वावेत्तए, तं जहा-पंडए, वातिए, कीवे। युवाचार्य मधुकरमुनि, स्थानांग सूत्र, स्था. 3. उ. 4 पृ. 182

126. युवाचार्य मधुकरमुनि, त्रीणि छेदसूत्राणि (बृहत्कल्पसूत्र), उद्देशक 4 पृ. 200

127. भगवती सूत्र शतक 25 उ. 7

एकेन्द्रियादि असंज्ञीप्राणी नपुंसक वेदी ही होते हैं। लेकिन उनमें स्त्री और पुरुष नपुंसक का भेद स्पष्ट नहीं कर सकते हैं, लेकिन मनुष्यों में यह भेद स्पष्ट रूप से प्रतीत होता है। अतः पुरुष नपुंसक वेद का सीधा एवं स्पष्ट अर्थ छोड़कर कृत (कृत्रिम) नपुंसक की कल्पना करना कैसे उचित है? अतः मात्र टीका पाठ का आधार लेकर आगम पाठ की उपेक्षा करना सही नहीं है।

कृत-नपुंसक, वास्तविक नपुंसक नहीं है-यह बात ठीक है, परन्तु सवाल यह उत्पन्न होता है कि नपुंसक सिद्ध होता ही नहीं, तो नपुंसक-सिद्ध बताया ही कैसे? आगमकारों को दो लिंग वाले (स्त्री और पुरुष) ही सिद्ध बताने चाहिए थे। लेकिन आगमों में स्पष्ट रूप से तीन लिंगों के सिद्ध का उल्लेख है। उक्त प्रमाण से जन्म-नपुंसक (पुरुष नपुंसक) का मोक्ष जाना स्पष्ट सिद्ध होता है। जन्म नपुंसक भी पुरुष नपुंसक और स्त्री नपुंसक से दो प्रकार के होते हैं। अतः जन्म नपुंसक में भी पुरुष नपुंसक का ही मोक्ष समझना चाहिए। क्योंकि टीकाकारों ने तो जन्म नपुंसक मोक्ष नहीं जाता है, इतना ही उल्लेख किया है। इस सम्बन्ध में विशेष खुलासा नहीं है। लेकिन श्रुति परम्परा से स्त्री नपुंसक तो दीक्षा के ही अयोग्य होता है, इसलिए उसका मोक्ष जाना नहीं माना जाता है।

दिगम्बर परम्परा में स्त्रीलिंग सिद्ध की तरह नपुंसकलिंग सिद्ध को भी स्वीकार नहीं करती है।¹²⁸

11. स्वलिंग सिद्ध - जैन साधुओं का जो अपना लिंग है, वह 'स्वलिंग' है। स्वलिंग के दो प्रकार हैं - १. द्रव्यलिंग-रजोहरण और मुखवस्त्रिका, ये साधुओं के अपने बाहरी लिंग, 'द्रव्यलिंग' हैं। २. भावलिंग - अर्हन्त कथित सम्यग्ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप, ये आन्तरिक 'भावलिंग' हैं। भावलिंग आये बिना तो कोई भी सिद्ध होता ही नहीं। इसलिए यहाँ जो उल्लेख है वह द्रव्यलिंग की अपेक्षा है। इसलिए जो जैन साधुत्व के प्रदर्शक रजोहरण-मुखवस्त्रिका रूप लिंग-वेश, चिह्न के रहते सिद्ध हुए वे 'स्वलिंग सिद्ध' हैं। जैसे भरत चक्रवर्ती आदि।

12. अन्यलिंग सिद्ध - जो (भाव लिंग की अपेक्षा जैन लिंग से, किन्तु द्रव्यलिंग की अपेक्षा) तापस, परिव्राजक आदि वल्कल, काषाय वस्त्र, कमण्डलु, त्रिशूल आदि लिंग (वेश) में रहते हुए सिद्ध हुए, वे 'अन्यलिंग सिद्ध' हैं अर्थात् जो अन्यतीर्थी के वेश में मुक्त होता है। वह अन्यलिंगसिद्ध कहलाता है।¹²⁹ जैसे वल्कलचीरी आदि। सम्यक्त्व-प्रतिपन्न अन्यलिंगी केवलज्ञान प्राप्त करता है और यदि वह उसी क्षण मुक्त हो जाता है, तो उसका केवलज्ञान अन्यलिंगसिद्ध केवलज्ञान कहलाता है। यदि तत्काल उसका आयुष्य पूर्ण नहीं होता है तो वह जैन साधु (स्वलिंग) वेश को स्वीकार करता ही है।¹³⁰

13. गृहस्थलिंग सिद्ध - केश, अलंकार आदि से युक्त द्रव्यलिंग (भावलिंग की अपेक्षा भाव जैन साधुत्वलिंग से, किन्तु द्रव्य-लिंग की अपेक्षा) गृहस्थ वेश में रहते हुए जो सिद्ध हुए, वे 'गृहस्थलिंग सिद्ध' हैं।¹³¹ जैसे मरुदेवी आदि।

14. एक सिद्ध - जो अपने सिद्ध होने के समय में अकेले सिद्ध हुए, वे 'एक सिद्ध' हैं अर्थात् जिस समय में केवली सिद्ध होता है, उस समय अन्य कोई केवली सिद्ध नहीं होता है, तो उसको एक सिद्ध कहते हैं।¹³² जैसे भगवान् महावीर स्वामी।

15. अनेक सिद्ध - जो अपने सिद्ध होने के समय में अनेक (जघन्य दो, उत्कृष्ट एक सौ

128. न चैतद्वाच्यम्-नास्ति पुंसो मोक्षः स्त्रीतोऽन्यत्वात् नपुंसकवत्। - प्रमेयकमलमार्तण्ड, भाग 2, पृ. 269

129. नंदीचूर्णि, पृ. 45

131. नंदीचूर्णि, पृ. 45

130. आवश्यकचूर्णि भाग 1, पृ. 76

132. नंदीचूर्णि, पृ. 45

आठ) सिद्ध हुए, वे 'अनेक सिद्ध' हैं अर्थात् जिस समय में एक साथ दो या दो से अधिक केवली सिद्ध होते हैं, उनको अनेक सिद्ध कहते हैं।¹³³ जैसे ऋषभदेव आदि।

इन पन्द्रह भेदों से सिद्ध जीवों का केवलज्ञान ही अनन्तर सिद्ध केवलज्ञान है। उक्त पन्द्रह भेदों का समावेश सामान्य रूप से अधोलिखित तीर्थ आदि छह भेदों में भी किया जा सकता है।

1. तीर्थ - तीर्थ में दो भेदों का समावेश होता है - 1. तीर्थसिद्ध और 2. अतीर्थसिद्ध। जीव तीर्थ अथवा अतीर्थ में से एक में सिद्ध होता है।

2. तीर्थकर - तीर्थकर में दो भेदों का समावेश होता है - 1. तीर्थकरसिद्ध और 2. अतीर्थकरसिद्ध। जीव तीर्थकर बनकर अथवा बिना तीर्थकर बने सिद्ध होता है।

3. उपदेश - उपदेश में तीन भेदों का समावेश होता है - 1. स्वयंबुद्धसिद्ध 2. प्रत्येकबुद्धसिद्ध और 3. बुद्धबोधितसिद्ध। जीव इन तीनों में से किसी एक प्रकार से बोध प्राप्त करके सिद्ध होता है।

4. लिंग - लिंग में तीन भेदों का समावेश होता है - पुरुषलिंगसिद्ध, स्त्रीलिंगसिद्ध और नपुंसकलिंग। जीव इन तीनों में से एक प्रकार के द्रव्यलिंग से सिद्ध होता है। तीर्थकर नपुंसक लिंग नहीं होता है और प्रत्येकबुद्ध हमेशा पुलिंग ही होते हैं

5. बाह्य चिह्न - बाह्य चिह्न की दृष्टि से तीन भेद हैं - स्वलिंगसिद्ध, अन्यलिंगसिद्ध और गृहस्थलिंगसिद्ध। मुंहपत्ति रजोहरण आदि स्वलिंग हैं। परिव्राजक आदि वल्कल, काषाय वस्त्र, कमण्डलु आदि अन्यलिंग हैं और केश अलंकार आदि बाह्यलिंग हैं। उक्त तीनों भेद द्रव्यलिंग के हैं।¹³⁴ इन तीनों में से एक लिंग से जीव सिद्ध होता है।

6. संख्या - संख्या की दृष्टि से सिद्धों के दो भेद हैं - एकसिद्ध और अनेकसिद्ध। एक समय में उत्कृष्ट 108 जीव सिद्ध हो सकते हैं। जीव अकेला अथवा दो आदि (अनेक) सिद्ध होते हैं।

नंदीसूत्र के बाद वाले काल में कुछ आचार्य उपर्युक्त पन्द्रह भेदों का इन छह भेदों में समावेश करके छह भेद ही स्वीकार करते हैं। लेकिन चूर्णिकार जिनदासगणि के अनुसार तीर्थसिद्ध, अतीर्थसिद्ध आदि पन्द्रह भेद स्वीकार करना उचित है।¹³⁵ हरिभद्र के काल में कुछेक आचार्य तीर्थसिद्ध और अतीर्थसिद्ध इन दो भेदों में ही शेष तेरह भेदों का समावेश करके दो ही भेद स्वीकार करते हैं। लेकिन हरिभद्र के अनुसार इन दो भेदों से शेष तेरह भेदों का समावेश करने पर सामान्य बुद्धि वाले शिष्य स्पष्ट रूप से समझ नहीं सकते हैं। अतः इस उक्त पन्द्रह भेदों की विचारणा ही योग्य है।¹³⁶

2. परम्पर सिद्ध केवलज्ञान

नंदीचूर्ण के अनुसार - प्रथम समय में सिद्ध की अपेक्षा से दूसरे समय का सिद्ध पर है, तीसरे समय का जो सिद्ध है, वह भी पर है, इस प्रकार सिद्धों की परम्परा है, उन परम्परसिद्धों का केवलज्ञान परम्परसिद्ध केवलज्ञान है।¹³⁷

जिन्हें सिद्ध हुए एक से अधिक समय हो गया हो, उन्हें परम्पर सिद्ध कहते हैं। उनका ज्ञान परम्पर सिद्ध केवलज्ञान है।¹³⁸

133. नंदीचूर्ण, पृ. 45

134. तत्त्वार्थसूत्र 10.7

136. हारिभद्राय, नंदीवृत्ति, पृ. 46, मलयगिरि, नंदीवृत्ति, पृ. 133

138. आत्मारामजी म., नंदीसूत्र, पृ. 128

135. नंदीचूर्ण, पृ. 45

137. नंदीचूर्ण पृ. 46

केवलज्ञान किसे उत्पन्न होता है और कब तक रहता है, इस विषय में दार्शनिकों में बहुत मतभेद रहा है। १. कोई अनादिसिद्ध - एक ईश्वर में ही अनादि से केवलज्ञान होना मानते हैं, किन्तु सामान्य जीव में केवलज्ञान होना नहीं मानते। २. जो सामान्यजीव में केवलज्ञान होना मानते हैं, उनमें कोई संसार अवस्था में केवलज्ञान उत्पन्न होना मानते हैं, लेकिन सिद्ध अवस्था में वह नष्ट हो जाता है - ऐसा मानते हैं। ३. कोई संसार अवस्था में केवलज्ञान होना नहीं मानते, सिद्ध अवस्था के साथ ही केवलज्ञान की उत्पत्ति मानते हैं। ४. कोई सयोगी अवस्था में केवलज्ञान होना नहीं मानते, अयोगी अवस्था में होना मानते हैं, इत्यादि कई मत रहे हैं।¹³⁹ उन सब का निराकरण करने के लिए परम्परसिद्धों के भेदों का उल्लेख किया है, जो इस प्रकार है -

परम्पर सिद्ध केवलज्ञान के भेद - परम्पर सिद्ध केवलज्ञान के अनेक भेद हैं। वे इस प्रकार हैं - जितने भी अप्रथम समय सिद्ध हैं (जिन्हें सिद्ध हुए प्रथम समय बीत चुका है) जैसे - १. द्विसमयसिद्ध (जिन्हें सिद्धत्व का दूसरा समय है) २. त्रिसमय सिद्ध (जिन्हें सिद्धत्व का तीसरा समय है) ३. चतुःसमय सिद्ध यावत् ९. दश समय सिद्ध १०. संख्यात समय सिद्ध ११. असंख्यात समय सिद्ध १२. अनन्त समय सिद्ध अर्थात् जिन्हें सिद्ध हुए समयों की 'एक दो' इस प्रकार की परम्परा आरम्भ हो चुकी है, उन सभी सिद्धों का केवलज्ञान, परम्परसिद्ध केवलज्ञान है।¹⁴⁰

उपर्युक्त सिद्ध केवलज्ञान के अनन्तर और परंपर ये दो भेद काल की दृष्टि से हैं। तत्त्वार्थ सूत्र में अनन्तर-परम्पर इन भेदों के अलावा सिद्ध सामान्य की विचारणा की गई है, जिसमें उपर्युक्त तीर्थ आदि छह भेदों के अलावा दूसरे प्रकार से क्षेत्रादि बारह की अपेक्षा से भी वर्णन किया गया है।¹⁴¹

प्रश्न - सभी सिद्ध भगवान् ज्ञान दर्शन आदि की अपेक्षा एक समान होते हैं, तो अनन्तरसिद्ध और परम्परसिद्ध भेद करने की क्या आवश्यकता है?

उत्तर - सभी सिद्ध गुणों एवं शुद्धता (कर्मरहिता) की दृष्टि से समान होते हुए भी पर्याय की दृष्टि से उनमें भेद हो सकता है। अनन्तर (प्रथम समय) सिद्धों के मनुष्य भव के अन्तिम समय में वेदे गये चार अघाति कर्मों की निर्जरा होती है। किसी की कर्म के वेदन के अगले समय में ही निर्जरा होती है, वेदन के समय में नहीं एवं शेष सिद्धों के निर्जरा नहीं होती है। यह भेद बताने के लिए ही सिद्धों के अनन्तर सिद्ध और परम्पर सिद्ध ये दो भेद किये हैं। अनन्तर सिद्धों के प्रज्ञापना में तीर्थसिद्ध आदि पन्द्रह और उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन 36 में चौदह भेद किये गये हैं, जो इस प्रकार से हैं - 1. स्त्रीलिंग-सिद्ध, 2. पुरुषलिंग-सिद्ध, 3. नपुंसकलिंग सिद्ध, 4. स्वलिंगसिद्ध, 5. अन्यलिंग-सिद्ध, 6. गृहस्थ-लिंग सिद्ध, 7. जघन्य, 8. मध्यम और 9. उत्कृष्ट प्रकार की अवगाहना में सिद्ध, 10. ऊर्ध्वलोक में (मेरु चूलिका आदि पर) 11. अधोलोक, 12. तिर्यग्लोक, 13. समुद्र और 14. जलाशय में सिद्ध हो सकते हैं।¹⁴² परम्पर सिद्धों में कालकृत (अलग-अलग समयों में सिद्ध होने रूप) भेदों के सिवाय भेद नहीं होने से प्रज्ञापना सूत्र में अप्रथम समयसिद्ध

139. पारसमुनि, नंदीसूत्र, पृ. 93

140. परंपरसिद्धकेवलज्ञान अणेगविहं पण्णत्तं तं जहा-अपढमसमयसिद्धा, दुसमयसिद्धा, तिसमयसिद्धा, चउसमयसिद्धा जाव दससमयसिद्धा, संखिज्जसमयसिद्धा, असंखिज्जसमयसिद्धा, अणंतसमयसिद्धा। - पारसमुनि, नंदीसूत्र, पृ. 92

141. तत्त्वार्थसूत्र, 10.7

142. इत्थी-पुरिस-सिद्धा य, तहेव य णपुंसगा। सलिंगे अण्णलिंगे य, गिहिलिंगे तहेव य ॥

उक्कोसोगाहणाए य, जहणमज्झिमाइ य। उड्डं अहे य तिरियं च, समुहम्मि जलम्मि य ॥

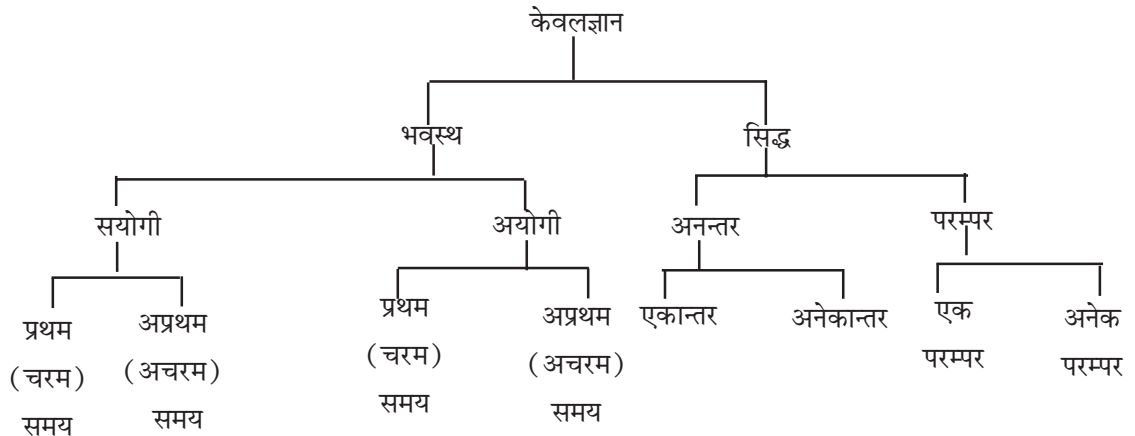
द्विसमय सिद्ध यावत् अनन्त समय सिद्ध तक भेद किये गए हैं। ये पर्यायों की अपेक्षा भिन्न होते हुए भी शुद्धता की अपेक्षा से तो सभी एक समान हैं।

प्रश्न - भवस्थकेवलज्ञान के चरम और अचरम भेद किये गये हैं, लेकिन सिद्ध केवलज्ञान में ये भेद क्यों नहीं किये गये? **उत्तर** - संसारी अवस्था में प्राप्त केवलज्ञान, सिद्ध दशा में भी विद्यमान रहता है चाहे सिद्धत्व का प्रथम समय हो, चाहे दूसरे, तीसरे आदि समय हों। सिद्धत्व दशा का कभी अन्त नहीं आता। अतएव उसमें 'चरम और अचरम' ये भेद नहीं होते हैं, क्योंकि सिद्ध अचरम ही होते हैं।

सिद्धप्राभृत में तत्त्वार्थसूत्र के क्षेत्र, काल, गति, लिंग, तीर्थ, चारित्र, प्रत्येकबुद्धबोधित, ज्ञान, अवगाहना, अन्तर, संख्या और अल्पबहुत्व इन बारह में से लिंग के दो प्रकार (लिंग और वेद)करके तेरह तथा उत्कृष्ट और अनुसमय ये दो प्रकार नये जोड़कर कुल पन्द्रह प्रकार (क्षेत्र, काल, गति, वेद, तीर्थ, लिंग, चारित्र, बुद्ध, ज्ञान, अवगाहना, उत्कृष्ट, अन्तर, अनुसमय, संख्या और अल्पबहुत्व) किये हैं। सिद्धप्राभृत में अनन्तर और परम्पर सिद्धों की विचारणा करते हुए सत्पदप्ररूपणा, द्रव्यप्रमाण, क्षेत्र, स्पर्शना, काल, अन्तर, भाव और अल्पबहुत्व, इस प्रकार इन आठ भेदों पर उपर्युक्त पन्द्रह द्वारों को घटित करते हुए सिद्धप्राभृत में वर्णन किया गया है। सिद्धप्राभृत में जो वर्णन किया गया है, उसका उल्लेख मलयगिरि की नंदीवृत्ति में प्राप्त होता है।¹⁴³

भगवतीसूत्र (14.10.1) में भवस्थ-केवली और सिद्धों की तुलना की गई है। केवली बोलते हैं और सिद्ध नहीं बोलते हैं। इसका क्या कारण है, भवस्थ-केवली उत्थान, कर्म, बल, वीर्य एवं पुरुषकार-पराक्रम सहित होते हैं, जबकि सिद्ध इन से रहित होते हैं। इसी प्रकार केवली अपनी आंखें खोलते हैं और बंद करते हैं, शरीर को संकुचित करते हैं, फैलाते हैं, खड़े रहते, निवास करते हैं। लेकिन सिद्ध इनमें से एक भी क्रिया नहीं करते हैं।¹⁴⁴ केवली और सिद्ध दोनों केवली है, इसलिए केवली का अर्थ भवस्थ केवली और सिद्ध का अर्थ अभवस्थ केवली किया जाता है।

चार्ट में अनन्तर और परम्पर के प्रभेदों को छोड़कर शेष के प्रभेद का नंदीसूत्र में वर्णन है। नंदीसूत्र में अनन्तर के तीर्थसिद्ध आदि पन्द्रह प्रभेद हैं और परम्पर के द्विसमय सिद्ध आदि अनेक भेद हैं। उपर्युक्त सभी प्रभेद केवलज्ञान के नहीं हैं, क्योंकि केवलज्ञान में तरतम भाव नहीं होता है। इसलिए यह प्रभेद केवलज्ञान के स्वामी अर्थात् केवली के हैं। षट्खण्डागम और तत्त्वार्थ सूत्र में केवली की विचारणा में केवलज्ञान के प्रभेदों का उल्लेख नहीं है।



143. मलयगिरि, नंदीवृत्ति, पृ. 113-126

144. युवाचार्य मधुकरमुनि, भगवतीसूत्र, श. 14, उ. 10 पृ. 429-430

केवलज्ञान प्राप्ति की प्रक्रिया

जीव को किस प्रकार केवलज्ञान की प्राप्ति होती है, इस सम्बन्ध में विशेषावश्यकभाष्य में विशेष उल्लेख प्राप्त नहीं होता है। इस सम्बन्ध में अन्य ग्रन्थों में प्राप्त वर्णन निम्न प्रकार से है -

केवलज्ञान की प्राप्ति के हेतु

केवलज्ञान की प्राप्ति कषाय के क्षय होने पर ही होती है।¹⁴⁵ मोह का क्षय होने से के बाद ज्ञानावरण, दर्शनावरण व अंतराय कर्म का एक साथ क्षय होने से केवलज्ञान प्रकट होता है।¹⁴⁶ केवलज्ञानावरणकर्म क्षीण होने पर केवलज्ञान उत्पन्न होता है, अतः वह क्षय निष्पन्न है।¹⁴⁷ क्षय के लिए बंध के हेतु का अभाव और निर्जरा आवश्यक है।¹⁴⁸ बंध के पांच हेतु हैं - मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग।¹⁴⁹ इन पांच हेतुओं के अभाव से नये कर्मों का बंध नहीं होता है और जो सत्ता में हैं, उनकी निर्जरा होती है।¹⁵⁰ निर्जरा के लिए तप आवश्यक है। तप बाह्य और आभ्यंतर के भेद से दो प्रकार का है। दोनों तप के छह-छह भेद होते हैं।¹⁵¹ ध्यान आभ्यंतर तप का एक भेद होने से केवलज्ञान की प्राप्ति में उसका महत्त्व है। क्योंकि ध्यान संवरयुक्त¹⁵² होने से उसमें नये कर्मों बंध नहीं होता है और पुराने कर्मों की निर्जरा होती है।

ध्यान चार का प्रकार होता है - आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल ध्यान। इनमें से अंतिम दो ध्यान मोक्ष के हेतु होते हैं। उनमें भी शुक्लध्यान का विशेष महत्त्व है। शुक्लध्यान के चार प्रभेद हैं - पृथक्त्ववितर्क, एकत्ववितर्क, सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति और व्युपरतक्रियानिवर्ति। शुक्लध्यान के चार भेदों में से प्रथम के दो भेदों से केवलज्ञान की प्राप्ति होती है और अंतिम दो केवलज्ञान की प्राप्ति के बाद प्रयुक्त होते हैं।¹⁵³ शुक्लध्यान के अंतिम दो भेदों के नाम में मतान्तर है, विशेषावश्यक भाष्य में क्रमशः सूक्ष्मक्रियानिवृत्ति और व्युच्छिन्नक्रिया अप्रतिपाति¹⁵⁴ प्रयुक्त हुए हैं। शुक्लध्यान के चार भेदों का संक्षेप में वर्णन इस प्रकार है -

१. पृथक्त्ववितर्क - एक द्रव्य विषयक अनेक पर्यायों का पृथक् पृथक् रूप से विस्तार पूर्वक पूर्वगत श्रुत के अनुसार द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक आदि नयों से चिन्तन करना पृथक्त्व वितर्क सविचारी शुक्ल ध्यान है। यह ध्यान विचार सहित होता है। विचार का स्वरूप है अर्थ, व्यञ्जन (शब्द) एवं योगों में संक्रमण अर्थात् इस ध्यान में अर्थ से शब्द में, शब्द से अर्थ में, शब्द से शब्द में और अर्थ से अर्थ में एवं एक योग से दूसरे योग में संक्रमण होता है। पूर्वगत श्रुत के अनुसार विविध नयों से पदार्थों की पर्यायों का भिन्न-भिन्न रूप से चिन्तन रूप यह शुक्ल ध्यान पूर्वधारी को होता है और मरुदेवी माता की तरह जो पूर्वधर नहीं हैं उन्हें अर्थ, व्यञ्जन एवं योगों में परस्पर संक्रमण रूप यह शुक्ल ध्यान होता है।

२. एकत्ववितर्क - पूर्वगत श्रुत का आधार लेकर उत्पाद आदि पर्यायों के एकत्व (अभेद) से किसी एक पदार्थ का अथवा पर्याय का स्थिर चित्त से चिन्तन करना एकत्व वितर्क अविचारी है। इसमें अर्थ, व्यञ्जन और योगों का संक्रमण नहीं होता। जिस तरह वायु रहित एकान्त स्थान में दीपक की लौ स्थिर रहती है, उसी प्रकार इस ध्यान में चित्त स्थिर रहता है।

145. आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा 104

147. खयनिष्फण...खीणकेवलनाणावरणे। - अनुयोगद्वारा

149. तत्त्वार्थसूत्र, अध्ययन 8, सूत्र 1

151. तत्त्वार्थसूत्र, अध्ययन 9, सूत्र 19,20

152. एतदभ्यन्तरं तपः संवरत्वादभिनवकर्मोपचयप्रतिषेधकं निर्जरणफलत्वात् कर्मनिर्जरकम्। तत्त्वार्थभाष्य 9.46

153. तत्त्वार्थसूत्र, अध्ययन 9, सूत्र 29, 30, 39, 40, 41

146. तत्त्वार्थ सूत्र 10.1

148. तत्त्वार्थसूत्र, अध्ययन 10, सूत्र 1, 2

150. सर्वार्थसिद्धि 10.2

154. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 3069

३. सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति - मोक्ष जाने से पहले केवली भगवान् मन और वचन इन दो योगों का तथा अर्द्ध काययोग का भी निरोध कर लेते हैं। उस समय केवली भगवान् के कायिकी, उच्छ्वास आदि सूक्ष्म क्रिया ही रहती है। परिणामों में विशेष बड़े चढ़े रहने से केवली यहां से पीछे नहीं हटते। यह तीसरा सूक्ष्मक्रिया अप्रतिपाति शुक्ल ध्यान है।

४. व्युपरतक्रियानिवर्ति - शैलेशी अवस्था को प्राप्त केवली भगवान् सभी योगों का निरोध कर लेते हैं। योगों के निरोध से सभी क्रियाएं नष्ट हो जाती हैं। यह ध्यान सदा बना रहता है। इसलिए इसे व्युपरतक्रियानिवर्ति शुक्ल ध्यान कहते हैं।

पृथक्त्ववितर्क सविचारी शुक्ल ध्यान सभी योगों में होता है। एकत्ववितर्क अविचारी शुक्ल ध्यान किसी एक ही योग में होता है। सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति शुक्ल ध्यान केवल काययोग में होता है। चौथा व्युपरतक्रियानिवर्ति शुक्लध्यान अयोगी के ही होता है। छद्मस्थ के मन को निश्चल करना ध्यान कहलाता है और केवली की काया को निश्चल करना ध्यान कहलाता है।

पृथक्त्ववितर्क में अर्थ, व्यंजन और योग में मन का संचार चालू रहता है। एकत्ववितर्क में यह संचार रुक जाता है।¹⁵⁵ पृथक्त्ववितर्क के अभ्यास से ध्यान में प्रगति करके मुनि मोहनीय कर्म को नष्ट करने के लिए ज्ञानावरणादि प्रकृतियों का बंध रोक कर स्थिति का हास और क्षय करके अर्थ, व्यंजन और योग में होने वाले मन का संचार रोककर और स्थिर चित्त वाला होकर एकत्ववितर्क ध्यान करते हैं। जिसे पहले कभी भी पूर्णतः क्षीण नहीं कर पाया, ऐसे मोहनीय कर्म की समस्त शेष प्रकृतियों का क्षय करता है, उसके बाद अन्तर्मुहूर्त में छद्मस्थ जीव वीतराग बन जाता है, फिर वह पांच प्रकार वाले ज्ञानावरणीय, नौ प्रकार वाले दर्शनावरणीय और पांच प्रकार वाले अन्तराय इन तीनों कर्मों को एक साथ क्षय करता है। जिसके फलस्वरूप अनुत्तर, अनन्त, कृत्स्न-सम्पूर्ण, प्रतिपूर्ण, निरावरण, अन्धकार रहित, विशुद्ध, लोकालोकप्रभावक-लोकालोक को प्रकाशित करने वाले केवलज्ञान और केवलदर्शन को प्राप्त करता है।¹⁵⁶

विशेषावश्यकभाष्य के अनुसार निश्चयनय और व्यवहारनय की अपेक्षा कर्मों का क्षय

जिस समय केवलज्ञानावरण का क्षय होता है, उसी समय केवलज्ञान की उत्पत्ति होती है, यह निश्चयनय का अभिमत है। व्यवहार नय से केवलज्ञानावरण के क्षय के अनन्तर समय में केवलज्ञान उत्पन्न होता है।¹⁵⁷ व्यवहार नय के अनुसार ज्ञानावरण की क्षीयमाण अवस्था में ज्ञान नहीं होता, आवरण के क्षय होने पर ही वह प्रकट होता है, क्योंकि क्रियाकाल और निष्ठाकाल में एकत्व उचित नहीं है।¹⁵⁸

निश्चयनयवादी कहते हैं कि यदि क्रियाकाल में क्षय नहीं होता है तो वह बाद में भी नहीं होगा। यदि क्रिया के बिना ही क्षय होता है, तब पहले समय की क्रिया की क्या अपेक्षा है?¹⁵⁹ आगम में भी निर्जीर्यमाण को निजीर्ण कहा गया है।¹⁶⁰ कर्म का वेदन होता है और नोकर्म (अकर्म) की निर्जरा होती है। (कम्मं वेइज्जि नो कम्मं णिज्जरिज्जि।) इसलिए निर्जीर्यमाण (क्षीयमाण) काल में कर्म के आवरण का क्षय हो जाता है। क्षीयमाण और क्षीण में कालभेद नहीं है।¹⁶¹ जिस प्रकार प्रकाश और अंधकार में

155. तत्त्वार्थसूत्र, अध्ययन 9, सूत्र 43, 44, 46, सर्वार्थसिद्धि 9.42

156. उत्तराध्ययन सूत्र, अध्ययन 29 सूत्र 72

157. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 1334

158. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 1335

159. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 1337

160. चलमाणे चलिए जाव णिज्जरिज्जमाणे निज्जिण्णे। - युवाचार्य मधुकरमुनि, भगवतीसूत्र भाग 1, श. 1. उ.1 पृ. 16

161. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 1338

एक साथ उत्पाद और व्यय होता है, वैसे ही ज्ञान और आवरण में भी जानना चाहिए।¹⁶² केवलज्ञानावरण और केवलदर्शनावरण कर्म का क्षय होने पर केवली समस्त ज्ञेय को केवलज्ञान से सदा जानता है और केवलदर्शन से सदा देखता है।¹⁶³

मोक्ष की प्राप्ति में केवली समुद्घात की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है, अतः केवली समुद्घात के स्वरूप पर यहाँ विचार अभीष्ट है।

केवली समुद्घात

समुद्घात - समुद्घात शब्द सम्+उद+घात से मिलकर बना है। सम् - एकीभावपूर्वक, उत् - प्रबलता से, घात - घात करना। तात्पर्य यह हुआ कि एकाग्रता पूर्वक प्रबलता के साथ घात करना समुद्घात कहलाता है। समुद्घात सात प्रकार के हैं - 1. वेदना, 2. कषाय, 3. मारणांतिक, 4. वैक्रिय, 5. तैजस, 6. आहारक और 7. केवली।

जब जीव वेदनादि समुद्घातों में परिणत होता है, तब कालान्तर में अनुभव करने योग्य वेदनीयादि कर्मों के प्रदेशों को उदीरणाकरण के द्वारा खींचकर, उदयावलिका में डालकर, उनका अनुभव करके निर्जीर्ण कर डालता है, अर्थात् आत्मप्रदेशों से पृथक् कर देता है। यह घात की प्रबलता है। पूर्वकृत कर्मों का झड़ जाना आत्मा से पृथक् हो जाना ही निर्जरा है।¹⁶⁴

विशेषावश्यकभाष्य में जिनभद्रगणि ने केवली समुद्घात का वर्णन ज्ञान के प्रसंग पर नहीं करते हुए सिद्धों के नमस्कार के वर्णन में किया है अतः भाष्य तथा अन्य ग्रन्थों में इस सम्बन्ध में जो वर्णन मिलता है, उसकी यहाँ समीक्षा की जा रही है।

केवली समुद्घात - जिस प्रयत्न में प्रबलता से कर्मों की स्थिति और अनुभाग का समीचीन उद्घात होता है, वह केवली समुद्घात है। उसमें उदीरणावलिका में प्रविष्ट कर्म पुद्गलों का प्रक्षेपण होता है, वेदनीय कर्मदलिकों को आयुष्य कर्मदलिकों के समान करने के लिए सब आत्मप्रदेशों का लोकाकाश में निस्सरण होता है और कर्मों का शीघ्रता से क्षय होता है। इसका कालमान अन्तर्मुहूर्त (आठ समय) है।¹⁶⁵

जब वेदनीय की स्थिति अधिक हो और आयु कर्म की अल्प हो तब स्थिति समान करने के लिए केवली भगवान् केवली समुद्घात करते हैं। जैसे मदिरा में फेन आकर शांत हो जाता है उसी तरह समुद्घात में देहस्थ आत्मप्रदेश बाहर निकलकर फिर शरीर में समा जाते हैं, ऐसा समुद्घात केवली करते हैं।¹⁶⁶

केवली समुद्घात कौन करता है?

श्वेताम्बर मान्यता - अन्तर्मुहूर्त से लेकर अधिकतम छह माह की आयु शेष रहने पर जिन्हें केवलज्ञान प्राप्त होता है, वे निश्चित रूप से समुद्घात करते हैं। केवलज्ञान प्राप्ति के समय जिनकी आयु छह मास से अधिक होती है, वे समुद्घात नहीं करते। केवलज्ञान प्राप्ति के समय जिनकी आयु छह मास से अधिक है, उनकी जब छह माह आयु शेष रहती है, तब उनमें से कुछ समुद्घात करते

162. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 1340

163. विशेषावश्यक भाष्य गाथा 1341

164. युवाचार्य मधुकरमुनि, प्रज्ञापना सूत्र, भाग 3, पृ. 230

165. आवश्यकचूर्ण भाग 1, पृ. 579

166. वेदनीयस्स बहुत्वादल्पत्वाच्चायुषो नाभोगपूर्वकमायुःसमकरणार्थं द्रव्यस्वभावत्वात् सुराद्रव्यस्य फेनवेगबुद्बुदा-विर्भावोपशमनवद्देहस्थात्मप्रदेशानां बहिःसमुद्घातनं केवलिसमुद्घातः। - तत्त्वार्थराजवार्तिक, 1.20.12 पृ. 56

हैं, कुछ नहीं करते। अथवा जिनके वेदनीय आदि कर्म अधिक तथा आयुष्य कर्म अल्प होता है, वे केवली नियमतः समुद्घात करते हैं।¹⁶⁷ जिनके वेदनीय, नाम और गोत्र कर्म बन्धन और स्थिति की अपेक्षा आयु कर्म के समान होते हैं, वे केवली समुद्घात नहीं करते। इस तरह केवली समुद्घात किये बिना अनन्त केवली सिद्धि गति को प्राप्त हुए हैं।

दिगम्बर मान्यता - जिनकी आयु छह महीने शेष रहने पर केवलज्ञानी होते हैं, वे केवली नियम से समुद्घात को करते हैं। बाकी के केवलियों को आयुष्य अधिक होने पर समुद्घात करते भी है और नहीं भी, उनके लिए कोई नियम नहीं है अर्थात् जिनकी आयु के समान ही अन्य (वेदनीय और नाम, गोत्र) कर्मों की स्थिति होती है, वे सयोगी केवली समुद्घात किये बिना शैलेशी अवस्था को प्राप्त होते हैं। जिनके वेदनीय नाम व गोत्र कर्म की स्थिति अधिक और आयु कर्म की स्थिति कम होती है, वे केवली भगवान् समुद्घात करके ही शैलेशी अवस्था को प्राप्त होते हैं।¹⁶⁸ ऐसा ही उल्लेख षट्खण्डागम में भी है।¹⁶⁹ स्पष्ट होता है कि दोनों परम्परा में यहीं स्वीकार किया गया है कि सभी केवली समुद्घात नहीं करते हैं।

विशेषावश्यकभाष्य का मत - आयुष्यकर्म जघन्य और उत्कृष्ट अंतर्मुहूर्त शेष रहने पर केवली भगवान् समुद्घात करते हैं। कुछ आचार्यों का मत है कि केवली जघन्य अंतर्मुहूर्त और उत्कृष्ट छह मास शेष रहने पर समुद्घात करते हैं, लेकिन जिनभद्रगणि के अनुसार ऐसा मानना आगम के विपरीत है। क्योंकि आगमानुसार समुद्घात के अंतर्मुहूर्त बाद वे केवली शैलीशी अवस्था को प्राप्त होते हैं और उसके अंतर्मुहूर्त बाद मोक्ष पधार जाते हैं, प्रज्ञापना सूत्र के 36वें पद में बताया है कि समुद्घात के बाद वे प्रातिहार्य पाट-पाटला आदि वापस करते हैं, यह कैसे घटित होगा। क्योंकि छह मास आयु शेष रहते समुद्घात किया जाए, तो प्रातिहार्य लौटाने की कहाँ आवश्यकता है?¹⁷⁰

दिगम्बर परम्परा के अनुसार तो आयुर्कर्म जब अंतर्मुहूर्त मात्र शेष रहता है तब केवली समुद्घात करते हैं।¹⁷¹

केवली समुद्घात का प्रयोजन

मुमुक्षु आत्मा के भवोपग्राही चार अघाती कर्मों का क्षय एक साथ ही होता है। यदि कोई ऐसा माने कि असमान स्थिति वाले वेदनीयादि कर्मों की स्थिति को आयुष्य कर्म के समान किस प्रकार करके, एक साथ चारों कर्मों का क्षय किया जाता है? कृतनाश आदि दोष से बचने के लिए कोई कहे की अनुक्रम से ही कर्मों का क्षय होता है, तो यह भी उचित नहीं है, क्योंकि पहले आयुष्य कर्म पूर्ण हो जाये तो, आयुष्य के अभाव में शेष दूसरे कर्मों का क्षय करने के लिए जीव किस आधार पर संसार में रहता है? यदि मोक्ष में चला जाता है, तो कर्म सहित (वेदनीयादि तीन कर्म क्षय करना शेष है) जीव मोक्ष कैसे जाता है? उपर्युक्त सभी प्रश्नों का उत्तर है कि जिन मुमुक्षु आत्माओं के वेदनीय आदि चार अघाती कर्म स्वभाव से समान स्थिति वाले हैं, वे तो बिना समुद्घात किये कर्मों का क्षय करके मोक्ष को प्राप्त करते हैं, लेकिन जिनके आयुष्य कर्म तो अल्प है और वेदनीयादि तीन कर्मों की स्थिति अधिक है तो वे केवली समुद्घात द्वारा वेदनीयादि तीन कर्मों की स्थिति आयुष्य कर्म के समान करके मोक्ष प्राप्त करते हैं। यदि समुद्घात को स्वीकार नहीं करेंगे तो अमोक्षादि दोषों की प्राप्ति होगी।

167. आवश्यकचूर्णि भाग 1, पृ. 579

168. भगवती आराधना, गाथा 2103-2105

169. षट्खण्डागम, पु. 1, 1.1.60, पृ. 304

170. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 3048 से 3049

171. भगवती आराधना, गाथा 2106, स यदान्तर्मुहूर्तशेषायुष्कस्तत्। सर्वार्थसिद्धि 9.44 पृ. 360, षट्खण्डागम (धवला), पु. 13, 5.4.26 पृ. 83-84

प्रश्न - वेदनीयादि कर्म की स्थिति अधिक और आयुष्य कर्म की स्थिति अल्प होती है, ऐसा नियम किस कारण से हैं, क्या कभी इसके विपरीत नहीं हो सकता की आयुष्य कर्म की स्थिति अधिक और वेदनायादि तीन कर्मों की स्थिति अल्प हो?

उत्तर - नहीं, क्योंकि कर्म बंध का ऐसा ही स्वभाव है। जिससे आयुष्य कर्म वेदनीयादि तीन कर्म के समान अथवा अल्प रहता है, लेकिन अधिक नहीं होता है। आयुष्य का बंधकाल अंतर्मुहूर्त मात्र होता है क्योंकि उसका बंध परिणाम के स्वभाव से अध्रुवबंधी होता है। वेदनीयादि कर्मों का बंध ध्रुवबंधी होने से उनके बंध का परिणाम अधिक होने से अतः वे आयुष्य से अधिक स्थिति वाले होते हैं। केवलीसमुद्घात में जीव आयुष्य से अधिक वेदनीयादि कर्मों का अपवर्तन करके बंध से और स्थिति से आयुष्य कर्म के समान करता है अर्थात् सभी कर्मों की स्थिति अन्तर्मुहूर्त करता है।¹⁷²

दिगम्बर परम्परा - जैसे गीला वस्त्र फैला देने पर वह जल्दी सूख जाता है, जबकि उतनी शीघ्रता से इकट्ठा किया हुआ वस्त्र नहीं सूखता है। कर्मों की भी वैसी ही स्थिति होती है। आत्म प्रदेशों के फैलाव से सम्बद्ध कर्मरज की स्थिति बिना भोगे घट जाती है। स्थिति बन्ध का कारण जो स्नेहगुण है, वह केवली समुद्घात से कम होने पर शेष कर्मों की स्थिति भी कम हो जाती है। अंत में योग निरोध कर केवली मुक्ति को प्राप्त करते हैं।¹⁷³ स्वयं संसार की स्थिति का विनाश करने के लिए केवली समुद्घात करते हैं।¹⁷⁴ दोनों परम्पराओं में केवली समुद्घात का प्रयोजन लगभग समान ही है।

प्रश्न-केवली समुद्घात में उदीरणा होती है या नहीं?

उत्तर - तेरहवें गुणस्थान में नाम, गोत्र की तो उदीरणा होती है, वेदनीय की नहीं क्यों कि वेदनीय और आयुष्य की उदीरणा प्रमादी (छठे गुणस्थानतक) ही करता है। केवली समुद्घात में स्थिति और अनुभाग कण्डकों का नाश करके वेदनीयादि की क्षपणा की जाती है, किन्तु उदीरणा नहीं है। अतः वेदनीय, आयु आदि की निर्जरा को उदीरणा नहीं समझनी चाहिए। समुद्घात में उदीरणा नहीं बताई गई है।

केवली समुद्घात के पूर्व की अवस्था

केवली समुद्घात से पहले केवली आवर्जीकरण करते हैं। आवर्जीकरण का अर्थ अभिमुख करना है अर्थात् आत्मा को मोक्ष की ओर अभिमुख करना आवर्जीकरण है। केवली समुद्घात की इच्छा वाले केवली 'मुझे समुद्घात करना चाहिए' इस प्रकार के उपयोग वाले होते हैं अथवा यथायोग्य कर्मों की उदीरणा आदि करके उदयावलिका में प्रक्षेपण (डालने) रूप शुभ योगों के व्यापार के द्वारा स्वयं को मोक्ष के साथ अभियोजित करना (जोड़ना) आवर्जीकरण कहलाता है। आवर्जीकरण का काल असंख्यात समय प्रमाण अन्तर्मुहूर्त का है। उसके बाद बिना व्यवधान के केवली समुद्घात करते हैं।¹⁷⁵

सभी केवली भगवान् आवर्जीकरण अवश्य करते हैं। जो केवली भगवान् केवली समुद्घात करते हैं वे पहले आवर्जीकरण करते हैं और उसके बाद केवली समुद्घात करते हैं। इसलिए आवर्जीकरण का दूसरा नाम आवश्यक करण भी है। यहाँ आवर्जीकरण के चार अर्थ अभिप्रेत हैं - 1. आत्मा को मोक्ष के अभिमुख करना, 2. मन, वचन, काया के शुभ प्रयोग द्वारा मोक्ष को आवर्जित (अभिमुख) करना, 3. आवर्जित अर्थात् भव्यत्व के कारण मोक्षगमन के प्रति शुभ योगों

172. आवश्यकि निर्युक्ति गाथा 954,956, युवाचार्य मधुकरमुनि, प्रज्ञापना सूत्र, भाग 3, पृ. 286, विशेषावश्यकभाष्य गाथा 3039 से 3047

173. भगवती आराधना, गाथा 2107-210

174. पंचास्तिकाय, गाथा 153 टीका पृ. 365

175. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 3050 से 3051

को व्यापृत-प्रवृत्त करना आवर्जीकरण है तथा 4. आ-मर्यादा में केवली की दृष्टि से शुभयोगों का प्रयोग करना भी आवर्जीकरण है।¹⁷⁶

केवली समुद्घात की प्रक्रिया

श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार - केवली समुद्घात में आठ समय लगते हैं। केवली भगवान् पहले समय में आत्मप्रदेशों को लम्बाई में ऊपर और नीचे लोक पर्यन्त, चौड़ाई में अपने शरीर प्रमाण दण्ड रूप करते हैं। दूसरे समय में आत्मप्रदेशों को पूर्व-पश्चिम में फैला कर कपाट बनाते हैं। तीसरे समय में दक्षिण और उत्तर दिशा में आत्मप्रदेशों को फैलाकर मंथान करते हैं। इस प्रकार लोक से कुछ कम क्षेत्र को स्पर्श करते हैं। चौथे समय में अंतर पूरित करके लोक को सम्पूर्ण रूप से स्पर्श करते हैं अर्थात् चौथे समय में सारा लोक भर देते हैं। पुनः प्रतिलोम क्रम से आत्मप्रदेशों का संहरण करते हैं अर्थात् पांचवें समय में लोक का संहरण करते हैं, छठे समय में मन्थान का, सातवें समय में कपाट का और आठवें समय में दण्ड का संहरण करते हैं और नवमें समय में केवली भगवान् शरीरस्थ हो जाते हैं। (आठवें समय में दण्ड संहरण करना और शरीरस्थ होना ये दो क्रियाएं होती हैं। नवमें समय में दण्ड संहरण की क्रिया नहीं होती है। संहरण रहित (पूर्ववत्) शरीरस्थ अवस्था हो जाती है।)¹⁷⁷

दिगम्बर परम्परा के अनुसार - दण्ड, कपाट, प्रतर और लोकपूरण के भेद से केवली समुद्घात चार प्रकार का है। केवली के आत्मप्रदेशों को दण्डाकार से कुछ कम चौदह राजू उत्सेध रूप फैलाने का नाम दण्ड समुद्घात है। दण्ड समुद्घात के बाद पूर्व पश्चिम में वात वलय से रहित सम्पूर्ण क्षेत्र को व्याप्त करने का नाम कपाट समुद्घात है। केवली भगवान् के आत्मप्रदेशों का वात वलय से रुके हुए क्षेत्र को छोड़कर संपूर्ण लोक में व्याप्त होने का नाम प्रतर समुद्घात है। घन लोकप्रमाण केवली भगवान् के आत्मप्रदेशों का सर्व लोक में व्याप्त होते को लोकपूरण समुद्घात कहते हैं।¹⁷⁸

केवली समुद्घात में कर्म प्रकृतियों की क्षपणा की प्रक्रिया

श्वेताम्बर के अनुसार - केवली भगवान् के वेदनीय की दो - साता वेदनीय और असाता वेदनीय, नामकर्म की 80 प्रकृतियाँ (शुभ नामकर्म की 52 और अशुभ नामकर्म की 28), गोत्र कर्म की दो-उच्च गोत्र और नीच गोत्र और आयु की एक-मनुष्यायु इन चार कर्मों की कुल 85 प्रकृतियाँ सत्ता में रहती हैं।

केवली समुद्घात के प्रथम समय में केवली भगवान् अशुभ नाम कर्म की 28 प्रकृतियों, असाता वेदनीय और नीच गोत्र इन कुल 30 प्रकृतियों की स्थिति के असंख्यात खण्ड करते हैं और अनुभाग (रस) के अनन्त खण्ड करते हैं और स्थिति और अनुभाग का एक-एक खण्ड बाकी रख कर शेष सभी खण्डों का क्षय करते हैं। दूसरे समय में केवली भगवान् शुभ नाम कर्म की 52, साता वेदनीय और उच्च गोत्र कुल 54 प्रकृतियों की स्थिति के असंख्यात खण्ड करते हैं और अनुभाग के अनन्त खण्ड करते हैं। स्थिति का खण्ड स्थिति में और अनुभाग का खण्ड अनुभाग में मिलाते हैं और एक खण्ड स्थिति का और एक खण्ड अनुभाग को शेष रख कर बाकी सभी खण्ड दूसरे समय में क्षय करते हैं। तीसरे समय में स्थिति के एक खण्ड के असंख्यात खण्ड करते हैं और अनुभाग के एक खण्ड के अनन्त खण्ड करते हैं और स्थिति और अनुभाग का एक एक खण्ड शेष रख कर बाकी सभी खण्ड तीसरे समय में क्षय कर देते हैं। इसी तरह चौथे समय और पांचवें समय में भी समझना चाहिए। छठे

176. युवाचार्य मधुकरमुनि, प्रज्ञापना सूत्र, भाग 3, पृ. 292

177. आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा 955, विशेषावश्यकभाष्य गाथा 3052 से 3053

178. षट्खण्डागम, पु. 4, 1.3.2, पृ. 28

समय में केवली भगवान् स्थिति के एक खण्ड के असंख्यात खण्ड करते हैं और अनुभाग के एक खण्ड के भी असंख्यात खण्ड करते हैं। ये असंख्यात खण्ड उतने होते हैं जितने केवली भगवान् की आयु के समय बाकी होते हैं। छठे समय में एक खण्ड स्थिति का, एक खण्ड अनुभाग का और एक समय आयु का क्षय करते हैं। इसी तरह सातवें समय में, आठवें समय में यावत् मुक्त हों तब तक एक खण्ड स्थिति का, एक खण्ड अनुभाग का और एक समय आयु का क्षय करते रहते हैं।¹⁷⁹

दिगम्बर परम्परा के अनुसार - केवली भगवान् केवली समुद्घात के प्रथम समय में दण्डसमुद्घात करते हैं। उस दण्डसमुद्घात में आयु को छोड़कर शेष तीन अघाती कर्मों की स्थिति के असंख्यात बहुभाग को नष्ट करते हैं, इसके अतिरिक्त क्षीणकषाय नामक 12वें गुणस्थान के अंतिम समय में अशुभ प्रकृतियों का जो अनुभाग क्षय करना शेष रह गया उस अनुभाग के अनंत बहुभाग को भी इस समुद्घात में नष्ट करते हैं, द्वितीय समय में कपाट समुद्घात करते हैं। उस कपाटसमुद्घात में शेष स्थिति के असंख्यात बहुभाग को नष्ट करते हैं, तथा अप्रशस्त प्रकृतियों के शेष अनुभाग के भी अनंत बहुभाग को नष्ट करते हैं। तृतीय समय में प्रतर रूप मन्थसमुद्घात करते हैं। इस समुद्घात में भी स्थिति व अनुभाग को पूर्व के समान ही नष्ट करते हैं। चतुर्थ समय में अपने सब आत्मप्रदेशों से सम्पूर्ण लोक को पूरित करके लोकपूरणसमुद्घात को प्राप्त होते हैं। लोकपूरणसमुद्घात में समययोग हो जाने पर योग की एक वर्गणा हो जाती है। (चौथे समय में जीव के सभी प्रदेशों में योग के अविभागप्रतिच्छेद वृद्धि-हानि से रहित होकर समान हो जाते हैं, अतः सभी आत्मप्रदेश परस्पर समान होने से उन आत्मप्रदेशों की एक वर्गणा हो जाती है।) इस अवस्था में भी स्थिति और अनुभाग को पूर्व के ही समान नष्ट करते हैं।

इन चार समयों में अप्रशस्त कर्मों के अनुभाग की प्रतिसमय अपर्वतना होती है। एक-एक समय में एक स्थिति कांडक का घात होता है। उतरने के प्रथम समय से लेकर शेष स्थिति के संख्यात बहुभाग को, तथा शेष अनुभाग के अनंत बहुभाग को भी नष्ट करता है।¹⁸⁰

केवली समुद्घात में योगों की प्रवृत्ति

केवली समुद्घात में केवली भगवान् के मनयोग और वचनयोग का व्यापार नहीं होता, केवल काययोग की प्रवृत्ति होती है। काययोग में भी औदारिक, औदारिक मिश्र और कार्मण काययोग-इन तीन की प्रवृत्ति होती है शेष चार काय योग की प्रवृत्ति नहीं होती। पहले और आठवें समय में औदारिक काययोग प्रवर्तता है, दूसरे, छठे और सातवें समय में औदारिकमिश्र काययोग प्रवर्तता है और तीसरे, चौथे व पांचवें समय में कार्मण काययोग प्रवर्तता है। समुद्घात करने के बाद केवली अंतर्मुहूर्त तक संसार में रहते हैं और तीनों योगों का व्यापार करते हैं। अंतर्मुहूर्त बाद योगों का निरोध करते हैं।¹⁸¹

गोम्मटसार में इसी बात को गूढ़ शब्दों में कहा है - दण्ड रूप करने तथा समेटने रूप दो क्रियाओं में औदारिक शरीर पर्याप्तिकाल है। कपाट रूप करने तथा समेटने रूप दो में औदारिक मिश्र शरीर काल है अर्थात् अपर्याप्त काल है। प्रतर रूप करने और समेटने में तथा लोकपूरण में कार्मण काल है और मूल शरीर में प्रवेश करने के प्रथम समय से लगाकर संज्ञी पंचेन्द्रिय की तरह अनुक्रम से पर्याप्ति पूर्ण करता है।¹⁸² गोम्मटसार के इस कथन से यह प्रतीत होता है कि दिगम्बर परम्परा में समुद्घात में जीव पुनः पर्याप्तियों को पूर्ण करता है।

179. प्रज्ञापना सूत्र, 36वां पद

180. षट्खण्डागम, पु. 6, 1.9-8.16, पृ. 412-417

181. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 3054 से 3057, औपपातिक सूत्र, पृ. 170, प्रज्ञापना सूत्र, भाग 3, पृ. 289-290

182. गोम्मटसार कर्मकांड, भाग 2, गाथा 587, पृ. 929-930

केवली समुद्घात के बाद की प्रवृत्ति

केवली भगवान् केवली समुद्घात करते हुए सिद्ध, बुद्ध, मुक्त अर्थात् निर्वाण को प्राप्त नहीं होते हैं, किन्तु वे केवली समुद्घात से निवृत्त होते हैं और निवृत्त होकर मन योग, वचन योग और काय योग की प्रवृत्ति करते हैं। मनयोग में सत्य मनयोग और व्यवहार मनयोग प्रवर्तते हैं। वचन योग में सत्य वचन योग और व्यवहार वचन योग प्रवर्तते हैं। काय योग (औदारिक काय योग) प्रवर्तते हुए आते जाते हैं, उठते बैठते हैं, सोते हैं यावत् प्रतिहारी (पडिहारी - वापिस लौटाने योग्य) पाट पाटले शय्या संस्तारक को वापिस लौटाते हैं अर्थात् केवली समुद्घात के बाद अन्तर्मुहूर्त (लगभग आधा, पौन घण्टा) तक योगों की प्रवृत्ति करने के बाद अयोगी बनते हैं।

प्रश्न - सयोगी (योग सहित) जीव मोक्ष क्यों नहीं जाता है?

उत्तर - योग बंधन का हेतु है फिर भी सयोगी केवली कर्मनिर्जरा के मुख्य कारणभूत परमशुक्लध्यान को प्राप्त नहीं करता है, इसलिए सयोगी केवली सिद्ध नहीं होता है।¹⁸³

केवली के योग-निरोध की प्रक्रिया

केवली समुद्घात के पश्चात् केवली भगवान् के जो कुछ आवश्यक कार्य होते हैं, वे उनको पूरा करके उसके बाद योगनिरोध की प्रक्रिया प्रारंभ करते हैं। योग निरोध की प्रक्रिया में दोनों परम्पराओं में मतभेद है।

श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार - केवली अन्तर्मुहूर्त परिमाण आयु शेष रहती है, तब मन, वचन और काया की प्रवृत्ति का निरोध करने में प्रवृत्त होते हैं, उसकी प्रक्रिया निम्न प्रकार से हैं - केवली सूक्ष्मक्रिया-अप्रतिपाति नामक शुक्लध्यान के तीसरे पाद का ध्यान करते हुए सर्वप्रथम मनोयोग का निरोध करते हैं। मनोयोग के निरोध के लिए वे पहले जघन्य योग वाले पर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय का जितना मनोद्रव्य (मन के पुद्गल) है और उसका जितना व्यापार (प्रवृत्ति) है, उसमें असंख्य गुणहीन मनोद्रव्य और व्यापार का प्रतिसमय निरोध करते-करते असंख्यात समयों में सम्पूर्ण मनोयोग का निरोध करते हैं। उसके पश्चात् वचन योग का निरोध करते हैं। वचनयोग का निरोध करने के लिए जघन्य योग वाले पर्याप्त द्वीन्द्रिय के जघन्य वचनयोग के पर्यायों से असंख्यातगुण हीन वचनयोग-पर्यायों का प्रतिसमय निरोध करते-करते असंख्यात समयों में सम्पूर्ण वचनयोग का निरोध करते हैं। वचनयोग का निरोध करने के बाद काययोग का निरोध करते हैं। प्रथम समय में उत्पन्न जघन्य योग वाले अपर्याप्त सूक्ष्म पनक जीव (निगोद जीव) के काययोग से असंख्यात गुण हीन काययोग के पुद्गल और व्यापार का प्रतिसमय निरोध करते-करते तथा शरीर की अवगाहना के तीसरे भाग को छोड़ते (पोले भाग को पूरित करते) हुए असंख्य समयों में काययोग का (श्वासोच्छ्वास सहित) पूर्ण निरोध करते हैं। काययोग का निरोध होने के साथ ही श्वासोच्छ्वास (आनापाननिरोध) का निरोध भी हो जाता है। इस प्रकार योगों का निरोध करके अयोगी होते हैं। पूर्ण योगनिरोध होते ही अयोगी या शैलेषी अवस्था प्राप्त हो जाती है। जिस अवस्था में केवली शैल अर्थात् मेरुपर्वत की तरह स्थिर हो जाते हैं, उसे शैलेशी अवस्था कहते हैं।¹⁸⁴

केवली के काययोग के निरोध के प्रारंभ समय में सूक्ष्मक्रिया अनिवृत्ति (सूक्ष्मक्रियानिवृत्ति) रूप शुक्लध्यान होता है और शैलेशी अवस्था (अयोगी होने के बाद) के समय समुच्छिन्न क्रियाअप्रतिपाति (व्युच्छिन्नक्रियाअप्रतिपाति) रूप शुक्लध्यान होता है।¹⁸⁵

183. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 3058

184. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 3059 से 3064, औपपातिक सूत्र, पृ. 172, प्रज्ञापना सूत्र, भाग 3, पृ. 291

185. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 3068-3069

दिगम्बर परम्पार के अनुसार योग निरोध - केवली भगवान् केवली समुद्घात के अंतर्मुहूर्त बाद बादर काययोग से बादर मनोयोग का निरोध करते हैं। तत्पश्चात् अंतर्मुहूर्त बादर वचनयोग का निरोध करते हैं। पुनः अंतर्मुहूर्त से बादर काययोग से बादर उच्छ्वास निःश्वास का निरोध करते हैं। पुनः अंतर्मुहूर्त से बादर काय योग से उसी बादर काययोग का निरोध करते हैं। तत्पश्चात् अंतर्मुहूर्त के बाद सूक्ष्म काययोग से सूक्ष्म मनोयोग का निरोध करते हैं। तत्पश्चात् अंतर्मुहूर्त बाद सूक्ष्म वचनयोग का निरोध करते हैं। पुनः अंतर्मुहूर्त के बाद सूक्ष्म काययोग से सूक्ष्म उच्छ्वास-निःश्वास का निरोध करते हैं। पुनः अंतर्मुहूर्त के बाद सूक्ष्म काययोग से सूक्ष्म काययोग का निरोध करते हैं। उस समय केवली भगवान् सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती शुक्लध्यान को ध्याते हैं। योग का निरोध जाने पर तीन अघाती कर्म आयु के सदृश हो जाते हैं।¹⁸⁶ लगभग ऐसा ही वर्णन पूज्यपाद और अकलंक ने भी किया है।¹⁸⁷

मन के अभाव में केवली के ध्यान कैसे?

मन की एक निश्चित एकाग्र अवस्था को ध्यान कहते हैं। केवली के मन का अभाव होता है, तो फिर केवली में ध्यान कैसे घटित होगा? **जिनभद्रगणि** कहते हैं कि आगम में तीन प्रकार के योगों के व्यापार को ध्यान बताया है। (मात्र मन विशेष ही ध्यान है ऐसा नहीं, परन्तु वचन और काया के व्यापार को भी ध्यान कहा है) क्योंकि मन, वचन और काय रूप विद्यमान कारणों के सुदृढ प्रयत्न से जो व्यापार होता है, उसे जिनेश्वरों ने ध्यान कहा है। मन के निरोधमात्र को ही ध्यान नहीं माना है और मन के अभाव में जिनेश्वर के मन संबंधी और वचन संबंधी ध्यान नहीं होता है, परन्तु काययोग के निरोध के प्रयत्न रूप स्वभाव वाला ध्यान तो होता ही है। छद्मस्थ के मनोनिरोध मात्र रूप प्रयत्न ध्यान है तो जिनेश्वरों के काययोग निरोध प्रयत्न रूप ध्यान है।¹⁸⁸

पूर्वपक्ष - जो जिनेश्वरों के मन का अभाव होने पर भी छद्मस्थ के समान सूक्ष्मक्रियानिवृत्यादि ध्यान मानते हैं, तो सोये हुए जीव के भी ध्यान मानना चाहिए। (मन का अभाव तो वहां भी है।)

उत्तरपक्ष - सोये हुए जीव के काययोग निरोध करने रूप प्रयत्न का सद्भाव नहीं होता है, इससे उसके ध्यान नहीं माना जा सकता है। जबकि जिनेश्वरों के कायनिरोध के प्रयत्नों का सद्भाव होता है, इससे उनमें ध्यान बताया है।¹⁸⁹

पूर्वपक्ष - मन के अभाव में जिनेश्वरों के काय-निरोध के प्रयत्न का सद्भाव कैसे होता है? क्योंकि सोये हुए व्यक्ति के तो किंचित् मात्र मन होता है, जिनेश्वरों के तो वह भी नहीं होता है। अतः जब सोये हुए व्यक्ति में ध्यान नहीं है तो जिनेश्वरों में कैसे होगा?

उत्तरपक्ष - यह सही है कि मन रूप करणमात्रानुसार ज्ञानवाले छद्मस्थ के सुप्तावस्था में मन के अभाव में काय निरोध के प्रयत्न का भी अभाव है। परन्तु जिनेश्वर के लिए यह कहना योग्य नहीं है, क्योंकि मन का अभाव होते हुए भी उनके केवलज्ञान है। जैसे कि मन मात्र के प्रयत्न को छद्मस्थ में ध्यान माना है, तो केवलज्ञान से विहित काययोग निरोध प्रयत्न वाले जिनेश्वर में कैसे नहीं होगा, अर्थात् होगा ही। भवस्थ केवली के चिन्ता का अभाव होते हुए भी हमेशा सूक्ष्म क्रिया निवृत्ति और उसके बाद क्रिया प्रतिपाति यह दो ध्यान माने हैं, क्योंकि उस अवस्था में तथाविध जीव के स्वभाव से, पूर्वविहित ध्यान के संस्कारादि से, कर्म निर्जरा के हेतु से तथा 'ध्यै' धातुरूप शब्द के बहुत अर्थ होने से जिनेश्वरों के आगम में दो ध्यान कहे हैं।¹⁹⁰

186. षट्खण्डागम, पु. 6, 1.9-8.16, पृ. 414-417

187. सर्वार्थसिद्धि 9.44, तत्त्वार्थराजवार्तिक 9.44

188. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 3070 से 3073

189. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 3074 से 3075

190. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 3076 से 3080

पूर्वपक्ष - जब अमनस्क केवली के ध्यान मानते हैं तो सिद्ध भी अमनस्क होते हैं, उनमें भी ध्यान मानना चाहिए?

उत्तरपक्ष - सिद्धों में कारण के अभाव से प्रयत्न नहीं होता है और न ही किसी भी प्रकार के योग का निरोध करना शेष है, इसलिए सिद्धों में ध्यान नहीं होता है।¹⁹¹

सिद्ध अवस्था की प्राप्ति

शैलेषी अवस्था में स्वल्पकाल तक पांच ह्रस्वाक्षरों - 'अ इ उ ऋ लृ का' उच्चारण किया जाए, (यह उच्चारण न अतिशीघ्र होता है, न प्रलम्ब, किन्तु मध्यम भाव में होता है) इतने काल तक केवली (असंख्यात समय प्रमाण अन्तर्मुहूर्त काल) समुच्छिन्न क्रिया अनिवृत्ति नामक शुक्लध्यान के चतुर्थपाद के ध्यान में लीन बना हुआ अनगार वेदनीय, आयुष्य, नाम और गोत्र - इन चार अघाती कर्मों को भोगते हैं। शैलेषी अवस्था में असंख्यात गुण श्रेणियों से प्राप्त तीनों कर्मों के असंख्यात कर्म स्कन्धों की प्रदेश और विपाक से निर्जरा कर चरम समय में मनुष्यगति, पंचेन्द्रियजाति, त्रसनाम, बादरनाम, पर्याप्तनाम, सुभगनाम, आदेयनाम, साता और असाता वेदनीय की दोनों में से एक, मनुष्यायु, उच्चगोत्र, यशनाम, जिननाम और मनुष्यानुपूर्वी इन तेरह प्रकृतियों को तीर्थकर एवं जो तीर्थकर नहीं है अर्थात् जिननाम का उदय नहीं वे बारह प्रकृतियों का क्षय चरम समय में करते हैं। इन चार अघाति कर्मों को युगपत् (एक साथ) क्षय करते ही औदारिक, तैजस और कार्मण इन तीन शरीरों का पूर्णतया सदा के लिये त्याग कर देते हैं।¹⁹²

केवली जितने आकाश प्रदेशों को अवगाहित करके रहे हुए हैं उतने ही आकाश प्रदेशों का ऊपर ऋजु श्रेणी से अवगाहते हुए अस्पृश्यमान गति से (दूसरे समय और प्रदेश का स्पर्श न करते हुए अर्थात् नहीं रुकते हुए) एक समय की अविग्रहगति से ऊपर सिद्धि गति में जाकर साकार केवलज्ञान उपयोग से उपयुक्त सिद्ध हो जाते हैं, बुद्ध हो जाते हैं, समस्त कर्मों से मुक्त हो जाते हैं, सब प्रकार की कर्माग्नि को सर्वथा बुझा कर शान्त हो जाते हैं, सभी दुःखों का अन्त कर देते हैं। जैसे अग्नि से जले हुए बीजों से पुनः अंकुर उत्पन्न नहीं होते उसी प्रकार कर्म बीज के जल जाने से सिद्ध पुनः जन्म ग्रहण नहीं करते। सिद्धिगति में ये सिद्ध भगवान् सदा के लिए अशरीरी, जीव घन (घनीभूत जीव प्रदेश वाले) दर्शन ज्ञान से उपयुक्त, कृतकृत्य, नीरज, निष्कम्प, वितिमिर (कर्म रूप अन्धकार से रहित) और विशुद्ध बने रहते हैं। सभी दुःखों से निस्तीर्ण, जन्म-जरा और मरण के बन्धन से मुक्त, ये सिद्ध शाश्वत अव्याबाध सुख से सदैव सुखी रहते हैं।¹⁹³

सिद्ध जीव के सम्बन्ध में जिज्ञासा-समाधान

जब जीव सिद्ध हो जाता है, बुद्ध हो जाता है, समस्त कर्मों से मुक्त हो जाता है, सब प्रकार की कर्माग्नि को सर्वथा बुझा कर शान्त हो जाता है, सभी दुःखों का अन्त कर ऊर्ध्वलोक में लोकान्त में जाकर सिद्ध हो जाता है।

प्रश्न - जीव लोकान्त तक कैसे जाता है?

उत्तर - लोक का अन्तिम भाग जहाँ से अलोकाकाश का प्रारम्भ होता है। लोक के उस अन्तिम भाग के स्थान का नाम सिद्धिगति या सिद्धालय है। इस स्थान पर जीव ऊर्ध्वगति से गमन करता हुआ बिना मोड़ लिये सरल सीधी रेखा में गमन करता हुआ अपने देह त्याग के स्थान से एक समय मात्र

191. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 3081

192. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 3082 से 3085

में सिद्ध शिला पर पहुँच कर अवस्थित हो जाता है। जीव की वह सर्व कर्म विमुक्त दशा सिद्ध अवस्था अथवा सिद्धि गति कहलाती है।

सब कर्मों का बन्धन टूटते ही जीव में चार बातें घटित होती हैं - १. औपशमिक आदि भावों का क्षय होना २. शरीर का छूट जाना ३. मात्र एक समय में सिद्ध शिला से ऊपर तक ऊर्ध्व गति से गमन ४. लोकान्त में अवस्थिति।

प्रश्न - मुक्त जीव ऊर्ध्व दिशा में ही गमन क्यों करता है? तथा उस गमन क्रिया के क्या कारण हैं?

उत्तर - जीव के ऊर्ध्व दिशा में गति करने के कारण ये हैं -

१. पूर्व प्रयोग - “पूर्व” यानी पहले के प्रयोग से। प्रयोग का यहाँ अर्थ है “आवेग”। जिस प्रकार कुम्हार का चाक (पहिया या चक्र) दण्ड को हटा लेने के बाद भी कुछ देर तक स्वयं ही घूमता रहता है। उसी प्रकार मुक्त जीव भी पहले के बन्धे हुए कर्मों के छूट जाने के बाद भी उनके निमित्त से प्राप्त आवेग के द्वारा गति करता है।

२. संग रहितता - जीव की स्वाभाविक गति ऊर्ध्व है किन्तु कर्मों के संग (सम्बन्ध) के कारण उसे नीची अथवा तिरछी गति भी करनी पड़ती है। कर्मों का संग तथा सम्बन्ध टूटते ही वह अपनी स्वाभाविक ऊर्ध्व गति से गमन करता है।

३. बन्धन का टूटना - संसारी अवस्था में जीव कर्मों के बन्धन से बन्धा रहता है। उस बन्धन के टूटते ही जीव अपनी स्वाभाविक ऊर्ध्व गति से गमन करता है।

४. तथागति परिणाम - जीव की स्वाभाविक गति ऊर्ध्व ही है अर्थात् ऊर्ध्व गमन जीव का स्वभाव ही है।¹⁹⁴

जीव के ऊर्ध्व गमन स्वभाव को समझाने के लिये ज्ञाता सूत्र के सातवें अध्ययन में तुम्बे का दृष्टान्त दिया गया है। जिस प्रकार सूखे तुम्बे पर डोरी लपेट कर और उस पर आठ बार मिट्टी का लेप कर उसे गहरे पानी में छोड़ दिया जाय तो वह भारी होने के कारण पानी के तल में पहुँच जाता है, किन्तु ज्यों ज्यों मिट्टी का लेप गलता जाता है त्यों त्यों वह तुम्बा हलका होकर ऊपर उठने लगता है। सब लेप गल जाने पर वह सीधा उठ कर पानी की सतह पर आ जाता है। इसी प्रकार कर्मों से मुक्त आत्मा भी कर्मबन्ध के टूटते ही ऊर्ध्वगमन करता है। दूसरा दृष्टान्त अग्नि शिखा का दिया जाता है - अग्निशिखा का स्वभाव ऊर्ध्व गमन है। उसी प्रकार मुक्त आत्मा का स्वभाव भी ऊर्ध्व गमन है। तीसरा दृष्टान्त एरण्ड के बीज का दिया जाता है। जैसे की एरण्ड के बीज पर लगा हुआ फल का आवरण सूखने पर फट जाता है, तो बीज तुरन्त ही उछल कर ऊपर को जाता है इसी प्रकार कर्म मुक्त आत्मा भी ऊपर की ओर जाती है।¹⁹⁵

प्रश्न - यदि मुक्त आत्मा का स्वभाव ऊर्ध्व गमन का है तो वह लोकान्त पर जाकर ही क्यों रूक जाता है? आगे अलोक में गमन क्यों नहीं करता?

उत्तर - ठाणाङ्ग सूत्र के चौथे ठाणे में बतलाया है कि चार कारणों से जीव और पुद्गल लोक के बाहर नहीं जा सकते हैं - १. आगे गति का अभाव होने से, २. उपग्रह (धर्मास्तिकाय) का अभाव होने से, ३. लोक के अन्त में परमाणु के अत्यन्त रूक्ष हो जाने से, ४. और अनादि काल का स्वभाव होने से। इस प्रकार इन चार कारणों से मुक्त जीव अलोक में नहीं जा सकता, इसलिये लोकान्त में जाकर सिद्ध स्थान में ही ठहर जाता है।

193. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 3088, प्रज्ञापनासूत्र, 36वां समुद्घात पद, उत्तराध्ययनसूत्र, अ. 29. 73

194. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 3140-3141

195. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 3142-3144

प्रश्न - जब जीव का स्वभाव ऊर्ध्वगमन का है तो फिर नीचा तिरछा क्यों जाता है ?

उत्तर - जीव का स्वभाव तो ऊर्ध्वगमन का ही है, किन्तु कर्म उदय सहित जीव जब चारों गतियों में से किसी एक गति में जाता है तब आनुपूर्वी नाम कर्म के उदय के वश जीव नीचा, तिरछा जाता है।

प्रश्न - आनुपूर्वी नाम कर्म किसको कहते हैं ?

उत्तर - जिस प्रकार ऊंट या बैल सीधी सड़क से जाता है। किन्तु जब उसका मालिक अपने खेत आदि में ले जाता है तब ऊंट की नकेल और बैल की नथ (नाथ) को खींच कर अपने इष्ट स्थान खेत आदि पर ले जाता है इसी प्रकार जीव जब एक भव का आयुष्य पूरा कर दूसरे भव में जाता है तब आनुपूर्वी नाम कर्म का उदय होता है। वह उस जीव को खींच कर उस स्थान पर ले जाता है जहाँ का आयुष्य बांध रखा है। यह जीव की परवशता है।

प्रश्न - आनुपूर्वी नाम कर्म के कितने भेद हैं और वह कब उदय में आता है ?

उत्तर - आनुपूर्वी नामकर्म के चार भेद हैं, यथा नरकानुपूर्वी नामकर्म, तिर्यञ्चानुपूर्वी, मनुष्यानुपूर्वी और देवानुपूर्वी। अपने आयुष्य बन्ध के अनुसार जीव को ये आनुपूर्वियां उस उस गति में ले जाती हैं। इसलिये जीव की नीची और तिरछी गति होती है। इस कर्म का उदय तब ही होता है जब जीव को नया जन्म लेने के लिये विषम श्रेणि में रहे हुए जन्म स्थान के विग्रह गति (मोड़ वाली गति) द्वारा अपने नये जन्म स्थान पर जाता है। इस कर्म का उदय विग्रह गति में ही होता है। अतः इसका अधिक से अधिक उदय काल तीन या चार समय मात्र का है। समश्रेणि से गमन करते समय आनुपूर्वी नाम कर्म उदय की आवश्यकता ही नहीं है।

सिद्धों के रहने का स्थान

उत्तराध्ययन सूत्र (अध्ययन 36) के अनुसार सर्वार्थसिद्ध विमान के बारह योजन ऊपर उत्तान छत्र के आकार की ईषत्प्राग्भारा पृथ्वी पैतालीस लाख योजन लम्बी है और उतनी ही अर्थात् पैतालीस लाख योजन ही विस्तीर्ण (चौड़ी) है। वह सिद्धशिला मध्य में आठ योजन मोटी कही गई है और चारों ओर से कम होती हुई अन्त में मक्खी के पंख से भी पतली हो गई है। उस सीता (ईषत्प्राग्भारा) पृथ्वी से एक योजन ऊपर लोक का अन्त कहा गया है, वहाँ योजन का जो ऊपर वाला कोस है, उस कोस के छोटे भाग में सिद्धों की अवगाहना (अवस्थिति) है, संसार के प्रपंच से मुक्त सिद्धिरूप श्रेष्ठ गति को प्राप्त हुए महा भाग्यशाली सिद्ध भगवान् वहाँ लोक के अग्रभाग पर प्रतिष्ठित-विराजमान हैं।

सब शाश्वत वस्तुओं का परिमाण प्रमाण अंगुल से बतलाया गया है। किन्तु जो यहाँ पर बतलाया गया है कि - ईषत्प्राग्भारा पृथ्वी से एक योजन ऊपर लोक का अन्त होता है। यह ऊपर का एक योजन उत्सेधांगुल से लेना चाहिये। उस योजन के (चार कोस का एक योजन) ऊपर के कोस के छोटे भाग में सिद्ध भगवन्तों का अवस्थान है। चार गति के जीवों की अवगाहना उत्सेधांगुल से बताई गई है। मनुष्यों की उत्कृष्ट अवगाहना वाले अर्थात् 500 धनुष्य वाले सिद्ध हो सकते हैं। उन 500 धनुष्य वालों की अवगाहना सिद्ध अवस्था में 333 धनुष्य और 32 अङ्गुल (एक हाथ आठ अङ्गुल) ही होती है। यह सिद्धों की उत्कृष्ट अवगाहना है। इसलिये ऊपर के एक योजन का परिमाण उत्सेध अङ्गुल से लेने पर यह सिद्धों की अवगाहना ठीक बैठ सकती है। उत्सेध अङ्गुल से प्रमाण अङ्गुल 1000 गुणा बड़ा होता है। चौबीस अंगुलों का एक हाथ होता है। चार हाथ का एक धनुष होता है। दो हजार धनुष का एक कोस होता है। इसका छठा भाग 32 अंगुल युक्त 333 धनुष होता है। इतनी जगह में सिद्धों का निवास है।

जीव के सिद्ध होने के बाद की अवगाहना

जघन्य दो हाथ एवं उत्कृष्ट 500 धनुष्य के अवगाहना वाले मनुष्य सिद्ध होते हैं। तीर्थङ्कर भगवन्तों की जघन्य अवगाहना सात हाथ से कम की नहीं होती है। उत्तराध्ययनसूत्र (अध्ययन 36, गाथा 65) के अनुसार जिस भव में जीव सिद्ध होता है उसकी जितनी अवगाहना होती है उसके तीन विभाग करने पर सिद्ध की अवगाहना दो भाग रहती है एक भाग कम हो जाती है। अतः सामान्य केवली (दो हाथ की अवगाहना वाले) की सिद्ध अवस्था में एक हाथ आठ अङ्गुल अवगाहना रह जाती है। यह सिद्ध की अवगाहना सामान्य केवली की अपेक्षा जघन्य है। तीर्थङ्कर भगवन्तों की अपेक्षा सिद्ध भगवन्तों की अवगाहना चार हाथ सोलह अङ्गुल रह जाती है। यह तीर्थङ्करों की अपेक्षा सिद्धों की जघन्य अवगाहना है। उत्कृष्ट पांच सौ धनुष्य वालों की अपेक्षा सिद्धों की उत्कृष्ट अवगाहना तीन सौ तेतीस धनुष्य बत्तीस अङ्गुल (एक हाथ आठ अङ्गुल) रह जाती है। इस प्रकार सिद्धों की जघन्य अवगाहना दो प्रकार की उत्कृष्ट अवगाहना एक प्रकार की कहनी चाहिये। इसके बीच की जितनी अवगाहना है वे सब मध्यम अवगाहना है। इसलिये मध्यम अवगाहना एक प्रकार की नहीं कहनी चाहिये। जैसे कि - भगवान् पार्श्वनाथ की अवगाहना नौ हाथ की थी। सिद्ध अवस्था में छह हाथ की अवगाहना रह गई है। इस प्रकार एक हाथ आठ अङ्गुल से ऊपर की अवगाहना से लेकर तीन सौ तेतीस धनुष्य बत्तीस अङ्गुल से कुछ कम तक सब मध्यम अवगाहना है।

सिद्धों का सुख

उत्तराध्ययनसूत्र (अध्ययन 36, गाथा 67) के अनुसार सिद्ध जीव अरूपी जीव प्रदेशों से सघन ज्ञान-दर्शन सहित हैं और ऐसे अतुल सुख को, प्राप्त हुए हैं, जिसकी उपमा नहीं दी जा सकती अर्थात् सिद्ध भगवान् ऐसे अनन्त आत्मिक सुख युक्त हैं कि जिसकी उपमा संसार के किसी भी पदार्थ से नहीं दी जा सकती।

सिद्धावस्था में जीव की स्थिति

जीव जिस अवस्था में सिद्ध होता है, क्या वही अवस्था सिद्ध होने के बाद भी रहती है अथवा परिवर्तित होती है? इस शंका का समाधान यह है कि केवली समुद्घात खड़े, बैठे, सोकर किसी भी आसन से किया जा सकता है। प्रथम के चार समय में अवगाहना का विकोचन एवं अन्तिम चार समयों में अवगाहना का संकोचन करते हैं। सिद्धावगाहना का निर्माण करने के लिए शरीर गत आत्मप्रदेशों का संकोचन तो केवलीसमुद्घात में नहीं होकर योग निरोध के समय शुक्ल ध्यान के तीसरे पाये में तेहरवें गुणस्थान में होता है। शरीर सोया, बैठा, घाणी में पिलता किसी भी स्थिति में हो आत्मप्रदेशों का घन खड़ा ही बनता है। क्योंकि आगम में अवगाहना का पर्यायवाची शब्द 'उच्चत' (उच्चत्व) मिलता है, जिसका अर्थ ऊंचाई होता है। इस पाठ से एवं औपपातिक प्रज्ञापनादि में सिद्धगण्डिका की बावीस गाथाओं में से चौथी गाथा में चरम भव में लम्बा (दीर्घ) या ठिगना (ह्रस्व), बड़ा, छोटा जैसा भी आकार होता है, उससे तिहाई भाग कम में सिद्धों की अवगाहना होती है।

दीहं वा हस्सं वा, जं चरिमभवे हवेज्ज संठाणं,

तत्तो तिभागहीणं, सिद्धाणोगाहणा भणिया।¹⁹⁶

अर्थात् जैसा संस्थान होता है, उससे त्रिभाग हीन सिद्धों की अवगाहना होती है। इस गाथा में दीर्घता और ह्रस्वता से त्रिभागहीन सिद्धों की अवगाहना बतायी गयी है। इस आगम पाठ के आधार पर ही सिद्धों की खड़ी अवगाहना समझी जाती है। अन्य आसन मानने पर उच्चत्व त्रिभागन्यून से भी कम

हो जाता है। जो आगमकारों को इष्ट नहीं है। अतः सिद्धों की अवगाहना खड़ी समझना ही आगमानुसार है। निषद्यासन से सिद्ध हुए भगवान महावीर की अवगाहना भी उपर्युक्त कारण से चार हाथ सोलह अंगुल की समझी जाती है। अतः सोते, बैठते, घाणी में पिलते, उल्टे, सीधे किसी भी अवस्था में सिद्ध होने पर भी खड़ा आकार ही रहता है। उसमें भी मस्तक लोकाग्र की ओर तथा पांव नीचे की ओर रहते हैं। कुब्जक संस्थान वालों की भी खड़ी अवगाहना ही समझी जाती है।

केवली के उपयोग की चर्चा

उपयोग बारह होते हैं, हैं यथा - पांच ज्ञान, तीन अज्ञान एवं चार दर्शन। इनमें से 5 ज्ञान 3 अज्ञान को साकारोपयोग - विशेषोपयोग कहते हैं। चार दर्शन को अनाकार उपयोग या दर्शनोपयोग - सामान्य उपयोग कहते हैं। इनमें से केवली भगवान् में दो उपयोग पाये जाते हैं - केवलज्ञान और केवलदर्शन। केवलज्ञान और केवलदर्शन के उपयोग के सम्बन्ध में आचार्यों की विभिन्न अवधारणाएं रही हैं। इस सम्बन्ध में तीन मत प्राप्त होते हैं - 1. क्रमवाद, 2. युगपदवाद, 3. अभेदवाद।

जिनभद्रगणि ने विशेषणवती में तीनों पक्षों की चर्चा की है, किंतु किसी प्रवक्ता का नामोल्लेख नहीं किया।¹⁹⁷ जिनदास महत्तर ने नंदीचूर्णि में विशेषणवती की इन्हीं गाथाओं का उल्लेख किया है। लेकिन किस मत का कौन आचार्य समर्थन करता है, इसका उल्लेख नहीं किया।¹⁹⁸

हरिभद्रसूरि ने चूर्णिगत विशेषणवती की गाथाओं का उल्लेख करते हुए आचार्यों के नामोल्लेख किये हैं। उनके अनुसार युगपदवाद के समर्थक आचार्य सिद्धसेन, क्रमवाद के समर्थक जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण और अभेदवाद के समर्थक वृद्धाचार्य हैं।¹⁹⁹ मलयगिरि ने हरिभद्र सूरि का ही अनुसरण किया है।²⁰⁰

आचार्य आत्मारामजी महाराज ने भी सिद्धसेन दिवाकर को युगपदवाद का समर्थक माना है।²⁰¹ इसके लिए आपने यह प्रमाण प्रस्तुत किया है कि 'एतेन यदवादीद् वादीसिद्धसेनदिवाकरो यथा - केवली भगवान् युगपज्जानाति पश्यति चेति तदप्यपास्तमवगन्तव्यमनेन सूत्रेण साक्षाद् युक्ति पूर्व ज्ञानदर्शनोपयोगस्य क्रमशो व्यवस्थापितत्वात्'।²⁰²

सन्मतितर्क के टीकाकार अभयदेवसूरि ने उपर्युक्त मतों के समर्थक आचार्यों के नामों का उल्लेख निम्न प्रकार से किया है।²⁰³ क्रमवाद के समर्थक जिनभद्र, युगपदवाद के समर्थक मल्लवादी और अभेदवाद के समर्थक सिद्धसेन दिवाकर।

क्रमवाद के विषय में हरिभद्र और अभयदेव एक जैसा उल्लेख करते हैं। युगपदवाद और अभेदवाद के बारे में दोनों ने भिन्न आचार्यों का उल्लेख किया है। सिद्धसेन अभेदवाद के प्रवक्ता हैं, यह सन्मतितर्क से स्पष्ट है। उन्हें युगपदवाद का प्रवक्ता नहीं माना जा सकता। इस स्थिति में युगपदवाद के प्रवक्ता के रूप में मल्लवादी का नामोल्लेख संगत हो सकता है। किन्तु उपलब्ध द्वादशार नयचक्र में इस विषय का कोई उल्लेख नहीं है। अभयदेव ने किस ग्रंथ के आधार पर इसका उल्लेख किया, वह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता।²⁰⁴ अर्वाचीन विद्वान पं. सुखलालजी संघवी²⁰⁵ डॉ. मोहनलाल मेहता²⁰⁶ भी सिद्धसेन दिवाकर को अभेदवाद का कर्ता स्वीकार करते हैं। पं. सुखलालजी

196. युवाचार्य मधुकरमुनि, औपपातिक सूत्र, गाथा 4, पृ. 178

198. नंदीचूर्णि पृ. 46-48

200. मलयगिरिया वृत्ति पृ. 134

202. मलयगिरिवृत्ति, प्रज्ञापना सूत्र, पद 30

204. गणाधिपति तुलसी, नंदी, पृ. 76

206. डॉ. मोहनलाल मेहता, जैन धर्म-दर्शन एक समीक्षात्मक परिचय, पृ. 295

197. विशेषणवती, गाथा 153, 154

199. हरिभद्रीय वृत्ति पृ. 48

201. आचार्य आत्माराम. म., नंदीसूत्र, पृ. 155

203. सन्मतिप्रकरण टीका पृ. 608

205. ज्ञानबिन्दुप्रकरण, प्रस्तावना पृ. 58

संघवी ने ज्ञानबिन्दुप्रकरण, प्रस्तावना में हरिभद्र सूरि और अभयदेवसूरि में किस कारण से भिन्नता पाई जाती है, इत्यादि विषय पर विस्तार से चर्चा की है।²⁰⁷

1. अभेदवाद

सन्मतितर्क के रचयिता सिद्धसेन दिवाकर की मान्यता है कि-केवली भगवान् के साकारोपयोग और अनाकारोपयोग - केवलज्ञान केवलदर्शन दोनों एक साथ प्रयुक्त होते हैं अर्थात् केवली निश्चित रूप से एक समय में जानते-देखते हैं, छद्मस्थ नहीं। क्योंकि ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय दोनों कर्मों का क्षय युगपद् होता है। यदि क्षय साथ में होता है तो क्षय से होने वाले उपयोग में 'यह पहले होता है और यह बाद में होता है' इस प्रकार का भेद कैसे सम्भव है?²⁰⁸ क्योंकि जब ज्ञानावरण और दर्शनावरण एक साथ क्षय होने से काल का भेद नहीं है, तब यह कैसे कहा जा सकता है कि पहले केवलदर्शन होता है, फिर केवलज्ञान होता है। यदि कहें की दोनों युगपद् होते हैं तो भी उचित नहीं है, क्योंकि एक साथ दो उपयोग हो नहीं सकते हैं। अतः इस समस्या के निराकरण के लिए यही मानना उचित है कि केवली अवस्था में दर्शन और ज्ञान में भेद नहीं होता है। केवलज्ञान से ही सभी विषयों का ज्ञान हो जाता है, तब केवलदर्शन का कोई प्रयोजन नहीं रहता है अर्थात् केवलज्ञान होने पर केवलदर्शन की सत्ता विलुप्त हो जाती है।

2. युगपदवाद

केवली में दर्शन और ज्ञानात्मक उपयोग प्रत्येक क्षण में युगपद् होता है। जैसे सूर्य का प्रकाश और ताप एक साथ रहते हैं उसी प्रकार केवली में दर्शन और ज्ञान एक साथ रहते हैं²⁰⁹ अर्थात् निरावरण ज्ञान-दर्शन भी एक साथ अपने-अपने विषय को ग्रहण करते हैं, क्रमशः नहीं। पूज्यपाद के अनुसार - ज्ञान साकार है, दर्शन अनाकार है। छद्मस्थ में वे क्रमशः होते हैं, केवली में युगपद् होते हैं।²¹⁰

मुक्तात्माओं में सुप्तावस्था की भांति बाह्य ज्ञेय विषयों का परिज्ञान नहीं होता ऐसा सांख्य लोग कहते हैं उनके खण्डनार्थ जगत्त्रय, कालत्रयवर्ती सर्वपदार्थों को युगपद् जानने वाले केवलज्ञान के स्थापनार्थ 'ज्ञानमय' यह विशेषण दिया है।²¹¹ ऐसा ही वर्णन षट्खण्डागम में भी प्राप्त होता है।²¹²

जिस प्रकार सूर्य के प्रकाश में जितने पदार्थ समाविष्ट होते हैं, उन सबको वह युगपद् प्रकाशित करता है, वैसे सिद्ध परमेष्ठी का केवलज्ञान संपूर्ण ज्ञेयों को युगपद् जानता है।²¹³

केवलज्ञान सर्वांग से जानता है

जिन्होंने सर्वांग सर्व पदार्थों को जान लिया है वे सिद्ध हैं।²¹⁴ यदि कहा जाय कि केवली आत्मा के एकदेश से पदार्थों का ग्रहण करता है, तो यही उचित नहीं है, क्योंकि आत्मा के सभी प्रदेशों में विद्यमान आवरण कर्मों का निर्मूल विनाश होता है। इसलिए केवल उसके एक अवयव से पदार्थों का ग्रहण मानने में विरोध आता है। अतः केवली प्राप्त और अप्राप्त सभी पदार्थों को युगपद् अपने सभी अवयवों से जानता है।²¹⁵ ऐसा ही वर्णन प्रवचनसार²¹⁶ में भी है।

207. ज्ञानबिन्दुप्रकरण, प्रस्तावना पृ. 54-62

208. सन्मतितर्क प्रकरण 2.9

209. नियमसार गाथा 159

210. तच्छद्मस्थेषु क्रमेण वर्तते। निरावरणेषु युगपद्। सर्वार्थसिद्धि, 2.9 पृ. 118

211. मुक्तात्मना सुप्तावस्थावद्बहिर्ज्ञेयविषये परिज्ञानं नास्तीति सांख्या वदन्ति, तन्मतानुसारिणिष्यं प्रति जगत्त्रयकालत्रयवर्ति-
'सर्वपदार्थयुगत्परिच्छित्तिरूपकेवलज्ञानस्थापनार्थं ज्ञानमय-विशेषणं-कृतमिति। - परमात्मप्रकाश, अ. 1 गा. 1 पृ. 6-7

212. षट्खण्डागम, पु. 13, सूत्र 5.5.82, पृ. 346

213. भगवती आराधना, गाथा 2136, पृ. 901

214. षट्खण्डागम, पु. 1, सूत्र 1.1.1 पृ. 27

215. कसायपाहुडं, पु. 1, पृ. 57-58

216. प्रवचनसार (त. प्र.) पृ. 47

छद्मस्थ में दर्शन और ज्ञान के विषय में श्वेताम्बर परम्परा और दिगम्बर परम्परा दोनों एकमत हैं। केवली के विषय में दिगम्बर परम्परा एक मत से युगपद्वाद का समर्थन किया है, जबकि श्वेताम्बर परम्परा में तीन मत प्राप्त होते हैं।

3. क्रमवाद

जीवों के उपयोग का स्वभाव ही ऐसा है कि वह क्रमशः ही होता है। प्रत्येक वस्तु में दो गुणधर्म होते हैं – सामान्य और विशेष। दोनों गुणधर्म क्रम पूर्वक होने पर भी वस्तु में हर समय दो गुणधर्म ही कहे जाते हैं। जैसे – एक पैर को उठाकर एवं दूसरे को नीचे रख कर चलने पर भी दो पांवों से चलना कहा जाता है – वैसे ही यहाँ पर भी केवलज्ञान, केवलदर्शन रूप आत्मा के विशेष एवं सामान्य गुण धर्म साथ में उत्पन्न होने पर भी उनकी प्रवृत्ति क्रमशः होती है। प्रथम समय में केवलज्ञान दूसरे समय में केवलदर्शन का उपयोग होता है। आचार्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने इस सम्बन्ध में विस्तार से सिद्धों के वर्णन में चर्चा करते हुए क्रमवाद का समर्थन आगमिक प्रमाणों के आधार पर किया है। उसी चर्चा को मलधारी हेमचन्द्र ने अपनी टीका में तार्किक रूप से उल्लेखित किया है। जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण और मलधारी हेमचन्द्र के द्वारा क्रमवाद के उपयोग के सम्बन्ध में जो चर्चा की उसका सरांश निम्न प्रकार से है –

सिद्ध कर्म रहित होते हैं और केवली चार अघाती कर्म सहित होते हैं, मात्र इतना ही दोनों में अन्तर है, अतः जैसा उल्लेख जिनभद्रगणि ने सिद्धों के लिए किया है, वैसा ही उल्लेख केवली के लिए भी समझ लेना चाहिए।

केवली भगवान् के साकारोपयोग (केवलज्ञान) और अनाकारोपयोग (केवलदर्शन) क्रमशः प्रयुक्त होते हैं। प्रज्ञापनासूत्र आदि आगमों के अनुसार साकार उपयोग में ही जीव सिद्ध होता है²¹⁷ केवलज्ञानी जानता और देखता है (जाणइ और पासइ), इन दो क्रियाओं का प्रयोग आगमों में स्पष्ट रूप से मिलता है।²¹⁸ भगवतीसूत्र, प्रज्ञापनासूत्र आदि में केवलज्ञान को साकार उपयोग और केवलदर्शन को अनाकार-उपयोग बतलाया गया है।²¹⁹ अतः सिद्धों (केवली) में युगपद् (एक साथ दो) उपयोग स्वीकार करेंगे, तो इससे प्रज्ञापना सूत्र का उपर्युक्त वर्णन निरर्थक हो जाएगा।²²⁰

केवली (सिद्धों) में साकार-अनाकार उपयोगमय लक्षण बताया है और सिद्धान्त में ज्ञान-दर्शन का स्पष्ट रूप से अलग-अलग उल्लेख है। इसलिए साकार-अनाकार उपयोग समान कैसे हो सकते हैं? दोनों में समानता मानने से ज्ञान-दर्शन रूप बारह प्रकार के (मतिज्ञानादि आठ साकार और चक्षुदर्शनादि चार अनाकार) उपयोग कैसे घटित होंगे?²²¹

केवलज्ञान-केवलदर्शन का पृथक् भाव मानने में आता है तो भी कोई दोष नहीं, क्योंकि सिद्धात्मा दर्शन से और ज्ञान से उपयुक्त कहलाती है।²²²

सभी केवलियों के एक समय में केवलज्ञान और केवलदर्शन दोनों में से एक उपयोग होता है। इसलिए भद्रबाहुस्वामी ने युगपद् उपयोग का निषेध किया है।²²³

217. सागारोवत्ते सिज्झति बुज्झति। – प्रज्ञापना सूत्र भाग 3, पद 36, पृ. 291, उत्तराध्ययन सूत्र अ. 29 सू. 73

218. युवाचार्य मधुकरमुनि, भगवतीसूत्र, भाग 2, शतक 8, उ. 2, पृ. 285

219. युवाचार्य, मधुकरमुनि, भगवतीसूत्र भाग 3, श. 16 उ. 7, पृ. 580, प्रज्ञापनासूत्र भाग 3, पद 29, पृ. 153

220. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 3089 से 3090

221. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 3089 से 3094

222. असरीरा जीवघणा उवउत्ता दंसणे य नाणे य। विशेषावश्यकभाष्य भाग 2, मलधारी हेमचन्द्र टीका, पृ. 251

223. नाणम्मि दंसणम्मि अ इत्तो एगयरयम्मि उवउत्तो। सव्वस केवलिससा जुगवं दो नत्थि उवओगा।

– आवश्यकनिर्युक्ति गाथा 979, विशेषावश्यकभाष्य गाथा 3096

1. सभी केवलियों के युगपद् दो उपयोग नहीं होते हैं। परन्तु किसी के दो होते हैं और किसी के एक होता है। जैसे कि भवस्थ केवली के एक समय में एक और सिद्धकेवली के एक समय में दो उपयोग हो सकते हैं। किन्तु ऐसा भी कहना अयोग्य है, क्योंकि सिद्धों के अधिकार में युगपद् दो उपयोग का निषेध किया है अर्थात् 'नाणम्मि दंसणम्मि य...' गाथा 3096 से एक समय में एक उपयोग सिद्ध है। अतः सभी केवलियों में युगपद् दो उपयोग नहीं होते हैं।²²⁴

2. '...उवउत्ता दंसणे य नाणे य त्ति। भणियं, तो जुगवं सो...' गाथा 3095 में ज्ञान-दर्शन युगपद् उपयोग होता है, ऐसा जो कथन किया गया है, वह कथन समुच्चय की अपेक्षा से है, क्योंकि अनंत सिद्धों में से किसी सिद्ध के ज्ञानोपयोग होता है तो किसी सिद्ध के दर्शनोपयोग होता है। परन्तु प्रत्येक सिद्ध की अपेक्षा से एक समय में युगपद् (उभय) उपयोग का निषेध किया है।²²⁵

3. केवलज्ञान और केवलदर्शन अविनाशी होने से सदा अवस्थित रहते हैं। इससे उनका उपयोग युगपद् होता है। ऐसा मानना भी अयोग्य है। लब्धि की अपेक्षा से केवलज्ञान-केवलदर्शन हमेशा विद्यमान रहते हैं। इससे दोनों का उपयोग भी हमेशा हो ऐसा नियम नहीं है। क्योंकि केवलज्ञान-केवलदर्शन के अलावा शेष ज्ञान और दर्शन का उपयोग स्व-स्व स्थिति काल पर्यन्त नहीं होने से भी उनकी विद्यमानता रहती है। इस प्रमाण से विद्यमान ज्ञान-दर्शन का उपयोग निरन्तर होता है, ऐसा कहना उचित नहीं है। प्रज्ञापना सूत्र के अनुसार लब्धि रूप में सभी उपयोग स्व-स्व स्थिति काल पर्यन्त विद्यमान रहते हैं। लेकिन बोधात्मक उपयोग तो अंतर्मुहूर्त का ही होता है।²²⁶ इसी प्रकार केवलज्ञान और केवलदर्शन भी लब्धि से तो अनन्तकाल तक स्थायी हैं, परन्तु उपयोग से एक समय की ही स्थितिवाले होते हैं।²²⁷

4. एक समय में केवलज्ञान का उपयोग और दूसरे समय में केवलदर्शन का उपयोग इस प्रकार क्रमशः उपयोग होता है, तो ज्ञान और दर्शन का प्रतिसमय अंत होगा है अर्थात् प्रत्येक समय के बाद केवलज्ञान और केवलदर्शन का बार-बार अभाव जाएगा। इससे सिद्धान्त में कहे हुए उसके अनन्तपने का अभाव हो जाता है। दूसरी बात वह है कि दोनों का क्रम मिलाने पर केवलज्ञान और केवलदर्शन एक दूसरे के आवरण करने वाले होंगे, क्योंकि कर्मावरण का अभाव होने पर भी एक का सद्भाव और दूसरे का अभाव हो रहा है, इससे केवलज्ञान के अनुपयोग काल में असर्वज्ञपना और केवलदर्शन के अनुपयोग काल में असर्वदर्शीपना प्राप्त होगा। जिनेश्वरों में असर्वज्ञपना और असर्वदर्शीपना मानना आपको को इष्ट नहीं है। इस प्रकार की शंका भी अयुक्त है क्योंकि इस प्रकार तो छद्मस्थ में भी ज्ञान-दर्शन का एकान्तर उपयोग मानने से उपर्युक्त सारे दोषों की प्राप्ति होगी, क्योंकि ज्ञान के अनुपयोग के समय अज्ञानित्व और दर्शन के अनुपयोग के समय अदर्शित्व आवरण का मिथ्या क्षय और निष्कारण आवरणता ये दोष छद्मस्थ में भी प्राप्त होंगे।²²⁸

5. केवली तो सर्वथा आवरण से रहित होते हैं और छद्मस्थ सर्वथा आवरण रहित नहीं होते हैं। इसलिए छद्मस्थ के ज्ञानदर्शन के युगपद् उपयोग में बाधा है। जिनेश्वर सर्वथा आवरण रहित होने से उनके युगपद् उपयोग में कोई बाधा नहीं है। इस तर्क को मान भी लिया जाए तो भी छद्मस्थ के देश से आवरण का क्षय तो होता ही है। अतः सभी वस्तुओं के विषय में ज्ञान-दर्शन का उपयोग

224. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 3097-3098

225. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 3099

226. सागारोवउत्ते णं भंते! पुच्छा? गोयमा ! जहण्णेण वि उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं। अणागारोवउत्ते वि एव चेव।

- युवाचार्य मधुकरमुनि, प्रज्ञापना सूत्र भाग 2, पृ. 358-359

227. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 3100-3101

228. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 3102-3103

युगपद् नहीं हैं, परन्तु देश से तो हो सकता है। तो छद्मस्थ में उसका निषेध किस लिए किया है? यदि छद्मस्थ के युगपद् उपयोग नहीं हो सकता है तो केवली के भी नहीं हो सकता है।²²⁹

6. केवली को यदि क्रमशः ज्ञान-दर्शन उपयोगवाला मानेंगे तो जिस समय जिस ज्ञान-दर्शन में उपयोग होगा वही ज्ञान अथवा दर्शन उनके होगा और जिस ज्ञान-दर्शन में उपयोग नहीं होगा वह उस समय में खरश्रृंग के समान अनुपलब्ध होगा। ऐसा मानना भी उपयुक्त नहीं है, क्योंकि क्योंकि छद्मस्थ के दर्शन त्रिक (दर्शन, ज्ञान और चारित्र) का युगपद् उपयोग नहीं होता है। इसलिए जो दर्शनादि तीन में से एक में अनुपयुक्त होता है, तो उसको आपके अनुसार साधु नहीं कह सकते हैं, परन्तु लोक में और सिद्धान्त में उसको साधु कहा जाता है। इसलिए क्रम से उपयोग मानने में यह दूषण प्राप्त नहीं होता है। 'जहाँ उपयोग नहीं होता वहाँ अविद्यमान है' इस कथनानुसार ज्ञान-दर्शन की अविद्यमानता प्राप्त होगी और ऐसा होने से ज्ञान-दर्शन का उपयोग जो 66 सागरोपम से अधिक काल पर्यन्त कहा है, वह भी अयोग्य हो जाएगा। लेकिन आगमों में चार ज्ञान और तीन दर्शनवाले छद्मस्थ जैसे गौतमादि प्रसिद्ध ही हैं।²³⁰

7. भगवतीसूत्र के शतक 18 उद्देशक 1 के अनुसार 'केवली णं भंते! केवलोवओगेणं किं पढमा अपढमा? गोयमा! पढमा नो अपढम त्ति' अर्थात् हे भगवन्! केवली केवलोपयोग से प्रथम है कि अप्रथम है? हे गौतम! प्रथम है अप्रथम नहीं। जिस जीव ने जो भाव पहले भी प्राप्त किये हैं, उसके उसकी अपेक्षा से वह भाव अप्रथम है। जैसे जीव को जीवत्व (जीवपन) अनादिकाल से प्राप्त होने के कारण जीवत्व की अपेक्षा से अप्रथम है। जो भाव जीव को पहले कभी प्राप्त नहीं हुए हैं, उन्हें प्राप्त करना, उस भाव की अपेक्षा से प्रथम है, जैसे सिद्धत्व प्रथम है, क्योंकि वह जीव को पहले भी प्राप्त नहीं हुआ था। इसी प्रकार केवली केवलोपयोग (केवलज्ञान और केवलदर्शन का उपयोग केवलोपयोग) से प्रथम है, अप्रथम नहीं है, क्योंकि उनको वह पहले प्राप्त नहीं हुआ था। पहले प्राप्त हुए का पुनः ध्वंस (नाश) नहीं होता है, इससे ऐसा प्रतीत होता है कि उनके हमेशा उभय उपयोग रहता है। जो क्रम से उपयोग मानते हैं तो उनके अनुसार एक उपयोग का बार-बार नाश और बार-बार उत्पाद होता है और इससे केवली में अप्रथमपना प्राप्त होता है। इसका समाधान करते हुए जिनभद्रगणि कहते हैं कि 'केवलोपयोग' में केवलज्ञान और केवलदर्शन का ग्रहण किया है। उनमें एक उपयोग अन्य से अव्यतिरिक्त होने से उनकी परस्पर अनर्थान्तरता होती है, क्योंकि ज्ञान-दर्शन एक ही वस्तु है। यह हमारे अनुकूल है।²³¹

8. 'केवलोपयोग से' केवलज्ञान और केवलदर्शन का ग्रहण करके केवलज्ञान और केवलदर्शन में एक रूपता दिखाई है। अथवा एक ही क्षायिकज्ञान रूप वस्तु को केवलज्ञान और केवलदर्शन रूप पर्याय शब्द से विशेषित किया जाता है, लोकव्यवहार में भी करके इन्द्र, पट, वृक्ष आदि वस्तुओं को स्व-स्व पर्यावाची शब्दों से विशेषित किया है। तो फिर यहाँ केवलोपयोग को भी ऐसे पर्याय शब्द से विशेषित मानने में क्या बाधा है? यह प्रमाण भी आगम के विपरीत है। क्योंकि भगवतीसूत्र, प्रज्ञापनासूत्र आदि में स्पष्ट रूप से कहा है कि जिनेश्वर परमाणु और रत्नप्रभा आदि वस्तुओं को जिस समय जानते हैं, उस समय देखते नहीं हैं। परन्तु अन्य समय जानते हैं और अन्य समय देखते हैं। जैसे कि भगवती सूत्र²³² के अनुसार - हे भगवन्! परमावधि ज्ञानवाले मनुष्य जिस समय परमाणु पुद्गल

229. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 3104-3105

230. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 3106-3107

231. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 3108-3109

232. युवाचार्य मधुकरमुनि, भगवती सूत्र भाग 3, शतक 18 उ. 8, पृ. 732-735

जानते हैं क्या उसी समय देखते हैं? और जिस समय देखते हैं क्या उसी समय जानते हैं? हे गौतम! तुम्हारा यह अर्थ योग्य नहीं है। हे भगवन्! ऐसा किस कारण से कहा है? हे गौतम! उसमें से साकार ज्ञान होता है और अनाकार दर्शन होता है, इस लिए ऐसा कहा है। इस प्रकार सिद्धान्त में भी युगपद् उपयोग का निषेध किया है, फिर भी जो क्रमशः उपयोग नहीं मानते हैं, यह उनका कदाग्रह ही है।²³³

9. भगवतीसूत्र में केवली के युगपद् दो उपयोग का निषेध किया है, इस प्रसंग में हम तो 'केवली' शब्द का अर्थ 'छद्मस्थ' करते हैं। जैसेकि 'केवली इव केवली' केवली जैसे केवली अर्थात् जो केवली नहीं है फिर भी केवली के समान है, वे केवली हैं। यहाँ पर 'इव' शब्द का लोप करके केवली का उपर्युक्त अर्थ करते हैं। अथवा 'केवली शास्ताऽस्येति केवलिमान्' केवली जिसको शिक्षा देता है, वे केवली है, इस प्रकार 'मतुप्' प्रत्यय का लोप करके ऐसा अर्थ किया जाता है। ऐसे छद्मस्थ केवली के आगमकारों ने युगपद् दो उपयोग का निषेध किया है, निरुपचरित केवली के नहीं। दूसरे फिर ऐसा कहते हैं कि भगवतीसूत्र में केवली के युगपद् उपयोग का निषेध करने का जो सूत्र है, वह अन्यदर्शन की वक्तव्यता के संबंध में है। क्योंकि यह किसी प्रसंग में बताया है। लेकिन हमें (प्रतिपक्षी को) यह मान्य नहीं है। इस कारण से केवली के क्रमशः दो उपयोग से हम (प्रतिपक्षी) सहमत नहीं हैं। **जिभद्रगणि** के अनुसार पूर्वोक्त भगवती सूत्र के का असमीची अर्थ करके परवादी युगपद् दो उपयोग को ही स्वीकार कर रहे हैं, उनका कथन सर्वथा अयोग्य है। क्योंकि भगवती के अठारहवें शतक के आठवें उद्देशक में प्रथम छद्मस्थ आघोवधिक का निर्देश करने के बाद केवली का निर्देश किया गया है।²³⁴ इस कारण से युक्ति रहित होकर मात्र धूर्तता पूर्वक 'इव' और 'मतुप्' प्रत्यय का लोप करके 'केवली' शब्द का अर्थ छद्मस्थ करना परवादियों का मात्र कदाग्रह ही है। यदि इस प्रसंग में आगमकारों को छद्मस्थ इष्ट होता तो उस स्थान पर केवली शब्द का प्रयोग नहीं करके छद्मस्थ के योग्य शब्द का प्रयोग करके उसको ही का निर्देश कर देते।²³⁵

10. कुछ प्रतिपक्षी कहते हैं कि अन्यदर्शन संबंधी वक्तव्यता के लिए यह सूत्र है²³⁶ तो उनकी भी शंका का निवारण **जिनभद्रगणि** निम्न प्रकार से करते हैं - गाथा 3112 में दिये गये प्रमाण से क्रमोपयोग की स्पष्ट रूप से सिद्धि होते हुए भी जो प्रतिपक्षी ऐसा कहते हैं कि यह निषेध सूत्र अन्यदर्शन से संबंधित है। उनकी कैसी विपरीत बुद्धि है? क्योंकि भगवती सूत्र²³⁷ के श. 25 उ. 6 में स्नातक के दो में से एक उपयोग प्रगट होता है। यह प्रमाण सर्वज्ञभाषित सूत्र में स्पष्ट रूप से कहा है। यह सूत्र में अन्यदर्शन संबंधी वक्तव्यता के लिए कहा है ऐसा कैसे कहते हैं?²³⁸

इस प्रकार आगमों में सभी स्थलों पर एकतर (क्रमशः) उपयोग वाले जीवों का ही प्रतिपादन किया गया है। परन्तु किसी भी स्थूल में उभय उपयोग वाले जीव के बारे में कथन नहीं किया है। यदि किसी भी केवली के किसी भी काल में दो उपयोग होते तो उभय उपयोग वाले जीवों का प्रतिपादन करने के लिए कहीं ना कहीं आगमकार एक तो सूत्र का उल्लेख करते ही। लेकिन ऐसा एक भी सूत्र नहीं देखा गया है।²³⁹ इसी प्रकार साकार-अनाकार इन दो उपयोगवाले जीवों की अल्पबहुत्व प्रज्ञापनासूत्र²⁴⁰ में बताई है। लेकिन युगपद् उभय उपयोग वाले जीव का कथन नहीं किया

233. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 3110-3112

234. युवाचार्य मधुकरमुनि, भगवती सूत्र भाग 3, शतक 18 उ. 8, पृ. 734-735

235. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 3113-3114

236. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 3112 में निर्दिष्ट

237. युवाचार्य मधुकरमुनि, भगवती सूत्र भाग 4, शतक 25 उ. 6, पृ. 420-421

238. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 3119-3121

239. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 3122-3123

240. युवाचार्य मधुकरमुनि, प्रज्ञापनासूत्र भाग 1, पद 3, पृ. 247-248

है। यदि केवली में युगपद् दो उपयोग होते हैं तो साकार, अनाकार और मिश्र-उपयोगवाले जीवों की, इस तरह तीन प्रकार से जीवों की अल्पबहुत्व बताते।²⁴¹

आपका ऐसा मानना है कि जो सूत्र छद्मस्थ जीवों की अपेक्षा से है, उसका केवली से संबंध नहीं है, तो यह अयोग्य है। क्योंकि प्रज्ञापना सूत्र के तीसरे पद में सभी जीवों की संख्या का अधिकार है। सभी जीवों की संख्या संबंधी यह अधिकार नहीं होता तो 'गड़ इंदिए य काए जोए वेए कसाय-लेसासु' आदि में अल्पबहुवक्तव्यता विचार से संबंधी सभी पदों में सिद्ध (अनीन्द्रिय, अकाय, अयोगी, अवेदी, अकषायी, अलेश्यी आदि) को अलग ग्रहण किया है। केवल उपयोग पद में उसका अलग ग्रहण नहीं किया गया है, तो इसका क्या कारण है? आप कहो कि यह छद्मस्थ का अधिकार है, इसलिए उसका अलग से ग्रहण नहीं किया गया है, तो फिर आपके अनुसार शेष पदों में जो सिद्ध को अलग ग्रहण किया वह अयुक्त हो जाएगा। अतः यह अधिकार सभी जीवों की अपेक्षा से है।²⁴²

अथवा यह जीवाभिगम सूत्र में बताई अल्पबहुत्व हुई है कि सिद्ध और असिद्धादि जीव दो प्रकार के हैं। ऐसा सूत्र में कहा है, उसकी गाथा निम्न प्रकार से है -

सिद्धसइंदियकाए जोए वेए कसाय लेसा य।

नाणुवओगाहारय-भासय-ससरीर-चरिमे य।²⁴³

अर्थात् सिद्ध-असिद्ध, सइन्द्रिय-अनीन्द्रिय, सकाय-अकाय इत्यादि सभी जीवों का आश्रय लेकर सूत्र कहा है। तथा ज्ञान-अज्ञान (साकार) और दर्शन (अनाकार) का उपयोग काल सर्वत्र अन्तर्मुहूर्त का ही बताया है। किसी भी स्थान पर सादि-अपर्यवसित नहीं कहा है। जैसेकि सिद्धादि भावों का सादि-अपर्यवसित उल्लेखित है, उसी प्रकार यदि साकार-अनाकार रूप मिश्र उपयोग होता तो उसका भी सादि-अपर्यवसित काल बताया जाता। लेकिन ऐसा कहीं पर भी उल्लेख प्राप्त नहीं होता है इसलिए आगमानुसार हमें यही मानना चाहिए कि जीवों के युगपद् (उभय) उपयोग नहीं होता है।²⁴⁴ यदि फिर भी हमारी एकान्तर उपयोग मानने में अभिनिवेश बुद्धि है, तो मानना नहीं मानना आपकी मर्जी है। लेकिन क्रमिक उपयोग ही जिनेश्वर का मत है। उसको अन्यथा करने में हम शक्तिमान नहीं हैं। जिस प्रकार पारिणामिक भाव से जीव का जीवत्व होना स्वभाव है, उसी प्रकार जीवों के एकान्तर उपयोग भी पारिणामिक होने से स्वभाव रूप ही है।²⁴⁵

उपाध्याय यशोविजय (17-18वीं शती) ने तीनों वादों की समीक्षा की है और नय दृष्टि से उनका समन्वय करने का प्रयत्न किया है। जैसे कि ऋजुसूत्र नय के दृष्टिकोण से एकान्तर-उपयोगवाद उचित जान पड़ता है। व्यवहारनय के दृष्टिकोण से युगपद्-उपयोगवाद संगत प्रतीत होता है। संग्रहनय से अभेद-उपयोगवाद समुचित प्रतीत होता है।²⁴⁶

अर्वाचीन विद्वान् श्री कन्हैयालालजी लोढ़ा का मत है कि जो भी युक्तियाँ केवली के युगपत् उपयोग के समर्थन में दी जायेंगी वे सब युक्तियाँ छद्मस्थ पर भी लागू होंगी और छद्मस्थ के भी दोनों उपयोग युगपत् मानने पड़ेंगे, जो श्वेताम्बर-दिगम्बर दोनों परम्पराओं को मान्य नहीं है। अतः केवली के दोनों उपयोग युगपत् मानने में विरोध आता है। इसी प्रकार छद्मस्थ जीव के दोनों उपयोग युगपत् नहीं मानने के लिए जो भी युक्तियाँ दी जायेंगी, वे केवली पर भी लागू होंगी और केवली के

241. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 3124-3125

242. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 3126-3127

243. युवाचार्य मधुकरमुनि, जीवाजीवाभिगम सूत्र भाग 2, पृ. 178, विशेषावश्यकभाष्य गाथा 3129

244. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 3128-3132

245. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 3133-3135

246. ज्ञानबिंदुप्रकरणम् पेज 33-43

दोनों उपयोग युगपत् नहीं होते, यह सर्वग्राह्य सिद्धान्त है। अतः अन्वय और व्यतिरेक दोनों प्रकार से यह सिद्ध होता है कि केवली के युगपत् दोनों उपयोग नहीं होते हैं।²⁴⁷

समीक्षा – तीनों मतों में सबसे प्राचीन मत भी क्रमवाद वाला ही प्रतीत होता है, क्योंकि सर्वप्रथम तत्त्वार्थभाष्य में युगपद्वाद का उल्लेख मिलता है।²⁴⁸ तत्त्वार्थसूत्र से पूर्ववर्ती साहित्य में क्रमवाद का ही उल्लेख प्राप्त होता है। निष्कर्ष यह है कि तर्क से भी आगम सर्वोपरि है। अतः आगमपक्ष के अनुसार केवलज्ञान केवलदर्शन का प्रयोग क्रमशः ही मानना चाहिये।

आचार्य मलयगिरि ने तीनों मतों के पक्ष-विपक्ष के बार में विस्तार से वर्णन किया है। इस टीका का भावार्थ उपाध्याय आत्मारामजी महाराज ने नंदीसूत्र की व्याख्या में किया है।²⁴⁹ अतः विशेष शोधार्थियों को वह स्थल भी देखना चाहिए।

प्रश्न – केवलज्ञान के उपयोग का स्थिति काल कितना है?

उत्तर – प्रज्ञापनासूत्र (कायस्थिति पद) एवं जीवाजीवाभिगमसूत्र में साकार अनाकार उपयोग की स्थिति अन्तर्मुहूर्त ही मिलती है। आगम के मूलपाठ में केवलज्ञान केवलदर्शन की एक समय की स्थिति देखने में नहीं आई है। टीकाकार श्री मलयगिरिजी ने दोनों स्थलों पर केवलज्ञान-केवलदर्शन के उपयोग का स्थितिकाल एक समय का ही माना है। जिसकी यहाँ विवक्षा नहीं की गई है, ऐसा मान सकते हैं। मलयगिरि को इस प्रकार की पूर्व परम्परा प्राप्त हुई होगी, जिसके आधार पर ही उन्होंने एक समय की स्थिति बताई हो, सर्व जीवों की प्रतिपत्ति में भी केवलज्ञान-दर्शन की एक समय की स्थिति नहीं बताने का कारण **विचित्र सूत्रगतिः** लिखा है। आगमकार भी **पवाएणं पवायं जाणेज्जा** कहते हैं। इसलिए इसे एकान्त आगम के विपरीत नहीं कह सकते हैं किन्तु यह गवेषणीय है। दिगम्बर साहित्य में तो केवलज्ञान-केवलदर्शन के उपयोग काल की स्थिति जघन्य-उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त मानी गई है। जघन्य उपयोग काल से उत्कृष्ट उपयोग काल को संख्यातगुणा माना है। क्षायिक ज्ञान हो जाने के बाद भी उपयोग काल में जघन्य-उत्कृष्ट काल लगने का कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं है। इसलिए उसे भी विचारणीय समझा जाता है।

मुनि जम्बूविजय द्वारा सम्पादित विशेषावश्यकभाष्य में केवलज्ञान-केवलदर्शन के अभेद-युगपद्वाद का खण्डन किया गया है और क्रमवाद की स्थापना की गई है। इस वर्णन में भी मुनि जम्बूविजय ने केवलज्ञान का उपयोग काल विशेषावश्यकभाष्य के अनुसार अन्तर्मुहूर्त का बताया है। वहाँ पर जीवाभिगम के सर्व जीवप्रतिपत्ति के आधार युगपद्वाद का खण्डन मात्र किया है। यदि युगपद् उपयोग होता तो सर्व जीव प्रतिपत्ति में साकार-अनाकार उपयोग की स्थिति अन्तर्मुहूर्त नहीं बताते। अन्तर्मुहूर्त के बाद में उपयोग बदलता ही है। तभी अन्तर्मुहूर्त की स्थिति, इत्यादि बताया है। कुछ भी सुस्पष्ट नहीं होने से आगम के विरुद्ध की अपेक्षा मतान्तर कहना अधिक उचित लगता है।

केवली में केवलज्ञान के साथ श्रुतज्ञान भी होता है?

तीर्थकर भगवान् केवलज्ञान के बाद सभी जीवों के हित के लिए देशना फरमाते हैं। यह देशान अक्षरध्वनि रूप द्रव्य श्रुत है और द्रव्यश्रुत भावश्रुत के बिना नहीं हो सकता इसलिए केवली में

247. बन्ध तत्त्व, पृ. 83

248. मतिज्ञानादिषु चतुर्षु पर्यायेणोपयोगो भवति, न युगपद्। संभिनज्ज्ञानदर्शनस्य तु भगवतः केवलिनो युगपद् सर्वभावग्राहकके निरपेक्षकेवलज्ञाने केवलदर्शने चानुसमयमुपयोगो भवति। – तत्त्वार्थभाष्य 1.31

249. उपाध्याय आत्मारामजी महाराज. नंदीसूत्र, पृ. 149-155

श्रुतज्ञान का प्रसंग उपस्थित होगा? संभवतः निर्युक्तिकाल में यह प्रश्न उपस्थित हुआ होगा? इसका समधान करने के लिए निर्युक्ति के आधार पर भाष्यकार केवलज्ञानियों में श्रुतज्ञान होने की भ्रान्ति को दूर करने के लिए कहते हैं कि

केवलणाणेणऽत्थे, नाउं जे तत्थ पणवणजोगे।

ते भासइ तित्थयरो, वइजोग सुयं हवइ सेसं॥

अर्थात् केवली (तीर्थकर) अर्थ को जानकर उसमें से जो अर्थ कहने योग्य होता है, उसे कहते हैं, उनका इस प्रकार बोलना वचन योग है, लेकिन वही बाकी जीवों के लिए श्रुत है।²⁵⁰

तीर्थकर आदि केवलज्ञान से मूर्त, अमूर्त, अभिलाष्य अथवा अनभिलाष्य धार्मास्तिकाय आदि सभी पदार्थों को जानते हैं। उन पदार्थों में से कहने योग्य अर्थ को कहते हैं। तीर्थकर आदि जो भी कथन करते हैं, वह श्रुतज्ञान के उपयोग से नहीं करते हैं। क्योंकि श्रुतज्ञान क्षायोपशमिक है और केवलज्ञान क्षायिक है। जैसे किसी का कथन है कि सर्वथा शुद्ध वस्त्र में थोड़ी शुद्धि है, तो ऐसा कथन अयोग्य है। उसी प्रकार पहले केवलज्ञान से जाने और बाद में श्रुतज्ञान से कथन करे ऐसा जो भी मानते हैं तो उनका मानना अनुचित है। क्योंकि केवलज्ञानी जितना अभिलाष्य अर्थ जानते हैं, उसमें से भी छद्मस्थ जितना ग्रहण कर सकते हैं, उतना ही कथन करते हैं और अनभिलाष्य अर्थ का तो कथन ही नहीं करते हैं। इस कारण यह है कि अभिलाष्य (कह सके ऐसा) अर्थ (पदार्थ) अनन्त होते हैं, जिनको वचन द्वारा नहीं कहा जा सकता है। आयु भी सीमित होती है और पदार्थ अनन्त-अनन्त होते हैं और सभी पदार्थों का वर्णन करना उनकी शाक्ति के बाहर होता है। अतः केवलज्ञानी, केवलज्ञान से जितना जानते हैं, उस ज्ञान का अनन्तवाँ भाग ही शब्द द्वारा प्रकट करते हैं। शेष अनन्त गुण ज्ञान ऐसा है जो शब्द द्वारा प्रकट नहीं किया जा सकता है, क्योंकि अक्षर और अक्षर संयोग सीमित है। कहने योग्य पदार्थ अभिलाष्य और शेष अनभिलाष्य पदार्थ हैं। उसमें भी केवली ग्राहक (ग्रहण करने वाले) की योग्यता (क्षमता) के अनुसार ही ग्रहण करने योग्य अर्थ को कहते हैं, अयोग्य अर्थ को नहीं कहते हैं। इसलिए सारे अभिलाष्य अर्थ का भी कथन नहीं कर पाते हैं, तो अनभिलाष्य अर्थ तो कैसे कहेंगे? अतः केवलज्ञान से जाने हुए, योग्य अर्थ को कहने के लिए शब्दों का समूह केवली के नामकर्म के उदय से वचन योग है, न कि श्रुतज्ञान है। क्योंकि श्रुतज्ञान तो क्षायोपशमिक ज्ञान है और केवलज्ञान क्षायिक ज्ञान है, इसलिए यह भावश्रुत नहीं है।²⁵¹

प्रश्न - वचनयोग अथवा वचनपरिस्पंद अथवा वचनवीर्य, यह भले ही नाम कर्म के उदयजन्य होते हैं, परन्तु उपदेश देते समय केवली के पुद्गलात्मक शब्द किस रूप होते हैं?

उत्तर - ये शब्द भी सुनने वालों के भावश्रुत का कारण होने से द्रव्यश्रुत ही हैं, लेकिन भावश्रुत नहीं। जिन छद्मस्थ गणधरादि का श्रुतग्रंथ के अनुसार ज्ञान है, वही केवलिगत ज्ञान की अपेक्षा भावश्रुत है। लेकिन केवली का ज्ञान भावश्रुत नहीं है, भावश्रुत क्षायोपशमिक होता है और केवली का ज्ञान तो क्षायिक होता है। जिन शब्दों को बोलने के बाद सुनकर श्रोता जिनका विचार करता है, यह उसका भाव श्रुत है और केवली बोलते हैं, यह उनके वचन योग होता है, श्रुतज्ञान नहीं। केवली जिन शब्दों का उच्चारण करते हैं, वे वचनश्रुत नहीं हैं, परन्तु वे शब्द सुनने वालों के ही ज्ञान का कारण होते हैं, इस उपचार से वे श्रुत हैं। जिस समय शब्दों को बोला जाता है, उस समय वह श्रुत नहीं है। केवली संबंधी वचनयोग औपचारिक होने से गौणभूत श्रुत है। इस सम्बन्ध में कुछ आचार्यों का मत

250. आवश्यकनिर्युक्ति गाथा 78, विशेषावश्यकभाष्य गाथा 829

251. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 829 की बृहद्वृत्ति का भावार्थ

है कि बोलते समय केवलियों के शब्द श्रुत नहीं लेकिन श्रोता को सुनने के बाद उन शब्दों से भावश्रुत होता है। इसलिए कारण कार्य के उपचार से वह द्रव्यश्रुत कहलाता है अथवा वचन योग ही श्रुत है। फिर भी शेष के लिए गुणभूत श्रुत है। क्योंकि वह भावश्रुत का कारण होने से अप्रधान श्रुत है अर्थात् बोलने वाले के ही वह वचन योग श्रुत है अथवा सुनने वाले के श्रुत का कारण होने से वचन योग श्रुत है, ऐसा कुछ लोग कहते हैं। किन्तु केवलज्ञानी जो वचन योग से प्रज्ञापनीय पदार्थों का कथन करते हैं, वह श्रुतज्ञान नहीं है, प्रत्युत भाषापर्याप्ति नाम कर्मोदय से ऐसा करते हैं। श्रुतज्ञान क्षयोपशमिक है और केवलज्ञान में क्षयोपशमभाव का अभाव होता है। भाषा पर्याप्ति नाम कर्मोदय से जब वे प्रवचन करते हैं, तब उनका वह वाग्योग द्रव्यश्रुत कहलाता है, वह भावश्रुत पूर्वक नहीं, बल्कि केवलज्ञान पूर्वक होता है, भावश्रुत भगवान् में नहीं, अपितु श्रोता में पाया जाता है अर्थात् जो प्राणी सुन रहे है, उनके वही द्रव्यश्रुत भावश्रुत का कारण होता है। अतः भावश्रुत का कारण होने से इसकी द्रव्यश्रुतता स्वीकार की गई है। सम्यग्दृष्टि में जो भावश्रुत है, वह भगवान् का दिया हुआ श्रुतज्ञान है।²⁵² ऐसा ही उल्लेख हरिभद्र, मलयगिरि ने भी किया है।²⁵³

पंचास्तिकाय में भी कहा है कि ज्ञेय के निमित्त से उत्पन्न नहीं होता, इसलिए केवलज्ञान को श्रुतज्ञान नहीं कह सकते और न ही ज्ञानाज्ञान कह सकते हैं। किसी विषय में तो ज्ञान हो ओर किसी विषय में अज्ञान हो, ऐसा नहीं, किन्तु सर्वत्र ज्ञान ही है।²⁵⁴

केवलज्ञान और श्रुतज्ञान में अन्तर

कन्हैयालाल लोढ़ा के अनुसार केवलज्ञान और श्रुतज्ञान में अन्तर केवल यह है कि श्रुतज्ञान जब तक स्वभाव का स्वाभाविक स्वयंसिद्ध ज्ञान आवश्यकता, माँग और साध्य रूप में होता है अर्थात् अनुभव के रूप में नहीं होता तब श्रुतज्ञान कहा जाता है। अनुभव रूप में नहीं होने से इसे परोक्ष ज्ञान कहा है और जब यह श्रुतज्ञान वीतराग अवस्था में एकत्व, विर्तक, अविचार शुक्लध्यान में ज्ञाता के एकरूप हो जाता है अर्थात् जब माँग की पूर्ति होकर श्रुतज्ञान पूर्ण अनुभव और बोध के रूप में प्रत्यक्ष हो जाता है, तब केवलज्ञान कहलाता है।²⁵⁵

केवलज्ञान और श्रुतज्ञान में जातीय एकता है और गुणों की भिन्नता है, क्योंकि श्रुतज्ञान और केवलज्ञान, ये दोनों जीव के स्वभाव के, साध्य के, सिद्धावस्था के सूचक हैं, अतः इनमें जातीय एकता है। गुण की दृष्टि से केवलज्ञान और श्रुतज्ञान में यह अन्तर है कि केवलज्ञान में श्रुतज्ञान के अनुरूप पूर्ण शुद्ध आचरण होता है, अनुभव होता है, दर्शन होता है अर्थात् केवलदर्शन होता है जबकि श्रुतज्ञान में ज्ञान के अनुरूप आंशिक आचरण होता है, परन्तु दर्शन नहीं होता है। इस कथन का समर्थन गोम्मटसार (जीवकांड गाथा 369) करता है। श्रुतज्ञान क्षायोपशमिक ज्ञान है, जबकि केवलज्ञान क्षायिक ज्ञान है। श्रुतज्ञान पूर्णज्ञान नहीं है और केवलज्ञान पूर्णज्ञान है।²⁵⁶

केवलज्ञान का विषय

क्षायोपशमिक मतिज्ञान आदि चार ज्ञान का विषय धर्मास्तिकाय आदि छह द्रव्यों में से केवल मूर्त पुद्गलद्रव्य और क्षायिक केवलज्ञान का विषय मूर्त और अमूर्त सभी द्रव्य हैं। विशेषावश्यकभाष्य में इस सम्बन्ध में विशेष वर्णन प्राप्त नहीं होता है। नंदीसूत्र आदि में इस सम्बन्ध में जो वर्णन प्राप्त होता है, उसी की यहाँ समीक्षा की गई है।

252. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 830 से 836 की बृहद्वृत्ति का भावार्थ

253. हरिभद्रीय नंदीवृत्ति पृ. 42, मलयगिरि नंदीवृत्ति पृ. 139

255. बन्ध तत्त्व, पृ. 5, 27

254. पंचास्तिकाय, गाथा 41, प्रक्षेप गाथा 5

256. बन्ध तत्त्व, पृ. 8

श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार केवलज्ञान का विषय

केवलज्ञान का विषय, संक्षेप में चार प्रकार का है, यथा - १. द्रव्य, २. क्षेत्र, ३. काल और ४. भाव।²⁵⁷

द्रव्य से - केवलज्ञानी, सभी द्रव्यों को जानते देखते हैं।²⁵⁸ केवलज्ञानी १. धर्म २. अधर्म ३. आकाश ४. जीव ५. पुद्गल और ६. काल, इन छहों द्रव्यों में, जो द्रव्य, द्रव्य से जितने परिमाण हैं और उनके प्रत्येक के जितने प्रदेश हैं उन सभी द्रव्यों को और उनके प्रत्येक के सभी प्रदेशों को केवलज्ञान से प्रत्यक्ष जानते हैं और केवलदर्शन से प्रत्यक्ष देखते हैं।

क्षेत्र से - केवलज्ञानी, सभी क्षेत्र को-सर्व लोकाकाश और सर्व अलोकाकाश को जानते देखते हैं।²⁵⁹ अर्थात् छहों द्रव्यों में जो द्रव्य, जितने क्षेत्र प्रमाण है, उसे केवलज्ञानी, अपने केवलज्ञान से उतने क्षेत्र प्रमाण जानते हैं और केवलदर्शन से देखते हैं अर्थात् केवलज्ञानी केवलज्ञान से सर्व क्षेत्रवर्ती सर्वद्रव्यपर्याय को जानते देखते हैं।

काल से - केवलज्ञानी, सभी काल (सर्व भूत, सर्व वर्तमान और सर्व भविष्य) को जानते देखते हैं।²⁶⁰ अर्थात् जो द्रव्य, जितने काल परिमाण है, केवलज्ञानी केवलज्ञान से उस द्रव्य को उतने काल परिमाण जानते हैं और केवल दर्शन से देखते हैं अथवा केवलज्ञानी केवलज्ञान से सर्व कालवर्ती सर्व द्रव्य पर्याय को जानते देखते हैं।

भाव से - केवलज्ञानी, सभी भावों (औदयिक आदि छहों भावों) को जानते हैं।²⁶¹ इसके साथ ही वे १. किस द्रव्य के २. किस प्रदेश में ३. किस क्षेत्र में ४. किस काल में ५. किस गुण की ६. क्या पर्याय हुई, क्या पर्याय हो रही है और क्या पर्याय होगी? यह सब केवलज्ञानी, केवलज्ञान से जानते हैं और केवल दर्शन से देखते हैं।

बौद्धाचार्य धर्मकीर्ति का कथन है कि 'ईश्वर सर्व पदार्थों को जाने अथवा न जाने, वह इष्ट पदार्थों को जाने, इतना ही बस है। यदि ईश्वर कीड़ों की संख्या गिनने बैठे तो वह हमारे किस काम की है?' 'अतएव ईश्वर के उपयोगी ज्ञान की ही प्रधानता है, क्योंकि यदि दूर तक देखनेवाले को ही प्रमाण माना जाये तो फिर हमें गिद्ध पक्षियों की भी पूजा करनी चाहिए। इस मत का निराकरण करने के लिए ग्रंथकार ने अनंतविज्ञान विशेषण दिया है और यह विशेषण ठीक ही है, क्योंकि अनंतज्ञान के बिना किसी वस्तु का भी ठीक-ठीक ज्ञान नहीं हो सकता। आगम (आचारांगसूत्र) का वचन भी है- 'जो एक को जानता है वही सर्व को जानता है और जो सर्व को जानता है वह एक को जानता है।'²⁶²

प्रश्न - क्या केवलज्ञान की पर्यायें तथा केवलज्ञान से जानने योग्य द्रव्यों की पर्यायें तुल्य हैं?

उत्तर - केवलज्ञान की पर्यायें शक्ति की अपेक्षा अनन्त गुणा संभव हैं। यानी केवली भगवान् जितने भी ज्ञेय पदार्थ हैं, उन सबको तो जानते देखते ही हैं, लेकिन यदि इनसे अनन्त गुणा ज्ञेय पदार्थ और भी होते, तो केवलज्ञान से उन्हें भी देखा जाना संभव था। जब ज्ञेय पदार्थ इतने ही हैं, तो इतने ही देखते हैं। लेकिन ज्ञेय पदार्थों का इतना ही होना, इस बात का द्योतक नहीं है कि वे इतना ही देख सकते हैं।

प्रश्न - केवली भगवान् जितने भाव ज्ञान द्वारा जानते और देखते हैं, क्या वे सभी भाव वाणी द्वारा कह सकते हैं?

257. तं समासओ चउव्विहं पण्णत्तं, तं जहा - दव्वओ, खित्तओ, कालओ, भावओ। - पारसमुनि, नंदीसूत्र, पृ. 93

258. तत्थ दव्वओ णं केवलणाणी सव्वदव्वाइ जाणइ पासइ। - पारसमुनि, नंदीसूत्र, पृ. 93

259. खित्तओ णं केवलणाणी सव्वं खित्तं जाणइ पासइ। - पारसमुनि, नंदीसूत्र, पृ. 94

260. कालओ णं केवलणाणी सव्वं कालं जाणइ पासइ। - पारसमुनि, नंदीसूत्र, पृ. 94

261. भावओ णं केवलणाणी सव्वे भावे जाणइ पासइ। - पारसमुनि, नंदीसूत्र, पृ. 94

262. स्याद्वादमंजरी गाथा 1. पृ. 4-5

उत्तर - केवली सभी पदार्थों को सम्पूर्ण रूप से जानते और देखते हैं, किन्तु सभी पदार्थों के भावों को वाणी द्वारा कह नहीं सकते। क्योंकि पदार्थ और पदार्थों के भाव अनन्त हैं। उनमें से कितने तो कहने योग्य भी नहीं हैं। आयुष्य सीमायुक्त और अल्प है। समझाने पर भी दूसरे समझने वालों में समझने की शक्ति उतनी नहीं होती, इत्यादि कारणों से वे सभी पदार्थों के भावों को नहीं कह सकते।

तत्त्वार्थभाष्य में केवलज्ञान का स्वरूप विस्तार से बतलाया गया है। केवलज्ञानी सब भावों का ग्राहक, संपूर्ण लोक और अलोक को जानने वाला है। इससे अतिशायी कोई ज्ञान नहीं है। ऐसा कोई ज्ञेय नहीं है जो केवलज्ञान का विषय नहीं हो।²⁶³ उक्त वर्णन के संदर्भ में सर्व द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की व्याख्या इस प्रकार फलित होती है - सर्व द्रव्य ज्ञानी का अर्थ है - मूर्त और अमूर्त सब द्रव्यों को जानने वाला। केवलज्ञान के अतिरिक्त कोई भी ज्ञान अमूर्त का साक्षात्कार अथवा प्रत्यक्ष नहीं कर सकता। संक्षिप्त में कहें तो केवलज्ञान से सभी क्षेत्रगत रूपी-अरूपी सर्वद्रव्यों की त्रिकालगोचर सभी पर्यायों का ज्ञान होता है।

दिगम्बर परम्परा में केवलज्ञान का विषय

1. केवलज्ञान सर्व द्रव्य व पर्यायों को जानता है - सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य।²⁶⁴ केवलज्ञान की प्रवृत्ति सर्व द्रव्यों में और उनकी सर्व पर्यायों में होती है। जीव द्रव्य अनंतानंत हैं, पुद्गल द्रव्य इनसे भी अनंतानंत गुणा है जिनके अणु और स्कंध ये दो भेद हैं। धर्मास्तिकाय आदि सब द्रव्यों की पृथक्-पृथक् तीनों कालों में होने वाली अनंतानंत पर्यायें हैं। इन सबमें केवलज्ञान की प्रवृत्ति होती है। ऐसा न कोई द्रव्य है और न पर्याय समूह है जो केवलज्ञान के विषय के परे हो। केवलज्ञान का माहात्म्य अपरिमित है, इसी बात का ज्ञान कराने के लिए सूत्र में 'सर्वद्रव्यपर्यायेषु' कहा है।²⁶⁵ ऐसा ही वर्णन भट्ट अकलंक ने भी किया है।²⁶⁶ केवलज्ञान एक द्रव्य की वर्तमान पर्याय के साथ अतीत-अनागत की सभी पर्यायों को जानता है।²⁶⁷

2. केवलज्ञान संपूर्ण द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव को जानता है अर्थात् केवलज्ञानी देवलोक और असुरलोक के साथ मनुष्यलोक की आगति, गति, च्यवन, उपपाद, बंध, मोक्ष, ऋद्धि, स्थिति, युति, अनुभाग, तर्क, कल, मन, मानसिक, भुक्त, कृत, प्रतिसेवित, आदिकर्म, अरह कर्म, सब लोकों, सब जीवों और सब भावों को सम्यक् प्रकार से युगपत् जानते हैं, देखते हैं और विहार करते हैं।²⁶⁸

3. केवलज्ञान सब कुछ जानता है, क्योंकि केवलज्ञान से न जाना गया हो ऐसा कोई पदार्थ ही नहीं है।²⁶⁹

4. प्रयोजनभूत व अप्रयोजनभूत सबको जानता है - आवरण के क्षय हो जाने पर आत्मा परिमित अर्थों को ही जानता है, ऐसा हो नहीं सकता, क्योंकि प्रतिबंध से रहित और समस्त पदार्थों के जानने रूप स्वभाव से संयुक्त होने पर, परिमित पदार्थों को जानने के साथ विरोध है।²⁷⁰

5. केवलज्ञान में इससे भी अनंतगुणा जानने की सामर्थ्य है - जितना यह लोकालोक स्वभाव से ही अनंत है, उससे भी यदि अनंतानंत विश्व है तो उसको भी जानने की सामर्थ्य केवलज्ञान में है, ऐसा केवलज्ञान का अपरिमित माहात्म्य जानना चाहिए।²⁷¹

263. तत्त्वार्थाधिगम सूत्र, 1.30 वृत्ति, पेज 10

265. सर्वार्थसिद्धि, 1.29 पृ. 96

267. षट्खण्डागम, पु. 1, सूत्र 1.1.136, पृ. 199

269. नियमसार, गाथा 167, षट्खण्डागम, पु. 7, सूत्र 2.1.46, पृ. 89

270. षट्खण्डागम, पु. 9, सूत्र 4.1.44, पृ. 118

264. तत्त्वार्थसूत्र 1.29

266. तत्त्वार्थराजवार्तिक, 1.29.9 पृ. 62

268. षट्खण्डागम, पु. 13, सूत्र 5.5.82, पृ. 346

271. तत्त्वार्थराजवार्तिक, 1.29.9 पृ. 62

6. केवलज्ञान से विनष्ट व अनुत्पन्न पदार्थ भी जाने जाते हैं। प्रश्न - यदि केवलज्ञानी विनष्ट और अनुत्पन्न रूप से असत् पदार्थों को भी जानता है तो वह खरविषाण को भी जान सकता है। उत्तर - नहीं, क्योंकि खरविषाण की जिस प्रकार वर्तमान में सत्ता नहीं है, उसी प्रकार उसकी भूत और भविष्यत् में भी सत्ता नहीं होगी, इसलिए उसे नहीं जानता है।

प्रश्न - यदि अर्थ में भूत और भविष्यत् पर्यायें शक्तिरूप से विद्यमान रहती हैं तो केवल वर्तमान पर्याय को ही अर्थ क्यों कहा जाता है? उत्तर - नहीं, क्योंकि 'जो जाना जाता है उसे अर्थ कहते हैं' इस व्युत्पत्ति के अनुसार वर्तमान पर्यायों में ही अर्थपना पाया जाता है। अतः अनागत और अतीत पर्यायों का ग्रहण वर्तमान अर्थ के ग्रहण पूर्वक होता है।²⁷²

प्रश्न - जो पदार्थ नष्ट हो चुके हैं और जो पदार्थ अभी उत्पन्न नहीं हुए हैं, उनको केवलज्ञान से कैसे जाना जा सकता है?

उत्तर - नहीं, क्योंकि केवलज्ञान के सहाय निरपेक्ष होने से बाह्य पदार्थों की अपेक्षा के बिना उनके (विनष्ट और अनुत्पन्न के) ज्ञान की उत्पत्ति में कोई विरोध नहीं है और केवलज्ञान में विपर्ययज्ञान का भी प्रसंग नहीं आता है क्योंकि वह यथार्थ स्वरूप को पदार्थों से जानता है और न ही गंधे के सींग के साथ व्याभिचार दोष आता है, क्योंकि वह अत्यंत अभाव रूप है।²⁷³

केवलज्ञान की स्व-पर प्रकाशकता

1. केवलज्ञानी निश्चय से स्व को और व्यवहार से पर को जानते हैं - व्यवहार नय से केवली भगवान् सबको जानते हैं और देखते हैं। निश्चय नय से केवलज्ञानी आत्मा को जानते हैं और देखते हैं।²⁷⁴ निश्चय से पर को नहीं जानने का तात्पर्य उपयोग का पर के साथ तन्मय नहीं होना है - केवली भगवान् सर्वात्म प्रदेशों से अपने को ही अनुभव करते रहते हैं, इस प्रकार वे परद्रव्यों से सर्वथा भिन्न हैं। अथवा केवली भगवान् को सर्व पदार्थों का युगपद् ज्ञान होता है। उनका ज्ञान एक ज्ञेय को छोड़कर किसी अन्य विवक्षित ज्ञेयाकार को जानने के लिए भी नहीं जाता है, इस प्रकार भी वे पर से सर्वथा भिन्न हैं।²⁷⁵

प्रश्न - यदि केवली भगवान् व्यवहार नय से लोकालोक को जानते हैं तो व्यवहार नय से ही वे सर्वज्ञ हैं, निश्चयनय से नहीं। उत्तर - जिस प्रकार तन्मय होकर स्वकीय आत्मा को जानते हैं उसी प्रकार परद्रव्य को तन्मय होकर नहीं जानते, इस कारण व्यवहार नय कहा गया है, न कि उनके परिज्ञान का ही अभाव होने के कारण। यदि स्वद्रव्य की भांति परद्रव्य को भी निश्चय से तन्मय होकर जानते तो परकीय सुख-दुःख को जानने से स्वयं सुखी-दुःखी और परकीय राग-द्वेष को जानने से स्वयं में रागी-द्वेषीपना प्राप्त होता, लेकिन ऐसा नहीं होता है। यदि वैसा मानेंगे तो अन्य और भी दूषण प्राप्त हो सकते हैं।²⁷⁶

केवलज्ञान और केवली के सम्बन्ध में विशिष्ट वर्णन

1. केवलज्ञान-केवलदर्शन उत्पन्न होने एवं नहीं होने के कारण

स्थानांग सूत्र स्थान 4 उद्देशक 2 के अनुसार साधु साध्वियों को चार कारणों से केवलज्ञान केवलदर्शन उत्पन्न नहीं होते हैं, यथा - 1. जो बार बार स्त्रीकथा, भक्तकथा, देशकथा और राजकथा करता है, 2. विवेक यानी अशुद्ध आहार आदि का त्याग करने से तथा कायोत्सर्ग करने से जो अपनी

272. कसायपाहुडं, पु. 1 गाथा 1, पृ. 19-20

273. षट्खण्डागम, पु. 6, सूत्र 1.9.1.14, पृ. 29-30

274. नियमसार, गाथा 159

275. प्रवचनसार टीका, पृ. 32

276. परमात्मप्रकाश टीका, पृ. 50

आत्मा को सम्यक् प्रकार से भावित नहीं करता है, 3. जो रात्रि के अन्तिम प्रहर में धर्म जागरणा नहीं करता है, 4. जो प्रासुक एषणीय थोड़ा थोड़ा और सामुदानिक गोचरी से प्राप्त होने वाले आहार की सम्यक् प्रकार से गवेषणा नहीं करता है। इसके विपरीत चार कारणों से साधु अथवा साध्वी को केवलज्ञान केवलदर्शन उत्पन्न हो जाते हैं। यथा - 1. जो स्त्री कथा, भक्त कथा, देश कथा और राजकथा नहीं करता है, 2. जो विवेक यानी अशुद्ध आहार का त्याग करने से और कायोत्सर्ग करने से अपनी आत्मा को सम्यक् रूप से भावित करता है, 3. जो रात्रि के अन्तिम प्रहर में धर्मजागरणा करता है, 4. जो प्रासुक एषणीय थोड़ा थोड़ा सामुदानिक भिक्षाचर्या से प्राप्त होने वाले आहार की सम्यक् प्रकार से गवेषणा करता है।

2. केवलदर्शन उत्पन्न होता हुआ भी प्रथम समय में नहीं रुकने के कारण

स्थानांग सूत्र स्थान 5, उद्देशक 1 में उल्लेख है कि पांच कारणों से अवधिदर्शन उत्पन्न होता हुआ भी प्रथम समय में ही रुक जाता है यथा - 1. थोड़े से जीवों से व्याप्त पृथ्वी को देखकर प्रथम समय में ही रुक जाता है। 2. अत्यन्त सूक्ष्म कुन्थुओं की राशि से भरी हुई पृथ्वी को देखकर प्रथम समय में ही रुक जाता है। 3. महान् शरीर वाले सांप को देखकर भय से या आश्चर्य से प्रथम समय में ही रुक जाता है। 4. महर्द्धिक देव यानी देवता की महान् ऋद्धि को यावत् महान् सुखों को देखकर आश्चर्य से प्रथम समय में ही रुक जाता है। 5. प्राचीन काल के बहुत से ऐसे महान् निधान जिनके स्वामी, उनके पुत्रादि, पहचानने के चिह्न नष्ट हो गये हैं, ऐसे घर, भवन आदि में जो निधान गड़े हुए हैं उनको देखकर आश्चर्य से अथवा लोभ से प्रथम समय में ही रुक जाता है। इन पांच कारणों से अवधिदर्शन उत्पन्न होता हुआ भी प्रथम समय में ही रुक जाता है।

पांच कारणों से केवलज्ञान, केवलदर्शन उत्पन्न होते हुए प्रथम समय में रुकते नहीं हैं यथा अल्पभूत पृथ्वी को देखकर प्रथम समय में ही रुकते नहीं हैं। शेष सारा वर्णन ऊपर के समान कह देना चाहिये यावत् भवनों और घरों में जो निधान गड़े हुए हैं उनको देखकर प्रथम समय में उत्पन्न होते हुए केवलज्ञान, केवलदर्शन रुकते नहीं हैं।

3. छद्मस्थ और केवलज्ञानी में अन्तर

स्थानांग स्थान 5, उद्देशक 3, स्थान 6 एवं स्थान 10 के अनुसार छद्मस्थ जीव दस बातों को सब पर्यायों सहित न जान सकता है और न देख सकता है यथा - 1. धर्मास्तिकाय 2. अधर्मास्तिकाय 3. आकाशास्तिकाय 4. वायु 5. शरीर रहित जीव 6. परमाणु पुद्गल 7. शब्द 8. गन्ध 9. यह पुरुष प्रत्यक्ष ज्ञानशाली केवली होगा या नहीं 10. यह पुरुष सर्व दुःखों का अन्त कर सिद्ध बुद्ध यावत् मुक्त होगा या नहीं। अतिशय ज्ञान रहित छद्मस्थ सर्व भाव से इन बातों को जानता और देखता नहीं है। यहाँ पर अतिशय ज्ञान रहित विशेषण देने का यह अभिप्राय है कि अवधिज्ञानी छद्मस्थ होते हुए भी अतिशय ज्ञानी होने के कारण परमाणु आदि को यथार्थ रूप से जानता और देखता है, किन्तु अतिशय ज्ञान रहित छद्मस्थ जान या देख नहीं सकता है। किन्तु केवलज्ञान केवलदर्शन के धारक अरिहन्त जिन केवली उपर्युक्त दस ही बातों को सर्वभाव से जानते हैं और देखते हैं।

4. छद्मस्थ और केवलज्ञानी की पहचान

स्थानांग सूत्र स्थान 7 के अनुसार सात बातों से छद्मस्थ की पहचान की जा सकती है यथा - 1. जानते या अजानते कभी छद्मस्थ से हिंसा हो जाती है क्योंकि चारित्र मोहनीय कर्म के कारण वह चारित्र का पूर्ण पालन नहीं कर सकता है। 2. छद्मस्थ से कभी न कभी असत्य वचन बोला जा सकता

है। 3. छद्मस्थ से अदत्तादान का सेवन भी हो सकता है। 4. छद्मस्थ शब्द, स्पर्श, रस, रूप और गन्ध का रागपूर्वक सेवन कर सकता है। 5. छद्मस्थ अपनी पूजा सत्कार का अनुमोदन कर सकता है अर्थात् अपनी पूजा सत्कार होने पर वह प्रसन्न होता है। 6. छद्मस्थ आधाकर्म आदि को सावद्य जानते हुए और कहते हुए भी उनका सेवन कर सकता है। 7. साधारणतया छद्मस्थ जैसा कहता है वैसा करता नहीं है। इनके विपरीत सात बातों से केवलज्ञानी सर्वज्ञ पहिचाना जा सकता है यथा - केवली हिंसा आदि नहीं करते हैं यावत् जैसा कहते हैं वैसा ही करते हैं। ऊपर कहे हुए छद्मस्थ पहिचानने के बोलों से विपरीत सात बोलों से केवली पहिचाने जा सकते हैं। केवली के चारित्र मोहनीय कर्म का सर्वथा क्षय हो जाता है, इसलिए उनका संयम निरतिचार होता है। मूलगुण और उत्तरगुण सम्बन्धी दोषों का वे सेवन नहीं करते हैं। इसलिए वे उक्त सात बातों का सेवन नहीं करते हैं।

5. केवली के दस अनुत्तर

स्थानांग सूत्र स्थान 5, उद्देशक 1 एवं स्थान 10 के अनुसार केवली भगवान् के दस बातें अनुत्तर होती हैं। अनुत्तर का अर्थ है - दूसरी कोई वस्तु जिससे बढ़ कर न हो अर्थात् जो सब से बढ़ कर हो। यथा - 1. अनुत्तर ज्ञान - ज्ञानावरणीय कर्म के सर्वथा क्षय से केवलज्ञान उत्पन्न होता है। 2. केवलज्ञान से बढ़कर दूसरा कोई ज्ञान नहीं है। इसलिए केवली भगवान् का ज्ञान अनुत्तर कहलाता है। 3. अनुत्तर दर्शन - दर्शनावरणीय अथवा दर्शन मोहनीय कर्म के सम्पूर्ण क्षय से केवलदर्शन उत्पन्न होता है। 4. अनुत्तर चारित्र - चारित्र मोहनीय कर्म के सर्वथा क्षय से अनुत्तर चारित्र उत्पन्न होता है। 5. अनुत्तर तप - केवली के शुक्ल ध्यानादि रूप अनुत्तर तप होता है। 6. अनुत्तर वीर्य - वीर्यान्तराय कर्म के सर्वथा क्षय से अनन्त वीर्य पैदा होता है। अनुत्तर क्षान्ति-क्षमा। 7. अनुत्तर मुक्ति - निर्लोभता। 8. अनुत्तर आर्जव - सरलता। 9. अनुत्तर मार्दव-मान का त्याग। 10. अनुत्तर लाघव - घाती कर्मों का सर्वथा क्षय हो जाने से उनके ऊपर संसार का बोझ नहीं रहता है।

6. सर्व को जानता हुआ भी व्याकुल नहीं होता

विश्व को निरन्तर जानते हुए और देखते हुए भी केवली के मन प्रवृत्ति का अभाव होने से इच्छा पूर्वक वर्तन नहीं होता।²⁷⁷

7. केवलज्ञानी पंचेन्द्रिय अथवा अनीन्द्रिय है

केवलज्ञानी (13 वें-14 वें गुणस्थान वाले) को इन्द्रिय (भावेन्द्रिय) की अपेक्षा से अनीन्द्रिय और जाति (द्रव्येन्द्रिय) की अपेक्षा से पंचेन्द्रिय माना है। भावेन्द्रियां मतिज्ञान के क्षयोपशम भाव में होती हैं। केवलियों के क्षयोपशम भाव नहीं होने से वे अनीन्द्रिय कहलाते हैं। सयोगी और अयोगी केवली को पंचेन्द्रिय कहने में द्रव्येन्द्रियों की विवक्षा है, ज्ञानावरण के क्षयोपशम रूप भावेन्द्रियों की नहीं। यदि भावेन्द्रियों की विवक्षा होती तो ज्ञानावरण का सद्भाव होने से सर्वज्ञता ही नहीं हो सकती थी।²⁷⁸

केवलियों के यद्यपि भावेन्द्रियाँ समूल नष्ट हो गयी हैं, और बाह्य इन्द्रियों का व्यापार भी बंद हो गया है, तो भी (छद्मस्थ अवस्था में) भावेन्द्रियों के निमित्त से उत्पन्न हुई द्रव्येन्द्रियों के सद्भाव की अपेक्षा उन्हें पंचेन्द्रिय कहा गया है।²⁷⁹

2. जाति नाम कर्मोदय की अपेक्षा वे पंचेन्द्रिय हैं - पंचेन्द्रिय नामकर्म के उदय से पंचेन्द्रिय जीव होते हैं। व्याख्यान के अनुसार केवली के भी पंचेन्द्रिय जाति नामकर्म का उदय होता है।²⁸⁰

277. नियमसार, ता. टीका, पृ. 172

278. तत्त्वार्थराजवार्तिक, 1.30.9, पृ. 318

279. षट्खण्डागम, पु. 1,1.1.37 पृ. 263, गोम्मटसार जीवकांड गाथा 701 की टीका

280. षट्खण्डागम, पु. 1,1.1.39 पृ. 264

8. केवली के मन होता है अथवा नहीं ?

श्वेताम्बर परम्परा में - भगवती सूत्र के अनुसार केवली भगवान् देव और मनुष्यों को मन से पूछे गये प्रश्न का जवाब मन से ही देते हैं।²⁸¹ अतः देवादि के द्वारा मन से पूछा हुआ प्रश्नों का उत्तर देने के लिए केवलियों को मनोयोग प्रवर्तनाने की आवश्यकता होती है। उपदेशादि में वचन योग की और विहारादि में काययोग की प्रवृत्ति करते हैं। केवली किसी भी योग की प्रवृत्ति इच्छापूर्वक करते हैं, सहज नहीं।

दिगम्बर परम्परा में - केवली के अतीन्द्रिय ज्ञान होते हुए भी उनके द्रव्य मन का सद्भाव पाया जाता है, लेकिन वे द्रव्य मन का उपयोग नहीं करते हैं, क्योंकि केवली के मानसिक ज्ञान के सहकारी कारणरूप क्षयोपशम का अभाव है, इसलिए उनके मनोनिमित्तक ज्ञान नहीं होता है।

प्रश्न - केवली के द्रव्यमन का सद्भाव रहे तो भी वहाँ उसका कोई कार्य नहीं होता है?

उत्तर - द्रव्यमन के कार्य रूप उपयोगात्मक क्षायोपशमिक ज्ञान का भले ही अभाव हो, परन्तु द्रव्य मन के उत्पन्न करने में प्रयत्न तो पाया ही जाता है, क्योंकि द्रव्य मन की वर्गणाओं को लाने के लिए होने वाले प्रयत्न हेतु किसी भी प्रकार का प्रतिबंधक कारण नहीं पाया जाता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि उस मन के निमित्त से जो आत्मा का परिस्पंद रूप प्रयत्न होता है, उसे मनोयोग कहते हैं।²⁸²

9. भावमन के अभाव में वचन की उत्पत्ति कैसे हो सकती है?

अरहंत परमेष्ठी में भाव मन का अभाव होने पर मन के कार्यरूप वचन का सद्भाव हो सकता है, क्योंकि वचन ज्ञान के कार्य हैं, मन के नहीं।

प्रश्न - अक्रम ज्ञान से क्रमिक वचनों की उत्पत्ति कैसे हो सकती है? उत्तर - नहीं, क्योंकि, घट विषयक अक्रम ज्ञान से युक्त कुम्भकार द्वारा क्रम से घट की उत्पत्ति देखी जाती है। इसलिए अक्रमवर्ती ज्ञान से क्रमिक वचनों की उत्पत्ति मान लेने में कोई विरोध नहीं आता है।²⁸³

10. केवली नो संज्ञी-नो असंज्ञी

प्रश्न - मन सहित होने के कारण क्या सयोगी केवली भी संज्ञी होते हैं?

उत्तर - नहीं, क्योंकि आवरण कर्म से रहित उनके मन के अवलम्बन से बाह्य अर्थ का ग्रहण नहीं पाया जाता है, इसलिए उन्हें संज्ञी नहीं कह सकते। प्रश्न - तो केवली असंज्ञी होते हैं? उत्तर - नहीं, क्योंकि जिन्होंने समस्त पदार्थों को साक्षात् कर लिया है, उन्हें असंज्ञी मानने में विरोध आता है।

प्रश्न - केवली असंज्ञी होते हैं, क्योंकि वे मन की अपेक्षा के बिना ही विकलेन्द्रिय जीवों की तरह बाह्य पदार्थों का ग्रहण करते हैं? उत्तर - यदि मन की अपेक्षा न करके ज्ञान की उत्पत्ति मात्र का आश्रय करके ज्ञानोत्पत्ति असंज्ञीपने के कारण होती तो ऐसा होता। परन्तु ऐसा तो है नहीं, क्योंकि कदाचित् मन के अभाव से विकलेन्द्रिय जीवों की तरह केवली के बुद्धि के अतिशय का अभाव भी हो जायेगा। इसलिए केवली के पूर्वोक्त दोष लागू नहीं होता।²⁸⁴ इसलिए क्षायोपशमिक ज्ञानी संज्ञी होते हैं, क्षयज्ञानी (केवली) संज्ञी नहीं होते हैं। संज्ञा का अर्थ है, अतीत का स्मरण और अनागत का चिन्तन। केवली इस संज्ञा से अतीत होते हैं, वे नो संज्ञी - नो असंज्ञी होते हैं।²⁸⁵

281. भगवतीसूत्र, श. 5 उ. 4 पृ. 44286

282. षट्खण्डागम, पु. 1,1.1.50 पृ. 284

283. षट्खण्डागम, पु. 1,1.1.123 पृ. 368

284. षट्खण्डागम, पु. 1,1.1.172 पृ. 408

285. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 518

11. केवली के योगों का सद्भाव

दोनों परम्पराओं में केवलज्ञानी को सयोगी और अयोगी दोनों रूपों में स्वीकार किया गया है। वीर्यान्तराय और ज्ञानावरण कर्म के क्षय हो जाने पर भी सयोगी केवली के जो तीन प्रकार की वर्गणाओं की अपेक्षा आत्मप्रदेशों में परिस्पंद होता है वह योग है।²⁸⁶

12. केवली और मत्यादिज्ञान

तत्त्वार्थसूत्र के पहले कुछ आचार्यों का मानना था कि केवली के मत्यादिज्ञान हो सकते हैं, मात्र इतना अन्तर है कि जैसे सूर्य की उपस्थिति में अग्नि, चन्द्र आदि का तेज मंद हो जाता है वैसे ही केवलज्ञान की उपस्थिति में मति आदि ज्ञान अकिंचित्कर बन जाते हैं। उमास्वाति आदि आचार्यों ने इस मान्यता का खण्डन करते हुए कहा है कि केवलज्ञान क्षायिक है²⁸⁷ और पूर्णशुद्ध²⁸⁸ है। इससे क्षायोपशमिक और प्रादेशिक अशुद्धि वाले मत्यादि ज्ञानों का केवलज्ञान के साथ में कोई सम्बन्ध नहीं है।²⁸⁹ अतः केवलज्ञान होते ही चारों ज्ञान छूट जाते हैं। जंबूद्वीपप्रज्ञप्ति में भगवान् ऋषभदेव के वर्णन में केवलज्ञान की व्याख्या करते हुए टीकाकार कहते हैं कि - “केवलमसहायं-नटुमि उ छाउमस्थिए नाणे।”²⁹⁰ तथा प्रज्ञापना सूत्र के 29 वें पद में केवलज्ञान की व्याख्या करते हुए टीकाकार कहते हैं कि - केवलं-एकं मत्यादिज्ञान निरपेक्षत्वात्, “नटुमि उ छाउमस्थिए नाणे” (नष्टे तु छादमस्थिके ज्ञाने) इति वचनात् शुद्धं वा केवलं तदावरणमलकलंकविगमात् संकलं वा केवलं प्रथमत एवाशेषतदावराणी विगतमः²⁹¹ इत्यादि प्रमाणों से चार ज्ञान का छूटना स्पष्ट है। जो ऐसी युक्ति करते हैं कि आगम में सयोगी-अयोगी केवली को पंचेन्द्रिय कहा है, उससे उनमें मत्यादिज्ञान का कार्यरूप इन्द्रियपना हो सकता है? तो इसका उत्तर यह है कि केवली के पंचेन्द्रियपना द्रव्येन्द्रिय की अपेक्षा है, भावेन्द्रिय की अपेक्षा नहीं।²⁹²

13. अर्हतों को ही केवलज्ञान क्यों, अन्य को क्यों नहीं?

हे अर्हन्! वह सर्वज्ञ आप ही हैं, क्योंकि आप निर्दोष हैं। निर्दोष इसलिए हैं कि युक्ति और आगम से आपके वचन अविरुद्ध हैं। वचनों में विरोध इसलिए नहीं है क्योंकि आपका इष्ट (मुक्ति आदि तत्त्व) प्रमाण से बाधित नहीं है। किंतु आपके अनेकांत मतरूप अमृत का पान नहीं करने वाले तथा सर्वथा एकांत तत्त्व का कथन करने वाले और अपने को आप समझने के अभिमान से दग्ध हुए एकांतवादियों का इष्ट (अभिमत तत्त्व) प्रत्यक्ष से बाधित है।²⁹³

14. ईर्यापथ आस्रव सहित भी भगवान् कैसे हो सकते हैं

प्रश्न - जल के बीच पड़े हुए तप्त लोहपिण्ड के समान ईर्यापथिककर्म रूपी जल को अपने सभी आत्मप्रदेशों द्वारा ग्रहण करते हुए केवली जिन परमात्मा के समान कैसे हो सकते हैं? उत्तर - ईर्यापथिककर्म गृहीत होकर भी वह गृहीत नहीं है, क्योंकि वह सरागी के द्वारा ग्रहण किये गये कर्म के समान पुनर्जन्म रूप संसार फल को उत्पन्न करने वाली शक्ति से रहित है। बद्ध होकर भी वह बद्ध नहीं है, क्योंकि दूसरे समय में ही उसकी निर्जरा देखी जाती है। स्पृष्ट होकर भी वह स्पृष्ट नहीं है कारण कि ईर्यापथिक बंध का सत्त्वरूप से जिनेन्द्र भगवान् के अवस्थान नहीं पाया जाता ...उदीर्ण होकर भी वह उदीर्ण नहीं है, क्योंकि वह दग्ध गेहूं के समान निर्जीवभाव को प्राप्त हो गया है।²⁹⁴

286. सर्वार्थसिद्धि, 6.1 पृ. 244

287. तत्त्वार्थभाष्य 1.31

288. तत्त्वार्थराजवार्तिक 1.30.7,8

289. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 155, नंदीचूर्ण पृ. 40, हारिभद्रीय, नंदीवृत्ति पृ. 41, मलयगिरि, नंदीवृत्ति, पृ. 134

290. जंबूद्वीपप्रज्ञप्तिवृत्ति, वक्षस्कार 2, पृ. 150

291. प्रज्ञापना वृत्ति, पद 29, पृ. 238

292. तत्त्वार्थराजवार्तिक 1.30.9

294. समन्तभद्र, आप्तमीमांसा, गाथा 6-7

294. षट्खण्डागम, पु. 13, 5.4.24, पृ. 51-52

गति आदि द्वारों के माध्यम से केवलज्ञान का वर्णन

9. सत्पदप्ररूपणा - टीकाकार मलधारी हेमचन्द्र ने सत्पदप्ररूपणा के अन्तर्गत गति आदि 20 द्वारों के माध्यम से केवलज्ञान का उल्लेख किया है, जिसका वर्णन निम्न प्रकार से है।²⁹⁵

1. गति द्वार - गति की अपेक्षा से मनुष्य और सिद्ध केवलज्ञान के अधिकारी हैं। देव, नारक और तिर्यच गतियों में केवलज्ञान नहीं होता है। मनुष्य गति में पूर्वप्रतिपन्न (भूतकाल का ज्ञान) की अपेक्षा से केवलज्ञान की नियमा, प्रतिपद्यमान (वर्तमान के एक समय का ज्ञान) की अपेक्षा से भजना, सिद्धों में पूर्वप्रतिपन्न की अपेक्षा से केवलज्ञान की नियमा, प्रतिपद्यमान की अपेक्षा से नहीं होता है एवं शेष तीन गतियों में दोनों अपेक्षाओं से केवलज्ञान नहीं होता है।

2. इन्द्रिय द्वार - भावेन्द्रियों की अपेक्षा से अनिन्द्रिय जीव को ही केवलज्ञान होता है, क्योंकि केवलज्ञान इन्द्रिय निरपेक्ष है। एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक के जीवों को केवलज्ञान नहीं होता है। अनिन्द्रिय में पूर्वप्रतिपन्न और प्रतिपद्यमान की अपेक्षा से केवलज्ञान की नियमा। एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक दोनों अपेक्षाओं से केवलज्ञान नहीं होता है।

3. काय द्वार - काय की अपेक्षा से त्रसकाय और अकाय (सिद्ध) को केवलज्ञान होता है। पृथ्वी आदि पांच कायों के जीवों को केवलज्ञान नहीं होता है। त्रसकाय में पूर्वप्रतिपन्न की अपेक्षा से केवलज्ञान की नियमा, प्रतिपद्यमान की अपेक्षा भजना, अकाय में पूर्वप्रतिपन्न की अपेक्षा से केवलज्ञान की नियमा, प्रतिपद्यमान की अपेक्षा से नहीं होता है एवं शेष पृथ्वी आदि पांच कायों में दोनों अपेक्षाओं से केवलज्ञान नहीं होता है।

4. योग द्वार - मन, वचन और काया से युक्त सयोगी और इन तीन योगों से रहित अयोगी इन दोनों प्रकार के जीवों को केवलज्ञान होता है। सयोगी में पूर्वप्रतिपन्न की अपेक्षा से केवलज्ञान की नियमा, प्रतिपद्यमान की अपेक्षा भजना होती है। अयोगी में पूर्वप्रतिपन्न की अपेक्षा से केवलज्ञान की नियमा, प्रतिपद्यमान की अपेक्षा नहीं होता है।

5. वेद द्वार - अवेदी (भाववेद की अपेक्षा से) में केवलज्ञान होता है। स्त्रीवेद, पुरुष और नपुसंक वेद अर्थात् सवेदी (भाव रूप से किसी भी वेद से युक्त हो) को केवलज्ञान नहीं होता है। अवेदी में पूर्वप्रतिपन्न की अपेक्षा से केवलज्ञान की नियमा, प्रतिपद्यमान की अपेक्षा भजना है। शेष तीन वेदों (अर्थात् सवेदी) में दोनों अपेक्षाओं से केवलज्ञान नहीं होता है।

6. कषाय द्वार - क्रोध, मान, माया और लोभ से रहित अकषायी जीव को ही केवलज्ञान होता है। क्रोध, मान, माया और लोभ से युक्त जीव को केवलज्ञान नहीं होता है। अकषायी में पूर्वप्रतिपन्न की अपेक्षा से केवलज्ञान की नियमा, प्रतिपद्यमान की अपेक्षा भजना एवं शेष चार कषायों में दोनों अपेक्षाओं से केवलज्ञान नहीं होता है।

7. लेश्या द्वार - सलेश्यी (शुक्ललेश्यी) और अलेश्यी को केवलज्ञान होता है। कृष्णादि पांच लेश्या से युक्त जीव को केवलज्ञान नहीं होता है। शुक्ललेश्यी में पूर्वप्रतिपन्न की अपेक्षा से केवलज्ञान की नियमा, प्रतिपद्यमान की अपेक्षा भजना होती है। अलेश्यी में पूर्वप्रतिपन्न की अपेक्षा से केवलज्ञान की नियमा, प्रतिपद्यमान की अपेक्षा नहीं होता है और शेष कृष्णादि पांच लेश्याओं में दोनों अपेक्षाओं से केवलज्ञान नहीं होता है।

8. सम्यक्त्व द्वार - सम्यग्दृष्टि को केवलज्ञान होता है। मिथ्यादृष्टि और मिश्रदृष्टि वाले जीव

केवलज्ञान के अधिकारी नहीं होते हैं। सम्यग्यदृष्टि में पूर्वप्रतिपन्न की अपेक्षा से केवलज्ञान की नियमा, प्रतिपद्यमान की अपेक्षा भजना एवं शेष दो (मिथ्या, मिश्र) दृष्टियों में दोनों अपेक्षाओं से केवलज्ञान नहीं होता है।

9. ज्ञान द्वार - मति आदि चार ज्ञान में पूर्वप्रतिपन्न की अपेक्षा से केवल नहीं, प्रतिपद्यमान की अपेक्षा से भजना से होता है। केवलज्ञानी में पूर्वप्रतिपन्न की अपेक्षा नियमा और प्रतिपद्यमान की अपेक्षा केवलज्ञान नहीं होता है एवं शेष मति आदि चार मति आदि तीन अज्ञान में दोनों अपेक्षाओं से केवलज्ञान नहीं होता है।

10. दर्शन द्वार - चक्षु आदि तीन दर्शन में पूर्वप्रतिपन्न की अपेक्षा से केवलज्ञान नहीं होता है और प्रतिपद्यमान की अपेक्षा भजना से होता है। केवलदर्शन में पूर्वप्रतिपन्न की अपेक्षा नियमा और प्रतिपद्यमान की अपेक्षा नहीं होता है।

11. संयत द्वार - संयत (यथाख्यात चारित्र) और नो संयत-नो असंयत-नो संयतासंयत (सिद्ध) को ही केवलज्ञान होता है। सामायिक आदि चार चारित्र, असंयत और संयतासंयत (श्रावक) को केवलज्ञान नहीं होता है।

यथाख्यातचारित्र में पूर्वप्रतिपन्न और प्रतिपद्यमान की अपेक्षा केवलज्ञान की भजना, नो संयत नो असंयत नो संयतासंयत (सिद्ध) पूर्वप्रतिपन्न की अपेक्षा से केवलज्ञान की नियमा, प्रतिपद्यमान की अपेक्षा नहीं होता है। शेष सामायिक आदि चार चारित्र, असंयत और संयतासंयत (श्रावक) में दोनों अपेक्षाओं से केवलज्ञान नहीं होता है।

12. उपयोग द्वार - साकार और अनाकार उपयोग वाले में केवलज्ञान होता है। साकारोपयोग में पूर्वप्रतिपन्न और प्रतिपद्यमान की अपेक्षा केवलज्ञान की भजना एवं अनाकारोपयोग में पूर्वप्रतिपन्न की अपेक्षा से केवलज्ञान की भजना, प्रतिपद्यमान की अपेक्षा से केवलज्ञान नहीं होता है।

13. आहार द्वार - श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार (कवलाहार की अपेक्षा) आहारक और अनाहारक दोनों अवस्था में केवलज्ञान होता है। दिगम्बर परम्परा में अनाहारक को ही केवलज्ञान होता है। इस सम्बन्ध में दोनों परम्परा के आचार्यों ने अपने-अपने मत का विस्तार से मण्डन और परपक्ष का खण्डन किया है। उन चर्चाओं का पढ़ने पर सार रूप से यही उचित लगता है कि केवलज्ञान आहारक और अनाहारक दोनों को हो सकता है।

आहारक में पूर्वप्रतिपन्न नियमा और प्रतिपद्यमान की अपेक्षा केवलज्ञान की भजना एवं अनाहारक में पूर्वप्रतिपन्न की अपेक्षा से केवलज्ञान की भजना, प्रतिपद्यमान की अपेक्षा से केवलज्ञान नहीं होता है।

14. भाषक द्वार - भाषक और अभाषक को केवलज्ञान होता है। भाषक में पूर्वप्रतिपन्न की अपेक्षा नियमा और प्रतिपद्यमान की अपेक्षा केवलज्ञान की भजना एवं अभाषक में पूर्वप्रतिपन्न की अपेक्षा से केवलज्ञान की भजना, प्रतिपद्यमान की अपेक्षा से केवलज्ञान नहीं होता है।

15. परित्त द्वार - परित्त और नो परित्त नो अपरित्त (सिद्ध) को केवलज्ञान होता है। अपरित्त में केवलज्ञान नहीं होता है। परित्त में पूर्वप्रतिपन्न और प्रतिपद्यमान की अपेक्षा केवलज्ञान की भजना एवं नो परित्त नो अपरित्त (सिद्ध) में पूर्वप्रतिपन्न की अपेक्षा से केवलज्ञान की नियमा, प्रतिपद्यमान की अपेक्षा से केवलज्ञान नहीं होता है एवं अपरित्त में दोनों अपेक्षाओं से केवलज्ञान नहीं होता है।

16. पर्याप्त द्वार - पर्याप्त और नो पर्याप्त नो अपर्याप्त (सिद्ध) को केवलज्ञान होता है। अपर्याप्त में केवलज्ञान नहीं होता है। पर्याप्त में पूर्वप्रतिपन्न और प्रतिपद्यमान की अपेक्षा केवलज्ञान

की भजना एवं नो पर्याप्त नो अपर्याप्त (सिद्ध) में पूर्वप्रतिपन्न की अपेक्षा से केवलज्ञान की नियमा, प्रतिपद्यमान की अपेक्षा से केवलज्ञान नहीं होता है। अपर्याप्त में दोनों अपेक्षाओं से केवलज्ञान नहीं होता है।

17. सूक्ष्म द्वार - बादर और नो सूक्ष्म नो बादर (सिद्ध) को केवलज्ञान होता है। सूक्ष्म में केवलज्ञान नहीं होता है। बादर में पूर्वप्रतिपन्न की अपेक्षा नियमा और प्रतिपद्यमान की अपेक्षा केवलज्ञान की भजना एवं नो सूक्ष्म नो बादर (सिद्ध) में पूर्वप्रतिपन्न की अपेक्षा से केवलज्ञान की नियमा, प्रतिपद्यमान की अपेक्षा से केवलज्ञान नहीं होता है। सूक्ष्म में दोनों अपेक्षाओं से केवलज्ञान नहीं होता है।

18. संज्ञी द्वार - नो संज्ञी नो असंज्ञी को केवलज्ञान होता है। संज्ञी और असंज्ञी केवलज्ञान के अधिकारी नहीं हैं, **शंका** - त्रसकाय जीव केवलज्ञान का अधिकारी होता है तो पंचेन्द्रिय और संज्ञी जीव किसलिए अधिकारी नहीं? **समाधान** - इसकी संगति इस प्रकार बैठेगी कि केवलज्ञान में इन्द्रियों और संज्ञा का उपयोग नहीं होता, इसीलिए अनिन्द्रिय और नोसंज्ञी नो असंज्ञी जीव ही केवलज्ञान का अधिकारी है।

नो संज्ञी नो असंज्ञी में पूर्वप्रतिपन्न की अपेक्षा से केवलज्ञान की नियमा, प्रतिपद्यमान में भजना है एवं संज्ञी और असंज्ञी में दोनों अपेक्षाओं से केवलज्ञान नहीं होता है।

19. भव्य द्वार - भवी और नो भवी नो अभवी (सिद्ध) को केवलज्ञान होता है। अभवी को केवलज्ञान नहीं होता है। भवी में पूर्वप्रतिपन्न और प्रतिपद्यमान की अपेक्षा केवलज्ञान की भजना एवं नो भवी नो अभवी (सिद्ध) में पूर्वप्रतिपन्न की अपेक्षा से केवलज्ञान की नियमा, प्रतिपद्यमान की अपेक्षा से केवलज्ञान नहीं होता है। अभवी में दोनों अपेक्षाओं से केवलज्ञान नहीं होता है।

जिनमें मुक्त होने की योग्यता नहीं होती, वे जीव अभवी और जिनमें मोक्षगमन की योग्यता होती है। वे जीव भव्य कहलाते हैं। नो भवी और नो अभवी उपर्युक्त दोनों लक्षणों से रहित होते हैं।

20. चरम द्वार - चरम (भवस्थ केवली) और अचरम (सिद्ध भगवान्) को केवलज्ञान होता है। चरम में पूर्वप्रतिपन्न और प्रतिपद्यमान की अपेक्षा केवलज्ञान की भजना एवं अचरम (सिद्ध) में पूर्वप्रतिपन्न की अपेक्षा से केवलज्ञान की नियमा, प्रतिपद्यमान की अपेक्षा से केवलज्ञान नहीं होता है।

२. द्रव्य प्रमाण द्वार - केवलज्ञान कितनी संख्या में होते हैं, इसका वर्णन इस द्वार में किया गया है। प्रतिपद्यमान की अपेक्षा केवलज्ञान प्राप्त करने वाला एक समय में जघन्य एक और उत्कृष्ट 108 होते हैं और पूर्वप्रतिपन्न की अपेक्षा भवस्थ केवली जघन्य दो करोड उत्कृष्ट नव करोड होते हैं और अनन्त सिद्धों में केवलज्ञान होता है।

३-४. क्षेत्र और स्पर्शन द्वार - यहाँ क्षेत्र का अर्थ अवगाहना क्षेत्र है। केवलज्ञानी का शरीर लोक के कितने भाग को अवगाहित करता है। स्पर्श द्वार भी क्षेत्र द्वार के समान है।

केवलज्ञानी केवली समुद्घात में लोक के संख्यातवें भाग में नहीं होते हैं, असंख्यातवें भाग में होते हैं। (शरीरस्थ तथा दण्डकपाट अवस्था के समय में) अनेक संख्यात भागों में नहीं होते हैं, अनेक असंख्याता भागों में होते हैं (मथान अवस्था के समय) सर्व लोक में भी होते हैं (समग्र लोक व्याप्त के समय में)। स्पर्शना अवगाहना के अनुसार (अवगाढ़ क्षेत्र की अवगाहना तथा अवगाढ़ क्षेत्र और उसके पार्श्ववर्ती क्षेत्र की स्पर्शना होती है।) अर्थात् केवलज्ञानी जघन्य लोक के असंख्यातवें भाग में और उत्कृष्ट (समुद्घात की अपेक्षा) पूरे लोक में होते हैं।

५. काल द्वार - जीव के साथ केवलज्ञान कितने समय तक रहेगा, इसका उल्लेख काल द्वार में किया गया है। केवलज्ञान एक बार उत्पन्न होने के बाद नष्ट नहीं होता है, अतः केवलज्ञान का काल सादि अपर्यवसित (अनन्त) हैं।

६. अन्तर द्वार - केवलज्ञान एक बार प्राप्त होने के बाद नष्ट नहीं होता है, इसलिए केवलज्ञान का अन्तर नहीं होता है।

७. भाग द्वार - मतिज्ञान पांच ज्ञान वालों की जितनी संख्या है, उसमें केवलज्ञान वालों का कितना हिस्सा है। केवलज्ञान वाले शेष ज्ञान वालों का बहुत अनन्त भाग है। क्योंकि बाकी के ज्ञानवाले केवलज्ञानी से विशेषाधिक हैं और केवलज्ञान वाले तो सर्व लोक में अनन्त हैं। मति आदि अज्ञान वाले केवलज्ञान से अनन्त गुणा अधिक हैं।

८. भाव द्वार - औदयिक आदि पांच भावों में से केवलज्ञान मात्र क्षायिक भाव में ही होता है।

९. अल्पबहुत्व द्वार - मति आदि पांच ज्ञानों में किस ज्ञान वाले केवलज्ञान से कम ज्यादा है, इसका उल्लेख अल्पबहुत्व द्वार में किया है। सबसे थोड़े मनः पर्यवज्ञानी, उनसे अवधिज्ञानी असंख्यात गुणा, उनसे मति श्रुतज्ञानी परस्पर तुल्य विशेषाधिक, उनसे विभंगज्ञानी असंख्यातगुणा, उनसे केवलज्ञानी अनन्तगुणा। उनसे समुच्चय ज्ञानी विशेषाधिक। उनसे मति, श्रुत अज्ञानी परस्पर तुल्य अनन्तगुणा।

समीक्षण

प्राचीन काल में सर्वोत्कृष्ट ज्ञान के लिए विभिन्न शब्दों का प्रयोग होता रहा है, लेकिन अन्त में 'केवलज्ञान' शब्द ही इसमें रुढ़ हो गया। केवलज्ञान एक परिपूर्ण ज्ञान है। सकल आवरणों से रहित होकर सभी वस्तुओं के स्वरूप को प्रतिभासित करने वाला ज्ञान केवलज्ञान है। केवलज्ञान को परिभाषित करते हुए पूर्वाचार्यों ने अनेक विशेषणों का प्रयोग किया है - 1. परिपूर्ण, 2. समग्र (सम्पूर्ण), 3. सकल, 4. असाधारण, 5. निरपेक्ष, 6. विशुद्ध, 7. सर्वभावप्रज्ञापक, 8. संपूर्ण रूप लोकालोक विषयक, 9. अनंत पर्याय, 10. अनन्त, 11. एकविध, 12. असपत्न, 13. शाश्वत, 14. अप्रतिपाती, 15. असहाय। केवलज्ञान समस्त पदार्थों को विषय करने वाला है। यह लोकालोक का जानने विषय में आवरण रहित है, तथा जीव द्रव्य की ज्ञान शक्ति के जितने अंश है, जिस ज्ञान में संपूर्ण व्यक्त हों वह परिपूर्ण ज्ञान है। मोहनीय और वीर्यातिराय का सर्वथा क्षय हो जाने पर जो ज्ञान अप्रतिहत शक्तियुक्त और निश्चल हो उसको समग्र कहते हैं, इत्यादि।

केवलज्ञान क्षायिक ज्ञान होने से इसके अन्य क्षायोपशमिक ज्ञानों के समान भेद नहीं होते हैं। लेकिन स्वामी की अपेक्षा से इसके दो भेद होते हैं - 1. **भवस्थ केवलज्ञान** - मनुष्य भव में रहते हुए चार घाति-कर्म नष्ट होने से उत्पन्न होने वाला ज्ञान भवस्थ केवलज्ञान है। 2. **सिद्ध केवलज्ञान** - जिन्होंने अष्ट कर्मों को क्षय कर सिद्धि प्राप्त करली, ऐसे केवली का केवलज्ञान। मीमांसक के अनुसार मनुष्य सर्वज्ञ नहीं हो सकता है तथा वैशेषिक के अनुसार मुक्त जीव में ज्ञान नहीं होता है। उक्त दोनों भेदों से उनके मत का खण्डन हो जाता है।

भवस्थ केवलज्ञान दो प्रकार का होता है - 1. सयोगी भवस्थ केवलज्ञान (सयोगी अवस्था में उत्पन्न हुआ केवलज्ञान), 2. अयोगी भवस्थ केवलज्ञान (अयोगी अवस्था में उत्पन्न हुआ केवलज्ञान)

सयोगी भवस्थ केवलज्ञान के भी दो प्रकार हैं - प्रथम समय सयोगी भवस्थ केवलज्ञान और अप्रथम समय सयोगी भवस्थ केवलज्ञान अथवा चरम समय सयोगी भवस्थ केवलज्ञान और अचरम समय सयोगी भवस्थ केवलज्ञान।

अयोगी भवस्थ केवलज्ञान के दो भेद हैं - प्रथम समय की अयोगी भवस्थ अवस्था का केवलज्ञान और अप्रथम समय की अयोगी भवस्थ अवस्था का केवलज्ञान अथवा चरम समय की अयोगी भवस्थ अवस्था का केवलज्ञान और अचरम समय की सयोगी भवस्थ अवस्था का केवलज्ञान। दिगम्बर परम्परा में सयोगी और अयोगी के भेदों का उल्लेख नहीं है।

सिद्ध केवलज्ञान - जिन्होंने अष्ट कर्म क्षय कर मोक्ष सिद्धि प्राप्त करली है, उनके केवलज्ञान को सिद्ध केवलज्ञान कहते हैं। काल की अपेक्षा से सिद्ध केवलज्ञान दो प्रकार का होता है - १. अनन्तरसिद्ध केवलज्ञान (सिद्ध अवस्था के प्रथम समय का ज्ञान) और २. परम्पर सिद्ध केवलज्ञान (जिन्हें सिद्ध हुए एक से अधिक समय हो गया उनका ज्ञान)।

अनन्तर सिद्ध केवलज्ञान के पन्द्रह भेद हैं - 1. तीर्थसिद्ध - साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका रूप चतुर्विध संघ की स्थापना के पश्चात् जिन्होंने मुक्ति प्राप्त की। जैसे - गौतम स्वामी आदि। 2. अतीर्थसिद्ध - चार तीर्थ की स्थापना के पहले और तीर्थ विच्छेद के बाद जिन्होंने मुक्ति प्राप्त की। जैसे - मरुदेवी माता।

3. तीर्थकर सिद्ध - जिन्होंने तीर्थकर की पदवी प्राप्त करके मुक्ति प्राप्त की। जैसे - भगवान् ऋषभदेव आदि 24 तीर्थकर। 4. अतीर्थकर सिद्ध - जिन्होंने तीर्थकर की पदवी प्राप्त न करके मोक्ष प्राप्त किया। जैसे - गौतम अनगार आदि।

5. स्वयं बुद्ध सिद्ध - बिना उपदेश के पूर्व जन्म के संस्कार जागृत होने से जिन्हें ज्ञान हुआ और सिद्ध हुए। जैसे - कपिल केवली आदि। 6. प्रत्येक बुद्ध सिद्ध - किसी पदार्थ को देखकर विचार करते-करते बोध प्राप्त हुआ और केवलज्ञान प्राप्त कर मोक्ष प्राप्त किया। जैसे - करकण्डू राजा आदि। 7. बुद्ध बोधित सिद्ध - गुरु के उपदेश से ज्ञानी होकर जिन्होंने मुक्ति प्राप्त की। जैसे - जम्बू स्वामी आदि।

8. स्त्रीलिंग सिद्ध - जैसे - चन्दनबाला आदि। दिगम्बर परम्परा के अनुसार स्त्री को मोक्ष नहीं हो सकता है। इसके लिए उन्होंने हीन सत्त्व, वस्त्र परिग्रहरूप होता है, स्त्री पुरुष की अपेक्षा से अवन्दनीय, माया की बहुलता आदि अनेक तर्क प्रस्तुत किये हैं। श्वेताम्बराचार्यों ने इनका युक्तियुक्त समाधान करते हुए स्त्री के मोक्ष गमन को सिद्ध किया है। 9. पुरुष लिंग सिद्ध - जैसे - अर्जुन माली आदि। 10. नपुंसकलिंग सिद्ध - नपुंसकलिंग में सिद्ध होना। जैसे - गांगेय अनगार आदि। नपुंसक लिंग सिद्ध के सम्बन्ध में टीकाकारों के मत की आगम से संगति नहीं बैठती है, क्योंकि टीकाकार नपुंसकलिंग सिद्ध में मात्र कृत्रिम नपुंसक का मोक्ष मानते हैं। जन्म नपुंसक सिद्ध नहीं होता है। लेकिन भगवती सूत्र के शतक 26 उद्देशक 2 (बंधीशतक) के प्रमाण से जन्म नपुंसक भी सिद्ध हो सकते हैं। दिगम्बर परम्परा में स्त्रीलिंग के समान ही नपुंसकलिंग भी सिद्ध नहीं हो सकता है।

11. स्वलिंग सिद्ध - रजोहरण, मुखवस्त्रिका आदि वेष में जिन्होंने मुक्ति पाई। जैसे - गौतम अनगार आदि। 12. अन्य लिंग सिद्ध - जैन वेष से अन्य संन्यासी आदि के वेष में भाव संयम द्वारा केवल ज्ञान उपार्जित कर वेष परिवर्तन जितना समय न होने पर उसी वेष में जिन्होंने मुक्ति पाई। जैसे - वल्कलचीरी आदि। 13. गृहस्थलिंग सिद्ध - गृहस्थ के वेष में जिन्होंने भाव संयम प्राप्त कर केवल ज्ञान प्राप्त कर मुक्ति प्राप्त की। जैसे - मरुदेवी माता आदि।

14. एक सिद्ध - एक समय में एक ही जीव मोक्ष में जावे। जैसे - जम्बू स्वामी आदि। 15. अनेक सिद्ध - एक समय में अनेक जीव मोक्ष में जावे। एक समय में उत्कृष्ट 108 तक मोक्ष में जा सकते हैं। जैसे ऋषभ देव स्वामी आदि।

सिद्धों के यह भेद सिद्ध होने से पूर्व भव की अपेक्षा से ही घटित होते हैं। उक्त पन्द्रह भेदों का समावेश सामान्य रूप से 1. तीर्थ, 2. तीर्थकर, 3. उपदेश, 4. लिंग, 5. बाह्य चिह्न और 6. संख्या इन छह भेदों में भी किया जा सकता है।

केवलज्ञान की प्राप्त में मुख्य हेतु कषाय (मोह) का क्षय है। मोहनीय कर्म क्षय होते ही अन्तर्मुहूर्त में शेष ज्ञानावरणीय आदि तीन कर्मों का क्षय होकर केवलज्ञान उत्पन्न होता है। केवलज्ञानी की उत्पत्ति में शुक्लध्यान की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। शुक्लध्यान के चार भेद होते हैं - 1. **पृथक्त्ववितर्क** - एक द्रव्य विषयक अनेक पर्यायों का पृथक् पृथक् रूप से विस्तार पूर्वक पूर्वगत श्रुत के अनुसार द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक आदि नयों से चिन्तन करना पृथक्त्व वितर्क सविचारी शुक्ल ध्यान है। 2. **एकत्ववितर्क** - पूर्वगत श्रुत का आधार लेकर उत्पाद आदि पर्यायों के एकत्व (अभेद) से किसी एक पदार्थ का अथवा पर्याय का स्थिर चित्त से चिन्तन करना एकत्व वितर्क अविचारी ध्यान है। 3. **सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति** - मोक्ष जाने से पहले केवली भगवान् मन और वचन इन दो योगों का तथा अर्द्ध काययोग का भी निरोध कर लेते हैं। उस समय उनके सूक्ष्मक्रिया अप्रतिपाति शुक्ल ध्यान होता है। 4. **व्युपरतक्रियानिवर्ति** - शैलेशी अवस्था को प्राप्त केवली भगवान् सभी योगों का निरोध कर लेते हैं। तब उनके व्युपरतक्रियानिवर्ति शुक्ल ध्यान होता है।

समुद्घात - एकाग्रतापूर्वक प्रबलता के साथ वेदनीयादि कर्मों के प्रदेशों की घात करना समुद्घात कहलाता है। प्रबलता से वेदनीयादि तीन कर्मों की स्थिति और अनुभाग को आयु के समान करना केवली समुद्घात है। इसका कालमान अन्तर्मुहूर्त (आठ समय) का होता है।

जिनको आयुष्य में छह मास शेष रहते केवलज्ञान हुआ है, वे केवली समुद्घात करते हैं अथवा तीन कर्म स्थिति को आयुष्यकर्म के समान करने के लिए केवली समुद्घात किया जाता है। सभी जीवों के ऐसी स्थिति बने यह आवश्यक नहीं है, अतः सभी जीव केवली समुद्घात नहीं करते हैं। आयुष्य का अन्तर्मुहूर्त शेष रहते हुए समुद्घात किया जाता है।

केवली समुद्घात के आठ समय में से प्रथम समय में शरीर प्रमाण दण्ड, दूसरे समय में कपाट, तीसरे समय में मंथान और चौथे समय में अंतर पूरित करके लोक को सम्पूर्ण रूप से स्पर्श करते हैं। पुनः प्रतिलोम क्रम से पांचवें समय में लोक का संहरण करते हैं, छठे समय में मन्थान का, सातवें समय में कपाट का और आठवें समय में दण्ड का संहरण और शरीरस्थ होना ये दो क्रियाएं होती हैं। इन आठ समयों में क्रम चार अघाती कर्मों की 85 प्रकृतियों क्षय होता है। केवली समुद्घात में मनयोग और वचनयोग का व्यापार नहीं होता, केवल काययोग की प्रवृत्ति होती है। उसमें भी पहले और आठवें समय में औदारिक काययोग, दूसरे, छठे और सातवें समय में औदारिकमिश्र काययोग और तीसरे, चौथे व पांचवें समय में कार्मण काययोग प्रवर्तता है। समुद्घात के अन्तर्मुहूर्त बाद केवली योगों का निरोध करते हैं।

योग, निरोध में दोनों परम्पराओं में मतभेद है - श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार केवली सूक्ष्मक्रिया-अप्रतिपाति नामक शुक्लध्यान के तीसरे पाद का ध्यान करते हुए सर्वप्रथम मनोयोग का निरोध करते हैं। उसके बाद वचन योग, फिर अन्त मे काययोग निरोध के साथ ही श्वासोच्छ्वास का निरोध करते हैं। पूर्ण योगनिरोध होते ही अयोगी या शैलेशी अवस्था प्राप्त हो जाती है। जिस अवस्था में केवली शैल अर्थात् मेरुपर्वत की तरह स्थिर हो जाते हैं, उसे शैलेशी अवस्था कहते हैं।

दिगम्बर परम्परा के अनुसार केवली बादर काययोग से बादर मनोयोग का, उसके बाद बादर वचनयोग का निरोध करते हैं। पुनः बादर काययोग से बादर उच्छ्वास-निःश्वास का निरोध करके

बादर काययोग का निरोध करते हैं। फिर सूक्ष्म मनोयोग, सूक्ष्म वचनयोग, सूक्ष्म उच्छ्वास-निःश्वास तथा सूक्ष्म काययोग का निरोध करते हैं। केवली के योग निरोध को ध्यान कहा जाता है, इसलिए मन के अभाव में भी केवली के ध्यान होता है। योग-निरोध की शैलेषी अवस्था में पांच ह्रस्व अक्षरों का उच्चारण करे इतने काल में जीव सिद्ध बुद्ध मुक्त हो जाता है।

जीव सिद्ध होते ही एक समय में लोकांत में स्थित सिद्धालय में पहुंच जाता है। सिद्ध जीव की पूर्वप्रयोग, संग रहितता, बन्धन का टूटना और गति परिणाम के कारण उर्ध्वगति ही होती है। सिद्ध जीव लोक के अग्रभाग में स्थित हैं, क्योंकि अलोक में गति में सहायक धर्मास्तिकाय नहीं है, इसलिये सिद्धों की गति अलोक में नहीं हो सकती है।

छद्मस्थ में दर्शन और ज्ञान के विषय में श्वेताम्बर परम्परा और दिगम्बर परम्परा दोनों एकमत हैं। केवली के विषय में दिगम्बर परम्परा ने एक मत से युगपदवाद का समर्थन किया है, जबकि श्वेताम्बर परम्परा में तीन मत प्राप्त होते हैं - 1. क्रमवाद, 2. युगपदवाद, 3. अभेदवाद। हरिभद्रसूरि के अनुसार युगपदवाद के समर्थक आचार्य सिद्धसेन, क्रमवाद के समर्थक **जिनभद्रगणि** क्षमाश्रमण और अभेदवाद के समर्थक वृद्धाचार्य हैं। अभयदेवसूरि के अनुसार क्रमवाद के समर्थक जिनभद्र, युगपदवाद के समर्थक मल्लवादी और अभेदवाद के समर्थक सिद्धसेन दिवाकर हैं। इस प्रकार हरिभद्र और अभयदेव में मतभेद है।

1. अभेदवाद - केवली भगवान् के साकारोपयोग और अनाकारोपयोग - केवलज्ञान केवलदर्शन दोनों एक साथ प्रयुक्त होते हैं अर्थात् केवली निश्चित रूप से एक समय में जानते-देखते हैं, छद्मस्थ नहीं। **2. युगपदवाद** - केवली में दर्शन और ज्ञानात्मक उपयोग प्रत्येक क्षण में युगपद् होता है। जैसे सूर्य का प्रकाश और ताप एक साथ रहते हैं उसी प्रकार केवली में दर्शन और ज्ञान एक साथ रहते हैं। **3. क्रमवाद** - जीवों के उपयोग का स्वभाव ही ऐसा है कि वह क्रमशः ही होता है। इसलिए केवलज्ञान और केवलदर्शन की प्रवृत्ति भी क्रमशः ही होती है।

तीनों मतों में से क्रमवाद वाला मत अधिक उचित प्रतीत होता है क्योंकि 1 जीव साकार उपयोग में ही सिद्ध होता है। 2. आगम में केवली के विषय में भी जाणइ और पासइ क्रिया का प्रयोग किया गया है। 3. आगम में केवलज्ञान का ग्रहण साकार उपयोग में और केवलदर्शन का अनाकार उपयोग में किया गया है। 4. लब्धि की अपेक्षा दोनों युगपद् रहते हैं, किन्तु उपयोग एक समय में एक का ही होता है। जो दोष केवली में युगपद् दोष मानने पर प्राप्त होते हैं, वही उपयोग छद्मस्थ में भी प्राप्त होते हैं। 6. भगवतीसूत्र शतक 18, उद्देशक 8 में केवली में युगपद् उपयोग का निषेध किया गया है, इत्यादि अनेक हेतुओं से केवली में क्रमवाद की ही स्थापना होती है।

उपाध्याय यशोविजय (17-18वीं शती) ने तीनों वादों की समीक्षा की है और नय दृष्टि से उनका समन्वय करने का प्रयत्न किया है। जैसे कि ऋजुसूत्र नय के दृष्टिकोण से एकान्तर-उपयोगवाद उचित जान पड़ता है। व्यवहारनय के दृष्टिकोण से युगपद्-उपयोगवाद संगत प्रतीत होता है। संग्रहनय से अभेद-उपयोगवाद समुचित प्रतीत होता है।

केवली में केवलज्ञान के उपयोग की स्थिति एक समय की ही होती है।

केवली के शब्द श्रोता के लिए द्रव्यश्रुत मात्र हैं। शेष छद्मस्थों को जो श्रुत के अनुसार ज्ञान होता है, वह क्षायोपशमिक उपयोग के कारण भावश्रुत कहलाता है। केवली का वचनयोग श्रोता के श्रुत का कारण होने से द्रव्यश्रुत है। इसका अर्थ यह हुआ है कि पूर्वोक्त अर्थ केवलज्ञान से जानकर

केवली उपदेश देते हैं, जिससे वह शब्द वचन योग है और सुनने वालों के लिए भावश्रुत का कारण होने से द्रव्यश्रुत है। अतः केवली में श्रुत ज्ञान का प्रसंग प्राप्त नहीं होता है।

केवली केवलज्ञान से सम्पूर्ण द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से रूपी-अरूपी सभी पदार्थों को जानते हैं। गति आदि 20 द्वारों के माध्यम से केवलज्ञान के स्वरूप का वर्णन किया गया है।

केवलज्ञान के सम्बन्ध में विशेष बिन्दु :-

1. विश्व को जानते हुए भी केवली परेशान नहीं होते हैं। 2. केवली द्रव्येन्द्रिय की अपेक्षा पंचेन्द्रिय और भावेन्द्रिय की अपेक्षा अनीन्द्रिय होते हैं। 3. दोनों परम्परा के अनुसार केवली में द्रव्य मन होता है। 4. केवली नो संज्ञी नो असंज्ञी होते हैं। 5. सयोगी केवली के योग का सद्भाव रहता है। 6. केवलज्ञान होने के बाद मति आदि चार ज्ञान छूट जाते हैं। 7. केवलज्ञान होने के बाद निद्रा नहीं आती है, क्योंकि निद्रा, दर्शनावरणीय कर्म की प्रकृति है। दर्शनावरणीय कर्म सम्पूर्ण नष्ट होने पर ही केवलज्ञान होता है। अतः निद्रा का कर्म न होने से किसी भी केवली को निद्रा नहीं आती। 8. 'असोच्चा केवली' का अर्थ है कि उस भव में किसी दूसरों के पास धर्म का स्वरूप सुने बिना ही स्वयं धर्म का स्वरूप समझ कर केवलज्ञान प्राप्त करने वाला।

अवधिज्ञान और मनःपर्यवज्ञान से केवलज्ञान की तुलना -

1. अवधि और मनःपर्यव दोनों प्रत्यक्ष ज्ञान हैं, परन्तु वे छहों द्रव्यों में मात्र एक रूपी पुद्गल द्रव्य को ही जानते हैं और उसकी असर्वपर्यायों (अपूर्ण पर्यायों) को जानते हैं, परन्तु केवलज्ञान सभी मूर्त-अमूर्त द्रव्यों को और उनकी पर्यायों को जानता है।

2. अवधिज्ञान द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव, इन चारों ज्ञेयों की अपेक्षा 'अवधि' युक्त है और मनःपर्याय ज्ञान तो उससे भी अधिक सीमित अवधि वाला है, परन्तु केवलज्ञान द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव-इन चारों ज्ञेयों की अपेक्षा अनन्त है, अवधि रहित है।

3. अवधि और मनःपर्याय ज्ञान क्षायोपशमिक होने से अशाश्वत हैं, प्रतिक्षण उसी रूप में नहीं रहते, वर्धमान हीयमान आदि हो सकते हैं। केवलज्ञान की उत्पत्ति के पश्चात् ये दोनों क्षायोपशमिक ज्ञान स्थायी नहीं रहते हैं, परन्तु केवलज्ञान क्षायिक होने से शाश्वत प्रतिक्षण स्थायी रहता है।

4. अवधि और मनःपर्याय ज्ञान, प्रतिपाति भी है और अप्रतिपाति भी है, परन्तु केवलज्ञान तो मात्र अप्रतिपाति ही होता है।

5. अवधि और मनःपर्यव, इन दोनों में कई भेद, प्रभेद और उपभेद हैं, परन्तु केवलज्ञान भेद रहित है।

6. अवधिज्ञान और मनःपर्यायज्ञान क्षायोपशमिक हैं, जिससे उनके साथ कुछ उदय भाव भी रहता है तथा पीछे सम्पूर्ण उदय भाव भी संभव है, पर केवलज्ञान में अंशमात्र उदय नहीं होता तथा पीछे भी उदय असंभव है। केवलज्ञान क्षायिक है।

मनःपर्यवज्ञान और केवलज्ञान में साधर्म्य - आचार्य मलयगिरि ने नंदीवृत्ति में मनःपर्यवज्ञान का केवलज्ञान से साधर्म्य बताया है। जैसेकि - 1. मनःपर्यवज्ञान अप्रमत्त मुनि को होता है, वैसे ही केवलज्ञान भी अप्रमत्त मुनि को होता है और 2. मनःपर्यवज्ञान विपर्ययज्ञान नहीं होता है वैसे ही केवलज्ञान भी विपर्ययज्ञान नहीं होता है²⁹⁶

296. यथा मनःपर्यायज्ञानमप्रमत्तयतेरेव भवति एवं केवलज्ञानमप्यप्रमत्तभावयतेरेवेति साधर्म्यम्।... यथा मनःपर्यायज्ञानं विपर्ययज्ञानं न भवति एवं केवलज्ञानमपीति साधर्म्यम्। - नंदीवृत्ति, पृ. 20

उपर्युक्त वर्णन का सारांश यह है कि श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्परा में केवलज्ञान का विस्तृत वर्णन किया गया है। उसी वर्णन के आधार पर दोनों परम्पराओं में केवलज्ञान में कुछ अन्तर प्रतीत हुआ है जो निम्न प्रकार से हैं।

1. **श्वेताम्बर** परम्परा में केवलज्ञान के भेद-प्रभेदों का स्पष्ट उल्लेख है, यथा-भवस्थ और सिद्धस्थ केवलज्ञान। भवस्थ केवलज्ञान के सयोगी और अयोगी और सिद्ध केवलज्ञान के अनन्तर और परम्पर भेद होते हैं, किन्तु **दिगम्बर** परम्परा में इस प्रकार के स्पष्ट भेदों का उल्लेख नहीं है। सयोगी और अयोगी गुणस्थान के आधार पर सयोगी और अयोगी केवली का वर्णन मिलता है। इसके आगे के भेदों का उल्लेख प्राप्त नहीं होता है। भवस्थ केवलज्ञान को यहाँ पर तद्भवस्थ केवलज्ञान कहा जाता है।

2. **श्वेताम्बर** परम्परा में स्त्रीलिंग सिद्ध स्वीकार किया गया है तथा केवली को कवलाहारी माना गया है। लेकिन **दिगम्बर** परम्परा में स्त्री मुक्ति का विरोध किया गया है तथा केवली को कवलाहारी भी स्वीकार नहीं किया गया है।

3. **श्वेताम्बर** परम्परा में केवली समुद्घात में दण्ड समुद्घात का एक जैसा ही नाप बताया है। परन्तु **दिगम्बर** परम्परा में कायोत्सर्ग स्थित केवली के दण्ड समुद्घात उत्कृष्ट 108 प्रमाण अंगुल ऊँचा, 12 प्रमाणांगुल चौड़ा और सूक्ष्म परिधि 37 १५/११३ प्रमाणांगुल युक्त है। पद्मासन स्थित (उपविष्ट) दण्ड समुद्घात के सम्बन्ध में ऊँचाई 36 प्रमाणांगुल और सूक्ष्म परिधि २७/११३ प्रमाणांगुल युक्त है। (क्षपणसार, गाथा 623)

4. **श्वेताम्बर** परम्परा में केवली समुद्घात में जीव वेदनीयादि अघाती कर्मों की कितनी-कितनी प्रकृतियों को क्षय करता है, इसका स्पष्ट उल्लेख है, किन्तु **दिगम्बर** परम्परा में इसका स्पष्ट उल्लेख नहीं है।

5. **श्वेताम्बर** परम्परा में योग-निरोध की प्रक्रिया में केवली सर्वप्रथम मनोयोग का निरोध करता है। उसके पश्चात् वचनयोग, उसके बाद काययोग का निरोध होने के साथ ही श्वासोच्छ्वास (आनापाननिरोध) का निरोध भी हो जाता है, परन्तु **दिगम्बर** परम्परा में केवली योग निरोध के लिए बादर काययोग से बादर मनोयोग का निरोध करता है। फिर बादर वचनयोग का, फिर बादर काययोग से बादर उच्छ्वास निःश्वास का निरोध करता है। पुनः अंतर्मुहूर्त से बादर काय योग से उसी बादर काययोग का निरोध करता है। तत्पश्चात् अंतर्मुहूर्त के बाद सूक्ष्म काययोग से सूक्ष्म मनोयोग का निरोध करता है। तत्पश्चात् अंतर्मुहूर्त बाद सूक्ष्म वचनयोग का निरोध करता है। पुनः अंतर्मुहूर्त के बाद सूक्ष्म काययोग से सूक्ष्म उच्छ्वास-निःश्वास का निरोध करता है। पुनः अंतर्मुहूर्त के बाद सूक्ष्म काययोग से सूक्ष्म काययोग का निरोध करता हुआ विभिन्न प्रकार के करणों को करता हुआ अंतर्मुहूर्त काल बाद अयोगी होता है।

6. **श्वेताम्बर** परम्परा में केवली के उपयोग के सम्बन्ध में तीन मत प्राप्त होते हैं - 1. क्रमवाद, 2. युगपद्वाद, 3. अभेदवाद। जबकि **दिगम्बर** परम्परा में केवली के उपयोग को युगपद् स्वीकार किया गया है।

7. **दिगम्बर** परम्परा के ग्रन्थ गोम्मटसार के अनुसार समुद्घात में जीव पुनः पर्याप्तियों को पूर्ण करता है, जबकि **श्वेताम्बर** परम्परा में ऐसा उल्लेख नहीं मिलता है।

उपसंहार

भारतीय दार्शनिक प्रस्थानों में ज्ञानमीमांसीय चर्चा का विशिष्ट महत्त्व है। जैन दर्शन में ज्ञान के स्वरूप एवं उसके भेदों का विस्तृत निरूपण प्राप्त होता है। ज्ञान शब्द का निर्माण 'ज्ञा' धातु से 'ल्युट् (अन्)' प्रत्यय लगकर हुआ है। जिसका अर्थ है जानना। मोक्ष मार्ग में ज्ञान की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। ज्ञान के बिना साधक साधना के क्षेत्र में विशेष प्रगति नहीं कर सकता। इसीलिए उत्तराध्ययन सूत्र के अठाईसवें अध्ययन में पहले ज्ञान को रखा गया है। दशवैकालिक सूत्र के चौथे अध्ययन में भी 'पढमं नाणं तओ दया' कहकर ज्ञान के महत्त्व को उद्घाटित किया गया है। ज्ञान के बिना क्रिया (चारित्र) में कदम आगे नहीं बढ़ पाते हैं, इसलिए ज्ञान परमावश्यक है। भारतीय दर्शन में हमें प्रमुखतः ज्ञान के दो स्वरूप प्राप्त होते हैं – एक इन्द्रियजन्य ज्ञान, दूसरा अतीन्द्रिय ज्ञान। इन्द्रियजन्य ज्ञान जहाँ जीवन व्यवहार में उपयोगी होता है। वहाँ अतीन्द्रिय ज्ञान अविद्या के नाश के लिए उपयोगी होता है। यह अतीन्द्रिय ज्ञान ही समस्त दुःखों का क्षय कर मुक्ति प्राप्ति का हेतु बनता है।

ज्ञान आत्मा का गुण है। न्याय-वैशेषिक दर्शन के अनुसार आत्मा एक द्रव्य है, जिसमें ज्ञानादि गुण रहते हैं। जैन-दर्शन ज्ञान को आत्मा या जीव का गुण स्वीकार करके भी उसे आत्मा का स्वरूप मानता है। एक द्रव्य है दूसरा गुण है, तथापि इनका पृथक् अस्तित्व नहीं है। मुक्ति की अवस्था में भी ज्ञान गुण आत्मा से पृथक् नहीं होता है। जैन दर्शन मुक्त जीव को केवलज्ञानी अथवा अनन्त ज्ञानी स्वीकार करता है। ज्ञान के बिना चेतना को नहीं समझा जा सकता तथा जहाँ चेतना है, वहाँ ज्ञान है और जहाँ ज्ञान है, वहाँ आत्मा है। जैन दर्शन में ज्ञान (साकार उपयोग) के अतिरिक्त दर्शन (अनाकार उपयोग), सुख, वीर्य (पराक्रम) आदि को भी आत्मा का गुण अंगीकार किया गया है। ज्ञान करण भी है और कर्ता भी। जानने की क्रिया का फल भी ज्ञान ही है।

जैन दर्शन में प्रतिपादित ज्ञान के स्वरूप की कतिपय विशेषताएं इस प्रकार हैं –

1. ज्ञान स्व-पर प्रकाशक होता है अर्थात् ज्ञान ज्ञेय वस्तु का भी जानता है, एवं स्वयं को भी जानता है।

2. ज्ञान सविकल्प होता है, निर्विकल्पक नहीं। बौद्ध, न्याय-वैशेषिक एवं मीमांसा दर्शनों में ज्ञान को सविकल्पक एवं निर्विकल्पक के भेद से दो प्रकार का निरूपित किया गया है। जबकि जैनदर्शन में ज्ञान सविकल्पक ही होता है, निर्विकल्पक बोध के लिए जैन दार्शनिक 'दर्शन' शब्द का प्रयोग करते हैं। पहले दर्शन होता है फिर ज्ञान होता है। दर्शन एवं ज्ञान की पारिभाषिक शब्दावली अत्यन्त प्राचीन है। राजप्रश्नीय सूत्र, व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र, षट्खण्डागम आदि इसके प्रमाण हैं। यही नहीं, जैन दर्शन में ज्ञान के प्रकटीकरण के लिए ज्ञानावरण के क्षयोपशम अथवा क्षय को अनिवार्य माना गया है। जबकि दर्शन के प्रकटीकरण के लिए दर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम अथवा क्षय का आधार बनाया गया है। इस प्रकार जैन दर्शन में दोनों एकदम पृथक् हैं।

3. इस सविकल्पक ज्ञान को साकार उपयोग के नाम से भी जाना जाता है।

4. ज्ञान आत्मा का आगंतुक गुण नहीं, अपितु निज स्वरूप है। वह गुण एवं उपयोग इन दो स्वरूपों में उपलब्ध होता है। गुण रूप में वह जीव या आत्मा में सदैव उपलब्ध रहता है, जबकि उपयोग अर्थात् बोध रूप व्यापार क्रम से होता है।

5. न्याय-वैशेषिक दार्शनिक एवं मीमांसक ज्ञान को अस्वसंवेदी मानते हैं, जबकि जैन दर्शन में ज्ञान को स्वसंवेदी माना गया है।

6. योगदर्शन में मान्य अतीत-अनागत ज्ञान और जैनदर्शन में मान्य अवधिज्ञान आदि तीन ज्ञान भूत भविष्य की बात जानते हैं।

7. बौद्धदर्शन में भी ऐन्द्रियक और अतीन्द्रिय ज्ञान-दर्शन के लिए जैनदर्शन के समान 'जाणइ' और 'पासइ' क्रिया का प्रयोग हुआ है।

जैनागम में राजप्रश्नीय सूत्र, भगवती सूत्र, समवायांग सूत्र, नंदीसूत्र, स्थानांग सूत्र, षट्खण्डागम, कसायपाहुड एवं तत्त्वार्थसूत्र आदि ग्रंथों में ज्ञान के पांच प्रकार निरूपित हैं - 1. मतिज्ञान (आभिनिबोधिक ज्ञान) 2. श्रुतज्ञान, 3. अवधिज्ञान, 4. मनःपर्यवज्ञान, 5. केवलज्ञान। तीन अज्ञान हैं -1. मति अज्ञान, 2. श्रुत अज्ञान और विभंग ज्ञान। दर्शन के चक्षु, अचक्षु, अवधि और केवल दर्शन ये चार भेद होते हैं। इनमें मतिज्ञान जहाँ इन्द्रियज्ञान एवं मनोजन्य ज्ञान का द्योतक है, वहाँ श्रुतज्ञान आत्म-ज्ञान का सूचक है। यह ज्ञान प्रायः मतिपूर्वक होता है। इसे शब्द जन्य ज्ञान अथवा आगमज्ञान भी कहा गया है। इस प्रकार का विवेक ज्ञान जो आत्मा को हेय और उपादेय का बोध कराता है, वह श्रुतज्ञान है। अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान एवं केवलज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान कहलाते हैं, क्योंकि ये सीधे आत्मा से होते हैं। जैन दर्शन के प्राचीन ग्रंथों में सीधे आत्मा से होने वाले ज्ञान को प्रत्यक्ष तथा इन्द्रियादि की सहायता से होने वाले ज्ञान को परोक्ष माना गया है। इस दृष्टि से मतिज्ञान तो परोक्ष है ही, श्रुतज्ञान भी मतिज्ञान पूर्वक होने के कारण परोक्ष है। मति-श्रुत ज्ञान से सब द्रव्यों को एवं उसकी सब पर्यायों को परोक्ष रूप से जाना जाता है, प्रत्यक्ष रूप से नहीं। अवधिज्ञान और मनःपर्यवज्ञान भी मर्यादित द्रव्यों की पर्याय को साक्षात् जानते हैं, सब द्रव्यों की सब पर्यायों को प्रत्यक्ष जानने वाला ज्ञान केवलज्ञान है। प्रथम तीन ज्ञान ही मिथ्यादृष्टि के अज्ञान रूप में परिणत होते हैं।

भारतीय परम्परा में ज्ञान का विवेचन न्याय, वैशेषिक, सांख्य योग मीमांसा वेदान्त, बौद्ध आदि सभी दर्शन करते हैं, किन्तु जितना व्यापक निरूपण जैन ग्रंथों में सम्प्राप्त होता है, वह अदभूत है। मति आदि पांच प्रकार के ज्ञान जैन दर्शन के अतिरिक्त किसी भी दर्शन में प्राप्त नहीं होते हैं।

जिनभद्रगणि एवं उनका योगदान

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध का मुख्य आधार ग्रंथ आचार्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण (सातवीं शती) की कृति विशेषावश्यकभाष्य है। विशेषावश्यकभाष्य एक भाष्यग्रन्थ है जो आवश्यकसूत्र पर लिखा गया है। जिनभद्रगणि ने आवश्यक सूत्र पर आचार्य भद्रबाहु रचित आवश्यक निर्युक्ति के विषय को आधार बनाते हुए तथा निर्युक्ति में जो विषय छूट गया उसको भी स्पष्ट करते हुए विशेषावश्यकभाष्य की रचना की है। सभी प्रमाणों की समीक्षा करने पर जिनभद्रगणि का काल वि. सं. 545 से 650 तक सर्वमान्य है। जिनभद्रगणि के इस भाष्य में आवश्यक सूत्र के छह आवश्यकों में से मात्र प्रथम सामायिक आवश्यक की ही विवेचना 3603 प्राकृत गाथाओं में सम्पन्न हुई है। विशेषावश्यकभाष्य में जैन आगमों में प्रतिपादित सभी महत्त्वपूर्ण विषयों का वर्णन किया गया है। विशेषावश्यकभाष्य पर जिनभद्रगणि ने वृत्ति लिखी है, जो स्वोपज्ञवृत्ति के नाम से प्रसिद्ध है एवं इसमें विशेषावश्यकभाष्य का रहस्य भलीभांति स्पष्ट हुआ है। कोट्याचार्य ने इस पर विवरण की रचना की है, जो 13700 श्लोक परिमाण है। मलधारी हेमचन्द्र (वि. सं. 1140-1180) द्वारा विशेषावश्यकभाष्य पर लगभग

28000 श्लोक परिमाण शिष्यहिता नामक बृहद्वृत्ति का आलेखन किया गया है। इस वृत्ति में भाष्य में जितने विषय आये हैं, उन सभी विषयों को बहुत ही सरल और सुगम दृष्टि से समझाने का प्रयास किया गया है। शंका-समाधान और प्रश्नोत्तर की पद्धति का प्राधान्य होने के कारण पाठक को अरुचि का सामना नहीं करना पड़ता। यह इस टीका की बहुत बड़ी विशेषता है।

मति आदि पांच ज्ञानों का जो क्रम रखा गया है, वह स्वामी, काल, विषय आदि के आधार से है। ज्ञान के मुख्य रूप से तीन साधन होते हैं - 1. इन्द्रिय, 2. मन और 3. आत्मा। आगमिक परम्परा के अनुसार इसमें से प्रथम दो परोक्ष ज्ञान के तथा आत्मा प्रत्यक्ष ज्ञान का साधन होती है। संसारी आत्मा को पहचानने का जो लिंग होता है, उसे इन्द्रिय कहते हैं। जैनदर्शन में इन्द्रियों को पौद्गलिक माना गया है, जिससे नैयायिकों के श्रोत्र का आकाश स्वरूप मानने के मत का खण्डन हो जाता है।

न्याय-वैशेषिक दर्शन में चक्षु इन्द्रिय और मन को प्राप्यकारी स्वीकार किया गया है। जबकि **जिनभद्रगणि** ने तर्कपूर्वक चक्षुइन्द्रिय और मन को अप्राप्यकारी सिद्ध किया है एवं शेष चार इन्द्रियों से होने वाले ज्ञान को प्राप्यकारी माना गया है। सभी भारतीय दर्शनों ने मन के अस्तित्व को स्वीकार किया है। जिसके द्वारा पदार्थों का मनन किया जाता है, वह मन कहलाता है। जिसके द्वारा अतीत की स्मृति और भविष्य की चिन्ता (कल्पना) की जाती है, वह दीर्घकालिकी संज्ञा है। यह संज्ञा जिन जीवों के होती है, उन्हीं को मन का अधिकारी माना गया है।

मतिज्ञान - मन और इन्द्रिय की सहायता से होने वाला ज्ञान मतिज्ञान है। इसे आभिनिबोधिक ज्ञान भी कहा जाता है। अर्थाभिमुख होते हुए जो नियत अर्थ ज्ञान है, वह आभिनिबोध है तथा अर्थ-बल से बिना किसी व्यवधान के उत्पन्न निश्चयात्मक ज्ञान, आभिनिबोधिक ज्ञान है। मतिज्ञान के अवग्रह, ईहा, अवाय एवं धारणा भेद किए गये हैं, वे भी इन्द्रिय एवं मनोज्ञान की प्रक्रिया को समझने की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। इनकी छाया हमें शिशुपालवध के प्रथम सर्ग में तब प्राप्त होती है जब देवलोक से उतरते हुए नारदजी का स्वरूप अस्पष्ट से स्पष्टतर होता जाता है।

अवग्रह वस्तु का वह सामान्य ज्ञान है। जिसमें वस्तु को नामादि निर्दिष्ट नहीं किया जाता है। **‘रूप-रसादिभेदैरनिर्देश्यस्याऽव्यक्तस्वरूपस्य सामान्यार्थस्याऽवग्रहणं परिच्छेदनमवग्रहः।’** अवग्रह से ज्ञात वस्तु के विषय में विशेष जानने की आकांक्षा को ईहा कहा गया है। ईहित ज्ञान का निर्णय अवाय कहलाता है। अवाय ज्ञान की दृढ़तम अवस्था या संस्कार को धारणा ज्ञान कहते हैं। ये चारों मतिज्ञान के विभिन्न स्तर हैं। षट्खण्डागम, तत्त्वार्थसूत्र आदि में इनमें से प्रत्येक के बहु-बहुविध, अल्प-अल्पविध, क्षिप्र-अक्षिप्र आदि बारह-बारह प्रकार बताये गये हैं। इन प्रकारों का निरूपण जैन दर्शन में निरूपित ज्ञान-मीमांसा की सूक्ष्मता को दर्शाता है।

प्रमाण मीमांसा में मान्य सांख्याहारिक प्रत्यक्ष, स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क एवं अनुमान प्रमाण का समावेश मतिज्ञान में ही होता है। यही नहीं पूर्व जन्मों का ज्ञान भी मतिज्ञान के ही अन्तर्गत समाविष्ट है।

जिनभद्रगणि का वैशिष्ट्य है कि उन्होंने मतिज्ञान के पर्यायवाची शब्दों में से मति, प्रज्ञा, आभिनिबोधिक और बुद्धि को वचनपर्याय के रूप में तथा ईहा, अपोह, विमर्श, मार्गणा, गवेषणा, संख्या और स्मृति को अर्थपर्याय के रूप में स्वीकार किया है। दूसरी अपेक्षा से मति, प्रज्ञा, अवग्रह, ईहा, अपोह आदि सभी मतिज्ञान के वचनपर्याय रूप हैं और इन शब्दों से मतिज्ञान के कहने योग्य भेद अर्थपर्याय रूप हैं।

जिनभद्रगणि ने अवग्रह में ही सम्पूर्ण मतिज्ञान का ग्रहण कर लिया है। उनका कथन है कि अवग्रह का अर्थ है – अर्थ को ग्रहण करना। अवग्रह की भांति ईहा, अवाय और धारणा भी किसी न किसी अर्थ को ग्रहण करते हैं इसलिए वे सब सामान्य रूप से अवग्रह ही हैं। इसी प्रकार ईहा, अपाय और धारणा में सम्पूर्ण मतिज्ञान का समावेश हो जाता है।

जिनभद्रगणि ने मति और श्रुतज्ञान में हेतु और फल की अपेक्षा से भेद स्पष्ट करते हुए कहा है कि भावश्रुत मतिपूर्वक होता है न कि द्रव्यश्रुत। द्रव्यश्रुत को भावश्रुत का कारण सिद्ध किया है। मतिज्ञान के पूर्व द्रव्यश्रुत हो सकता है। अतः नंदी सूत्र में ‘ण मति सुयपुव्विया’ में भावश्रुत का निषेध किया गया है।

जन सामान्य में यह धारणा प्रचलित है कि श्रोत्रेन्द्रिय से सम्बन्धित ज्ञान श्रुतज्ञान है तथा शेष इन्द्रियों से सम्बन्धित ज्ञान मतिज्ञान है। **जिनभद्रगणि** इसका समाधान करते हुए निरूपित करते हैं कि श्रुतानुसारी अक्षरलाभ ही श्रुत है, वह किसी भी इन्द्रिय से हो सकता है, उससे भिन्न ज्ञान मतिज्ञान है। यह पांचों इन्द्रिय और मन से होता है, लेकिन श्रुतानुसारी नहीं होता है। अतः जो श्रुतानुसारी ज्ञान है, वह श्रोता और वक्ता के लिए श्रुतज्ञान है और जो श्रुत के स्वरूप से रहित है, वह दोनों के लिए मतिज्ञान है।

कुछ आचार्य मतिज्ञान को अनक्षर और श्रुत को अक्षर एवं अनक्षर रूप उभयात्मक स्वीकार करते हैं। **जिनभद्रगणि** के अनुसार मति और श्रुत दोनों उभयात्मक हैं, लेकिन द्रव्याक्षर की अपेक्षा श्रुतज्ञान साक्षर है, मतिज्ञान अनक्षर है।

जिनभद्रगणि का कथन है कि भाष्यमाण अर्थ को द्रव्य श्रुत रूप मानने पर भावश्रुत का अभाव प्राप्त होता है। इसलिए बुद्धि से आलोचित हुए अर्थों में जो अर्थ श्रुतमति सहित भाषण करने के योग्य है, चाहे वह अर्थ उस समय नहीं बोला जा रहा है, तो भी वह भावश्रुत है, जबकि शेष अर्थ मति है।

जिनभद्रगणि ने श्रुतज्ञान को अभिलाष्य तथा मतिज्ञान को अभिलाष्य और अनभिलाष्य रूप माना है।

जिनभद्रगणि ने मति और श्रुत दोनों में इन्द्रिय और मन का निमित्त स्वीकार किया है। जबकि पूर्वाचार्य उमास्वाति ने मतिज्ञान को इन्द्रिय और मन के निमित्तक तथा श्रुतज्ञान को मनोनिमित्तक माना है।

जिनभद्रगणि ने औत्पत्तिकी आदि चार बुद्धियों को अवग्रहादि से अभिन्न माना है।

अवग्रह के सम्बन्ध में कुछ आचार्यों का मानना है कि ‘यह वह है’ ऐसा सामान्य विशेषात्मक ज्ञान अवग्रह रूप है। **जिनभद्रगणि** कहते हैं कि यह ज्ञान तो निश्चय रूप है, जिसको स्वीकार करने पर ईहा, अपाय की प्रवृत्ति नहीं हो सकेगी, इसलिए यह उचित नहीं है।

जिनभद्रगणि व्यंजनावग्रह के पूर्व दर्शन को स्वीकार नहीं करते हैं, जबकि पूर्वाचार्य पूज्यपाद ने व्यंजनावग्रह के पूर्व दर्शन को स्वीकार किया है।

जिनभद्रगणि के अनुसार श्रुत साक्षर और मति साक्षर और अनक्षर रूप होता है।

जिनभद्रगणि ने व्यंजनावग्रह को ज्ञान रूप माना है।

बहु, बहुविध आदि बारह भेद एक समय वाले अवग्रह में घटित नहीं होते हैं, इसके लिए **जिनभद्रगणि** ने सांव्यवहारिक अवग्रह की कल्पना करके इन भेदों को घटित किया है।

पूज्यपाद आदि के अनुसार अव्यक्त ग्रहण व्यंजनावग्रह तथा व्यक्त ग्रहण अर्थावग्रह है, **जिनभद्रगणि** के अनुसार व्यंजनावग्रह में विषय और विषयी के सन्निपात से दर्शन नहीं होता है। अर्थावग्रह में सामान्य, अनिर्देश्य एवं नाम, स्वरूप जाति से रहित ज्ञान होता है, जिसे अपेक्षा विशेष से दर्शन की श्रेणी में रख सकते हैं। जबकि वीरसेनाचार्य ने प्राप्त अर्थ का ग्रहण व्यंजनावग्रह और अप्राप्त अर्थ का ग्रहण अर्थावग्रह कहा है।

जिनभद्रगणि ने दर्शन, आलोचना एवं अवग्रह को अभिन्न माना है, जबकि **मलधारी हेमचन्द्र** आलोचना को अर्थावग्रह रूप मानते हैं, लेकिन उन्होंने दर्शन के बाद अवग्रह को भी स्वीकार किया है।

जिनभद्रगणि ने व्यंजनावग्रह को ज्ञान रूप माना है। उन्होंने अर्थावग्रह के नैश्चयिक और व्यावहारिक भेद किये हैं। सांख्यव्यवहारिक प्रत्यक्ष की अवधारणा भी जिनभद्रगणि की ही देन है।

जिनभद्रगणि ने अवग्रह और संशय को भिन्न रूप माना है एवं संशय को ज्ञान रूप स्वीकार किया है, किन्तु उसे प्रमाण नहीं माना है।

विशेषावश्यकभाष्य और **बृहद्वृत्ति** में अवाय को औपचारिक रूप से अर्थावग्रह कहा गया है।

अवग्रह के दोनों भेदों में से व्यंजनावग्रह निर्णयात्मक नहीं होने तथा अनध्यवसायात्मक रूप होने के कारण वह प्रमाण की कोटि में नहीं आता है। लेकिन **जिनभद्रगणि** ने उपचरित अर्थावग्रह को प्रत्यक्ष-प्रमाण कहा है।

जिनभद्रगणि ने अवग्रह और ईहा के मध्य में संशय को स्थान नहीं दिया है।

जिनभद्रगणि ने निर्णयात्मक ज्ञान की अविच्छिन्न रूप से स्थिति को धारणा माना है। यहाँ अविच्युति को उपलक्षण से मानते हुए अविच्युति, वासना (संस्कार) और स्मृति इन तीनों को धारणा रूप स्वीकार किया है। जबकि पूर्वाचार्य पूज्यपाद ने वासना (संस्कार) को ही धारणा रूप माना है।

जिनभद्रगणि ने नैश्चयिक अर्थावग्रह का काल एक समय, व्यंजनावग्रह तथा व्यावहारिक अर्थावग्रह का काल अन्तर्मुहूर्त, ईहा और अपाय का काल अन्तर्मुहूर्त, अविच्युति और स्मृति रूप धारणा का काल भी अन्तर्मुहूर्त, वासना रूप धारणा का काल संख्यात, असंख्यात काल तक माना है।

जिनभद्रगणि के मत में किसी अपेक्षा से अवग्रह भी दर्शन होता है, क्योंकि उन्होंने दर्शन का विशेष उल्लेख नहीं किया है लेकिन विशेषावश्यकभाष्य में उन्होंने एक स्थान पर अवग्रह-ईहा को दर्शन रूप माना है, दर्शन के समान अवग्रह में विशेषतः अर्थावग्रह में निर्विकल्पकता और निराकारता प्राप्त होती है,

श्रुतज्ञान – जिसे मतिज्ञान पूर्वक स्वीकार किया गया है। इन्द्रियों से होने वाले ज्ञान के पश्चात् हेय और उपादेय का बोध श्रुतज्ञान से ही होता है। यह सत्-असत् का भेद कराने में समर्थ होता है। हेय उपादेय का बोध कराने के कारण आगम ज्ञान को भी श्रुतज्ञान कहा गया है। श्रुतज्ञान के भेदों की चार परम्पराएं प्राप्त होती हैं – 1. अनुयोगद्वार सूत्र में नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव के आधार पर श्रुतज्ञान का विवेचन किया गया है। 2. आवश्यकनिर्युक्ति में अक्षर-अनक्षर, संज्ञी-असंज्ञी, सम्यक्-मिथ्या श्रुत, सादि-अनादि श्रुत, सपर्यवसित-अपर्यवसित श्रुत, गमिक-अगमिक श्रुत,

अंगप्रविष्ट-अंगबाह्य श्रुत, ये चौदह भेद विवेचित हैं। 3. षट्खण्डागम के अनुसार यथा पर्याय, पर्यायसमास, अक्षर, अक्षरसमास, पद, पदसमास, संघात, संघातसमास, प्रतिपत्ति, प्रतिपत्तिसमास, अनुयोगद्वार, अनुयोगद्वारसमास, प्राभृतप्राभृत, प्राभृतप्राभृतसमास, प्राभृत, प्राभृतसमास, वस्तु, वस्तुसमास, पूर्व और पूर्वसमास। ये बीस भेद निरूपित हैं। 4. तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य ये दो भेद प्राप्त होते हैं। उपर्युक्त भेदों में आवश्यकनिर्युक्ति कृत भेदों से श्रुतज्ञान के सम्बन्ध में विशिष्ट जानकारी मिलती है, इसलिए ये भेद उचित प्रतीत होते हैं।

मलधारी हेमचन्द्र की बृहद्वृत्ति के अनुसार जिसे आत्मा सुने वह श्रुत है, क्योंकि शब्द को जीव सुनता है, इसलिए श्रुतज्ञान शब्द रूप ही है। यदि ऐसा मानेंगे तो श्रुत आत्म-परिणाम रूप नहीं रहेगा, क्योंकि शब्द पौद्गलिक होने से मूर्त रूप होता है जबकि आत्मा अमूर्त है। किन्तु मूर्त वस्तु अमूर्त का परिणाम नहीं होती है और आगम में तो श्रुतज्ञान को आत्म-परिणाम रूप माना गया है। अतः वक्ता द्वारा बोला गया शब्द श्रुतज्ञान का निमित्त होता है। श्रुतज्ञान के इस निमित्तभूत शब्द में श्रुत का उपचार किया जाता है, लेकिन परमार्थ से जीव (आत्मा) ही श्रुत है।

यदि शब्दोल्लेखज्ञान श्रुतज्ञान है तो इस लक्षण से एकेन्द्रिय जीवों में श्रुत ज्ञान नहीं हो सकता है, इस शंका का समाधान करते हुए **जिनभद्रगणि** ने कहा है कि एकेन्द्रिय जीवों में भी श्रुतज्ञान (श्रुत अज्ञान) आहार संज्ञा आदि के समय होता है, पर वह अत्यन्त मन्द रूप होता है।

जिनभद्रगणि के अनुसार अक्षर का सर्वद्रव्य पर्याय परिणाम वाला होने से अक्षर का विशेष अर्थ केवलज्ञान होता है, जिसका रूढ़ अर्थ श्रुतज्ञान होता है, क्योंकि रूढ़ि वश अक्षर का अर्थ वर्ण है।

जिनभद्रगणि के अनुसार लब्धि अक्षर के दो भेद होते हैं - 1. इन्द्रिय और मन के निमित्त से श्रुतग्रन्थ के अनुसार ज्ञान एवं 2. श्रुतज्ञानावरण का क्षयोपशम। जिनदासगणि एवं मलियगिरि ने प्रथम अर्थ तथा हरिभद्र एवं यशोविजय ने उपर्युक्त दोनों अर्थों को स्वीकार किया गया है।

मलधारी हेमचन्द्र ने बृहद्वृत्ति में हस्तादि चेष्टाओं को श्रुतज्ञान माना है।

जिनभद्रगणि ने इन्द्रियज्ञान को परमार्थ से अनुमान रूप ही स्वीकार किया है।

जिनभद्रगणि के अनुसार द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के आधार पर जो श्रुतज्ञान के विषय का वर्णन किया गया है। उसमें जानने (जाणइ) और देखने (पासइ) रूप दो क्रियाओं का प्रयोग किया गया है। आपका मत है कि नंदीसूत्र में 'जाणइ न पासइ' होना चाहिए। क्योंकि श्रुतज्ञानी जानता है, लेकिन अचक्षुदर्शन से देखता नहीं है।

अवधिज्ञान - इन्द्रिय एवं मन की सहायता के बिना सीधे आत्मा से होने वाले ज्ञान को **अवधिज्ञान** कहा जाता है। **जिनभद्रगणि** ने विशेषावश्यकभाष्य में चौदह निक्षेपों या द्वारों की अपेक्षा अवधिज्ञान का विस्तार से वर्णन किया है, वे निक्षेप हैं - 1. अवधि, 2. क्षेत्रपरिमाण, 3. संस्थान, 4. आनुगामिक, 5. अवस्थित, 6. चल, 7. तीव्रमंद, 8. प्रतिपाति-उत्पाद, 9. ज्ञान, 10. दर्शन, 11. विभंग, 12. देश, 13. क्षेत्र और 14. गति। इन चौदह द्वारों के बाद पंद्रहवें द्वार के रूप में ऋद्धि का उल्लेख किया है।

अवधिज्ञान के दो प्रकार प्रमुख हैं - 1. भवप्रत्यय और 2. गुणप्रत्यय अवधिज्ञान। जन्म से होने वाला अवधिज्ञान भवप्रत्यय कहलाता है। यह देवों और नारकों को जन्म से प्राप्त होता है। इस ज्ञान के माध्यम से वे अंगुल के असंख्यातवें भाग से लेकर सम्पूर्ण लोक के रूपी पदार्थों का ज्ञान

कर लेते हैं। गुणप्रत्यय अवधिज्ञान मनुष्य एवं पंचेन्द्रिय तिर्यचों को होता है। यह जन्म से नहीं अपितु अवधिज्ञानावरण के क्षयोपशम से प्राप्त होता है। इसके मुख्य रूप से छह प्रकार निरूपित हैं – 1. **अनुगामिक** – जो अवधिज्ञान प्रकट होने के बाद उत्पत्ति स्थान को छोड़ने पर भी साथ रहता है, उसे अनुगामिक कहते हैं। 2. **अनानुगामिक** – जिस स्थान पर ज्ञान प्रकट होता है, उस उत्पत्ति स्थान को छोड़ने पर ज्ञान साथ न रहे तो उसे आनुगामिक अवधिज्ञान कहा जाता है। 3. **वर्धमान** – जो अवधिज्ञान एक बार प्रकट होने के बाद निरंतर बढ़ता रहता है, उसे वर्धमान अवधिज्ञान कहा जाता है। 4. **हीयमान** – जो अवधिज्ञान प्रकट होने के बाद निरन्तर क्षीण होता जाता है, वह हीयमान अवधिज्ञान है। 5. **अवस्थित** – जो अवधिज्ञान उत्पन्न होने के पश्चात् बना रहता है, उसे अवस्थित अवधिज्ञान कहते हैं। 6. **अनवस्थित** – जो अवधिज्ञान प्रकट होने के अनन्तर न्यूनाधिक होता रहता है अथवा समाप्त हो जाता है, उसे अनवस्थित अवधिज्ञान है।

इसके अलावा अवधिज्ञान के निम्न भेद भी प्राप्त होते हैं – 1. देशावधि, 2. परमावधि, 3. सर्वावधि, 4. सप्रतिपाति, 5. अप्रतिपाति, 6. एक क्षेत्रावधि और 7. अनेक क्षेत्रावधि।

जिनभद्रगणि ने तीव्र-मंद द्वार का स्वरूप समझाने के लिए स्पर्धक अवधिज्ञान का वर्णन किया है, जिसके अन्तर्गत अवधिज्ञानी को कुछ क्षेत्र ज्ञात, फिर कुछ अज्ञात एवं फिर कुछ क्षेत्र ज्ञात होता है।

सम्यग्दृष्टि जीव के अवधिज्ञान और मिथ्यादृष्टि के विभंगज्ञान होता है। कुछ आचार्यों ने इस प्रसंग पर विभंग दर्शन को सिद्ध करने का प्रयास किया है, जिसका **जिनभद्रगणि** ने खण्डन किया है।

जिनभद्रगणि ने क्षेत्र द्वार में संबद्ध और असंबद्ध अवधिक्षेत्र का वर्णन किया है।

मनःपर्यवज्ञान – संयम की विशुद्धि से मनःपर्यवज्ञानावरण का क्षयोपशम होने पर जो ज्ञान प्रकट होता है, उसे मनःपर्यवज्ञान कहते हैं। मनःपर्यवज्ञान गर्भज कर्मभूमिज संख्यात वर्षायुष्यक पर्याप्त सम्यग्दृष्टि अप्रमत्त ऋद्धिप्राप्त संयत मनुष्य को ही होता है। इसके मुख्य रूप से दो भेद होते हैं – **ऋजुमति** – जो सामान्य रूप से मनोद्रव्य को जानता है, वह ऋजुमति मनःपर्यवज्ञान है। जैसेकि अमुक व्यक्ति ने घट का चिन्तन किया है। **विपुलमति** – उससे विशेषग्राही ज्ञान विपुलमति है। अमुक व्यक्ति ने घड़े का चिन्तन किया है, वह घड़ा सोने का बना हुआ है इत्यादि द्रव्य, क्षेत्र, काल आदि को जानना विपुलमति मनःपर्यवज्ञान है।

इस ज्ञान में दूसरे की मन की पर्यायों को जाना जाता है। इस ज्ञान के सम्बन्ध में प्रमुखतः दो मान्यताएं हैं – **प्रथम** मान्यता के अनुसार मनःपर्यवज्ञान द्वारा मन का प्रत्यक्ष होने के साथ मन के द्वारा चिन्तित अर्थ का सीधा प्रत्यक्ष होता है। इस मत का मुख्य रूप से दिगम्बराचार्यों ने समर्थन किया है। मनःपर्यवज्ञानी तीनों कालों के विचार, वाणी और वर्तन को जान सकता है। **दूसरी** मान्यता **जिनभद्रगणि** आदि श्वेताम्बराचार्यों की है, जिसके अनुसार मनोगत अर्थ का विचार करने से जो मन की दशा होती है, उस दशा अथवा पर्यायों को मनःपर्यायज्ञानी प्रत्यक्ष जानता है। किन्तु उन दशाओं में जो अर्थ रहा हुआ है, उसको वह अनुमान से जानता है।

मनःपर्यवज्ञान के इस प्रकरण में यह प्रश्न उठाया गया है कि मतिज्ञान के पूर्व जिस प्रकार चक्षुदर्शन अथवा अचक्षुदर्शन होते हैं, अवधिदर्शन के पूर्व अवधिदर्शन तथा केवलज्ञान के पूर्व केवलदर्शन होता है, उसी प्रकार मनःपर्यवज्ञान का दर्शन क्यों नहीं होता है? इस प्रश्न का समाधान

करते हुए कहा गया है कि मनःपर्यवज्ञान के पूर्व दर्शन नहीं होता है, क्योंकि मन की पर्याय सविकल्प होती है, अतः उनका ज्ञान भी सविकल्पक ही होता है।

केवलज्ञान – समस्त द्रव्यों और उनकी पर्यायों का आत्मा में होने वाला साक्षात् ज्ञान केवलज्ञान कहलाता है। केवलज्ञान के अनेक विशेषण दिये गये हैं, यथा 1. परिपूर्ण, 2. समग्र (सम्पूर्ण), 3. सकल, 4. असाधारण, 5. निरपेक्ष, 6. विशुद्ध, 7. सर्वभावप्रज्ञापक, 8. संपूर्ण लोकालोक विषयक, 9. अनंत पर्याय, 10. अनन्त, 11. एकविध, 12. असपत्न, 13. शाश्वत, 14. अप्रतिपाती, 15. असहाय। इन विशेषणों से केवलज्ञान के स्वरूप को समझने में सहायता मिलती है।

ज्ञानावरण का पूर्ण क्षय होने पर केवलज्ञान प्रकट होता है। इसमें प्रकटीकरण के पूर्व मोहकर्म का पूर्ण क्षय अनिवार्य होता है, क्योंकि मोह कर्म एवं ज्ञानावरणीय कर्म में घनिष्ठ सम्बन्ध है। ज्यों-ज्यों मोह बढ़ता है, त्यों-त्यों ज्ञानावरण कर्म बढ़ता जाता है तथा मोह के घटने के साथ ज्ञान का प्रकटीकरण स्वतः होता रहता है। ‘मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम्’ (तत्त्वार्थसूत्र 10.1) अर्थात् मोह का पूर्ण क्षय होने पर ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्म अन्तर्मुहूर्त में स्वतः ही क्षय हो जाते हैं।

केवलज्ञानी दो प्रकार के होते हैं – भवस्थ और सिद्धस्थ। इस संसार में रहते हुए भी जो केवलज्ञान प्रकट होता वह भवस्थ केवलज्ञान कहा जाता है। वह सयोगी और अयोगी के भेद से दो प्रकार का होता है। शरीर छूटने के पश्चात् जो केवलज्ञान होता है, उसे सिद्धस्थ केवलज्ञान है।

छद्मस्थ में दर्शन और ज्ञान के विषय में श्वेताम्बर परम्परा और दिगम्बर परम्परा दोनों एकमत हैं। केवली के विषय में दिगम्बर परम्परा ने एक मत से युगपद्वाद का समर्थन किया है, जबकि श्वेताम्बर परम्परा में तीन मत प्राप्त होते हैं – 1. क्रमवाद, 2. युगपद्वाद, 3. अभेदवाद। हरिभद्रसूरि के अनुसार युगपद्वाद के समर्थक आचार्य सिद्धसेन, क्रमवाद के समर्थक **जिनभद्रगणि** क्षमाश्रमण और अभेदवाद के समर्थक वृद्धाचार्य हैं। **जिनभद्रगणि** ने आगमिक मत क्रमवाद को पुष्ट किया है।

जिनभद्रगणि ने इस आगमिक मान्यता को पुष्ट किया है कि केवली अन्तर्मुहूर्त आयुष्य शेष रहने पर ही केवली समुद्घात करते हैं।

जिनभद्रगणि के अनुसार छद्मस्थों में मनोनिरोध मात्र रूप प्रयत्न ध्यान है तो जिनेश्वरों के काययोग निरोध रूप ध्यान है।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध यद्यपि मुख्य रूप से जिनभद्रगणि के विशेषावश्यकभाष्य एवं उस पर मलधारी हेमचन्द्र द्वारा रचित बृहद्वृत्ति पर आधारित है तथापि जैन ज्ञानमीमांसीय अध्ययन को समग्रता प्रदान करने की दृष्टि से समस्त श्वेताम्बर आगम साहित्य तथा दिगम्बर परम्परा के सभी प्रमुख प्राचीन ग्रंथों का अनुशीलन कर ज्ञानमीमांसा के अज्ञात बिन्दुओं का प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।

अध्ययन करते समय ज्ञानमीमांसा के अनेक बिन्दुओं पर श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्परा में जो मतभेद नजर आये हैं, उनका कथन सम्बन्धित अध्यायों के समीक्षण में किया गया है। विभिन्न विवादास्पद बिन्दुओं की समीक्षा कर निष्कर्ष भी दिये गये हैं। इस शोध-कार्य में जिन अज्ञात तथ्यों को प्रस्तुत किया गया है तथा स्वमति से जिन तथ्यों की स्थापना की गई है, उनमें से कुछ बिन्दु निम्न प्रकार से हैं-

1. आवश्यकसूत्र के कर्ता के सम्बन्ध में निष्कर्ष निकाला गया कि चतुर्विध संघ में पहले दिन भी साधु-साध्वियों को आवश्यक करना अनिवार्य होता है एवं उस दिन दीक्षित सभी साधु-साध्वी विशिष्ट मति वाले नहीं होते हैं, अतः उनके लिए गणधर द्वादशांगी की रचना के साथ ही संभवतया आवश्यक की भी रचना करते हों, किन्तु वर्तमान में जो आवश्यक प्राप्त होता है, वह पूर्णतः गणधर कृत नहीं है। उसमें कालक्रम से पूर्वाचार्यों ने परिवर्तन किया है। अतः वर्तमान में प्राप्त आवश्यक का कुछ भाग गणधरकृत और कुछ भाग स्थविरकृत हो सकता है।

2. इसी प्रकार आवश्यकनिर्युक्ति के कर्ता के सम्बन्ध में यह माना जा सकता है कि निर्युक्ति की रचना चतुर्दशपूर्वधारी भद्रबाहु से प्रारंभ हो गई थी और कालक्रम से उनमें प्रसंगानुसार गाथाएं जुड़ती गई और अन्त में नैमित्तिक भद्रबाहु ने परिष्कृत स्वरूप प्रदान किया है।

3. श्वेताम्बर आगमों में मन के दो भेद - द्रव्यमन और भावमन नहीं है, इसकी पुष्टि की गई है।

4. आगमानुसार एकेन्द्रियादि असंज्ञी प्राणियों में भाव मन नहीं होता है, इस मत को पुष्ट किया गया है।

5. नंदीसूत्र में तो अवग्रहादि चार भेद श्रुतनिश्चित के ही बताये हैं, लेकिन स्थानांगसूत्र के अनुसार श्रुतनिश्चित और अश्रुतनिश्चित दोनों के अवग्रहादि भेद किये हैं, इसके कारण को स्पष्ट किया गया है।

6. व्यंजनावग्रह और अर्थावग्रह के स्वरूप में पूज्यपाद, जिनभद्रगणि और वीरसेनाचार्य में मतभेद का उल्लेख कर समन्वय स्थापित किया गया है।

7. भगवतीसूत्र में मतिज्ञान के विषय में 'जाणइ' 'पासइ' क्रियाओं का उल्लेख है जबकि नंदीसूत्र के में 'जाणइ ण पासइ' क्रिया का प्रयोग किया गया है, इस आगम भेद के कारण को स्पष्ट किया गया है।

8. आगम के व्याख्याकारों के अनुसार एकेन्द्रिय में एक द्रव्येन्द्रिय और पांचों भावेन्द्रियाँ होती हैं, जबकि आगमानुसार एकेन्द्रिय में एक द्रव्येन्द्रिय और एक ही भावेन्द्रिय होती है, इस मान्यता की पुष्टि की गई है।

9. श्वेताम्बर एवं दिगम्बर परम्परा में मान्य द्वादशांगों के स्वरूप का संक्षिप्त परिचय देते हुए उसकी समीक्षा की गई है।

10. जिनभद्रगणि के अनुसार श्रुतज्ञान के विषय के सम्बन्ध में नंदीसूत्र में 'जाणइ पासइ' के स्थान पर 'जाणइ न पासइ' प्रयोग होना चाहिए था, क्योंकि श्रुतज्ञानी अचक्षुदर्शन से नहीं देखता है। श्रुतज्ञानी कैसे देखता है, इसको आगम आधार से स्पष्ट किया गया है।

11. प्रज्ञापना सूत्र के 33वें पद एवं नंदीसूत्र में पाये जाने वाले अवधिज्ञान के भेदों में जो भिन्नता है, उसका कारण स्पष्ट किया गया है।

12. अवधिज्ञान के जघन्य विषय क्षेत्र की समीक्षा करते हुए आगमानुसार यह सिद्ध किया गया है कि अवगाहना का संकोच परभव (गत्यन्तर) में ही होता है।

13. विशेषावश्यकभाष्य के अलावा किन्हीं-किन्हीं ग्रन्थों में द्रव्य वर्गणा के बयालीस प्रकारों का उल्लेख भी प्राप्त होता है, उनकी संगति बिठाई गई है।

14. वैमानिक में जघन्य और उत्कृष्ट अवधि के प्रमाण में जो विसंगति या मतान्तर है, उसका निराकरण किया गया है।

15. अवस्थित अवधिज्ञान के सम्बन्ध में अन्य ग्रंथों में प्राप्त चर्चा का विस्तार से वर्णन करते हुए उसके स्वरूप को स्पष्ट किया गया है।

16. टीकाकारों ने अप्रतिपाती अवधिज्ञान और विपुलमति मनःपर्यवज्ञान को केवलज्ञान के प्रकटीकरण के पूर्व तक रहना स्वीकार किया है, लेकिन आगम प्रमाण देकर इसका खण्डन करते हुए अप्रतिपाती का अर्थ भवपर्यन्त ही मानना चाहिए, इस मत को सिद्ध किया गया है।

17. प्रतिपात-उत्पाद द्वार के माध्यम से बाह्य और आभ्यन्तर अवधिज्ञान का वर्णन किया गया है।

18. दिगम्बर परम्परा में ऋजुमति और विपुलमति के प्रभेदों का उल्लेख है, श्वेताम्बर साहित्य में इनका उल्लेख नहीं होते हुए भी अर्थान्तर से इन प्रभेदों के बीज प्राप्त होते हैं, इसका स्पष्टीकरण किया गया है।

19. स्वामी, विशुद्धि, विषय, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, भव, अज्ञान, शक्ति और प्रत्यय की अपेक्षा से अवधिज्ञान एवं मनःपर्यवज्ञान दोनों में भिन्नता सिद्ध की गई है।

20. श्वेताम्बर और दिगम्बर मान्यता के अनुसार ऋजुमति-विपुलमति मनःपर्यवज्ञान के स्वरूप का स्पष्ट किया है।

21. ऋजुमति और विपुलमति मनःपर्यवज्ञान के प्रभेदों का उल्लेख दिगम्बर ग्रंथों में मिलता है लेकिन श्वेताम्बर आगम-ग्रंथों में नहीं हैं। दोनों परम्पराओं में ऋजुमति और विपुलमति के प्रभेदों के सम्बन्ध में अपेक्षा विशेष से मान्यता भेद है। इसको स्पष्ट किया गया है।

22. मनःपर्यवज्ञान से जानने की प्रक्रिया को स्पष्ट किया गया है।

23. मनःपर्यवज्ञान का दर्शन क्यों नहीं होता है, इसका स्पष्टीकरण आगमानुसार किया गया है।

24. अन्तरसिद्ध केवलज्ञान के भेदों को अन्य आगम-ग्रंथों के आधार से विशेष स्पष्ट किया गया है।

25. नपुसंकलिंग सिद्ध में टीकाकारों ने कृत्रिम नपुंसक का ही ग्रहण किया है, लेकिन आगम आधारों से जन्म नपुंसक भी मोक्ष जा सकता है, इसकी सिद्धि की गई है।

26. प्रसंगानुसार केवली समुद्घात, केवली योग निरोध आदि का वर्णन श्वेताम्बर और दिगम्बर के आगम-ग्रंथों के आधार पर विशेष रूप से स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है।

इस प्रकार प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध विशेषावश्यक भाष्य का सहयोग लेते हुए श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्परा के अन्य आगम-ग्रंथों में जो मतभेद अथवा समानताएं हैं, उनकी चर्चा की गई है। इससे जैन वाङ्मय में निरूपित ज्ञानमीमांसा के सम्बन्ध में तुलनात्मक जानकारी इस शोध-प्रबन्ध में समीक्षित हुई है।

ग्रंथ सूची (BIBLIOGRAPHY)

(अ) आधार ग्रंथ

- विशेषावश्यक भाष्य : भाग 1-2, मलधारी हेमचन्द्र बृहद्वृत्ति सहित, भाई समरथ जैन श्वे. मू. शास्त्रोद्धार ट्रस्ट, अहमदाबाद, वी. सं. 2489
- विशेषावश्यकभाष्य : भाग 1-3, जिनभद्रकृत स्वोपज्ञवृत्ति, (पं. दलसुख मालवणिया) लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्यामन्दिर, अहमदाबाद, ई. 1966-68
- विशेषावश्यकभाष्य : (गुजराती अनुवाद), भाग 1-2, आगमोदय समिति, बम्बई, प्रथम संस्करण, ई. 1924-27
- विशेषावश्यकभाष्य : (हिन्दी अनुवाद सहित), भाग 1, आचार्य श्री सुभद्रमुनि मुनि मायाराम सम्बोधि प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, ई. 2009

(आ) सहायक ग्रंथ

- अनुयोगद्वार सूत्र : युवाचार्य मधुकर मुनि, श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, प्रथम संस्करण, ई. 1987
- अनुयोगद्वार वृत्ति : श्री ऋषभदेवजी केशरीमलजी श्वेताम्बर संस्था, रतलाम
- अभिधानराजेन्द्रकोष : भाग 1-7, श्रीमद् राजेन्द्रसूरि, श्री अभिधान राजेन्द्रकोष प्रकाशन संस्था, अहमदाबाद, ई. 1986,
- अष्टप्राभृत : कुन्दकुन्दाचार्य, परमश्रुत प्रभावक मंडल, श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास
- अष्टसहस्री : आचार्य विद्यानंद, दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान, हस्तिनापुर, सन् 1989
- आगमयुग का जैन दर्शन : पं. दलसुख मालवणिया, प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर, द्वितीय संस्करण, ई. 1990
- आगमशब्दकोष : सम्पादक आचार्य तुलसी, युवाचार्य महाप्रज्ञ, जैन विश्व भारती, लाडनूं, सन् 1980
- आचारांग टीका : 'आचारांगसूत्र सूत्रकृतांग सूत्रं च', मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, सन् 1978
- आत्ममीमांसा : दलसुख मालवणिया, जैन संस्कृति संशोधन मंडल, बनारस, ई. 1953
- आप्त-परीक्षा : आचार्य विद्यानंद, भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत् परिषद्, सन् 1992
- आप्तमीमांसा : समन्तभद्राचार्य (जुगलकिशोर मुख्तार), वीरसेवा मंदिर ट्रस्ट, वाराणसी, द्वितीय संस्करण, 1978
- आलाप पद्धति : आचार्य देवसेनाचार्य, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर, प्रथम संस्करण, ई. 1989
- आवश्यक चूर्णि : श्री ऋषभदेवजी केशरीमलजी श्वेताम्बर संस्था, रतलाम, ई. 1928-29
- आवश्यकनिर्युक्ति : भाग 1, श्री जिनशासन आराधना ट्रस्ट, मुम्बई, विक्रम सं. 2046

आवश्यकनिर्युक्ति	:	भाग 1, डॉ. समणी कुसुमप्रज्ञा, जैन विश्व भारती, लाडनूं, प्रथम संस्करण, ई. 2001
आवश्यकभाष्य	:	आगमोदय समिति, मेहसाना, वि. 1917
आवश्यकभाष्य	:	दे. ला. जैन पुस्तको. फंड, सूरत, वि. 1976
आवश्यक विवरण	:	आचार्य मलयगिरि, आगमोदय समिति, मुम्बई, ई. 1928-32
आवश्यक वृत्ति	:	हरिभद्र सूरि, आगमोदय समिति मेहसाना
आवश्यक वृत्ति	:	भाग 1, श्री जिनशासन आराधना ट्रस्ट, मुम्बई, विक्रम सं. 2046
आवश्यक वृत्ति	:	आचार्य मलयगिरि, आगमोदय समिति, बम्बई, ई. 1928-32
आवश्यकसूत्र	:	युवाचार्य श्री मधुकरमुनिजी, श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, ई. 1985
आवश्यक सूत्र	:	(नवसुत्ताणि), आचार्य तुलसी, जैन विश्व भारती, लाडनूं
उत्तराध्ययनसूत्र	:	युवाचार्य मधुकर मुनि, श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, प्रथम संस्करण, ई. 1984
उत्तराध्ययनवृत्ति	:	शांत्याचार्य, देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार भण्डागार संस्था, बम्बई, सं. 1973
ओघनिर्युक्ति (सभाष्य) :	:	वृत्तिकार द्रोणाचार्य, आ. विजयदान सूरिश्चर जैन ग्रंथमाला सूरत, ई. 1957
औपपातिक सूत्र	:	युवाचार्य मधुकर मुनि, श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, ई. 1992
कर्मग्रन्थ	:	भाग 1-6, देवेन्द्र सूरि (हिन्दी व्याख्या - पं. सुखलाल संघवी) श्री वद्धमान स्था. जैन धार्मिक शिक्षा समिति, बडौत (उ. प्र.)
कर्म प्रकृति (श्वेताम्बर):	:	आचार्य शिवशर्मसूरि कृत, विवेचक आचार्य नानेश, श्री गणेश स्मृति ग्रन्थमाला, बीकानेर
कर्मप्रकृति (दिगम्बर) :	:	अभयचन्द्रसिद्धान्त चक्रवर्तीकृत (विवेचक - डॉ. गोकुलचन्द्रजैन), भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली, ई. 1968
कर्मवाद	:	युवाचार्य महाप्रज्ञ, आदर्श साहित्य संघ, चुरु, ई. 1990
कर्म विज्ञान	:	भाग 1 से 5, देवेन्द्र मुनि, तारक गुरु जैन ग्रंथालय, उदयपुर
कसायपाहुड	:	(जयधवल/महाधवल) भाग 1, गुणधराचार्य (टीकाकार वीरसेनाचार्य और जिनसेनाचार्य) भारतवर्षीय दि. जैन संघ, चौरासी मथुरा (उ.प्र.), तृतीय संस्करण, ई. 2003
कार्तिकेयानुप्रेक्षा	:	स्वामी कार्तिकेय, श्री. दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ, तृतीय संस्करण, वी. नि. 2505
गणधरवाद	:	पं. दलसुखभाई मालवणिया, राजस्थान प्राकृत भारती संस्थान, जयपुर, प्रथम संस्करण, सन् 1982
गुणस्थानक्रमारोह	:	रत्नशेखर सूरि, आत्मतिलक ग्रन्थ सोसायटी, अहमदाबाद, वि. 1975
गुणस्थानसिद्धांत	:	डॉ. सागरमल जैन, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी-5, ई. 1996
: एक विश्लेषण	:	

- गोम्मटसार जीवकांड : भाग 1-2, आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती, भारतीय ज्ञानपीठ, १८, इडस्ट्रीटयुशनल एरिया, लोदी रोड नई दिल्ली-3, तृतीय संस्करण, ई. 2000,
- जंबूद्वीपप्रज्ञप्तिवृत्ति : मुनि दीपरत्नसागर, आगम आराधना केन्द्र, अहमदाबाद, ई. 2000
- जीवसमास : सम्पा. डॉ. सागरमलजैन, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी, ई. 1998
- जीवाजीवाभिगम सूत्र : भाग 1-2, युवाचार्य मधुकर मुनि, श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर,
- जैन आगम साहित्य : देवेन्द्रमुनि शास्त्री, श्री तारकगुरु जैन ग्रंथालय, उदयपुर,
- : मनन और मीमांसा : प्रथम संस्करण, ई. 1977
- जैन आगम साहित्य : संपा. के. आर. चन्द्र, प्राकृत जैन विद्या विकास फंड, अहमदाबाद, ई.1992
- जैन कर्म सिद्धांत : श्री मधुकर मुनि, मुनि श्री हजारीमल स्मृति प्रकाशन, ब्यावर
- जैन कर्म सिद्धांत का : डॉ. सागरमल जैन, राजस्थान प्राकृत भारती संस्थान, जयपुर
- तुलनात्मक अध्ययन
- जैन तत्त्व प्रकाश : श्री अमोल जैन ज्ञानप्रसारक संस्था, कल्याण स्वामी मार्ग, धुलिया महा.
- जैनतर्कभाषा : श्री यशोविजयगणि (अनुवाद-पं. शोभाचन्द्र भारिल्ल), श्री रत्न जैन पुस्तकालय, आचार्य सम्राट् श्री आनंदऋषिमार्ग, अहमदनगर, द्वितीयसंस्करण, ई. 1992
- जैन दर्शन में अतीन्द्रिय ज्ञान : साध्वी (डॉ.) संयम ज्योति, प्रथम संस्करण, ई. 1997
- जैन दर्शन में ज्ञान मीमांसा : मुनि नथमल, सेठ मन्नालालजी सुराणा, मेमोरियल ट्रस्ट, कलकत्ता
- जैनदर्शन में त्रिविध : साध्वी डॉ. प्रियलता श्री, श्री पार्श्वमणि जैन तीर्थ ट्रस्ट, पेद्दुतुम्बलम्,
- आत्मा की अवधारणा : प्रथम संस्करण, ई. 2007
- जैन दर्शन : स्वरूप : आचार्य देवेन्द्रमुनि, श्री तारकगुरु जैन ग्रन्थालय, उदयपुर,
- और विश्लेषण : द्वितीय संस्करण, ई. 1996
- जैन धर्म का मौलिक इतिहास: भाग 1-4, आचार्य श्री हस्तीमलजी महाराज, जैन इतिहास समिति, लालभवन चौड़ा रास्ता, जयपुर
- जैनधर्म के प्रभावक आचार्य : साध्वी संघमित्रा, जैन विश्व भारती, लाडनूं, प्रथम संस्करण, ई. 1979
- जैन धर्म-दर्शन : एक : डॉ. मोहनलाल मेहता, सेठ मूथालाल छगनमल मेमोरियल,
- समीक्षात्मक विवेचन : फाउण्डेशन, बेंगलोर, ई. 1999
- जैनन्याय : कैलाशचन्द्र शास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, कलकत्ता, ई. 1966
- जैन, बौद्ध और गीता : भाग 1-2, डॉ. सागरमल जैन, राजस्थान प्राकृत भारती संस्थान,
- के आचार दर्शनों का : जयपुर, सन् 1982
- तुलनात्मक अध्ययन
- जैन लक्षणावली : भाग 1-3, वीर सेवा मंदिर प्रकाशन, दरियागंज, दिल्ली, ई. 1972
- जैन संमत ज्ञानचर्चा : डॉ. हरनारायण, पंड्या, लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति, प्राच्य विद्या मंदिर, अहमदाबाद, ई. 1991

- जैन साहित्य का बृहद् इतिहास : भाग 1-6, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी
- जैन साहित्यनो संक्षिप्त इतिहास : मोहनलाल दलीचंद देसाई, आचार्य ओम्कार ज्ञानमंदिर, सूरत, ई. 2009
- जैन सिद्धांत दीपिका : आचार्य तुलसी, आदर्श साहित्य संघ, चूरू (राज.), ई. 1970
- जैनेन्द्रसिद्धांत कोष : भाग १-४, क्षु. जिनेन्द्रवर्णी, भारतीय ज्ञानपीठ, नेताजी सुभाष मार्ग, दिल्ली, ई. 1971
- ज्ञानबिन्दुप्रकरणम् : उपाध्याय यशोविजय (पं. सुखलाल संघवी) सिंधी जैन ग्रंथमाला, साबरमती, वि. सं. 1998
- ज्ञानार्णव : श्री विश्वकल्याण प्रकाशन ट्रस्ट, मेहसाना, संवत् 2042
- ज्ञानसार : पद्मसिंह मुनि, माणिक्य दिगम्बर जैनग्रन्थमाला, मुम्बई, वि.स. 1965
- तत्त्वानुशासन : श्री रामसेनाचार्य, संपा. युगलकिशोर मुख्तार, वीरसेवा मंदिर ट्रस्ट, दरियागंज, दिल्ली, ई. 1963
- तत्त्वबोधविधायिनी : (सम्मतितर्कटीका) अभयदेवसूरि, सम्पा. पं. सुखलाल संघवी एवं बेचरदास दोशी, गुजरात विद्यापीठ, गुजरात पुरातत्त्व मन्दिर, अहमदाबाद
- तत्त्वसार : श्रीदेवसेन, भारतीय दिगम्बर जैन ग्रंथमाला, बम्बई, वि. 1975
- तत्त्वार्थाधिगम सूत्र : सेठ देवचन्द्र लालभाई- जैन पुस्तकों फंड, मुम्बई प्रथम संस्करण, वि. सं.1982
- तत्त्वार्थभाष्य : भाग. 1-2, स्वोपज्ञ (उमास्वाति), सेठ देवचन्द्र लालभाई- जैन पुस्तकों फंड, मुम्बई प्रथम संस्करण, वि. सं. 1982
- तत्त्वार्थभाष्य वृत्ति : सिद्धसेन गणी, सेठ देवचन्द्र लालभाई- जैन पुस्तकों फंड, मुम्बई प्रथम संस्करण, वि. सं.1982
- तत्त्वार्थराजवार्तिक : भट्टाकलंकदेव, (संपादन पं. गजाधरलाल जैन), सनातन जैन ग्रंथमाला, ई.1915
- तत्त्वार्थराजवार्तिक (राजवार्तिक) : (हिन्दीसार सहित), भट्टाकलंकदेव, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली, द्वितीय आवृत्ति, ई. 1944,
- तत्त्वार्थवृत्ति : श्रुतसागर सूरि, भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी, ई. 1949
- तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक : आचार्य विद्यानन्द (संपा. मनोहर लाल), गांधीनाथारंग जैन ग्रंथालय, मुम्बई, ई.1918
- तत्त्वार्थसार : श्री अमृतचन्द्राचार्य, श्री गणेशप्रसाद वर्णी ग्रन्थमाला, वाराणसी, ई. 1970
- तत्त्वार्थ सूत्र : श्री उमास्वाति (व्याख्या - प. सुखलालजी), पार्श्वनाथ शोधसंस्थान, वाराणसी, षष्ठ संस्करण, ई. 2007
- तिलोयपण्णत्ति : जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर, द्वितीय संस्करण, वि. सं. 2012
- दर्शन और चिन्तन : भाग 1-2, पं. सुखलाल संघवी, पण्डित सुखलालजी सन्मान समिति, अहमदाबाद, सन् 1957

दर्शन पाहुड	:	माणिकचन्द्र ग्रंथमाला, बम्बई, वि. सं. 1977
दर्शन सार	:	नाथूराम प्रेमी, बम्बई, ई. 1974
दशाश्रुतस्कंध (त्रीणि छेदसूत्राणि)	:	युवाचार्य मधुकर मुनि, श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, प्रथम संस्करण, सन् 1992
दशवैकालिक सूत्र	:	युवाचार्य श्री मधुकरमुनिजी, श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर (राज.) प्रथम संस्करण, सन् 1985
द्रव्य लोक प्रकाश	:	सम्यग्ज्ञान प्रचारक मंडल, जयपुर, प्रथम संस्करण, ई. 2012
द्रव्यसंग्रह	:	आचार्य नेमिचन्द्र, सुविधि नाथ चन्द्रिका प्रकाशन संस्था, औरंगाबाद, ई. 2000
द्वादशारं नयचक्रम्	:	भाग 1-3, सम्पा. श्री जम्बूविजय, जैन आत्मानंद सभा, भावनगर, वि. सं. 2022
नंदीसूत्र	:	घासीलालजी महाराज, श्री अ.भा.श्वे.स्थानकवासी जैन शास्त्रोद्धार समिति, राजकोट, ई. 1958
नंदीसूत्र	:	वाचना प्रमुख - आचार्य तुलसी, सं. आचार्य महाप्रज्ञ, जैन विश्व भारती, लाडनूं, द्वितीय संस्करण, ई. 2011
नंदीसूत्र	:	आचार्यश्री हस्तीमल जी म.सा., सम्यग्ज्ञान प्रचारक मंडल, जयपुर, द्वितीय संस्करण, ई. 2009
नंदीसूत्र	:	युवाचार्य मधुकरमुनि, श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, द्वितीय संस्करण, ई. 1991
नंदीसूत्र	:	श्री आत्मारामजी महाराज, आचार्य श्री आत्माराम जैन प्रकाशन समिति, लुधियाना, प्रथम संस्करण, ई. 1966
नंदीसूत्र	:	पारसमुनि, श्री अखिल भारतीय सुधर्म जैन संस्कृति रक्षक संघ, ब्यावर, पंचम संस्करण, ई. 2003
नंदीसूत्रम्	:	नंदीचूर्णि एवं हारिभद्रीय वृत्ति सहित, श्री जिनशासन आराधना ट्रस्ट, मुम्बई, वि. सं. 2045
नन्दीसूत्र चूर्णि	:	जिनदास गणि महत्तर, प्राकृत टेक्स्ट सोसायटी, वाराणसी, सन् 1966
नन्दीसूत्र वृत्ति	:	हरिभद्र सूरि, प्राकृत ग्रन्थ परिषद् वाराणसी, ई. 1966
नन्दीवृत्ति	:	मलयगिरि, श्री आगमोदयसमिति, सूरत, ई. 1982
नयचक्र	:	माइल्ल धवल, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, ई. 1971
नवतत्त्वप्रकरण	:	खीमजी भीमसिंह माणक, मुम्बई, ई. 1949
नियमसार	:	श्री कुन्दकुन्दाचार्य, जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, मुम्बई, ई. 1985
निर्युक्ति संग्रह	:	भद्रबाहु विरचित, श्री हर्ष पुष्पामृत जैन ग्रंथमाला, लाखाबावल, शांतिपुरी (सौराष्ट्र), ई. 1989
निर्युक्तिपंचक	:	(दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, आचारांग, सूत्रकृतांग और दशाश्रुतस्कंध निर्युक्ति) खण्ड 3, जैन विश्वभारती, लाडनूं, प्रथम संस्करण, ई. 1999

निश्चयनय द्वात्रिंशिका :	सिद्धसेन दिवाकर, जैनधर्म प्रसारक सभा, भावनगर, वि. सं. 1965
न्यायावतारवार्तिक वृत्ति :	वादिराज सूरि, सिंधी जैन शास्त्र शिक्षा पीठ, भारतीय विद्या भवन, मुम्बई
न्यायकुमुदचन्द्र :	भाग 1-2, आचार्य प्रभाचन्द्र, माणिकचन्द्र दि० जैन ग्रंथ माला, बम्बई, ई. 1932
न्यायदीपिका :	दरबारीलाल जैन कोठिया, वीर सेवा मंदिर, सरसावा-सहारनपुर
न्यायरत्नसार :	घासीलालजी महाराज, आचार्य श्री घासीलालजी महाराज साहित्य प्रकाशन समिति, इन्दौर
न्यायविनिश्चय विवरणम् :	भारतीय ज्ञान पीठ, काशी, ई. 1949
न्यायावतार :	सिद्धसेन, परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई, ई. 1950
परमात्मप्रकाश :	राजचन्द्र ग्रन्थमाला, द्वितीय संस्करण, वि. सं. 2007
पंचसंग्रह (श्वेताम्बर) :	भाग 1-10, चन्द्रर्षिमहत्तर प्रणीत, विवेचक - मरुधर केसरी, आचार्य श्री रघुनाथ जैन शोध संस्थान, जोधपुर
पंचसंग्रह (दिगम्बर) :	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, ई. 1960
पंचाध्यायी (उत्तरार्द्ध) :	ग्रन्थप्रकाशन कार्यालय, मल्हारगंज, इन्दौर
पंचास्तिकाय :	कुन्दकुदाचार्य, भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत् परिषद्
पद्मपुराण :	भाग 1, आचार्य रविषेण (डॉ. पन्नालाल जैन), भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, आठवां संस्करण, ई. 2000
परीक्षामुख :	श्री माणिक्यनन्द्याचार्य, (हिन्दी व्याख्या - पं. मोहनलालशास्त्री) भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत् परिषद्, तृतीय संस्करण, ई. 2005
प्रकीर्णक साहित्य : मनन :	सम्पा. प्रो. सागरमल जैन, आगम अहिंसा, समता एवं प्राकृत साहित्य संस्थान, उदयपुर, प्रथम संस्करण, ई. 1995
और मीमांसा	
प्रज्ञापनासूत्र :	भाग 1-3, युवाचार्य मधुकर मुनि, श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, प्रथम संस्करण, ई. 1983
प्रज्ञापना वृत्ति :	मुनि दीपरत्नसागर, आगम आराधना केन्द्र, अहमदाबाद
प्रभावकचरितम् :	प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर, पुनर्मुद्रण, ई. 2009
प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार :	वादिदेवसूरि, व्याख्या-पं. शोभाचन्द्र भारिल्ल, श्री रत्न जैन पुस्तकाल, आचार्य सम्राट् श्री आनंदऋषिमार्ग, अहमदनगर, तृतीय संस्करण, ई. 2000
प्रमाण मीमांसा :	आचार्य हेमचन्द्र, सिंधी जैन ग्रंथमाला, अहमदाबाद, ई. 1986
प्रमाणमीमांसा :	हिन्दी अनुवाद - पं. शोभाचन्द्र भारिल्ल, अहमदनगर (महा.), ई. 1970
प्रमाणपरीक्षा :	आचार्य विद्यानंद, वीरसेवा मन्दिर ट्रस्ट, वाराणसी, प्रथम संस्करण, 1977
प्रमेयकमलमार्तण्ड :	भाग 1-3, प्रभाचन्द्र, अनु. आर्यिका जिनमती, कमल प्रिण्टर्स, मदनगंज-किशनगढ (राज.)

प्रवचनसार	:	कुन्दकुन्दाचार्य, परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई, वि. सं. 1969
प्रवचनसारोद्धार	:	भाग 1-2, नेमिचन्द्र सूरि, प्राकृत भारतीय अकादमी, जयपुर प्रथम संस्करण, ई. 2000
प्रवचनसारोद्धार वृत्ति	:	सिद्धसेन सूरि, जीवनचन्द साकरचन्द जव्हेरी, बम्बई, ई. 1926
प्रशमरति	:	भाग 2, भद्रगुप्तजी
प्राकृत साहित्य का इतिहास	:	चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी
बन्धतत्त्व	:	कन्हैयालाल लोढ़ा, प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर, प्रथम संस्करण, ई. 2010
बृहत्कल्पसूत्र	:	(त्रीणि छेदसूत्राणि) युवाचार्य मधुकर मुनि, श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, प्रथम संस्करण, ई. 1992
बृहत्कल्पसूत्र	:	भाग 6 (सं. मुनि पुण्यविजय) श्री जैन आत्मानंद सभा, भावनगर, द्वितीय संस्करण, ई. 2002
बृहत्कल्पभाष्य	:	भाग 1-2, सं. महाप्रज्ञ, जैन विश्व भारती, लाडनूं, प्रथम संस्करण, ई. 2007
बृहद् द्रव्यसंग्रह	:	नेमिचन्द्र सैद्धांतिक देव, श्री परमश्रुत प्रभावक मंडल, बम्बई-आगास, सप्तम संस्करण, ई. 1999
भगवतीसूत्र वृत्ति	:	आगम श्रुत प्रकाशन, अहमदाबाद, ई. 2000
भगवती आराधना	:	आचार्य श्री शिवार्य, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर, ई. 2004
भारतीय दर्शन	:	डॉ. संतीशचन्द्र चट्टोपाध्याय, पुस्तकभंडार, पटना, ई. 1994
महापुराण (आदिपुराण):	:	महाकवि पुष्पदंत, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण, ई. 2001
महाबंध	:	पुस्तक 1, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, तृतीय संस्करण, ई. 1998
मूलसूत्र: एक परिशीलन :	:	आचार्य श्री देवेन्द्रमुनि, श्री तारकगुरु जैन ग्रंथालय, उदयपुर, प्रथम संस्करण, ई. 2000
मूलाचार	:	श्री वट्टकेराचार्य, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, तृतीय संस्करण, ई. 1999
योगशास्त्र	:	भाग 1-3, आचार्य हेमचन्द्र, जैन साहित्य विकास मण्डल, बम्बई, प्रथम संस्करण, ई. 1986
राजप्रश्नीयसूत्र	:	युवाचार्य मधुकर मुनि, श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, प्रथम संस्करण, सन् 1982
लघीयस्त्रीय	:	अकलंक, माणिकचन्द दिगम्बर जैनग्रंथलाला समिति. ई. 1972
लब्धिसार(क्षपणासार गर्भित) :	:	नेमिचन्द्राचार्य सिद्धान्त चक्रवर्ती, श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल, आगास, ई. 1980
लोकप्रकाश	:	भाग 1-3, विनयविजय गणी, द. ला. जैन पुस्तकोद्धार फण्ड, मुम्बई
व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र (भगवती सूत्र)	:	युवाचार्य मधुकरमुनि, श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, द्वितीय संस्करण, ई. 1993

- श्री जैन सिद्धान्त बोल संग्रह : भाग 1-8, अगरचन्द भैरोंदान सेठिया, जैन पारमार्थिक संस्था, बीकानेर
- श्री भिक्षु आगम शब्द कोश : भाग 1-2, जैन विश्व भारती संस्थान, लाडनूं, प्रथम संस्करण, ई. 1996
- षट्खण्डागम धवला पु. 1 : श्रीमंत सेठ लक्ष्मीचंद शितावराय जैन साहित्योद्धारक फंड, अमरावती, ई. 1939
- षट्खण्डागम धवला पु. 6 : श्रीमंत सेठ शितावराय लक्ष्मीचंदजैन साहित्योद्धारक फंड कार्यालय, अमरावती, ई. 1943
- षट्खण्डागम, धवला पु. 9 : श्रीमंत सेठ शितावराय लक्ष्मीचंदजैन साहित्योद्धारक फंड कार्यालय, अमरावती, सन् 1949
- षड्दर्शनसमुच्चय : आचार्य हरिभद्र सूरि, सम्पा. डॉ. महेन्द्रकुमार जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, पांचवां संस्करण, ई. 2000
- सन्मतितर्क प्रकरण : सिद्धसेन दिवाकर, गुजरात पुरातत्त्व मंदिर, अहमदाबाद
- सभाष्यतत्त्वार्थाधिमगम सूत्र : (अनुवाद-पं. खूबचंद) श्री परमश्रुत प्रभावक मंडल, अगास, तृतीय संस्करण, ई. 992
- समयसार : कुन्दकुन्दाचार्य, श्री भारतवर्षीय वर्णी जैन साहित्य मन्दिर, मुजफ्फरनगर, ई. 1995
- समवायांग सूत्र : युवाचार्य मधुकरमुनि, श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, द्वितीय संस्करण, ई. 1991
- सर्वार्थसिद्धि : आचार्य पूज्यपाद, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, ग्यारहवां संस्करण, ई. 2002
- सूत्रकृतांगसूत्र : भाग 1-2, युवाचार्य मधुकरमुनि, श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, प्रथम संस्करण, ई. 1982
- सूत्रकृतांग टीका : मुनि दीपरत्नसागर, आगम आराधना केन्द्र, अहमदाबाद, ई. 2000
- स्थानांगसूत्र : युवाचार्य मधुकरमुनि, श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, ई. 1981
- स्याद्वाद मंजरी : श्री परमश्रुत प्रभावकमंडल, अगास, पंचम संस्करण, ई. 1992
- स्वयम्भूस्तोत्र : समन्तभद्र, संपा. पं. जुगलकिशोर मुख्तार, वीर सेवा मंदिर, सरसावा, ई. 2008

(इ) अन्य दर्शनों से सम्बन्धित ग्रन्थ

- अभिधर्मकोश भाष्य : भाग 1-2, स्वामी द्वारिकादास शास्त्री, बौद्ध भारती, वाराणसी
- केनोपनिषद् (दशोपनिषद्) : भाग 1-2, अडयार पुस्तकालय, मद्रास, ई. 1935
- ऋग्वेद : महर्षि दयानन्द सरस्वती, दयानन्द संस्थान, नई दिल्ली-5
- तर्कभाषा : चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी
- तर्कसंग्रह : व्याख्याकार दयानन्द भार्गव, मोतीलाल बनारसीदास प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली
- न्यायदर्शनम् : अक्षपाद गौतम, संपा. श्री नारायणमिश्र, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, (न्यायसूत्र एवं वात्स्यायनभाष्य सहित) वाराणसी, द्वितीय संस्करण, ई. 1977

न्यायवार्तिक	:	उद्द्योतकर, डॉ. श्रीनिवास शास्त्री, इण्डो-विजन, प्राइवेट लिमिटेड, गाजियाबाद
न्यायमंजरी	:	सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, ई. 1982
प्रश्नोपनिषद्, (दशोपनिषद्)	:	अडयार पुस्तकालय, मद्रास
ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्यम्	:	चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी
बृहदारण्यकोपनिषद्	:	(दशोपनिषद्) भाग 2, अडयार पुस्तकालय, मद्रास, ई. 1936
माठरवृत्ति	:	चौखम्भा संस्कृत सीरिज, वाराणसी
मज्झिमनिकाय	:	भाग 3, (संशोधक जगदीश कश्यप), बिहार राजकीय पालि प्रकाशन मंडल
मीमांसा दर्शनम्	:	चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी
योगसूत्र (व्यासभाष्य सहित)	:	भारतीय विद्याभवन, दिल्ली
वैशेषिकसूत्र	:	गायकवाड ओरियण्टल इंस्टीट्यूट, बड़ौदा
व्योमवती	:	सं. श्री गौरीनाथशास्त्री, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी
श्रीमद्भगवद्गीता	:	गीताप्रेस, गोरखपुर, तिरासीवां संस्करण, संवत्. 2059
सांख्यकारिका	:	ईश्वरकृष्ण, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली
सांख्यतत्त्वकौमुदी	:	वाचस्पतिश्रि, व्याख्या डॉ. गजाननशास्त्री मुसलगांवकर, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी

(ई) English Books

Jaina Epistemology	:	Dr. Indra Chandra Shatri, P.V. Research Institute, ITI Road, Varanasi-5, 1990
Jaina Epistemology in Historical and Comparative perspective (2 vols)	:	Piotr Balcerowicz, Motilal Banarsidass Publishers Pvt. Ltd. Dehli, 2008
Studies in Jainism	:	Nathmal Tatia, Parshva nath Vidyapeeth, Varanasi

(उ) अभिनन्दन ग्रंथ/ स्मृति ग्रंथ

डॉ. सागरमल जैन अभिनन्दन ग्रंथ	:	पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी, ई. 1998
मुनि श्री हजारीमल स्मृति ग्रंथ	:	मुनि श्री हजारीमल स्मृति ग्रंथ प्रकाशन समिति, ब्यावर, ई. 1965
सरस्वती-वरदपुत्र पं. बशीधर व्याकरणाचार्य अभिनन्दन ग्रंथ	:	सरस्वती-वरदपुत्र पं. बशीधर व्याकरणाचार्य अभिनन्दन-ग्रंथ प्रकाशन समिति, वाराणसी, ई. 1989

(ऊ) पत्र-पत्रिकाएं

स्वाध्याय शिक्षा	:	सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल, जयपुर, जुलाई, 1994